संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० २३

ब्रह्मनेमिदत्त विरचित

आराधना कथाकोश

हिन्दी अनुवादक
उदयलाल कासलीवाल

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

आराधना कथाकोश

कृतिकार : ब्रह्मनेमिदत्त

हिन्दी अनुवादक : उदयलाल कासलीवाल

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं० ४५, सेक्टर एफ, इंडस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य विद्यानंदि स्वामी, आचार्य पूज्यपाद स्वामी जैसे श्रुतपारगी मुनियों की श्रृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन आदि के और अहिंसा आदि धर्म के मुख्य सिद्धान्तों को बताने वाली बहुत सी घटनायें उपलब्ध हैं। उन घटनाओं के मुख्य पात्र उनके स्थान आदि नामों के साथ प्रमाणिक रूप से संकलित करके इस आराधना कथाकोश का निर्माण हुआ। यद्यपि इस ग्रन्थ में उपलब्ध कथायें इससे पूर्व के मनीषियों द्वारा भी लिखी गयी हैं। फिर भी इस ग्रन्थ में उपलब्ध कथाओं विषय-वस्तु की पूर्णतः के कारण से रोचकता आती है। ब्रह्मनेमिदत्त विरचित आराधना कथाकोश अन्य कथाकोशों से अपना विशिष्ट स्थान रखता है इसलिए संयम स्वर्ण महोत्सव के पावन अवसर प्रकाशित किया जा रहा है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

ब्रह्मनेमिदत्त

ब्रह्मनेमिदत्त मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगण के विद्वान् भट्टारक मल्लिभूषण के शिष्य थे। इनके दीक्षागुरु भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य विद्यानन्दि थे। इन्हीं विद्यानन्दि के पट्ट पर मल्लिभूषण प्रतिष्ठित हुए, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय से सुशोभित थे। आराधनाकथाकोश की प्रशस्ति में मल्लिभूषण की प्रशंसा करते हुए लिखा है-

श्रीमज्जैनपदाब्जसारमधुकृच्छ्रीमूलसंघाग्रणीः।
सम्यग्दर्शनसाधुबोधविलसच्चारित्रचूड़ामणिः॥
विद्यानन्दिगुरुप्रपट्टकमलोल्लासप्रदो भास्कर।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे॥

ब्रह्मनेमिदत्त संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी और गुजराती भाषा के विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत में चरित, पुराण, कथा आदि ग्रन्थों की रचना की है।

स्थितिकाल

ब्रह्मनेमिदत्त की रचनाओं में उनके समय का निर्देश प्राप्त होता है, जिससे इनके स्थितिकाल पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। इन्होंने वि॰ सं॰ १५८५ में श्रीशान्तिदास के अनुरोध से श्रीपाल चरित की रचना की है। सं॰ १५७५ में आराधनाकथाकोश में लिखा है। नेमिनाथपुराण की रचना भी १५८५ में हुई है। अतएव इनका समय विक्रम की १६ वीं शताब्दी है। सुदर्शनचरित की प्रशस्ति में कवि ने पद्मनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दि, मल्लिभूषण और श्रुतसागर की प्रशंसा की है। इस प्रशंसा के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता कि मल्लिभूषण विक्रम की १६ वीं शताब्दी में हुए हैं और उनके प्रसिद्ध शिष्य ब्रह्मनेमिदत्त भी इसी शताब्दी में हुए हैं। अतएव ब्रह्मनेमिदत्त का समय विक्रम की १६ वीं शताब्दी है।

रचनाएँ

ब्रह्म नेमिदत्त की लगभग १२-१३ रचनाएँ प्राप्त हैं- १. आराधनाकथाकोश, २. नेमिनाथपुराण ३. श्रीपालचरित, ४. सुदर्शनचरित, ५. रात्रि-भोजनत्यागकथा, ६. प्रीतङ्करमहामुनिचरित, ७. धन्यकुमारचरित ८. नेमिनिर्वाणकाव्य-इसकी प्रति ईडर में प्राप्त है। ९. नागकुमारकथा, १०. धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार ११. मालारोहिणी, १२. आदित्यवारव्रतरास।

आराधनाकथाकोश-आराधनाकथाकोश प्रसिद्ध कथाग्रन्थ है। इसकी सभी कथाएँ अहिंसादि व्रतों से सम्बद्ध हैं। सामान्य व्यक्ति भी इन कथाओं के अध्ययन से अपने चरित को उज्ज्वल कर सकता है। संसार के विषय-कषायों में निमग्न व्यक्ति को ये कथाएँ आत्मोत्थान की ओर प्रेरित करती हैं।

वास्तव में ब्रह्मनेमिदत्त के आराधनाकथाकोश का कथासाहित्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

श्रीपालचरित–इस ग्रन्थ में ९ अधिकार हैं और श्रीपाल की कथा वर्णित है। इस चरित के रचने का उद्देश्य कवि ने सिद्धचक्र का माहात्म्य बतलाया है। सर्गबद्ध कथा नियोजित है। श्रीपाल के जन्म से लेकर उनके निर्वाणपर्यन्त चरित का अंकन किया गया है। भाव और शैली की दृष्टि से यह रचना अध्ययनीय है।

नेमिनाथपुराण—इस पुराणग्रन्थ की रचना सोलह अधिकारों में की गयी है और इसमें नेमिनाथ का चरित अंकित है। उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और केवल इन पाँचों कल्याणकों का विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। नेमिनाथ की अपूर्व शक्ति से प्रभावित होकर राजनीतिज्ञ कृष्ण द्वारा प्रस्तुत की गयी कूटनीति का भी चित्रण आया है। श्रीकृष्ण की कूटनीति के फलस्वरूप ही नेमिनाथ विरक्त होते हैं। बिलखती हुई राजुल के आँसुओं का प्रभाव भी उन पर नहीं पड़ता। कवि ने सभी मर्मस्पर्शी कथांशों का उद्घाटन किया है।

सुदर्शनचरित–सुदर्शनचरित के रचयिता यद्यपि आचार्य विद्यानन्दि हैं। पर एकादश अधिकार के अन्त में ब्रह्मनेमिदत्त का नाम आया है क्योंकि सुदर्शनचरित के दस अधिकार मुमुक्षु विद्यानन्दि द्वारा विरचित हैं और ११वें अधिकार के रचयिता ब्रह्मनेमिदत्त हैं, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं तथा ऐसा भी संभव है कि ब्रह्मनेमिदत्त सुदर्शनचरित के रचयिता नहीं हैं, अपितु उसके संशोधनकर्ता या सम्पादनकर्ता हैं।

धर्मोपदेशपीयूषवर्षी श्रावकाचार—इस ग्रन्थ में श्रावकाचार का निरूपण किया गया है। प्रारम्भ में लिखा गया है।

इस मंगलाचरण से स्पष्ट है कि ब्रह्मनेमिदत्त सधर्म्म का उपदेश भव्यजीवों के कल्याण के लिये लिखते हैं। इस ग्रन्थ में श्रावकों के मूलगुण और उत्तरगुणों का विवेचन करने के पश्चात् व्रतों के अतिचारों का निरूपण आया है। श्रावक की दैनिक षट् क्रियाओं, पूजा–भक्ति एवं आराधना आदि का भी उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकारों में विभक्त है और पंचम अधिकार सल्लेखना नाम का है।

रात्रिभोजनत्यागकथा—रात्रिभोजनत्याग व्रत का महत्त्व बतलाने के लिए नागश्री की कथा लिखी गयी है। आचार्य ने कथा के मध्य में रात्रिभोजन के दोषों का भी निरूपण किया है। अन्त में पुष्पिकावाक्य निम्नप्रकार आया है–

''इति भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्याचार्यश्रीसिंहनन्दिगुरुपदेशेन ब्रह्मनेमिदत्त–विरचिता रात्रिभोजन–परित्यागफलदृष्टान्त–श्रीनागश्रीकथा समाप्ता।''

मालारोहिणी-इस फूलमाला में आरम्भ में २४ तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। मध्य में धन, सम्पत्ति, यौवन, पुत्र, कलत्र आदि को क्षणविध्वंशी कहकर दान देने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया गया है। संसार के समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कर जो व्यक्ति प्रभुभक्ति नहीं करता, तीर्थंकरों के चरणों की आराधना नहीं करता, वह अपने जन्म को निरर्थक व्यतीत करता है। इस पंचमकाल में तीर्थंकरभक्ति ही आत्मोत्थान का साधक है। भक्त सरलतापूर्वक अपने राग, द्वेष, रोग, शोक, दारिद्रय आदि को दूर कर देता है।

आदित्यव्रतरास-इसमें १०९, पद्य हैं। गुजराती मिश्रित हिन्दी में यह रचना लिखी गयी है। रविव्रत की कथा वही अंकित है, जो अन्यत्र पायी जाती है। आरम्भ में ही कवि ने लिखा है-

पास जिनेसर पयकमल प्रणमिवि परमानंदनु।
भव-सायर-तरण-तारण भवीयण सुहतरुकंदनु॥
श्रीसारदा सहिगुरुनमीए निर्मल सौख्यनिधाननु।
आदित्यव्रतबखाणसुं ए जिन शासन परधाननु॥

इस प्रकार ब्रह्मनेमिदत्त पुराणकाव्य और आचार शास्त्र के रचयिता हैं। इनके ग्रन्थों में मौलिकता की कमी हो सकती है, पर पुराने कथानकों को ग्रहण कर उसे अपनी शैली में निबद्ध करने की प्रक्रिया में आचार्य पारंगत हैं।

अनुक्रमणिका

ॐ

ब्रह्मनेमिदत्त कृत

आराधना-कथाकोशः

मङ्गलं प्रस्तावना च

श्रीमद्भव्याब्जसद्भानूल्लोकालोक - प्रकाशकान्।
आराधनाकथाकोशं वक्ष्ये नत्वा जिनेश्वरान् ॥१॥
नमस्तस्मै सरस्वत्यै सर्वविज्ञानचक्षुषे।
यस्याः सम्प्राप्यते नाम्ना पारं सज्ज्ञानवारिधेः ॥२॥
रत्नत्रयपवित्राणां मुनीनां गुणशालिनाम्।
वन्देऽहं बोधसिन्धूनां पादपद्मद्वयं सदा ॥३॥
इत्याप्तभारती - साधुपादपद्मप्रचिन्तनम् ।
अस्तु मे सत्कथारम्भप्रासादकलशश्रिये ॥४॥

जो भव्य पुरुषरूपी कमलों के प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य हैं और लोक तथा अलोक के प्रकाशक हैं-जिनके द्वारा संसार को वस्तुमात्र का ज्ञान होता है, उन जिन भगवान् को नमस्कार कर मैं आराधना कथाकोश नामक ग्रन्थ लिखता हूँ ॥१॥

उस सरस्वती-जिनवाणी के लिए नमस्कार है, जो संसार के पदार्थों का ज्ञान कराने के लिए नेत्र हैं और जिनके नाम से ही प्राणी ज्ञानरूपी समुद्र के पार पहुँच सकता है, सर्वज्ञ हो सकता है ॥२॥

उन मुनिराजों के चरणकमलों को मैं नमस्कार करता हूँ, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों से पवित्र हैं, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य आदि गुणों से युक्त हैं और ज्ञान के समुद्र हैं ॥३॥

इस प्रकार देव, गुरु और भारती का स्मरण मेरे इस ग्रन्थरूपी महल पर कलश की शोभा बढ़ाए अर्थात् आरम्भ से अन्तपर्यन्त यह ग्रन्थ निर्विघ्न पूर्ण हो जाये ॥४॥

श्रीमूलसङ्घे वरभारतीये गच्छे बलात्कारगणेऽतिरम्ये।
श्रीकुन्दकुन्दाख्यमुनीन्द्रवंशे। जातः प्रभाचन्द्रमहायतीन्द्रः ॥५॥
देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन तेन प्रभाचन्द्रमुनीश्वरेण।
अनुग्रहार्थं रचितः सुवाक्यै-राराधनासारकथाप्रबन्धः ॥६॥
तेन क्रमेणैव मया स्वशक्त्या श्लोकैः प्रसिद्धैश्च निगद्यते सः।
मार्गे न किं भानुकरप्रकाशे स्वलीलया गच्छति सर्वलोकः ॥७॥
अथ श्रीजिनसूत्रेण कथ्यते विमलश्रिये। आराधनेति किं नाम सतां सन्तोषहेतवे ॥८॥
सम्यग्दर्शनबोधवृत्ततपसां संसारविच्छेदिनां शक्त्या भक्तिभरेण सद्गुरुमतात्स्वर्गापवर्गश्रिये।
उद्योतोद्यमने तथा च नितरां निर्वाहणं साधनं पूतैर्निस्तरणं महामुनिवरैराराधनेतीरिता ॥९॥

उक्तं च—

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया ॥भग०आरा०२॥

तद्यथा—

यत्सम्यग्दर्शनज्ञाने चारित्रतपसां भवेत्। लोके प्रकाशनं तत्स्यादुद्योतनमितिध्रुवम् ॥१०॥
तथा हि स्वीकृतानां च तेषामालस्यवर्जितः। बाह्याभ्यन्तरमुद्योगः प्रोक्तमुद्यमनं बुधैः ॥११॥

श्रीमूलसंघ-भारतीयगच्छ-बलात्कारगण और कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय में श्रीप्रभाचन्द्र नाम के मुनि हुए हैं। वे बड़े तपस्वी थे। उनकी इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि सभी पूजा किया करते थे। उन्होंने संसार के उपकारार्थ सरल और सुबोध गद्य संस्कृत भाषा में एक आराधना कथाकोश बनाया है। उसी के आधार पर मैं यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा में लिखता हूँ क्योंकि सूर्य के द्वारा प्रकाशित मार्ग में सभी चलते हैं ॥५-७॥

आराधना शब्द का अर्थ जैन शास्त्रानुसार कल्याण की प्राप्ति लिए कहा जाता है। उनके सुनने से सत्पुरुषों को भी सन्तोष होगा ॥८॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये संसारबन्धन के नाश करने वाले हैं, इनका स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए भक्तिपूर्वक शक्ति के अनुसार उद्योत, उद्यमन, निर्वाहण, साधन और निस्तरण करने को आचार्य आराधना कहते हैं। इन पाँचों का खुलासा अर्थ यों है ॥९॥

उद्योत-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इनका संसार में प्रकाश करना, लोगों के हृदय पर इनका प्रभाव डालना उद्योत है ॥१०॥

उद्यमन-स्वीकार किए हुए उक्त सम्यग्दर्शनादि का पालन करने के लिए निरालस होकर बाह्य और अन्तरंग में यत्न करना उद्यमन है ॥११॥

तेषां सद्दर्शनादीनां सम्प्राप्ते त्यागकारणे। संकष्टैरपरित्यागी भवेन्निर्वाहणं शुभम् ॥१२॥
तत्त्वार्थादिमहाशास्त्रपठने यन्मुनेः सदा। दर्शनादेः समग्रत्वं साधनं रागवर्जितम् ॥१३॥
तथादृग्ज्ञानचारित्रतपसां मरणावधिं। निर्विघ्नेन प्राप्तं प्रोक्तं बुधैर्निस्तरणं परम् ॥१४॥
इति पंचप्रकारोक्तं श्रीमज्जैनविदांवरैः। आराधनाक्रमं प्रोक्त्वा कथ्यते तत्कथाः क्रमात् ॥१५॥

कथारम्भः—

१. पात्रकेसरिणः कथा

सम्यक्त्वोद्योतनं चक्रे प्रसिद्धः पात्रकेसरी। तच्चरित्रं प्रवक्ष्येऽहं पूर्वं सद्दर्शनश्रिये ॥१६॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे पवित्रे श्रीजिनेशिनाम्। विचित्रैः पंचकल्याणैः सर्वभव्यप्रशर्मदैः ॥१७॥
निवासे सारसम्पत्तेर्देशे श्रीमगधाभिधे। अहिच्छत्रे जगच्चित्रे नागरैर्नगरे वरे ॥१८॥
पुण्यादवनिपालाख्यो राजा राजकलान्वितः। प्राज्यं राज्यं करोत्युच्चैर्विप्रैः पञ्चशतैर्वृतः ॥१९॥
विप्रास्ते वेदवेदाङ्गपारगाः कुलगर्विताः। कृत्वा सन्ध्याद्वये सन्ध्यावन्दनां च निरन्तरम् ॥२०॥

निर्वाहण–कभी कोई ऐसा बलवान् कारण उपस्थित हो जाये, जिससे सम्यग्दर्शनादि के छोड़ने की नौबत आ जाये तो उस समय अनेक तरह के कष्ट उठाकर भी उन्हें न छोड़ना निर्वाहण है ॥१२॥

साधन–तत्त्वार्थादि महाशास्त्र के पठन के समय जो मुनियों के उक्त दर्शनादि की राग रहित पूर्णता होना वह साधन है ॥१३॥

निस्तरण–इन दर्शनादि का मरणपर्यन्त निर्विघ्न पालन करना वह निस्तरण है। इस प्रकार जैनाचार्यों ने आराधना का क्रम पाँच प्रकार बतलाया है। उसे हमने लिख दिया। अब हम उनकी क्रम से कथा लिखते हैं ॥१४–१५॥

१. पात्रकेसरी की कथा

पात्रकेसरी आचार्य ने सम्यग्दर्शन का उद्योत किया था। उनका चरित मैं कहता हूँ, वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण है ॥१६॥

भगवान् के पंचकल्याणकों से पवित्र और सब जीवों को सुख के देने वाले इस भारतवर्ष में एक मगध नाम का देश है। वह संसार के श्रेष्ठ वैभव का स्थान है। उसके अन्तर्गत एक अहिछत्र नाम का सुन्दर शहर है। उसकी सुन्दरता संसार को चकित करने वाली है ॥१७–१८॥

नगरवासियों के पुण्य से उसका अवनिपाल नाम का राजा बड़ा गुणी था, सब राजविद्याओं का पण्डित था। अपने राज्य का पालन वह अच्छी नीति के साथ करता था। उनके पास पाँच सौ अच्छे विद्वान् ब्राह्मण थे। वे वेद और वेदांग के जानकार थे। राजकार्य में वे अवनिपाल को अच्छी सहायता देते थे। उनमें एक अवगुण था, वह यह कि उन्हें अपने कुल का बड़ा घमण्ड था। उससे वे

विनोदेन जगत्पूज्यश्रीमत्पार्श्वजिनालये। दृष्ट्वा पार्श्वजिनं पूतं प्रवर्तन्ते स्वकर्मसु ॥२१॥
एकदा ते तथा कृत्वा सन्ध्यायां वन्दनां द्विजाः। जिनं द्रष्टुं समायाताः कौतुकाज्जिनमन्दिरे ॥२२॥
देवागमाभिधं स्तोत्रं पठन्तं मुनिसत्तमम्। चारित्रभूषणं तत्र श्रीमत्पार्श्वजिनाग्रतः ॥२३॥
दृष्ट्वा सम्पृष्टवानित्थं तन्मुख्यः पात्रकेसरी। स्वामिन्निमं स्तवं पूतं बुध्यसे स मुनिस्ततः ॥२४॥
नाहं बुध्येऽर्थतश्चेति संजगौ प्राह सद्विजः। पुनः भो मुने सम्पठ स्तोत्रं यतिसत्तमं ॥२५॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण देवागमनसंस्तवः। पठितः पदविश्रामैः सतां चेतोनुरञ्जनैः ॥२६॥
शब्दतश्चैकसंस्थत्वात्तदासौ पात्रकेसरी। हेलया मानसे कृत्वा देवागमनसंस्तवम् ॥२७॥
तदर्थं चिन्तयामास स्वचित्ते चतुरोत्तमः। ततो दर्शनमोहस्य क्षयोपशमलब्धितः ॥२८॥
यदुक्तं श्रीजिनेन्द्रस्य शासने वस्तुलक्षणम्। जीवाजीवादिकं सत्यं तदैवात्र त्रिविष्टपे ॥२९॥
नान्यथेति समुत्पन्नजैनतत्त्वार्थसद्रुचिः। गत्वा गृहे पुनर्धीमान् स विप्रो वस्तुलक्षणम् ॥३०॥
चित्ते सञ्चिन्तनं कुर्वन् रात्रौ विप्रकुलाग्रणीः। जीवाजीवादिकं वस्तु प्रमेयं जिनशासने ॥३१॥
तत्त्वज्ञानं प्रमाणं च प्रोक्तं तत्त्वार्थवेदिभिः। लक्षणं नानुमानस्य भाषितं तच्च कीदृशम् ॥३२॥

सबको नीची दृष्टि से देखा करते थे। वे प्रातःकाल और सायंकाल नियमपूर्वक अपना सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करते थे। उनमें एक विशेष बात थी, वह यह कि वे जब राजकार्य करने को राजसभा में जाते, तब उसके पहले कौतूहल से पार्श्वनाथ जिनालय में श्रीपार्श्वनाथ की पवित्र प्रतिमा का दर्शन कर जाया करते थे ॥१९-२१॥

एक दिन की बात है कि वे जब अपना सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करके जिनमन्दिर में आए तब उन्होंने एक चारित्रभूषण नाम के मुनिराज को भगवान् के सम्मुख देवागम नाम का स्तोत्र का पाठ करते देखा। उन सबमें प्रधान पात्रकेसरी ने मुनि से पूछा-क्या आप इस स्तोत्र का अर्थ भी जानते हैं? सुनकर मुनि बोले-मैं इसका अर्थ नहीं जानता। पात्रकेसरी फिर बोले-साधुराज, इस स्तोत्र को फिर तो एक बार पढ़ जाइए। मुनिराज ने पात्रकेसरी के कहे अनुसार धीरे-धीरे और पदान्त में विश्रामपूर्वक फिर देवागम को पढ़ा, उसे सुनकर लोगों का चित्त बड़ा प्रसन्न होता था ॥२२-२६॥

पात्रकेसरी की धारणाशक्ति बड़ी विलक्षण थी। उन्हें एक बार के सुनने से ही सबका सब याद हो जाता था। देवागम को भी सुनते ही उन्होंने याद कर लिया। जब वे उसका अर्थ विचारने लगे, उस समय दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उन्हें यह निश्चय हो गया कि जिन भगवान् ने जो जीवादिक पदार्थों का स्वरूप कहा है, वही सत्य है और अतिरिक्त सत्य नहीं है। इसके बाद वे घर पर जाकर वस्तु का स्वरूप विचारने लगे। सब दिन उनका उसी तत्त्वविचार में बीता। रात को भी उनका यही हाल रहा। उन्होंने विचार किया-जैनधर्म में जीवादिक पदार्थों को प्रमेय-जानने योग्य माना है और तत्त्वज्ञान-सम्यग्ज्ञान को प्रमाण माना है। पर क्या आश्चर्य है कि अनुमान प्रमाण का लक्षण कहा ही नहीं गया, यह क्यों? जैनधर्म के पदार्थों में उन्हें कुछ सन्देह हुआ, उससे उनका चित्त व्यग्र हो उठा।

श्रीमज्जिनमतेऽस्तीति सन्देहव्यग्रमानसः। यावत्सन्तिष्ठते तावन्निजासनसुकम्पनात् ॥३३॥
पद्मावत्या महादेव्या तत्रागत्य ससम्भ्रमम्। देव्या त्वं भणितस्तूर्णं भो धीमन्पात्रकेसरिन् ॥३४॥
प्रातः श्रीपार्श्वनाथस्य दर्शनादेव निश्चयः। लक्षणे चानुमानस्य सम्भविष्यति ते तराम् ॥३५॥
इत्युक्त्वा संल्लिखत्वेति पार्श्वेशफणमण्डपे। सा गता ह्यनुमानस्य लक्षणं श्लोकमुत्तमम् ॥३६॥
''अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥''
देवतादर्शनादेव सञ्जाता तस्य शर्मदा। श्रीमज्जैनमते श्रद्धा भवभ्रमणनाशिनी ॥३७॥
प्रभाते परमानन्दात्पार्श्वनाथं प्रपश्यतः। फणाटोपेऽनुमानस्य लक्षणश्लोकदर्शनात् ॥३८॥
जातस्तल्लक्षणोत्कृष्टनिश्चयश्च द्विजन्मनः। भास्करस्योदये जाते न तिष्ठति तमो यथा ॥३९॥

इतने ही में पद्मावती देवी का आसन कम्पायमान हुआ। वह उसी समय वहाँ आई और पात्रकेसरी से उसने कहा–आपको जैनधर्म के पदार्थों में कुछ सन्देह हुआ है, पर इसकी आप चिन्ता न करें। आप प्रातःकाल जब जिन भगवान् के दर्शन करने को जायेंगे तब आपका सब सन्देह मिटकर आपको अनुमान प्रमाण का निश्चय हो जायेगा। पात्रकेसरी से इस प्रकार कहकर पद्मावती जिनमन्दिर गई और वहाँ पार्श्वजिन की प्रतिमा के फण पर एक श्लोक लिखकर वह अपने स्थान पर चली गई, वह श्लोक यह था ॥२७–३६॥

अर्थात्–जहाँ पर अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ हेतु के दूसरे तीन रूप मानने से क्या प्रयोजन है? तथा जहाँ पर अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ हेतु के तीन रूप मानने से भी क्या फल है? भावार्थ–साध्य के अभाव में न मिलने वाले को ही अन्यथानुपपन्न कहते हैं। इसलिए अन्यथानुपपत्ति हेतु का असाधारण रूप है किन्तु बौद्ध इसको न मानकर हेतु के १. पक्षेसत्त्व, २. सपक्षेसत्त्व, ३. विपक्षाद्व्यावृत्ति ये तीन रूप मानता है, सो ठीक नहीं है क्योंकि कहीं–कहीं पर त्रैरूप्य के न होने पर अन्यथानुपपत्ति के बल से हेतु सद्धेतु होता है और कहीं–कहीं पर एक त्रैरूप्य के होने पर भी अन्यथानुपपत्ति के न होने से हेतु सद्धेतु नहीं होता। जैसे मुहूर्त के अनन्तर शकट का उदय होगा क्योंकि अभी कृतिका का उदय है। यहाँ पर पक्षेसत्त्व न होने पर भी अन्यथानुपपत्ति के बल से हेतु सद्धेतु है और 'गर्भस्थ पुत्र श्याम होगा' क्योंकि यह मित्र का पुत्र है। यहाँ पर त्रैरूप्य के रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति के न होने से हेतु सद्धेतु नहीं होता।

पात्रकेसरी ने जब पद्मावती को देखा तब ही उनकी श्रद्धा जैनधर्म में खूब दृढ़ हो गई थी, जो कि सुख देने वाली और संसार के परिवर्तन का नाश करने वाली है। पश्चात् जब वे प्रातःकाल जिनमन्दिर गए और श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उन्हें अनुमान प्रमाण का लक्षण लिखा हुआ मिला तब तो उनके आनन्द का कुछ पार नहीं रहा। उसे देखकर उनका सब सन्देह दूर हो गया। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥३७–३९॥

ततोऽसौ ब्राह्मणाधीशाः पवित्रः पात्रकेसरी। प्रहर्षाञ्चितसर्वाङ्गो जिनधर्ममहारुचिः ॥४०॥
देवोर्हन्नेव निर्दोषः संसाराम्भोधितारकः। अयमेव महाधर्मो लोकद्वयसुखप्रदः ॥४१॥
एवं दर्शनमोहस्य क्षयोपशमयोगतः। अभूदुत्पन्नसम्यक्त्वरत्नरञ्जितमानसः ॥४२॥
तथानिशं जिनेन्द्रोक्तं तत्त्वं त्रैलोक्यपूजितम्। पुनःपुनर्महाप्रीत्या भावयन्पात्रकेसरी ॥४३॥
तैर्द्विजैर्भणितश्चैवं किं मीमांसादिकं त्वया। त्यक्त्वा संस्मर्यते जैनमतं नित्यमहो हृदि ॥४४॥
तच्छ्रुत्वा भणितास्तेन ते विप्रा वेदगर्विताः। अहो द्विजा जिनेन्द्राणां मतं सर्वमतोत्तमम् ॥४५॥
अतः कारणतः कष्टं त्यक्त्वा मिथ्याकुमार्गकम्। भवद्भिश्चापि विद्वद्भिः संग्राह्यं जैनशासनम् ॥४६॥
ततो राजादिसान्निध्ये पात्रकेसरिणा मुदा। जित्वा सर्वद्विजांस्तांश्च विवादेन स्वलीलया ॥४७॥
सामर्थ्यं शासनं जैनं त्रैलोक्यप्राणिशर्मदम्। स्वसम्यक्त्वगुणं सारं सम्प्रकाश्य पुनः पुनः ॥४८॥

इसके बाद ब्राह्मण-प्रधान, पुण्यात्मा और जिनधर्म के परम श्रद्धालु पात्रकेसरी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने हृदय में निश्चय कर लिया कि भगवान् ही निर्दोष और संसाररूपी समुद्र से पार कराने वाले देव हो सकते हैं और जिनधर्म ही दोनों लोक में सुख देने वाला धर्म हो सकता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उन्हें सम्यक्त्वरूपी परम रत्न की प्राप्ति हो गई, उससे उनका मन बहुत प्रसन्न रहने लगा ॥४०-४२॥

अब उन्हें निरंतर जिनधर्म के तत्त्वों की मीमांसा के सिवा कुछ न सूझने लगा—वे उनके विचार में मग्न रहने लगे। उनकी यह हालत देखकर उनसे ब्राह्मणों ने पूछा—आज कल हम देखते हैं कि आपने मीमांसा, गौतमन्याय, वेदान्त आदि का पठन-पाठन बिल्कुल ही छोड़ दिया है और उनकी जगह जिनधर्म के तत्त्वों का ही आप विचार किया करते हैं, यह क्यों? सुनकर पात्रकेसरी ने उत्तर दिया—आप लोगों को अपने वेदों का अभिमान है, उस पर ही आपका विश्वास है, इसलिए आपकी दृष्टि सत्य बात की ओर नहीं जाती पर मेरा विश्वास आपसे उल्टा है, मुझे वेदों पर विश्वास न होकर जैनधर्म पर विश्वास है, वही मुझे संसार में सर्वोत्तम धर्म दिखता है। मैं आप लोगों से भी आग्रहपूर्वक कहता हूँ कि आप विद्वान् हैं, सच झूठ की परीक्षा कर सकते हैं, इसलिए जो मिथ्या हो, झूठा हो, उसे छोड़कर सत्य को ग्रहण कीजिए और ऐसा सत्यधर्म एक जिनधर्म ही हैं; इसलिए वह ग्रहण करने योग्य है ॥४३-४६॥

पात्रकेसरी के इस उत्तर से उन ब्राह्मणों को सन्तोष नहीं हुआ। वे इसके विपरीत उनसे शास्त्रार्थ करने को तैयार हो गए। राजा के पास जाकर उन्होंने पात्रकेसरी के साथ शास्त्रार्थ करने की प्रार्थना की। राजाज्ञा के अनुसार पात्रकेसरी राजसभा में बुलवाए गए। उनका शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने वहाँ सब ब्राह्मणों को पराजित कर संसार पूज्य और प्राणियों को सुख देने वाले जिनधर्म का खूब प्रभाव प्रकट किया और सम्यग्दर्शन की महिमा प्रकाशित की ॥४७-४८॥

कृतोऽन्यमतविध्वंसो जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः। संस्तवः परमानन्दात्समस्तसुखदायकः ॥४९॥
पात्रकेसरिणं दृष्ट्वा ततः सर्वगुणाकरम्। सारपण्डितसन्दोहसमर्चितपदद्वयम् ॥५०॥
ते सर्वेऽवनिपालाद्यास्त्यक्त्वा मिथ्यामतं द्रुतम्। भूत्वा जैनमतेऽत्यन्तं संसक्ताः शुद्धमानसाः ॥५१॥
गृहीत्वा सारसम्यक्त्वं संसाराम्भोधितारणम्। प्राप्य श्रीजैनसद्धर्मं स्वर्मोक्षसुखकारणम् ॥५२॥
त्वं भो द्विजोत्तम श्रीमज्जैनधर्मे विचक्षणः। त्वमेव श्रीजिनेन्द्रोक्तसारतत्त्वप्रवीक्षणः ॥५३॥
त्वं श्रीजिनपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः। इत्युच्चैः स्तवनाद्यैस्तं पूजयन्ति स्म भक्तितः ॥५४॥
पञ्चभिः कुलकम्।

इत्थं श्रीशिवशर्मदं शुचितरं सम्यक्त्वमुद्योतनं कृत्वा प्राप नरेन्द्रपूजनपदं पात्रादिकः केसरी।
अन्यश्चापि जिनेन्द्रशासनरतः सद्दर्शनोद्योतनं भक्त्या यस्तु करोति निर्मलयशाः स स्वर्गमोक्षं भजेत् ॥५५॥
सत्कुन्देन्दुविशुद्धकीर्त्तिकलिते श्रीकुन्दकुन्दान्वये श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुभ्रातुः सदादेशतः।
सूरिश्रीश्रुतसागरस्य सुधियः सम्यक्त्वरत्नश्रिये सान्निध्ये शुचि सिंहनन्दिसुमुनेश्चक्रे मयेदं शुभम् ॥५६॥

इति कथाकोशे सम्यक्त्वद्योतिनी पात्रकेसरिणः कथा समाप्ता।

उन्होंने एक जिनस्तोत्र बनाया, उसमें जिनधर्म के तत्त्वों का विवेचन और अन्यमतों के तत्त्वों का बड़े पाण्डित्य के साथ खण्डन किया गया है। उसका पठन-पाठन सबके लिए सुख का कारण है। पात्रकेसरी के श्रेष्ठ गुणों और अच्छे विद्वानों द्वारा उनका आदर सम्मान देखकर अवनिपाल राजा ने तथा उन ब्राह्मणों ने मिथ्यामत को छोड़कर शुभ भावों के साथ जैनमत को ग्रहण कर लिया ॥४९-५१॥

इस प्रकार पात्रकेसरी के उपदेश से संसार समुद्र से पार करने वाले सम्यग्दर्शन को और स्वर्ग तथा मोक्ष के देने वाले पवित्र जिनधर्म को स्वीकार कर अवनिपाल आदि ने पात्रकेसरी की बड़ी श्रद्धा के साथ प्रशंसा की, कि द्विजोत्तम, तुमने जैनधर्म को बड़े पाण्डित्य के साथ खोज निकाला है, तुम्हीं ने जिन भगवान् के उपदेशित तत्त्वों के मर्म को अच्छी तरह समझा है, तुम ही जिन भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने वाले सच्चे भ्रमर हो, तुम्हारी जितनी स्तुति की जाये थोड़ी है। इस प्रकार पात्रकेसरी के गुणों और पाण्डित्य की हृदय से प्रशंसा करके उन सबने उनका बड़ा आदर सम्मान किया ॥५२-५४॥

जिस प्रकार पात्रकेसरी ने सुख के कारण, परम पवित्र सम्यग्दर्शन का उद्योतकर उसका संसार में प्रकाशकर राजाओं के द्वारा सम्मान प्राप्त किया, उसी प्रकार और भी जो जिनधर्म का श्रद्धानी होकर भक्तिपूर्वक सम्यग्दर्शन का उद्योत करेगा, वह भी यशस्वी बनकर अंत में स्वर्ग या मोक्ष का पात्र होगा ॥५५॥

कुन्दपुष्प, चन्द्र आदि के समान निर्मल और कीर्ति युक्त श्री कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय में श्री मल्लिभूषण भट्टारक हुए। श्रुतसागर उनके गुरुभाई हैं। उन्हीं की आज्ञा से मैंने यह कथा श्री सिंहनन्दी मुनि के पास रहकर बनाई है। वह इसलिए कि इसके द्वारा मुझे सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हो ॥५६॥

२. अकलङ्कदेवस्य कथा

अथ श्रीजिनमानम्य सर्वसत्वसुखप्रदम्। वक्ष्येऽकलङ्कदेवस्य ज्ञानोद्योतनसत्कथाम् ॥१॥
अत्रैव भारते मान्यखेटाख्यनगरे वरे। राजाऽभूच्छुभतुङ्गाख्यस्तन्मंत्री पुरुषोत्तमः ॥२॥
भार्या पद्मावती तस्य तयोः पुत्रौ मनःप्रियौ। सञ्जातावकलङ्काख्यनिष्कलङ्कौ गुणोज्वलौ ॥३॥
नन्दीश्वरे महाष्टम्यामेकदा परया मुदा। पितृभ्यां रविगुप्ताख्यं नत्वा भक्त्या मुनीश्वरम् ॥४॥
गृहीत्वाऽष्ट दिनान्युच्चैर्ब्रह्मचर्यं सुशर्मदम्। क्रीडया पुत्रयोश्चापि दापितं तद्व्रतं महत् ॥५॥
ततः कैश्चिद्दिनैर्दृष्ट्वा विवाहोद्यममद्भुतम्। पुत्राभ्यां भणितस्तातः किमर्थं क्रियते त्वया ॥६॥
परिश्रमो महानेष भो पितस्तन्निशम्य सः। भवतो सद्विवाहार्थं प्राहैवं पुरुषोत्तमः ॥७॥
तच्छ्रुत्वा कथितं ताभ्यां किं विवाहेन भो सुधीः। आवयोर्ब्रह्मचर्यं च दापितं शर्मदं त्वया ॥८॥
पित्रोक्तं क्रीडया वत्सौ दापितं भवतोर्मया। ब्रह्मचर्यमिति श्रुत्वा प्राहतुस्तौ विचक्षणौ ॥९॥
धर्मे व्रते च का क्रीडा ब्रीडा वा तदनन्तरम्। सम्प्राह युवयोर्दत्तं व्रतं चाष्ट दिनानि तत् ॥१०॥

---

२. भट्टाकलंकदेव की कथा

मैं जीवों को सुख के देने वाले जिनभगवान् को नमस्कार करके इस अध्याय में भट्टाकलंकदेव की कथा लिखता हूँ, जो कि सम्यग्ज्ञान का उद्योत करने वाली है ॥१॥

भारतवर्ष में एक मान्यखेट नाम का नगर था। उसके राजा थे शुभतुंग और उनके मंत्री का नाम पुरुषोत्तम था। पुरुषोत्तम की गृहिणी पद्मावती थी। उसके दो पुत्र हुए। उनके नाम थे अकलंक और निकलंक। वे दोनों भाई बड़े बुद्धिमान् गुणी थे ॥२-३॥

एक दिन की बात है कि अष्टाह्निका पर्व की अष्टमी के दिन पुरुषोत्तम और उसकी गृहिणी बड़ी विभूति के साथ चित्रगुप्त मुनिराज की वन्दना करने को गए साथ में दोनों भाई भी गए। मुनिराज की वन्दना कर इनके माता-पिता ने आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य लिया और साथ ही विनोदवश अपने दोनों पुत्रों को भी उन्होंने ब्रह्मचर्य दिला दिया ॥४-५॥

कुछ दिनों के बाद पुरुषोत्तम ने अपने पुत्रों के ब्याह की आयोजना की। यह देख दोनों भाईयों ने मिलकर पिता से कहा-पिताजी! इतना भारी आयोजन, इतना परिश्रम आप किसलिए कर रहे हैं? अपने पुत्रों की भोली बात सुनकर पुरुषोत्तम ने कहा-यह सब आयोजन तुम्हारे ब्याह के लिए है। पिता का उत्तर सुनकर दोनों भाइयों ने फिर कहा-पिताजी! अब हमारा ब्याह कैसा? आपने तो हमें ब्रह्मचर्य दिलवा दिया था न? पिता ने कहा नहीं, वह तो केवल विनोद से दिया गया था। उन बुद्धिमान् भाइयों ने कहा-पिताजी! धर्म और व्रत में विनोद कैसा? यह हमारी समझ में नहीं आया। अच्छा आपने विनोद ही से दिया सही, तो अब उसके पालन करने में भी हमें लज्जा कैसी? पुरुषोत्तम ने फिर कहा-अस्तु! जैसा तुम कहते हो वही सही, पर तब तो केवल आठ ही दिन के लिए ब्रह्मचर्य दिया

इत्याकर्ण्य पितुर्वाक्यं पुत्रौ तावूचतुः पुनः। आवयोर्न कृतौ तात मर्यादाष्ट दिनैस्तथा ॥११॥
सूरिणा भवता चापि तस्मादाजन्म निर्मलम्। ब्रह्मचर्यं व्रतं वर्यं नियमस्तु विवाहके ॥१२॥
इत्युक्त्वा सकलासारं व्यापारं परिहृत्य च। नाना शास्त्राण्यधीतानि ताभ्यां भक्त्या बहूनि वै ॥१३॥
तथा बौद्धमतज्ञाता मान्यखेटे न वर्तते। ततस्तस्य मतं ज्ञातुं मूर्खच्छात्रस्य रूपकम् ॥१४॥
धृत्वा ततो महाबोधिस्थानं गत्वा गुणाकरौ। बौद्धमार्गपरिज्ञातुंधर्माचार्यस्य सन्निधौ ॥१५॥
स्थितौ सोपि विजातीयं धर्माचार्यो विशोध्य च। ऊर्ध्वभूमौ परिस्थित्वा बौद्धांस्त बौद्धशास्त्रकम् ॥१६॥
नित्यं पाठयति व्यक्तं जैनधर्मरतौ च तौ। भूत्वाऽज्ञौ मातृकापाठं पठन्तौ गूढमानसौ ॥१७॥
तदाकर्णयतः स्मोच्चैरशेषं बौद्धशासनम्। एकसंस्थोऽकलङ्काख्यदेवोऽभूत्तद्विचक्षणः ॥१८॥
निष्कलङ्को द्विसंस्थश्च चित्ते तच्चिन्तयत्परम्। एवं कालं व्यतीत्यैव धर्माचार्यस्य चैकदा ॥१९॥
व्याख्यानं कुर्वतस्तस्य श्रीमज्जैनेन्द्रभाषिते। सप्तभङ्गीमहावाक्ये कूटत्वात्संशयोऽजनि ॥२०॥
व्याख्यानमथ संवृत्य व्यायामे स गतस्तदा। शुद्धं कृत्वाशु तद्वाक्यं धृतवानकलङ्कवाक् ॥२१॥
बौद्धानां गुरुणागत्य दृष्ट्वा वाक्यं सुशोधितम्। अस्ति कश्चिज्जिनाधीशशासनाम्भोधिचन्द्रमा ॥२२॥

था न ? दोनों भाइयों ने कहा–पिताजी! हमें आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य दिया गया था, इसका न तो आपने हमसे खुलासा कहा था और न आचार्य महाराज ने ही। तब हम कैसे समझें कि वह व्रत आठ ही दिन के लिए था। इसलिए हम तो अब उसका आजन्म पालन करेंगे, ऐसी हमारी दृढ़ प्रतिज्ञा है। हम अब विवाह नहीं करेंगे। यह कहकर दोनों भाइयों ने घर का सब कारोबार छोड़कर और अपना चित्त शास्त्राभ्यास की ओर लगाया। थोड़े ही दिनों में वे अच्छे विद्वान् बन गए। इनके समय में बौद्धधर्म का बहुत जोर था इसलिए उन्हें उसके तत्त्व जानने की इच्छा हुई। उस समय मान्यखेट में ऐसा कोई बौद्ध विद्वान् नहीं था, जिससे वे बौद्धधर्म का अभ्यास करते। इसलिए वे एक अज्ञ विद्यार्थी का वेश बनाकर महाबोधि नामक स्थान में बौद्धधर्माचार्य के पास गए। आचार्य ने इनकी अच्छी तरह परीक्षा करके कि कहीं ये छली तो नहीं हैं और जब उन्हें इनकी ओर से विश्वास हो गया तब वे और शिष्यों के साथ-साथ उन दोनों को भी पढ़ाने लगे। वे भी अन्तरंग में तो पक्के जिनधर्मी और बाहर से एक महामूर्ख बनकर स्वर व्यंजन सीखने लगे। निरन्तर बौद्धधर्म सुनते रहने से अकलंकदेव की बुद्धि बड़ी विलक्षण हो गई, उन्हें एक ही बार के सुनने से कठिन से कठिन बात भी याद हो जाने लगी और निकलंक को दो बार सुनने से याद होने लगा अर्थात् अकलंक एक संस्थ और निकलंक दो संस्थ हो गए। इस प्रकार वहाँ रहते दोनों भाइयों का बहुत समय बीत गया ॥६-१९॥

एक दिन की बात है बौद्धगुरु अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। उस समय प्रकरण था, जैनधर्म के सप्तभंगी सिद्धान्त का। वहाँ कोई अशुद्ध पाठ आ गया, जो बौद्धगुरु की समझ में न आया, तब वे अपने व्याख्यान को वहीं समाप्त कर कुछ समय के लिए बाहर चले आए। अकलंक बुद्धिमान् थे, वे बौद्धगुरु के भाव समझ गए; इसलिए उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी के साथ उस पाठ को शुद्ध कर दिया और उसकी खबर किसी को न होने दी। इतने में पीछे बौद्धगुरु आए। उन्होंने अपना व्याख्यान आरम्भ

अस्माकं मतविध्वंसी बौद्धवेषेण धूर्तकः। अस्मच्छास्त्रं पठन्सोऽत्र संशोध्यैवाशु मार्यताम् ॥२३॥
इत्युक्त्वा शोधितास्तेन ते सर्वे शपथादिना। पुनः संकारिता जैनबिम्बस्योल्लङ्घनं तथा ॥२४॥
तदाकलङ्कदेवेन चातुर्याद् गुणशालिना। प्रतिमोपरि संक्षिप्त्वा सूत्रं संसूत्रवेदिना ॥२५॥
इयं सावरणा मूर्त्तिः कृत्वा संकल्पनं हृदि। तस्या उल्लङ्घनं चक्रे ततो जैनमजानता ॥२६॥
कांस्योद्भवानि तेनोच्चैर्भाजनानि बहूनि च। गोण्यां निक्षिप्य बौद्धानां शयनस्थानसन्निधौ ॥२७॥
एकैकं स्थापयित्वा च स्वकीयं चरमानुषम्। वन्दकं प्रति तान्येव दूरादुद्धृत्य वेगतः ॥२८॥
निक्षिप्तानि ततो रात्रौ विद्युत्पातोपमे खगात्। समुत्थितेऽकलंकाख्यनिष्कलङ्कौ कलस्वनौ ॥२९॥
सारं पंचनमस्कारं स्मरन्तावुत्थितौ तदा। धृत्वा तौ तत्समीपे च नीत्वाप्यालपितं चरैः ॥३०॥
आदेशं देहि देवैतौ धूर्तौ जैनमतोत्तमौ। इति श्रुत्वा जगौ सोपि बौद्धेशो दुष्टमानसः ॥३१॥
धृत्वा सप्तमभूभागे पश्चाद्रात्रौ कुमारकौ। मार्यतामिति तौ तत्र नीत्वा च स्थापितौ तकैः ॥३२॥

किया। जो पाठ अशुद्ध था, वह अब देखते ही उनकी समझ में गया। यह देख उन्हें सन्देह हुआ कि अवश्य इस जगह कोई जिनधर्मरूप समुद्र का बढ़ाने वाला चन्द्रमा है और वह हमारे धर्म के नष्ट करने की इच्छा से बौद्धवेष धारण कर बौद्धशास्त्र का अभ्यास कर रहा है। उसका जल्दी ही पता लगाकर उसे मरवा डालना चाहिए। इस विचार के साथ ही बौद्धगुरु ने सब विद्यार्थियों को शपथ, प्रतिज्ञा आदि देकर पूछा, पर जैनधर्मी का पता उन्हें नहीं लगा। इसके बाद उन्होंने जिनप्रतिमा मँगवाकर उसे लाँघ जाने के लिए सबको कहा। सब विद्यार्थी तो लाँघ गए, अब अकलंक की बारी आई; उन्होंने अपने कपड़े में से एक सूत का सूक्ष्म धागा निकालकर उसे प्रतिमा पर डाल दिया और उसे परिग्रही समझकर वे झट से लाँघ गए। यह कार्य इतनी जल्दी किया गया कि किसी की समझ में न आया। बौद्धगुरु इस युक्ति में भी जब कृतकार्य नहीं हुए, तब उन्होंने एक और नई युक्ति की। उन्होंने बहुत से काँसे के बर्तन इकट्ठे करवाए और उन्हें एक बड़ी भारी गौन में भरकर वह बहुत गुप्त रीति से विद्यार्थियों के सोने की जगह के पास रखवा दी और विद्यार्थियों की देखरेख के लिए अपना एक-एक गुप्तचर रख दिया ॥२०-२८॥

आधी रात का समय था। सब विद्यार्थी निडर होकर निद्रादेवी की गोद में सुख का अनुभव कर रहे थे। किसी को कुछ मालूम न था कि हमारे लिए क्या-क्या षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं। एकाएक बड़ा विकराल शब्द हुआ। मानों आसमान से बिजली टूटकर पड़ी। सब विद्यार्थी उस भयंकर आवाज से काँप उठे। वे अपना जीवन बहुत थोड़े समय के लिए समझकर अपने उपास्य परमात्मा का स्मरण कर उठे। अकलंक और निकलंक भी पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करने लग गए। पास ही बौद्धगुरु का जासूस खड़ा हुआ था। वह उन्हें बुद्ध भगवान् का स्मरण करने की जगह जिन भगवान् का स्मरण करते देखकर बौद्धगुरु के पास ले गया और गुरु से उसने प्रार्थना की। प्रभो! आज्ञा कीजिए कि इन दोनों धूर्तों का क्या किया जाये? ये ही जैनी हैं। सुनकर वह दुष्ट बौद्धगुरु बोला-इस समय रात थोड़ी बीती है, इसलिए इन्हें ले जाकर कैदखाने में बन्द कर दो, जब आधी रात हो जाये तब इन्हें मार डालना। गुप्तचर ने दोनों भाइयों को ले जाकर कैदखाने में बन्द कर दिया ॥२९-३२॥

निष्कलङ्कस्तदा प्राह भो धीमन्नकलङ्कवाक्। अस्माभिर्गुणरत्नानि भ्रातश्चोपार्जितानि वै ॥३३॥
दर्शनस्योपकारस्तु विहितो नैव भूतले। वृथा मरणमायातं तच्छ्रुत्वा ज्येष्ठबान्धवः ॥३४॥
जगादैवं महाधीरो मा विसूरय धीधनं। उपायो जीवितस्यायं विद्यते कोपि साम्प्रतम् ॥३५॥
इदं छत्रं करे धृत्वा क्षिप्त्वात्मानं सुयत्नतः। गत्वा भूमौ च यास्यावः स्वस्थानं वेगतः सुधी ॥३६॥
इत्यालोच्य विधायोच्चैस्तत्सर्वं निर्गतौ च तौ। अर्धरात्रे गते यावन्मारणार्थं दुराशयैः ॥३७॥
अन्वेषितौ तदा नैव दृष्टौ तौ पत्तने ततः। वापिकूपतडागादौ संशोध्य प्राप्य ते पुनः ॥३८॥
अश्वारूढाः सुपापिष्ठाः कष्टाः सम्मारणेच्छया। दयावल्लीदवस्पृष्टाः पृष्ठतो निर्गतास्तयोः ॥३९॥
उच्छलद्धूलिमालोक्य ज्ञात्वा तान्प्राणलोलुपान्। निष्कलङ्कोऽवदद्धीरो भो भ्रातस्त्वं विचक्षणः ॥४०॥

अपने पर एक महाविपत्ति आई देखकर निकलंक ने बड़े भाई से कहा–भैया! हम लोगों ने इतना कष्ट उठाकर तो विद्या प्राप्त की, पर कष्ट है कि उसके द्वारा हम कुछ भी जिनधर्म की सेवा न कर सके और एकाएक हमें मृत्यु का सामना करना पड़ा। भाई की दु:खभरी बात सुनकर महाधीर–वीर अकलंक ने कहा–प्रिय! तुम बुद्धिमान् हो, तुम्हें भय करना उचित नहीं। घबराओ मत। अब भी हम अपने जीवन की रक्षा कर सकेंगे। देखो मेरे पास यह छत्री है, इसके द्वारा अपने को छुपाकर हम लोग यहाँ से निकल चलते हैं। अभी हम शीघ्र ही अपने स्थान पर जा पहुँचते हैं। यह विचार करके दोनों भाई दबे पाँव निकल गए और जल्दी–जल्दी रास्ता तय करने लगे ॥३३–३७॥

इधर जब आधी रात बीत चुकी और बौद्धगुरु की आज्ञानुसार उन दोनों भाइयों के मारने का समय आया; तब उन्हें पकड़ लाने के लिए नौकर लोग दौड़ाए गए, पर वे कैदखाने में जाकर देखते हैं तो वहाँ कोई भी नहीं। सभी को उनके एकाएक गायब हो जाने से बड़ा आश्चर्य हुआ। पर कर क्या सकते थे। उन्हें उनके कहीं आस–पास ही छुपे रहने का सन्देह हुआ। उन्होंने आस–पास के वन, जंगल, खंडहर, बावड़ी, कुँए, पहाड़, गुफाएँ आदि सब एक–एक करके ढूँढ़ डाले, पर उनका कहीं पता न चला। उन पापियों को तब भी सन्तोष न हुआ सो उनको मारने की इच्छा से अश्व द्वारा उन्होंने यात्रा की। उनकी दयारूपी बेल क्रोधरूपी दावाग्नि से खूब ही झुलस गई थी, इसीलिए उन्हें ऐसा करने को बाध्य होना पड़ा। दोनों भाई भागते जाते थे और पीछे फिर–फिर कर देखते जाते थे कि कहीं किसी ने हमारा पीछा तो नहीं किया है। पर उनका सन्देह ठीक निकला, दूर तक देखा तो उन्हें आकाश में धूल उठती हुई दिखाई पड़ी। निकलंक ने बड़े भाई से कहा–भैया! हम लोग जितना कुछ करते हैं, वह सब निष्फल जाता है। जान पड़ता है दैव ने अपने से पूर्ण शत्रुता बाँधी है। खेद है परम पवित्र जिनशासन की हम लोग कुछ भी सेवा न कर सके और मृत्यु ने बीच ही में आकर धर दबाया। भैया! देखो, तो पापी लोग हमें मारने के लिए पीछा किए चले आ रहे हैं। अब रक्षा होना असंभव है। हाँ, मुझे एक उपाय सूझ पड़ा है उसे आप करेंगे तो जैनधर्म का बड़ा उपकार होगा। आप बुद्धिमान् हैं, एक संस्थ है। आपके द्वारा जैनधर्म का खूब प्रकाश होगा। देखते हैं–वह सरोवर है। उसमें बहुत

एकसंस्थो महाप्राज्ञो दर्शनोद्यतनश्रिये। एतस्मिन्पद्मिनीषण्डमण्डिते सुसरोवरे ॥४१॥
संप्रविश्य निजात्मानं रक्षत क्षतकल्मष। मार्गे मां वीक्ष्य गच्छन्तं हन्त्वैते यान्तु पापिनः ॥४२॥
ततस्तद्वचनेनैव सखेदं सोऽकलङ्कवाक्। तत्रस्थितः प्रविश्योच्चैः के धृत्वा पद्मिनीदलम् ॥४३॥
न चक्रे केवलं तेन शरण्यं पद्मपत्रकम्। अनन्यशरणीभूतं शासनं च जिनेशिनाम् ॥४४॥
निष्कलङ्कस्तु नश्यन्सन्पृष्टोऽसौ रजकेन च। वस्त्रप्रक्षालनं कर्म कुर्वता गगनोद्गताम् ॥४५॥
धूलीं विलोक्य भीतेन किमेतदिति सोऽवदत्। शत्रुसैन्यं समायाति यन्नरं पश्यति ध्रुवम् ॥४६॥
तं हन्ति पापकृद्गाढं तेन सन्नश्यते मया। तच्छ्रुत्वा रजकः सोपि सार्धं तेनैव नष्टवान् ॥४७॥
ततस्ते पापिनो धृत्वा नश्यन्तौ तौ सुनिर्दयम्। हत्वा तयोः शिरोयुग्म मादाय गृहमागताः ॥४८॥
किं न कुर्वन्ति भो लोके पापाय पापपण्डिताः। जिनधर्मविनिर्मुक्ता मिथ्यात्वविषदूषिताः ॥४९॥
येषां श्रीमज्जिनेन्द्राणां धर्मः शर्मशतप्रदः। लेशतोऽपि न हृत्कोशे तेषां का करुणाकथा ॥५०॥

से कमल हैं। आप जल्दी जाइए और तालाब में उतरकर कमलों में अपने को छुपा लीजिए। जाइए, जल्दी कीजिए; देरी का काम नहीं है। शत्रु पास पहुँचे आ रहे हैं। आप मेरी चिन्ता न कीजिए। मैं भी जहाँ तक बन पड़ेगा, जीवन की रक्षा करूँगा और यदि मुझे अपना जीवन देना भी पड़े तो मुझे उसकी कुछ परवाह नहीं, जबकि मेरा प्यारा भाई जीवित रहकर पवित्र जिनशासन की भरपूर सेवा करेगा। आप जाइए भैया! मैं अब यहाँ से भागता हूँ ॥३८-४२॥

अकलंक की आँखों से आँसुओं की धार बह चली। उनका गला भ्रातृप्रेम से भर आया। वे भाई से एक अक्षर भी न कह पाए कि निकलंक वहाँ से भाग खड़ा हुआ। लाचार होकर अकलंक को अपने जीवन की नहीं, पवित्र जिनशासन की रक्षा के लिए कमलों में छुपना पड़ा। उनके लिए कमलों का आश्रय केवल दिखाऊ था। वास्तव में तो उन्होंने जिसके बराबर संसार में कोई आश्रय नहीं हो सकता, उस जिनशासन का आश्रय लिया था ॥४३-४४॥

निकलंक भाई से विदा हो, जी छोड़कर भागा जा रहा था, रास्ते में उसे एक धोबी कपड़े धोते हुए मिला। धोबी ने आकाश में धूल की घटा छाई हुई देखकर निकलंक से पूछा, यह क्या हो रहा है? और तुम ऐसे जी छोड़कर क्यों भागे जा रहे हो? निकलंक ने कहा-पीछे शत्रुओं की सेना आ रही है। उन्हें जो मिलता है उसे ही वह मार डालती है इसीलिए मैं भागा जा रहा हूँ। ऐसा सुनते ही धोबी भी कपड़े वगैरह सब वैसे ही छोड़कर निकलंक के साथ भाग खड़ा हुआ। वे दोनों बहुत भागे, पर आखिर कहाँ तक भाग सकते थे? सवारों ने उन्हें धर पकड़ा और उसी समय अपनी चमचमाती हुई तलवार से दोनों का शिर काटकर वे अपने मालिक के पास ले गए। सच है पवित्र जिनधर्म अहिंसा धर्म से रहित मिथ्यात्व को अपनाए हुए पापी लोगों के लिए ऐसा कौन महापाप बाकी रह जाता है, जिसे वे नहीं करते। जिनके हृदय में जीवमात्र को सुख पहुँचाने वाले जिनधर्म का लेश भी नहीं है, उन्हें दूसरों पर दया आ भी कैसे सकती है? ॥४५-५०॥

ततोऽकलङ्कदेवोऽसौ विनिर्गत्य सरोवरात्। मार्गे गच्छन् जिनेन्द्रोक्ततत्त्वविन्निश्चलाशयः ॥५१॥
कलिङ्गविषये रत्नसंचयाख्यं पुरं परम्। कैश्चिद्दिनैः परिप्राप्तस्तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥५२॥
तत्र राजा प्रजाऽभीष्टो नाम्ना श्रीहिमशीतलः। राज्ञी जिनेन्द्रपादाब्जभृङ्गी मदनसुन्दरी ॥५३॥
तया श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वयं कारितमन्दिरे। फाल्गुने निर्मलाष्टम्यां रथयात्रामहोत्सवे ॥५४॥
प्रारब्धे जिनधर्मस्य स्वर्गमोक्षप्रदायिनः। महाप्रभावनाङ्गाय नाना सत्सम्पदा मुदा ॥५५॥
सङ्घश्री वन्दकेनोच्चैर्विद्यादर्पेण पापिना। रथयात्रा न कर्त्तव्या जिनेन्द्रस्य महीपते ॥५६॥
जिनस्य शासनाभावादिति प्रोक्त्वा दुरात्मना। मुनीनां पत्रकं चापि दत्तं वादप्रकाङ्क्षया ॥५७॥
ततश्च भूभुजा प्रोक्तं हे प्रिये जैनदर्शनम्। सामर्थ्यं दृष्ट्वाकर्तव्या यात्रा वै नान्यथा त्वया ॥५८॥
तच्छ्रुत्वा सा सती राज्ञी भूत्वा चोद्विग्नमानसा। श्रीमज्जिनालयं गत्वा पापस्य विलयं तदा ॥५९॥
नत्वा जगौ मुनीन्द्राणामस्माकं दर्शने बुद्धः। एतस्य वन्दकस्योच्चैः कोप्यस्ति प्रतिमल्लकः ॥६०॥
जित्वेमं यो महाभव्यो वाञ्छितं मे करोत्यलम्। श्रुत्वेति मुनयः प्राहुर्मान्यखेटादिकेषु ते ॥६१॥

उधर शत्रु अपना काम कर वापस लौटे और इधर अकलंक अपने को निर्विघ्न समझ सरोवर से निकले और निडर होकर आगे बढ़े। वहाँ से चलते-चलते वे कुछ दिनों बाद कलिंग देशान्तर्गत रत्नसंचयपुर नामक शहर में पहुँचे। इसके बाद का हाल हम नीचे लिखते हैं ॥५१-५२॥

उस समय रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल थे। उनकी रानी का नाम मदनसुन्दरी था। वह जिन भगवान् की बड़ी भक्त थी। उसने स्वर्ग और मोक्ष सुख के देने वाले पवित्र जिनधर्म की प्रभावना के लिए अपने बनवाये हुए जिनमन्दिर में फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन से रथयात्रोत्सव का आरम्भ करवाया था। उसमें उसने बहुत द्रव्य व्यय किया था ॥५३-५५॥

वहाँ संघश्री नामक बौद्धों का प्रधान आचार्य रहता था। उसे महारानी का कार्य सहन नहीं हुआ। उसने महाराज से कहकर रथयात्रोत्सव अटका दिया और साथ ही वहाँ जिनधर्म का प्रचार न देखकर शास्त्रार्थ के लिए घोषणा भी करवा दी। महाराज शुभतुंग ने अपनी महारानी से कहा-प्रिये, जब तक कोई जैन विद्वान् बौद्धगुरु के साथ शास्त्रार्थ करके जिनधर्म का प्रभाव न फैलाएगा, तब तक तुम्हारा उत्सव होना कठिन है। महाराज की बातें सुनकर रानी को बड़ा खेद हुआ। पर वह कर ही क्या सकती थी। उस समय कौन उसकी आशा पूरी कर सकता था। वह उसी समय जिनमन्दिर गई और वहाँ मुनियों को नमस्कार कर उनसे बोली-प्रभो, बौद्धगुरु ने मेरा रथयात्रोत्सव रुकवा दिया है। वह कहता है कि पहले मुझसे शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर लो, फिर रथोत्सव करना। बिना ऐसा किए उत्सव न हो सकेगा। इसलिए मैं आपके पास आई हूँ। बतलाइए जैनदर्शन का अच्छा विद्वान् कौन है, जो बौद्धगुरु को जीतकर मेरी इच्छा पूरी करे? सुनकर मुनि बोले-इधर आसपास तो ऐसा विद्वान् नहीं दिखता जो बौद्धगुरु का सामना कर सके। हाँ मान्यखेट नगर में ऐसे विद्वान् अवश्य हैं। उनके बुलाने का आप प्रयत्न करें तो सफलता प्राप्त हो सकती है। रानी ने कहा-वाह, आपने बहुत ठीक कहा, सर्प तो सिर

एतस्मादधिकाः सन्ति पण्डिता जिनशासने। किन्तु दूराः तदाकर्ण्य सुन्दरीमदनादिका ॥६२॥
सर्पोस्ति मस्तकोपान्ते योजनानां शते भिषक्। इत्युक्त्वा श्रीजिनेन्द्राणां कृत्वा पूजां विशेषतः ॥६३॥
राजगेहं परित्यज्य प्रविश्य जिनमन्दिरम्। सङ्घश्रीदर्पविध्वंसात्पूर्वरीत्या शुभोदयात् ॥६४॥
यात्रा रथस्य मे पूता भविष्यति महोत्सवैः। धर्मप्रभावना चापि तदा मे भोजनादिकम् ॥६५॥
प्रवृत्तिर्नान्यथा चेति कृत्वा चित्ते सुनिश्चयम्। जिनाग्रे संस्थिता पंच जपन्ती सुनमस्कृतीः ॥६६॥
कायोत्सर्गेण मेरोर्वा निश्चला सारचूलिका। सर्वथा भव्यजन्तूनां जिनभक्तिः फलप्रदा ॥६७॥
अर्धरात्रौ ततस्तस्याः सारपुण्यप्रभावतः। चक्रेश्वरी महादेवी विष्टरस्य प्रकम्पनात् ॥६८॥
समागत्य शुभे श्रीमज्जिनपादाब्जमानसे। किंचिन्मा कुरु चोद्वेगमहो मदनसुन्दरि ॥६९॥
प्रातः संघश्रीदुर्मानमर्दनैकविचक्षणः। रथप्रभावनाकारी श्रीमज्जैनागमे चणः ॥७०॥
नाना मनोरथानां ते पूरको दिव्यमूर्तिमान्। अत्राऽकलङ्कदेवाख्यस्तव पुण्यात्समेष्यति ॥७१॥
इत्युक्त्वा सा गता भक्त्या तच्छ्रुत्वा च महीपतेः। सा राज्ञी परमानन्दनिर्भराभक्तितत्परा ॥७२॥
महास्तुतिं जिनेन्द्राणां कृत्वा सद्वाञ्छितप्रदाम्। प्रातर्महााभिषेकं च विधायोच्चैस्तथार्चनम् ॥७३॥

के पास फुंकार कर रहा है और कहते हैं कि गारुड़ी दूर है। भला, इससे क्या सिद्धि हो सकती है? अस्तु! जान पड़ा कि आप लोग इस विपत्ति का सद्य; प्रतिकार नहीं कर सकते। दैव को जिनधर्म का पतन कराना ही इष्ट मालूम देता है। जब मेरे पवित्र धर्म की दुर्दशा होगी, तब मैं ही जीकर क्या करूँगी? यह कहकर महारानी राजमहल से अपना सम्बन्ध छोड़कर जिनमन्दिर गई और उसने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की–''जब संघश्री का मिथ्याभिमान चूर्ण होकर मेरा रथोत्सव बड़े ठाठ-बाट के साथ निकलेगा और जिनधर्म की खूब प्रभावना होगी, तब ही मैं भोजन करूँगी, नहीं तो वैसे ही निराहार रहकर मर मिटूँगी; पर अपनी आँखों से पवित्र जैनशासन की दुर्दशा कभी नहीं देखूँगी।'' ऐसा हृदय में निश्चय कर मदनसुन्दरी जिन भगवान् के सन्मुख कायोत्सर्ग धारण कर पंच नमस्कार मंत्र की आराधना करने लगी। उस समय उसकी ध्यान निश्चय अवस्था बड़ी ही मनोहर दीख पड़ती थी। मानों सुमेरु गिरि की श्रेष्ठ निश्चल चूलिका हो।''भव्यजीवों को जिनभक्ति का फल अवश्य मिलता है।'' इस नीति के अनुसार महारानी भी उससे वंचित नहीं रही। महारानी के निश्चय ध्यान के प्रभाव से पद्मावती का आसन कंपित हुआ ॥५६-६७॥

वह आधी रात के समय आई और महारानी से बोली–देवी, जब तुम्हारे हृदय में जिन भगवान् के चरण कमल शोभित हैं, तब तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। उनके प्रसाद से तुम्हारा मनोरथ नियम से पूर्ण होगा। सुनो, कल प्रातःकाल ही अकलंकदेव इधर आएँगे, वे जैनधर्म के बड़े भारी विद्वान् हैं। वे ही संघश्री का दर्प चूर्णकर जिनधर्म की खूब प्रभावना करेंगे और तुम्हारा रथोत्सव का कार्य निर्विघ्न समाप्त करेंगे। उन्हें अपने मनोरथों के पूर्ण करने वाले मूर्तिमान शरीर समझो। यह कहकर पद्मावती अपने स्थान चली गईं ॥६८-७२॥

देवी की बात सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई उसने बड़ी भक्ति के साथ जिनभगवान् की स्तुति की और प्रातःकाल होते ही महाभिषेकपूर्वक पूजा की। इसके बाद उसने अपने राजकीय

ततोऽकलङ्कदेवस्य समन्वेषणहेतवे। चतुर्दिक्षु सती शीघ्रं प्रेषयामास सन्नरान् ॥७४॥
तन्मध्ये ये गतास्तत्र पूर्वस्यां दिशि पौरुषाः। तैरुद्यानवनेऽशोकवृक्षमूलेऽकलङ्कवाक् ॥७५॥
कैश्चिच्छात्रैः समायुक्तः कुर्वन्विश्रामकं सुखम्। दृष्टोऽसौ सर्वशास्त्रज्ञः पृष्ट्वैकं छात्रकं ततः ॥७६॥
तन्नामापि समागत्य सर्वं राज्या निवेदितम्। ततो राज्ञी महाभूत्या सर्वसङ्घसमन्विता ॥७७॥
यानजंपानसद्वानसमेता धर्मवत्सला। तत्रागत्य लसत्प्रीत्या वन्दितः स बुधोत्तमः ॥७८॥
तस्य सन्दर्शनात्तुष्टा सा सती शुद्धमानसा। पद्मिनीव रवेर्मेधा मुनेर्वा तत्त्वदर्शनात् ॥७९॥
चन्दनागुरुकर्पूरैर्नानावस्त्रादिभिस्तराम्। पूजयामास तं राज्ञी बुधं धर्मानुरागतः ॥८०॥
ततः स प्राह पूतात्मा विद्वज्जनशिरोमणिः। भो देवि भवतां क्षेमः सङ्घस्यापि प्रवर्त्तते ॥८१॥
तं निशम्याश्रुपातं च राज्ञ्या कुर्वाणया पुनः। स्वामिन्सन्तिष्ठते सङ्घः किन्तु तस्यापमानता ॥८२॥
वर्तते साम्प्रतं चेति तया प्रोक्त्वा समग्रतः। सङ्घश्रीचेष्टितं तस्य सूचितं चारुचेतसः ॥८३॥
तदाकर्ण्याकलङ्काख्यः कोपतः किल संजगौ। कियन्मात्रो वराकोऽयं सङ्घश्रीर्यन्मया समम् ॥८४॥
वादं कर्त्तुं समर्थो न सुगतोपि मदोद्धतः। इति प्रव्यक्तसद्वाक्यैस्तां सन्तोष्य समग्रधीः ॥८५॥
वन्दकयोच्चैर्दत्वा पत्रं महोत्सवैः। सम्प्राप्तः श्रीजिनेन्द्रस्य मन्दिरं शर्ममन्दिरम् ॥८६॥

प्रतिष्ठित पुरुषों को अकलंकदेव को ढूँढ़ने को चारों ओर दौड़ाया। उनमें जो पूर्व दिशा की ओर गए थे, उन्होंने एक बगीचे में अशोक वृक्ष के नीचे बहुत से शिष्यों के साथ एक महात्मा को बैठे देखा। उनके किसी एक शिष्य से महात्मा का परिचय और नाम धाम पूछकर वे अपनी मालकिन के पास आए और सब हाल उन्होंने उससे कह सुनाया सुनकर ही वह धर्मवत्सला खानपान आदि सब सामग्री लेकर अपने साधर्मियों के साथ बड़े वैभव से महात्मा अकलंक के सामने गई, वहाँ पहुँच कर उसने बड़े प्रेम और भक्ति से उन्हें प्रणाम किया। उनके दर्शन से रानी को अत्यन्त आनन्द हुआ। जैसे सूर्य को देखकर कमलिनी को और मुनियों का तत्त्वज्ञान देखकर बुद्धि को आनन्द होता हैं। इसके बाद रानी ने धर्मप्रेम के वश होकर अकलंकदेव की चन्दन, अगुरु, फल, फूल, वस्त्रादि से बड़े विनय के साथ पूजा की और पुनः प्रणाम कर वह उनके सामने बैठ गई, उसे आशीर्वाद देकर पवित्रात्मा अकलंक बोले–देवी, तुम अच्छी तरह तो हो और सब संघ भी अच्छी तरह है न? महात्मा के वचनों को सुनकर रानी की आँखों से आँसू बह निकले, उसका गला भर आया। वह बड़ी कठिनता से बोली–प्रभो, संघ है तो कुशल, पर इस समय उसका घोर अपमान हो रहा है; उसका मुझे बड़ा कष्ट है। यह कहकर उसने संघश्री का सब हाल अकलंक से कह सुनाया। पवित्र धर्म का अपमान अकलंक न सह सके। उन्हें क्रोध हो आया। वे बोले–वह वराक संघश्री मेरे पवित्र धर्म का अपमान करता है, पर वह मेरे सामने है कितना, इसकी उसे खबर नहीं है। अच्छा देखूँगा उसके अभिमान को कि वह कितना पाण्डित्य रखता है। मेरे साथ खास बुद्ध तक तो शास्त्रार्थ करने की हिम्मत नहीं रखता, तब वह बेचारा किस गिनती में है? इस तरह रानी को सन्तुष्ट करके अकलंक ने संघश्री के शास्त्रार्थ के विज्ञापन की स्वीकारता उसके पास भेज दी और आप बड़े उत्सव के साथ जिनमन्दिर आ पहुँचे ॥७३-८६॥

सङ्घश्रिया तदालोक्य पत्रं क्षुभितचेतसः। भिन्नमकारि महापत्रं श्रुत्वा तद्गर्जनाक्रमम् ॥८७॥
तदाकलङ्कदेवोऽसौ हिमशीतलभूभुजा। सम्भ्रमेण समानीय वादं तेनैव कारितः ॥८८॥
सङ्घश्रिया महावादं तेन सार्धं प्रकुर्वता। नाना प्रत्युत्तरैर्दृष्ट्वा तस्य वाग्विभवं नवम् ॥८९॥
अशक्तिं चात्मनो ज्ञात्वा ये केचिद्बौद्धपण्डिताः। देशान्तरे स्थिताः सर्वांस्तान्समाहूय गर्वितान् ॥९०॥
पूर्वसिद्धां तथा देवीं ताराभगवतीं निशि। तदावतार्य तेनोक्तं समर्थोऽहं न सुन्दरि ॥९१॥
वादं कर्तुमनेनैव सार्धं देवि तया द्रुतम्। एष वादेन कर्तव्यो निग्रहस्थानभाजनम् ॥९२॥
इत्याकर्ण्य तया प्रोक्तं सभायां भूपतेर्मया। अन्तःपटे घटे स्थित्वा विवादः क्रियते पुनः ॥९३॥

पत्र संघश्री के पास पहुँचा। उसे देखकर और उसकी लेखन शैली को पढ़कर उसका चित्त क्षुभित हो उठा। आखिर उसे शास्त्रार्थ के लिए तैयार होना ही पड़ा ॥८७॥

अकलंक के आने के समाचार महाराज हिमशीतल के पास पहुँचे। उन्होंने उसी समय बड़े आदर सम्मान के साथ उन्हें राजसभा में बुलवाकर संघश्री के साथ उनका शास्त्रार्थ कराया। संघ श्री उनके साथ शास्त्रार्थ करने को तो तैयार हो गया, पर जब उसने अकलंक के प्रश्नोत्तर करने का पाण्डित्य देखा और उससे अपनी शक्ति की तुलना की, तब उसे ज्ञान हुआ कि मैं अकलंक के साथ शास्त्रार्थ करने में असक्त हूँ, पर राजसभा में ऐसा कहना भी उसने उचित न समझा क्योंकि उससे उसका अपमान होता। तब उसने एक नई युक्ति सोचकर राजा से कहा–महाराज, यह धार्मिक विषय है, इसका निर्णय होना कठिन है। इसलिए मेरी इच्छा है कि यह शास्त्रार्थ सिलसिलेबार तब तक चलना चाहिए जब तक कि एक पक्ष पूर्ण निरुत्तर न हो जाये। राजा ने अकलंक की अनुमति लेकर संघश्री के कथन को मान लिया। उस दिन का शास्त्रार्थ बन्द हुआ। राजसभा भंग हुई ॥८८-८९॥

अपने स्थान पर आकर संघ श्री ने जहाँ-जहाँ बौद्धधर्म के विद्वान् रहते थे, उनको बुलवाने को अपने शिष्यों को दौड़ाया और स्वयं ने रात्रि के समय अपने धर्म की अधिष्ठात्री देवी की आराधना की। देवी उपस्थित हुई संघश्री ने उससे कहा–देखती हो, धर्म पर बड़ा संकट उपस्थित हुआ है। उसे दूरकर धर्म की रक्षा करनी होगी। अकलंक बड़ा पंडित है। उसके साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करना असम्भव था इसीलिए मैंने तुम्हें कष्ट दिया है। यह शास्त्रार्थ मेरे द्वारा तुम्हें करना होगा और अकलंक को पराजित कर बुद्धधर्म की महिमा प्रकट करनी होगी। बोलो, क्या कहती हो? उत्तर में देवी ने कहा– हाँ, मैं शास्त्रार्थ करूँगी सही, पर खुली सभा में नहीं; किन्तु परदे के भीतर घड़े में रहकर। 'तथास्तु' कहकर संघश्री ने देवी को विसर्जित किया और आप प्रसन्नता के साथ दूसरी निद्रा देवी की गोद में जा लेटा ॥९०-९३॥

प्रातःकाल हुआ। शौच, स्नान, देवपूजन आदि नित्य कर्म से छुट्टी पाकर संघश्री राजसभा में पहुँचा और राजा से बोला–महाराज, हम आज से शास्त्रार्थ परदे के भीतर रहकर करेंगे। हम शास्त्रार्थ के समय किसी का मुँह नहीं देखेंगे। आप पूछेंगे क्यों? इसका उत्तर अभी न देकर शास्त्रार्थ के अन्त

ततः प्रभाते भूपाग्रे सङ्घश्रीः कपटेन च। अन्तःपटेन कस्यापि मुखं चापश्यता मया ॥९४॥
विचित्रवाक्यविन्यासैरुपन्यासो विधीयते। इत्युक्त्वाऽन्तःपटं दत्वा बुद्धदेवार्चनं तथा ॥९५॥
तद्देव्याश्चार्चनं कृत्वा चक्रे कुम्भावतारणम्। करोति केतवं मूढो नास्त्येवान्तेनुसिद्धिदम् ॥९६॥
ततो घटं प्रविश्योच्चैः सा देवी दिव्यवाग्भरैः। क्षणोपन्यासकं कर्त्तुं प्रवृत्ता निजशक्तितः ॥९७॥
अथाकलङ्कदेवोऽपि दिव्यध्वनिविराजितः। कृत्वोपन्यासकं तस्याः खण्डखण्डं क्षणक्षयम् ॥९८॥
अनेकान्तमतं पूतं सारतत्वैः समन्वितम्। स्वपक्षस्थापकं गाढं परपक्षक्षयप्रदम् ॥९९॥
तत्समर्थयितुं लग्नः समर्थो भयवर्जितः। एवं तयोर्महावादैः षण्मासाः संययुस्तराम् ॥१००॥
तदाकलङ्कऽदेवस्य मानसे निशि चाभवत्। चिन्तामानुषमात्रोऽयं वन्दको दासकोपमः ॥१०१॥
एतावन्ति दिनान्येवं मया सार्धं करोत्यरम्। वादं किं कारणं चेति सचिन्तश्चतुरोत्तमः ॥१०२॥
स श्रीमानकलङ्काख्यो यावदास्ते विचारवान्। तावच्चक्रेश्वरी देवी समागत्य सुपुण्यतः ॥१०३॥
अहो धीमज्जिनेन्द्रोक्तसारतत्त्वविदाम्वर। अकलङ्कस्त्वया सार्धं वादं कर्त्तुं न भूतले ॥१०४॥
समर्थो नरमात्रोऽसौ किन्तु वादं त्वया समम्। करोति तारिका देवी दिनान्येतानि धीधनः ॥१०५॥

में दिया जायेगा। राजा संघश्री के कपट जाल को कुछ नहीं समझ सके। उसने जैसा कहा वैसा उन्होंने स्वीकार कर उसी समय वहाँ एक परदा लगवा दिया। संघश्री ने उसके भीतर जाकर बुद्ध भगवान् की पूजा की और देवी की पूजा कर एक घड़े में आह्वान किया। धूर्त लोग बहुत कुछ छल कपट करते हैं, पर अन्त में उसका फल अच्छा न होकर बुरा ही होता हैं ॥९४-९६॥

इसके बाद घड़े की देवी अपने में जितनी शक्ति थी, उसे प्रकट कर अकलंक के साथ शास्त्रार्थ करने लगी। इधर अकलंकदेव भी देवी के प्रतिपादन किए हुए विषय का अपनी दिव्य भारती द्वारा खण्डन और अपने पक्ष का समर्थन तथा परपक्ष का खण्डन करने वाले परम पवित्र अनेकान्त-स्याद्वाद मत का समर्थन बड़े ही पाण्डित्य के साथ निडर होकर करने लगे। इस प्रकार शास्त्रार्थ होते-होते छह महीने बीत गए, पर किसी की विजय न हो पाई, यह देख अकलंकदेव को बड़ी चिन्ता हुई उन्होंने सोचा-संघश्री साधारण पढ़ा-लिखा और जो पहले ही दिन मेरे सम्मुख थोड़ी देर भी न ठहर सका था, वह आज बराबर छह महीने से शास्त्रार्थ करता चला आता है; इसका क्या कारण है, सो नहीं जान पड़ता। उन्हें इसकी बड़ी चिन्ता हुई पर वे कर ही क्या सकते थे। एक दिन इसी चिन्ता में डूबे हुए थे कि इतने में जिनशासन की अधिष्ठात्री चक्रेश्वरी देवी आई और अकलंकदेव से बोली-प्रभो! आपके साथ शास्त्रार्थ करने की मनुष्य मात्र में शक्ति नहीं है और बेचारा संघश्री भी तो मनुष्य है, तब उसकी क्या मजाल जो वह आपसे शास्त्रार्थ करे? पर यहाँ तो बात कुछ और ही है। आपके साथ जो शास्त्रार्थ करता है वह संघश्री नहीं है किन्तु बुद्धधर्म की अधिष्ठात्री तारा नाम की देवी है। इतने दिनों से वही शास्त्रार्थ कर रही है। संघश्री ने उसकी आराधना कर यहाँ बुलाया है। इसलिए कल जब शास्त्रार्थ होने लगे और देवी उस समय जो कुछ प्रतिपादन करे तब आप उससे उसी विषय का फिर से प्रतिपादन

अतः प्रातः समुत्थाय पूर्वोपन्यस्तं तद्वचः। व्याघुट्य पृच्छतां तस्या मानभङ्गो भविष्यति ॥१०६॥
इत्युक्त्वा सा गता देवी ततः सोप्यकलङ्कवाक्। देवतादर्शनाज्जातपरमानन्दनिर्भरः ॥१०७॥
प्रातर्गत्वा जिनं नत्वा सभायां दिव्यमूर्त्तिभाक्। क्रीडार्थं च प्रभावार्थं धर्मस्यैव जिनेशिनः ॥१०८॥
दिनान्येतानि संचक्रे वादोऽनेन समं मया। अद्य वादं द्रुतं जित्वा भोजनं क्रियते ध्रुवम् ॥१०९॥
उक्त्वेति स्पष्टसद्वाक्यैर्वादं कर्त्तुं समुद्यतः। उपन्यासं ततस्तस्याः कुर्वत्यास्तेन जल्पितम् ॥११०॥
प्रागुक्तं कीदृशं वाक्यं तदस्माकं प्रकथ्यते। तदाकर्ण्याकलङ्कस्य वाक्यं हृत्क्षोभकारणम् ॥१११॥
देवता वचनैकत्वादुत्तरं दातुमक्षमा। सूर्योदये निशेवाशु सा गता मानभङ्गतः ॥११२॥
ततोऽकलङ्कदेवेन समुत्थायप्रकोपतः। अन्तःपटं विदार्योच्चैः स्फोटयित्वा च तं घटम् ॥११३॥
महापादप्रहारेण हत्वा रूपं तु सौगतम्। मानभङ्गं तथा कृत्वा तेषां मिथ्याकुवादिनाम् ॥११४॥
पुनर्मदनसुन्दर्या सम्प्राप्तानन्दसम्पदः। समस्तभव्यलोकानामग्रतः परया मुदा ॥११५॥
गलगर्जितं विद्ययोच्चैस्तेनोक्तं चेति सोत्सवम्। अहो मया वराकोऽयं सङ्घश्रीर्धर्मवर्जितः ॥११६॥

करने के लिए कहिए। वह उसे फिर न कह सकेगी और तब उसे अवश्य नीचा देखना पड़ेगा। यह कहकर देवी अपने स्थान पर चली गई, अकलंकदेव की चिन्ता दूर हुई वे बड़े प्रसन्न हुए ॥९७-१०७॥

प्रातःकाल हुआ। अकलंकदेव अपने नित्यकर्म से मुक्त होकर जिनमन्दिर गए। बड़े भक्तिभाव से उन्होंने भगवान् की स्तुति की। इसके बाद वे वहाँ से सीधे राजसभा में आए। उन्होंने महाराज शुभतुंग को सम्बोधन करके कहा–राजन्! इतने दिनों तक मैंने जो शास्त्रार्थ किया, उसका यह मतलब नहीं था कि मैं संघश्री को पराजित नहीं कर सका परन्तु ऐसा करने से मेरा अभिप्राय जिनधर्म का प्रभाव बतलाने का था। वह मैंने बतलाया। पर अब मैं इस वाद का अन्त करना चाहता हूँ। मैंने आज निश्चय कर लिया है कि मैं आज इस वाद की समाप्ति करके ही भोजन करूँगा। ऐसा कहकर उन्होंने परदे की ओर देखकर कहा–क्या जैनधर्म के सम्बन्ध में कुछ और कहना बाकी है या मैं शास्त्रार्थ समाप्त करूँ? वे कहकर जैसे ही चुप रहे कि परदे की ओर से फिर वक्तव्य आरम्भ हुआ। देवी अपना पक्ष समर्थन करके चुप हुई कि अकलंकदेव ने उसी समय कहा–जो विषय अभी कहा गया है, उसे फिर से कहो? वह मुझे ठीक नहीं सुन पड़ा। आज अकलंक का यह नया ही प्रश्न सुनकर देवी का साहस एक साथ ही न जाने कहाँ चला गया। देवता जो कुछ बोलते वे एक ही बार बोलते हैं–उसी बात को वे पुनः नहीं बोल पाते। तारा देवी का भी यही हाल हुआ। वह अकलंकदेव के प्रश्न का उत्तर न दे सकी। आखिर उसे अपमानित होकर भाग जाना पड़ा। जैसे सूर्योदय से रात्रि भाग जाती है ॥१०८-११२॥

इसके बाद ही अकलंकदेव उठे और परदे को फाड़कर उसके भीतर घुस गए। वहाँ जिस घड़े में देवी का आह्वान किया गया था, उसे उन्होंने पाँव की ठोकर से फोड़ डाला। संघश्री सरीखे जिनशासन के शत्रुओं का, मिथ्यात्वियों का अभिमान चूर्ण किया। अकलंक की इस विजय और जिनधर्म की प्रभावना से मदनसुन्दरी और सर्वसाधारण को बड़ा आनन्द हुआ। अकलंक ने सब लोगों के सामने जोर देकर कहा–सज्जनों! मैंने इस धर्मशून्य संघश्री को पहले ही दिन पराजित कर दिया था

निर्जितः प्रथमे घस्रे किन्तु देव्यैतया समम्। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां मतोद्योतनहेतवे ॥११७॥
संज्ञानोद्योतनार्थं च कृतो वादः स्वलीलया। एतदुक्त्वा महाकाव्यं स्वामिना पठितं स्फुटम् ॥११८॥
''नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं। नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो बौद्धौघान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः॥''
तदा प्रभृति बौद्धास्ते नरेन्द्राद्यैर्निराकृताः। त्यक्त्वा देशं द्रुतं नष्टा खद्योता वा दिनागमे ॥११९॥
एवं श्रीमज्जिनेन्द्राणां दृष्ट्वा ज्ञानप्रभावनाम्। हिमशीतलभूपाद्याः सर्वे ते भक्तिभारतः ॥१२०॥
जिनधर्मरता भूत्वा त्यक्त्वा मिथ्यामतं द्रुतम्। नाना रत्नसुवर्णाद्यैः संस्तोत्रैः शर्मकारिभिः ॥१२१॥
पूजयन्ति स्म तं पूतमकलङ्कं बुधोत्तमम्। श्रीमज्जिनेन्द्रसंज्ञानप्रभावात्के न पूजिताः ॥१२२॥
तथा मदनसुन्दर्या महोत्सवशतै रथः। विचित्ररचनोपेतो लसत्पट्टांशुकैर्वृतः ॥१२३॥
संरणत्किङ्किणीजालो घण्टाटङ्कारशोभितः। त्रैलोक्यपूज्यजैनेन्द्रमहाबिम्बैः पवित्रितः ॥१२४॥
नाना छत्रं वितानाद्यैश्चामराद्यैरलङ्कृतः। कनत्काञ्चनसद्रत्नमुक्तामालाविराजितः ॥१२५॥
अनेक भव्यलोकानां समन्ताज्जयघोषणैः। सम्पतत्कुसुमामोदैः सुगन्धीकृतदिङ्मुखः ॥१२६॥

किन्तु इतने दिन जो देवी के साथ शास्त्रार्थ किया, वह जिनधर्म का माहात्म्य प्रकट करने के लिए और सम्यग्ज्ञान का लोगों के हृदय पर प्रकाश डालने के लिए था। यह कहकर अकलंकदेव ने इस श्लोक को पढ़ा ॥११३-११८॥

अर्थात्-महाराज, हिमशीतल की सभा में मैंने सब बौद्ध विद्वानों को पराजित कर सुगत को ठुकराया, यह न तो अभिमान के वश होकर किया और न किसी प्रकार द्वेषभाव से किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुए जनों पर मुझे बड़ी दया आई इसलिए उनकी दया से बाध्य होकर मुझे ऐसा करना पड़ा।

उस दिन से बौद्धों का राजा और प्रजा के द्वारा चारों और अपमान होने लगा। किसी की बुद्धधर्म पर श्रद्धा नहीं रही। सब उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। यही कारण है बौद्ध लोग यहाँ से भागकर विदेशों में जा बसे ॥११९॥

महाराज हिमशीतल और प्रजा के लोग जिनशासन की प्रभावना देखकर बड़े खुश हुए। सबने मिथ्यात्व मत छोड़कर जिनधर्म स्वीकार किया और अकलंकदेव का सोने, रत्न आदि के अलंकारों से खूब आदर सम्मान किया, खूब उनकी प्रशंसा की। सच बात है जिन भगवान् के पवित्र सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से कौन सत्कार का पात्र नहीं होता ॥१२०-१२२॥

अकलंकदेव के प्रभाव से जिनशासन का उपद्रव टला देखकर महारानी मदनसुन्दरी ने पहले से भी कई गुणे उत्साह से रथ निकलवाया। रथ बड़ी सुन्दरता के साथ सजाया गया था। उसकी शोभा देखते ही बन पड़ती थी। वह वेशकीमती वस्त्र था, छोटी-छोटी घंटियाँ उसके चारों ओर लगी हुई थी, उनकी मधुर आवाज एक बड़े घंटे की आवाज से मिलकर, जो कि उन घंटियों के ठीक बीच में था, बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी, उस पर रत्नों और मोतियों की माला से अपूर्व शोभा दे रही थी, उसके

झल्लरीतालकंसालभेरीभम्भामृदङ्गकैः। पठत्पण्डितसन्दोहैश्चारणस्तुतिपाठकैः ॥१२७॥
कामिनीगीतझङ्कारैर्नानानृत्यादिभिर्युतः। जङ्गमः पुण्यरत्नानां रोहणाद्रिरिवोद्गतः ॥१२८॥
वस्त्राभरणसन्दोहैर्नाना ताम्बूलदानतः। स भव्यानां विभाति स्म पर्यटन्निव सुरद्रुमः ॥१२९॥
वर्ण्यते स रथः केन यस्य दर्शनमात्रतः। अनेकदुर्दृशां चापि संजाता दर्शनश्रियः ॥१३०॥
इत्यादि सम्पदासारै रथः पूर्णमनोरथः। सम्यक्त्वचाल तद्राज्ञ्या यशोराशिरिवापरः ॥१३१॥
सोऽस्माकं भव्यजीवानां नाना शर्मशतप्रदः। नित्यं सम्भावितश्चित्ते दद्यात्सद्दर्शनश्रियम् ॥१३२॥
यथाऽकलङ्कदेवोऽसौ चक्रे ज्ञानप्रभावनाम्। अन्येनापि सुभव्येन कर्त्तव्या सा सुखप्रदा ॥१३३॥
स जयति जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यस्त्रिभुवनसुखकारी यस्य बोधप्रदीपः।
गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुर्मुनीन्द्रो दिशतु मम शिवानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥१३४॥

इति कथाकोशे ज्ञानोद्योतिनी श्रीमदकलङ्कदेवस्य कथा समाप्ता।

ठीक बीच में रत्नमयी सिंहासन पर जिनभगवान् की बहुत सुन्दर प्रतिमा शोभित थी। वह मौलिक छत्र, चामर, भामण्डल आदि से अलंकृत थी। रथ चलता जाता था और उसके आगे-आगे भव्य पुरुष बड़ी भक्ति के साथ जिनभगवान् की जय बोलते हुए और भगवान् पर अनेक प्रकार के सुगन्धित फूलों की, जिनकी महक से सब दिशाएँ सुगन्धित होतीं थीं, वर्षा करते चले जाते थे। चारणलोग भगवान् की स्तुति पढ़ते जाते थे। कुल कामिनियाँ सुन्दर-सुन्दर गीत गाती जाती थीं। नर्तकियाँ नृत्य करती जातीं थीं। अनेक प्रकार के बाजों का सुन्दर शब्द दर्शकों के मन को अपनी ओर आकर्षित करता था। इन सब शोभाओं से रथ ऐसा जान पड़ता था, मानों पुण्यरूपी रत्नों के उत्पन्न करने को चलने वाला वह एक दूसरा रोहण पर्वत उत्पन्न हुआ है। उस समय जो याचकों को दान दिया जाता था, वस्त्राभूषण वितीर्ण किए जाते थे, उससे रथ की शोभा एक चलते हुए कल्पवृक्ष की सी जान पड़ती थी। हम रथ की शोभा का कहाँ तक वर्णन करें? आप इसी से अनुमान कर लीजिए कि जिसकी शोभा को देखकर ही बहुत से अन्यधर्मी लोगों ने जब सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया, तब उसकी सुन्दरता का क्या ठिकाना है? इत्यादि दर्शनीय वस्तुओं से सजाकर रथ निकाला गया, उसे देखकर यही जान पड़ता था, मानों महादेवी मदनसुन्दरी की यशोराशि ही चल रही है। वह रथ भव्य-पुरुषों के लिए सुख को देने वाला था। उस सुन्दर रथ की हम प्रतिदिन भावना करते है, उसका ध्यान करते हैं। वह हमें सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी प्रदान करें ॥१२३-१३२॥

जिस प्रकार अकलंकदेव ने सम्यग्ज्ञान की प्रभावना की, उसका महत्त्व सर्व साधारण लोगों के हृदय पर अंकित कर दिया उसी प्रकार और-और भव्य पुरुषों को भी उचित है कि वे भी अपने से जिस तरह बन पड़े जिनधर्म की प्रभावना करें, जैनधर्म के प्रति उनका जो कर्तव्य है उसे वे पूरा करे। संसार में जिनभगवान् की सदा जय हो, जिन्हें इन्द्र, धरणेन्द्र नमस्कार करते हैं और जिनका ज्ञानरूपी प्रदीप सारे संसार को सुख देने वाला है। श्रीप्रभाचन्द्र मुनि मेरा कल्याण करें, जो गुण रत्नों के उत्पन्न होने के स्थान पर्वत हैं और ज्ञान के समुद्र हैं ॥१३३-१३४॥

३. सनत्कुमारचक्रवर्त्तिनः कथा

नत्वा पञ्च गुरून्भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदान्। चारित्रद्योतने वच्मि चरित्रं तुर्यचक्रिणः ॥१॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे वीतशोकपुरे प्रभुः। अभूदनन्तवीर्याख्यो राज्ञी सीताऽभिधा सती ॥२॥
पुत्रः सनत्कुमारोऽभूत्तयोः सत्पुण्यपाकतः। चतुर्थश्चक्रवर्तीशः सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः ॥३॥
षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं संसाध्यैव शुभोदयात्। निधानैर्नवभी रत्नैश्चतुर्दशभिरुत्तमैः ॥४॥
गजैश्चतुरशीत्युक्तलक्षैर्दक्षो विराजितः। रथैस्तावत्प्रमाणैश्च नित्यं पूर्णमनोरथैः ॥५॥
अश्वैरष्टादशोत्कृष्टैः कोटिभिर्मर्मभूषितैः। भटैश्चतुरशीत्युक्तकोटिभिः शस्त्रपाणिभिः ॥६॥
ग्रामैः षण्णवतिप्रोक्तकोटिभिर्धान्यसम्भृतैः। स्त्रीणां षण्णवतिप्राप्तसङ्ख्यानैश्च सहस्त्रकैः ॥७॥
लसद्रत्नकिरीटाद्यैर्नरेन्द्राणां सहस्त्रकैः। द्वात्रिंशद्गणनोपेतैर्नित्यं सेवाविधायिभिः ॥८॥
इत्यादिसम्पदासारैर्देवविद्याधरैः श्रितः। रूपलावण्यसौभाग्यमहाभाग्यैः समन्वितः ॥९॥
कुर्वन्राज्यं महाप्राज्यं यावदास्ते विचक्षणः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मकर्मपरायणः ॥१०॥
तावत्सौधर्मकल्पेशः स्वकीये सदसि स्थितः। पुरुषस्य लसद्रूपगुणव्यावर्णनां पराम् ॥११॥
प्रकुर्वाणः सुरैः पृष्टो देव किं कोपि वर्तते। उक्तप्रकाररूपश्रीर्भरतक्षेत्रके न वा ॥१२॥

---

३. सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा

स्वर्ग और मोक्ष सुख के देने वाले श्री अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करके मैं सम्यक्चारित्र का उद्योत करने वाले चौथे सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा लिखता हूँ ॥१॥

अनन्तवीर्य भारतवर्ष के अन्तर्गत वीतशोक नामक शहर के राजा थे। उनकी महारानी का नाम सीता था। हमारे चरित्रनायक सनत्कुमार इन्हीं के पुण्य के फल थे। वे चक्रवर्ती थे। सम्यग्दृष्टियों में प्रधान थे। उन्होंने छहों खण्ड पृथ्वी अपने वश में कर ली थी। उनकी विभूति का प्रमाण ऋषियों ने इस प्रकार लिखा है–नवनिधि, चौदहरत्न, चौरासी लाख हाथी, इतने ही रथ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ शूरवीर, छ्यानवें करोड़ धान्य से भरे हुए ग्राम छ्यानवें हजार सुन्दरियाँ और सदा सेवा में तत्पर रहने वाले बत्तीस हजार बड़े-बड़े राजा इत्यादि संसार श्रेष्ठ संपत्ति से वे युक्त थे। देव विद्याधर उनकी सेवा करते थे। वे बड़े सुन्दर थे, बड़े भाग्यशाली थे। जिनधर्म पर उनकी पूर्ण श्रद्धा थी। वे अपना नित्य-नैमित्तिक कर्म श्रद्धा के साथ करते, कभी उनमें विघ्न नहीं आने देते। इसके सिवा अपने विशाल राज्य का वे बड़ी नीति के साथ पालन करते और सुखपूर्वक दिन व्यतीत करते ॥२-१०॥

एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में पुरुषों के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा कर रहा था। सभा में बैठे हुए एक विनोदी देव ने उनसे पूछा–प्रभो! जिस रूप गुण की आप बेहद तारीफ कर रहे हैं, भला, ऐसा रूप भारतवर्ष में किसी का है भी या केवल यह प्रशंसा ही मात्र है? ॥११-१२॥

इन्द्रेणोक्तं शुभं रूपं यादृशं चक्रवर्त्तिनः। सनत्कुमारनाम्नोऽस्ति देवानां नापि तादृशम् ॥१३॥
तच्छ्रुत्वा मणिमालाख्यरत्नचूलौ सुरोत्तमौ। तद्रूपं दृष्टुमायातौ प्रच्छन्नं मज्जनक्षणे ॥१४॥
चक्रिणोरूपमालोक्य सर्वावयवसुन्दरम्। वस्त्रभूषादिनिर्मुक्तं तथापि त्रिजगत्प्रियम् ॥१५॥
देवानामपि नास्त्येवं रूपं ताभ्यां विचिन्त्य च। शिरःकम्पं विधायेति सिंहद्वारे प्रहर्षतः ॥१६॥
स्वरूपं प्रकटीकृत्य प्रतीहारं प्रतीरितम्। भो दौवारिक भूपाग्रे त्वया शीघ्रं निरूप्यते ॥१७॥
दृष्टुकामौ भवद्रूपं स्वर्गाद्देवौ समागतौ। तदाकर्ण्य प्रतीहारश्चक्रिणं तन्निवेदयत् ॥१८॥
ततस्तेन विधायोच्चैः शृङ्गारं चक्रवर्तिना। स्थित्वा सिंहासने भूत्याऽऽकारितौ तौ सुधाशिनौ ॥१९॥
सभायां तौ समागत्य दृष्ट्वा भूपं समूचतुः। हा कष्टं यादृशं रूपं दृष्टं प्रच्छन्नवृत्तितः ॥२०॥
आवाभ्यां पूर्वमेवेदं लीलया मज्जनाश्रितम्। साम्प्रतं तादृशं नास्ति ततः सर्वमशाश्वतम् ॥२१॥
तच्छ्रुत्वा सेवकैरुक्तं तथा मण्डनकारिणा। पूर्वरूपादिदानीं च न किञ्चिद्धीनतामितम् ॥२२॥

उत्तर में इन्द्र ने कहा–हाँ, इस समय भी भारतवर्ष में एक ऐसा पुरुष है, जिसके रूप की मनुष्य तो क्या देव भी तुलना नहीं कर सकते। उसका नाम है सनत्कुमार चक्रवर्ती ॥१३॥

इन्द्र के द्वारा देव दुर्लभ सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूपसौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर मणिमाल और रत्नचूल नाम के दो देव चक्रवर्ती की रूपसुधा के पान की बढ़ी हुई लालसा को किसी तरह नहीं रोक सके। वे उसी समय गुप्त वेश में स्वर्गधरा को छोड़कर भारतवर्ष में आए और स्नान करते हुए चक्रवर्ती का वस्त्रालंकार रहित, पर उस हालत में भी त्रिभुवनप्रिय और सर्वसुन्दर रूप को देखकर उन्हें अपना सिर हिलाना ही पड़ा। उन्हें मानना पड़ा कि चक्रवर्ती का रूप वैसा ही सुन्दर है, जैसा इन्द्र ने कहा था और सचमुच यह रूप देवों के लिए भी दुर्लभ है। इसके बाद उन्होंने अपना असली वेष प्रकट कर पहरेदार से कहा तुम जाकर अपने महाराज से कहो कि आप के रूप को देखने के लिए स्वर्ग से दो देव आए हुए हैं। पहरेदार ने जाकर महाराज से देवों के आने का हाल कहा। चक्रवर्ती ने इसी समय अपना शृंगार किया। इसके बाद वे सिंहासन पर आकर बैठे और देवों को राजसभा में आने की आज्ञा दी ॥१४-१९॥

देव राजसभा में आए और चक्रवर्ती का रूप उन्होंने देखा। देखते ही वे खेद के साथ बोल उठे, महाराज! क्षमा कीजिए; हमें बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि स्नान करते समय वस्त्राभूषण रहित आपके रूप में जो सुन्दरता, जो माधुरी हमने छुपकर देखी थी, अब वह नहीं रही। इससे जैनधर्म का यह सिद्धान्त बहुत ठीक है कि संसार की सब वस्तुएँ क्षण-क्षण में परिवर्तित होती है–सब क्षणभंगुर हैं ॥२०-२१॥

देवों की विस्मय उत्पन्न करने वाली बात सुनकर राज कर्मचारियों तथा और उपस्थित सभ्यों ने देवों से कहा–हमें तो महाराज के रूप में पहले से कुछ भी कमी नहीं दिखती, न जाने तुमने कैसे पहली

अस्माकं प्रतिभातीति श्रुत्वा ताभ्यां च तद्वचः। तद्धीनस्य प्रतीत्यर्थं नृपाग्रे जलसम्भृतम् ॥२३॥
कुम्भमानीय सर्वेषां दर्शयित्वा पुनश्च तान्। बहिर्निष्कास्य भूपस्य पश्यतः पुरतो घटम् ॥२४॥
तोयबिन्दुमपाकृत्य तस्मात्तृणशलाकया। तानाहूय पुनस्तेषां स कुम्भो दर्शितस्तराम् ॥२५॥
कीदृशः प्रागिदानीं च कुम्भोयं कथ्यतामिति। सम्पृष्टास्ते जगुश्चैवं पूर्णोयं पूर्ववद्ध्रुवम् ॥२६॥
देवौ ततश्च भो राजन् यथायं जलबिन्दुकः। दूरीकृतोपि न ज्ञातस्तथा ते रूपहीनता ॥२७॥
एतैर्न लक्ष्यते चेति कथयित्वा दिवं गतौ। ततश्चक्री चमत्कारं दृष्ट्वा चित्ते विचारयन् ॥२८॥
पुत्रमित्रकलत्रादिसम्पदा विविधा तराम्। चंचला चपलेवासौ संसारे दुःखसागरे ॥२९॥
बीभत्सु तापकं पूति शरीरमशुचेर्गृहम्। का प्रीतिर्विदुषामत्र यत्क्षणार्धे-परिक्षयि ॥३०॥
भोगाः पञ्चेन्द्रियोत्पन्ना वञ्चकेभ्योतिवञ्चकाः। यैर्वञ्चितो जनोयं च पिशाचीव प्रवर्तते ॥३१॥
मिथ्यात्वग्रसितो जीवो जैनवाक्यामृते हिते। न करोति मतिं मूढो ज्वरीव क्षीरशर्करे ॥३२॥
अद्य हत्वा महामोहं कुर्वेहं स्वात्मनो हितम्। इत्यादिकं विचार्योच्चैः सुधीर्वैराग्यतत्परः ॥३३॥
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां सर्वसिद्धिप्रदायिनीम्। दानं विधाय कारुण्यादथायोग्यं सुखप्रदम् ॥३४॥

सुन्दरता से इसमें कमी बतलाई है। सुनकर देवों ने सबको उसका निश्चय कराने के लिए एक जल भरा हुआ घड़ा मँगवाया और उसे सबको बतलाकर फिर उसमें से तृण द्वारा एक जल की बूँद निकाल ली। उसके बाद फिर घड़ा सबको दिखलाकर उन्होंने उनसे पूछा–बतलाओ पहले जैसे घड़े में जल भरा था अब भी वैसा ही भरा है, पर तुम्हें पहले से इसमें कुछ विशेषता दिखती है क्या? सबने एक मत होकर यही कहा कि नहीं। तब देवों ने राजा से कहा–महाराज, घड़ा पहले जैसा था, उसमें से एक बूँद जल की निकाल ली गई, तब भी वह इन्हें वैसा ही दिखता है। इसी तरह हमने आपका जो रूप पहले देखा था, वह अब नहीं रहा। वह कमी हमें दिखती है, पर इन्हें नहीं दिखती। यह कहकर दोनों देव स्वर्ग की ओर चले गए ॥२२-२८॥

चक्रवर्ती ने इस चमत्कार को देखकर विचारा–स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, धन, धान्य, दासी, दास, सोना, चाँदी आदि जितनी सम्पत्ति है, वह सब बिजली की तरह क्षणभर में देखते-देखते नष्ट होने वाली है और संसार दुःख का समुद्र है। यह शरीर भी, जिसे दिन-रात प्यार किया जाता है, घिनौना है, सन्ताप को बढ़ाने वाला है, दुर्गन्धयुक्त है और अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है। तब इस क्षण विनाशी शरीर के साथ कौन बुद्धिमान् प्रेम करेगा? ये पाँच इन्द्रियों के विषय ठगों से भी बढ़कर ठग हैं। इनके द्वारा ठगा हुआ प्राणी एक पिशाचिनी की तरह उनके वश होकर अपनी सब सुध भूल जाता है और फिर जैसा वे नाच नचाते हैं नाचने लगता है। मिथ्यात्व जीव का शत्रु है, उसके वश हुए जीव अपने आत्महित के करने वाले, संसार के दुःखों से छुड़ाकर अविनाशी सुख के देने वाले, पवित्र जिनधर्म से भी प्रेम नहीं करते। सच भी तो है–पित्तज्वर वाले पुरुष को दूध भी कड़वा ही लगता है परन्तु मैं तो अब इन विषयों के जाल से अपनी आत्मा को छुड़ाऊँगा। मैं आज ही मोह-माया का नाशकर अपने हित के लिए तैयार होता हूँ। यह विचार कर वैरागी चक्रवर्ती ने जिनमन्दिर में पहुँचकर सब सिद्धि की

दत्वा देवकुमाराय राज्यं पुत्राय धीधनः। त्रिगुप्तमुनिपार्श्वे च दीक्षां जैनीं जगद्धिताम् ॥३५॥
गृहीत्वा गुरुसद्भक्त्या तपश्चोग्राग्रसंज्ञकम्। कुर्वन्पञ्च प्रकारं च चारित्रं प्रतिपालयन् ॥३६॥
तदा विरुद्धकाहारैस्तस्य सर्वशरीरके। अनेकव्याधयो जाताः कण्डूप्रभृतयस्तराम् ॥३७॥
तथाप्यसौ महासाधुः शरीरेऽत्यन्तनिस्पृहः। चिन्तां नैव करोत्युच्चैः कुरुते चोत्तमं तपः ॥३८॥
तदा सौधर्मकल्पेशः सुधीर्धर्मानुरागतः। संस्थितः स्वसभामध्ये चारित्रं पञ्चधा मुदा ॥३९॥
व्यावर्ण्यंश्च देवेन पृष्टो मदनकेतुना। देव देव यथा प्रोक्तं चारित्रं भवता तथा ॥४०॥
किं कस्यापि लसद्दृष्टेः क्षेत्रे भरतसंज्ञके। अस्ति वा नास्ति तच्छ्रुत्वा सौधर्मेन्द्रो जगाद च ॥४१॥
सनत्कुमारचक्रेशस्त्यक्त्वा षट्खण्डमण्डिताम्। तृणवच्च महीं धीमान्स्वदेहेऽतीव निस्पृहः ॥४२॥

प्राप्ति कराने वाले भगवान् की पूजा की, याचकों को दयाबुद्धि से दान दिया और उसी समय पुत्र को राज्यभार देकर आप वन की ओर रवाना हो गए और चारित्रगुप्त मुनिराज के पास पहुँचकर उनसे जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि संसार का हित करने वाली है। इसके बाद वे पंचाचार आदि मुनिव्रतों का निरतिचार पालन करते हुए कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगे। उन्हें न शीत सताती है और न आताप सन्तप्त करता है। न उन्हें भूख की परवाह है और न प्यास की। वन के जीव-जन्तु उन्हें खूब सताते हैं, पर वे उससे अपने को कुछ भी दुःखी ज्ञान नहीं करते। वास्तव में जैन साधुओं का मार्ग बड़ा कठिन है, उसे ऐसे ही धीर वीर महात्मा पाल सकते हैं। साधारण पुरुषों में गम्य नहीं। चक्रवर्ती इस प्रकार आत्मकल्याण के मार्ग में आगे-आगे बढ़ने लगे ॥२९-३६॥

एक दिन की बात है कि वे आहार के लिए शहर में गए। आहार करते समय कोई प्रकृति-विरुद्ध वस्तु उनके खाने में आ गई उसका फल यह हुआ कि उनका सारा शरीर खराब हो गया, उसमें अनेक भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न हो गई और सबसे भारी व्याधि तो यह हुई कि उनके सारे शरीर में कोढ़ फूट निकली। उससे रुधिर, पीप बहने लगा, दुर्गन्ध आने लगी। यह सब कुछ हुआ पर इन व्याधियों का असर चक्रवर्ती के मन पर कुछ भी नहीं हुआ। उन्होंने कभी इस बात की चिन्ता तक भी नहीं की कि मेरे शरीर की क्या दशा है? किन्तु वे जानते थे कि-

बीभत्सु तापकं पूति शरीरमशुचेर्गृहम्।
का प्रीतिर्विदुषामत्र यत्क्षणार्थे परिक्षयि॥

इसलिए वे शरीर से सर्वथा निर्मोही रहे और बड़ी सावधानी से तपश्चर्या करते रहे-अपने व्रत पालते रहे ॥३७-३८॥

एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में धर्म-प्रेम के वश हो मुनियों के पाँच प्रकार के चारित्र का वर्णन कर रहा था। उस समय एक मदनकेतु नामक देव ने उनसे पूछा-प्रभो! जिस चारित्र का आपने अभी वर्णन किया उसका ठीक पालने वाला क्या कोई इस समय भारतवर्ष में है? उत्तर में इन्द्र ने कहा, सनत्कुमार चक्रवर्ती हैं। वे छह खण्ड पृथ्वी को तृण की तरह छोड़कर संसार, शरीर, भोग

तच्चरित्रं जगच्चित्रं पञ्चधास्ति जिनोदितम्। एतदाकर्ण्य देवोसौ शीघ्रं मदनकेतुवाक् ॥४३॥
तत्रागत्य महाटव्यामनेकव्याधिसंयुतम्। निश्चलं मेरुवद्गाढं सुरासुरनमस्कृतम् ॥४४॥
दुर्धरं भूरि चारित्रमनुतिष्ठन्तमद्भुतम्। समालोक्य मुनीन्द्रं तं पवित्रीकृतभूतलम् ॥४५॥
सम्प्राप्य परमानन्दं तथा तस्य परीक्षितुम्। शरीरे निस्पृहत्वं च वैद्यरूपं विधाय वै ॥४६॥
स्फेटयित्वा महाव्याधीन्सर्वान्वैद्यशिरोमणिः। शीघ्रं दिव्यं करोम्युच्चैः शरीरं रोगवर्जितम् ॥४७॥
एवं मुहुर्मुहुर्व्यक्तं ब्रुवाणः पुरतो मुनेः। इतस्ततश्च सञ्चरन्पृष्टोऽसौ मुनिना तदा ॥४८॥
कस्त्वं किमर्थमत्रैव निर्जने च वने घने। पूत्कारं सङ्करोषीति तदाकर्ण्य सुरोऽवदत् ॥४९॥
वैद्योऽहं भवतां देव निखिलं व्याधिसञ्चयम्। स्फेटयित्वा सुवर्णाभशरीरं सङ्करोम्यहम् ॥५०॥
ततश्च स मुनिः प्राह यदि स्फेटयसि ध्रुवम्। व्याधिं मे स्फेटय त्वं च शीर्घं सांसारिकं सुधीः ॥५१॥
तेनोक्तं भो मुने नाऽहं समर्थस्तन्निवारणे। तत्र शूरा भवन्त्येव भवन्तस्तु विचक्षणाः ॥५२॥
ततः प्रोक्तं मुनीन्द्रेण किं व्याधिस्फेटनेन मे। अशाश्वतेऽशुचौ काये निर्गुणे दुर्जनोपमे ॥५३॥
निष्ठीवनस्य संस्पर्शमात्रेण व्याधिसंक्षयः। यत्र शीघ्रं भवत्येव किं कार्यं वैद्यभेषजैः ॥५४॥

आदि से उदास हैं और दृढ़ता के साथ तपश्चर्या तथा पंच प्रकार का चारित्र पालन करते हैं ॥३९-४३॥

मदनकेतु सुनते ही स्वर्ग से चलकर भारतवर्ष में जहाँ सनत्कुमार मुनि तपश्चर्या करते थे, वहाँ पहुँचा। उसने देखा कि उनका सारा शरीर रोगों का घर बन रहा है, तब भी चक्रवर्ती सुमेरु के समान निश्चल होकर तप कर रहे हैं। उन्हें अपने दुःख की कुछ परवाह नहीं हैं। वे अपने पवित्र चारित्र का धीरता के साथ पालन कर पृथ्वी को पावन कर रहे हैं। उन्हें देखकर मदनकेतु बहुत प्रसन्न हुआ। तब भी वे शरीर से कितने निर्मोही हैं, इस बात की परीक्षा करने के लिए उसने वैद्य का वेष बनाया और लगा वन में घूमने। वह घूम-घूमकर यह चिल्लाता था कि ''मैं एक बड़ा प्रसिद्ध वैद्य हूँ, सब वैद्यों का शिरोमणि हूँ। कैसी ही भयंकर से भयंकर व्याधि क्यों न हो उसे देखते-देखते नष्ट करके शरीर को क्षणभर में मैं निरोग कर सकता हूँ।'' देखकर सनत्कुमार मुनिराज ने उसे बुलाया और पूछा तुम कौन हो? किसलिए इस निर्जन वन में घूमते फिरते हो? और क्या कहते हो? उत्तर में देव ने कहा-मैं एक प्रसिद्ध वैद्य हूँ। मेरे पास अच्छी से अच्छी दवाएँ हैं। आपका शरीर बहुत बिगड़ रहा है, यदि आज्ञा दे तो मैं क्षणमात्र में इसकी सब व्याधियाँ खोकर इसे सोने सरीखा बना सकता हूँ। मुनिराज बोले-हाँ तुम वैद्य हो? यह तो बहुत अच्छा हुआ जो तुम इधर अनायास आ निकले। मुझे एक बड़ा भारी और महाभयंकर रोग हो रहा है, मैं उसके नष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ, पर सफल प्रयत्न नहीं होता। क्या तुम उसे दूर कर दोगे? ॥४४-५०॥

देव ने कहा-निस्सन्देह मैं आपके रोग को जड़ मूल से खो दूँगा। वह रोग शरीर से गलने वाला कोढ़ ही है न।

मुनिराज बोले-नहीं, यह तो एक तुच्छ रोग है। इसकी तो मुझे कुछ भी परवाह नहीं। जिस रोग

इत्युक्त्वा मुनिना तेन स्वनिष्ठीवनमात्रतः। अपनीय महाव्याधिं स्वबाहुर्दर्शितः शुभः ॥५५॥
दृष्ट्वा स्वर्णशलाकाभं बाहुमेकं मुनेस्तराम्। स्वमायामुपसंहृत्य तं प्रणम्य जगाद सः ॥५६॥
भो स्वामिन्भवतां चित्रं चरित्रं दोषवर्जितम्। निस्पृहत्वं शरीरादौ सौधर्मेन्द्रेण वर्णितम् ॥५७॥
सभायां यादृशं देव महाधर्मानुरागतः। तादृशं दृष्टमेवात्र समागत्य मयाऽधुना ॥५८॥
अतस्त्वं धन्य एवात्र भूतले जन्म ते शुभम्। मानुष्यं शर्मदं चेति तं प्रशस्य मुहुर्मुहुः ॥५९॥
नत्वा भक्तिभरेणोच्चैः स्वर्गं देवो गतस्तदा। मुनिः सनत्कुमारोऽसौ महावैराग्यतः पुनः ॥६०॥
पञ्च प्रकारचारित्रं प्रकृष्टोद्योतनादिकम्। विधाय क्रमशो धीरः शुक्लध्यानप्रभावतः ॥६१॥
घातिकर्मक्षयं कृत्वा लोकालोकप्रकाशकम्। सम्प्राप्तः केवलज्ञानं देवेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ॥६२॥
सम्बोध्य सकलान्भव्यान्सद्धर्मामृतवर्षणैः। शेषकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तवान्मोक्षमक्षयम् ॥६३॥

की बात मैं तुमसे कह रहा हूँ, वह तो बड़ा ही भयंकर है। देव बोला–अच्छा, तब बतलाइए यह क्या रोग है, जिसे आप इतना भयंकर बतला रहे हैं? मुनिराज ने कहा–सुनो, वह रोग है संसार का परिभ्रमण। यदि तुम मुझे उससे छुड़ा दोगे तो बहुत अच्छा होगा। बोलो क्या कहते हो? सुनकर देव बड़ा लज्जित हुआ। वह बोला, मुनिनाथ! इस रोग को तो आप ही नष्ट कर सकते हैं। आप ही इसके दूर करने में शूरवीर और बुद्धिमान् हैं। तब मुनिराज ने कहा–भाई, जब इस रोग को तुम नष्ट नहीं कर सकते, तब मुझे तुम्हारी आवश्यकता भी नहीं। कारण विनाशीक, अपवित्र, निर्गुण और दुर्जन के समान इस शरीर की व्याधियों को तुमने नष्ट कर भी दिया तो उसकी मुझे जरूरत नहीं। जिस व्याधि का वमन के स्पर्शमात्र से जब क्षय हो सकता है, तब उसके लिए बड़े-बड़े वैद्यशिरोमणि की और अच्छी-अच्छी दवाओं की आवश्यकता ही क्या है? यह कहकर मुनिराज ने अपने वमन द्वारा एक हाथ के रोग को नष्टकर उसे सोने-सा निर्मल बना दिया। मुनि की इस अतुल शक्ति को देखकर देव भौंचक्का रह गया। वह अपने कृत्रिम वेष को पलटकर मुनिराज से बोला–भगवन्! आपके विचित्र और निर्दोष चारित्र की तथा शरीर में निर्मोहपने की सौधर्म इन्द्र ने धर्म प्रेम के वश होकर जैसी प्रशंसा की थी, वैसा ही मैंने आपको पाया। प्रभो! आप धन्य है, संसार में आप ही का मनुष्य जन्म प्राप्त करना सफल और सुख देने वाला है। इस प्रकार मदनकेतु सनत्कुमार मुनिराज की प्रशंसा कर और बड़ी भक्ति के साथ उन्हें बारम्बार नमस्कार कर स्वर्ग में चला गया ॥५१-६०॥

इधर सनत्कुमार मुनिराज क्षणक्षण में बढ़ते हुए वैराग्य के साथ अपने चारित्र को क्रमशः उन्नत करने लगे अन्त में शुक्लध्यान के द्वारा घातिया कर्मों का नाशकर उन्होंने लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया और इन्द्र धरणेन्द्रादि द्वारा पूज्य हुए ॥६१-६२॥

इसके बाद वे संसार में दुःखरूपी अग्नि से झुलसते हुए अनेक जीवों को सद्धर्मरूपी अमृत की वर्षा से शान्त कर उन्हें मुक्ति का मार्ग बतलाकर और अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाशकर मोक्ष में जा विराजे, जो कभी नाश नहीं होने वाला है ॥६३॥

सोऽस्माकं केवलज्ञानी स्वर्गमोक्षसुखप्रदः। पूजितो वन्दितो नित्यं भूयात्सत्केवलश्रिये ॥६४॥
यथाऽनेन मुनीन्द्रेण चारित्रोद्योतनं कृतम्। तथान्येन सुभव्येन कर्त्तव्यं तद्धि शर्मदम् ॥६५॥
गच्छे श्रीमति मूलसङ्घतिलके श्रीशारदायाः शुभे। श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुश्चारित्रचूडामणिः।
तच्छिष्यो गुणरत्नरञ्जितमतिर्नित्यं सतां सद्गतिर्भूयान्मे भवतारको वरमुदे श्रीसिंहनन्दी मुनिः ॥६६॥

इति चारित्रोद्योतिनी श्रीसनत्कुमारचक्रवर्तिनः कथा समाप्ता।

४. श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः कथा

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं द्योतने दृष्टिबोधयोः। श्रीमत्समन्तभद्रस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
इहैव दक्षिणस्थायां काञ्च्यां पुर्यां परात्मवित्। मुनिः समन्तभद्राख्यो विख्यातो भुवनत्रये ॥२॥
तर्कव्याकरणोत्कृष्टच्छन्दोऽलङ्कारकादिभिः। अनेकशास्त्रसन्दोहैर्मण्डितो बुधसत्तमः ॥३॥
दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान्। यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥४॥
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद् दुर्दुःखदायिनः। तीव्रकष्टप्रदः कष्टं भस्मकव्याधिसंज्ञकः ॥५॥

उन स्वर्ग और मोक्ष-सुख देने वाले श्रीसनत्कुमार केवली की हम भक्ति और पूजन करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं। वे हमें भी केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी प्रदान करें ॥६४॥

जिस प्रकार सनत्कुमार मुनिराज ने सम्यक्चारित्र का उद्योत किया उसी तरह सब भव्य पुरुषों को भी करना उचित है। वह सुख का देने वाला है ॥६५॥

श्रीमूलसंघ सरस्वतीगच्छ में चारित्रचूड़ामणि श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। सिंहनन्दी मुनि उनके प्रधान शिष्यों में थे। वे बड़े गुणी थे और सत्पुरुषों को आत्मकल्याण का मार्ग बतलाते थे। वे मुझे भी संसार समुद्र से पार करें ॥६६॥

४. समन्तभद्राचार्य की कथा

संसार के द्वारा पूज्य और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का उद्योत करने वाले श्री जिन भगवान् को नमस्कार कर श्री समन्तभद्राचार्य की पवित्र कथा लिखता हूँ, जो कि सम्यक्चारित्र की प्रकाशक है ॥१॥

भगवान् समन्तभद्र का पवित्र जन्म दक्षिणप्रान्त के अन्तर्गत कांची नाम की नगरी में हुआ था। वे बड़े तत्त्वज्ञानी और न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि विषयों के भी बड़े भारी विद्वान् थे। संसार में उनकी बहुत ख्याति थी। वे कठिन से कठिन चारित्र का पालन करते, दुस्सह तप तपते और बड़े आनन्द से अपना समय आत्मानुभव, पठन-पाठन, ग्रन्थरचना आदि में व्यतीत करते ॥२-४॥

कर्मों का प्रभाव दुर्निवार है। उसके लिए राजा हो या रंक हो, धनी हो या निर्धन हो, विद्वान् हो या मूर्ख हो, साधु हो या गृहस्थ हो सब समान हैं, सबको अपने-अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। भगवान् समन्तभद्र के लिए भी एक ऐसा ही कष्ट का समय आया। वे बड़े भारी तपस्वी थे, विद्वान् थे, पर कर्मों ने इन बातों की कुछ परवाह न कर उन्हें अपने चक्र में फँसाया। असातावेदनीय के तीव्र

तेन सम्पीडितश्चित्ते चिन्तयत्यैवमञ्जसा। व्याधिनानेन सन्तप्ता विद्वान्सोपि वयं भुवि ॥६॥
दर्शनस्योपकाराय जाता नैव समर्थकाः। अतस्तद्व्याधिनाशाय विधिः कश्चिद्विधीयते ॥७॥
स विधिस्तु भवेन्नाना पक्वान्नाहारसञ्चयैः। अन्यैः स्निग्धतरैरन्नैस्तद्दुःखौघप्रशान्तिदः ॥८॥
तदाहारस्य सम्प्राप्तेरभावादत्र साम्प्रतम्। यस्मिन्देशे यथास्थाने येन लिङ्गेन सम्भवेत् ॥९॥
तथाहारपरिप्राप्तिराश्रयं तं व्रजाम्यहम्। विचार्येति परित्यज्य पुरीं काञ्चीं स संयमी ॥१०॥
उत्तराभिमुखो गच्छन्पुण्ड्रेन्दुनगरे गतः। तत्र वन्दकलोकानां स्थाने च महतीं मुदा ॥११॥
दानशालां समालोक्य भस्मकव्याधिसङ्क्षयः। भविष्यत्यत्र संचित्य धृतवान्बौद्धलिङ्गकम् ॥१२॥
तत्रापि तन्महाव्याधिशान्तिदाहारदुर्विधात्। स निर्गत्य पुनस्तस्मादुत्तरापथसम्मुखः ॥१३॥
पर्यटन्नगराण्युच्चैरनेकानि क्षुधाहतः। सम्प्राप्तः कतिभिर्घस्त्रैः पुरं दशपुराभिधम् ॥१४॥
तत्र दृष्ट्वा तथा भागवतानाम् मठमुन्नतम्। तल्लिङ्गिभिः समाकीर्णं काककीर्णं वनं यथा ॥१५॥
तद्भाक्तिकैः सदा दत्तविशिष्टाहारसञ्चयम्। त्यक्त्वा वन्दकलिङ्गं च धृत्वा भागवतं हि तत् ॥१६॥
तत्रैवं भस्मकव्याधिविनाशाहारहानितः। ततो निर्गत्य नानोरुदिग्देशादींश्च पर्यटन् ॥१७॥

उदय से भस्मक व्याधि नाम का एक भयंकर रोग उन्हें हो गया। उससे वे जो कुछ खाते वह उसी समय भस्म हो जाता और भूख वैसी की वैसी बनी रहती। उन्हें इस बात का बड़ा कष्ट हुआ कि हम विद्वान् हुए और पवित्र जिनशासन का संसार भर में प्रचार करने के लिए समर्थ भी हुए तब भी उसका कुछ उपकार नहीं कर पाते। इस रोग ने असमय में बड़ा कष्ट पहुँचाया। अस्तु। अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे इसकी शान्ति हो। अच्छे-अच्छे स्निग्ध, सच्चिकण और पौष्टिक पकवान का आहार करने से इसकी शान्ति हो सकेगी; इसलिए ऐसे भोजन का योग मिलाना चाहिए, पर यहाँ तो इसका कोई साधन नहीं दीख पड़ता। इसलिए जिस जगह, जिस तरह ऐसे भोजन की प्राप्ति हो सकेगी मैं वहीं जाऊँगा और वैसा ही उपाय करूँगा ॥५-१०॥

यह विचार कर वे कांची से निकले और उत्तर की ओर रवाना हुए। कुछ दिनों तक चलकर वे पुण्ड्र नगर में आए। वहाँ बौद्धों की एक बड़ी भारी दानशाला थी। उसे देखकर आचार्य ने सोचा, यह स्थान अच्छा है। यहाँ अपना रोग नष्ट हो सकेगा ॥११-१२॥

इस विचार के साथ ही उन्होंने बौद्ध साधु का वेष बनाकर वहाँ रहे, परन्तु योग्य भोजन नहीं मिला। इसलिए वे फिर उत्तर की ओर आगे बढ़े और अनेक शहरों में घूमते हुए कुछ दिनों के बाद दशपुर-मन्दोसोर में आए। वहाँ उन्होंने भागवत-वैष्णवों का एक बड़ा भारी मठ देखा। उसमें बहुत से भागवत सम्प्रदाय के साधु रहते थे। उनके भक्त लोग उन्हें खूब अच्छा-अच्छा भोजन देते थे। यह देखकर उन्होंने बौद्धवेष को छोड़कर भागवत साधु का वेष ग्रहण कर लिया। वहाँ वे कुछ दिनों तक रहे, फिर उनकी व्याधि के योग्य उन्हें वहाँ भी भोजन नहीं मिला। तब वे वहाँ से भी निकलकर और अनेक देशों और पर्वतों में घूमते हुए बनारस आए। उन्होंने यद्यपि बाह्य में जैनमुनियों के वेष को

अन्तः स्फुरितसम्यक्त्वो बहिर्व्याप्तकुलिङ्गकः। शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तो मणिर्यथा ॥१८॥
वाराणसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्विताम्। योगिलिङ्गं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्पुरे ॥१९॥
स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा। कारितं शिवदेवोरुप्रासादं सम्विलोक्य च ॥२०॥
दृष्टाष्टादशसद्भक्षसमूहैश्चारुकैर्युतम्। अत्रास्मदीयदुर्व्याधिशान्तिता सम्भविष्यति ॥२१॥
यावदेवं विचार्योच्चैः संस्थितस्तावदेव च। कृत्वा देवस्य तैः पूजां भाक्तिकैर्भक्षभेदकैः ॥२२॥
बहिर्निक्षिप्यमाणं च दृष्ट्वा नैवेद्यकं महत्। अहो किमत्र कस्यापि सामर्थ्यं नास्ति सोऽवदत् ॥२३॥
यः कोपि देवमत्रेममवतार्य सुभक्तितः। राज्ञा सम्प्रेषितं दिव्यमाहारं भोजयत्यलम् ॥२४॥
इत्याकर्ण्य जगुस्तेपि किं सामर्थ्यं तवास्ति च। भक्षं भोजयितुं देवमवतार्य यतो भवान् ॥२५॥
वदत्येवं तदाकर्ण्य स जगौ मेस्ति तद्ध्रुवम्। ततस्तत्र स्थितैर्लोकैः शीघ्रं राज्ञे निवेदितम् ॥२६॥
योगिनैकेन देवात्र समागत्य महाद्भुतम्। त्वदीयदेवसत्पूजाविसर्जनविधौ प्रभो ॥२७॥
बहिर्निक्षिप्यमाणं च नैवेद्यं संविलोक्य तत्। प्रोक्तमत्रावतार्याशु देवं दिव्याशनं महत् ॥२८॥
भोजयामीति तच्छ्रुत्वा शिवकोटिमहीपतिः। सञ्जातकौतुको दिव्यं नानाहारं घृतादिभिः ॥२९॥

छोड़कर कुलिंग धारण कर रखा था, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके हृदय में सम्यग्दर्शन की पवित्र ज्योति जगमगा रही थी। इस वेष में वे ठीक ऐसे जान पड़ते थे, मानों कीचड़ से भरा हुआ कान्तिमान् रत्न हो। इसके बाद आचार्य योगलिंग धारण कर शहर में घूमने लगे ॥१३-१९॥

उस समय बनारस के राजा थे शिवकोटि। वे शिव के बड़े भक्त थे। उन्होंने शिव का एक विशाल मन्दिर बनवाया था। वह बहुत सुन्दर था। उसमें प्रतिदिन अनेक प्रकार के व्यंजन शिव को भेंट चढ़ा करते थे। आचार्य ने देखकर सोचा कि यदि किसी तरह अपनी इस मन्दिर में कुछ दिनों के लिए स्थिति हो जाये, तो निस्सन्देह अपना रोग शान्त हो सकता है। यह विचार वे कर ही रहे कि इतने में पुजारी लोग महादेव की पूजा करके बाहर आए और उन्होंने एक बड़ी भारी व्यंजनों की राशि, जो कि शिव को भेंट चढ़ाई गई थी, लाकर बाहर रख दी। उसे देखकर आचार्य ने कहा, क्या आप लोगों में ऐसी किसी की शक्ति नहीं जो महाराज के भेजे हुए इस दिव्य भोजन को शिव की पूजा के बाद शिव को ही खिला सकें? तब उन ब्राह्मणों ने कहा, तो क्या आप अपने में इस भोजन को शिव को खिलाने की शक्ति रखते हैं? आचार्य ने कहा-हाँ मुझमें ऐसी शक्ति है। सुनकर उन बेचारों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उसी समय जाकर यह हाल राजा से कहा-प्रभो! आज एक योगी आया है। उसकी बातें बड़ी विलक्षण हैं। हमने महादेव की पूजा करके उनके लिए चढ़ाया हुआ नैवेद्य बाहर लाकर रखा, उसे देखकर वह योगी बोला कि-''आश्चर्य है, आप लोग इस महादिव्य भोजन को पूजन के बाद महादेव को न खिलाकर पीछे उठा ले आते हो! भला ऐसी पूजा से कैसा लाभ? उसने साथ ही यह भी कहा कि मुझमें ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा यह सब भोजन मैं महादेव को खिला सकता हूँ। यह कितने खेद की बात है कि जिसके लिए इतना आयोजन किया जाता है, इतना खर्च उठाया जाता है, वह यों ही

प्रचुरेक्षुरसैर्दुग्धदध्यादिकसमन्वितैः। पूर्णैः कुम्भशतैर्युक्तं सत्प्रपैर्वटकादिभिः ॥३०॥
समादाय समागत्य तत्रैवं संजगाद सः। भोजयन्तु भवन्तस्तु देवं भो योगिनोऽशनम् ॥३१॥
एवं करोमि तेनोक्त्वा सर्वं तद्भोज्यसञ्चयम्। प्रासादान्तः प्रविश्योच्चैः सर्वान्निष्कास्य तान्बहिः ॥३२॥
द्वारं दत्वा स्वयं भुक्त्वा कपाटयुगलं पुनः। समुद्घाट्य ततः प्रोक्तं भाजनानि बहिस्तराम् ॥३३॥
निस्सार्यतां ततो जाते महाश्चर्ये स भूपतिः। नित्यं नैवेद्यसन्दोहं कारयित्वोत्तरोत्तरम् ॥३४॥
प्रेषयामास सद्भक्त्या षण्मासेषु गतेषु च। संजाते भस्मकव्याधिप्रक्षये तस्य योगिनः ॥३५॥
आहारे प्रकृतिं प्राप्ते शरीरे शान्तितामिते। समस्तभक्षसन्दोहं दृष्ट्वा चोद्धरितं जगुः ॥३६॥
ततस्तत्र स्थिता लोकाः किं भो योगीन्द्र साम्प्रतम्। तथैवोद्ध्रियते सर्वो नाना भक्षसमुच्चयः ॥३७॥

रह जाये और दूसरे ही उससे लाभ उठावें? यह ठीक नहीं। इसके लिए कुछ प्रबन्ध होना चाहिए, जो जिसके लिए इतना परिश्रम और खर्च उठाया जाता है वही उसका उपयोग भी कर सके।'' महाराज को भी इस अभूतपूर्व बात के सुनने से बड़ा अचंभा हुआ। वे इस विनोद को देखने के लिए उसी समय अनेक प्रकार के सुन्दर और सुस्वादु पकवान अपने साथ लेकर शिव मन्दिर गए और आचार्य से बोले- योगिराज! सुना है कि आपमें कोई ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा शिवमूर्ति को भी आप खिला सकते हैं, तो क्या यह बात सत्य है? और सत्य है तो लीजिये यह भोजन उपस्थित है, इसे महादेव को खिलाइए ॥२०-३१॥

उत्तर में आचार्य ने 'अच्छी बात है' यह कहकर राजा के लाये हुए, सब पकवानों को मन्दिर के भीतर रखवा दिया और सब पुजारी पंडों को मन्दिर से बाहर निकालकर भीतर से आपने मन्दिर के किवाड़ बन्द कर लिए। इसके बाद लगे उसे आप उदरस्थ करने। आप भूखे तो खूब थे ही इसलिए थोड़ी ही देर में सब आहार को हजमकर आपने झट से मन्दिर का दरवाजा खोल दिया और निकलते ही नौकरों को आज्ञा की कि सब बरतन बाहर निकाल लो। महाराज इस आश्चर्य को देखकर भौचक्के से रह गए। वे राजमहल लौट गए। उन्होंने बहुत तर्क-वितर्क उठाये पर उनकी समझ में कुछ भी नहीं आया कि वास्तव में बात क्या है? ॥३२-३४॥

अब प्रतिदिन एक से एक बढ़कर पकवान आने लगे और आचार्य महाराज भी उनके द्वारा अपनी व्याधि नाश करने लगे। इस तरह पूरे छह महीना बीत गए। आचार्य का रोग भी नष्ट हो गया ॥३५॥

एक दिन आहार राशि को ज्यों की त्यों बची हुई देखकर पुजारी-पण्डों ने उनसे पूछा, योगिराज! यह क्या बात है? क्यों आज यह सब आहार यों ही पड़ा रहा? आचार्य ने उत्तर दिया-राजा की परम भक्ति से भगवान् बहुत खुश हुए, वे अब तृप्त हो गए हैं। पर इस उत्तर से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने जाकर आहार के बाकी बचे रहने का हाल राजा से कहा। सुनकर राजा ने कहा-अच्छा इस बात का पता लगाना चाहिए कि वह योगी मन्दिर के किवाड़ बंदकर भीतर क्या करता है? जब इस बात का

तेनोक्तं भूपतेर्भक्त्या सन्तृप्तो भगवानयम्। स्तोकमेवात्र भुंक्ते च तच्छ्रुत्वा ते जगुर्नृपम् ॥३८॥
तत्सर्वं भूपतिः सोपि शुष्कपुष्पादिवेष्टितम्। धृतं माणवकं तस्य चारित्रं वीक्षितुं तराम् ॥३९॥
तं प्रणालप्रदेशे च स्थापयामास मूढतः। द्वारं दत्वा तु योगीन्द्रं भुञ्जानं वीक्ष्य तत्स्वयम् ॥४०॥
छात्रो जगौ नृपस्याग्रे योगी भो देव किंचन। देवं न भोजयत्येव किन्तु भुङ्क्ते स्वयं पुनः ॥४१॥
तदाकर्ण्य नृपः प्राह कोपेन कलितस्तराम्। भो योगिस्त्वं मृषावादी न किञ्चिद्भोजनादिकम् ॥४२॥
देवं मे भोजयस्येव किन्तु दत्वा कपाटकम्। स्वयं त्वं भक्षयस्येव महान्धूर्ततरो भवान् ॥४३॥
नमस्कारं न देवस्य करोषीति कथं पुनः। तच्छ्रुत्वा योगिना प्रोक्तं देवस्ते सोढुमक्षमः ॥४४॥

ठीक-ठीक पता लग जाये तब उससे भोजन के बचे रहने का कारण पूछा जा सकता है और फिर उस पर विचार भी किया जा सकता है। बिना ठीक हाल जाने उससे कुछ पूछना ठीक नहीं जान पड़ता ॥३६-३८॥

एक दिन की बात है कि आचार्य कहीं गए हुए थे और पीछे से उन सब ने मिलकर एक चालाक लड़के को महादेव के अभिषेक जल के निकलने की नाली में छुपा दिया और उसे खूब फूल पत्तों से ढक दिया। वह वहाँ छिपकर आचार्य की गुप्त क्रिया देखने लगा ॥३९॥

सदा के माफिक आज भी खूब अच्छे-अच्छे पकवान आए। योगिराज ने उन्हें भीतर रखवाकर भीतर से मन्दिर का दरवाजा बन्द कर दिया और आप लगे भोजन करने। जब आपका पेट भर गया, तब किवाड़ खोलकर आप नौकरों से उस बचे सामान को उठा लेने के लिए कहना ही चाहते थे कि उनकी दृष्टि सामने ही खड़े हुए राजा और ब्राह्मणों पर पड़ी। आज एकाएक उन्हें वहाँ उपस्थित देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। ये झट से समझ गए कि आज अवश्य कुछ न कुछ दाल में काला है। इतने में ही वे ब्राह्मण उनसे पूछ बैठे कि योगिराज! क्या बात है, जो कई दिनों से बराबर आहार बचा रहता है? क्या शिवजी अब कुछ नहीं खाते? जान पड़ता है, वे अब खूब तृप्त हो गए हैं। इस पर आचार्य कुछ कहना ही चाहते थे कि वह धूर्त लड़का उन फूल पत्तों के नीचे से निकलकर महाराज के सामने आ खड़ा हुआ और बोला-राजा राजेश्वर! वे योगी तो यह कहते थे कि मैं शिवजी को भोजन कराता हूँ, पर इनका यह कहना बिल्कुल झूठा है। असल में ये शिवजी को भोजन न कराकर स्वयं ही खाते हैं। इन्हें खाते हुए मैंने अपनी आँखों से देखा है। योगिराज! सब की आँखों में आपने तो बड़ी बुद्धिमानी से धूल झोंकी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप योगी नहीं, किन्तु एक बड़े भारी धूर्त हैं और महाराज! इनकी धूर्तता तो देखिये, जो शिवजी को हाथ जोड़ना तो दूर रहा उल्टा ये उनका अविनय करते हैं। इतने में वे ब्राह्मण भी बोल उठे, महाराज! जान पड़ता है यह शिवभक्त भी नहीं है। इसलिए इससे शिवजी को हाथ जोड़ने के लिए कहा जाये, तब सब पोल स्वयं खुल जायेगी। सब कुछ सुनकर महाराज ने आचार्य से कहा-अच्छा जो कुछ हुआ उस पर ध्यान न देकर हम यह जानना चाहते हैं कि तुम्हारा असल धर्म क्या है? इसलिए तुम शिवजी को नमस्कार करो। सुनकर भगवान् समन्तभद्र बोले-राजन्! मैं नमस्कार कर सकता हूँ, पर मेरा नमस्कार स्वीकार कर लेने को शिवजी समर्थ नहीं हैं।

अस्माकं सुनमस्कारं रागद्वेषमलीमसः। राजत्वं राजते नैव राजन्सामान्यके नरे ॥४५॥
यस्त्वष्टादशदुर्दोषैर्निर्मुक्तो जिनभास्करः। केवलज्ञानसत्तेजोलोकालोकप्रकाशकः ॥४६॥
अस्मदीयं नमस्कारं स सोढुं वर्तते क्षमः। तेनाहं न नमस्कारं करोम्यस्मै महीपते ॥४७॥
यद्यस्मै तं करोम्युच्चैस्तदायं तव देवकः। स्फुटत्यैव तदाकर्ण्य नृपः प्राह सकौतुकः ॥४८॥
स्फुटत्यसौ स्फुटत्यैव कुरु त्वं च नमस्कृतिम्। पश्यामस्ते नमस्कारसामर्थ्यं सकलं ध्रुवम् ॥४९॥
ततो जगाद योगीन्द्रः प्रभाते भवतां पुनः। सामर्थ्यं दर्शयिष्यामि मदीयं भो महीपते ॥५०॥
एवमस्त्वीति सम्प्रोक्त्वा राज्ञा तं योगिनं तदा। धृत्वा देवगृहे पश्चाद्बहिस्तु बहुयत्नतः ॥५१॥
खड्गपाणिभटैर्गाढं हस्तिनां च घटादिभिः। संरक्षितस्तदा रात्रिप्रहरद्वितये गते ॥५२॥
मयोक्तं रभसादित्थं न विद्मः किं भविष्यति। इत्यादिचिन्तनोपेतः संस्मरञ्जिनपादयोः ॥५३॥

कारण-वे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया आदि विकारों से दूषित हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के पालन का भार एक सामान्य मनुष्य नहीं उठा सकता, उसी प्रकार मेरी पवित्र और निर्दोष नमस्कृति को एक रागद्वेषादि विकारों से अपवित्र देव नहीं सह सकता, किन्तु जो क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अठारह दोषों से रहित हैं, केवलज्ञानरूपी प्रचण्ड तेज का धारक है और लोकालोक का प्रकाशक है, वही जिनसूर्य मेरे नमस्कार के योग्य है और वही उसे सह भी सकता है। इसलिए मैं शिवजी को नमस्कार नहीं करूँगा इसके सिवा भी यदि आप आग्रह करेंगे तो आपको समझ लेना चाहिए कि इस शिवमूर्ति की कुशल नहीं है, यह तुरंत ही फट पड़ेगी। आचार्य की इस बात से राजा का विनोद और भी बढ़ गया। उन्होंने कहा-योगिराज! आप इसकी चिन्ता न करें, यह मूर्ति यदि फट पड़ेगी तो इसे फट जाने दीजिये, पर आपको तो नमस्कार करना ही पड़ेगा। राजा का बहुत ही आग्रह देख आचार्य ने 'तथास्तु' कहकर कहा, अच्छा तो कल प्रातःकाल ही मैं अपनी शक्ति का आपको परिचय कराऊँगा। 'अच्छी बात है, यह कहकर राजा ने आचार्य को मन्दिर में बन्द करवा दिया और मन्दिर के चारों ओर नंगी तलवार लिए सिपाहियों का पहरा लगवा दिया। इसके बाद ''आचार्य की सावधानी के साथ देख-रेख की जाये, वे कहीं निकल न भागें'' इस प्रकार पहरेदारों को खूब सावधान कर आप राजमहल लौट गए ॥४०-५२॥

आचार्य ने कहते समय तो कह डाला, पर अब उन्हें ख्याल आया कि मैंने यह ठीक नहीं किया। क्यों मैंने बिना कुछ सोचे-विचारे जल्दी से ऐसा कह डाला। यदि मेरे कहने के अनुसार शिवजी की मूर्ति न फटी तब मुझे कितना नीचा देखना पड़ेगा और उस समय राजा क्रोध में आकर न जाने क्या कर बैठे। खैर, उसकी भी कुछ परवाह नहीं, पर इससे धर्म की कितनी हँसी होगी। जिस परमात्मा की राजा के सामने मैं इतनी प्रशंसा कर चुका हूँ, उसे और मेरी झूठ को देखकर सर्व साधारण क्या विश्वास करेंगे आदि एक पर एक चिन्ता उनके हृदय में उठने लगी। पर अब हो भी क्या सकता था। आखिर उन्होंने यह सोचकर कि जो होना था वह तो हो चुका और जो कुछ बाकी है वह कल सबेरे हो जायेगा, अब व्यर्थ चिन्ता से ही लाभ क्या? जिनभगवान् की आराधना में अपने ध्यान को लगाया और बड़े पवित्र भावों से उनकी स्तुति करने लगे ॥५३॥

यावदास्ते स योगीन्द्रस्तावदासनकम्पनात्। अम्बिकाशु समागत्य जिनशासनदेवता ॥५४॥
तं जगाद प्रभो श्रीमज्जिनपादाब्जषट्पद। चिन्तां मा कुरु योगीन्द्र यत्प्रोक्तं भवता ध्रुवम् ॥५५॥
''स्वयंभुवाभूतहिते-नाभूतले'' इति स्फुटम्। पदमाद्यं विधायोच्चैः कुर्वतः स्तुतिमुन्नताम् ॥५६॥
चतुर्विंशतितीर्थेशां शान्तिकोटिविधायिनाम्। भविष्यति द्रुतं सर्वं स्फुटिष्यति कुलिङ्गकम् ॥५७॥
इत्युक्त्वा सा गता देवी जिनभक्तिपरायणा। ततः समन्तभद्रोसौ देवतादर्शनात्तराम् ॥५८॥
सञ्जातपरमानन्दप्रोल्लसद्वदनाम्बुजः। चतुर्विंशतितीर्थेशां स्तुतिं कृत्वा सुखस्थितः ॥५९॥
प्रभाते च समागत्य राज्ञा कौतुहलाद् द्रुतम्। समस्तलोकसन्दोहसंयुतेन महाधिया ॥६०॥
देवद्वारं समुद्घाट्य बहिराकारितो हि सः। आगच्छन्तं समालोक्य सम्मुखं हृष्टचेतसम् ॥६१॥
विकाशितमुखाम्भोजभास्करं वा महाद्युतिम्। ततश्चेतसि भूपेन चिन्तितं योगिनोधुना ॥६२॥
मूर्तिः सन्दृश्यते दिव्या ध्रुवं निर्वाहयिष्यति। आत्मीयं भाषितं चेति संविचार्यैव योगिराट् ॥६३॥
तेनोचैर्भणितः शीघ्रं भो योगीन्द्र कुरु ध्रुवम्। त्वं देवस्य नमस्कारं पश्यामो वयमद्भुतम् ॥६४॥
चतुर्विंशतितीर्थेशां योगीन्द्रेण महास्तुतिः। प्रारब्धा भक्तितः कर्त्तुं शर्मदा दिव्यभाषया ॥६५॥
तां कुर्वन्नष्टमश्रीमच्चन्द्रप्रभजिनेशिनः। तमस्तमोरिव रश्मिभिन्नमिति संस्तुतेः ॥६६॥

आचार्य की पवित्र भक्ति और श्रद्धा के प्रभाव से शासनदेवी का आसन कम्पित हुआ। वह उसी समय आचार्य के पास आई और उनसे बोली–हे जिन चरण कमलों के भ्रमर! हे प्रभो! आप किसी बात की चिन्ता न कीजिए। विश्वास रखिये कि जैसा आपने कहा है वह अवश्य ही होगा। आप **स्वयंभुवाभूतहितेन भूतले** इस पद्यांश को लेकर चतुर्विंशति तीर्थंकरों का एक स्तवन रचियेगा। उसके प्रभाव से आपका कहा हुआ सत्य होगा और शिवमूर्ति भी फट पड़ेगी। इतना कहकर अम्बिका देवी अपने स्थान पर चली गई ॥५४–५८॥

आचार्य को देवी के दर्शन से बड़ी प्रसन्नता हुई उनके हृदय की चिन्ता मिटी, आनन्द ने अब उस पर अपना अधिकार किया। उन्होंने उसी समय देवी के कहे अनुसार एक बहुत सुन्दर जिनस्तवन बनाया। वह उसी समय से **स्वयंभूस्तोत्र** के नाम से प्रसिद्ध है ॥५९॥

रात सुखपूर्वक बीती। प्रातःकाल हुआ। राजा भी इसी समय वहाँ आ उपस्थित हुआ। उसके साथ और भी बहुत से अच्छे-अच्छे विद्वान् आए। अन्य साधारण जनसमूह भी बहुत इकट्ठा हो गया। राजा ने आचार्य को बाहर ले आने की आज्ञा दी। वे बाहर लाये गए। अपने सामने आते हुए आचार्य को खूब प्रसन्न और उनके मुँह को सूर्य के समान तेजस्वी देखकर राजा ने सोचा इनके मुँह पर तो चिन्ता के बदले स्वर्गीय तेज की छटायें छूट रही हैं, इससे जान पड़ता हैं ये अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करेंगे। अस्तु। तब भी देखना चाहिए कि ये क्या करते हैं। इसके साथ ही उसने आचार्य से कहा–योगिराज! कीजिए नमस्कार, जिससे हम भी आपकी अद्भुत शक्ति का परिचय पा सकें ॥६०–६४॥

राजा की आज्ञा होते ही आचार्य ने संस्कृत भाषा में एक बहुत ही सुन्दर और अर्थपूर्ण जिनस्तवन आरम्भ किया। स्तवन रचते-रचते जहाँ उन्होंने चन्द्रप्रभ भगवान् की स्तुति का **चन्द्रप्रभ चन्द्रमरीचिगौरम्**

वाक्यं यावत्पठत्येवं स योगी निर्भयो महान्। तावत्तल्लिङ्गकं शीघ्रं स्फुटितं च ततस्तराम् ॥६७॥
निर्गता श्रीजिनेन्द्रस्य प्रतिमा सुचतुर्मुखी। संजातः सर्वतस्तत्र जयकोलाहलो महान् ॥६८॥
समुत्पन्ने महाश्चर्ये भूपादीनां ततो नृपः। जगौ योगीन्द्र भो कस्त्वं परमाश्चर्यकारकः ॥६९॥
महासामर्थ्यसंयुक्तोऽव्यक्तलिंगीति तच्छ्रुतेः। स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः ॥७०॥
''काञ्च्यां नग्नाटकोहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पांडुपिण्डः पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्।
वाणारस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥
पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता पश्चान्मालवसिन्धुढक्क विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटैर्विद्योत्कटैः सङ्कटं वादार्थी विचराम्यहं नरपतेः शार्दूलविक्रीडितम्॥''
इत्युक्त्वा कुलघोषस्य त्यक्त्वा लिङ्गं कुलिंङ्गिनः। जैननिर्ग्रन्थसल्लिङ्गं शिखिपिच्छसमन्वितम् ॥७१॥
सन्धृत्वैकान्तिनः सर्वान्वादिनो दुर्मदान्वितान्। अनेकान्तप्रवादेन निर्जित्यैकहेलया ॥७२॥
कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनाम्। स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थङ्करो गुणी ॥७३॥

यह पद्यांश रचना शुरू किया कि उसी समय शिवमूर्ति फटी और उसमें से श्रीचन्द्रप्रभ भगवान् की चतुर्मुख प्रतिमा प्रकट हुई इस आश्चर्य के साथ ही जयध्वनि के मारे आकाश गूँज उठा। आचार्य के इस अप्रतिम प्रभाव को देखकर उपस्थित जनसमूह को दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ी। सबके सब आचार्य की ओर देखते के देखते ही रह गए। इसके बाद राजा ने आचार्य महाराज से कहा–योगिराज! आपकी शक्ति, आपका प्रभाव, आपका तेज देखकर हमारे आश्चर्य का कुछ ठिकाना नहीं रहता। बतलाइए तो आप हैं कौन? और आपने वेष तो शिवभक्त का धारण कर रखा है, पर आप शिवभक्त हैं नहीं। सुनकर आचार्य ने नीचे लिखे दो श्लोक पढ़े– ॥६५-७०॥

''मैं कांची में नग्न दिगम्बर साधु होकर रहा। इसके बाद शरीर में रोग हो जाने से पुंढ्र नगर में बुद्धभिक्षुक, दशपुर (मंदसौर) में मिष्टान्नभोजी परिव्राजक और बनारस में शैवसाधु बनकर रहा। राजन्, मैं जैन निर्ग्रन्थवादी स्याद्वादी हूँ। जिसकी शक्ति वाद करने की हो, वह मेरे सामने आकर वाद करे।''

पहले मैंने पाटलीपुत्र (पटना) में वादभेरी बजाई। इसके बाद मालवा, सिन्धुदेश, ढक्क (ढाका-बंगाल) कांचीपुर और विदिश नामक देश में भेरी बजाई। अब वहाँ से चलकर मैं बड़े-बड़े विद्वानों से भरे हुए इस करहाटक (कराड़जिला सतारा) में आया हूँ। राजन् शास्त्रार्थ करने की इच्छा से मैं सिंह के समान निर्भय होकर इधर-उधर घूमता ही रहता हूँ। यह कहकर ही समन्तभद्रस्वामी ने शैव वेष छोड़कर जिनमुनि का वेष धारण कर लिया, जिसमें साधु लोग जीवों की रक्षा के लिए हाथ में मोर की पिच्छिका रखते हैं ॥७१॥

इसके बाद उन्होंने शास्त्रार्थ कर बड़े-बड़े विद्वानों को, जिन्हें अपने पाण्डित्य का अभिमान था, अनेकान्त-स्याद्वाद के बल से पराजित किया और जैन शासन की खूब प्रभावना की, जो स्वर्ग और

समुद्योतितवान्सारं सम्यग्दर्शनमुत्तमम्। कुदेवस्य नमस्काराऽकरणात्कविसत्तमः ॥७४॥
एकान्तवादिनां भङ्गात्सम्यग्ज्ञानं जिनेशिनः। स्वामी समन्तभद्राख्यो द्योतयामास शुद्धधीः ॥७५॥
एवं दृष्ट्वा महाश्चर्यं लोकानां भूपतेस्तराम्। श्रद्धा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासने समभूत्तदा ॥७६॥
शिवकोटिमहाराजो विवेकोत्कृष्टमानसः। चारित्रमोहनीयस्य क्षयोपशमहेतुना ॥७७॥
महावैराग्यसम्पन्नो राज्यं त्यक्त्वा विचक्षणः। जैनीं दीक्षां समादाय शर्मदां गुरुभक्तितः ॥७८॥
सकलश्रुतसन्दोहमधीत्य क्रमशः सुधीः। लोहाचार्यकृतां पूर्वां शुद्धात्माराधनां पराम् ॥७९॥
सहस्रैश्चतुराशीत्या श्लोकैः संख्यामितां हिताम्। संक्षिप्य ग्रन्थतो मन्दमेधातुच्छायुषोर्वशात् ॥८०॥
अर्थतश्चारिहे लिङ्ग इत्यादिभिरनुत्तरैः। चत्वारिंशन्महासूत्रैः सन्मूलाराधनां नवाम् ॥८१॥
तृतीयार्द्धसहस्राप्तसंख्यां चक्रे जगद्धिताम्। सा-राधना मुनीन्द्रौ तौ शर्मदाः सन्तु मे सदा ॥८२॥
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तविलसद्रत्नाकरो निर्मलः कामोद्दामकरीन्द्रपञ्चवदनो विद्यादिनन्दी गुरुः।
षट्तर्कागमजैनशास्त्रनिपुणः श्रीमूलसङ्घे श्रियं श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सूरिः श्रुताब्धिः क्रियात् ॥८३॥

इति सम्यग्दर्शनज्ञानोद्योतिनी श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः कथा समाप्ता।

मोक्ष की देने वाली है। भगवान् समन्तभद्र भावी तीर्थंकर हैं। उन्होंने कुदेव को नमस्कार न कर सम्यग्दर्शन का खूब प्रकाश किया, सबके हृदय पर उसकी श्रेष्ठता अंकित कर दी। उन्होंने अनेक एकान्तवादियों को जीतकर सम्यग्ज्ञान का भी उद्योत किया ॥७२-७५॥

आश्चर्य में डालने वाली इस घटना को देखकर राजा की जैनधर्म पर बड़ी श्रद्धा हुई। विवेकबुद्धि ने उसके मन को खूब ऊँचा बना दिया और चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो जाने से उसके हृदय में वैराग्य का प्रवाह बह निकला। उसने उसे सब राज्यभार छोड़ देने के लिए बाध्य किया। शिवकोटि ने क्षणभर में सब मायामोह के जाल को तोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। साधु बनकर उन्होंने गुरु के पास खूब शास्त्रों का अभ्यास किया। इसके बाद उन्होंने श्रीलोहाचार्य के बनाये हुए चौरासी हजार श्लोक प्रमाण आराधना ग्रन्थ को संक्षेप में लिखा। वह इसलिए कि अब दिन पर दिन मनुष्यों की आयु और बुद्धि घटती जाती है और वह ग्रन्थ बड़ा और गंभीर था, सर्व साधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। शिवकोटि मुनि के बनाये हुए ग्रन्थ के चवालीस अध्याय हैं और उसकी श्लोक संख्या साढ़े तीन हजार है। उससे संसार का बहुत उपकार हुआ ॥७६-८१॥

वह आराधना ग्रन्थ और समन्तभद्राचार्य तथा शिवकोटि मुनिराज मुझे सुख के देने वाले हों तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परम रत्नों के समुद्र और कामरूपी प्रचंड बलवान् हाथी के नष्ट करने को सिंह समान विद्यानन्दि गुरु और छहों शास्त्रों के अपूर्व विद्वान् तथा श्रुतज्ञान के समुद्र श्रीमल्लिभूषण मुनि मुझे मोक्षश्री प्रदान करें ॥८२-८३॥

५. श्रीसञ्जयन्तमुनेः कथा

श्रीमज्जैनपदाम्भोजयुग्मं नत्वा सुखप्रदम्। सञ्जयन्तमुनेर्वच्मि सत्तपोद्योतने कथाम् ॥१॥
जम्बूद्वीपे महामेरोः पश्चिमास्थे विदेहके। विषये गन्धमालिन्यां वीतशोकपुरे पुरे ॥२॥
वैजयन्तो महाराजो भव्यश्री नाम तत्प्रिया। सञ्जयन्तजयन्ताख्यौ सञ्जातौ सुसुतौ तयोः ॥३॥
एकदा स महीनाथो विजयन्तोऽतिनिर्मलः। विद्युत्पातेन संवीक्ष्य मरणं पट्टहस्तिनः ॥४॥
महावैराग्यसम्पन्नो पुत्राभ्यां राज्यसम्पदम्। ददानो भणितस्ताभ्यां भो पितश्चेदिदं शुभम् ॥५॥
कथं सन्त्यज्यते राज्यं युष्माभिः सुविक्षणैः। आवाभ्यां न ततस्तात राज्यं तद्गृह्यते सुधीः ॥६॥
ततो राज्यं बुधैस्त्याज्यं सञ्जयन्तसुताय च। वैजयन्ताय दत्वेति गृहीतं सुतपस्त्रिभिः ॥७॥
विशिष्टं स तपः कुर्वन्पिता सद्ध्यानवह्निना। घातिकर्मेन्धनं दग्ध्वा प्राप्तवान्केवलश्रियम् ॥८॥
केवलज्ञानपूजार्थं सञ्जाते मरुदागमे। मुनिर्जयन्तनामासौ संविलोक्य तदा लघुः ॥९॥

---

५. संजयन्त मुनि की कथा

सुख के देने वाले श्री जिन भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार कर श्रीसंजयन्त मुनिराज की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने सम्यक् तप का उद्योत किया था। सुमेरु के पश्चिम की ओर विदेह के अन्तर्गत गन्धमालिनी नाम का देश है। उसकी प्रधान राजधानी वीतशोकपुर है। जिस समय की बात हम लिख रहे हैं, उस समय उसके राजा वैजयन्त थे। उनकी महारानी का नाम भव्यश्री था। उनके दो पुत्र थे। उनके नाम थे संजयन्त और जयन्त ॥१-५॥

एक दिन की बात है कि बिजली के गिरने से महाराज वैजयन्त का प्रधान हाथी मर गया। यह देख उन्हें संसार से बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होंने राज्य छोड़ने का निश्चय कर अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और उन्हें राज्य भार सौंपना चाहा; तब दोनों भाईयों ने उनसे कहा–पिताजी, राज्य तो संसार के बढ़ाने का कारण है, इससे तो उल्टा हमें सुख की जगह दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए हम तो इसे नहीं लेते। आप भी तो इसीलिए छोड़ते हैं न ? कि यह बुरा है, पाप का कारण है। इसीलिए हमारा तो विश्वास है कि बुद्धिमानों को, आत्म हित के चाहने वालों को, राज्य सरीखी झंझटों को शिर पर उठाकर अपनी स्वाभाविक शान्ति को नष्ट नहीं करना चाहिए। यही विचार कर हम राज्य लेना उचित नहीं समझते। बल्कि हम तो आपके साथ ही साधु बनकर अपना आत्महित करेंगे ॥६॥

वैजयन्त ने पुत्रों पर अधिक दबाव न डालकर उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें साधु बनने की आज्ञा दे दी और राज्य का भार संजयन्त के पुत्र वैजयन्त को देकर स्वयं भी तपस्वी बन गये। साथ ही वे दोनों भाई भी साधु हो गये ॥७॥

तपस्वी बनकर वैजयन्त मुनिराज खूब तपश्चर्या करने लगे, कठिन से कठिन परीषह सहन करके अन्त में ध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय उनके ज्ञानकल्याणक की पूजा करने को स्वर्ग से देव आये। उनके स्वर्गीय ऐश्वर्य और उनकी दिव्य सुन्दरता को देखकर संजयन्त के छोटे भाई जयन्त ने निदान किया–

सद्रूपं धरणेन्द्रस्य विभूतिं च मनोहराम्। ईदृशं सुतरां रूपं सम्पदा महतीदृशी ॥१०॥
तपोमाहात्म्यतो भूयाच्छीघ्रं मे परजन्मनि। इत्युत्कटनिदानेन धरणेन्द्रश्चाभवत्ततः ॥११॥
सञ्जयन्तमुनिश्चापि पक्षमासोपवासकैः। क्षुत्पिपासादिभिः क्षीणो महाटव्यां सुनिश्चलः ॥१२॥
स सूर्यप्रतिमायोगसंस्थितो गिरिवत्तराम्। तदा तस्योपरिप्राप्तो विद्युद्दंष्ट्रो खगाधिपः ॥१३॥
आकाशे स्वविमानस्य स्खलनाद्वीक्ष्य तं मुनिम्। ततस्तस्योपसर्गं च चक्रे कोपतो दृढम् ॥१४॥
स मुनिस्तु निजध्यानाच्चलितो नैव धीरधीः। महावायुशतैश्चापि चालितः किं सुराचलः ॥१५॥
ततस्तेनातिकष्टेन मुनिं विद्याप्रभावतः। नीत्वा च भरतक्षेत्रे पूर्वदिग्भागसंस्थिते ॥१६॥
क्षिप्त्वा सिंहवतीमुख्यनदीपञ्चकसङ्गमे। तद्देशवर्तिनश्चापि सर्वलोकाः सुपापिनः ॥१७॥

मैंने जो इतना तपश्चरण किया है, मैं चाहता हूँ कि उसके प्रभाव से मुझे दूसरे जन्म में ऐसी ही सुन्दरता और ऐसी ही विभूति प्राप्त हो। वही हुआ। उसका किया निदान उसे फला। वह आयु के अन्त में मरकर धरणेन्द्र हुआ ॥८-११॥

इधर संजयन्त मुनि पन्द्रह-पन्द्रह दिन के, एक-एक महीना के उपवास करने लगे, भूख-प्यास की कुछ परवाह न कर बड़ी घोरता के साथ परीषह सहने लगे। शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया, तब भी भयंकर वनों में सुमेरु के समान निश्चल रहकर सूर्य की ओर मुँह किये वे तपश्चर्या करने लगे। गर्मी के दिनों में अत्यन्त गर्मी पड़ती, शीत के दिनों में ठंडी खूब सताती, वर्षा के समय मूसलाधार पानी वर्षा करता और आप वृक्षों के नीचे बैठकर ध्यान करते। वन के जीव-जन्तु सताते, पर इन सब कष्टों को कुछ परवाह न कर आप सदा आत्मध्यान में लीन रहते ॥१२-१३॥

एक दिन की बात है संजयन्त मुनिराज तो अपने ध्यान में डूबे हुए थे कि उसी समय एक विद्युद्दंष्ट्र नाम का विद्याधर आकाश मार्ग से उधर होकर निकला, पर मुनि के प्रभाव से उसका विमान आगे नहीं बढ़ पाया। एकाएक विमान को रुका हुआ देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने नीचे की ओर दृष्टि डालकर देखा तो उसे संजयन्त मुनि दीख पड़े। उन्हें देखते ही उसका आश्चर्य क्रोध के रूप में परिणत हो गया। उसने मुनिराज को अपने विमान को रोकने वाले समझकर उन पर नाना प्रकार के भयंकर उपद्रव करना शुरू किया, उससे जहाँ तक बना उसने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया। पर मुनिराज उसके उपद्रवों से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। वे जैसे निश्चल थे वैसे ही खड़े रहे। सच है वायु का कितना ही भयंकर वेग क्यों न चले पर सुमेरु हिलता तक भी नहीं ॥१४-१५॥

इन सब भयंकर उपद्रवों से भी जब उसने मुनिराज को पर्वत जैसा अचल देखा तब उसका क्रोध और भी बहुत बढ़ गया। वह अपने विद्याबल से मुनिराज को वहाँ से उठा ले चला और भारतवर्ष में पूर्व दिशा की ओर बहने वाली सिंहवती नाम की एक बड़ी भारी नदी में, जिसमें कि पाँच बड़ी-बड़ी नदियाँ और मिली थीं, डाल दिया। भाग्य से उस प्रान्त के लोग भी बड़े पापी थे। सो उन्होंने मुनि

आकार्य भणिताः शीघ्रं राक्षसोऽयं महानहो। युष्मान्भक्षयितुं प्राप्तो मत्वैवं मार्यतामिति ॥१८॥
तदाकर्ण्य मिलित्वा तै लोकेर्लकुटकादिभिः। पाषाणैर्मार्यमाणोपि शत्रुमित्रसमाशयः ॥१९॥
दुष्टोपसर्गकं जित्वा स मुनिः सञ्जयन्तवाक्। घातिकर्मक्षयं कृत्वा केवलज्ञानमद्भुतम् ॥२०॥
उत्पाद्य शेषकर्माणि हत्वा मोक्षं गतो द्रुतम्। ततो निर्वाणपूजार्थं जाते देवागमे तराम् ॥२१॥
यो जयन्तमुनिर्जातो धरणेन्द्रो निदानतः। तेनागतेन तं दृष्ट्वा बन्धुकायं महाक्रुधा ॥२२॥
एभिर्मदीयसद्बन्धोरुपसर्गः कृतो महान्। मत्वेति नागपाशेन बद्धा लोकाः सुनिष्ठुरम् ॥२३॥
ततस्तैर्भणितं लोकैर्न जानीमो वयं प्रभो। एतत्सर्वमहापापं विद्युद्दंष्ट्रेण निर्मितम् ॥२४॥
तच्छ्रुत्वा नागपाशेन तं बद्ध्वा पापिनं पुनः। सुनिक्षिप्य महाम्भोधौ मारयन्धरणेंद्रवाक् ॥२५॥

को एक राक्षस समझकर और सर्वसाधारण में यह प्रचार कर, कि यह हमें खाने के लिए आया है, पत्थरों से खूब मारा। मुनिराज ने सब उपद्रव बड़ी शान्ति के साथ सहा। उन्होंने अपने पूर्ण आत्मबल के प्रभाव से हृदय को लेशमात्र भी अधीर नहीं बनने दिया क्योंकि सच्चे साधु वे ही हैं–

तृणं रत्नं वा रिपुरिव परममित्रमथवा
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ।
सुख वा दुःखं वा पितृवनमहोत्सौधमथवा
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम्॥

जिनके पास रागद्वेष का बढ़ाने वाला परिग्रह नहीं है, जो निर्ग्रन्थ हैं और सदा शान्तचित्त रहते हैं, उन साधुओं के लिए तृण हो या रत्न, शत्रु हो या मित्र, उनकी कोई प्रशंसा करो या बुराई, वे जीवें अथवा मर जायें, उन्हें सुख हो या दुःख और उनके रहने को श्मशान हो या महल, पर उनकी दृष्टि सब पर समान रहेगी। वे किसी से प्रेम या द्वेष न कर सब पर समभाव रखेंगे। यही कारण था कि संजयन्त मुनि ने विद्याधरकृत सब कष्ट समभाव से सहकर अपने अलौकिक धैर्य का परिचय दिया। इस अपूर्व ध्यान के बल से संजयन्त मुनि ने चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और इसके बाद अघातिया कर्मों का भी नाश कर वे मोक्ष चले गये। उनके निर्वाण कल्याणक की पूजन करने को देव आये। वह धरणेन्द्र भी इनके साथ था, जो संजयन्त मुनि का छोटा भाई था और निदान करके धरणेन्द्र हुआ था। धरणेन्द्र को अपने भाई के शरीर की दुर्दशा देखकर बड़ा क्रोध आया। उसने भाई को कष्ट पहुँचाने का कारण वहाँ के नगरवासियों की समझकर उन सबको अपने नागपाश से बाँध लिया और लगा उन्हें वह दुःख देने। नगरवासियों ने हाथ जोड़कर उससे कहा–प्रभो! हम तो इस अपराध से सर्वथा निर्दोष हैं। आप हमें व्यर्थ ही कष्ट दे रहे हो। यह सब कर्म तो पापी विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर का है। आप उसे ही पकड़िये न? सुनते ही धरणेन्द्र विद्याधर को पकड़ने के लिए दौड़ा और उसके पास पहुँचकर उसे उसने नागपाश से बाँध लिया। इसके बाद उसे खूब मार पीटकर धरणेन्द्र ने समुद्र में डालना चाहा ॥१६–२५॥

तदा दिवाकराख्येन देवेन भणितो द्रुतम्। किं नागेन्द्र वराकेन मारितेनामुना सुधीः ॥२६॥
चतुर्भवान्तराण्युच्चैर्वैरं पूर्वं प्रवर्तते। कारणेन पुनस्तेन मुनेश्चोपद्रवः कृतः ॥२७॥
एतदाकर्ण्य नागेन्द्रः प्राहैवं ब्रूहि कारणम्। ततो दिवाकरेणोक्तं शृणु त्वं भो विचक्षणः ॥२८॥
जम्बूद्वीपेऽत्र विख्याते भरतक्षेत्रमध्यगे। पुरा सिंहपुरे राजा सिंहसेनोऽभवत्सुधीः ॥२९॥
रामदत्ता महादेवी साध्वी तस्य विचक्षणा। मंत्री श्रीभूतिनामाभूत्परेषां वंचनापरः ॥३०॥
पद्मखण्डे पुरे श्रेष्ठी सुमित्रो गुणमण्डितः। पुत्रः समुद्रदत्ताख्यो सुमित्राकुक्षिसंभवः ॥३१॥
वाणिज्येनैकदागत्य तत्र सिंहपुरे महान्। वणिक्समुद्रदत्तोऽसौ सत्यशौचपरायणः ॥३२॥
श्रीभूतिमंत्रिणः पार्श्वे धृत्वा सद्रत्नपञ्चकम्। गत्वा समुद्रपारं च तस्मादायाति तत्क्षणे ॥३३॥
पापतः स्फुटिते यान-पात्रे जातोतिनिर्धनः। आगतेन ततस्तेन श्रीभूत्यैयाचितोधनं ॥३४॥

धरणेन्द्र का इस प्रकार निर्दय व्यवहार देखकर एक दिवाकर नाम के दयालु देव ने उससे कहा–तुम इसे व्यर्थ ही क्यों कष्ट दे रहे हो? इसकी तो संजयन्त मुनि के साथ कोई चार भव से शत्रुता चली आती है। इसी से उसने मुनि पर उपसर्ग किया था। ॥२६-२७॥

धरणेन्द्र बोला–यदि ऐसा है तो उसका कारण मुझे बतलाइये ? ॥२८॥

दिवाकर देव ने तब यों कहना आरंभ किया–

पहले समय में भारतवर्ष में एक सिंहपुर नाम का शहर था। उसके राजा सिंहसेन थे। वे बड़े बुद्धिमान् और राजनीति के अच्छे जानकार थे। उनकी रानी का नाम रामदत्ता था। वह बुद्धिमती और बड़ी सरल स्वभाव की थी। राजमंत्री का नाम श्रीभूति था। वह बड़ा कुटिल था। दूसरों को धोखा देना, उन्हें ठगना यह उसका प्रधान कर्म था। ॥२९-३०॥

एक दिन पद्मखंडपुर के रहने वाले सुमित्र सेठ का पुत्र समुद्रदत्त श्रीभूति के पास आया और उससे बोला–''महाशय, मैं व्यापार के लिए विदेश जा रहा हूँ। देवकी विचित्र लीला से न जाने कौन समय कैसा आवे ? इसलिए मेरे पास ये पाँच रत्न हैं, इन्हें आप अपनी सुरक्षा में रखें तो अच्छा होगा और मुझपर भी आपकी बड़ी दया होगी। मैं पीछा आकर अपने रत्न ले लूगा।'' यह कहकर और श्रीभूति को रत्न सौंपकर समुद्रदत्त चल दिया ॥३१-३३॥

कई वर्ष बाद समुद्रदत्त पीछे लौटा। वह बहुत धन कमाकर लाया था। जाते समय जैसा उसने सोचा था, दैव की प्रतिकूलता से वही घटना उसके भाग्य में घटी। किनारे लगते-लगते जहाज फट पड़ा। सब माल असबाब समुद्र के विशाल उदर में समा गया। पुण्योदय से समुद्रदत्त को कुछ ऐसा सहारा मिल गया, जिससे उसकी जान बच गई। वह कुशलपूर्वक अपना जीवन लेकर घर लौट आया ॥३४॥

देहि मे पञ्च रत्नानि सत्यघोष दयापरः। तेन श्रीभूतिना प्रोक्तं लोकानामग्रतस्तदा ॥३५॥
किं भो पुरा मया प्रोक्तं तत्सत्यं समभूद्वचः। मन्येऽहं धननाशेन समागच्छति कोप्ययम् ॥३६॥
निर्धनो गृहिलो भूत्वा कस्यापि महतस्तराम्। करिष्यति वृथा मूढो गले वल्गनकं ध्रुवम् ॥३७॥
कस्मात्समागतान्यस्य सद्रत्नानि महीतले। केन वा लोकितानीति किं न कुर्वन्ति पापिनः ॥३८॥
ततः समुद्रदत्तोपि मदीयं रत्नपंचकम्। श्रीभूतिर्न ददात्येवं सर्वस्मिन्नगरे सुधीः ॥३९॥
कृत्वा पूत्कारकं नित्यं राजवेश्मसमीपतः। पश्चात्पश्चिमरात्रौ च पूत्कारं प्रकरोत्यसौ ॥४०॥
षण्मासेषु गतेष्वेवं राज्ञ्या राज्ञे निवेदितम्। देवायं गृहिलो न स्यादेकवाक्यप्रजल्पनात् ॥४१॥

दूसरे दिन वह श्रीभूति के पास गया और अपने पर जैसी विपत्ति आई थी उसे उसने आदि से अन्त तक कहकर श्रीभूति से अपने अमानत रखे हुए रत्न पीछे मांगे। श्रीभूति ने आँखें चढ़ाकर कहा– कैसे रत्न तू मुझसे माँगता है? जान पड़ता है जहाज डूब जाने से तेरा मस्तक बिगड़ गया है। श्रीभूति ने बेचारे समुद्रदत्त को मनमानी फटकार बताकर और अपने पास बैठे हुए लोगों से कहा–देखिये न साहब, मैंने आपसे अभी ही कहा था न ? कि कोई निर्धन मनुष्य पागल बनकर मेरे पास आवेगा और झूठा ही बखेड़ाकर झगड़ा करेगा। वही सत्य निकला। कहिये तो ऐसे दरिद्री के पास रत्न आ कहाँ से सकते हैं? भला, किसी ने भी इसके पास कभी रत्न देखे हैं। यों ही व्यर्थ गले पड़ता है। ऐसा कहकर उसने नौकरों द्वारा समुद्रदत्त को निकलवा दिया। बेचारा समुद्रदत्त एक तो वैसे ही विपत्ति का मारा हुआ था; इसके सिवा उसे जो एक बड़ी भारी आशा थी, उसे भी पापी श्रीभूति ने नष्ट कर दिया। वह सब ओर से अनाथ हो गया। निराशा के अथाह समुद्र में गोते खाने लगा। पहले उसे अच्छा होने पर भी श्रीभूति ने पागल बना डाला था; पर अब वह सचमुच ही पागल हो गया। वह शहर में घूम–घूमकर चिल्लाने लगा कि पापी श्रीभूति ने मेरे पाँच रत्न ले लिए और अब वह उन्हें देता नहीं है। राजमहल के पास भी उसने बहुत पुकार मचाई, पर उसकी कहीं सुनाई नहीं हुई। सब उसे पागल समझकर दुतकार देते थे। अन्त में निरुपाय हो उसने एक वृक्ष पर चढ़कर, जो कि रानी के महल के पीछे ही था, पिछली रात को बड़े जोर से चिल्लाना आरंभ किया। रानी ने बहुत दिनों तक तो उस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। उसने भी समझ लिया कि कोई पागल चिल्लाता होगा। पर एक दिन उसे ख्याल हुआ कि वह पागल होता तो प्रतिदिन इसी समय आकर क्यों चिल्लाता ? सारे दिन ही इसी तरह आकर क्यों न चिल्लाता फिरता ? इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। यह विचार कर उसने एक दिन राजा से कहा– प्राणनाथ! आप इस चिल्लाने वाले को पागल बताते हैं, पर मेरी समझ में यह बात नहीं आती क्योंकि यदि वह पागल होता तो न तो बराबर इसी समय चिल्लाता और न सदा एक ही वाक्य बोलता। इसलिए इसका ठीक–ठीक पता लगाना चाहिए कि बात क्या है? ऐसा न हो कि अन्याय से बेचारा एक गरीब बिना मौत मारा जाय। रानी के कहने के अनुसार राजा ने समुद्रदत्त को बुलाकर सब बातें पूछीं। समुद्रदत्त ने जैसी अपने पर बीती थी, वह ज्यों को त्यों महाराज से कह सुनाई। तब रत्न कैसे

एकान्ते च ततो राज्ञा सम्पृष्टो गृहिलो जगौ। पूर्ववृत्तान्तकं सर्वं रत्नानां सत्यमेव च ॥४२॥
ततः परस्परं द्यूते पृष्ट्वा तं रामदत्तया। श्रीभूतिं भोजनं पश्चात्साभिज्ञानेन तेन च ॥४३॥

प्राप्त किये जाँय, इसके लिए राजा को चिन्ता हुई। रानी बड़ी बुद्धिमती थी इसलिए रत्नों के मंगा लेने का भार उसने अपने पर लिया ॥३५-४२॥

रानी ने एक दिन श्रीभूति को बुलाया और उससे कहा–मैं आपकी शतरंज खेलने में बड़ी तारीफ सुना करती हूँ। मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि मैं एक दिन आपके साथ खेलूँ। आज बड़ा अच्छा सुयोग मिला जो आप यहीं पर उपस्थित हैं। यह कहकर उसने दासों को शतरंज ले आने की आज्ञा दी ॥ ४३॥

श्रीभूति रानी की बात सुनते ही घबरा गया। उसके मुँह से एक शब्द तक निकलना मुश्किल पड़ गया। उसने बड़ी घबराहट के साथ काँपते-काँपते कहा–महारानीजी, आज आप यह क्या कह रही हैं। मैं एक क्षुद्र कर्मचारी और आपके साथ खेलूँ ? यह मुझसे न होगा। भला, राजा साहब सुन पावें तो मेरा क्या हाल हो?

रानी ने कुछ मुस्कराते हुए कहा–वाह, आप तो बड़े ही डरते हैं। आप घबराइये मत। मैंने खुद राजा साहब से पूछ लिया है और फिर आप तो हमारे बुजुर्ग हैं। इसमें डर की बात ही क्या है। मैं तो केवल विनोदवश होकर खेल रही हूँ।

''राजा की मैंने स्वयं आज्ञा ले ली'' जब रानी के मुँह से यह वाक्य सुना तब श्रीभूति के जी में जी आया और वह रानी के साथ खेलने के लिए तैयार हुआ।

दोनों का खेल आरम्भ हुआ। पाठक जानते हैं कि रानी के लिए खेल का तो केवल बहाना था। असल में तो उसे अपना मतलब गाँठना था इसीलिए उसने यह चाल चली थी। रानी खेलते-खेलते श्रीभूति की अपनी बातों में लुभाकर उसके घर की सब बातें जान ली और इशारे से अपनी दासी को कुछ बातें बतलाकर उसे श्रीभूति के यहाँ भेजा। दासी ने जाकर श्रीभूति की पत्नी से कहा–तुम्हारे पति बड़े कष्ट में फँसे हैं, इसलिए तुम्हारे पास उन्होंने जो पाँच रत्न रखे हैं, उनके लेने को मुझे भेजा है। कृपा करके वे रत्न जल्दी दे दो जिससे उनका छुटकारा हो जाये।

श्रीभूति की स्त्री ने उसे फटकार दिखला कर कहा चल, मेरे पास रत्न नहीं हैं और न मुझे कुछ मालूम है। जाकर उन्हीं से कह दे कि जहाँ रत्न रखे हों, वहाँ से तुम्हीं जाकर ले आओ।

दासी ने पीछे लौट आकर सब हाल अपनी मालकिन से कह दिया। रानी ने अपनी चाल का कुछ उपयोग नहीं हुआ देखकर दूसरी युक्ति निकाली। अबकी बार वह हारजीत का खेल खेलने लगी। मंत्री ने पहले तो कुछ आनाकानी की, पर फिर ''रानी के पास धन का तो कुछ पार नहीं है और मेरी जीत होगी तो मैं मालामाल हो जाऊँगा'' यह सोचकर वह खेलने को तैयार हो गया।

रत्नार्थं प्रेषिता दासी पार्श्वं श्रीभूतिकस्त्रियः। न दत्तानि तया पश्चाज्जित्वा तन्मुद्रिकां शुभाम् ॥४४॥
प्रेषिता सा पुनर्नैव तया दत्तानि तानि च। जित्वा च प्रेषिते यज्ञोपवीते भीतया तया ॥४५॥
शीघ्रं रत्नानि दत्तानि तान्यादाय तया पुनः। भूपतेर्दर्शतान्युच्चैस्ततस्तेन महीभुजा ॥४६॥
स्वकीयसाररत्नानां मध्ये निक्षिप्य तानि च। धृत्वा समुद्रदत्ताग्रे युष्माकं त्वं गृहाण भो ॥४७॥
इत्युक्ते तेन रत्नानि गृहीतानि निजानि वै। न विस्मृतिः सतां क्वापि काले दीर्घतरे गते ॥४८॥
तदा कोपेन तेनोक्तं भूभुजा स्वाधिकारिणाम्। अस्य किं क्रियते ब्रूत महाचोरस्य पापिनः ॥४९॥

रानी बड़ी चतुर थी। उसने पहले ही पासे में श्रीभूति की एक कीमती अंगूठी जीत ली। उस अंगूठी को चुपके से दासी के हाथ देकर और कुछ समझाकर उसने श्रीभूति के घर फिर भेजा और आप उसके साथ खेलने लगी ॥४४॥

अबकी बार रानी का प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया। दासी ने पहुँचते ही बड़ी घबराहट के साथ कहा– देखो, पहले तुमने रत्न नहीं दिये, उससे उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा। अब उन्होंने यह अंगूठी देकर मुझे भेजा है और यह कहलाया है कि यदि तुम्हें मेरी जान प्यारी हो, तो इस अंगूठी को देखते ही रत्नों को दे देना और रत्न प्यारे हों तो न देना। इससे अधिक में और कुछ नहीं कहता ॥४५॥

अब तो वह एक साथ घबरा गई। उसने उससे कुछ विशेष पूछताछ न करके केवल अँगूठी के भरोसे पर रत्न निकालकर दासी के हाथ सौंप दिये। दासी ने रत्नों को लाकर रानी को दे दिये और रानी ने उन्हें महाराज के पास पहुँचा दिये।

राजा को रत्न देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने रानी की बुद्धिमानी को बहुत–बहुत धन्यवाद दिया। इसके बाद उन्होंने समुद्रदत्त को बुलाया और उन रत्नों को और बहुत से रत्नों में मिलाकर उससे कहा–देखो, इन रत्नों में तुम्हारे रत्न हैं क्या? और हों तो उन्हें निकाल लो। समुद्रदत्त ने अपने रत्नों को पहचान कर निकाल लिया। सच है बहुत समय बीत जाने पर भी अपनी वस्तु को कोई नहीं भूलता ॥४६–४७॥

इसके बाद राजा ने श्रीभूति को राजसभा में बुलाया और रत्नों को उसके सामने रखकर कहा– कहिये आप तो इस बेचारे के रत्नों को हड़पकर भी उल्टा इसे ही पागल बनाते थे न ? यदि महारानी मुझसे आग्रह न करती और अपनी बुद्धिमानी से इन रत्नों को प्राप्त नहीं करती, तब यह बेचारा गरीब तो व्यर्थ मारा जाता और मेरे सिर पर कलंक का टीका लगता। क्या इतने उच्च अधिकारी बनकर मेरी प्रजा का इसी तरह तुमने सर्वस्व हरण किया है? ॥४८॥

राजा को बड़ा क्रोध आया। उसने अपने राज्य के कर्मचारियों से पूछा–कहो, इस महापापी को इसके पाप का क्या प्रायश्चित दिया जाय, जिससे आगे के लिए सब सावधान हो जायें और इस दुरात्मा का जैसा भयंकर कर्म है, उसी के उपयुक्त इसे उसका प्रायश्चित भी मिल जाय? राज्य कर्मचारियों ने

ततोधिकारिभिः प्रोक्तं राजन्नीदृग्विधायिनः। भक्षणं गोमयस्योच्चैर्द्वात्रिंशन्मल्लमुष्टयः ॥५०॥
सर्वस्वहरणं दण्डः क्रियते वास्य निश्चयात्। श्रीभूतिस्तु महालोभी क्रमाद्दण्डत्रयं कुधीः ॥५१॥
स्वीकृत्यैव महाकष्टमार्त्तध्यानेन पीडितः। मृत्वा तस्य नृपस्याभूद्भाण्डागारे भुजङ्गमः ॥५२॥
सुधीः समुद्रदत्तस्तु धर्माचार्यमहामुनेः। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं गृहीत्वा सुतपस्ततः ॥५३॥
मृत्वा कालेन तस्यैव सिंहसेनमहीपतेः। सिंहचन्द्राभिधो धीमान्पुत्रो जातोतिनिर्मलः ॥५४॥
एकदा सिंहसेनोसौ भाण्डागारे नृपो गतः। श्रीभूतिचरसर्पेण भक्षितो मरणं श्रितः ॥५५॥
शल्लकीवनमध्ये च हस्ती जातो महान् ध्रुवम्। नृपो मृत्वा गजो तत्र दुस्सहः कर्मसञ्चयः ॥५६॥
राज्ञो मरणमालोक्य महाकोपेन मन्त्रतः। सुघोषमन्त्रिणाहूय सर्वान्सर्पान्प्रजल्पितम् ॥५७॥

विचार कर और सबकी सम्मति मिलाकर कहा–महाराज, जैसा इन महाशय का नीच कर्म है, उसके योग्य हम तीन दण्ड उपयुक्त समझते हैं और उनमें से जो इन्हें पसन्द हो, वही ये स्वीकार करें। १. एक सेर पक्का गोमय खिलाया जाये; २. मल्ल के द्वारा बत्तीस घूँसे लगवाये जाये; या ३. सर्वस्व हरण पूर्वक देश निकाला दे दिया जाये ॥४९–५०॥

राजा ने अधिकारियों के कहे माफिक दण्ड की योजना कर श्रीभूति से कहा कि–तुम्हें जो दण्ड पसन्द हो, उसे बतलाओ। पहले श्रीभूत ने गोमय खाना स्वीकार किया, पर उसका उससे एक ग्रास भी नहीं खाया गया। तब उसने मल्ल के घूँसे खाना स्वीकार किया। मल्ल बुलवाया गया। घूँसे लगना आरम्भ हुआ। कुछ घूँसों की मार पड़ी होगी कि उसका आत्मा शरीर छोड़कर चल बसा। उसकी मृत्यु बड़े आर्तध्यान से हुई। वह मरकर राजा के खजाने पर ही एक विकराल सर्प हुआ ॥५१–५२॥

इधर समुद्रदत्त को इस घटना से बड़ा वैराग्य हुआ। उसने संसार की दशा देखकर उसमें अपने को फँसाना उचित नहीं समझा। वह उसी समय अपना सब धन परोपकार के कामों में लगाकर वन की ओर चल दिया और धर्माचार्य नाम के महामुनि से पवित्र धर्म का उपदेश सुनकर साधु बन गया। बहुत दिनों तक उसने तपश्चर्या की। इसके बाद आयु के अन्त में मृत्यु प्राप्त कर वह इन्हीं सिंहसेन राजा के सिंहचन्द्र नामक पुत्र हुआ ॥५३–५४॥

एक दिन राजा अपने खजाने को देखने के लिए गये थे, उन्हें देखकर श्रीभूति के जीव को, जो कि खजाने पर सर्प हुआ था, बड़ा क्रोध आया। क्रोध के वश ही उसने महाराज को काट खाया। महाराज आर्त्तध्यान से मरकर सल्लकी नामक वन में हाथी हुए। राजा की सर्प द्वारा मृत्यु देखकर सुघोष मंत्री को बड़ा क्रोध आया। उसने अपने मन्त्र बल से बहुत से सर्पों को बुलाकर कहा–यदि तुम निर्दोष हो, तो इस अग्निकुण्ड में प्रवेश करते हुए अपने–अपने स्थान पर चले जाओ। तुम्हें ऐसा करने से कुछ भी कष्ट न होगा। जितने बाहर के सर्प आये थे, वे सब तो चले गये। अब श्रीभूति का जीव बाकी रह गया। उससे कहा गया कि या तो तू विष खींचकर महाराज को छोड़ दे या इस अग्निकुण्ड में प्रवेश

भो नागा ये तु निर्दोषाः प्रवेशं वह्निकुण्डके। कृत्वा स्वस्थानके यान्तु तं कृत्वा ते च निर्गताः ॥५८॥
श्रीभूतिचरसर्पे च संस्थिते मंत्रिणोदितम्। विषं मुञ्चाग्निकुण्डे वा कुरु त्वं रे प्रवेशनम् ॥५९॥
अगन्धनकुलोद्भूतो नाहं मुञ्चामि तद्विषम्। इति क्रूराशयः सोपि कृत्वा वह्निप्रवेशनम् ॥६०॥
मृत्वा कुर्कुटसर्पोऽभूत्पापी तत्सल्लकीवने। पापिनां पुनरावर्तो भवत्येवं कुयोनिषु ॥६१॥
रामदत्ता तदा राज्ञी पत्युर्मरणदुःखिता। कनश्र्यार्यिकापार्श्वे तपो धृत्वा सुखं स्थिता ॥६२॥
सिंहचन्द्रोपि तातस्य मरणेन विरक्तधीः। स्वभ्रात्रे पूर्णचन्द्राय राज्यं दत्वा कनीयसे ॥६३॥
सुव्रताख्यमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां गृहीतवान्। संजातः सुतपोयोगैर्मनःपर्ययबोधवान् ॥६४॥
एकदा तं मुनिं दृष्ट्वा चतुर्थज्ञानसंयुतम्। रामदत्तार्यिका प्राह भक्त्या नत्वा तपोनिधिम् ॥६५॥
स्वामिन् धन्योऽत्र मे कुक्षिर्धृतो येन भवान् भृशम्। पूर्णचन्द्रस्तु ते भ्राता कदा धर्मं गृहीष्यति ॥६६॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सिंहचन्द्रो गुणोज्वलः। मातस्त्वं पश्य संसारवैचित्र्यं वच्मि तेऽधुना ॥६७॥

कर। पर वह महाक्रोधी था उसने अग्निकुण्ड में प्रवेश करना अच्छा समझा, पर विष खींच लेना उचित नहीं समझा। वह क्रोध के वश हो अग्नि में प्रवेश कर गया। प्रवेश करते ही वह देखते-देखते जलकर खाक हो गया। जिस सल्लकी वन में महाराज का जीव हाथी हुआ था, वह सर्प भी मरकर उसी वन में मुर्गा हुआ। सच है पापियों का कुयोनियों में उत्पन्न होना, कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इधर तो ये सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार दूसरे भवों में उत्पन्न हुए और उधर सिंहसेन की रानी पति-वियोग से बहुत दुःखी हुई। उसे संसार की क्षणभंगुर लीला देखकर वैराग्य हुआ। वह उसी समय संसार का मायाजाल तोड़ताड़ कर वनश्री आर्यिका के पास साध्वी बन गई। सिंहसेन का पुत्र सिंहचन्द्र भी वैराग्य के वश हो, अपने छोटे भाई पूर्णचन्द्र की राज्यभार सौंपकर सुव्रत नामक मुनिराज के पास दीक्षित हो गया। साधु होकर सिंहचन्द्र मुनि ने खूब तपश्चर्या की, शान्ति और धीरता के साथ परीषहों पर विजय प्राप्त किया, इन्द्रियों को वश किया और चंचल मन को दूसरी ओर से रोककर ध्यान की ओर लगाया। अन्त में ध्यान के बल से उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें मनःपर्ययज्ञान से युक्त देखकर उनकी माता ने, जो कि इन्हीं के पहले आर्यिका हुई थी, नमस्कार कर पूछा-साधुराज! मेरी कोख धन्य है, वह आज कृतार्थ हुई, जिसने आपसे पुरुषोत्तम को धारण किया। पर अब यह तो कहिये कि आपके छोटे भाई पूर्णचन्द्र आत्महित के लिए कब उद्यत होंगे ? ॥५५-६६॥

उत्तर में सिहचंद्र मुनि बोले-''माता, सुनो तो मैं तुम्हें संसार की विचित्र लीला सुनाता हूँ, जिसे सुनकर तुम भी आश्चर्य करोगी। तुम जानती हो कि पिताजी को सर्प ने काटा था और उसी से उनकी मृत्यु हो गई थी। वे मरकर सल्लकी वन में हाथी हुए। वे ही पिता एक दिन मुझे मारने के लिए मेरे पर झपटे, तब मैंने उस हाथी को समझाया और कहा-गजेन्द्रराज! जानते हो, तुम पूर्व जन्म में राजा सिंहसेन थे और मैं प्राणों से भी प्यारा सिंहचन्द्र नाम का तुम्हारा पुत्र था। कैसा आश्चर्य है कि आज

सिंहसेनो महाराजो दष्टः सर्पेण पापिना। स मृत्वा सल्लकीनामवने हस्ती बभूव च ॥६८॥
स मां वीक्ष्यैकदा धावन्मारणार्थं मया ततः। भणितो भो करीन्द्र त्वं सिंहसेनो नृपः पुरा ॥६९॥
पुत्रोऽहं सिंहचन्द्रस्ते प्राणेभ्यश्चातिवल्लभः। इदानीन्तु समायातो मारणार्थं कथं विधिः ॥७०॥
इत्युक्ते स गजेन्द्रोपि भूत्वा जातिस्मरो महान्। अश्रुपातं तरां कुर्वन्नत्वा मे पादयोः स्थितः ॥७१॥
मया पुनस्ततस्तस्य कारयित्वा जिनेशिनः। सद्धर्मश्रवणं सारसम्यक्त्वाणुव्रतानि च ॥७२॥
ग्राहितानि गतः सोपि तान्युच्चैः प्रतिपालयन्। गृह्णन्नाहारतोयादिसमस्तं प्रासुकं पुनः ॥७३॥
क्षीणकायो नदीतीरे निर्मग्नः कर्दमे तदा। श्रीभूतिचरसर्पेण कुर्कुटाख्येन मस्तके ॥७४॥
स्थित्वा संखाद्यमानस्तु कृत्वा संन्यासमुत्तमम्। स्मरन्पञ्चनमस्कारान्सर्वपापक्षयङ्करान् ॥७५॥
मृत्वा स्वर्गे सहस्त्रारे देवोऽभूच्छ्रीधराह्वयः। नाना सत्सम्पदोपेतः किमन्यद्धर्मतः शुभम् ॥७६॥
सर्पः सोपि महापापी मृत्वा कष्टशतप्रदे। चतुर्थे नरके घोरे पतितः पापकर्मणा ॥७७॥
हस्तिनस्तस्य सद्दन्तौ तदा मुक्ताफलानि च। वनराजेन भिल्लेन गृहीत्वा तानि तेन च ॥७८॥
दत्तानि धनमित्राख्यसार्थवाहस्य तेन तु। पूर्णचन्द्रमहीभर्तुरर्पितानि सुभक्तितः ॥७९॥

पिता ही पुत्र को मारना चाहता है। मेरे इन शब्दों को सुनते ही गजेन्द्र को जातिस्मरण हो आया, पूर्व जन्म की उसे स्मृति हो गई। वह रोने लगा, उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। वह मेरे सामने चित्र लिखा सा खड़ा रह गया। उसकी यह अवस्था देखकर मैंने उसे जिनधर्म का उपदेश दिया और पंचाणुव्रत का स्वरूप समझाकर उसे अणुव्रत ग्रहण करने को कहा। उसने अणुव्रत ग्रहण किये और पश्चात् वह प्रासुक भोजन और प्रासुक जल से अपना निर्वाह कर व्रत का दृढ़ता के साथ पालन करने लगा। एक दिन वह जल पीने के लिए नदी पर पहुँचा। जल के भीतर प्रवेश करते समय वह कीचड़ में फँस गया। उसने निकलने की बहुत चेष्टा की, पर वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अपना निकलना असंभव समझकर उसने समाधिमरण की प्रतिज्ञा ले ली। उस समय वह श्रीभूति का जीव, जो मुर्गा हुआ था, हाथी के सिर पर बैठकर उसका मांस खाने लगा। हाथी पर बड़ा उपसर्ग आया, पर उसने उसकी कुछ परवाह न कर बड़ी धीरता के साथ पंचनमस्कार मंत्र की आराधना करना शुरू कर दिया, जो कि सब पापों का नाश करने वाला है। आयु के अन्त में शान्ति के साथ मृत्यु प्राप्त कर वह सहस्त्रार स्वर्ग में देव हुआ। सच है धर्म के सिवा और कल्याण का कारण हो ही क्या सकता है ? ॥६७-७६॥

वह सर्प भी बहुत कष्टों को सहन कर मरा और तीव्र पापकर्म के उदय से चौथे नरक में जाकर उत्पन्न हुआ, जहाँ अनन्त दुःख हैं और जब तक आयु पूर्ण नहीं होती तब तक पलक गिराने मात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता ॥७७॥

सिंहसेन का जीव जो हाथी मरा था, उसके दाँत और कपोलों में से निकले हुए मोती, एक भील के हाथ लगे। भील ने उन्हें एक धनमित्र नामक साहूकार के हाथ बेच दिये और धनमित्र ने उन्हें सर्वश्रेष्ठ और कीमती समझकर राजा पूर्णचंद्र को भेंट कर दिये। राजा देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उनके बदले में धनमित्र को खूब धन दिया। इसके बाद राजा ने दाँतों के तो अपने पलंग के पाये बनवाये

पूर्णचन्द्रेण दन्ताभ्यां स्वपल्यङ्कस्य कारिताः। पादा मुक्ताफलैर्हारो राज्ञीकण्ठे च कारितः ॥८०॥
एवं संसारवैचित्र्यं पूर्णचन्द्रस्य कथ्यते। गत्वा मातस्त्वया सोपि जैनं धर्मं गृहीष्यति ॥८१॥
ततो नत्वा मुनिं सापि गता भूपस्य मन्दिरम्। तां दृष्ट्वा पूर्णचन्द्रश्चोत्थाय पल्यङ्कतो द्रुतम् ॥८२॥
प्रणम्य मातरं यावत्संस्थितो विनयानतः। सा जगौ पुत्र ते तातो दष्टः सर्पेण पापिना ॥८३॥
स मृत्वात्र गजेन्द्रोभूत्सल्लकीकानने सुधीः। सर्पो मृत्वा पुनः सोपि कुर्कुटाख्योहिकोऽभवत् ॥८४॥
निर्मग्नः कर्दमे हस्ती तेन सर्पेण भक्षितः। तद्दन्तौ हस्तिनस्तस्य मुक्ताफलकदम्बकम् ॥८५॥
अपर्यामास ते राजन्सार्थवाहः सुभक्तितः। एते पल्यङ्कपादास्ते तद्दन्ताभ्यां विनिर्मिताः ॥८६॥
हारोयं शोभते राज्ञीकण्ठे ते भूपतेस्तराम्। ज्ञेयो मुक्ताफलैस्तस्य हस्तिनस्तु विनिर्मितः ॥८७॥
इत्यादिसर्वसंबन्धं स श्रुत्वा भूपतिस्तराम्। महाशोकेन सन्तप्तो गिरिर्दावानलेन वा ॥८८॥
ततः पल्यङ्कपादांस्तान्समालिङ्ग्य प्रमोहतः। हा तातेति च पूत्कारं पूर्णचन्द्रश्चकार सः ॥८९॥

और मोतियों का रानी के लिए हार बनवा दिया। इस समय वे विषय सुख में खूब मग्न होकर अपना काल बिता रहे हैं। यह संसार की विचित्र दशा है। क्षण-क्षण में क्या होता है सो सिवा ज्ञानी के कोई नहीं जान पाता और इसी से जीवों को संसार के दुःख भोगना पड़ते हैं। माता, पूर्णचन्द्र के कल्याण का एक मार्ग है, यदि तुम जाकर उपदेश दो और यह सब घटना उसे सुनाओ तो वह अवश्य अपने कल्याण की ओर दृष्टि देगा ॥७८-८१॥

सुनते ही वह उठी और पूर्णचन्द्र के महल पहुँची। अपनी माता को देखते ही पूर्णचंद्र उठे और बड़े विनय से उसका सत्कार कर उन्होंने उसके लिए पवित्र आसन दिया और हाथ जोड़कर वे बोले- ''माताजी, आपने अपने पवित्र चरणों से इस समय भी इस घर को पवित्र किया, उससे मुझे जो प्रसन्नता हुई वह वचनों द्वारा नहीं कही जा सकती। मैं अपने जीवन को सफल समझूँगा यदि मुझे आप अपनी आज्ञा का पात्र बनावेंगी। वह बोली-मुझे एक आवश्यक बात की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना है। इसीलिए मैं यहाँ आई हूँ और वह बड़ी विलक्षण बात है, सुनते हो न ? इसके बाद आर्यिका ने यों कहना आरंभ किया- ॥८२-८३॥

''पुत्र, जानते हो, तुम्हारे पिता को सर्प ने काटा था, उसकी वेदना से मरकर वे सल्लकी वन में हाथी हुए और वह सर्प मरकर उसी वन में मुर्गा हुआ। एक दिन हाथी जल पीने गया। वह नदी के किनारे पर खूब गहरे कीचड़ में फँस गया। वह उसमें से किसी तरह निकल नहीं सका। अन्त में निरुपाय होकर वह मर गया। उसके दाँत और मोती एक भील के हाथ लगे। भील ने उन्हें एक सेठ के हाथ बेच दिये। सेठ के द्वारा वे ही दाँत और मोती तुम्हारे पास आये। तुमने दाँतों के तो पलंग के पाये बनवाये और मोतियों का अपनी पत्नी के लिए हार बनवाया। यह संसार की विचित्र लीला है। इसके बाद तुम्हें उचित जान पड़े सो करो''। आर्यिका इतना कहकर चुप हो रही। पूर्णचन्द्र अपने पिता की कथा सुनकर एक साथ रो पड़ा। उनका हृदय पिता के शोक से सन्तप्त हो उठा। जैसे दावाग्नि से

अन्तःपुरेण तेनोच्चैः सुजनैश्च तथा जनैः। कृत्वा संरोदनं पश्चाच्चन्दनाक्षतपुष्पकैः ॥९०॥
दन्तमुक्ताफलानां च पूजां कृत्वा ततः परम्। संस्कारस्तु कृतो लोके किन्न कुर्वन्ति मोहिनः ॥९१॥
पूर्णचन्द्रस्ततो धीमान्प्रतिपाल्य जिनोदितम्। सारं श्रावकसद्धर्मं महाशुक्रे सुरोजनि ॥९२॥
रामदत्ता तपस्तप्त्वा देवस्तत्रैव चाभवत्। के के नैव गता लोके कालेन कवलीकृताः ॥९३॥
चतुर्थज्ञानधारी च सिंहचन्द्रो मुनीश्वरः। शुद्धचारित्रयोगेन प्रान्तं ग्रैवेयकं गतः ॥९४॥
अथ जम्बूमति द्वीपे भरतस्थे खगाचले। श्रीसूर्याभपुरे राजा सुरावर्तो विचक्षणः ॥९५॥
यशोधरा महाराज्ञी रूपलावण्यमण्डिता। दानपूजालसच्छीलप्रोषधैः प्रविराजिता॥९६॥
सिंहसेनचरो योऽसौ गजो मृत्वा दिवं गतः। तद्गर्भे हि समागत्य रश्मिवेगः सुतोभवत् ॥९७॥
ततः कैश्चिद्दिनैस्तस्मै रश्मिवेगाय धीमते। दत्वा राज्यं सुरावर्त्तो राजा जातो मुनीश्वरः ॥९८॥
अथैकदा महाराजो रश्मिवेगः सुधार्मिकः। सिद्धकूटजिनागारे वन्दनार्थं गतो मुदा ॥९९॥

पर्वत सन्तप्त हो उठता है। उनके रोने के साथ ही सारे अन्तःपुर में हाहाकार मच गया। उन्होंने पितृप्रेम के वश हो उन पलंग के पायों को छाती से लगाया। इसके बाद उन्होंने पलंग के पायों और मोतियों को चन्दनादि से पूजा कर उन्हें जला दिया। ठीक है मोह के वश होकर यह जीव क्या नहीं करता? ॥८४-९१॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोह का चक्र जब अच्छे-अच्छे महात्माओं पर भी चल जाता है, तब पूर्णचन्द्र पर उसका प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य का कारण नहीं है। पर पूर्णचन्द्र बुद्धिमान् थे, उन्होंने झटसे अपने को सम्हाल लिया और पवित्र श्रावक धर्म को ग्रहण कर बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ उनका वे पालन करने लगे। फिर आयु के अन्त में वे पवित्र भावों से मृत्यु लाभकर महाशुक्र नामक स्वर्ग में देव हुए। उनकी माता भी अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चर्या कर उसी स्वर्ग में देव हुई। सच है संसार में जन्म लेकर कौन-कौन काल के ग्रास नहीं बने ? मनःपर्ययज्ञान के धारक सिंहचन्द्र मुनि भी तपश्चर्या और निर्मल चारित्र के प्रभाव से मृत्यु प्राप्त कर ग्रैवेयक में जाकर देव हुए ॥९२-९४॥

भारतवर्ष के अन्तर्गत सूर्याभपुर नामक एक शहर है। उसके राजा का नाम सुरावर्त्त है। वे बड़े बुद्धिमान् और तेजस्वी हैं। उनकी महारानी का नाम था यशोधरा। वह बड़ी सुन्दरी थी, बुद्धिमती थी, सती थी, सरल स्वभाव वाली थी और विदुषी थी। वह सदा दान देती, जिन भगवान् की पूजा करती और बड़ी श्रद्धा के साथ उपवासादि करती ॥९५-९६॥

सिंहसेन राजा का जीव, जो हाथी की पर्याय से मरकर स्वर्ग गया था, यशोधरा रानी का पुत्र हुआ। उसका नाम था रश्मिवेग। कुछ दिनों बाद महाराज सुरावर्त्त तो राज्यभार रश्मिवेग के लिए सौंपकर साधु बन गये और राज्यकार्य रश्मिवेग चलाने लगा ॥९७-९८॥

एक दिन की बात है कि धर्मात्मा रश्मिवेग सिद्धकूट जिनालय की वन्दना के लिए गया। वहाँ

तत्र श्रीहरिचन्द्राख्यं मुनिं दृष्ट्वा जगद्धितम्। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं तदन्ते सत्तपोऽगृहीत् ॥१००॥
एकदा स तपःक्षीणो रश्मिवेगो महामुनिः। स्थितो वने गुहामध्ये कायोत्सर्गेण शुद्धधीः ॥१०१॥
तदायं कुर्कुटः सर्पश्चतुर्थं नरकं गतः। स जातोऽजगरो नाम पापी सर्पस्तु तद्वने ॥१०२॥
तं पूत्कारं प्रकुर्वन्तं दहन्तं काननं महत्। गुहाभिमुखमागच्छन्तं विलोक्य महाशयुम् ॥१०३॥
सुधीः संन्यासमादाय संस्थितो मुनिसत्तमः। भक्षितस्तेन दुष्टेन पापिनाजगरेण सः ॥१०४॥
मृत्वा कापिष्ठकल्पेऽसौ देवो जातो महर्द्धिकः। आदित्यप्रभनामा श्री-जिनपादाब्जयो रतः ॥१०५॥
मृत्वासोऽजगरो नागश्चतुर्थं नरकं गतः। छेदनैर्भेदनैः शूलारोहणाद्यैः कदर्थितः ॥१०६॥
ततः कापिष्ठकल्पाच्च सिंहसेनचरः सुरः। च्युत्वा चक्रपुरे रम्ये चक्रायुधमहीपतिः ॥१०७॥
चित्रमाला महादेवी तयोः पूर्वस्वपुण्यतः। वज्रायुधो सुतो जातो जैनधर्मधुरन्धरः ॥१०८॥
तस्मै राज्यं समर्प्योच्चैश्चक्रायुधमहाप्रभुः। जैनीं दीक्षां समादाय संजातो मुनिसत्तमः ॥१०९॥
वज्रायुधोपि सद्राज्यं चिरं भुक्त्वा प्रसन्नधीः। एकदा कारणं वीक्ष्य पितुः पार्श्वेऽभवन्मुनिः ॥११०॥
पंकप्रभात्समागत्य स सर्पो रौद्रमानसः। संजातो निजपापेन भिल्लो नाम्नातिदारुणः ॥१११॥

उसने एक हरिचन्द्र नाम के मुनिराज को देखा, उनसे धर्मोपदेश सुना। धर्मोपदेश का उसके चित्त पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसे बहुत वैराग्य हुआ। संसार, शरीर, भोगादिकों से उसे बड़ी घृणा हुई। उसने उसी समय मुनिराज से दीक्षा ग्रहण कर ली ॥९९-१००॥

एक दिन रश्मिवेग महामुनि एक पर्वत की गुफा में कायोत्सर्ग धारण किये हुए थे कि एक भयानक अजगर ने, जो कि श्रीभूति का जीव सर्प पर्याय से मरकर चौथे नरक गया था और वहाँ से आकर यह अजगर हुआ, उन्हें काट खाया। मुनिराज तब भी ध्यान में निश्चल खड़े रहे, जरा भी विचलित नहीं हुए। अन्त में मृत्यु प्राप्त कर समाधिमरण के प्रभाव से वे कापिष्ठ स्वर्ग में जाकर आदित्यप्रभ नामक महर्द्धिक देव हुए, जो कि सदा जिनभगवान् के चरणकमलों की भक्ति में लीन रहते थे और वह अजगर मरकर पाप के उदय से फिर चौथे नरक गया। वहाँ उसे नारकियों ने कभी तलवार से काटा और कभी करौती से, कभी उसे अग्नि में जलाया और कभी घानी में पेला, कभी अतिशय गरम तेल की कढ़ाई में डाला और कभी लोहे के गरम खंभों से आलिंगन कराया। मतलब यह कि नरक में उसे घोर दुःख भोगना पड़े ॥१०१-१०६॥

चक्रपुर नाम का एक सुन्दर शहर है। उसके राजा हैं चक्रायुध और उनकी महारानी का नाम चित्रादेवी है। पूर्वजन्म के पुण्य से सिंहसेन राजा का जीव स्वर्ग से आकर इनका पुत्र हुआ। उसका नाम था वज्रायुध। जिनधर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी। जब वह राज्य करने को समर्थ हो गया, तब महाराज चक्रायुध ने राज्य का भार उसे सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। वज्रायुध सुख और नीति के साथ राज्य का पालन करने लगे। उन्होंने बहुत दिनों तक राज्य सुख भोगा। पश्चात् एक दिन किसी कारण से उन्हें भी वैराग्य हो गया। वे अपने पिता के पास दीक्षा लेकर साधु बन गये। वज्रायुध मुनि एक दिन प्रियंगु

प्रयङ्गुपर्वते सोपि कायोत्सर्गेण संस्थितः। वज्रायुधो मुनिस्तेन हतो भिल्लेन बाणतः ॥११२॥
मुनिः सर्वार्थसिद्धिं च सम्प्राप्तः पुण्यसम्बलः। भिल्लो मृत्वा तथा पापी सप्तमं नरकं गतः ॥११३॥
सर्वार्थसिद्धितश्च्युत्वा वज्रायुधचरः सुरः। संजयन्तमुनिर्जातो विख्यातो भुवनत्रये ॥११४॥
पूर्णचन्द्रः पुरा यस्तु भवैः कैश्चित्सुनिर्मलैः। जयन्ताख्यो मुनिर्भूत्वा जातस्त्वं लोभतोहिराट् ॥११५॥
दीर्घकालं महादुःखं भुक्त्वा सप्तमदुस्तलात्। स भिल्लस्तु समागत्य नाना तिर्यक्कुयोनिषु ॥११६॥
भ्रान्त्वा चैरावते क्षेत्रे भूतादिरमणे वने। नदी वेगवती तस्यास्तटे गोशृङ्गतापसः ॥११७॥
तत्प्रिया शङ्खिनी तस्यां जातो हरिणशृङ्गवाक्। पञ्चाग्निसाधनं कृत्वा मृत्वा जातः खगोप्यसौ ॥११८॥
विद्युद्दंष्ट्रोतिपापिष्ठः पूर्ववैरेण तेन च। उपसर्गो महांश्चक्रे मुनेरेतस्य दारुणः ॥११९॥
मुनिश्चासौ विशुद्धात्मा निश्चलो मेरुवत्तराम्। संजयन्तो जगत्पूज्यो जित्वा सर्वपरीषहान् ॥१२०॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं सत्तपो द्योतनादिकम्। कृत्वा मोक्षं सुधीः प्राप्तः संजातोष्टमहागुणी ॥१२१॥
भो नागेन्द्र त्वया धीमन् ज्ञात्वैवं संसृतेः स्थितिम्। त्यक्त्वा कोपं वराकोयं मुच्यतां नागपाशतः ॥१२२॥
तच्छ्रुत्वा नागराजोसौ संजगाद महाद्युतिः। भो दिवाकरदेवाख्य यद्ययं मुच्यते मया ॥१२३॥
शापोस्य दीयते दर्पविनाशाय दुरात्मनः। मा भूत्पुंसां कुले चास्य विद्यासिद्धिः कदाचन ॥१२४॥

नामक पर्वत पर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे कि इतने में एक दुष्ट भील ने, जो कि सर्प का जीव चौथे नरक गया था और वहाँ से अब यही भील हुआ, उन्हें बाण से मार दिया। मुनिराज तो समभावों से प्राण त्याग कर सर्वार्थसिद्धि गये और वह भील रौद्रभाव से मरकर सातवें नरक गया ॥१०७-११३॥

सर्वार्थसिद्धि से आकर वज्रायुध का जीव तो संजयन्त हुआ, जो संसार में प्रसिद्ध है और पूर्णचंद्र का जीव उनका छोटा भाई जयन्त हुआ। वे दोनों भाई छोटी ही अवस्था में कामभोगों से विरक्त होकर पिता के साथ मुनि हो गये और वह भील का जीव सातवें नरक से निकल कर अनेक कुगतियों में भटका। उनमें उसने बहुत कष्ट सहा। अन्त में वह मरकर ऐरावत क्षेत्रान्तर्गत भूतरमण नामक वन में बहने वाली वेगवती नाम की नदी के किनारे पर गोशृंग तापस की शंखिनी नाम की स्त्री के हरिणशृंग नामक पुत्र हुआ। वही पंचाग्नि तप तपकर यह विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर हुआ है, जिसने कि संजयन्त मुनि पर पूर्वजन्म के बैर से घोर उपसर्ग किया और उनके छोटे भाई जयन्त मुनि निदान करके जो धरणेन्द्र हुए, वे तुम हो ॥११४-११९॥

संजयन्त मुनि पर पापी विद्युद्दंष्ट्र ने घोर उपसर्ग किया, तब भी वे पवित्रात्मा रंचमात्र विचलित नहीं हुए और सुमेरु के समान निश्चल रहकर उन्होंने सब परीषहों को सहा और सम्यक्त्व तप का उद्योत कर अन्त में मोक्ष प्राप्त किया। वहाँ उनके अनन्तज्ञानादि स्वाभाविक गुण प्रकट हुए। वे अनन्त काल तक मोक्ष में ही रहेंगे। अब वे संसार में नहीं आवेंगे ॥१२०-१२१॥''

दिवाकर ने कहा—नागेन्द्रराज! यह संसार की स्थिति है। इसे देखकर इस बेचारे पर तुम्हें क्रोध करना उचित नहीं। इसे दया करके छोड़ दीजिये। सुनकर धरणेन्द्र बोला, मैं आपके कहने से इसे छोड़ देता है; परन्तु इसे अपने अभिमान का फल मिले, इसलिए मैं शाप देता हूँ कि –''मनुष्य पर्याय में

किं तु श्रीसंजयन्तस्य प्रतिमाग्रे सुभक्तितः। नाना सद्‌गन्धधूपाद्यैः स्त्रीणां तत्सिद्धिरस्तु वै ॥१२५॥
इत्युक्त्वा तं विमुच्याशु सुधी नागाधिपस्तदा। जगाम स्थानकं स्वस्य मुनिभक्तिपरायणः ॥१२६॥
इत्युत्कटतपोलक्ष्मीं भुक्त्वा लक्ष्मीं च शाश्वतीम्। संजयन्तमुनिः प्राप्तः सोऽस्माकं सत्सुखं क्रियात् ॥१२७॥
अर्हत्पादसरोजयुग्ममधुलिट् सद्बोधसिन्धुः सुधीः सच्चारित्रविचित्ररत्ननिचयः श्रीकुन्दकुन्दान्वये।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः संसारनिस्तारकः कुर्यान्मे वरमङ्गलानि नितरां भव्यैर्जनैः सेवितः ॥१२८॥

इति कथाकोशे सत्तपोद्योतिनी श्रीसंजयन्तमुनेः कथा समाप्ता।

६. अंजनचोरस्य कथा

श्रीसर्वज्ञपदाम्भोजं नत्वा सारसुखप्रदम्। निःशङ्कितगुणोद्योते चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे देशे मगधसंज्ञके। श्रेष्ठी राजगृहे नाम्ना नगरे जिनदत्तवाक् ॥२॥
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः। दानपूजाव्रताद्युक्तश्रावकाचारमण्डितः ॥३॥
एकदाऽसौ चतुर्दश्यां रात्रौ रौद्रे श्मशानके। त्रिधा वैराग्यसंयुक्तः कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥४॥
तदामितप्रभो देवो जिनभक्तिपरायणः। अन्यो विद्युत्प्रभो देवो मिथ्यादृष्टिमतेक्षणः ॥५॥

इसे कभी विद्या की सिद्धि न हो।'' इसके बाद धरणेन्द्र अपने भाई संजयन्त मुनि के मृत शरीर की बड़ी भक्ति के साथ पूजा कर अपने स्थान पर चला गया ॥१२२-१२६॥

इस प्रकार उत्कृष्ट तपश्चर्या करके श्री संजयन्त मुनि ने अविनाशी मोक्षश्री को प्राप्त किया। वे हमें भी उत्तम सुख प्रदान करें ॥१२७॥

श्रीमल्लिभूषण गुरु कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में हुए। जिनभगवान् के चरण कमलों के भ्रमर थे, उनकी भक्ति में सदा लीन रहते थे, सम्यग्ज्ञान के समुद्र थे, पवित्र चारित्र के धारक थे और संसार समुद्र से भव्य जीवों को पार करने वाले थे। वे ही मल्लिभूषण गुरु मुझे भी सुख-सम्पत्ति प्रदान करें ॥१२८॥

६. अंजनचोर की कथा

सुख के देने वाले श्रीसर्वज्ञ वीतराग भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार कर अंजनचोर की कथा लिखता है, जिसने सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग का उद्योत किया है ॥१॥

भारतवर्ष-मगधदेश के अन्तर्गत राजगृह नामक शहर में एक जिनदत्त सेठ रहता था। वह बड़ा धर्मात्मा था। वह निरन्तर जिनभगवान् की पूजा करता, दीन-दुखियों को दान देता, श्रावकों के व्रतों का पालन करता और सदा शान्त और विषयभोगों से विरक्त रहता। एक दिन जिनदत्त चतुर्दशी के दिन आधी रात के समय श्मशान में कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। उस समय वहाँ दो देव आये। उनके नाम अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ थे। अमितप्रभ जैनधर्म का विश्वासी था और विद्युत्प्रभ दूसरे धर्म का।

ताभ्यां परस्परं धर्मपरीक्षार्थं महीतले। गच्छद्भ्यां तपसो मूढश्चालितो जमदग्निवाक् ॥६॥
तत्रागत्य श्मशाने च तं दृष्ट्वा श्रेष्ठिनं शुभम्। अमितप्रभदेवोऽसौ संजगाद प्रमोदतः ॥७॥
अहो विद्युत्प्रभोत्कृष्टचारित्रप्रतिपालकाः। तिष्ठन्तु मुनयो मेत्र किन्त्वैनं श्रावकोत्तमम् ॥८॥
चालय त्वं महाध्यानात्सामर्थ्यं वर्तते यदि। ततो विद्युत्प्रभाख्येन देवेनातीव दुस्सहः ॥९॥
तस्योपसर्गकश्चक्रे कृष्णरात्रौ महांस्तदा। स धीरश्चलितो नैव सदृष्टिर्निजयोगतः ॥१०॥
प्रभातसमये जाते ततस्ताभ्यां सुभक्तितः। स्वमायामुपसंहृत्य तं प्रशस्य मुहुर्मुहुः ॥११॥
आकाशगामिनीं विद्यां दत्वा तस्मै सुदृष्टये। प्रोक्तमेवं च भो श्रेष्ठिन्सिद्धा विद्या तवाद्भुता ॥१२॥
इयं ते वचनात्पञ्चनमस्कारविधानतः। अन्यस्य सुधियश्चापि सुधीः सिद्धा भविष्यति ॥१३॥
ततः सोपि लसद्दृष्टिः श्रेष्ठी विद्याप्रभावतः। अकृत्रिमे जिनागारे स्वर्गमोक्षसुखप्रदे ॥१४॥
नित्यं श्रीजिनपूजार्थं महाभक्त्या प्रयाति च। सोमदत्तेन सम्पृष्टो वटुकेन तदा मुदा ॥१५॥
अहो स्वामिन्भवद्भिस्तु प्रातरुत्थाय नित्यशः। क्व गम्यते महाभाग: जैनधर्मपरायणः ॥१६॥
तच्छ्रुत्वा जिनदत्तोसौ जगौ श्रेष्ठी विशिष्टवाक्। विद्यालाभस्तु मे जातस्तेनाऽहं भक्तितस्तराम् ॥१७॥

वे अपने-अपने स्थान से परस्पर के धर्म की परीक्षा करने को निकले थे। पहले उन्होंने एक पंचाग्नि तप करने वाले तापस की परीक्षा की। वह अपने ध्यान से विचलित हो गया। इसके बाद उन्होंने जिनदत्त को श्मशान में ध्यान करते देखा। तब अमितप्रभ ने विद्युत्प्रभ से कहा-प्रिय, उत्कृष्ट चारित्र के पालने वाले जिनधर्म के सच्चे साधुओं की परीक्षा की बात को तो जाने दो परन्तु देखते हो, वह गृहस्थ जो कायोत्सर्ग से खड़ा हुआ है, यदि तुममें कुछ शक्ति हो, तो तुम उसे ही अपने ध्यान से विचलित कर दो यदि तुमने उसे ध्यान से चला दिया तो हम तुम्हारा ही कहना सत्य मान लेंगे ॥२-९॥

अमितप्रभ से उत्तेजना पाकर विद्युत्प्रभ ने जिनदत्त पर अत्यन्त दुस्सह और भयानक उपद्रव किया, पर जिनदत्त उससे कुछ भी विचलित न हुआ और पर्वत की तरह खड़ा रहा। जब सबेरा हुआ तब दोनों देवों ने अपना असली वेष प्रकट कर बड़ी भक्ति के साथ उसका खूब सत्कार किया और बहुत प्रशंसा कर जिनदत्त को एक आकाशगामिनी विद्या दी। इसके बाद वे जिनदत्त से यह कहकर कि श्रावकोत्तम! तुम्हें आज से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई; तुम पंच नमस्कार मंत्र की साधना विधि के साथ इसे दूसरों को प्रदान करोगे तो उन्हें भी यह सिद्ध होगी-अपने स्थान पर चले गये ॥१०-१३॥

विद्या की प्राप्ति से जिनदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ। उसकी अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन करने की इच्छा पूरी हुई। वह उसी समय विद्या के प्रभाव से अकृत्रिम चैत्यालय के दर्शन करने को गया और खूब भक्तिभाव से उसने जिनभगवान् की पूजा की, जो कि स्वर्ग-मोक्ष को देने वाली है ॥१४॥

इसी प्रकार अब जिनदत्त प्रतिदिन अकृत्रिम जिनमन्दिरों के दर्शन करने के लिए जाने लगा। एक दिन वह जाने के लिए तैयार खड़ा हुआ था कि उससे एक सोमदत्त नाम के माली ने पूछा-आप प्रतिदिन सबेरे ही उठकर कहाँ जाया करते हैं? उत्तर में जिनदत्त सेठ ने कहा-मुझे दो देवों की कृपा से

शाश्वतेषु जिनेन्द्राणां हेमचैत्यालयेषु च। नित्यं व्रजामि पूजार्थं महाशर्मविधायिषु ॥१८॥
सोमदत्तस्ततः प्राह विद्यां मे देहि भो सुधीः। येनाहं भवता सार्धं सद्गन्धकुसुमादिकम् ॥१९॥
गृहीत्वा तत्र चागत्य पूजां श्रीमज्जिनेशिनाम्। करोमि वन्दनां भक्तिं भवत्पुण्यप्रसादतः ॥२०॥
ततः श्रीजिनदत्तेन श्रेष्ठिना तस्य निर्मलः। दत्तो विद्योपदेशस्तु तत्समादाय सोपि च ॥२१॥
रात्रौ कृष्णचतुर्दश्यां श्मशाने भूरिभीतिदे। वटाद्रौ पूर्वशाखायां शतपादैर्वसूत्तरैः ॥२२॥
अलंकृतं समारोप्य दर्भशिक्यं तथा तरोः। अधोभागे च शस्त्राणि वह्निज्वालोपमानि च ॥२३॥
ऊर्ध्ववक्त्राणि संस्थाप्य कृत्वार्चां पुष्पकादिभिः। षष्टोपवाससंयुक्तः स्थित्वा शिक्ये सुखप्रदम् ॥२४॥
सारं पंचनमस्कारं प्रोच्चैरुच्चारयंस्ततः। एकैकं दर्भपादं तं छिन्दंश्छुरिकया पुनः ॥२५॥
अधस्थितं समालोक्य सुतीक्ष्णं शस्त्रसञ्चयम्। संभीतश्चिन्तयामास सोमदत्तः स्वचेतसि ॥२६॥
यदीदं श्रेष्ठिनो वाक्यमसत्यं भवति ध्रुवम्। तदा मे प्राणनाशस्तु संभवत्येव साम्प्रतम् ॥२७॥
इत्यादिसंशयोपेतश्चटनोत्तरणादिकम्। करोति स्म स मूढात्मा क्व सिद्धिर्निश्चयं विना ॥२८॥
येषां श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वर्गमोक्षसुखप्रदे। वाक्येपि निश्चयो नास्ति तेषां सिद्धिर्न भूतले ॥२९॥

आकाशगामिनी विद्या की प्राप्ति हुई है। सो उसके बल से सुवर्णमय अकृत्रिम जिनमन्दिरों की पूजा करने के लिए जाया करता हूँ, जो कि सुख शान्ति को देने वाली है। तब सोमदत्त ने जिनदत्त से कहा– प्रभो, मुझे भी विद्या प्रदान कीजिये न ? जिससे मैं भी अच्छे सुन्दर सुगन्धित फूल लेकर प्रतिदिन भगवान् की पूजा करने को जाया करूँ और उसके द्वारा शुभकर्म उपार्जन करूँ। आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप मुझे विद्या प्रदान करेंगे ॥१५-२०॥

सोमदत्त की भक्ति और पवित्रता को देखकर जिनदत्त ने उसे विद्या साधन करने की रीति बतला दी। सोमदत्त उससे सब विधि ठीक-ठीक समझकर विद्या साधने के लिए कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की अन्धेरी रात में श्मशान में गया, जो कि बड़ा भयंकर था। वहाँ उसने एक बड़ की डाली में एक सौ आठ लड़ी का एक दूबा का सींका बाँधा और उसके नीचे अनेक भयंकर तीखे-तीखे शस्त्र सीधे मुँह गाड़ कर उनकी पुष्पादि से पूजा की। इसके बाद वह सींके पर बैठकर पंच नमस्कार मंत्र जपने लगा। मंत्र पूरा होने पर जब सींका के काटने का समय आया और उसकी दृष्टि चमचमाते हुए शस्त्रों पर पड़ी तब उन्हें देखते ही वह कांप उठा। उसने विचारा यदि जिनदत्त ने मुझे झूठ कह दिया हो तब तो मेरे प्राण ही चले जायेंगे; यह सोचकर वह नीचे उतर आया। उसके मन में फिर कल्पना उठी कि भला जिनदत्त को मुझसे क्या लेना है जो वह झूठ कहकर मुझे ऐसे मृत्यु के मुख में डालेगा ? और फिर वह तो जिनधर्म का परम श्रद्धालु है, उसके रोम-रोम में दया भरी हुई है, उसे मेरी जान लेने से क्या लाभ ? इत्यादि विचारों से अपने मन को सन्तुष्ट कर वह फिर सींके पर चढ़ा, पर जैसे ही उसकी दृष्टि फिर शस्त्रों पर पड़ी कि वह फिर भय के मारे नीचे उतर आया। इसी तरह वह बार-बार उतरने चढ़ने लगा, पर उसकी हिम्मत सींका काट देने की नहीं हुई। सच है जिन्हें स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाले जिनभगवान् के वचनों पर विश्वास नहीं, मन में उन पर निश्चय नहीं, उन्हें संसार में कोई सिद्धि कभी प्राप्त नहीं होती ॥२१-२९॥

तस्मिन्नेव क्षणे रात्रौ गणिकाञ्जनसुन्दरी। चौरमञ्जनकं प्राह शृणु त्वं प्राणवल्लभः ॥३०॥
प्रजापालमहीभर्तुः कनकाख्या प्रियोत्तमा। तस्याः कण्ठे मया हारो दृष्टश्चातीव सुन्दरः ॥३१॥
तं समानीय चेद्धारं ददासि मम साम्प्रतम्। भर्त्ता मे त्वं भवस्येव नान्यथेति महाभटः ॥३२॥
तच्छ्रुत्वाञ्जनचौरोसौ तस्यां संसक्तमानसः। ततो गत्वा तमादाय हारं रात्रौ स्वबुद्धितः ॥३३॥
समागच्छंस्तदा ज्ञात्वा हारोद्योतेन कर्कशैः। कोटपालादिभिर्गाढं ध्रियमाणः सुनिर्दयैः ॥३४॥
ततो हारं परित्यक्त्वा नष्ट्वागत्य श्मशानके। तथाभूतं तमालोक्य सोमदत्तं सुकातरम् ॥३५॥
पृष्ट्वा सम्बन्धकं तस्मान्मन्त्रमादाय चोत्तमम्। शिक्यमारुह्य निःशङ्कस्तेनैव विधिना मुदा ॥३६॥

उसी रात को एक और घटना हुई वह उल्लेख योग्य है और खासकर उसका इसी घटना से सम्बन्ध है। इसलिए उसे लिखते हैं। वह इस प्रकार है–

इधर तो सोमदत्त सशंक होकर क्षणभर में वृक्ष पर चढ़ता और क्षणभर में उस पर से उतरता था और दूसरी ओर इसी समय माणिकांजन सुन्दरी नाम को एक वेश्या ने अपने पर प्रेम करने वाले एक अंजन नाम के चोर से कहा–प्राणवल्लभ, आज मैंने प्रजापाल महाराज की कनकवती नाम की पट्टरानी के गले में रत्न का हार देखा है। वह बहुत ही सुन्दर है। मेरा तो यह भी विश्वास है कि संसार भर में उसकी तुलना करने वाला कोई और हार होगा ही नहीं। सो आप उसे लाकर मुझे दीजिये, तब ही आप मेरे स्वामी हो सकेंगे अन्यथा नहीं ॥३०–३२॥

माणिकांजन सुन्दरी की ऐसी कठिन प्रतिज्ञा सुनकर पहले तो वह कुछ हिचका, पर साथ ही उसके प्रेम ने उसे वैसा करने को बाध्य किया। वह अपने जीवन की भी कुछ परवाह न कर हार चुरा लाने के लिए राजमहल पहुँचा और मौका देखकर महल में घुस गया। रानी के शयनागार में पहुँचकर उसने उसके गले में से बड़ी कुशलता के साथ हार निकाल लिया। हार लेकर वह चलता बना। हजारों पहरेदारों को आँखों में धूल डालकर साफ निकल जाता, पर अपने दिव्य प्रकाश से गाढ़े से गाढ़े अन्धकार को भी नष्ट करने वाले हार ने उसे सफल प्रयत्न नहीं होने दिया। पहरे वालों ने उसे हार ले जाते हुए देख लिया। वे उसे पकड़ने को दौड़े। अंजनचोर भी खूब जी छोड़कर भागा, पर आखिर कहाँ तक भाग सकता था? पहरेदार उसे पकड़ लेना ही चाहते थे कि उसने एक नई युक्ति की। वह हार को पीछे की ओर जोर से फेंक कर भागा। सिपाही लोग तो हार उठाने में लगे और इधर अंजनचोर बहुत दूर तक निकल आया। सिपाहियों ने तब भी उसका पीछा न छोड़ा। वे उसका पीछा किये चले ही गये। अंजनचोर भागता–भागता श्मशान की ओर जा निकला, जहाँ जिनदत्त के उपदेश से सोमदत्त विद्या साधन के लिए व्यग्र हो रहा था। उसका यह भयंकर उपक्रम देखकर अंजन ने उससे पूछा कि तुम यह क्या कर रहे हो ? क्यों अपनी जान दे रहे हो ? उत्तर में सोमदत्त ने सब बातें उसे बता दीं, जैसी कि जिनदत्त ने उसे बतलाई थीं। सोमदत्त की बातों से अंजन को बड़ी खुशी हुई। उसने सोचा कि सिपाही

वाक्यं मे श्रेष्ठिनो सत्यं प्रमाणं च तदेव हि। इत्युक्त्वा संछिनत्ति स्म शिक्यपादानशेषतः ॥३७॥
एकवारं सुधीः सोपि यावन्नोत्पतति ध्रुवम्। शस्त्रकेषु तदागत्य सा विद्याकाशगामिनी ॥३८॥
आदेशं देहि देवेति तं धृत्वा भक्तितो जगौ। ततः संप्राह चौरोसौ परमानन्दनिर्भरः ॥३९॥
यत्र मेरौ जिनेन्द्राणां प्रतिमाः पूजयन्स्थितः। श्रेष्ठी सन्तिष्ठते भक्त्या तत्र मां प्रापय ध्रुवम् ॥४०॥
ततस्तया समादाय श्रेष्ठिनः सोग्रतो धृतः। जैनधर्मप्रसादेन किं शुभं यन्न जायते ॥४१॥
तं नत्वा भक्तितः प्राह निर्भयोञ्जनसंज्ञकः। भो श्रेष्ठिंस्त्वत्प्रसादेन प्राप्ता विद्या मया यथा ॥४२॥
आकाशगामिनी धीरः तथा मे करुणार्णव। संमन्त्रो दीयते येन शीघ्रं सिद्धो भवाम्यहम् ॥४३॥
परोपकारिणा तेन श्रेष्ठिना गुणशालिना। चारणस्य मुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां शिवप्रदाम् ॥४४॥
ग्राहितः सुतरां सोपि तामुच्चैः प्रतिपालयन्। क्रमात्कैलासमारूढो लोकालोकप्रकाशकम् ॥४५॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य भक्त्या त्रैलोक्यपूजितः। शेषकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तवान्मोक्षमक्षयम् ॥४६॥

लोग तो मुझे मारने के लिए पीछे आ ही रहे हैं और वे अवश्य मुझे मार भी डालेंगे क्योंकि मेरा अपराध कोई साधारण अपराध नहीं है। फिर यदि मरना ही है तो धर्म के आश्रित रहकर ही मरना अच्छा है। यह विचार कर उसने सोमदत्त से कहा–बस इसी थोड़ी–सी बात के लिए इतने डरते हो? अच्छा लाओ, मुझे तलवार दो, मैं भी तो जरा आजमा लूँ। यह कहकर उसने सोमदत्त से तलवार ले ली और वृक्ष पर चढ़कर सींके पर जा बैठा। वह सींके को काटने के लिए तैयार हुआ कि सोमदत्त के बताये मन्त्र को भूल गया। पर उसकी वह कुछ परवाह न कर और केवल इस बात पर विश्वास करके कि ''जैसा सेठ ने कहा–उसका कहना मुझे प्रमाण है।'' उसने निःशंक होकर एक ही झटके में सारे सींके को काट दिया। काटने के साथ ही जब तक वह शस्त्रों पर गिरता तब तक आकाशगामिनी विद्या ने आकर उससे कहा–देव, आज्ञा कीजिये, मैं उपस्थित हूँ। विद्या को अपने सामने खड़ी देखकर अंजनचोर को बड़ी खुशी हुई। उसने विद्या से कहा, मेरु पर्वत पर जहाँ जिनदत्त सेठ भगवान् की पूजा कर रहा है, वहीं मुझे पहुँचा दो। उसके कहने के साथ ही विद्या ने उसे जिनदत्त के पास पहुँचा दिया। सच है, जिनधर्म के प्रसाद से क्या नहीं होता? ॥३३–४१॥

सेठ के पास पहुँचकर अंजन ने बड़ी भक्ति के साथ उन्हें प्रणाम किया और वह बोला–हे दया के समुद्र! मैंने आपकी कृपा से आकाशगामिनी विद्या तो प्राप्त की, पर अब आप मुझे कोई ऐसा मंत्र बतलाइये, जिससे मैं संसार समुद्र से पार होकर मोक्ष में पहुँच जाऊँ, सिद्ध हो जाऊँ ॥४२–४३॥

अंजन की इस प्रकार वैराग्य भरी बातें सुनकर परोपकारी जिनदत्त ने उसे एक चारणऋद्धि के धारक मुनिराज के पास ले जाकर उनसे जिनदीक्षा दिलवा दी। अंजनचोर साधु बनकर धीरे–धीरे कैलाश पर जा पहुँचा। वहाँ खूब तपश्चर्या कर ध्यान के प्रभाव से उसने घातिया कर्मों का नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर वह त्रैलोक्य द्वारा पूजित हुआ। अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अंजन मुनिराज ने अविनाशी, अनन्त गुणों के समुद्र मोक्षपद को प्राप्त किया ॥४४–४६॥

निःशंकितगुणेनोच्चैरञ्जनोपि निरञ्जनः। संजातस्तु ततः सोपि पालनीयो बुधोत्तमैः ॥४७॥
सद्रत्नत्रयमण्डितोतिचतुरः श्रीमूलसङ्घाग्रणीः श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सद्बोधसिन्धुर्महान्।
तच्छिष्यः कुमताद्रिभेदनपविः श्रीसिंहनन्दीमुनिर्जीयाद्भव्यसरोजनिर्मलरविः स्वाचार्यवर्यः सताम् ॥४८॥

इति कथाकोशे निःशङ्किताङ्गेऽञ्जनचोरस्य कथा समाप्ता।

७. अनन्तमत्याः कथा

पादपद्मद्वयं नत्वा शर्मदं भक्तितोर्हताम्। निष्कांक्षितगुणोद्योते वक्ष्येऽनन्तमतीकथाम् ॥१॥
अङ्गदेशेत्र विख्याते चारुः चम्पापुरीप्रभुः। वसुवर्धननामाभूद्राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥२॥
प्रियदत्तोऽभवच्छ्रेष्ठी परमेष्ठिप्रतीतिवान्। तद्भार्याङ्गवती नाम्ना धर्मकर्मविचक्षणा ॥३॥
तयोः पुत्री द्वयोर्जाता नाम्नानन्तमती सती। रूपलावण्यसौभाग्यगुणरत्नाकरक्षितिः ॥४॥
एकदा प्रियदत्तेन धर्मकीर्तिमुनीश्वरम्। नत्वा नन्दीश्वराष्टम्यां ब्रह्मचर्यं व्रतोत्तमम् ॥५॥
गृहीत्वाष्टदिनान्युच्चैः क्रीडया ग्राहिता सुता। सत्यं सतां विनोदोपि भवेत्सन्मार्गसूचकः ॥६॥

सम्यग्दर्शन के निःशंकित गुण का पालन कर अंजनचोर भी निरंजन हुआ, कर्मों के नाश करने में समर्थ हुआ। इसलिए भव्य पुरुषों को तो निःशंकित अंग का पालन करना ही चाहिए ॥४७॥

मूलसंघ में श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप उत्कृष्ट रत्नों से अलंकृत थे, बुद्धिमान् थे और ज्ञान के समुद्र थे। सिंहनन्दी मुनि उनके शिष्य थे। वे मिथ्यात्वमतरूपी पर्वतों को तोड़ने के लिए वज्र के समान थे, बड़े पाण्डित्य के साथ वे अन्य सिद्धान्तों का खण्डन करते थे और भव्य पुरुष रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए वे सूर्य के समान थे। वे चिरकाल तक जीयें उनका यशःशरीर इस नश्वर संसार में सदा बना रहे ॥४८॥

७. अनन्तमती की कथा

मोक्ष सुख के देने वाले श्री अरिहन्त भगवान् के चरणों को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अनन्तमती की कथा लिखता हूँ, जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन के निःकांक्षित गुण का प्रकाश हुआ है ॥१॥

संसार में अंगदेश बहुत प्रसिद्ध देश है। जिस समय की हम कथा लिखते हैं, उस समय उसकी प्रधान राजधानी चंपापुरी थी। उसके राजा थे वसुवर्धन और उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। वह सती थी, गुणवती थी और बड़ी सरल स्वभाव की थी। उनके एक पुत्र था। उसका नाम था प्रियदत्त। प्रियदत्त को जिनधर्म पर पूर्ण श्रद्धा थी। उसकी गृहिणी का नाम अंगवती था। वह बड़ी धर्मात्मा थी, उदार थी। अंगवती के एक पुत्री थी। उसका नाम अनन्तमती था। वह बहुत सुन्दर थी, गुणों की समुद्र थी ॥२-४॥

अष्टाह्निका पर्व आया। प्रियदत्त ने धर्मकीर्ति मुनिराज के पास आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लिया। साथ ही में उसने अपनी प्रिय पुत्री को भी विनोद वश होकर ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया। कभी-कभी

अन्यदा सम्प्रदानस्य कालेनन्तमती जगौ। दापितं ब्रह्मचर्यं मे त्वया तातेन किं पितः ॥७॥
तेनोक्तं क्रीडया पुत्रि दापितं ते मया व्रतम्। तयोक्तं तात का क्रीडा व्रते धर्मे च शर्मदे ॥८॥
श्रेष्ठी सुतां पुनः प्राह ननु पुत्रि व्रतं तदा। दत्तं तेष्टदिनान्येव कुलमन्दिरदीपिके ॥९॥
तच्छ्रुत्वा सा सुतोवाच पितर्भट्टारकैस्तथा। मर्यादा विहिता नैव भवतापि मम व्रते ॥१०॥
ततो मे जन्मपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं व्रतं हितम्। नियमस्तु विवाहेस्ति प्रोक्त्वैवं परमार्थतः ॥११॥
जैनशास्त्रार्थसन्दोहे संस्थिताभ्यासतत्परा। अथैकदा निजोद्याने दोलयन्तीं स्वलीलया ॥१२॥
चैत्रे सद्यौवनोपेतामुल्लसत्रूपसम्पदम्। खगाद्रिदक्षिणश्रेणिकिन्नराख्यः पुराधिराट् ॥१३॥

सत्पुरुषों का विनोद भी सत्य मार्ग का प्रदर्शक बन जाता है। अनन्तमती के चित्त पर भी प्रियदत्त के दिलाये व्रत का ऐसा ही प्रभाव पड़ा। जब अनन्तमती के ब्याह का समय आया और उसके लिए आयोजन होने लगा, तब अनन्तमती ने अपने पिता से कहा–पिताजी! आपने मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिया था न ? फिर यह ब्याह का आयोजन आप किसलिए करते हैं ? ॥५-७॥

उत्तर में प्रियदत्त ने कहा–पुत्री, मैंने तो तुझे जो व्रत दिलवाया था वह केवल मेरा विनोद था। क्या तू उसे सच समझ बैठी है ? ॥८॥

अनन्तमती बोली–पिताजी, धर्म और व्रत में हँसी विनोद कैसा, यह मैं नहीं समझी ?

प्रियदत्त ने फिर कहा–मेरे कुल की प्रकाशक प्यारी पुत्री, मैंने तो तुझे ब्रह्मचर्य केवल विनोद से दिया था और तू उसे सच ही समझ बैठी है, तो भी वह आठ ही दिन के लिए था। फिर अब तू ब्याह से क्यों इंकार करती है ? ॥९॥

अनन्तमती ने कहा–मैं मानती हूँ कि आपने अपने भावों से मुझे आठ ही दिन का ब्रह्मचर्य दिया होगा परन्तु न तो आपने उस समय मुझसे ऐसा कहा और न मुनि महाराज ने ही, तब मैं कैसे समझूँ कि वह आठ ही दिन के लिए था। इसलिए अब जैसा कुछ हो, मैं तो जीवनपर्यन्त ही उसे पालूँगी। मैं अब ब्याह नहीं करूँगी ॥१०-११॥

अनन्तमती की बातों से उसके पिता को बड़ी निराशा हुई; पर वे कर भी क्या सकते थे। उन्हें अपना सब आयोजन समेट लेना पड़ा। इसके बाद उन्होंने अनन्तमती के जीवन को धार्मिक-जीवन बनाने के लिए उसके पठन-पाठन का अच्छा प्रबन्ध कर दिया। अनन्तमती भी निराकुलता से शास्त्रों का अभ्यास करने लगी।

इस समय अनन्तमती पूर्ण युवती है। उसकी सुन्दरता ने स्वर्गीय सुन्दरता धारण की है। उसके अंग-अंग से लावण्य सुधा का झरना बह रहा है। चन्द्रमा उसके अप्रतिम मुख की शोभा को देखकर फीका पड़ रहा है और नखों के प्रतिबिम्ब के बहाने से उसके पावों में पड़कर अपनी इज्जत बचा लेने के लिए उससे प्रार्थना करता है। उसकी बड़ी-बड़ी और प्रफुल्लित आँखों को देखकर बेचारे

विद्याधरो स्मरोन्मत्तो नाम्ना कुण्डलमण्डितः। सुकेशीभार्ययोपेतः समागच्छन्नभोङ्गणे ॥१४॥
तां विलोक्य किमेतेन जीवितेनैतया विना। संचिन्त्येति गृहे धृत्वा स खगः पुनरागतः ॥१५॥
तां बालिकां समादाय यावद्याति नभस्तले। आगच्छन्तीं तदावेक्ष्य स्वकान्तां कोपकम्पिताम् ॥१६॥
संभीतः पर्णलघ्व्याख्यविद्यया श्रेष्ठिनः सुताम्। महाटव्यां विटः सोपि मुक्तवान् शीलमण्डिताम् ॥१७॥
हा तातेति प्रजल्पन्तीं तां सतीं कानने सदा। भीमाख्यभिल्लराजेन दृष्ट्वा नीत्वा स्वपल्लिकाम् ॥१८॥

कमलों से मुख भी ऊँचा नहीं किया जाता है। यदि सच पूछो तो उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करना मानों उसकी मर्यादा बाँध देना है, पर वह तो अमर्याद है, स्वर्ग की सुन्दरियों को भी दुर्लभ है।

चैत्र का महीना था। एक दिन अनन्तमती विनोदवश हो, अपने बगीचे में अकेली झूले पर झूल रही थी। इसी समय एक कुण्डलमंडित नामक विद्याधरों का राजा, जो कि विद्याधरों की दक्षिण श्रेणी के किन्नरपुर का स्वामी था, इधर ही होकर अपनी प्रिया के साथ वायुयान में बैठा हुआ जा रहा था। एकाएक उसकी दृष्टि झूलती हुई अनन्तमती पर पड़ी उसकी स्वर्गीय सुन्दरता को देखकर कुण्डलमंडित काम के बाणों से बुरी तरह बींधा गया। उसने अनन्तमती की प्राप्ति के बिना अपने जन्म को व्यर्थ समझा। वह उस बेचारी बालिका को उड़ा तो उसी वक्त ले जाता, पर साथ में प्रिया के होने से ऐसा अनर्थ करने के लिए उसकी हिम्मत न पड़ी। पर उसे बिना अनन्तमती के कब चैन पड़ सकता था ? इसलिए वह अपने विमान को शीघ्रता से घर लौटा ले गया और वहाँ अपनी प्रिया को रखकर उसी समय अनन्तमती के बगीचे में आ उपस्थित हुआ और बड़ी फुर्ती से उस भोली बालिका को उठा ले चला। उधर उसकी प्रिया को भी इसके कर्म का कुछ-कुछ अनुसन्धान लग गया था। इसलिए कुण्डलमंडित तो उसे घर पर छोड़ आया था, पर वह घर पर न ठहर कर उसके पीछे-पीछे हो चली। जिस समय कुण्डलमंडित अनन्तमती को लेकर आकाश की ओर जा रहा था कि उसकी दृष्टि अपनी प्रिया पर पड़ी। उसे क्रोध के मारे लाल मुख किये हुई देखकर कुण्डलमंडित के प्राणदेवता एक साथ शीतल पड़ गये। उसके शरीर को काटो तो खून नहीं। ऐसी स्थिति में अधिक गोलमाल होने के भय से उसने बड़ी फुर्ती के साथ अनन्तमती को एक पर्णलध्वी नाम की विद्या के आधीन कर उसे एक भयंकर वनी में छोड़ देने को आज्ञा दे दी और आप पत्नी के साथ घर लौट गया और उसके सामने अपनी निर्दोषता का यह प्रमाण पेश कर दिया कि अनन्तमती न तो विमान में उसे देखने को मिली और न विद्या के सुपुर्द करते समय कुण्डलमंडित ने ही उसे देखने दी ॥१२-१७॥

उस भयंकर वनी में अनन्तमती बड़े जोर-जोर से रोने लगी, पर उसके रोने को सुनता भी कौन? वह तो कोसों तक मनुष्यों के पदचार से रहित थी। कुछ समय बाद एक भीलों का राजा शिकार खेलता हुआ उधर आ निकला। उसने अनन्तमती को देखा। देखते ही वह भी काम के बाणों से घायल हो गया और उसी समय उसे उठाकर अपने गाँव में ले गया। अनन्तमती तो यह समझी कि देव ने मुझे इसके हाथ सौंपकर मेरी रक्षा की है और अब मैं अपने घर पहुँचा दी जाऊँगी। पर नहीं, उसकी यह समझ ठीक नहीं थी। वह छुटकारे के स्थान में एक और नई विपत्ति के मुख में फँस गई ॥१८॥

करोमि त्वां महाराज्ञीं ददामि बहुसम्पदम्। मामिच्छेति भणित्वा सा नेच्छन्ती वातिवित्तकम् ॥१९॥
रात्रौ प्रभोक्तुमारब्धा तदा तच्छीलपुण्यतः। वनदेवतया तस्य ताडनाद्युपसर्गकः ॥२०॥
कृतः काचिदियं देवी महासामर्थ्यसंयुता। भिल्लेनेति विचार्योच्चैः सा कन्या कमलेक्षणा ॥२१॥
पुष्पकाख्यमहासार्थवाहकस्य समर्पिता। सोपि तद्रूपसंसक्तः प्रोवाच मलिनं वचः ॥२२॥
एतान्याभरणान्युच्चैर्नानासद्वस्त्रसञ्चयम्। गृहाण तव दासोस्मि मामिच्छेति प्रणष्टधीः ॥२३॥

राजा उसे अपने महल ले जाकर बोला–बाले, आज तुम्हें अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि एक राजा तुम पर मुग्ध है और वह तुम्हें अपनी पट्टरानी बनाना चाहता है। प्रसन्न होकर उसकी प्रार्थना स्वीकार करो और अपने स्वर्गीय समागम से उसे सुखी करो। वह तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ा है तुम्हें वनदेवी समझकर अपना मन चाहा वर माँगता है। उसे देकर उसकी आशा पूरी करो। बेचारी भोली अनन्तमती उस पापी की बातों का क्या जवाब देती ? वह फूट–फूटकर रोने लगी और आकाश पाताल एक करने लगी। पर उसकी सुनता कौन? वह तो राज्य ही मनुष्य जाति के राक्षसों का था ॥१९॥

भील राजा के निर्दयी हृदय में तब भी अनन्तमती के लिए कुछ भी दया नहीं आई। उसने और भी बहुत–बहुत प्रार्थना की, विनय–अनुनय किया, भय दिखाया, पर अनन्तमती ने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया किन्तु यह सोचकर कि इन नारकियों के सामने रोने धोने से कुछ काम नहीं चलेगा, उसने उसे फटकारना शुरू किया। उसकी आँखों से क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगीं, उसका चेहरा लाल सुर्ख पड़ गया। सब कुछ हुआ, पर उस भील राक्षस पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ा। उसने अनन्तमती से बलात्कार करना चाहा। इतने में उसके पुण्य प्रभाव से, नहीं, शील के अखंड बल से वनदेवी ने आकर अनन्तमती की रक्षा की और उस पापी को उसके पाप का खूब फल दिया और कहा–नीच, तू नहीं जानता यह कौन है? याद रख यह संसार की पूज्य एक महादेवी है, जो इसे तूने सताया कि समझ तेरे जीवन की कुशल नहीं है। यह कहकर वनदेवी अपने स्थान पर चली गई। उसके कहने का भीलराज पर बहुत असर पड़ा और पड़ना चाहिए था क्योंकि थी तो वह देवी ही न ? देवी के डर के मारे दिन निकलते ही उसने अनन्तमती को एक साहूकार के हाथ सौंपकर उससे कह दिया कि इसे इसके घर पहुँचा दीजियेगा। पुष्पक सेठ ने उस समय तो अनन्तमती को उसके घर पहुँचा देने का इकरार कर भीलराज से ले ली। पर यह किसने जाना कि उसका हृदय भी भीतर से पापपूर्ण होगा। अनन्तमती को पाकर वह समझने लगा कि मेरे हाथ अनायास स्वर्ग की सुन्दरी लग गई। यह यदि मेरी बात प्रसन्नता पूर्वक मान ले तब तो अच्छा ही है, नहीं तो मेरे पंजे से छूट कर भी तो यह नहीं जा सकती। यह विचार कर उस पापी ने अनन्तमती से कहा–सुन्दरी, तुम बड़ी भाग्यवती हो, जो एक नर–पिशाच के हाथ से छूटकर पुण्य पुरुष के सुपुर्द हुई। कहाँ तो यह तुम्हारी अनिन्द्य स्वर्गीय सुन्दरता और कहाँ वह भील राक्षस, कि जिसे देखते ही हृदय काँप उठता है? मैं तो आज अपने को देवों से भी कहीं बढ़कर भाग्यशाली समझता हूँ, जो मुझे अनमोल स्त्री रत्न सुलभता के साथ प्राप्त हुआ। भला, बिना

तयोक्तं यादृशं मेस्ति प्रियदत्तः पितापरः। तादृशस्त्वमपि भ्रष्ट मावादीः पापदं वचः ॥२४॥
इत्यादिकं स्थिरं वाक्यं समाकर्ण्यैव पापिना। सार्थवाहेन चानीयायोध्यायां सुदृढव्रता ॥२५॥
कामसेनाख्यकुट्टिन्याः पापिन्याः सा समर्पिता। कः कस्य दीयते दोषो विचित्रा कर्मणां स्थितिः ॥२६॥

महाभाग्य के कहीं ऐसा रत्न मिल सकता है? सुन्दरी, देखती हो, मेरे पास अटूट धन है, अनन्त वैभव है, पर उस सबको तुम पर न्यौछावर करने को तैयार हूँ और तुम्हारे चरणों का अत्यन्त दास बनता हूँ। कहो, मुझ पर प्रसन्न हो ? मुझे अपने हृदय में जगह दोगी न ? दो और मेरे जीवन को, मेरे धन-वैभव को सफल करो ॥२०-२३॥

अनन्तमती ने समझा था कि इस भले मानस की कृपा से मैं सुखपूर्वक पिताजी के पास पहुँच जाऊँगी, पर वह बेचारी पापियों के पापी हृदय की बात को क्या जाने? उसे जो मिलता था, उसे वह भला ही समझती थी। यह स्वाभाविक बात है कि अच्छे को संसार अच्छा ही दिखता है। अनन्तमती ने पुष्पक सेठ की पापपूर्ण बातें सुनकर बड़े कोमल शब्दों में कहा–महाशय, आपको देखकर तो मुझे विश्वास हुआ था कि अब मेरे लिए कोई डर की बात नहीं रही। मैं निर्विघ्न अपने घर पर पहुँच जाऊँगी, क्योंकि मेरे एक दूसरे पिता मेरी रक्षा के लिए आ गये हैं। पर मुझे अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आप सरीखे भले मानस के मुँह से और ऐसी नीच बातें ? जिसे मैंने रस्सी समझकर हाथ में लिया था, मैं नहीं समझती थी कि वह इतना भयंकर सर्प होगा। क्या यह बाहरी चमक-दमक और सीधापन केवल दाम्भिकपना है? केवल हंसों में गणना कराने के लिए है? यदि ऐसा है तो मैं तुम्हें तुम्हारे इस ठगी वेष को, तुम्हारे कुल को, तुम्हारे धन-वैभव को और तुम्हारे जीवन को धिक्कार देती हूँ, अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखती हूँ। जो मनुष्य केवल संसार को ठगने के लिए ऐसे मायाचार करता है, बाहर धर्मात्मा बनने का ढोंग रचता है, लोगों को धोखा देकर अपने मायाजाल में फँसाता है, वह मनुष्य नहीं है किन्तु पशु है, पिशाच है, राक्षस है। वह पापी मुँह देखने योग्य नहीं, नाम लेने योग्य नहीं। उसे जितना धिक्कार दिया जाये थोड़ा है। मैं नहीं जानती थी कि आप भी उन्हीं पुरुषों में से एक होंगे। अनन्तमती और भी कहती, पर वह ऐसे कुल कलंक नीचों के मुँह लगना उचित नहीं समझ चुप हो रही। अपने क्रोध को वह दबा गई ॥२४॥

उसकी जली भुनी बातें सुनकर पुष्पक सेठ की अक्ल ठिकाने आ गई। वह जलकर खाक हो गया, क्रोध से उसका सारा शरीर काँप उठा, पर तब भी अनन्तमती के दिव्य तेज के सामने उससे कुछ करते नहीं बना। उसने अपने क्रोध का बदला अनन्तमती से इस रूप में चुकाया कि वह उसे अपने शहर में ले जाकर एक कामसेना नाम की कुट्टिनी के हाथ सौंप दिया। सच बात तो यह है कि यह सब दोष दिया किसे जा सकता है किन्तु कर्मों की ही ऐसी विचित्र स्थिति है, जो जैसा कर्म करता है उसका उसे वैसा फल भोगना ही पड़ता है। इसमें नई बात कुछ नहीं है ॥२५-२६॥

वेश्ययापि तयानेकप्रकारैश्चालिता सती। मेरोः सच्चूलिकेवासौ नाचलच्छीलशैलतः ॥२७॥
येषां संसारभीरूणां न्यायोपार्जितवस्त्वपि। कदाचित्प्रीतये न स्यात्तन्मतिः किं कुकर्मसु ॥२८॥
तदा तयापि कुट्टिन्या सिंहराजमहीभुजः। समर्पिता तथा बाला तस्याः सद्रूपयौवनम् ॥२९॥
संविलोक्य सुलुब्धेन तेन रात्रौ दुरात्मना। हठात्सेवितुमारब्धा सा सती भुवनोत्तमा ॥३०॥
तदा तद्व्रतमाहात्म्यात्पुरदेवतया क्रुधा। उपसर्गो महांश्चक्रे तस्य दुष्कर्मणस्ततः ॥३१॥
निस्सारिता सुभीतेन भूभुजा तेन मंदिरात्। सापि पञ्चनमस्कारं संस्मरन्ती सुखप्रदम् ॥३२॥
क्वचिद्देशे स्थिता यावत्तस्याः पुण्यप्रभावतः। पद्मश्रीरार्यिका वीक्ष्य तां ज्ञात्वा श्रावकोत्तमाम् ॥३३॥

कामसेना ने भी अनन्तमती को कष्ट देने में कुछ कसर नहीं रखी। जितना उससे बना उसने भय से, लोभ से उसे पवित्र पथ से गिराना चाहा, उसके सतीत्व धर्म को भ्रष्ट करना चाहा पर अनन्तमती उससे नहीं डिगी। वह सुमेरु के समान निश्चल बनी रही। ठीक तो है जो संसार के दुःखों से डरते हैं, वे ऐसे भी सांसारिक कामों के करने से घबरा उठते हैं, जो न्याय मार्ग से भी क्यों न प्राप्त हुए हों, तब भला उन पुरुषों की ऐसे घृणित और पाप कार्यों में कैसे प्रीति हो सकती है? कभी नहीं होती ॥२७-२८॥

कामसेना ने उस पर अपना चक्र चलता न देखकर उसे एक सिंहराज नाम के राजा को सौंप दिया। बेचारी अनन्तमती का जन्म ही न जाने कैसे बुरे समय में हुआ था, जो वह जहाँ पहुँचती वहीं आपत्ति उसके सिर पर सवार रहती। सिंहराज भी एक ऐसा ही पापी राजा था। वह अनन्तमती के देवांगना दुर्लभ रूप को देखकर उस पर मोहित हो गया। उसने भी उससे बहुत हाथाजोड़ी की, पर अनन्तमती ने उसकी बातों पर कुछ ध्यान न देकर उसे भी फटकार डाला। पापी सिंहराज ने अनन्तमती का अभिमान नष्ट करने को उससे बलात्कार करना चाहा। पर जो अभिमान मानवी प्रकृति का न होकर अपने पवित्र आत्मीय तेज का होता है, भला, किसकी मजाल जो उसे नष्ट कर सके ? जैसे ही पापी सिंहराज ने उस तेजोमय मूर्ति की ओर पाँव बढ़ाया कि उसी वनदेवी ने, जिसने एक बार पहले भी अनन्तमती की रक्षा की थी, उपस्थित होकर कहा–खबरदार! इस सती देवी का स्पर्श भूलकर भी मत करना, नहीं तो समझ लेना कि तेरा जीवन जैसे संसार में था ही नहीं। इसके साथ ही देवी उसे उसके पापकर्मों का उचित दण्ड देकर अन्तर्हित हो गई। देवी को देखते ही सिंहराज का कलेजा काँप उठा। वह चित्रलिखे सा निश्चेष्ट हो गया। देवी के चले जाने पर बहुत देर बाद उसे होश हुआ। उसने उसी समय नौकर को बुलवाकर अनन्तमती को जंगल में छोड़ आने की आज्ञा दी। राजा की आज्ञा का पालन हुआ। अनन्तमती एक भयंकर वन में छोड़ दी गई ॥२९-३१॥

अनन्तमती कहाँ जायेगी, किस दिशा में उसका शहर है और वह कितनी दूर है? इन सब बातों का यद्यपि उसे कुछ पता नहीं था, तब भी वह पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर वहाँ से आगे बढ़ी और फल-फूलादि से अपना निर्वाह कर वन, जंगल, पर्वतों को लाँघती हुई अयोध्या में पहुँच गई। वहाँ उसे एक पद्मश्री नाम की आर्यिका के दर्शन हुए। आर्यिका ने अनन्तमती से उसका परिचय पूछा। उसने अपना

दृष्ट्वा तस्याश्चरित्रं च स्वान्तिके परमादरात्। स्थापयामास पूतात्मा सतां वृत्तं परार्थकृत् ॥३४॥
अथानन्तमतीशोकवह्निसन्तप्तमानसः। प्रियदत्तो महाश्रेष्ठी गृहान्निर्गत्य पुण्यधीः ॥३५॥
तद्दुःखहानये कैश्चित्सज्जनैः परिवेष्टितः। श्रीमज्जिनेन्द्रसत्तीर्थयात्रां कुर्वन्सुखप्रदाम् ॥३६॥
अयोध्यानगरीं प्राप्य सन्ध्यायां स गुणोज्ज्वलः। तत्रस्थ जिनदत्ताख्यश्यालकस्य गृहं गतः ॥३७॥
तेन श्रीजिनदत्तेन कृत्वा प्राघूर्णकक्रियाम्। सुखं पृष्टो जगौ श्रेष्ठी दुःखदं निजवृत्तकम् ॥३८॥
ततः प्रातः समुत्थाय प्रियदत्तोतिधार्मिकः। स्नानादिकं विधायोच्चैर्गतो गेहं जिनेशिनाम् ॥३९॥
तदा कर्त्तुं च सद्भोज्यं चतुष्कं दातुमङ्गणे। जिनदत्तस्त्रियाहूता पद्मश्रीक्षान्तिकाश्रिता ॥४०॥
कन्या सापि समागत्य भोज्यं कृत्वामृतोपमम्। दत्वा गणे चतुष्कं च प्रीतितो वसतिं गता ॥४१॥
ततो देवेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्राद्यैः समर्चिताः। जिनेन्द्रप्रतिमाः श्रेष्ठी समभ्यर्च्य समागतः ॥४२॥

सब परिचय देकर अपने पर जो-जो विपत्ति आई थी और उससे जिस-जिस प्रकार अपनी रक्षा हुई थी उसका सब हाल आर्यिका को सुना दिया। आर्यिका उसकी कथा सुनकर बहुत दुःखी हुई। उसे उसने एक सती-शिरोमणि रमणी-रत्न समझ कर अपने पास रख लिया। सच है सज्जनों का व्रत परोपकारार्थ ही होता है ॥३२-३४॥

उधर प्रियदत्त को जब अनन्तमती के हरे जाने का समाचार मालूम हुआ तब वह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसके वियोग से वह अस्थिर हो उठा। उसे घर श्मशान सरीखा भयंकर दिखने लगा। संसार उसके लिए सूना हो गया। पुत्री के विरह से दुःखी होकर तीर्थयात्रा के बहाने से वह घर से निकल खड़ा हुआ। उसे लोगों ने बहुत समझाया, पर उसने किसी की बात को न मानकर अपने निश्चय को नहीं छोड़ा। कुटुम्ब के लोग उसे घर पर न रहते देखकर स्वयं भी उसके साथ-साथ चले। बहुत से सिद्धक्षेत्रों और अतिशय क्षेत्रों की यात्रा करते-करते वे अयोध्या में आये। वहीं पर प्रियदत्त का साला जिनदत्त रहता था। प्रियदत्त उसी के घर पर ठहरा। जिनदत्त ने बड़े आदर सम्मान के साथ अपने बहनोई की पाहुनगति की। इसके बाद स्वस्थता के समय जिनदत्त ने अपनी बहिन आदि का समाचार पूछा। प्रियदत्त ने जैसी घटना बीती थी, वह सब उससे कह सुनाई। सुनकर जिनदत्त की भी अपनी भानजी के बाबत बहुत दुःख हुआ। दुःख सभी को हुआ पर उसे दूर करने के लिए सब लाचार थे। कर्मों की विचित्रता देखकर सब ही को सन्तोष करना पड़ा ॥३५-३८॥

दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर और स्नानादि करके जिनदत्त तो जिनमन्दिर चला गया। इधर उसकी स्त्री भोजन की तैयारी करके पद्मश्री आर्यिका के पास जो बालिका थी, उसे भोजन करने को और आँगन में चौक पूरने को बुला लाई। बालिका ने आकर चौक पूरा और बाद भोजन करके वह अपने स्थान पर लौट आई ॥३९-४१॥

जिनदत्त के साथ प्रियदत्त भी भगवान् की पूजा करके घर पर आया। आते ही उसकी दृष्टि चौक पर पड़ी। देखते ही उसे अनंतमती की याद हो उठी। वह रो पड़ा। पुत्री के प्रेम से उसका हृदय व्याकुल

तच्चतुष्कं समालोक्य स्मृत्वानन्तमतीं स ताम्। अश्रुपातेन संयुक्तो जगाद प्रियदत्तवाक् ॥४३॥
ययेदं मण्डनं चक्रे सा समानीयतां द्रुतम्। ततस्तैः सुजनैस्तस्य सुतामानीय दर्शिता ॥४४॥
निर्गलच्छोकपानीयपूरपूरितलोचनाम्। समालिंग्य सतां श्रेष्ठी प्रोवाच मधुरं वचः ॥४५॥
भो पुत्रि त्वं महाशीलसलिलक्षालिताखिलः। पापकर्दमसन्दोहपापिना केन संहृता ॥४६॥
केन वात्र समानीता शून्यं कृत्वा ममालयम्। संपृष्टेति सुता प्राह सर्वं तद्वृत्तकं निजम् ॥४७॥
तदा श्रीजिनदत्तेन तयोर्मेलापके तराम्। चक्रे महोत्सवः पुर्यां सन्तुष्टेन स्वचेतसा ॥४८॥
प्रियदत्तस्ततः प्राह भो सुते निजमन्दिरम्। एहि संगम्यतेऽस्माभिः सानन्दं सुमनोहरम् ॥४९॥
सा चोवाच तदा पुत्री दृष्टं तात मयाधुना। कष्टं संसारवैचित्र्यं ततो दापय मे तपः ॥५०॥
वल्लीवत्कोमलाङ्गी त्वं जैनीदीक्षां सुदुःसहां। कियत्कालं सुते तिष्ठ धर्मध्यानेन मन्दिरे ॥५१॥
पश्चात्ते वाञ्छितं पुत्रि पुण्यतः सम्भविष्यति। इत्यादिकोमलालापैः श्रेष्ठिना गुणशालिना ॥५२॥
निषेध्यापि तथा पुत्री महावैराग्यमण्डिता। पद्मश्रीक्षान्तिका पार्श्वे जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ॥५३॥

हो गया। उसने रोते-रोते कहा-जिसने यह चौक पूरा है, क्या मुझ अभागे को उसके दर्शन होंगे। जिनदत्त अपनी स्त्री से उस बालिका का पता पूछकर जहाँ वह थी, वहीं दौड़ा गया और झट से उसे अपने घर ले लाया। बालिका को देखते ही प्रियदत्त के नेत्रों से आँसू बह निकले। उसका गला भर आया। आज वर्षों बाद उसे अपनी पुत्री के दर्शन हुए। बड़े प्रेम के साथ उसने अपनी प्यारी पुत्री को छाती से लगाया और उसे गोदी में बैठाकर उससे एक-एक बातें पूछना शुरू कीं। उसके दुःखों का हाल सुनकर प्रियदत्त बहुत दुःखी हुआ। उसने कर्मों का, इसलिए कि अनन्तमती इतने कष्टों को सहकर भी अपने धर्म पर दृढ़ रही और कुशलपूर्वक अपने पिता से आ मिली, बहुत-बहुत उपकार माना। पिता-पुत्री का मिलाप हो जाने से जिनदत्त को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने इस खुशी में जिनभगवान् का रथ निकलवाया, सबका यथायोग्य आदर सम्मान किया और खूब दान किया ॥४२-४८॥

इसके बाद प्रियदत्त अपने घर जाने को तैयार हुआ। उसने अनन्तमती से भी चलने को कहा। वह बोली-पिताजी, मैंने संसार की लीला को खूब देखा है। उसे देखकर तो मेरा जी काँप उठता है। अब मैं घर पर नहीं चलूँगी। मुझे संसार के दुःखों से बहुत डर लगता है। अब तो आप दया करके मुझे दीक्षा दिलवा दीजिये। पुत्री की बात सुनकर प्रियदत्त बहुत दुःखी हुआ, पर अब उसने उससे घर पर चलने का विशेष आग्रह न करके केवल इतना कहा कि-पुत्री, तेरा यह नवीन शरीर अत्यन्त कोमल है और दीक्षा का पालन करना बड़ा कठिन है उसमें बड़ी-बड़ी कठिन परीषह सहनी पड़ती है इसलिए अभी कुछ दिनों के लिए मन्दिर ही में रहकर अभ्यास कर और धर्मध्यान पूर्वक अपना समय बिता। इसके बाद जैसा तू चाहती है, वह स्वयं ही हो जायेगा। प्रियदत्त ने इस समय दीक्षा लेने से अनन्तमती को रोका, पर उसके तो रोम-रोम में वैराग्य प्रवेश कर गया था; फिर वह कैसे रुक सकती थी ? उसने मोह-जाल तोड़कर उसी समय पद्मश्री आर्यिका के पास जिनदीक्षा ग्रहण कर ही ली। दीक्षित होकर

समादाय लसद्भक्त्या तथानन्तमती दृढम्। पक्षमासोपवासादितपः कृत्वा सुदारुणम् ॥५४॥
संन्यासविधिना मृत्वा स्मरन्ती जिनपङ्कजम्। सहस्रारे सुरो जातः प्रोल्लसन्मुकुटादिभिः ॥५५॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां साभवद्भक्तिभाजनम्। नाना सत्सम्पदोपेतः सुपुण्यात्किं न जायते ॥५६॥
क्रीडामात्रगृहीतशीलममलं सम्पाल्य शर्मप्रदं नाना रत्नसुवर्णभोगनिचये निष्काङ्क्षितामाश्रिता।
या सानन्तमती जिनेन्द्रचरणाम्भोजात्तभृङ्गीव्रतात्स्वर्गे देवमहर्द्धिकोजनि तरां दद्यात्सतां मङ्गलम् ॥५७॥

इति श्रीकथाकोशे निष्काङ्क्षिताङ्गेऽनन्तमतीकथा समाप्ता।

८. उद्दायनराज्ञः कथा

नत्वार्हतं जगत्पूज्यं भारतीं गुरुपङ्कजम्। वक्ष्ये निर्विचिकित्साङ्गे कथामुद्दायनप्रभोः ॥१॥
इहैव भरतक्षेत्रे देशे कच्छाभिधे शुभे। पुरे रौरवके नाम्ना सुधीरुद्दायनप्रभुः ॥२॥
सद्दृष्टिर्जिनदेवानां पादपद्मार्चने रतः। दाता भोक्ता विचारज्ञः प्रजानां सुतरां हितः ॥३॥
तस्य प्रभावती राज्ञी साध्वी पूर्णेन्दुनिर्मला। दानपूजाव्रताम्भोभिः प्रक्षालितमनोमला ॥४॥

अनन्तमती खूब दृढ़ता के साथ तप तपने लगी। महिना-महिना के उपवास करने लगी, परीषह सहने लगी। उसकी उमर और तपश्चर्या देखकर सबको दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती थी। अनन्तमती का जब तक जीवन रहा तब तक उसने बड़े साहस से अपने व्रत का निर्वहन किया। अन्त में वह संन्यास मरण कर सहस्रार स्वर्ग में जाकर देव हुई। वहाँ वह नित्य नये रत्नों के स्वर्गीय भूषण पहनती है, जिनभगवान् की भक्ति के साथ पूजा करती है, हजारों देव देवाङ्गनायें उसकी सेवा में रहती हैं। उसके ऐश्वर्य का पार नहीं और न उसके सुख ही की सीमा है। बात यह है कि पुण्य के उदय से क्या-क्या नहीं होता ? ॥४९-५६॥

अनन्तमती को उसके पिता ने केवल विनोद से शीलव्रत दे दिया था। पर उसने उसका बड़ी दृढ़ता के साथ पालन किया, कर्मों के पराधीन सांसारिक सुख की उसने स्वप्न में भी चाह नहीं की। उसके प्रभाव से वह स्वर्ग में जाकर देव हुई, जहाँ सुख का पार नहीं। वहाँ वह सदा जिनभगवान् के चरणों में लीन रहकर बड़ी शान्ति के साथ अपना समय बिताती है। सती-शिरोमणि अनन्तमती हमारा भी कल्याण करे ॥५७॥

८. उद्दायन राजा की कथा

संसार-श्रेष्ठ जिनभगवान्, जिनवाणी और जैन ऋषियों को नमस्कार कर उद्दायन राजा की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने सम्यक्त्व के तीसरे निर्विचिकित्सा अंग का पालन किया है ॥१॥

उद्दायन रौरवक नामक शहर के राजा थे, जो कि कच्छदेश के अन्तर्गत था। उद्दायन सम्यग्दृष्टि थे, दानी थे, विचारशील थे, जिनभगवान् के सच्चे भक्त थे और न्यायी थे। सुतरां प्रजा का उन पर बहुत प्रेम था और वे भी प्रजा के हित में सदा उद्यत रहा करते थे ॥२-३॥

उसकी रानी का नाम प्रभावती था। वह भी सती थी, धर्मात्मा थी। उसका मन सदा पवित्र रहता था। वह अपने समय को प्रायः दान, पूजा, व्रत, उपवास, स्वाध्यायादि में बिताती थी ॥४॥

निष्कण्टकं महाराज्यं कुर्वन्सद्धर्मतत्परः। यावदास्ते सुखं राजा स पुण्येन तदा मुदा ॥५॥
धर्मानुरागतः स्वर्गे सौधर्मेन्द्रेण धीमता। सभायां सर्वदेवानामग्रतश्चेति भाषितम् ॥६॥
देवोर्हन्दोषनिर्मुक्तो धर्मश्चेति क्षमादिकः। गुरुर्निर्ग्रन्थतायुक्तस्तत्त्वे श्रद्धार्हते रुचिः ॥७॥
सा रुचिस्तु जिनेन्द्राणां स्वर्गमोक्षसुखप्रदा। धर्मानुरागतस्तीर्थयात्राभिः सुमहोत्सवैः ॥८॥
जिनेन्द्रभवनोद्धारैः प्रतिष्ठाप्रतिमादिभिः। साधर्मिकेषु वात्सल्याज्जायते भव्यदेहिनाम् ॥९॥
शृण्वन्तु सुधियो देवाः सम्यक्त्वं जगदुत्तमम्। दुर्गत्यादिक्षयो यस्मात्सम्प्राप्तिः स्वर्गमोक्षयोः ॥१०॥
इत्यादिसारसम्यक्त्व-स्फीतिं वर्णयता सता। चक्रे निर्विचिकित्साङ्गे तेन तद्भूपतेः स्तुतिः ॥११॥
तच्छ्रुत्वा वासवाख्यश्च देवो मायामयं द्रुतम्। दुष्टकुष्टव्रणोपेतं धृत्वा रूपं महामुनेः ॥१२॥
मध्याह्ने तत्परीक्षार्थं भिक्षार्थी स समागतः। तदोद्दायनभूपालस्तं विलोक्य मुनीश्वरम् ॥१३॥
पतन्तं पीडयाक्रान्तं मक्षिकाजालवेष्टितम्। ससम्भ्रमं समुत्थाय तिष्ठ तिष्ठेति सम्वदन् ॥१४॥

उद्दायन अपने राज्य का शान्ति और सुख से पालन करते और अपनी शक्ति के अनुसार जितना बन पड़ता, उतना धार्मिक काम करते। कहने का मतलब यह कि वे सुखी थे, उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। उनका राज्य भी शत्रु रहित निष्कंटक था ॥५॥

एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में धर्मोपदेश कर रहा था कि संसार में सच्चे देव अरहन्त भगवान् हैं, जो कि भूख, प्यास, रोग, शोक, भय, जन्म, जरा, मरण आदि दोषों से रहित और जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाने वाले हैं; सच्चा धर्म, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशलक्षण रूप है; गुरु निर्ग्रन्थ हैं; जिनके पास परिग्रह का नाम निशान नहीं और जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि से रहित हैं और वह सच्ची श्रद्धा है, जिससे जीवाजीवादिक पदार्थों में रुचि होती है। वही रुचि स्वर्ग-मोक्ष की देने वाली है। यह रुचि अर्थात् श्रद्धा धर्म में प्रेम करने से, तीर्थयात्रा करने से, रथोत्सव कराने से, जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार कराने से, प्रतिष्ठा कराने से, प्रतिमा बनवाने से और साधर्मियों से वात्सल्य अर्थात् प्रेम करने से उत्पन्न होती है। आप लोग ध्यान रखिये कि सम्यग्दर्शन संसार में एक सर्वश्रेष्ठ वस्तु है और कोई वस्तु उसकी समानता नहीं कर सकती। यही सम्यग्दर्शन दुर्गतियों का नाश करके स्वर्ग और मोक्ष का देने वाला है। इसे तुम धारण करो। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का और उसके आठ अंगों का वर्णन करते समय इन्द्र ने निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने वाले उद्दायन राजा की बहुत प्रशंसा की। इन्द्र के मुँह से एक मध्यलोक के मनुष्य की प्रशंसा सुनकर एक बासव नाम का देव उसी समय स्वर्ग से भारत में आया और उद्दायन राजा की परीक्षा करने के लिए एक कोढ़ी मुनि का वेश बनाकर भिक्षा के लिए दोपहर ही को उद्दायन के महल गया ॥६-१३॥

उसके शरीर से कोढ़ गल रहा था, उसकी वेदना से उसके पैर इधर-उधर पड़ रहे थे, सारे शरीर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं और सब शरीर विकृत हो गया था। उसकी यह हालत होने पर भी जब वह राजद्वार पर पहुँचा और महाराज उद्दायन की उस पर दृष्टि पड़ी तब वे उसी समय सिंहासन से

प्रतिष्ठाप्य महाभक्त्या पादप्रक्षालनादिभिः। प्रासुकं सरसाहारं स तस्मै दत्तवान्मुदा ॥१५॥
स भुक्त्वा विविधाहारं मायया प्रचुरं पुनः। महादुर्गन्धसंयुक्तं चकार वमनं मुनिः ॥१६॥
तदा दुर्गन्धतो नष्टाः पार्श्वस्थाः सज्जनाः जनाः। प्रतीच्छन्वान्तिकं भूपः सस्त्रीकः संस्थितः सुधीः ॥१७॥
तदा सोपि मुनिर्गाढं प्रभावत्यास्तथोपरि। महाकष्टेन दुर्गन्धं छर्दिकं कृतवान्पुनः ॥१८॥
हा मया पापिना दत्तं विरुद्धं मुनयेऽशनम्। महापुण्येर्विना पात्र-दानसिद्धिर्न भूतले ॥१९॥
यथा चिन्तामणिः कल्प-वृक्षो वा वाञ्छितप्रदः। प्राप्यते तुच्छपुण्यैर्न पात्रदानं तथा क्षितौ ॥२०॥
इत्यादिकं स भूपालो निन्दां कुर्वन्निजात्मनः। स्वच्छतोयं समादाय क्षालनार्थं पुनर्वपुः ॥२१॥
समुत्थितस्तदा सोपि ज्ञात्वा तद्भक्तिमद्भुताम्। देवो मायामपाकृत्य संजगाद प्रहर्षतः ॥२२॥
अहो नरेन्द्र सद्दृष्टेर्महादानपतेस्तव। गुणो निर्विचिकित्साङ्गे सौधर्मेन्द्रेण वर्णितः ॥२३॥
यादृशोत्र मयागत्य स दृष्टस्तादृशस्तराम्। अतस्त्वं श्रीजिनेन्द्रोक्त-सारधर्मस्य तत्ववित् ॥२४॥
त्वां विना पाणिपद्माभ्यां मुनेर्वान्ति सुदुःसहाम्। समुद्धर्तुं क्षमः कोत्र सम्यग्दृष्टिः शिरोमणिः ॥२५॥
इति स्तुत्वा महीनाथं देवो वासवसंज्ञकः। प्रोक्त्वा वृत्तान्तकं सर्वं तं समर्च्य दिवं गतः ॥२६॥
अहो पुण्यस्य माहात्म्यं सतां केनात्र वर्ण्यते। यद्वर्णनं सुराधीशः करोति परमादरात् ॥२७॥

उठकर आये और बड़ी भक्ति से उन्होंने उस छली मुनि का आह्वान किया। इसके बाद नवधाभक्तिपूर्वक हर्ष के साथ राजा ने मुनि को प्रासुक आहार कराया। राजा आहार कराकर निवृत हुए कि इतने में उस कपटी मुनि ने अपनी माया से महा दुर्गन्धित वमन कर दिया। उसकी असह्य दुर्गन्ध के कारण जितने और लोग पास खड़े हुए थे, वे सब भाग खड़े हुए किन्तु केवल राजा और रानी मुनि की सम्हाल करने को वहीं रह गये। रानी मुनि का शरीर पोंछने को उसके पास गई। कपटी मुनि ने उस बेचारी पर भी महा दुर्गन्धित उछाट कर दी। राजा और रानी ने इसकी कुछ परवाह न कर उलटा इस बात पर बहुत पश्चाताप किया कि हमसे मुनि की प्रकृति विरुद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया, जिससे मुनिराज को इतना कष्ट हुआ। हम लोग बड़े पापी हैं। इसीलिए तो ऐसे उत्तम पात्र का हमारे यहाँ निरन्तराय आहार नहीं हुआ। सच है जैसे पापी लोगों को मनोवांछित देने वाला चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष प्राप्त नहीं होता, उसी तरह सुपात्र के दान का योग भी पापियों को नहीं मिलता है। इस प्रकार अपनी आत्मनिन्दा कर और अपने प्रमाद पर बहुत-बहुत खेद प्रकाश कर राजा रानी ने मुनि का सब शरीर जल से धोकर साफ किया। उनकी इस प्रकार अचलभक्ति देखकर देव अपनी माया समेटकर बड़ी प्रसन्नता के साथ बोला-राजराजेश्वर, सचमुच हो तुम सम्यग्दृष्टि हो, महादानी हो। निर्विचिकित्सा अंग के पालन करने में इन्द्र ने जैसी तुम्हारी प्रशंसा की थी, वह अक्षर-अक्षर ठीक निकली, वैसा ही मैंने तुम्हें देखा। वास्तव में तुम ही ने जैनशासन का रहस्य समझा है। यदि ऐसा न होता तो तुम्हारे बिना और कौन मुनि की दुर्गन्धित उछाट अपने हाथों से उठाता? राजन्! तुम धन्य हो, शायद ही इस पृथ्वी मंडल पर इस समय तुम सरीखा सम्यग्दृष्टियों में शिरोमणि कोई होगा ? इस प्रकार उद्दायन की प्रशंसा

एकदोद्दायनो राजा राज्यं कुर्वन्स्वलीलया। दानपूजाव्रताद्युक्ते जिनधर्मे सुतत्परः ॥२८॥
कियत्यपि गते काले कारणं वीक्ष्य किंचन। त्रिधा वैराग्यसम्पन्नो दत्वा राज्यं सुताय च ॥२९॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य स्वर्गमोक्षप्रदायिनः। पादपङ्कजयोर्मूले महाभक्त्या सुनिश्चलः ॥३०॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं देवेन्द्राद्यैः समर्चिताम्। प्रतिपाल्य जगत्सारं सुधी रत्नत्रयं मुदा ॥३१॥
ततो ध्यानाग्निना दग्ध्वा घातिकर्मचतुष्टयम्। केवलज्ञानमुत्पाद्य सुरासुरनरार्चितः ॥३२॥
सम्बोध्य सकलान्भव्यान्स्वर्गमोक्षप्रदायकः। शेषकर्मक्षयं कृत्वा सम्प्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥३३॥
प्रभावती महादेवी गृहीत्वा सुतपः सती। मुक्त्वा स्त्रीलिङ्गकं कष्टं ब्रह्मस्वर्गे सुरोऽभवत् ॥३४॥

सकलगुणसमुद्रः केवलज्ञानचन्द्रः पदनमदमरेन्द्रः शर्मदः श्रीजिनेन्द्रः।
स भवतु मम नित्यं सेवितो भक्तिभारैर्गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुर्यतीन्द्रः ॥३५॥

इति कथाकोशे निर्विचिकित्साङ्गे श्रीमदुद्दायनस्य कथा समाप्ता।

कर देव अपने स्थान पर चला गया और राजा फिर अपने राज्य का सुखपूर्वक पालन करते हुए दान, पूजा, व्रत आदि में अपना समय बिताने लगे ॥१४-२८॥

इसी तरह राज्य करते-करते उद्दायन का कुछ और समय बीत गया। एक दिन वे अपने महल पर बैठे हुए प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि इतने में एक बड़ा भारी बादल का टुकड़ा उनकी आँखों के सामने से निकला। वह थोड़ी ही दूर पहुँचा होगा कि एक प्रबल वायु के वेग ने उसे देखते-देखते नामशेष कर दिया। क्षणभर में एक विशाल मेघखण्ड की यह दशा देखकर उद्दायन की आँखें खुलीं। उन्हें सारा संसार ही अब क्षणिक जान पड़ने लगा। उन्होंने उसी समय महल से उतरकर अपने पुत्र को बुलाया और उसके मस्तक पर राजतिलक करके आप भगवान् वर्द्धमान के समवसरण में पहुँचे और भक्ति के साथ भगवान् की पूजा कर उनके चरणों के पास ही उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जिसका इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि सभी आदर करते हैं ॥२९-३१॥

साधु होकर उद्दायन राजा ने खूब तपश्चर्या की, संसार का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ रत्नत्रय प्राप्त किया। इसके बाद ध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मों का नाशकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। उसके द्वारा उन्होंने संसार के दुःखों से तड़फते हुए अनेक जीवों को उबार कर, अनेकों को धर्म के पथ पर लगाया और अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अविनाशी अनन्त मोक्षपद प्राप्त किया ॥३२-३३॥

उधर उनकी रानी सती प्रभावती भी जिनदीक्षा ग्रहण कर तपश्चर्या करने लगी और अन्त में समाधि-मृत्यु प्राप्त कर ब्रह्मस्वर्ग में जाकर देव हुई ॥३४॥

वे जिन भगवान् मुझे मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करें, जो सब श्रेष्ठ गुणों के समुद्र हैं, जिनका केवलज्ञान संसार के जीवों का हृदयस्थ अज्ञानरूपी आताप नष्ट करने को चन्द्रमा समान है, जिनके चरणों को इन्द्र, नरेन्द्र आदि सभी नमस्कार करते हैं, जो ज्ञान के समुद्र और साधुओं के शिरोमणि हैं ॥३५॥

९. श्रीरेवतीराज्ञ्याः कथा

प्रणम्य परया भक्त्या जिनेन्द्रं त्रिजगद्धितम्। कथाममूढदृष्टेश्च रेवत्या रचयाम्यहम् ॥१॥
अत्रैव विजयार्धस्थ-दक्षिणश्रेणिसंस्थिते। मेघकूटपुरे राजा नाम्ना चन्द्रप्रभः सुधीः ॥२॥
प्राज्यं राज्यं प्रकुर्वाणश्चैकदा स खगेश्वरः। चन्द्रशेखरपुत्राय दत्वा राज्यं सुधार्मिकः ॥३॥
यात्रां कुर्वञ्जिनेन्द्राणां महातीर्थेषु शर्मदाम्। गत्वा दक्षिणदेशस्थ-मथुरायां स्वपुण्यतः ॥४॥
गुप्ताचार्यमुनेः पार्श्वे श्रुत्वा धर्मकथास्ततः। प्रोक्तः परोपकारोत्र महापुण्याय भूतले ॥५॥
इति ज्ञात्वा तथा तीर्थयात्रार्थं श्रीजिनेशिनाम्। काश्चिद्विद्या दधानोपि क्षुल्लको भक्तितोऽभवत् ॥६॥
एकदा तीर्थयात्रार्थमुत्तरां मथुरां प्रति। गन्तुकामेन तेनोच्चैर्गुरुः पृष्टः प्रणम्य च ॥७॥
किं कस्य कथ्यते देव भवद्भिः करुणापरैः। स प्राह परमानन्दाद् गुप्ताचार्यो विचक्षणः ॥८॥
सुव्रताख्यमुनेर्वाच्या नतिर्मे गुणशालिनः। धर्मवृद्धिश्च रेवत्याः सम्यक्त्वासक्तचेतसः॥९॥
त्रिःपृष्टेन तदेवोच्चैराचार्येण प्रजल्पितम्। ततश्चन्द्रप्रभः सोपि क्षुल्लको निजचेतसि ॥१०॥

---

९. रेवती रानी की कथा

संसार का हित करने वाले जिनभगवान् को परम भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अमूढ़दृष्टि अंग का पालन करने वाली रेवती रानी की कथा लिखता हूँ। विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में मेघकूट नाम का एक सुन्दर शहर है। उसके राजा हैं चन्द्रप्रभ। चन्द्रप्रभ ने बहुत दिनों तक सुख के साथ अपना राज्य किया। एक दिन वे बैठे हुए थे कि एकाएक उन्हें तीर्थयात्रा करने की इच्छा हुई। राज्य का कारोबार अपने चन्द्रशेखर नाम के पुत्र को सौंपकर वे तीर्थयात्रा के लिए चल दिये। वे यात्रा करते हुए दक्षिण मथुरा में आये। उन्हें पुण्य से वहाँ गुप्ताचार्य के दर्शन हुए। आचार्य से चन्द्रप्रभ ने धर्मोपदेश सुना। उनके उपदेश का उन पर बहुत असर पड़ा। वे आचार्य के द्वारा–

प्रोक्तः परोपकारोऽत्र महापुण्याय भूतले। –ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात् परोपकार करना महान् पुण्य का कारण है, यह जानकर और तीर्थयात्रा करने के लिए एक विद्या को अपने अधिकार में रखकर क्षुल्लक बन गये ॥१–६॥

एक दिन उनकी इच्छा उत्तर मथुरा की यात्रा करने की हुई। जब वे जाने को तैयार हुए तब उन्होंने अपने गुरु महाराज से पूछा–हे दया के समुद्र! मैं यात्रा के लिए जा रहा हूँ, क्या आपको कुछ समाचार तो किसी के लिए नहीं कहना है? गुप्ताचार्य बोले–मथुरा में एक सूरत नाम के बड़े ज्ञानी और गुणी मुनिराज हैं, उन्हें मेरा नमस्कार कहना और सम्यग्दृष्टिनी धर्मात्मा रेवती के लिए मेरी धर्मवृद्धि कहना ॥७–९॥

क्षुल्लक ने और पूछा कि इसके सिवा और भी आपको कुछ कहना है क्या ? आचार्य ने कहा

भव्यसेनमुनेरेका-दशाङ्गश्रुतधारिणः। अन्येषामपि न प्रोक्तं किंचिदत्रास्ति कारणम् ॥११॥
सम्प्रधार्येति गत्वा च तत्र सुव्रतसन्मुनेः। प्रोक्त्वा तद्वन्दनां तस्य तुष्टो वात्सल्यतस्तराम् ॥१२॥
ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः। साधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले ॥१३॥
ततोऽसौ क्षुल्लकश्चापि विनोदेन विशिष्टधीः। लिङ्गमात्रमुनेर्भव्य-सेनस्य वसतिं गतः ॥१४॥
तेन विद्याप्रमत्तेन तस्मै सुब्रह्मचारिणे। न दत्ता धर्मवृद्धिश्च धिग्गर्वं कष्टकोटिदम् ॥१५॥
यत्र वाक्येपि दारिद्र्यं विवेकविकलात्मनि। प्राघूर्णकक्रिया तत्र स्वप्ने स्यादपि दुर्लभा ॥१६॥
सर्वदोषापहं जैनं ज्ञानं तस्य मदोभवः। सत्यं पुण्यविहीनानाममृतं च विषायते ॥१७॥
ततस्तस्य परीक्षार्थं बहिर्भूमिं प्रगच्छतः। प्रातः कुण्डीं समादाय पृष्टतश्चलितो व्रती ॥१८॥
मार्गे स्वविद्यया तस्य ब्रह्मचारी गुणोज्ज्वलः। कोमलैर्हरितैः स्निग्धैस्तृणाङ्कुरकदम्बकैः ॥१९॥
आच्छादितं महीपीठं दर्शयामास सर्वतः। तद्विलोक्य महीपीठं भव्यसेनो विनष्टधीः ॥२०॥

नहीं। तब क्षुल्लक ने विचारा कि क्या कारण है जो आचार्य ने एकादशांग के ज्ञाता श्री भव्यसेन मुनि तथा और-और मुनियों की रहते उन्हें कुछ नहीं कहा और केवल सूरत मुनि और रेवती के लिए ही नमस्कार किया तथा धर्मवृद्धि दी ? इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अस्तु। जो कुछ होगा वह आगे स्वयं मालूम हो जायेगा। यह सोचकर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक वहाँ से चल दिये। उत्तर मथुरा पहुँचकर उन्होंने सूरत मुनि को गुप्ताचार्य की वन्दना कह सुनाई। उससे सूरत मुनि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने चन्द्रप्रभ के साथ खूब वात्सल्य का परिचय दिया। उससे चन्द्रप्रभ को बड़ी खुशी हुई। बहुत ठीक कहा है ॥१०-१२॥

ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः।
साधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले ॥ -ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात् संसार में उन्हीं का जन्म लेना सफल है जो धर्मात्माओं से वात्सल्य-प्रेम करते हैं।

इसके बाद क्षुल्लक चन्द्रप्रभ एकादशांग के ज्ञाता, पर नाम मात्र के भव्यसेन मुनि के पास गये। उन्होंने भव्यसेन को नमस्कार किया। पर भव्यसेन मुनि ने अभिमान में आकर चन्द्रप्रभ को धर्मवृद्धि तक भी न दी। ऐसे अभिमान को धिक्कार है जिन अविचारी पुरुषों के वचनों में भी दरिद्रता है जो वचनों से भी प्रेमपूर्वक आये हुए अतिथि से नहीं बोलते-वे उनका और क्या सत्कार करेंगे ? उनसे तो स्वप्न में भी अतिथिसत्कार नहीं बन सकेगा। जैन शास्त्रों का ज्ञान सब दोषों से रहित है, निर्दोष है। उसे प्राप्त कर हृदय पवित्र होना ही चाहिए। पर खेद है कि उसे पाकर भी मान होता है। पर यह शास्त्र का दोष नहीं किन्तु यों कहना चाहिए कि पापियों के लिए अमृत भी विष हो जाता है। जो हो, तब भी देखना चाहिए कि इनमें कुछ भी भव्यपना है भी या केवल नाम मात्र के ही भव्य हैं? यह विचार कर दूसरे दिन सबेरे जब भव्यसेन कमण्डलु लेकर शौच के लिए चले तब उनके पीछे-पीछे चन्द्रप्रभ

एते त्वेकेन्द्रिया जीवाः प्रोक्ताः सन्ति जिनागमे। इत्युक्त्वात्रारुचिं कृत्वा गतस्तेषां तदोपरि ॥२१॥
ततः शौचक्षणे सोपि मायया कुण्डिकाजलम्। शोषयित्वा जगादैवं भो मुने नात्र विद्यते ॥२२॥
कुण्डिकायां जलं तस्मादेतस्मिंश्च सरोवरे। शौचं मृत्तिकया सार्द्धं कुरु त्वं सुमनोहरे ॥२३॥
भवत्वेवं भणित्वेति तत्र शौचं चकार सः। किं करोति न मूढात्मा कार्यं मिथ्यात्वदूषितः ॥२४॥
न स्यान्मुक्तिप्रदं ज्ञान-चारित्रं दुर्दृशामपि। उद्गतो भास्करश्चापि किं घूकस्य सुखायते ॥२५॥
मिथ्यादृष्टिश्रितं शास्त्रं कुमार्गाय प्रवर्तते। तथा मृष्टं भवेत्कष्टं सुदुग्धं तुम्बिकागतम्? ॥२६॥
इत्यादिकं विचार्योच्चैः स्वचित्ते चतुरोत्तमः। मिथ्यादृष्टिं परिज्ञात्वा तं कुमार्गविधायिनम् ॥२७॥
भव्यसेनस्य तस्यैवा-भव्यसेन इति व्रती। चक्रे नाम दुराचारात्किं न कष्टं प्रवर्तते ॥२८॥

क्षुल्लक भी हो लिए। आगे चलकर क्षुल्लक महाशय ने अपने विद्याबल से भव्यसेन के आगे की भूमि को कोमल और हरे-हरे तृणों से युक्त कर दिया। भव्यसेन उसकी कुछ परवाह न कर और यह विचार कर कि जैनशास्त्रों में तो इन्हें एकेन्द्री कहा है, इनकी हिंसा का विशेष पाप नहीं होता, उस पर से निकल गए। आगे चलकर जब वे शौच हो लिए और शुद्धि के लिए कमण्डलु की ओर देखा तो उसमें जल नहीं और वह औंधा पड़ा हुआ है, तब तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। इतने में एकाएक क्षुल्लक महाशय भी उधर आ निकले। कमण्डलु का जल यद्यपि क्षुल्लकजी ने ही अपने विद्याबल से सुखा दिया था, तब भी वे बड़े आश्चर्य के साथ भव्यसेन से बोले-मुनिराज, पास ही एक निर्मल जल का सरोवर भरा हुआ है, वहीं जाकर शुद्धि कर लीजिए न? भव्यसेन ने अपने पदस्थ पर, अपने कर्तव्य पर कुछ भी ध्यान न देकर जैसा क्षुल्लक ने कहा, वैसा ही कर लिया। सच बात तो यह है- ॥१३-२३॥

किं करोति न मूढ़ात्मा कार्यं मिथ्यात्वदूषितः।
न स्यान्मुक्तिप्रदं ज्ञानं चरित्रं दुर्दशामपि॥
उद्गतो भास्करश्चापि किं घूकस्य सुखायते।
मिथ्यादृष्टेः श्रुतं शास्त्रं कुमार्गाय प्रवर्तते।
यथा मृष्टं भवेत्कष्टं सुदुग्धं तुम्बिकागतम् ॥ -ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात् मूर्ख पुरुष मिथ्यात्व के वश होकर कौन बुरा काम नहीं करते ? मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान और चारित्र मोक्ष का कारण नहीं होता। जैसे सूर्य के उदय से उल्लू को कभी सुख नहीं होता। मिथ्यादृष्टियों का शास्त्र सुनना, शास्त्राभ्यास करना केवल कुमार्ग में प्रवृत होने का कारण है। जैसे मीठा दूध भी तूबड़ी के सम्बन्ध से कड़वा हो जाता है। इन सब बातों को विचार क्षुल्लक ने भव्यसेन के आचरण से समझ लिया कि ये नाम मात्र के जैनी हैं, पर वास्तव में इन्हें जैनधर्म पर श्रद्धान नहीं, ये मिथ्यात्वी हैं। उस दिन से चन्द्रप्रभ ने भव्यसेन का नाम अभव्यसेन रखा। सच बात है दुराचार से क्या नहीं होता ? ॥२४-२८॥

ततोन्यस्मिन्दिने सोपि ब्रह्मचारी शुचिव्रतः। वरुणाख्यमहीनाथ-राज्ञी या रेवती सती ॥२९॥
तस्याश्चापि परीक्षार्थं पूर्वस्यां दिशि मायया। पद्मस्थितं चतुर्वक्त्रं महायज्ञोपवीतकम् ॥३०॥
वेदध्वनिसमायुक्तं सुरासुरनमस्कृतम्। ब्रह्मणो रूपमादाय संस्थितो निजलीलया ॥३१॥
तदाकर्ण्य च भूपाल-भव्यसेनादयो जनाः। गत्वा तद्वन्दनां चक्रुः प्रमोदेन जडाशयाः ॥३२॥
तदा वरुणभूपेन प्रेर्यमाणापि रेवती। सम्यक्त्वरत्नसंयुक्ता जिनभक्तिपरायणा ॥३३॥
मोक्षे तथात्मनि ज्ञाने वृत्ते श्रीवृषभेश्वरः। ब्रह्मा जिनागमे चेति सम्प्रोक्तो न परो नरः ॥३४॥
अयं कोपि महाधूर्त्तो जनानां चित्तरञ्जकः। इत्युक्त्वा सा गता नैव तत्र राज्ञी विचक्षणा ॥३५॥
तथान्ये दिवसे सोपि दक्षिणस्यां दिशि व्रती। गरुडस्थं चतुर्बाहु-शङ्खचक्रगदान्वितम् ॥३६॥
लसत्खड्गेन संयुक्तं सर्वदैत्यभयप्रदम्। दर्शयामास गूढात्मा वैष्णवं रूपमद्भुतम् ॥३७॥
पश्चिमस्यां दिशि प्रौढं वृषारूढं तथान्यदा। पार्वतीवदनाम्भोज-समीक्षणसमन्वितम् ॥३८॥
जटाजूटशिरोदेशं लम्बोदरविराजितम्। रूपं माहेश्वरं तेन दर्शितं च सुरैः स्तुतम् ॥३९॥
ततोन्यस्मिन्दिने धीमा-नुत्तरस्यां दिशि स्फुरत्। समवादिसृतिस्थं च प्रातिहार्यैर्विभूषितम् ॥४०॥
मानस्तंभादिभिर्मिथ्या-दृशां चेतोविडम्बनम्। सुरासुरनराधीश-समर्चितपदद्वयम् ॥४१॥

क्षुल्लक ने भव्यसेन की परीक्षा कर अब रेवती रानी की परीक्षा करने का विचार किया। दूसरे दिन उसने अपने विद्याबल से कमल पर बैठे हुए और वेदों का उपदेश करते हुए चतुर्मुख ब्रह्मा का वेष बनाया और शहर से पूर्व दिशा की ओर कुछ दूरी पर जंगल में वह ठहरा। यह हाल सुनकर राजा, भव्यसेन आदि सभी वहाँ गए और ब्रह्माजी को उन्होंने नमस्कार किया। उनकी चरण वंदना कर वे बड़े खुश हुए। राजा ने चलते समय अपनी प्रिया रेवती से भी ब्रह्माजी की वन्दना के लिए चलने को कहा था, पर रेवती सम्यक्त्व रत्न से भूषित थी, जिनभगवान् की अनन्यभक्त थी इसलिए वह नहीं गई। उसने राजा से कहा—महाराज, मोक्ष और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र को प्राप्त कराने वाला सच्चा ब्रह्मा जिनशासन में आदि जिनेन्द्र कहा गया है, उसके सिवा अन्य ब्रह्मा हो ही नहीं सकता और जिस ब्रह्मा की वन्दना के लिए आप जा रहे हैं, वह ब्रह्मा नहीं है किन्तु कोई धूर्त ठगने के लिए ब्रह्मा का वेष लेकर आया है। मैं तो नहीं चलूँगी ॥२९-३५॥

दूसरे दिन क्षुल्लक ने गरुड़ पर बैठे हुए, चतुर्बाहु, शंख, चक्र, गदा आदि से युक्त और दैत्यों को कँपाने वाले वैष्णव भगवान् का वेष बनाकर दक्षिण दिशा में अपना डेरा जमाया ॥३६-३७॥

तीसरे दिन उस बुद्धिमान् क्षुल्लक ने बैल पर बैठे हुए, पार्वती के मुख कमल को देखते हुए, सिर पर जटा रखाये हुए, गणपति युक्त और जिन्हें हजारों देव आ-आकर नमस्कार कर रहे हैं, ऐसा शिव का वेष धारण कर पश्चिम दिशा की शोभा बढ़ाई ॥३८-३९॥

चौथे दिन उसने अपनी माया से सुन्दर समवसरण में विराजे हुए, आठ प्रातिहार्यों से विभूषित, मिथ्यादृष्टियों के मान को नष्ट करने वाले मानस्तंभादि से युक्त, निर्ग्रन्थ और जिन्हें हजारों देव,

निर्ग्रन्थादिगुणोपेतं रूपं तीर्थेशिनः शुभम्। विद्यया दर्शयामास स क्षुल्लको जगदुत्तमम् ॥४२॥
तदानन्दभरेणोच्चै-र्वरुणाख्यमहीभुजा। सार्द्धं सर्वजनाः शीघ्रं भव्यसेनादयो गताः ॥४३॥
तद्भक्त्यर्थं तथा पौरैः प्रेर्यमाणापि रेवती। जगाद त्रिजगत्सार-सम्यक्त्वेन विराजिता ॥४४॥
अहो जिनागमे प्रोक्ताश्चतुर्विंशतिरेव च। श्रीमत्तीर्थंकरा देवाः सर्वदेवेन्द्रवन्दिताः ॥४५॥
नवैव वासुदेवाश्च रुद्राश्चैकादश स्मृताः। ते सर्वे तु यथास्थानं सम्प्राप्ताः स्वगुणैः क्रमात् ॥४६॥
अतः कोपि समायातो मूढानां मूढताप्रदः। जनानां वञ्चने चंचु-रेष पाखण्डमण्डितः ॥४७॥
इत्युक्त्वा सा स्थिता गेहे राज्ञी सम्यक्त्वशालिनी। किं कदा चलिता वातैर्निश्चला मेरुचूलिका ॥४८॥
ततः क्षुल्लकरूपेण स व्रती मायया पुनः। महाव्याधिग्रहग्रस्त-परेद्युर्व्रतभूषितः ॥४९॥
रेवत्या प्राङ्गणे चर्या-वेलायां भोजनाय च। आगच्छन्मूर्छयाक्रान्तः स पपात महीतले ॥५०॥
तं विलोक्य तदा राज्ञी रेवती धर्मवत्सला। हा हा कारं विधायोच्चैः शीघ्रमागत्य भक्तितः ॥५१॥
कृत्वा सचेतनं चारु-शीतवातादिभिस्ततः। नयति स्म गृहान्तस्तु महाकारुण्यमण्डिता ॥५२॥
सा तस्मै प्रासुकाहारं सरसं विधिपूर्वकम्। ददौ कारुण्ययुक्तानां युक्तं दाने मतिः सदा ॥५३॥

विद्याधर, चक्रवर्ती आ-आकर नमस्कार करते हैं, ऐसा संसार श्रेष्ठ तीर्थंकर का वेष बनाकर उत्तर दिशा को अलंकृत किया। तीर्थंकर भगवान् का आगमन सुनकर सबको बहुत आनन्द हुआ। सब प्रसन्न होते हुए भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना करने को गए। राजा, भव्यसेन आदि भी उनमें शामिल थे। तीर्थंकर भगवान् के दर्शनों के लिए भी रेवती रानी को न जाती हुई देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुतों ने उससे चलने के लिए आग्रह भी किया, पर वह न गई कारण, वह सम्यक्त्वरूप मौलिक रत्न से भूषित थी, उसे जिनभगवान् के वचनों पर पूरा विश्वास था कि तीर्थंकर परम देव चौबीस ही होते हैं और वासुदेव नौ और रुद्र ग्यारह होते हैं। फिर उनकी संख्या को तोड़ने वाले ये दसवें वासुदेव, बारहवें रुद्र और पच्चीसवें तीर्थंकर आ कहाँ से सकते हैं? वे तो अपने-अपने कर्मों के अनुसार जहाँ उन्हें जाना था वहाँ चले गए। फिर यह नई सृष्टि कैसी? इनमें न तो कोई सच्चा रुद्र है, न वासुदेव है और न तीर्थंकर है किन्तु कोई मायावी ऐन्द्रजालिक अपनी धूर्तता से लोगों को ठगने के लिए आया है। यह विचार कर रेवती रानी तीर्थंकर की वन्दना के लिए भी नहीं गई। सच है कहीं वायु से मेरु पर्वत भी चला है? ॥४०-४८॥

इसके बाद चन्द्रप्रभ, क्षुल्लक वेष ही में, पर अनेक प्रकार की व्याधियों से युक्त तथा अत्यन्त मलिन शरीर होकर रेवती के घर भिक्षा के लिए पहुँचे। आँगन में पहुँचते ही वे मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़े। उन्हें देखते ही धर्मवत्सला रेवती रानी हाय-हाय कहती हुई उनके पास दौड़ी गई और बड़ी भक्ति और विनय से उसने उन्हें उठाकर सचेत किया। इसके बाद अपने महल में ले जाकर बड़े कोमल और पवित्र भावों से उसने उन्हें प्रासुक आहार कराया। सच है जो दयावान् होते हैं उनकी बुद्धि दान देने में स्वभाव ही से तत्पर रहती है ॥४९-५३॥

भुक्त्वाहारं व्रती सोपि मायया प्रचुरं पुनः। चकार वमनं भूरि पूतिगन्धं सुदुस्सहम् ॥५४॥
अपथ्यं हा मयादत्तं पापिन्या व्रतिनेऽशनम्। इत्यात्मनो महानिन्दां कुर्वन्ती रेवती सती ॥५५॥
दूरीकृत्य तदा वान्तिं भक्त्या निःशङ्कमानसा। सुखोष्णतोयमादाय तद्वपुः क्षालनं व्यधात् ॥५६॥
तदा चन्द्रप्रभो सोपि ब्रह्मचारी दृढव्रतः। तस्याः सद्भक्तिमालोक्य सुधीर्हृष्ट्वा स्वचेतसि ॥५७॥
तां मायामुपसंहृत्य संजगाद लसद्वचः। महासन्तोषसन्दोह-दायकः परमादरात् ॥५८॥
भो देवि त्रिजगत्सार-गुप्ताचार्यस्य मद्गुरोः। धर्मवृद्धिः स्फुरत्सिद्धिः पुनातु तव मानसम् ॥५९॥
पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां त्वन्नाम्ना या मया कृता। धर्मानुरागतः सा ते भूयात्कल्याणदायिनी ॥६०॥
अमूढत्वं त्रिजगत्सारं संसाराम्भोधिपारदम्। दृष्टं मया तवागत्य व्यक्तं नाना प्रकारकैः ॥६१॥
अतस्ते त्रिजगत्पूज्यं सम्यक्त्वं केन वर्ण्यते। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चनकोविदे ॥६२॥
इत्यादिकं प्रशस्योच्चै-स्तां देवीं गुणशालिनीम्। प्रोक्त्वा सर्वं च वृत्तान्तं स्वस्थानं स व्रती गतः ॥६३॥
ततो वरुणभूपालः सूनवे शिवकीर्तये। दत्वा राज्यं जगद्वन्द्यं तपो धृत्वा जिनोदितम् ॥६४॥
जातो माहेन्द्रकल्पेसौ देवो दिव्याङ्गभासुर; श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-पूजनेऽतीव तत्परः ॥६५॥

क्षुल्लक को अब तक भी रेवती की परीक्षा से सन्तोष नहीं हुआ। सो उन्होंने भोजन करने के साथ ही वमन कर दिया, जिसमें अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही थी क्षुल्लक की यह हालत देखकर रेवती को बहुत दुःख हुआ। उसने बहुत पश्चाताप किया कि न जाने क्या अपथ्य मुझ पापिनी के द्वारा दे दिया गया, जिससे इनकी यह हालत हो गई मेरी इस असावधानता को धिक्कार है। इस प्रकार बहुत कुछ पश्चाताप करके उसने क्षुल्लक का शरीर पोंछा और बाद में कुछ गरम जल से उसे धोकर साफ किया ॥५४-५६॥

क्षुल्लक रेवती की भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुए। वे अपनी माया समेट कर बड़ी खुशी के साथ रेवती से बोले-देवी, संसार श्रेष्ठ मेरे परम गुरु महाराज गुप्ताचार्य की धर्मवृद्धि तेरे मन को पवित्र करे, जो कि सब सिद्धियों की देने वाली है और तुम्हारे नाम से मैंने यात्रा में जहाँ-जहाँ जिनभगवान् की पूजा की है वह भी तुम्हें कल्याण की देने वाली हो ॥५७-६०॥

देवी, तुमने जिन संसार श्रेष्ठ और संसार समुद्र से पार करने वाले अमूढ़दृष्टि अंग को ग्रहण किया है, उसकी मैंने नाना तरह से परीक्षा की, पर उसमें तुम्हें अचल पाया तुम्हारे इस त्रिलोक पूज्य सम्यक्त्व की कौन प्रशंसा करने को समर्थ हैं? कोई नहीं। इस प्रकार गुणवती रेवती रानी की प्रशंसा कर और उसे सब हाल कहकर क्षुल्लक अपने स्थान चले गए ॥६१-६३॥

इसके बाद वरुण नृपति और रेवती रानी का बहुत समय सुख के साथ बीता। एक दिन राजा को किसी कारण से वैराग्य हो गया है। वे अपने शिवकीर्ति नामक पुत्र को राज्य सौंपकर और सब माया जाल तोड़कर तपस्वी बन गए। साधु बनकर उन्होंने खूब तपश्चर्या की और आयु के अन्त में समाधिमरण कर वे माहेन्द्र स्वर्ग में जाकर देव हुए ॥६४-६५॥

रेवती च महाराज्ञी जिनेन्द्रवचने रता। वैराग्येन समादाय जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ॥६६॥
क्रमेण तपसा ब्रह्म-स्वर्गे देवो महर्द्धिकः। संजातो जैनतीर्थेषु महायात्राविधायकः ॥६७॥
धर्मे श्रीजिनभाषिते शुचितरे स्वर्मोक्षसौख्यप्रदे देवेन्द्रैश्च नरेन्द्रखेचरतरैर्भक्त्या निसंसेविते।
भो भव्याः कुरुत प्रतीतिमतुलां चेदिच्छवः सत्सुखं त्यक्त्वा सर्वकुमार्गसङ्गमचिरं श्रीरेवतीवत्तराम् ॥६८॥

इति कथाकोशेऽमूढदृष्ट्यङ्गे श्रीमद्रेवतीकथा समाप्ता।

१०. श्रीजिनेन्द्रभक्तस्य कथा

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। वक्ष्ये जिनेन्द्रभक्तस्य सत्कथां सोपगूहने ॥१॥
सौराष्ट्रविषयेऽत्रैव सरसे सद्दयान्विते। श्रीमान्नेमिजिनेन्द्रस्य जन्मना सुपवित्रिते ॥२॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये राजा जातो यशोध्वजः। तस्य राज्ञी सुसीमाख्या रूपलावण्यमण्डिता ॥३॥
तयोः पुत्रः सुवीराख्यः सप्तव्यसनतत्परः। संजातः पापतः सोपि तस्करोत्करसेवितः ॥४॥
किं करोति पिता माता कुलं जातिश्च सर्वथा। भाविदुर्गतिदुःखानां कुले जन्मापि निष्फलम् ॥५॥
अथास्ति गौडदेशे च ताम्रलिप्ताभिधा पुरी। यत्र संतिष्ठते लक्ष्मीर्दानपूजायशस्करी ॥६॥

जिनभगवान् की परम भक्त महारानी रेवती भी जिनदीक्षा ग्रहण कर और शक्ति के अनुसार तपश्चर्या और आयु के अन्त में ब्रह्मस्वर्ग में जाकर महर्द्धिक देव हुए। भव्य पुरुषों, यदि तुम भी स्वर्ग या मोक्ष-सुख को चाहते हो, तो जिस तरह श्रीमती रेवती रानी ने मिथ्यात्व छोड़ा उसी तरह तुम भी मिथ्यात्व को छोड़कर स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले, अत्यन्त पवित्र और बड़े-बड़े देव विद्याधर, राजा महाराजाओं से भक्तिपूर्वक ग्रहण किए हुए जैनधर्म का आश्रय स्वीकार करो ॥६६-६८॥

१०. जिनेन्द्रभक्त की कथा

स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले श्रीजिनभगवान् को नमस्कार कर मैं जिनेन्द्रभक्त की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने कि सम्यग्दर्शन के उपगूहन अंग का पालन किया था ॥१॥

नेमिनाथ भगवान् के जन्म से पवित्र और दयालु पुरुषों से परिपूर्ण सौराष्ट्र देश के अन्तर्गत एक पाटलिपुत्र नाम का शहर था। जिस समय की कथा है, उस समय वहाँ के राजा यशोध्वज थे। उनकी रानी का नाम सुसीमा था। वह बड़ी सुन्दर थी। उसके एक पुत्र था। उसका नाम था सुवीर। बेचारी सुसीमा के पाप के उदय से वह महाव्यसनी और चोर हुआ। सच तो यह है जिन्हें आगे कुयोनियों के दुःख भोगना होता है, उनका न तो अच्छे कुल में जन्म लेना काम आता है और न ऐसे पुत्रों से बेचारे माता-पिता को सुख होता है ॥२-५॥

गोड़देश के अन्तर्गत ताम्रलिप्ता नाम की एक पुरी है। उसमें एक सेठ रहते थे। उनका नाम था जिनेन्द्रभक्त। जैसा उनका नाम था वैसे ही वे जिनभगवान् के भक्त थे भी। जिनेन्द्रभक्त सच्चे सम्यग्दृष्टि

श्रेष्ठी जिनेन्द्रभक्ताख्यो जिनभक्तिपरायणः। संजातस्तत्र सद्दृष्टिः श्रावकाचारसच्चणः ॥७॥
स्वर्मोक्षसस्यदं पूतं जिनोक्तं क्षेत्रसप्तकम्। तर्पयामास स श्रेष्ठी स्ववित्तजलदोत्करैः ॥८॥
जिनेन्द्रभवनोद्धार-प्रतिमापुस्तकस्तथा। सङ्घश्चतुर्विधश्चेति संप्रोक्तं क्षेत्रसप्तकम् ॥९॥
श्रेष्ठिनो विद्यते तस्य सम्यग्दृष्टेः शिरोमणेः। सप्तभूम्याश्रितोत्कृष्ट-प्रासादस्योपरिस्थिताः ॥१०॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य महायत्नेन रक्षिता। छत्रत्रयेण संयुक्ता प्रतिमा रत्ननिर्मिता ॥११॥
तस्याश्छत्रत्रयस्योच्चै-रुपरिप्रस्फुरद्द्युतिः। मणिर्वैडूर्यनामास्ति बहुमूल्यसमन्वितः ॥१२॥
तां वार्त्तां च समाकर्ण्य सुवीरस्तस्कराग्रणीः। स्वांस्तस्करान्प्रति प्राह तमानेतुं लसत्प्रभम् ॥१३॥
अहो कोपि समर्थोऽस्ति तच्छ्रुत्वा सूर्यनामकः। चोरो जगाद भो स्वामिन्नहं शक्रस्य मस्तकात् ॥१४॥
आनयामि क्षणार्धेन शिरोरत्नं सुनिर्मलम्। युक्तं ये तु दुराचाराः स्युस्ते दुष्कर्मतत्पराः ॥१५॥
ततोऽसौ सूर्यको धूर्त्तः कपटेन तदाज्ञया। धृत्वा क्षुल्लकरूपं च क्लेशतः क्षीणतां गतः ॥१६॥
पर्यटन्नगरग्राम-पत्तनेषु निरन्तरम्। लोकान्प्रतारयन्नुच्चैः स्फीतिं सन्दर्शयन्निजाम् ॥१७॥
क्रमेण ताम्रलिप्ताख्यां तां पुरीं प्राप्तवांस्ततः। श्रुत्वा जिनेन्द्रभक्तोसौ श्रेष्ठी तं वन्दितुं गतः ॥१८॥

थे और अपने श्रावक धर्म का बराबर सदा पालन करते थे। उन्होंने बड़े-बड़े विशाल जिनमन्दिर बनवाएँ, बहुत से जीर्ण मन्दिरों का उद्धार किया, जिनप्रतिमायें बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा करवाई और चारों संघों को खूब दान दिया, उनका खूब सत्कार किया ॥६-९॥

सम्यग्दृष्टि शिरोमणि जिनेन्द्रभक्त का महल सात मंजिला था। उसकी अन्तिम मंजिल पर एक बहुत ही सुन्दर जिन चैत्यालय था। चैत्यालय में श्री पार्श्वनाथ भगवान् की बहुत मनोहर और रत्नमयी प्रतिमा थी। उस पर तीन छत्र, जो कि रत्नों के बने हुए थे, बड़ी शोभा दे रहे थे। उन छत्रों पर एक वैडूर्यमणि नाम का अत्यन्त कान्तिमान् बहुमूल्य रत्न लगा हुआ था। इस रत्न का हाल सुवीर ने सुना। उसने अपने साथियों को बुलाकर कहा—सुनते हो, जिनेन्द्रभक्त सेठ के चैत्यालय में प्रतिमा पर लगे हुए छत्रों में एक रत्न लगा हुआ है, वह अमोल है। क्या तुम लोगों में से कोई उसे ला सकता है? सुनकर उनमें से एक सूर्य नाम का चोर बोला, यह तो एक अत्यन्त साधारण बात है। यदि वह रत्न इन्द्र के सिर पर भी होता, तो मैं उसे क्षणभर में ला सकता था। यह सच भी है कि जो जितने ही दुराचारी होते हैं वे उतना ही पाप कर्म भी कर सकते हैं ॥१०-१५॥

सूर्य के लिए रत्न लाने की आज्ञा हुई वहाँ से आकर उसने मायावी क्षुल्लक का वेष धारण किया। क्षुल्लक बनकर वह व्रत उपवासादि करने लगा। उससे उसका शरीर बहुत दुबला-पतला हो गया। इसके बाद वह अनेक शहरों और ग्रामों में घूमता हुआ और लोगों को अपने कपटी वेष से ठगता हुआ कुछ दिनों में ताम्रलिप्ता पुरी में आ पहुँचा। जिनेन्द्रभक्त सच्चे धर्मात्मा थे, इसलिए उन्हें धर्मात्माओं को देखकर बड़ा प्रेम होता था। उन्होंने जब इस धूर्त क्षुल्लक का आगमन सुना तो उन्हें

दृष्ट्वा तं क्षुल्लकं चापि मायया तपसा कृशम्। स्तुत्वा प्रणम्य सद्भक्त्या नयति स्म निजालयम् ॥१९॥
अहो धूर्त्तस्य धूर्त्तत्वं लक्ष्यते केन भूतले। यस्य प्रपञ्चतो गाढं विद्वान्सश्चापि वञ्चिताः ॥२०॥
ततो विलोक्य चोरोऽसौ तं मणिं विस्फुरत्प्रभम्। सन्तुष्टो स्वर्णकारो वा कनत्काञ्चनवीक्षणात् ॥२१॥
तदासौ श्रेष्ठिना तेन स्थापितः कपटव्रती। अनिच्छन्मायायाप्युच्चै-रक्षार्थं तत्र भक्तितः ॥२२॥
एकदासौ वणिग्वर्यः पृष्ट्वा तं क्षुल्लकं सुधीः। गन्तुं समुद्रयात्रायां पुरबाह्ये स्थितस्तदा ॥२३॥
स तस्करः समालोक्य कुटुम्बं कार्यव्यग्रकम्। अर्धरात्रौ समादाय तं मणिं निर्गतो गृहात् ॥२४॥
कोट्टपालैस्तदामार्गे दृष्टोसौ मणितेजसा। गृहीतुं च समारब्धो न समर्थः पलायितुम् ॥२५॥
रक्ष रक्षेति संजल्पन् श्रेष्ठिनः शरणं गतः। तदा जिनेन्द्रभक्तोऽसौ श्रुत्वा कोलाहलध्वनिम् ॥२६॥
ज्ञात्वा तं तस्करं धीमान्सम्यग्दृष्टिर्विशाम्पतिः। दर्शनोद्वाहनाशार्थं कोट्टपालान् जगाद च ॥२७॥
रे रे मूर्खा भवद्भिस्तु कृतं वाढं विरूपकम्। महातपस्विनश्चास्य तस्करत्वं यदीरितम् ॥२८॥
मद्वाक्येन समानीतो मणिश्चैतेन धीमता। महाचारित्ररत्नेन नित्यं सम्भावितात्मना ॥२९॥

बड़ी प्रसन्नता हुई वे उसी समय घर का सब कामकाज छोड़कर क्षुल्लक महाराज की वन्दना करने के लिए गए। उसे तपश्चर्या से क्षीण शरीर देखकर उनकी उस पर और अधिक श्रद्धा हुई उन्होंने भक्ति के साथ क्षुल्लक को प्रणाम किया और बाद वे उसे अपने महल लिवा लाये। सब बात यह है कि– ॥१६-१९॥

जिनकी धूर्तता से अच्छे-अच्छे विद्वान् भी जब ठगे जाते हैं, तब बेचारे साधारण पुरुषों की क्या मजाल जो वे उनकी धूर्तता का पता पा सकें ॥२०॥

क्षुल्लक जी ने चैत्यालय में पहुँच कर जब उस मणि को देखा तो उनका हृदय आनन्द के मारे बाँसों उछलने लगा। वे बहुत सन्तुष्ट हुए। जैसे सुनार अपने पास कोई रकम बनवाने के लिए लाये हुए पुरुष के पास का सोना देखकर प्रसन्न होता है क्योंकि उसकी नियत सदा चोरी की ओर ही लगी रहती है ॥२१॥

जिनेन्द्रभक्त को उसके मायाचार का कुछ पता नहीं लगा। इसलिए उन्होंने उसे बड़ा धर्मात्मा समझ कर और मायाचारी से क्षुल्लक के मना करने पर भी जबरन अपने जिनालय की रक्षा के लिए उसे नियुक्त कर दिया और आप उससे पूछकर समुद्रयात्रा करने के लिए चल पड़े ॥२२-२३॥

जिनेन्द्रभक्त के घर बाहर होते ही क्षुल्लक जी की बन पड़ी। आधी रात के समय आप उस तेजस्वी रत्न को कपड़ों में छुपाकर घर से बाहर हो गए। पर पापियों का पाप कभी नहीं छुपता। यही कारण था कि रत्न लेकर भागते हुए उसे सिपाहियों ने देख लिया। वे उसे पकड़ने को दौड़े। क्षुल्लक जी दुबले पतले तो पहले ही से हो रहे थे, इसलिए वे अपने को भागने में असक्त समझ लाचार होकर जिनेन्द्रभक्त की ही शरण में गए और प्रभो, बचाइये! बचाइये!! यह कहते हुए उनके पाँवों में गिर पड़े। जिनेन्द्रभक्त ने, 'चोर भागा जाता है! इसे पकड़ना' ऐसा हल्ला सुन करके जान लिया कि यह चोर है और क्षुल्लक वेष में लोगों को ठगता फिरता है। यह जानकर भी सम्यग्दर्शन की निन्दा के भय से जिनेन्द्रभक्त ने क्षुल्लक के पकड़ने को आए हुए सिपाहियों से कहा–आप लोग बड़े कम समझ के हैं!

इत्याकर्ण्य तमानम्य श्रेष्ठिनं गुणशालिनम्। कोट्टपालजना: शीघ्रं स्वस्थानं ते गतास्तत: ॥३०॥
श्रेष्ठी तस्मात्समादाय तं मणिं तेजसा युतम्। एकान्ते तं प्रति प्राह दुराचारसमन्वितम् ॥३१॥
रे रे नष्ट महाकष्ट धिक्ते पापिष्ठ चेष्टितम्। अन्यायेन रतो मूढो दुर्गतिं यास्यसि ध्रुवम् ॥३२॥
ये कृत्वा पातकं पापा: पोषयन्ति स्वकं भुवि। त्यक्त्वा न्यायक्रमं तेषां महादु:खं भवार्णवे ॥३३॥
कुमार्गकलितो लोक: क्षयं याति न संशय:। तीव्रतृष्णातुर: प्राणी त्वत्दृश: पापपण्डित: ॥३४॥
इत्यादिदुर्वचोवज्र-पातेनैव निहत्य च। चक्रे निष्कासनं तस्य स्वस्थानात्स गुणाकर: ॥३५॥
एवमन्यो महाभव्यो दुर्जनासक्तलम्पटै:। दर्शनस्यागते दोषे कुर्यादाच्छादनं श्रिये ॥३६॥
विमलतरजिनेन्द्रप्रोक्तमार्गेत्र दोषं वदति विगतबुद्धिर्यस्तु सोस्ति प्रमत्त:।
अमृतरससमानं शर्करादुग्धपानं कटु भवति न किं वा दुष्टपित्तज्वराणाम् ॥३७॥

इति कथाकोशे उपगूहनाङ्गे जिनेन्द्रभक्तस्य कथा समाप्ता।

११. श्रीवारिषेणमुने: कथा

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं नत्वा भक्त्या प्रवच्म्यहम्। सुस्थितिकरणाङ्गे च वारिषेणस्य सत्कथाम् ॥१॥

आपने बहुत बुरा किया जो एक तपस्वी को चोर बतला दिया। रत्न तो ये मेरे कहने से लाये हैं। आप नहीं जानते कि ये बड़े सच्चरित्र साधु हैं? अस्तु। आगे से ध्यान रखिये। जिनेन्द्रभक्त के वचनों को सुनते ही सब सिपाही लोग ठण्डे पड़ गए और उन्हें नमस्कार कर चलते बने ॥२४-३०॥

जब सब सिपाही चले गए तब जिनेन्द्रभक्त ने क्षुल्लक जी से रत्न लेकर एकान्त में उनसे कहा– बड़े दु:ख की बात है कि तुम ऐसे पवित्र वेष को धारण कर उसे ऐसे नीच कर्मों से लजा रहे हो? तुम्हें यही उचित है क्या? याद रक्खो, ऐसे अनर्थों से तुम्हें कुगतियों में अनन्त काल दु:ख भोगना पड़ेंगे। शास्त्रकारों ने पापी पुरुषों के लिए लिखा है कि– ॥३१-३२॥

अर्थात्–जो पापी लोग न्यायमार्ग को छोड़कर और पाप के द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, वे संसार समुद्र में अनन्त काल दु:ख भोगते हैं। ध्यान रक्खो कि अनीति से चलने वाले और अत्यन्त तृष्णावान् तुम सरीखे पापी लोग बहुत ही जल्दी नाश को प्राप्त होते हैं। तुम्हें उचित है, तुम बड़ी कठिनता से प्राप्त हुए इस मनुष्य जन्म को इस तरह बर्बाद न कर कुछ आत्म हित करो। इस प्रकार शिक्षा देकर जिनेन्द्रभक्त ने अपने स्थान से उसे अलग कर दिया ॥३३-३५॥

इसी प्रकार और भी भव्य पुरुषों को, दुर्जनों के मलिन कर्मों से निन्दा को प्राप्त होने वाले सम्यग्दर्शन की रक्षा करनी उचित है। जिनभगवान् का शासन पवित्र है, निर्दोष है, उसे जो सदोष बनाने की कोशिश करते हैं, वे मूर्ख हैं, उन्मत्त हैं। ठीक भी है उन्हें वह निर्दोष धर्म अच्छा जान भी नहीं पड़ता। जैसे पित्तज्वर वाले को अमृत के समान मीठा दूध भी कड़वा ही लगता है ॥३६-३७॥

११. वारिषेण मुनि की कथा

मैं संसारपूज्य जिनभगवान् को नमस्कार कर श्रीवारिषेण मुनि की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने

अथेह मगधदेशे निवेशे सारसम्पदाम्। पुरे राजगृहे नाम्ना सद्दृष्टिः श्रेणिकः प्रभुः ॥२॥
तद्राज्ञी चेलना नाम्ना सम्यक्त्वव्रतशालिनी। वारिषेणस्तयोः पुत्रः संजातेः श्रावकोत्तमः ॥३॥
एकदासौ चतुर्दश्यां रात्रौ तत्त्वविदाम्वरः। श्मशाने सोपवासश्च कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥४॥
तस्मिन्नेव दिने क्रीडां कर्तुं मगधसुन्दरी। विलासिनी वनं प्राप्ता श्रीकीर्त्तेः श्रेष्ठिनो गले ॥५॥
दृष्ट्वा हारं द्युतिस्फारं निस्सारं जन्म मे भुवि। विना हारेण चैतेन सञ्चिन्त्येति गृहं गता ॥६॥
सुदुःखिता स्थिता यावत्तावद्रात्रौ समागतः। विद्युच्चोरस्तदासक्तः संविलोक्य जगाद च ॥७॥
हे प्रिये त्वं स्थिता कष्टं कस्मात्तद् ब्रूहि कारणम्। तयोक्तं श्रेष्ठिनो हारं श्रीकीर्त्तेर्विलसत्प्रभम् ॥८॥
समानीय ददास्येव यदि त्वं प्राणवल्लभ। अस्ति मे जीवितं भर्त्ता भवस्यत्र च नान्यथा ॥९॥
तच्छ्रुत्वा तां समुद्धीर्य तस्करः साहसोद्धतः। गत्वा रात्रौ गृहीत्वा च तं हारं निजबुद्धितः ॥१०॥
मार्गे तत्तेजसा ज्ञात्वा समागच्छंश्च तस्करः। कोट्टपालैस्तथा धर्तुं प्रारब्धो गृहरक्षकैः ॥११॥

सम्यग्दर्शन के स्थितिकरण नामक अंग का पालन किया है। अपनी सम्पदा से स्वर्ग को नीचा दिखाने वाले मगधदेश के अन्तर्गत राजगृह नाम का एक सुन्दर शहर था। उसके राजा थे श्रेणिक। वे सम्यग्दृष्टि थे, उदार थे और राजनीति के अच्छे विद्वान् थे। उनकी महारानी का नाम चेलना था। वह भी सम्यक्त्वरूपी अमोल रत्न से भूषित थी, बड़ी धर्मात्मा, सती और विदुषी थी। उसके एक पुत्र था। उसका नाम था वारिषेण। वारिषेण बहुत गुणी था, धर्मात्मा श्रावक था एक बार सत्य को जानने वाला यह वारिषेण चतुर्दशी की रात्रि में उपवास सहित कायोत्सर्ग से श्मशान में स्थित था। एक दिन मगधसुन्दरी नाम की एक वेश्या राजगृह के उपवन में क्रीड़ा करने को आई हुई थी। उसने वहाँ श्रीकीर्ति नामक सेठ के गले में एक बहुत ही सुन्दर रत्नों का हार पड़ा हुआ देखा। उसे देखते ही मगधसुन्दरी उसके लिए लालायित हो उठी। उसे हार के बिना अपना जीवन निरर्थक जान पड़ने लगा। सारा संसार उसे हारमय दिखने लगा। वह उदास मुँह घर पर लौट आई। रात के समय उसका प्रेमी विद्युत्चोर जब घर पर आया तब उसने मगधसुन्दरी को उदास मुँह देखकर बड़े प्रेम से पूछा–प्रिये! आज मैं तुम्हें उदास देखता हूँ, क्या इसका कारण तुम बतलाओगी? तुम्हारी यह उदासी मुझे अत्यन्त दुःखी कर रही है ॥२-८॥

मगधसुन्दरी विद्युत् पर कटाक्षबाण चलाते हुए कहा–प्राणवल्लभ! तुम मुझे इतना प्रेम करते हो, पर मुझे तो जान पड़ता है कि यह सब तुम्हारा दिखाऊ प्रेम है और सचमुच तुम्हारा यदि मुझ पर प्रेम है तो कृपाकर श्रीकीर्ति सेठ के गले का हार, जिसे आज मैंने बगीचे में देखा है और जो बहुत ही सुन्दर है, लाकर मुझे दीजिये; जिससे मेरी इच्छा पूरी हो। तब ही मैं समझूँगी कि आप मुझ से सच्चा प्रेम करते हैं और तब ही मेरे प्राणवल्लभ होने के अधिकारी हो सकेंगे ॥९॥

मगधसुन्दरी के जाल में फँसकर उसे इस कठिन कार्य के लिए भी तैयार होना पड़ा। वह उसे सन्तोष देकर उसी समय वहाँ से चल दिया और श्रीकीर्ति सेठ के महल पर पहुँचा। वहाँ से वह श्रीकीर्ति के शयनागार में गया और अपनी कार्यकुशलता से उसके गले में से हार निकाल लिया और बड़ी फुर्ती

तदा पलायितुं तेभ्यो न समर्थः स पापधीः। वारिषेणकुमाराग्रे तं धृत्वाऽदृश्यतां गतः ॥१२॥
दृष्ट्वा ते तं तथाभूतं कोट्टपालादयो जगुः। नृपस्याग्रे कुमारोऽयं तस्करश्चेति भो प्रभो ॥१३॥
तच्छ्रुत्वा श्रेणिको भूपो महाकोपेन कम्पितः। पश्य भो पापिनश्चास्य दुश्चरित्रं दुरात्मनः ॥१४॥
क्व श्मशाने महाध्यानं वञ्चनं क्व च कष्टदम्। लोकानां किं न कुर्वन्ति वञ्चने ये तु चञ्चवः ॥१५॥
यौवराज्ये मया प्राज्ये स्थापनीयो महोत्सवैः। स चेदीदृग्विधः पुत्रः किं नु कष्टमतः परम् ॥१६॥
इत्युक्त्वासौ कुमारस्य मस्तकच्छेदनाय वै। आदेशं दत्तवांस्तूर्णं तेषां दुष्कर्मकारिणाम् ॥१७॥
नृपादेशात्समादाय श्मशाने मिलितास्ततः। चण्डालश्चण्डकर्माणश्चौराणां प्राणहारिणः ॥१८॥
तदैकेन गले तस्य वारिषेणस्य पापिना। गृहीतुं मस्तके क्षिप्तस्तीक्ष्णः खड्गः लसद्युतिः ॥१९॥

के साथ वहाँ से चल दिया। हार के दिव्य तेज को वह नहीं छुपा सका। सो भागते हुए उसे सिपाहियों ने देख लिया। वे उसे पकड़ने को दौड़े। वह भागता हुआ श्मशान की ओर निकल आया। वारिषेण इस समय श्मशान में कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। सो विद्युत्चोर मौका देखकर पीछे आने वाले सिपाहियों के पंजे से छूटने के लिए उस हार को वारिषेण के आगे पटक कर वहाँ से भाग खड़ा हुआ। इतने में सिपाही भी वहीं आ पहुँचे, जहाँ वारिषेण को हार के पास खड़ा देखकर भौचक्के से रह गए। वे उसे उस अवस्था में देखकर हँसे और बोले–वाह, चाल तो खूब खेली गई? मानों हम कुछ जानते ही नहीं। तुझे धर्मात्मा जानकर हम छोड़ जायेंगे। पर याद रखिये हम अपने मालिक की सच्ची नौकरी करते हैं। हम तुम्हें कभी नहीं छोड़ेंगे यह कहकर वे वारिषेण को बाँधकर श्रेणिक के पास ले गए और राजा से बोले–महाराज, ये हार चुराकर लिए जा रहा था, सो हमने इन्हें पकड़ लिया ॥१०–१३॥

सुनते ही श्रेणिक का चेहरा क्रोध के मारे लाल सुर्ख हो गया, उनके ओठ काँपने लगे, आँखों से क्रोध की ज्वालाएँ निकलने लगीं। उन्होंने गरज कर कहा–देखो, इस पापी का नीच कर्म जो श्मशान में जाकर ध्यान करता है और लोगों को, यह बतलाकर कि मैं बड़ा धर्मात्मा हूँ, ठगता है, धोखा देता है। पापी! कुल कलंक! देखा मैंने तेरा धर्म का ढोंग! सच है-दुराचारी, लोगों को धोखा देने के लिए क्या-क्या अनर्थ नहीं करते? जिसे मैं राज्यसिंहासन पर बिठाकर संसार का अधीश्वर बनाना चाहता था, वह इतना नीच होगा? इससे बढ़कर और क्या कष्ट हो सकता है? अच्छा जो इतना दुराचारी है और प्रजा को धोखा देकर ठगता है उसका जीवित रहना सिवा हानि के लाभदायक नहीं हो सकता इसलिए जाओ इसे ले जाकर मार डालो ॥१४–१७॥

अपने खास पुत्र के लिए महाराज की ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सब चित्र लिखे से होकर महाराज की ओर देखने लगे। सबकी आँखों में पानी भर आया। पर किस की मजाल जो उनकी आज्ञा का प्रतिवाद कर सके। जल्लाद लोग उसी समय वारिषेण को बध्यभूमि में ले गए। उनमें से एक ने तलवार खींचकर बड़े जोर से वारिषेण की गर्दन पर मारी, पर यह क्या आश्चर्य? जो उसकी गर्दन पर

तदा तत्पुण्यमाहात्म्यात्स खड्गः संपतन्नपि। पश्यत्सु सर्वलोकेषु पुष्पमाला बभूव च ॥२०॥
अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं याति भूतले। समुद्रः स्थलतामेति दुर्विषं च सुधायते ॥२१॥
शत्रुर्मित्रत्वमाप्नोति विपदा सम्पदायते। तस्मात्सुखैषिणो भव्याः पुण्यं कुर्वन्तु निर्मलम् ॥२२॥
पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपद्मद्वयार्चनम्। पात्रदानं तथा शील-रक्षणं सोपवासकम् ॥२३॥
तदाश्चर्यं समालोक्य सन्तुष्टास्ते सुरासुराः। अहो पुण्यमहोपुण्यं कुर्वन्तश्चेति संस्तवम् ॥२४॥
भ्रमद्भृङ्गसमाकीर्णां सुगन्धीकृतदिङ्मुखाम्। तस्योपरि महाभक्त्या पुष्टवृष्टिं प्रचक्रिरे ॥२५॥
पौरा ये तु महाशूराः परमानन्दनिर्भराः। साधु भो वारिषेणात्र चरित्रं ते मनोहरम् ॥२६॥
त्वं हि श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपङ्कजषट्पदः। श्रावकाचारशुद्धात्मा जिनधर्मविचक्षणः ॥२७॥
इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैर्महाधर्मानुरागतः। चक्रुस्ते संस्तुतिं तस्य सुपुण्यात्किं न जायते ॥२८॥
श्रेणिकोपि महाराजः श्रुत्वा तद्वृत्तमद्भुतम्। पश्चात्तापेन सन्तप्तो हा मया किं कृतं वृथा ॥२९॥
ये कुर्वन्ति जडात्मानः कार्यं लोकेऽविचार्य च। ते सीदन्ति महान्तोपि मादृशा दुःखसागरे ॥३०॥

बिल्कुल घाव नहीं हुआ किन्तु वारिषेण को उल्टा यह जान पड़ा–मानो किसी ने उस पर फूलों की माला फेंकी है। जल्लाद लोग देखकर दाँतों में अँगुली दबा गए। वारिषेण के पुण्य ने उसकी रक्षा की। सच है– ॥१८–२०॥

पुण्य के उदय से अग्नि जल बन जाती है, समुद्र स्थल हो जाता है, विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है और विपत्ति सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इसलिए जो लोग सुख चाहते हैं, उन्हें पवित्र कार्यों द्वारा सदा पुण्य उत्पन्न करना चाहिए ॥२१–२२॥

जिनभगवान् की पूजा करना, दान देना, व्रत-उपवास करना, सदा विचार पवित्र और शुद्ध रखना, परोपकार, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापकर्मों का न करना ये पुण्य उत्पन्न करने के कारण हैं ॥२३॥

वारिषेण की यह हालत देखकर सब उसकी जय जयकार करने लगे। देवों ने प्रसन्न होकर उस पर सुगंधित फूलों की वर्षा की। नगरवासियों को इस समाचार से बड़ा आनन्द हुआ। सबने एक स्वर से कहा कि, वारिषेण तुम धन्य हो, तुम वास्तव में साधु पुरुष हो, तुम्हारा चारित्र बहुत निर्मल है, तुम जिनभगवान् के सच्चे सेवक हो, तुम पवित्र पुरुष हो, तुम जैनधर्म के सच्चे पालन करने वाले हो। पुण्य-पुरुष, तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाये उतनी थोड़ी है। सच है, पुण्य से क्या नहीं होता? श्रेणिक ने जब इस अलौकिक घटना का हाल सुना तो उन्हें भी अपने अविचार पर बड़ा पश्चाताप हुआ। वे दुःखी होकर बोले– ॥२४–२९॥

जो मूर्ख लोग आवेश में आकर बिना विचारे किसी काम को कर बैठते हैं, वे फिर बड़े भी क्यों न हों, उन्हें मेरी तरह दुःख ही उठाने पड़ते हैं। इसलिए चाहे कैसा ही काम क्यों न हो, उसे बड़े विचार के साथ करना चाहिए। श्रेणिक बहुत कुछ पश्चाताप करके पुत्र के पास श्मशान में आए। वारिषेण

इत्यालोच्य समागत्य श्मशाने भूरिभीतिदे। अहो पुत्र मयाज्ञान-शून्येनात्र विनिर्मितम् ॥३१॥
यत्र त्वया महाधीरः क्षम्यतामिति वाग्भरैः। तं पुत्रं विनियोपेतं सत्क्षमां नयति स्म सः ॥३२॥
चन्दनं घृष्यमाणं च दह्यमानो यथागुरुः। न याति विक्रियां साधुः पीडितोपि तथापरैः ॥३३॥
ततो लब्धभयो विद्युच्चोरश्चागत्य भूपतिम्। नत्वा जगाद वृत्तान्तं स्वकीयं सुभटः स्फुटम् ॥३४॥

की पुण्यमूर्ति को देखते ही उनका हृदय पुत्र प्रेम से भर आया। उनकी आँखों से आँसू बह निकले। उन्होंने पुत्र को छाती से लगाकर रोते-रोते कहा–प्यारे पुत्र, मेरी मूर्खता को क्षमा करो! मैं क्रोध के मारे अन्धा बन गया था, इसलिए आगे पीछे का कुछ सोच विचार न कर मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया। पुत्र, पश्चाताप से मेरा हृदय जल रहा है, उसे अपने क्षमारूपी जल से बुझाओ! दुःख के समुद्र में मैं गोते खा रहा हूँ, मुझे सहारा देकर निकालो! ॥३०-३१॥

अपने पूज्य पिता की यह हालत देखकर वारिषेण को बड़ा कष्ट हुआ। वह बोला–पिताजी, आप यह क्या कहते हैं? आप अपराधी कैसे? आपने तो अपने कर्तव्य का पालन किया है और कर्तव्य पालन करना कोई अपराध नहीं है। मान लीजिए कि यदि आप पुत्र-प्रेम के वश होकर मेरे लिए ऐसे दण्ड की आज्ञा न देते, तो उससे प्रजा क्या समझती? चाहे मैं अपराधी नहीं भी था तब भी क्या प्रजा इस बात को देखती? वह तो यही समझती कि आपने मुझे अपना पुत्र जानकर छोड़ दिया। पिताजी, आपने बहुत ही बुद्धिमानी और दूरदर्शिता का काम किया है। आप की नीतिपरायणता देखकर मेरा हृदय आनन्द के समुद्र में लहरें ले रहा है। आपने पवित्र वंश की आज लाज रख ली। यदि आप ऐसे समय में अपने कर्तव्य से जरा भी खिसक जाते, तो सदा के लिए अपने कुल में कलंक का टीका लग जाता। इसके लिए तो आपको प्रसन्न होना चाहिए न कि दुःखी। हाँ इतना जरूर हुआ कि मेरे इस समय पापकर्म का उदय था; इसलिए मैं निरपराधी होकर भी अपराधी बना। पर इसका मुझे कुछ खेद नहीं क्योंकि– ॥३२॥

अवश्य ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्–वादीभसिंह

अर्थात्-जो जैसा कर्म करता है उसका शुभ या अशुभ फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। फिर मेरे लिए कर्मों का फल भोगना कोई नई बात नहीं है।

पुत्र के ऐसे उन्नत और उदार विचार सुनकर श्रेणिक बहुत आनन्दित हुए। वे सब दुःख भूल गए। उन्होंने कहा, पुत्र सत्पुरुषों ने बहुत ठीक लिखा है–

चन्दन को कितना भी घिसिये, अगुरु को खूब जलाइये, उससे उनका कुछ न बिगड़कर उल्टा उनमें से अधिक-अधिक सुगन्ध निकलेगी। उसी तरह सत्पुरुषों को दुष्ट लोग कितना ही सतावें, कितना ही कष्ट दें, पर वे उससे कुछ भी विकार को प्राप्त नहीं होते, सदा शान्त रहते हैं और अपनी बुराई करने वाले का भी उपकार ही करते हैं ॥३३॥

वारिषेण के पुण्य का प्रभाव देखकर विद्युत्चोर को बड़ा भय हुआ। उसने सोचा कि राजा को मेरा हाल मालूम हो जाने से वे मुझे बहुत कड़ी सजा देंगे। इससे यही अच्छा है कि मैं स्वयं ही जाकर

इदं मे चेष्टितं देव वेश्यासक्तस्य पापिनः। वारिषेणस्तु पुत्रस्ते शुद्धात्मा श्रावकोत्तमः ॥३५॥
तदा श्रीश्रेणिकः प्राह स्वपुत्रं प्रति सादरम्। आगच्छ पुत्र गच्छावः स्वगेहं सम्पदाभृतम् ॥३६॥
तेनोक्तं भो मया तात दृष्टं संसारचेष्टितम्। अतो मे श्रीजिनेन्द्राणां शरणं चरणद्वयम् ॥३७॥
भोक्तव्यं पाणिपात्रेण कर्त्तव्यं स्वात्मनो हितम्। गन्तव्यं च वने नित्यं स्थातव्यं मुनिमार्गतः ॥३८॥
इत्युक्त्वा वारिषेणोसौ संविरक्तो भवादितः। सूरदेवमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥३९॥
ततोसौ श्रीजिनेन्द्रोक्त-महाचारित्रतत्परः। कुर्वन्विहारमत्युच्चैर्भव्यान्सम्बोधयन्मुनिः ॥४०॥
ग्रामं पलासकूटाख्यं संप्राप्तश्चैकदा सुधीः। श्रेणिकस्य महीभर्तु-र्मन्त्री तत्रास्ति भूतिवाक् ॥४१॥

उनसे सब सच्चा-सच्चा हाल कह दूँ। ऐसा करने से वे मुझे क्षमा भी कर सकेंगे। यह विचार कर विद्युत्चोर महाराज के सामने जा खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर उनसे बोला-प्रभो, यह सब पापकर्म मेरा है। पवित्रात्मा वारिषेण सर्वथा निर्दोष है। पापिनी वेश्या के जाल में फँसकर ही मैंने यह नीच काम किया था; पर आज से मैं कभी ऐसा काम नहीं करूँगा। मुझे दया करके क्षमा कीजिए ॥३४-३५॥

विद्युत्चोर को अपने कृतकर्म के पश्चाताप से दुःखी देख श्रेणिक उसे अभय देकर अपने प्रिय पुत्र वारिषेण से बोले-पुत्र, अब राजधानी में चलो, तुम्हारी माता तुम्हारे वियोग से बहुत दुःखी हो रही होंगी ॥३६॥

उत्तर में वारिषेण ने कहा-पिताजी, मुझे क्षमा कीजिए। मैंने संसार की लीला देख ली। मेरी आत्मा उसमें और प्रवेश करने के लिए मुझे रोकती है। इसलिए मैं अब घर पर न जाकर जिनभगवान् के चरणों का आश्रय ग्रहण करूँगा। सुनिये, अब मेरा कर्तव्य होगा कि मैं हाथ ही में भोजन करूँगा, सदा वन में रहूँगा और मुनि मार्ग पर चलकर अपना आत्महित करूँगा। मुझे अब संसार में घूमने की इच्छा नहीं, विषयवासना से प्रेम नहीं। मुझे संसार दुःखमय जान पड़ता है, इसलिए मैं जान-बूझकर अपने को दुःखों में फँसाना नहीं चाहता क्योंकि-

निजे पाणौ दीपे लसति भुवि कूपे निपततां फलं किं तेन स्यादिति-जीवंधर चम्पू

अर्थात्-हाथ में प्रदीप लेकर भी यदि कोई कुएँ में गिरना चाहे, तो बतलाइए उस दीपक से क्या लाभ? जब मुझे दो अक्षरों का ज्ञान है और संसार की लीला से मैं अपरिचित नहीं हूँ; इतना होकर भी फिर मैं यदि उसमें फँसू, तो मुझसा मूर्ख और कौन होगा? इसलिए आप मुझे क्षमा कीजिए कि मैं आपकी पालनीय आज्ञा का भी बाध्य होकर विरोध कर रहा हूँ। यह कहकर वारिषेण फिर एक मिनट के लिए भी न ठहर कर वन की ओर चल दिया और श्रीसूरदेव मुनि के पास जाकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली ॥३७-३९॥

तपस्वी बनकर वारिषेण मुनि बड़ी दृढ़ता के साथ चारित्र का पालन करने लगे। वे अनेक देश-विदेशों में घूम-घूम कर धर्मोपदेश करते हुए एक बार पलाशकूट नामक शहर में पहुँचे। वहाँ श्रेणिक

तत्पुत्रः पुष्पडालाख्यो दानपूजापरायणः। दृष्ट्वा चर्यार्थमायातं तं मुनिं गुणशालिनम् ॥४२॥
ससंभ्रमं समुत्थाय तिष्ठ तिष्ठेति सम्वदन्। संस्थाप्य नवभिः पुण्यैः सप्तभिः स्वगुणैर्युतः ॥४३॥
प्रासुकं सरसाहारं भक्तितः परया मुदा। स तस्मै दत्तवान्दाता सुपात्राय सुखप्रदम् ॥४४॥
पुष्पडालस्ततो राज-पुत्रत्वाद्बालमित्रतः। भक्तितश्च तथा सार्धं मुनिना तेन गच्छता ॥४५॥
सोमिल्यां स्वस्त्रियं पृष्ट्वा सोनुव्रजनहेतवे। स्तोकमार्गं समादाय कुण्डिकां निर्गतो गृहात् ॥४६॥
पश्चादागन्तुकामोसौ मंत्रिपुत्रो जगौ पथि। पश्य देव पुरावाभ्यां क्रीडितं सरसीह च ॥४७॥
सच्छायः सफलस्तुङ्गो जनानां सौख्यदायकः। सुराजेव विभात्युच्चै-रयं चाम्रतरुः पुरः ॥४८॥
यत्रावाभ्यां समागत्य पूर्वं क्रीडा विनिर्मिता। शोभतेयं महीदेशो विस्तीर्णो वा सतां मनः ॥४९॥
इत्यादिकं मुहुश्चिह्नं दर्शयन्प्रणमन्पुनः। तच्चित्तं जानताप्युच्चैः स्वामिना तेन सादरम् ॥५०॥
धृत्वा करे सुवैराग्यं नीत्वा सत्तत्त्ववाग्भरैः। कृत्वा धर्मश्रुतिं जैनीं दीक्षां संग्राहितः सखा ॥५१॥
पठन्नपि महाशास्त्रं पालयन्नपि संयमम्। सोमिल्यां भामिनीं काणीं स्मरत्येव नवव्रती ॥५२॥

का मन्त्री अग्निभूति रहता था। उसका एक पुष्पडाल नाम का पुत्र था। वह बहुत धर्मात्मा था और दान, व्रत, पूजा आदि सत्कर्मों के करने में सदा तत्पर रहा करता था। वह वारिषेण मुनि को भिक्षार्थ आए हुए देखकर बड़ी प्रसन्नता के साथ उनके सामने गया और भक्तिपूर्वक उनका आह्वान कर उसने नवधा भक्ति सहित उन्हें प्रासुक आहार दिया। आहार करके जब वारिषेण मुनि वन में जाने लगे तब पुष्पडाल भी कुछ तो भक्ति से, कुछ बालपने की मित्रता के नाते से और कुछ राजपुत्र होने के लिहाज से उन्हें थोड़ी दूर पहुँचाने के लिए अपनी स्त्री से पूछकर उनके पीछे-पीछे चल दिया। वह दूर तक जाने की इच्छा न रहते हुए भी मुनि के साथ-साथ चलता गया क्योंकि उसे विश्वास था कि थोड़ी दूर जाने के बाद ये मुझे लौट जाने के लिए कहेंगे ही। पर मुनि ने उसे कुछ नहीं कहा, तब उसकी चिन्ता बढ़ गई उसने मुनि को यह समझाने के लिए, कि मैं शहर से बहुत दूर निकल आया हूँ, मुझे घर पर जल्दी लौट जाना है, कहा-कुमार, देखते हैं यह वहीं सरोवर है, जहाँ हम आप खेला करते थे; यह वही छायादार और उन्नत आम का वृक्ष है, जिसके नीचे आप हम बाललीला का सुख लेते थे और देखो, यह वही विशाल भूभाग है, जहाँ मैंने और आपने बालपन में अनेक खेल खेले थे इत्यादि अपने पूर्व परिचित चिह्नों को बार-बार दिखलाकर पुष्पडाल ने मुनि का ध्यान अपने दूर निकल आने की ओर आकर्षित करना चाहा, पर मुनि उसके हृदय की बात जानकर भी उसे लौट जाने को न कह सके। कारण, वैसा करना उनका मार्ग नहीं था। इसके विपरीत उन्होंने पुष्पडाल के कल्याण की इच्छा से उसे खूब वैराग्य का उपदेश देकर मुनिदीक्षा दे दी। पुष्पडाल मुनि हो गया, संयम का पालन करने लगा और खूब शास्त्रों का अभ्यास करने लगा; पर तब भी उसकी विषयवासना न मिटी, उसे अपनी स्त्री की बार-बार याद आने लगी। आचार्य कहते हैं कि- ॥४०-५२॥

धिक्कामं धिङ्महामोहं धिङ्भोगान्यैस्तु वञ्चितः। सम्मार्गेपि स्थितो जन्तुर्न जानाति निजं हितम् ॥५३॥
ततो द्वादशवर्षाणि तत्तपःसिद्धिहेतवे। गुरुस्तं कारयामास तीर्थयात्रां निजैः सह ॥५४॥
एकदा तौ मुनी श्रीमद्वर्धमानजिनेशिनः। समवादिसृतिं प्राप्तौ चक्रतुर्जिनवन्दनाम् ॥५५॥
तत्रस्थैर्जिनसद्भक्त्या सद्गन्धर्वसुधाशिभिः। गीयमानमिदं पद्यं शृणोति स्म लघुव्रती ॥५६॥
''मइल कुचेली दुम्मणी णाहे पवसियएण। कह जीवेसइ धणियधर वब्भंते विरहेण॥''
तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोसौ मुनिः कामाग्निपीडितः। सोमिल्यासक्तचेतस्कश्चक्रे चित्तं व्रतोन्मुखम् ॥५७॥
वरिषेणेन सुज्ञात्वा मानसं तस्य तादृशम्। चचाल स्वपुरीं नीत्वा तं स्थितीकरणाय च ॥५८॥
तमागच्छन्तमालोक्य मुनीन्द्रं शिष्यसंयुतम्। चारित्राच्चलितः किं वा पुत्रोऽयं चेलना सती ॥५९॥
सञ्चिन्त्य मानसे चेति परीक्षार्थं तदा ददौ। सरागवीतरागे द्वे आसने तस्य भक्तितः ॥६०॥
वीतरागासने धीमान्संस्थितो वारिषेणवाक्। मुनीन्द्रो न तपत्येव सतां भ्रान्तिः क्रियावधौ ॥६१॥
तदामृतरसस्वादु-हारिभिर्वचनोत्करैः। मातरं तोषयामास यतीन्द्रो विनयान्विताम् ॥६२॥

उस काम को, उस मोह को, उन भोगों को धिक्कार है, जिनके वश होकर उत्तम मार्ग से चलने वाले भी अपना हित नहीं कर पाते। यही हाल पुष्पडाल का हुआ, जो मुनि होकर भी वह अपनी स्त्री को हृदय से न भुला सका ॥५३॥

इसी तरह पुष्पडाल को बारह वर्ष बीत गए। उसकी तपश्चर्या सार्थक होने के लिए गुरु ने उसे तीर्थयात्रा करने की आज्ञा दी और उसके साथ वे भी चले। यात्रा करते-करते एक दिन वे भगवान् वर्धमान के समवसरण में पहुँच गए। भगवान् को उन्होंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उस समय वहाँ गंधर्वदेव भगवान् की भक्ति कर रहे थे। उन्होंने काम की निन्दा में एक पद्य पढ़ा। वह सब यह था– ॥५४-५६॥

''स्त्री चाहे मैली हो, कुचैली हो, हृदय की मलिन हो, पर वह भी अपने पति के प्रवासी होने पर, विदेश में रहने पर, पतिवियोग से वन-वन, पर्वतों-पर्वतों में मारी-मारी फिरती है अर्थात् काम के वश होकर नहीं करने के काम भी कर डालती है।''

उक्त पद्य को सुनते ही पुष्पडाल मुनि भी काम से पीड़ित होकर अपनी स्त्री की प्राप्ति के लिए अधीर हो उठे। वे व्रत से उदासीन होकर अपने शहर की ओर रवाना हुए। उनके हृदय की बात जानकर वारिषेण मुनि भी उन्हें धर्म में दृढ़ करने के लिए उनके साथ-साथ चल दिये ॥५७-५८॥

गुरु और शिष्य अपने शहर में पहुँचे। उन्हें देखकर सती चेलना ने सोचा-कि जान पड़ता है, पुत्र चारित्र से चलायमान हुआ है। नहीं तो ऐसे समय इसके यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? वह विचार कर उसने उसकी परीक्षा के लिए उसके बैठने को दो आसन दिये। उनमें एक काष्ठ का था और दूसरा रत्नजड़ित। वारिषेण मुनि रत्नजड़ित आसन पर न बैठकर काष्ठ के आसन पर बैठे। सच है- जो सच्चे मुनि होते हैं वे कभी ऐसा तप नहीं करते जिससे उनके आचरण में किसी को सन्देह हो। इसके बाद वारिषेण मुनि ने अपनी माता के सन्देह को दूर करके उनसे कहा-माता, कुछ समय के लिए मेरी

ततः प्राह मुनिर्मातर्मदीयान्तःपुरं परम्। आनीयतामिति श्रुत्वा सा सती चेलना तदा ॥६३॥
द्वात्रिंशद्गणनोपेतास्तद्भार्या रूपमण्डिताः। सालङ्काराः समानीय दर्शयामास सद्गुणाः ॥६४॥
कृत्वा नतिं ततस्तास्तु संस्थिताः सुयथाक्रमम्। गुरुः शिष्यं प्रति प्राह सावधानः प्रमादिनम् ॥६५॥
यौवराज्यमिदं प्राज्यमेता मे सारसम्पदः। सर्वं गृहाण चेत्तुभ्यं रोचते भो मुने ध्रुवम् ॥६६॥
तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोऽसौ मुनिर्लज्जाभरान्वितः। समुत्थाय गुरोपाद-द्वयं नत्वा जगाद च ॥६७॥
धन्यस्त्वं भो मुने स्वामिन्हतलोभमहाग्रहः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सारतत्त्वविदाम्वरः ॥६८॥
ये कुर्वन्ति महास्तोत्र मुक्त्वैताः सारसम्पदः। त्वादृशाः सुतपस्तेषां किं लोके यच्च दुर्लभम् ॥६९॥
सत्यं जन्मान्धकोहं च गृहीत्वा यत्तपोमणिम्। अक्ष्णा काणीं तु सोमिल्यां नात्यजन्निजचेतसः ॥७०॥
त्वया द्वादशवर्षाणि तपश्चक्रे सुनिर्मलम्। मया मूर्खेण तत्रैव तत्कृतं शल्यकश्मलम् ॥७१॥
अतोपराधिनो मे च प्रायश्चित्तं प्रदीयताम्। भवद्भिः करुणासारैर्यतो पापक्षयो भवेत् ॥७२॥
तदासौ वारिषेणश्च मुनीन्द्रो निश्चलव्रतः। संजगाद् वचो धीमान्परमानन्ददायकम् ॥७३॥
अहो धीर महादुःखं मा कुरु त्वं स्वचेतसि। दुष्टकर्मवशाज्जीवो विद्वान् क्वापि च मुह्यति ॥७४॥

सब स्त्रियों को यहाँ बुलवा लीजिये। महारानी ने वैसा ही किया। वारिषेण की सब स्त्रियाँ खूब वस्त्राभूषणों से सजकर उनके सामने आ उपस्थित हुई वे बड़ी सुन्दरी थीं। देवकन्यायें भी उनके रूप को देखकर लज्जित होती थीं। मुनि को नमस्कार कर वे सब उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा के लिए खड़ी रहीं ॥५९-६५॥

वारिषेण ने तब अपने शिष्य पुष्पडाल से कहा-क्यों देखते हो न? ये मेरी स्त्रियाँ हैं, यह राज्य है, यह सम्पत्ति है, यदि तुम्हें ये अच्छी जान पड़ती हैं, तुम्हारा संसार से प्रेम है, तो इन्हें तुम स्वीकार करो। वारिषेण मुनिराज का यह आश्चर्य में डालने वाला कर्तव्य देखकर पुष्पडाल बड़ा लज्जित हुआ। उसे अपनी मूर्खता पर बहुत खेद हुआ। वह मुनि के चरणों को नमस्कार कर बोला-प्रभो, आप धन्य हैं, आपने लोभरूपी पिशाच को नष्ट कर दिया है, आप ही ने जिनधर्म का सच्चा सार समझा है। संसार में वे ही बड़े पुरुष हैं, महात्मा हैं, जो आपके समान संसार की सब सम्पत्ति को लात मारकर वैरागी बनते हैं। उन महात्माओं के लिए फिर कौन वस्तु संसार में दुर्लभ रह जाती हैं? दयासागर, मैं तो सचमुच जन्मान्ध हूँ, इसीलिए तो मौलिक तपरत्न को प्राप्त कर भी अपनी स्त्री को चित्त से अलग नहीं कर सका। प्रभो, जहाँ आपने बारह वर्ष पर्यन्त खूब तपश्चर्या की वहाँ मुझ पापी ने इतने दिन व्यर्थ गँवा दिये-सिवा आत्मा को कष्ट पहुँचाने के कुछ नहीं किया। स्वामी, मैं बहुत अपराधी हूँ इसलिए दया करके मुझे अपने पाप का प्रायश्चित्त देकर पवित्र कीजिए। पुष्पडाल के भावों का परिवर्तन और कृतकर्म के पश्चाताप से उनके परिणामों की कोमलता तथा पवित्रता देखकर वारिषेण मुनिराज बोले-धीर! इतने दुःखी न बनिये। पापकर्मों के उदय से कभी-कभी अच्छे-अच्छे विद्वान् भी हतबुद्धि हो जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यही अच्छा हुआ जो तुम पीछे अपने मार्ग पर

इत्युक्त्वा तं समुद्धीर्य प्रायश्चित्तं यथागमम्। दत्वा तत्तपसश्चेति सुस्थितीकरणं व्यधात् ॥७५॥
पुष्पडालस्ततो धीमान्गुरुवाक्यप्रसादतः। महावैराग्यभावेन तपश्चक्रे सुदुःसहम् ॥७६॥
इत्थं चान्येन कर्त्तव्यं सुस्थितीकरणं श्रिये। केनापि कारणेनात्र पततो धर्मपर्वतात् ॥७७॥
येऽत्र भव्याः प्रकुर्वन्ति सुस्थितीकरणं परम्। स्वर्मोक्षफलदस्तैश्च सिञ्चितो धर्मपादपः ॥७८॥
शरीरसम्पदादीना-मस्थिराणां क्वचिद्भवेत्। रक्षणं शर्मदं धर्मे का कथा शर्मकोटिदे ॥७९॥
एवं ज्ञात्वा समुत्सृज्य प्रमादं दुःखकारणम्। कार्यं तद्धि महाभव्यैः संसाराम्भोधितारणम् ॥८०॥
श्रीमज्जैनपदाब्जयुग्ममधुलिट् श्रीवारिषेणो मुनिर्दत्वा तस्य मुनेस्तपोद्रिपततो हस्तावलम्बं दृढम्।
ज्ञानध्यानरतः प्रसिद्धमहिमा प्राप्तो वनं निर्मलं दद्यान्मे भवतारकः स भगवान्नित्यं सुखं मङ्गलम् ॥८१॥

इति कथाकोशे स्थितिकरणाङ्गे श्रीवारिषेणमुनेः कथा समाप्ता।

१२. श्रीविष्णुकुमारमुनेः कथा

श्रीजिनं भारतीं साधु-पादद्वैतं सुखप्रदम्। नत्वा विष्णुकुमारस्य वात्सल्याङ्गे कथां ब्रुवे ॥१॥

आ गए। इसके बाद उन्होंने पुष्पडाल मुनि को उचित प्रायश्चित्त देकर धर्म में स्थिर किया, अज्ञान के कारण सम्यग्दर्शन से विचलित देखकर उनका धर्म में स्थितिकरण किया ॥६६-७५॥

पुष्पडाल मुनि गुरु महाराज की कृपा से अपने हृदय को शुद्ध बनाकर बड़े वैराग्य भावों से कठिन-कठिन तपश्चर्या करने लगे, भूख-प्यास की कुछ परवाह न कर परीषह सहने लगे।

इसी प्रकार अज्ञान व मोह से कोई धर्मात्मा पुरुष धर्मरूपी पर्वत से गिरता हो, तो उसे सहारा देकर न गिरने देना चाहिए। जो धर्मज्ञ पुरुष इस पवित्र स्थितिकरण अंग का पालन करते हैं, समझो कि वे स्वर्ग और मोक्ष सुख के देने वाले धर्मरूपी वृक्ष को सींचते हैं। शरीर, सम्पत्ति, कुटुम्ब आदि अस्थिर हैं, विनाशक हैं इनकी रक्षा भी जब कभी-कभी सुख देने वाली हो जाती है तब अनन्तसुख देने वाली धर्म की रक्षा का कितना महत्त्व होगा, यह सहज में जाना जा सकता है। इसलिए धर्मात्माओं को दुःख देने वाले प्रमाद को छोड़कर संसार-समुद्र से पार करने वाले पवित्र धर्म का सेवन करना चाहिए ॥७६-८०॥

श्रीवारिषेण मुनि, जो कि सदा जिनभगवान् की भक्ति में लीन रहते थे, तप पर्वत से गिरते हुए पुष्पडाल मुनि को हाथ का सहारा देकर तपश्चर्या और ध्यानाध्ययन करने के लिए वन में चले गए, वे प्रसिद्ध महात्मा आत्मसुख प्रदान कर मुझे भी संसार-समुद्र से पार करें ॥८१॥

१२. विष्णुकुमार मुनि की कथा

अनन्त सुख प्रदान करने वाले जिनभगवान् जिनवाणी और जैन साधुओं को नमस्कार कर मैं वात्सल्य अंग के पालन करने वाले श्री विष्णुकुमार मुनिराज की कथा लिखता हूँ ॥१॥

अथेह भारते क्षेत्रेऽवन्ति देशे महापुरि। उज्जयिन्यां प्रभुर्जातः श्रीवर्मा श्रीमतिप्रियः ॥२॥
न्यायशास्त्रविचारज्ञो धार्मिको वैरिमर्दकः। प्रजानां पालने दक्षो दुष्टानां निग्रहे क्षमः ॥३॥
बलिर्बृहस्पतिस्तस्य प्रह्लादो नमुचिस्तथा। चत्वारो मन्त्रिणश्चेति संजाता धर्मशत्रवः ॥४॥
शोभते स्म स भूपालोऽधार्मिकैस्तैर्निसेवितः। पन्नगैर्वेष्टितो दुष्टैर्यथा चन्दनपादपः ॥५॥
एकदाकम्पनाचार्यो लसत्संज्ञानलोचनः। प्रसिञ्चन्भव्यसस्यौघान्स्ववाक्यामृतवर्षणैः ॥६॥
मुनीनां कामशत्रूणां संयुक्तः सप्तभिः शतैः। समागत्य तदुद्याने संस्थितः सुरपूजितः ॥७॥
वारितो गुरुणा तेन स्वसंघो विनयान्वितः। आगते भूमिपादौ च भवद्भिर्भो यतीश्वराः ॥८॥
सार्धं केनापि कर्त्तव्यं जल्पनं नैव साम्प्रतम्। अन्यथा सर्वसंघस्य विनाशोद्य भविष्यति ॥९॥
तदाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं लोकद्वयहितप्रदम्। मौनेन संस्थितास्तेऽपि मुनयो ध्यानमानसाः ॥१०॥
शिष्यास्तेऽत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः। प्रीतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत् ॥११॥

अवन्तिदेश के अन्तर्गत उज्जयिनी बहुत सुन्दर और प्रसिद्ध नगरी है। जिस समय का यह उपाख्यान है, उस समय उसके राजा श्रीवर्मा थे। वे बड़े धर्मात्मा थे, सब शास्त्रों के अच्छे विद्वान् थे, विचारशील थे, और अच्छे शूरवीर थे। वे दुराचारियों को उचित दण्ड देते और प्रजा का नीति के साथ पालन करते। सुतरां प्रजा उनकी बड़ी भक्त थी ॥२-३॥

उनकी महारानी का नाम था श्रीमती। वह भी विदुषी थी। उस समय की स्त्रियों में वह प्रधान सुन्दरी समझी जाती थी। उसका हृदय बड़ा दयालु था। वह जिसे दुःखी देखती, फिर उसका दुःख दूर करने के लिए जी जान से प्रयत्न करती। महारानी को सारी प्रजा देवी समझती थी।

श्रीवर्मा के राजमंत्री चार थे। उनके नाम थे बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि। ये चारों ही धर्म के कट्टर शत्रु थे। इन पापी मंत्रियों से युक्त राजा ऐसे जान पड़ते थे मानों जहरीले सर्प से युक्त जैसे चन्दन का वृक्ष हो ॥४-५॥

एक दिन ज्ञानी अकम्पनाचार्य देश-विदेशों में पर्यटन कर भव्य पुरुषों को धर्मरूपी अमृत से सुखी करते हुए उज्जयिनी में आए। उनके साथ सात सौ मुनियों का बड़ा भारी संघ था। वे शहर के बाहर एक पवित्र स्थान में ठहरे। अकम्पनाचार्य को निमित्तज्ञान से उज्जयिनी की स्थिति अनिष्ट कर जान पड़ी। इसलिए उन्होंने सारे संघ से कह दिया कि देखो, राजा वगैरह कोई आवे पर आप लोग उनसे वादविवाद न कीजियेगा। नहीं तो सारा संघ बड़े कष्ट में पड़ जायेगा, उस पर घोर उपसर्ग आएगा। गुरु की हितकर आज्ञा को स्वीकार कर सब मुनि मौन के साथ ध्यान करने लगे। सच है– ॥६-१०॥

वे शिष्य प्रशंसा के पात्र हैं, जो विनय और प्रेम के साथ अपने गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं। इसके विपरीत चलने वाले कुपुत्र के समान निन्दा के पात्र हैं ॥११॥

तदा पौराः समादाय पूजाद्रव्यं मनोहरम्। निर्गता वन्दनाभक्त्या तेषामानन्दनिर्भराः ॥१२॥
स्वप्रसादस्थितो राजा श्रीवर्मा वीक्ष्य ताञ्जगौ। अकालेऽपि क्व यात्येष पौरः पुष्पादिसंयुतः ॥१३॥
तच्छ्रुत्वा मंत्रिणः प्राहुर्दुष्टास्ते भूपतिं प्रति। देवोद्याने समायाता नित्यं नग्ना दिगम्बराः ॥१४॥
तत्र प्रयाति लोकोयं तदाकर्ण्य नृपोवदत्। तान्द्रष्टुं वयमप्युच्चै-र्गच्छामः कौतुकीमयान् ॥१५॥
इत्युक्त्वा मंत्रिभिः सार्धं गत्वा तत्र महीपतिः। तान्विलोक्य महाध्यान-सम्पन्नान्हृष्टमानसः ॥१६॥
प्रत्येकं भक्तितस्तेषां स चक्रे वन्दनां मुदा। केनापि मुनिना नैव दत्तमाशीर्वचस्तदा ॥१७॥
महाध्यानेन तिष्ठन्ति निस्पृहा मुनयस्तराम्। स कुर्वन्संस्तुतिं चेति व्याघुट्य चलितो नृपः ॥१८॥
तदा ते पापिनः प्राहुर्मंत्रिणो द्वेषिणः सताम्। एते देव किमप्यत्र वक्तुं जानन्ति नैव च ॥१९॥
ततो मौनं समादाय संस्थिताः कपटेन हि। हास्यं कृत्वेति तेनैव निर्गता भूभुजा समम् ॥२०॥
इन्द्रप्रतीन्द्रनागेन्दै-र्वन्दितानां मुनीशिनाम्। निन्दां कुर्वन्ति ये सत्यं दुर्जना भाषणोपमाः ॥२१॥
ततो मार्गे समालोक्य चर्यां कृत्वा मुनीश्वरम्। आगच्छन्तं जगुस्तेऽपि श्रुतसागरसंज्ञकम् ॥२२॥

अकम्पनाचार्य के आने के समाचार शहर के लोगों को मालूम हुए। वे पूजा द्रव्य लेकर बड़ी भक्ति के साथ आचार्य की वन्दना को जाने लगे। आज एकाएक अपने शहर में आनन्द की धूमधाम देखकर महल पर बैठे हुए श्रीवर्मा ने मंत्रियों से पूछा—ये सब लोग आज ऐसे सजधज कर कहाँ जा रहे हैं? उत्तर में मंत्रियों ने कहा—महाराज, सुना जाता है कि अपने शहर में नंगे जैन साधु आए हुए हैं। ये सब उनकी पूजा के लिए जा रहे हैं। राजा ने प्रसन्नता के साथ कहा—तब तो हमें भी चलकर उनके दर्शन करना चाहिए। वे महापुरुष होंगे। यह विचार कर राजा भी मंत्रियों के साथ आचार्य के दर्शन करने को गए। उन्हें आत्मध्यान में लीन देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने क्रम से एक-एक मुनि को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। सब मुनि अपने आचार्य की आज्ञानुसार मौन रहे। किसी ने भी उन्हें धर्मवृद्धि नहीं दी। राजा उनकी वन्दना कर वापस महल लौट चले। लौटते समय मंत्रियों ने उनसे कहा—महाराज, देखा साधुओं को? बेचारे बोलना तक भी नहीं जानते, सब नितान्त मूर्ख हैं। यही तो कारण है कि सब मौनी बैठे हुए हैं। उन्हें देखकर सर्व साधारण तो यह समझेंगे कि ये सब आत्मध्यान कर रहे हैं, बड़े तपस्वी हैं पर यह इनका ढोंग है। अपनी सब पोल न खुल जाये, इसलिए उन्होंने लोगों को धोखा देने को यह कपटजाल रचा है। महाराज, ये दाम्भिक हैं। इस प्रकार त्रैलोक्यपूज्य और परम शान्त मुनिराजों की निन्दा करते हुए ये मलिनहृदयी मंत्री राजा के साथ लौट के आ रहे थे कि रास्ते में इन्हें एक मुनि मिल गए, जो कि शहर से आहार करके लौट रहे थे, इन पापियों ने उनकी हँसी की, महाराज, देखिए वह एक बैल और पेट भरकर चला आ रहा है। मुनि ने मंत्रियों के निन्दा वचनों को सुन लिया। सुनकर भी उनका कर्तव्य था कि वे शान्त रह जाते, पर वे निन्दा न सह सकें। कारण वे आहार के लिए शहर में चले गए थे, इसलिए उन्हें अपने आचार्य की आज्ञा मालूम न थी। मुनि ने यह

बलीवर्दः समायाति पूर्णकुक्षिस्तु नूतनः। तदाकर्ण्य मुनीन्द्रेण ज्ञात्वा वादोद्धतांश्च तान् ॥२३॥
स्याद्वादवादिना तेन द्विजास्ते ज्ञानगर्विताः। निर्जिता भूपसान्निध्ये वाक्कल्लोलभरैर्निजैः ॥२४॥
एकेन तेन सर्वेपि निर्जिताश्चेति नाद्भुतम्। एको हि तिमिरश्रेणि-प्रक्षये भास्करः प्रभुः ॥२५॥
समागत्य गुरोः पार्श्वे स्ववृत्तान्तं जगौ हि सः। तच्छ्रुत्वा च गुरुः प्राह हा कृतं भो विरूपकम् ॥२६॥
हतस्त्वया स्वहस्तेन संघोयं शर्मदः सताम्। वादस्थाने त्वमेकाकी गत्वा रात्रौ यदि ध्रुवम् ॥२७॥
कायोत्सर्गेण सद्ध्यानं करोषि परमार्थतः। संघस्य जीवितं ते च विशुद्धिः संभवेत्तदा ॥२८॥
स धीरो मेरुवद्गाढं मुनिः श्रीश्रुतसागरः। श्रुत्वेति संघरक्षार्थं गत्वा तत्र तथा स्थितः ॥२९॥
तदा ते विप्रकाः सर्वे मानभङ्गेन लज्जिताः। मुनीनां मारणार्थं च रात्रौ गेहाद्विनिर्गताः ॥३०॥
मार्गे तं मुनिमालोक्य कायोत्सर्गेण संस्थितम्। येनास्माकं कृतो मान-भङ्गः सोयं तु हन्यते ॥३१॥
इत्यालोच्य मुनेस्तस्य वधार्थं दुष्टमानसाः। खङ्गानुत्थापयामासुश्चत्वारश्चैकवारतः ॥३२॥

समझ कर, कि इन्हें अपनी विद्या का बड़ा अभिमान है, उसे मैं चूर्ण करूँगा, कहा–तुम व्यर्थ क्यों किसी की बुराई करते हो? यदि तुममें कुछ विद्या हो, आत्मबल हो, तो मुझ से शास्त्रार्थ करो। फिर तुम्हें जान पड़ेगा कि बैल कौन है? भला वे भी तो राजमंत्री थे, उस पर भी दुष्टता उनके हृदय में कूट-कूटकर भरी हुई थी; फिर वे कैसे एक अकिंचन साधु के वचनों को सह सकते थे? उन्होंने कह तो दिया कि हम ने शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। अभिमान में आकर उन्होंने कह तो दिया कि हम शास्त्रार्थ करेंगे पर जब शास्त्रार्थ हुआ तब उन्हें जान पड़ा कि शास्त्रार्थ करना बच्चों का सा खेल नहीं है। एक ही मुनि ने अपने स्याद्वाद के बल से बात की बात में चारों मंत्रियों को पराजित कर दिया। सच है–एक ही सूर्य सारे संसार के अन्धकार को नष्ट करने के लिए समर्थ है ॥१२-२५॥

विजय लाभ कर श्रुतसागर मुनि अपने आचार्य के पास आए। उन्होंने रास्ते की सब घटना आचार्य से ज्यों की त्यों कह सुनाई सुनकर आचार्य खेद के साथ बोले–हाय! तुमने बहुत ही बुरा किया, जो उनसे शास्त्रार्थ किया। तुमने अपने हाथों से सारे संघ का घात किया, संघ की अब कुशल नहीं है। अस्तु, जो हुआ, अब यदि तुम सारे संघ की जीवन रक्षा चाहते हो, तो पीछे जाओ और जहाँ मंत्रियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ है, वहीं जाकर कायोत्सर्ग ध्यान करो। आचार्य की आज्ञा को सुनकर श्रुतसागर मुनिराज जरा भी विचलित नहीं हुए। वे संघ की रक्षा के लिए उसी समय वहाँ से चल दिये और शास्त्रार्थ की जगह पर आकर मेरु की तरह निश्चल हो बड़े धैर्य के साथ कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे ॥२६-२९॥

शास्त्रार्थ कर मुनि से पराजित होकर मंत्री बड़े लज्जित हुए। अपने मानभंग का बदला चुकाने का विचार कर मुनिवध के लिए रात्रि समय वे चारों शहर से बाहर हुए। रास्ते में श्रुतसागर मुनि ध्यान करते हुए मिले। पहले उन्होंने अपने मानभंग करने वाले ही को परलोक पहुँचा देना चाहा। उन्होंने मुनि की गर्दन काटने को अपनी तलवार को म्यान से खींचा और एक ही साथ उनका काम तमाम करने

तदा तत्पुण्यमाहात्म्यात्प्रकम्पितनिजासना। तथैव स्तंभयामास मंत्रिणः पुरदेवता ॥३३॥
प्रभातसमये श्रुत्वा लोकेभ्यो भूपतिस्तदा। मंत्रिणां दुश्चरित्रं तत्संदृष्ट्वा कीलितांश्च तान् ॥३४॥
बाधा निरपराधानां येऽत्र कुर्वन्ति पापिनः। प्रयान्ति नरकं घोरं दुस्सहं ते दुराशयाः ॥३५॥
सामान्यजन्तुहन्तॄणां मुखं दृष्टुं न युज्यते। किं पुनस्त्रिजगत्पूज्य-मुनिपीडाविधायिनाम् ॥३६॥
इत्युक्त्वा कुलमंत्रित्वाद्विप्रत्वाच्च न मारिताः। कोपेन कारयित्वाशु गर्दभारोहणं च तान् ॥३७॥
देशान्निर्घाटयामास श्रीवर्मा न्यायशास्त्रवित्। युक्तं पापप्रयुक्तानां जनानामीदृशी गतिः ॥३८॥
तं प्रभावं समालोक्य सर्वे भव्यजनास्तदा। संचक्रुः परमानन्दैर्जयकोलाहलध्वनिम् ॥३९॥
अथास्ति हस्तिनागाख्ये पुरे राजा सुधार्मिकः। महापद्मो गतच्छद्मा राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥४०॥
बभूवतुस्तयोः पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च शर्मदौ। एकदा स महापद्मो राजा राजीवलोचनः ॥४१॥

के विचार से उन पर वार करना चाहा कि, इतने में मुनि के पुण्य प्रभाव से पुरदेवी ने आकर उन्हें तलवार उठाये हुए ही कील दिये ॥३०-३४॥

प्रातःकाल होते ही बिजली की तरह सारे शहर में मंत्रियों की दुष्टता का हाल फैल गया। सब शहर उन्हें देखने को आया। राजा भी आए। सबने एक स्वर से उन्हें धिक्कारा। है भी तो ठीक, जो पापी लोग निरपराधों को कष्ट पहुँचाते हैं वे इस लोक में भी घोर दुःख उठाते हैं और परलोक में नरकों के असह्य दुःख सहते हैं। राजा ने उन्हें बहुत धिक्कार कर कहा–पापियों, जब तुमने मेरे सामने इन निर्दोष और संसार मात्र का उपकार करने वाले मुनियों की निन्दा की थी, तब मैं तुम्हारे विश्वास पर निर्भर रहकर यह समझा था कि संभव है मुनि लोग ऐसे ही हों, पर आज मुझे तुम्हारी नीचता का ज्ञान हुआ, तुम्हारे पापी हृदय का पता लगा। तुम इन्हीं निर्दोष साधुओं की हत्या करने को आए थे न? पापियों, तुम्हारा मुख देखना भी महापाप है। तुम्हें तुम्हारे इस घोर कर्म का उपयुक्त दण्ड तो यही देना चाहिए था कि जैसा तुम करना चाहते थे, वही तुम्हारे लिए किया जाता। पर पापियों, तुम ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हो और तुम्हारी कितनी ही पीढ़ियाँ मेरे यहाँ मंत्री पद पर प्रतिष्ठा पा चुकी हैं इसलिए उसके लिहाज से तुम्हें अभय देकर अपने नौकरों को आज्ञा करता हूँ कि वे तुम्हें गधों पर बैठाकर मेरे देश की सीमा से बाहर कर दें। राजा की आज्ञा का उसी समय पालन हुआ। चारों मन्त्री देश से निकलवा दिये गए। सच है–पापियों की ऐसी दशा होना उचित ही है ॥३५-३८॥

धर्म के ऐसे प्रभाव को देखकर लोगों के आनन्द का ठिकाना न रहा। वे अपने हृदय में बढ़ते हुए हर्ष के वेग को रोकने में समर्थ नहीं हुए। उन्होंने जयध्वनि के मारे आकाश पाताल को एक कर दिया। मुनिसंघ का उपद्रव टला। सबके चित्त स्थिर हुए। अकम्पनाचार्य भी उज्जयिनी से विहार कर गए ॥३९॥

हस्तिनापुर नाम का एक शहर है। उसके राजा हैं महापद्म, उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उसके पद्म और विष्णु नाम के दो पुत्र हुए ॥४०-४१॥

त्रिधा वैराग्यमासाद्य जिनपादाब्जयो रतः। दत्वा राज्यं सुधीर्ज्येष्ठ-पुत्राय परमार्थतः ॥४२॥
श्रुतसागरचन्द्राख्यं मुनिं नत्वा जगद्धितम्। सार्धं विष्णुकुमारेण जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥४३॥
श्रीमद्विष्णुकुमारोसौ मुनिः सद्ध्यानतत्परः। कुर्वंस्तपो जिनेन्द्रोक्तं संजातो विक्रयर्द्धिवाक् ॥४४॥
तदा पद्ममहीभर्त्तुः सद्राज्यं कुर्वतः सुखम्। विप्रास्ते तु समागत्य संजाता मंत्रिणः पुनः ॥४५॥
अन्यदा दुर्बलं वीक्ष्य पद्मराजानमब्रवीत्। बलिः किं देव दौर्बल्य-कारणं च प्रभुर्जगौ ॥४६॥
अस्ति कुंभपुरे राजा नाम्ना सिंहबलो महान्। दुष्टो दुर्गबलेनासौ मद्देशं हन्ति दारुणः ॥४७॥
ततो नृपाज्ञया सोपि बलिर्मंत्री स्वबुद्धितः। गत्वा दुर्गाश्रयं भङ्क्त्वा गृहीत्वा च महारिपुम् ॥४८॥
आगत्य नृपतिं प्राह सोयं सिंहबलः प्रभो। इत्याकर्ण्य जगौ राजा पद्माख्यो हृष्टमानसः ॥४९॥
प्रार्थय त्वं वरं धीर यत्तुभ्यं रोचते तराम्। तेनोक्तं प्रार्थयिष्यामि तदा मे दीयतां विभो ॥५०॥

एक दिन राजा संसार की दशा पर विचार कर रहे थे। उसकी अनित्यता और निस्सारता देखकर उन्हें बहुत वैराग्य हुआ। उन्हें संसार दुःखमय दिखने लगा। वे उसी समय अपने बड़े पुत्र पद्म को राज्य देकर अपने छोटे पुत्र विष्णुकुमार के साथ वन में चले गए और श्रुतसागर मुनि के पास पहुँचकर दोनों पिता-पुत्र ने दीक्षा ग्रहण कर ली। विष्णुकुमार बालपने से ही संसार से विरक्त थे इसलिए पिता के रोकने पर भी वे दीक्षित हो गए। विष्णुकुमार मुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे। कुछ दिनों बाद तपश्चर्या के प्रभाव से उन्हें विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो गई ॥४२-४४॥

पिता के दीक्षित हो जाने पर हस्तिनापुर का राज्य पद्मराज करने लगे। उन्हें सब कुछ होने पर भी एक बात का बड़ा दुःख था। वह यह कि, कुंभपुर का राजा सिंहबल उन्हें बड़ा कष्ट पहुँचाया करता था। उनके देश में अनेक उपद्रव किया करता था। उसके अधिकार में एक बड़ा भारी सुदृढ़ किला था। इसलिए वह पद्मराज की प्रजा पर एकाएक धावा मारकर अपने किले में जाकर छुप जाता है। तब पद्मराज उसका कुछ अनिष्ट नहीं कर पाते थे। इस कष्ट की उन्हें सदा चिन्ता रहा करती थी ॥४५-४७॥

इसी समय श्रीवर्मा के चारों मंत्री उज्जयिनी से निकलकर कुछ दिनों बाद हस्तिनापुर की ओर आ निकले। उन्हें किसी तरह राजा के इस दुःख सूत्र का पता लग गया। वे राजा से मिले और उन्हें चिन्ता से निर्मुक्त करने का वचन देकर कुछ सेना के साथ सिंहबल पर जा चढ़े और अपनी बुद्धिमानी से किले को तोड़कर सिंहबल को उन्होंने बाँध लिया और लाकर पद्मराज के सामने उपस्थित कर दिया। पद्मराज उनकी वीरता और बुद्धिमानी से बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उन्हें अपना मंत्री बनाकर कहा-कि तुमने मेरा उपकार किया है। तुम्हारा मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। यद्यपि उसका प्रतिफल नहीं दिया जा सकता, तब भी तुम जो कहो वह मैं तुम्हें देने को तैयार हूँ। उत्तर में बलि नाम के मंत्री ने कहा-प्रभो, आपकी हम पर कृपा है, तो हमें सब कुछ मिल चुका। इस पर भी आपका आग्रह है, तो उसे हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते। अभी हमें कुछ आवश्यकता नहीं है। जब समय होगा तब आपसे प्रार्थना करेंगे ही ॥४८-५०॥

अथैकदा समागत्य मुनिवृन्दैः समन्वितः। सुधीरकम्पनाचार्यो भव्यौघान्प्रतिबोधयन् ॥५१॥
संस्थितः पुरबाह्येसौ पौरास्तत्र महोत्सवैः। तान्वन्दितुं गताः सर्वे पूजाद्रव्यैः प्रमोदतः ॥५२॥
तदाकर्ण्य द्विजास्तेऽपि चक्रुश्चिन्तां स्वचेतसि। एतेषां भाक्तिको राजा भीत्वा मंत्रं विधाय च ॥५३॥
बलिः प्राह ततो भूपं दीयतां मे प्रभो वरम्। राज्यं सप्तदिनान्येव भवद्भिः सत्यसंयुतैः ॥५४॥
ततोसौ पद्मभूपालो वंचितस्तैः कुमंत्रिभिः। दत्वा राज्यं निजं तस्मै स्वयंः वान्तःपुरे स्थितः ॥५५॥
तैस्तदा राज्यमादाय कपटेन शठद्विजैः। मुनीनां मारणार्थं च वृत्या संवेष्ट्य तान्पुनः ॥५६॥

इसी समय श्री अकम्पनाचार्य अनेक देशों में विहार करते हुए और धर्मोपदेश द्वारा संसार के जीवों का हित करते हुए हस्तिनापुर के बगीचे में आकर ठहरे। सब लोग उत्सव के साथ उनकी वन्दना करने को गए। अकम्पनाचार्य के आने का समाचार राजमंत्रियों को मालूम हुआ। मालूम होते ही उन्हें अपने अपमान की बात याद हो आई उनका हृदय प्रतिहिंसा से उद्विग्न हो उठा। उन्होंने परस्पर में विचार किया कि समय बहुत उपयुक्त है, इसलिए बदला लेना ही चाहिए। देखो न, इन्हीं दुष्टों के द्वारा अपने को कितना दुःख उठाना पड़ा था? सबके हम धिक्कार पात्र बने और अपमान के साथ देश से निकाले गए। पर हाँ अपने मार्ग में एक काँटा है। राजा इनका बड़ा भक्त है। वह अपने रहते हुए इनका अनिष्ट कैसे होने देगा? इसके लिए कुछ उपाय सोच निकालना आवश्यक है। नहीं तो ऐसा न हो कि ऐसा अच्छा समय हाथ से निकल जाये? इतने में बलि मंत्री बोल उठा कि, इसकी आप चिन्ता न करें ॥५१-५३॥

अब सिंहबल के पकड़ लाने का पुरस्कार राजा से पाना बाकी है, उसकी ऐवज में उससे सात दिन का राज्य ले लेना चाहिए। फिर जैसा हम करेंगे वही होगा। राजा को उसमें दखल देने का कुछ अधिकार न रहेगा। यह प्रयत्न सबको सर्वोत्तम जान पड़ा। बलि उसी समय राजा के पास पहुँचा और बड़ी विनय से बोला–महाराज, आप पर हमारा एक पुरस्कार बाकी है। आप कृपाकर अब उसे दीजिये। इस समय उससे हमारा बड़ा उपकार होगा। राजा उसका कूट कपट न समझ और यह विचार कर, कि इन लोगों ने मेरा बड़ा उपकार किया था, अब उसका बदला चुकाना मेरा कर्तव्य है, बोला–बहुत अच्छा, जो तुम्हें चाहिए वह माँग लो, मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके तुम्हारे ऋण से उऋण होने का यत्न करूँगा। बलि बोला–महाराजा, यदि आप वास्तव में ही हमारा हित चाहते हैं, तो कृपा करके सात दिन के लिए अपना राज्य हमें प्रदान कीजिए ॥५४॥

राजा सुनते ही अवाक् रह गया। उसे किसी बड़े भारी अनर्थ की आशंका हुई पर अब वश ही क्या था? उसे वचनबद्ध होकर राज्य दे देना पड़ा। राज्य के प्राप्त होते ही उनकी प्रसन्नता का कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने मुनियों के मारने के लिए यज्ञ का बहाना बनाकर षड्यंत्र रचा जिससे कि सर्वसाधारण न समझ सकें ॥५५॥

मुनियों को बीच में रखकर यज्ञ के लिए एक बड़ा भारी मंडप तैयार किया गया। उनके चारों

कारयित्वा तृणैः काष्ठैः पापिष्ठैः मण्डपं ततः। वेदवाक्यैः समारब्धो यज्ञकः पशुघातकः ॥५७॥
तदा छागोद्भवैर्धूमै-रुत्थितैः खर्परादभिः। पीडिताः मुनयस्तेऽपि सन्यासं द्विविधं दृढम् ॥५८॥
गृहीत्वा संस्थिताश्चित्ते स्मरन्तः परमात्मनः। शत्रुमित्रसमाः सर्वे निश्चला मेरुवत्तराम् ॥५९॥
मिथिलायामथ ज्ञानी श्रुतसागरचन्द्रवाक्। मुनीन्द्रो व्योम्नि नक्षत्रं श्रवणं श्रमणोत्तमः ॥६०॥
कम्पमानं समालोक्यं हाहाकारं विधाय च। उपसर्गो मुनीन्द्राणां वर्तते महतां महान् ॥६१॥
इति प्राह तदाकर्ण्य पृष्टोसौ क्षुल्लकेन च। पुष्पदन्तेन भो देव कुत्र केषां गुरुर्जगौ ॥६२॥
हस्तिनागपुरेऽकम्प-नाचार्यादिमुनीशिनाम्। उपसर्गं कथं देव संक्षयं याति धीधनः ॥६३॥

ओर काष्ठ ही काष्ठ रखवा दिया गया। हजारों पशु इकट्ठे किए गए। यज्ञ आरम्भ हुआ। वेदों के जानकार बड़े-बड़े विद्वान् यज्ञ कराने लगे। वेदध्वनि से यज्ञमण्डप गूंजने लगा। बेचारे निरपराध पशु बड़ी निर्दयता से मारे जाने लगे। उनकी आहुतियाँ दी जाने लगीं। देखते-देखते दुर्गन्धित धुएँ से आकाश परिपूर्ण हुआ। मानों इस महापाप को न देख सकने के कारण सूर्य अस्त हुआ। मनुष्यों के हाथ से राज्य राक्षसों के हाथों में गया ॥५६-५८॥

सारे मुनिसंघ पर भयंकर उपसर्ग हुआ परन्तु उन शान्ति की मूर्तियों ने इसे अपने किए कर्मों का फल समझकर बड़ी धीरता के साथ सहना आरम्भ किया। वे मेरु समान निश्चल रहकर एक चित्त से परमात्मा का ध्यान करने लगे। सच है-जिन्होंने अपने हृदय को खूब उन्नत और दृढ़ बना लिया है जिनके हृदय में निरन्तर यह भावना बनी रहती है- ॥५९॥

अरि मित्र, महल मसान, कंचन काँच, निन्दन थुतिकरन।
अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन॥

वे क्या कभी ऐसे उपसर्गों से विचलित होते हैं? पाण्डवों को शत्रुओं ने लोहे के गरम-गरम आभूषण पहना दिये। अग्नि की भयानक ज्वाला उनके शरीर को भस्म करने लगी। पर वे विचलित नहीं हुए। धैर्य के साथ उन्होंने सब उपसर्ग सहा। जैन साधुओं का यही मार्ग है कि वे आए हुए कष्टों को शान्ति से सहे और वे ही यथार्थ साधु हैं, जिनका हृदय दुर्बल है, जो रागद्वेषरूपी शत्रुओं को जीतने के लिए ऐसे कष्ट नहीं सह सकते, दुःखों के प्राप्त होने पर समभाव नहीं रख सकते, वे न तो अपने आत्महित के मार्ग में आगे बढ़ पाते हैं और न वे साधुपद स्वीकार करने के योग्य हो सकते हैं।

मिथिला में श्रुतसागर मुनि को निमित्तज्ञान से इस उपसर्ग का हाल मालूम हुआ। उनके मुँह से बड़े कष्ट के साथ वचन निकले-हाय! हाय!! इस समय मुनियों पर बड़ा उपसर्ग हो रहा है। वहीं एक पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक भी उपस्थित थे। उन्होंने मुनिराज से पूछा-प्रभो, यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है? उत्तर में श्रुतसागर मुनि बोले-हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों का संघ ठहरा हुआ है। उसके संरक्षक अकम्पनाचार्य हैं। उस सारे संघ पर पापी बलि के द्वारा यह उपसर्ग किया जा रहा है ।

गुरुर्जगाद भो वत्स भूमिभूषणपर्वते। मुनिर्विष्णुकुमारोऽस्ति विक्रियर्द्धिप्रमण्डितः ॥६४॥
स तं निवारयत्येव मुनीनामुपसर्गकम्। तच्छ्रुत्वा क्षुल्लको गत्वा सर्वं तस्य मुनेर्जगौ ॥६५॥
ततो विष्णुकुमारेण विक्रियर्द्धिर्ममास्ति च। संचिन्त्येति परिक्षार्थं हस्तः स्वस्य प्रसारितः ॥६६॥
तदासौ भूधरं भित्वा समुद्रे पतितः करः। विक्रियर्द्धि ततो ज्ञात्वा मुनिः सद्धर्मवत्सलः ॥६७॥
गत्वा नागपुरं पद्मं भूपतिं प्रति चोक्तवान्। अहो भ्रातस्त्वया कष्टं किमारब्धं मुनीशिनाम् ॥६८॥
अस्मत्कुले पुरा केन निर्मितं नैव चेदृशम्। मुनीनामुपसर्गं रे कथं कारयसि त्वकम् ॥६९॥
शिष्टानां पालनं दुष्ट-निग्रहं यः करोत्यहो। कथ्यते स महीनाथो न पुनर्मुनिघातकः ॥७०॥
साधूनामत्र सन्तापो कष्टदो भवति ध्रुवम्। सुष्ठु तप्तं यथा तोयं दहत्यङ्गं न संशयः ॥७१॥
कुरु त्वं शान्तिमेतेषां यावत्ते नागतापदा। तदाकर्ण्य प्रभुः प्राह किं करोमि महामुने ॥७२॥
मया सप्त दिनान्येव स्वराज्यं बलिमंत्रिणे। दत्तं ततो भवान्नेव युक्तमुच्चैः करोतु च ॥७३॥

क्षुल्लक ने फिर पूछा–प्रभो, कोई ऐसा उपाय भी है, जिससे यह उपसर्ग दूर हो?

मुनि ने कहा–हाँ उसका एक उपाय है। भूमि भूषण पर्वत पर श्री विष्णुकुमार मुनि को विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो गई है, वे अपनी ऋद्धि के बल से उपसर्ग को रोक सकते है ॥६०–६५॥

पुष्पदन्त फिर एक क्षणभर भी वहाँ न ठहरे और जहाँ विष्णुकुमार मुनि तपश्चर्या कर रहे थे, वहाँ पहुँचे। पहुँचकर उन्होंने सब हाल विष्णुकुमार मुनि से कह सुनाया। विष्णुकुमार को ऋद्धि प्राप्त होने की पहले खबर नहीं हुई थी। पर जब पुष्पदन्त के द्वारा उन्हें मालूम हुआ, तब उन्होंने परीक्षा के लिए एक हाथ पसारकर देखा। पसारते ही उनका हाथ बहुत दूर तक चला गया। उन्हें विश्वास हुआ। वे उसी समय हस्तिनापुर आए और अपने भाई से बोले–भाई, आप किस नींद में सोते हुए हो? जानते हो, शहर में कितना बड़ा भारी अनर्थ हो रहा है? अपने राज्य में तुमने ऐसा अनर्थ क्यों होने दिया? क्या पहले किसी ने भी अपने कुल में ऐसा घोर अनर्थ आज तक किया है? हाय! धर्म के अवतार, परम शान्त और किसी से कुछ लेते देते नहीं, उन मुनियों पर यह अत्याचार? और वह भी तुम सरीखे धर्मात्माओं के राज्य में? खेद! भाई, राजाओं का धर्म तो यह कहा गया है कि वे सज्जनों की, धर्मात्माओं की रक्षा करें और दुष्टों को दण्ड दें। पर आप तो बिल्कुल इससे उल्टा कर रहे हैं। समझते हो, साधुओं का सताना ठीक नहीं। ठण्डा जल भी गरम होकर शरीर को जला डालता है इसलिए जब तक आपत्ति तुम पर न आवे, उसके पहले ही उपसर्ग शान्ति करवा दीजिये ॥६६–७१॥

अपने भाई का उपदेश सुनकर पद्मराज बोले–मुनिराज, मैं क्या करूँ? मुझे क्या मालूम था कि ये पापी लोग मिलकर मुझे ऐसा धोखा देंगे? अब तो मैं बिल्कुल विवश हूँ। मैं कुछ नहीं कर सकता। सात दिन तक जैसा कुछ ये करेंगे वह सब मुझे सहना होगा क्योंकि मैं वचनबद्ध हो चुका हूँ। अब तो आप ही किसी उपाय द्वारा मुनियों का उपसर्ग दूर कीजिए। आप इसके लिए समर्थ भी हैं और सब

किं कथ्यते मया तत्र भवतां कार्यशालिनाम्। प्रोल्लसद्भास्करे भाति किं दीपेनाल्पतेजसा ॥७४॥
ततो विष्णुमुनिः सोपि विक्रयर्द्धिप्रभावतः। वामनब्राह्मणस्योच्चै-रूपमादाय लीलया ॥७५॥
कुर्वन्वेदध्वनिं गत्वा यज्ञस्थाने स्थितस्तदा। बलिस्तं वीक्ष्य सन्तुष्टः प्रोवाच वचनं शुभम् ॥७६॥
यत्तुभ्यं रोचते विप्र तन्मया दीयते वद। स प्राह वेदवेदाङ्ग-पारगो वामनो द्विजः ॥७७॥
देहि भो भूपते मह्यं भूमेः पादत्रयं मुदा। किं त्वया याचितं विप्र बहु प्रार्थय वाञ्छितम् ॥७८॥
लोकैः प्रेर्यमाणोपि याचते स्म तदेव सः। दानेनैतेन भो देव पूर्यतामिति साम्प्रतम् ॥७९॥
तदा बलिः प्रभुर्विप्र त्वं गृहाण निजेच्छया। भूमेः पादत्रयं चेति दत्तवांस्तत्करे जलम् ॥८०॥

जानते हैं। उसमें मेरा दखल देना तो ऐसा है जैसा सूर्य को दीपक दिखलाना। शीघ्रता कीजिए। विलम्ब करना उचित नहीं ॥७२-७४॥

विष्णुकुमार मुनि ने विक्रियाऋद्धि के प्रभाव से बामन ब्राह्मण का वेष बनाया और बड़ी मधुरता से वेदध्वनि का उच्चारण करते हुए वे यज्ञमंडप में पहुँचे। उनका सुन्दर स्वरूप और मनोहर वेदोच्चार सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए। बलि तो उन पर इतना मुग्ध हुआ कि उसके आनन्द का कुछ पार नहीं रहा। उसने बड़ी प्रसन्नता से उनसे कहा-महाराज, आपने पधारकर मेरे यज्ञ की अपूर्व शोभा कर दी। मैं बहुत खुश हुआ। आपको जो इच्छा हो, माँगिए। इस समय मैं सब कुछ देने को समर्थ हूँ ॥७५-७७॥

विष्णुकुमार बोले-मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ। मुझे अपनी जैसी कुछ स्थिति है, उसमें सन्तोष है। मुझे धन-दौलत की कुछ आवश्यकता नहीं। पर आपका जब इतना आग्रह हैं, तो आपको असन्तुष्ट करना भी मैं नहीं चाहता। मुझे केवल तीन पग पृथ्वी की आवश्यकता है। यदि आप कृपा करके उतनी भूमि मुझे प्रदान कर देंगे तो मैं उसमें टूटी-फूटी झोंपड़ी बनाकर रह सकूँगा। स्थान की निराकुलता से मैं अपना समय वेदाध्ययनादि में बड़ी अच्छी तरह बिता सकूँगा। बस, इसके सिवा मुझे और कुछ इच्छा नहीं है ॥७८॥

विष्णुकुमार की यह तुच्छ याचना सुनकर और-और ब्राह्मणों को उनकी बुद्धि पर बड़ा खेद हुआ। उन्होंने कहा भी कृपानाथ, आपको थोड़े में ही सन्तोष था, तब भी आप का यह कर्तव्य तो था कि आप बहुत कुछ माँग कर अपने जाति भाईयों का ही उपकार करते? उसमें आपका क्या बिगड़ जाना था?

बलि ने भी उन्हें समझाया और कहा कि आपने तो कुछ भी नहीं माँगा। मैं तो यह समझा था कि आप अपनी इच्छा से माँगते हैं, इसलिए जो कुछ माँगेंगे वह अच्छा ही माँगेंगे; परन्तु आपने तो मुझे बहुत ही हताश किया। यदि आप मेरे वैभव और मेरी शक्ति के अनुसार माँगते तो मुझे बहुत सन्तोष होता। महाराज, अब भी आप चाहें तो और भी अपनी इच्छानुसार माँग सकते हैं। मैं देने को प्रस्तुत हूँ ॥७९॥

विष्णुकुमार बोले-नहीं, मैंने जो कुछ माँगा है, मेरे लिए वही बहुत है। अधिक चाह नहीं। आपको देना ही है तो और बहुत से ब्राह्मण मौजूद हैं; उन्हें दीजिए। बलि ने कहा कि जैसी आपकी

ततः कोपेन तेनोच्चै-रेकः पादः सुराचले। द्वितीयश्चरणो दत्तो मानुषोत्तरपर्वते ॥८१॥
तृतीयश्चरणश्चेति विना स्थानं न चालितः। आकाशे तु तदा क्षोभः संजातो भुवनत्रये ॥८२॥
कम्पिताः पर्वताः सर्वे ससमुद्राः सभूमयः। प्रापुः संघट्टनं व्योम्नि विमानाश्चकिताः सुराः ॥८३॥
क्षम्यतां क्षम्यतां देव भीत्वा चेति सुरासुराः। समागत्य बलिं बध्वा पूजयन्ति स्म तत्क्रमो ॥८४॥
भक्त्या तदा मुनीन्द्राणामुपसर्गं विशिष्टधीः। शीघ्रं निवारयामास मुनिर्विष्णुकुमारवाक् ॥८५॥
स पद्मोपि महाराजो भयादागत्य वेगतः। विष्णोर्मुनेस्तथा तेषां पतितश्चरणद्वये ॥८६॥
मंत्रिणश्चेति चत्वारो मुक्त्वा दुष्टाशयं तदा। विष्णोरकम्पनाचार्य-मुनीनां पादपद्मयोः ॥८७॥
नत्वा सद्भावतस्त्यक्त्वा कष्टं मिथ्यामतं द्रुतम्। संजाताः श्रावकाः सर्वे जैनधर्मपरायणाः ॥८८॥
तथा विष्णुकुमारस्य पादपूजार्थमद्भुतम्। दत्तं वीणात्रयं देवैर्लोकानां शर्मदायकम् ॥८९॥
एवं भव्यात्मना भक्त्या मुन्यादीनां सुखप्रदम्। वात्सल्यं सर्वथा कार्यं स्वर्गमोक्षसुखश्रिये ॥९०॥
इत्थं श्रीजिनपादपङ्कजरतो धर्मानुरागान्वितः कृत्वा श्रीमुनिपुंगवेषु नितरां वात्सल्यमुद्यन्मतिः।
सम्प्राप्तः स्वपदं प्रमोदकलितः श्रीविष्णुनामामुनिर्भूयान्मे भवसिन्धुतारणपरः सन्मोक्षसौख्यश्रिये॥९१॥

इच्छा। आप अपने पाँवों से भूमि माप लीजिए। यह कहकर उसने हाथ में जल लिया और संकल्प कर उसे विष्णुकुमार के हाथ में छोड़ दिया। संकल्प छोड़ते ही उन्होंने पृथ्वी मापना शुरू की। पहला पाँव उन्होंने सुमेरु पर्वत पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, अब तीसरा पाँव रखने को जगह नहीं। उसे वे कहाँ रक्खें? उनके इस प्रभाव से सारी पृथ्वी काँप उठी, सब पर्वत चलायमान हो गए समुद्रों ने मर्यादा तोड़ दी, देवों और ग्रहों के विमान एक से एक टकराने लगे और देवगण आश्चर्य के मारे भौचक्के से रह गए। वे सब विष्णुकुमार के पास आए और बलि को बाँधकर बोले-प्रभो, क्षमा कीजिए! क्षमा कीजिए!! यह सब दुष्कर्म इसी पापी का है। यह आपके सामने उपस्थित है। बलि ने मुनिराज के पाँवों में गिरकर उनसे अपना अपराध क्षमा कराया और अपने दुष्कर्म पर बहुत पश्चाताप किया ॥८०-८४॥

विष्णुकुमार मुनि ने संघ का उपद्रव दूर किया। सबको शान्ति हुई राजा और चारों मंत्री तथा प्रजा के सब लोग बड़ी भक्ति के साथ अकम्पनाचार्य की वन्दना करने को गए। उनके पाँवों में पड़कर राजा और मंत्रियों ने अपना अपराध उनसे क्षमा कराया और उसी दिन से मिथ्या मत छोड़कर सब अहिंसामयी पवित्र जिनशासन के उपासक बने ॥८५-८८॥

देवों ने प्रसन्न होकर विष्णुकुमार की पूजन के लिए तीन बहुत ही सुन्दर स्वर्गीय वीणायें प्रदान की, जिनके द्वारा उनका गुणानुवाद गा-गाकर लोग बहुत पुण्य उत्पन्न करेंगे। जैसा विष्णुकुमार ने वात्सल्य अंग का पालन कर अपने धर्म बन्धुओं के साथ प्रेम का अपूर्व परिचय दिया, उसी प्रकार और भव्य पुरुषों को भी अपने और दूसरों के हित के लिए समय-समय पर दूसरों के दुःखों में शामिल होकर वात्सल्य, उदार प्रेम का परिचय देना उचित है। इस प्रकार जिनभगवान् के परमभक्त विष्णुकुमार ने धर्म प्रेम के वश हो मुनियों का उपसर्ग दूरकर वात्सल्य अंग का पालन किया और पश्चात् ध्यानाग्नि

इति कथाकोशे वात्सल्याङ्गे विष्णुकुमारमुनेः कथा समाप्ता।

१३. श्रीवज्रकुमारमुनेः कथा

प्रणम्य परमात्मानं श्रीजिनं त्रिजगद्गुरुम्। वक्ष्ये प्रभावनाङ्गेऽहं कथां वज्रकुमारजाम् ॥१॥
हस्तिनागपुरे रम्ये बलनाम्नो महीपतेः। पुरोहितोभवत्तस्य गरुडाख्यो विचक्षणः ॥२॥
तत्पुत्रः सोमदत्तोभून्नाना शास्त्रसरित्पतेः। पारगः परमानन्द-दायकः सज्जनादिषु ॥३॥
अहिच्छत्रपुरं गत्वा त्वेकदासौ विशालधीः। सुभूतिं मातुलं प्राह भो माम् विनयान्वितः ॥४॥
राजानं दुर्मुखाख्यं मे दर्शय त्वं कृपापरः। गर्वितेन प्रभुस्तेन दर्शितो नैव तस्य सः ॥५॥
ततोसौ गृहिलो भूत्वा सभायां भूपतेः स्वयम्। गत्वाशीर्वचनं तस्मै दत्वा पुण्यप्रभावतः ॥६॥
नाना शास्त्रप्रवीणत्वं स्वं प्रकाश्यैकहेलया। प्राप्तो मंत्रिपदं दिव्यं स्वशक्तिः शर्मदायिनी ॥७॥
तथाभूतं तमालोक्य सोमदत्तं स मातुलः। सुभूतिर्विधिना तस्मै यज्ञदत्तां सुतां ददौ ॥८॥
एकदा यज्ञदत्ताया गर्भिण्याया हृदोऽभवत्। आम्रपक्वफलास्वादे प्रावृषि स्त्रीस्वभावतः ॥९॥

द्वारा कर्मों का नाश कर मोक्ष गए। वे ही विष्णुकुमार मुनिराज मुझे भवसमुद्र से पार कर मोक्ष प्रदान करें ॥८९-९१॥

१३. वज्रकुमार की कथा

संसार के परम गुरु जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं प्रभावना अंग के पालन करने वाले श्री वज्रकुमार मुनि की कथा लिखता हूँ ॥१॥

जिस समय की यह कथा है, उस समय हस्तिनापुर के राजा थे बल। वह राजनीति के अच्छे विद्वान् थे, बड़े तेजस्वी थे और दयालु थे। उनके मंत्री का नाम था गरुड़। उसका एक पुत्र था। उनका नाम सोमदत्त था। वह सब शास्त्रों का विद्वान् था और सुन्दर भी बहुत था। उसे देखकर सब को बड़ा आनन्द होता था। एक दिन सोमदत्त अपने मामा सुभूति के यहाँ गया, जो कि अहिच्छत्रपुर में रहता था। उसने मामा से विनयपूर्वक कहा–मामाजी, यहाँ के राजा से मिलने की मेरी बहुत उत्कंठा है। कृपाकर आप उनसे मेरी मुलाकात करवा दीजिये न? सुभूति ने अभिमान में आकर अपने महाराज से सोमदत्त की मुलाकात नहीं कराई सोमदत्त को मामा की यह बात बहुत खटकी। आखिर वह स्वयं ही दुर्मुख महाराज के पास गया और मामा का अभिमान नष्ट करने के लिए राजा को अपने पाण्डित्य और प्रतिभाशालिनी बुद्धि का परिचय कराकर स्वयं भी उनका राजमंत्री बन गया। ठीक भी है सबको अपनी ही शक्ति सुख देने वाली होती है ॥२-७॥

सुभूति को अपने भानजे का पाण्डित्य देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई उसने उसके साथ अपनी यज्ञदत्ता नाम की पुत्री को ब्याह दिया। दोनों दम्पत्ति सुख से रहने लगे। कुछ दिनों बाद यज्ञदत्ता के गर्भ रहा ॥८-९॥

तान्यालोकितुं विप्रो गतश्चाम्रवनं तदा। अकालेऽपि सुधीरोऽत्र किं करोति न साहसम् ॥१०॥
तत्रान्वेषयता तेन सहकारद्रुमेषु च। एकोह्याम्रतरु-र्दृष्टः सुमित्रमुनिना श्रितः ॥११॥
नाना फलौघसम्पन्नो महद्भिः सेवितो महान्। शोभते स्म तरुः सोपि जैनधर्म इवापरः ॥१२॥
प्रभावोयं मुनेरस्य द्विजो ज्ञात्वेति चेतसि। तान्यादाय फलान्युच्चैः प्रेषयामास योषितः ॥१३॥
स्वयं स्थित्वा मुनेः पाद-मूलेसौ भक्तिनिर्भरः। नत्वा तं त्रिजगत्पूतं पृष्टवान्सोमदत्तवाक् ॥१४॥
भो मुने करुणासिन्धो सारं किं भुवनत्रये। तदहं श्रोतुमिच्छामि श्रीमतां मुखपद्मतः ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोसौ सुमित्राख्योवदत्तराम्। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-धर्म एव विचक्षण ॥१६॥
सोपि वत्स द्विधा प्रोक्तः स्वर्गमोक्षसुखप्रदः। मुनिश्रावकभेदेन भवभ्रमणनाशकः ॥१७॥
तत्राद्यो दशधा धर्मो मुनीनां गुणशालिनां। रत्नत्रयादिभिश्चैव जिनेन्द्रैः परिकीर्तितः ॥१८॥
दानपूजादिभिः शील-प्रोषधैश्च शुभश्रिये। भवेत्परोपकाराद्यैः श्रावकाणां वृषोत्तमः ॥१९॥

समय चातुर्मास का था। यज्ञदत्ता को दोहद उत्पन्न हुआ। उसे आम खाने की प्रबल उत्कण्ठा हुई स्त्रियों को स्वभाव से गर्भावस्था में दोहद उत्पन्न हुआ ही करते हैं। सो आम का समय न होने पर भी सोमदत्त वन में आम ढूँढ़ने को चला। बुद्धिमान् पुरुष असमय में भी अप्राप्त वस्तु के लिए साहस करते ही हैं। सोमदत्त वन में पहुँचा, तो भाग्य से उसे सारे बगीचे में केवल एक आम का वृक्ष फला हुआ मिला। उसके नीचे एक परम महात्मा योगिराज बैठे हुए थे। उनसे वह वृक्ष ऐसा जान पड़ता था, मानो मूर्तिमान् धर्म है। सारे वन में एक ही वृक्ष को फला हुआ देखकर उसने समझ लिया कि यह मुनिराज का प्रभाव है। नहीं तो असमय में आम कहाँ? वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उस पर से बहुत से फल तोड़कर अपनी प्रिया के पास पहुँचा दिये और आप मुनिराज को नमस्कार कर भक्ति से उनके पाँवों के पास बैठ गया। उसने हाथ जोड़कर मुनि से पूछा–प्रभो, संसार में सार क्या है? इस बात को आप के श्रीमुख से सुनने की मेरी बहुत उत्कण्ठा है। कृपाकर कहिए ॥१०–१५॥

मुनिराज बोले–वत्स, संसार में सार–आत्मा को कुगतियों से बचाकर सुख देने वाला, एक धर्म है। उसके दो भेद हैं–१. मुनिधर्म, २. श्रावक धर्म। मुनियों का धर्म–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग ऐसे पाँच महाव्रत तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप आदि दस लक्षण धर्म और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे तीन रत्नत्रय, पाँच समिति, तीन गुप्ति, खड़े होकर आहार करना, स्नान न करना, सहनशक्ति बढ़ाने के लिए सिर के बालों का हाथों से ही लुंचन करना, वस्त्र का न रखना आदि हैं और श्रावक धर्म–बारह व्रतों का पालन करना, भगवान् की पूजा करना, पात्रों को दान देना और जितना अपने से बन सके दूसरों पर उपकार करना, किसी की निन्दा बुराई न करना, शान्ति के साथ अपना जीवन बिताना आदि है। मुनिधर्म का पालन सर्वदेश करेंगे अर्थात् स्थावर जीवों की भी हिंसा वे नहीं करेंगे और श्रावक इसी व्रत का पालन एकदेश अर्थात् स्थूल रूप से करेगा। वह त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करेगा और स्थावर जीव–वनस्पति आदि को अपने काम लायक उपयोग में लाकर शेष की रक्षा करेगा ॥१६–१९॥

इत्यादिधर्मसद्भावं श्रुत्वा श्रीमुनिभाषितम्। महावैराग्यसम्पन्नो नत्वा तं मुनिनायकम् ॥२०॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं सर्वपापप्रणाशिनीम्। आगमाम्भोधिसत्पारं प्राप्तोसौ गुरुभक्तितः ॥२१॥
ततो नाभिगिरिं गत्वा सोमदत्तो महामुनिः। स्थित्वाऽऽतापनयोगेन सद्ध्याने संश्रितः सुधीः ॥२२॥
अथातो यज्ञदत्ता सा ब्राह्मणी सुषुवे सुतम्। दिव्यं शर्माकरं पूज्यं सुकाव्यं वा सतां मतिः ॥२३॥
एकदा सा समाकर्ण्य भर्तृवृत्तान्तमद्भुतम्। बन्धूनामग्रतो गत्वा जगादाश्रुविलोचना ॥२४॥
बन्धुवर्यैः समं गत्वा ततो नाभिगिरिं द्रुतम्। दृष्ट्वाऽऽतापनयोगेन संस्थितं मुनिसत्तमम् ॥२५॥

श्रावकधर्म परम्परा से मोक्ष का कारण है और मुनिधर्म द्वारा उसी पर्याय से भी मोक्ष जाया जा सकता है। श्रावक को मुनिधर्म धारण करना ही पड़ता है क्योंकि उसके बिना मोक्ष होता ही नहीं। जन्म-जरा-मरण का दुःख बिना मुनिधर्म के कभी नहीं छूटता। इसमें भी एक विशेषता है। वह यह कि जितने मुनि होते हैं, वे सब मोक्ष में ही जाते होंगे ऐसा नहीं समझना चाहिए। उसमें परिणामों पर सब बात निर्भर है। जिसके जितने-जितने परिणाम उन्नत होते जायेंगे और राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्मशत्रु नष्ट होकर अपने स्वभाव की प्राप्ति होती जायेगी वह उतना ही अन्तिम साध्य मोक्ष के पास पहुँचता जायेगा। पर यह पूर्ण रीति से ध्यान में रखना चाहिए कि मोक्ष होगा तो मुनिधर्म ही से।

इस प्रकार श्रावक और मुनिधर्म तथा उनकी विशेषताएँ सुनकर सोमदत्त को मुनिधर्म ही बहुत पसन्द आया। उसने अत्यन्त वैराग्य के वश होकर मुनिधर्म की ही दीक्षा ग्रहण की, जो कि सब पापों की नाश करने वाली है। साधु बनकर गुरु के पास उसने खूब शास्त्राभ्यास किया। सब शास्त्रों में उसने बहुत योग्यता प्राप्त कर ली। इसके बाद सोमदत्त मुनिराज नाभिगिरी नामक पर्वत पर जाकर तपश्चर्या करने लगे और परीषह सहन द्वारा अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाने लगे ॥२०-२२॥

इधर यज्ञदत्ता के पुत्र हुआ। उसकी दिव्य सुन्दरता और तेज को देखकर यज्ञदत्ता बड़ी प्रसन्न हुई। एक दिन उसे किसी के द्वारा अपने स्वामी के समाचार मिले। उसने वह हाल अपने घर के लोगों से कहा और उनके पास चलने के लिए उनसे आग्रह किया। उन्हें साथ लेकर यज्ञदत्त नाभिगिरी पर पहुँची। मुनि इस समय तापसयोग से अर्थात् सूर्य के सामने मुँह किए ध्यान कर रहे थे। उन्हें मुनिवेष में देखकर यज्ञदत्ता के क्रोध का कुछ ठिकाना नहीं रहा। उसने गर्जकर कहा-दुष्ट! पापी!! यदि तुझे ऐसा करना था मेरी जिन्दगी बिगाड़नी थी, तो पहले ही से मुझे न ब्याहता? बतला तो अब मैं किस के पास जाकर रहूँ? निर्दय! तुझे दया भी न आई जो मुझे निराश्रय छोड़कर तप करने को यहाँ चला आया? अब इस बच्चे का पालन कौन करेगा? जरा कह तो सही! मुझ से इसका पालन नहीं होता। तू ही इसे लेकर पाल। यह कहकर निर्दयी यज्ञदत्ता बेचारे निर्दोष बालक को मुनि के पाँवों में पटक कर घर चली गई उस पापिनी को अपने हृदय के टुकड़े पर इतनी भी दया नहीं आई कि मैं सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जीवों

महाकोपेन सन्तप्ता यज्ञदत्ता जगाद च। रे रे दुष्ट त्वया कष्टं परिणीता कथं यतः ॥२६॥
मां विमुच्य तपःप्रीत्या संस्थितोसि शिलोच्चये। अतस्ते त्वं गृहाणेमं पुत्रं पालय साम्प्रतम् ॥२७॥
इत्युक्त्वा निष्ठुरं वाक्यं तं पुत्रं निर्दयाशया। धृत्वा तत्पादयोरग्रे कोपतः स्वगृहं गता ॥२८॥
सिंहव्याघ्रसमाकीर्णे पर्वते तत्र निर्दया। त्यक्त्वा बालं गता सेत्थं किं न कुर्वन्ति योषितः ॥२९॥
अत्रान्तरेऽमरावत्या नगर्याश्च खगाधिपः। श्रीदिवाकरदेवाख्यः कुटुम्बकलहे सति ॥३०॥
स पुरंदरदेवेन लघुभ्रात्रा महायुधि। राज्यान्निर्घाटितो ज्येष्ठः सकलत्रो विषण्णधीः ॥३१॥
ततो विमानमारुह्य जैनीं यात्रां सुखप्रदाम्। नाना तीर्थेषु संकर्तुं निर्गतो दुर्गतिच्छिदम् ॥३२॥
पर्यटंश्च नभोभागे नाभिपर्वतसंस्थितम्। दृष्ट्वा तं मुनिमायातो वन्दितुं भक्तिनिर्भरः ॥३३॥
तत्र बालं विलोक्योच्चैः प्रस्फुरत्कान्तिमद्भुतम्। मुनीन्द्रपादपद्माग्रे विकसन्मुखपङ्कजम् ॥३४॥
ज्ञात्वा तं पुण्यसंयुक्तं समाहूय प्रहर्षतः। दत्तवान्निजभार्यायै गृहाणेति सुतं प्रिये ॥३५॥
संविलोक्य करौ तस्य वज्रचिह्नादिशोभितौ। नाम्ना वज्रकुमारोय-मित्युक्त्वा तौ गृहं गतौ ॥३६॥
स्वमात्रापि विमुक्तोसौ लालितः खेचरस्त्रिया। प्रकृष्टपूर्वपुण्यानां न हि कष्टं जगत्त्रये ॥३७॥
तथासौ स्वगुणैः सार्द्धं वृद्धिं सम्प्राप्तवान्सुधीः। कुर्वन्सर्वजनानन्दं द्वितीयेन्दुरिवामलः ॥३८॥
कनकाख्यपुरे राजा नाम्ना विमलवाहनः। स बालस्य भवत्येव तस्य कृत्रिममातुलः ॥३९॥

से भरे हुए ऐसे भयंकर पर्वत पर उसे कैसे छोड़ जाती हूँ? उसकी कौन रक्षा करेगा? सच तो यह क्रोध के वश हो स्त्रियाँ क्या नहीं करतीं? ॥२३-२९॥

इधर तो यज्ञदत्ता पुत्र को मुनि के पास छोड़कर घर पर गई और इतने ही में दिवाकर देव नाम का एक विद्याधर इधर आ निकला। वह अमरावती का राजा था। पर भाई-भाई में लड़ाई हो जाने से उसके छोटे भाई पुरन्दर ने उसे युद्ध में पराजित कर देश से निकाल दिया था। सो वह अपनी स्त्री को साथ लेकर तीर्थयात्रा के लिए चल दिया। यात्रा करता हुआ वह नाभिपर्वत की ओर आ निकला। पर्वत पर मुनिराज को देखकर उनकी वन्दना के लिए नीचे उतरा। उसकी दृष्टि उस खेलते हुए तेजस्वी बालक के प्रसन्न मुखकमल पर पड़ी। बालक को भाग्यशाली समझकर उसने अपनी गोद में उठा लिया और प्रसन्नता के साथ उसे अपनी प्रिया को सौंपकर कहा—प्रिये, यह कोई बड़ा पुण्य पुरुष है। आज अपना जीवन कृतार्थ हुआ जो हमें अनायास ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उसकी स्त्री भी बच्चे को पाकर बहुत खुश हुई उसने बड़े प्रेम के साथ उसे अपनी छाती से लगाया और अपने को कृतार्थ माना। बालक होनहार था। उसके हाथों में वज्र का चिह्न देखकर विद्याधर महिला ने उसका नाम भी वज्रकुमार रख दिया। इसके बाद दम्पत्ति मुनि को प्रणाम कर अपने घर पर लौट आए। यज्ञदत्ता तो अपने पुत्र को छोड़कर चली आई, पर जो भाग्यवान् होता है उसका कोई न कोई रक्षक बनकर आ ही जाता है। बहुत ठीक लिखा है—पुण्यवानों को कहीं कष्ट प्राप्त नहीं होता। विद्याधर के घर पर पहुँच कर वज्रकुमार द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा और अपनी बाल-लीलाओं से सबको आनन्द देने लगा जो उसे देखता वही उसकी स्वर्गीय सुन्दरता पर मुग्ध हो उठता था ॥३०-३८॥

तत्समीपे कुमारोसौ नाना शास्त्रमहार्णवम्। तरति स्म यथा सर्वे खेचरा विस्मयं गताः ॥४०॥
अथैकदा खगाधीशः सुधीर्गरुडवेगवाक्। तद्भार्याङ्गवती नाम्नी सती तद्गुणमण्डिता ॥४१॥
तयोः पवनवेगाख्या पुत्री सद्रूपशालिनी। ह्रीमन्तपर्वते पूते विद्यां प्रज्ञप्तिमद्भुताम् ॥४२॥
साधयन्ती स्थिता यावद्बदर्याः कण्टकेन च। पवनान्दोलितेनोच्चैर्विद्धा सा लोचने सती ॥४३॥
पीडया चलचित्तायास्तस्या विद्या न सिद्ध्यति। पुण्याद्वज्रकुमारोसौ लीलया तत्र चागतः ॥४४॥
तां विलोक्य तथाभूतां लोचनाच्चतुरोत्तमः। दूरीचकार यत्नेन कण्टकं दुर्जनोपमम् ॥४५॥
ततस्तस्यास्तरां स्वस्थ-चित्ताया मंत्रयोगतः। सिद्धा प्रज्ञप्तिका विद्या कार्यकोटिविधायिनी ॥४६॥
सा जगाद ततः कन्या त्वत्प्रसादेन मे ध्रुवम्। सिद्धा विद्येति भो धीर परमानन्ददायिनी ॥४७॥
अतस्त्वमेव मे भर्त्ता कार्यसिद्धिविधायकः। नान्यः परो नरः कोपि निर्गुणः सगुणोऽथवा ॥४८॥
ततो गरुडवेगोसौ तत्पिता विधिपूर्वकम्। तस्मै वज्रकुमाराय तां सुतां दत्तवान्मुदा ॥४९॥
अथ वज्रकुमारोसौ तां विद्यां स्वस्त्रियो द्रुतम्। समादाय महासैन्यं विधाय परमादरात् ॥५०॥

दिवाकर देव के सम्बन्ध से वज्रकुमार का मामा कनकपुरी का राजा विमलवाहन हुआ। अपने मामा के यहाँ रहकर वज्रकुमार ने खूब शास्त्राभ्यास किया। छोटी ही उमर में वह एक प्रसिद्ध विद्वान् बन गया। उसकी बुद्धि देखकर विद्याधर बड़ा आश्चर्य करने लगे ॥३९-४०॥

एक दिन वज्रकुमार ह्रीमंतपर्वत पर प्रकृति की शोभा देखने को गया हुआ था। वहीं पर एक गरुड़वेग विद्याधर की पवनवेगा नाम की पुत्री विद्या साध रही थी। सो विद्या साधते-साधते भाग्य से एक काँटा हवा से उड़कर उसकी आँख में गिर गया। उसके दुःख से उसका चित्त चंचल हो उठा। उससे विद्या सिद्ध होने में उसके लिए बड़ी कठिनता आ उपस्थित हुई। इसी समय वज्रकुमार इधर आ निकला। उसे ध्यान से विचलित देखकर उसने उसकी आँख में से काँटा निकाल दिया। पवनवेगा स्वस्थ होकर फिर मंत्र साधन से तत्पर हुई मंत्रयोग पूरा होने पर उसे विद्या सिद्ध हो गई वह सब उपकार वज्रकुमार का समझकर उसके पास आई और उससे बोली-आपने मेरा बहुत उपकार किया है। ऐसे समय यदि आप उधर नहीं आते तो कभी संभव नहीं था, कि मुझे विद्या सिद्ध होती। इसका बदला मैं एक क्षुद्र बालिका क्या चुका सकती हूँ, पर यह जीवन आपको समर्पण कर आपकी चरण दासी बनना चाहती हूँ। मैंने संकल्प कर लिया है कि इस जीवन में आपके सिवा किसी को मैं अपने पवित्र हृदय में स्थान न दूँगी। मुझे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए। यह कहकर वह सतृष्ण नयनों से वज्रकुमार की ओर देखने लगी। वज्रकुमार ने मुस्कुराकर उसके प्रेमोपहार को बड़े आदर के साथ ग्रहण किया। दोनों वहाँ से विदा होकर अपने-अपने घर गए। शुभ दिन में गरुड़वेग ने पवनवेगा का परिणय संस्कार वज्रकुमार के साथ कर दिया। दोनों दंपति सुख से रहने लगे ॥४१-४९॥

एक दिन वज्रकुमार को मालूम हो गया कि मेरे पिता थे तो राजा, पर उन्हें उनके छोटे भाई ने लड़ झगड़कर अपने राज्य से निकाल दिया है। यह देख उसे काका पर बड़ा क्रोध आया। वह पिता

श्रीदिवाकरदेवेन समं गत्वामरावतीम्। संग्रामेण ततो जित्वा तं पुरंदरदेवकम् ॥५१॥
तं दिवाकरदेवं च धर्मतातं महोत्सवैः। तद्राज्ये स्थापयामास सुपुत्रः कुलदीपकः ॥५२॥
एकदा भूपतेः पत्नी जयश्रीः प्राह कोपतः। स्वपुत्रराज्यसन्देहदृष्ट्वा तन्मान्यतां तराम् ॥५३॥
अन्येन जनितश्चान्यं संतापयति दुष्टधीः। कुपुत्रोसौ महाकष्टं स्त्रीबुद्धिर्नैव निश्चला ॥५४॥
तदा वज्रकुमारोसौ श्रुत्वा मातुः कटुश्रुतिम्। प्रोवाच वचनं तातं प्रतीत्थं भो खगेश्वर ॥५५॥
अहं कस्य सुतो देव तदाकर्ण्य प्रभुर्जगौ। किं भो पुत्र मतिभ्रंसोभवत्ते येन साम्प्रतम् ॥५६॥
महादुःखप्रदं वाक्यं वदस्येव मनोहरम्। सोपि प्राह सुधीस्तात वद त्वं सत्यमेव च ॥५७॥
अन्यथा भोजनादौ मे प्रवृत्तिर्नैव भूपते। सतां चित्ते यदा यातं तत्कथं केन वार्यते ॥५८॥

के बहुत कुछ मना करने पर भी कुछ सेना और अपनी पत्नी की विद्या को लेकर उसी समय अमरावती पर जा चढ़ा। पुरन्दरदेव को इस चढ़ाई का हाल कुछ मालूम नहीं हुआ था, इसलिए वह बात की बातों में पराजित कर बाँध लिया गया। राज्य सिंहासन दिवाकर देव के अधिकार में आया। सच है "सुपुत्रः कुलदीपकः" अर्थात् सुपुत्र से कुल की उन्नति ही होती है। इस वीर वृतान्त से वज्रकुमार बहुत प्रसिद्ध हो गया। अच्छे-अच्छे शूरवीर उसका नाम सुनकर काँपने लगे ॥५०-५२॥

इसी समय दिवाकरदेव की प्रिया जयश्री के भी एक और पुत्र उत्पन्न हो गया। अब उसे वज्रकुमार से डाह होने लगी। उसे एक भ्रम-सा हो गया कि इसके सामने मेरे पुत्र को राज्य कैसे मिलेगा? खैर, यह भी मान लूँ कि मेरे आग्रह से प्राणनाथ अपने पुत्र को राज्य दे तो यह क्यों उसे देने देगा? ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो–

आश्रयन्तीं श्रियं को वा पादेन भुवि ताडयेत्। –वादीभसिंह

आती हुई लक्ष्मी को पाँव की ठोकर से ठुकरावेगा? तब अपने पुत्र को राज्य मिलने में यह एक कंटक है। इसे किसी तरह उखाड़ फेंकना चाहिए। यह विचार कर मौका देखने लगी। एक दिन वज्रकुमार ने अपनी माता के मुँह से यह सुन लिया कि "वज्रकुमार बड़ा दुष्ट है। देखो, तो कहाँ तो उत्पन्न हुआ और किसे कष्ट देता है?" उसकी माता किसी के सामने उसकी बुराई कर रही थी। सुनते ही वज्रकुमार के हृदय में मानों आग बरस गई उसका हृदय जलने लगा। उसे फिर एक क्षणभर भी उस घर में रहना नरक बराबर भयंकर हो उठा। यह उसी समय अपने पिता के पास गया और बोला– पिताजी, जल्दी बतलाइए मैं किसका पुत्र हूँ? और क्यों यहाँ आया? मैं जानता हूँ कि आपने मेरा अपने बच्चे से कहीं बढ़कर पालन किया है, तब भी मुझे कृपाकर बतला दीजिए कि मेरे सच्चे पिता कौन हैं? यदि आप मुझे ठीक-ठीक हाल नहीं कहेंगे तो मैं आज से भोजन नहीं करूँगा ॥५३-५७॥

दिवाकर देव ने एकाएक वज्रकुमार के मुँह से अचम्भे में डालने वाली बातें सुनकर वज्रकुमार से कहा–पुत्र, क्या आज तुम्हें कुछ हो तो नहीं गया, जो बहकी-बहकी बातें करते हो? तुम समझदार हो, तुम्हें ऐसी बातें करना उचित नहीं, जिससे मुझे कष्ट हो ॥५८॥

विद्याधरप्रभुः प्राह ततो वृत्तान्तमादितः। सत्यमेवाग्रहेणात्र शक्यते छादितुं न हि ॥५९॥
तं निशम्य कुमारोसौ स्ववृत्तान्तं विरक्तवान्। ततौ विमानमारुह्य वन्दितुं तं मुनीश्वरम् ॥६०॥
तातादिबन्धुभिः सार्द्धं मथुरानिकटस्थिताम्। क्षत्रियाख्यगुहां प्राप्तो यत्रास्ते स महामुनिः ॥६१॥
इन्द्रचन्द्रनरेन्द्राद्यैः समर्च्चितपदद्वयम्। सोमदत्तमुनिं दृष्ट्वा सन्तुष्टास्ते स्वचेतसि ॥६२॥
त्रिः परीत्य समभ्यर्च्य नत्वा तं भक्तितो मुनिम्। संस्थितेषु सुखं तत्र सर्वलोकेषु लीलया ॥६३॥
सोमदत्तगुरोरग्रे महाधर्मानुरागतः। स दिवाकरदेवश्च स्ववृत्तान्तं पुनर्जगौ ॥६४॥
तदा वज्रकुमारेण प्रोक्तं भो तात शुद्धधीः। आदेशं देहि येनाहं करोमि सुतपो ध्रुवम् ॥६५॥
खगेशः प्राह भो पुत्र त्वत्सहायेन साम्प्रतम्। युक्तं मेऽत्र तप कर्त्तुं त्वं गृहाणेति मे श्रियम् ॥६६॥
इत्यादिमधुरैर्वाक्यै-र्निषिद्धोपि महीभुजा। युक्त्या सम्बोध्य तानुच्चै-र्मुनिर्जातः स धीरधीः ॥६७॥
तपो धृत्वा कुमारोसौ कन्दर्पकरिकेसरी। श्रीमज्जैनमताम्भोधौ जातः पूर्णेन्दुरद्भुतम् ॥६८॥

वज्रकुमार बोला–पिताजी मैं यह नहीं कहता कि मैं आपका पुत्र नहीं क्योंकि मेरे सच्चे पिता तो आप ही हैं, आप ही ने मुझे पालापोषा है। पर जो सच्चा वृतान्त है, उसके जानने की मेरी बड़ी उत्कण्ठा है; इसलिए उसे आप न छिपाइए। उसे कहकर मेरे अशान्त हृदय को शान्त कीजिए। बहुत सच है बड़े पुरुषों के हृदय में जो बात एक बार समा जाती है फिर वे उसे तब तक नहीं छोड़ते जब तक उसका उन्हें आदि अन्त मालूम न हो जाये। वज्रकुमार के आग्रह से दिवाकर देव को उसका पूर्व हाल सब ज्यों का त्यों कह देना ही पड़ा क्योंकि आग्रह से कोई बात छुपाई नहीं जा सकती। वज्रकुमार अपना हाल सुनकर बड़ा विरक्त हुआ। उसे संसार का मायाजाल बहुत भयंकर जान पड़ा। वह उसी समय विमान में चढ़कर अपने पिता की वन्दना करने को गया। उसके साथ ही उसका पिता तथा और बन्धुलोग भी गए। सोमदत्त मुनिराज मथुरा के पास एक गुफा में ध्यान कर रहे थे। उन्हें देखकर सब ही बहुत आनन्दित हुए। सब बड़ी भक्ति के साथ मुनि को प्रणाम कर जब बैठे, तब वज्रकुमार ने मुनिराज से कहा–पूज्यपाद, आज्ञा दीजिए, जिससे मैं साधु बनकर तपश्चर्या द्वारा अपना आत्मकल्याण करूँ। वज्रकुमार को एक साथ संसार से विरक्त देखकर दिवाकर देव को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने इस अभिप्राय से कि सोमदत्त मुनिराज वज्रकुमार को कहीं मुनि हो जाने की आज्ञा न दे दें, उनसे वज्रकुमार उन्हीं का पुत्र है और उसी पर मेरा राज्यभार भी निर्भर है आदि सब हाल कह दिया। इसके बाद वह वज्रकुमार से बोला–पुत्र, तुम यह क्या करते हो? तप करने का मेरा समय है या तुम्हारा? तुम अब सब तरह योग्य हो गए, राजधानी में जाओ और अपना कारोबार सम्हालो। अब मैं सब तरह निश्चिन्त हुआ। मैं आज ही दीक्षा ग्रहण करूँगा। दिवाकर देव ने उसे बहुत कुछ समझाया और दीक्षा लेने से रोका, पर उसने किसी की एक न सुनी और सब वस्त्राभूषण फेंककर मुनिराज के पास दीक्षा ले ली। कन्दर्पकेसरी वज्रकुमार मुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे। कठिन से कठिन परीषह सहने लगे। वे जिनशासनरूप समुद्र के बढ़ाने वाले चन्द्रमा के समान शोभने लगे ॥५९-६८॥

अत्रान्तरे कथां वक्ष्ये शृण्वन्तु सुधियो जनाः। पूतिगन्धाभिधो राजा मथुरायां प्रवर्त्तते ॥६९॥
तस्योर्विला महाराज्ञी सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः। नित्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां चरणार्चनकोविदा ॥७०॥
धर्मप्रभावनायां च संसक्ता श्रीजिनेशिनाम्। नन्दीश्वरमहापर्व-दिनान्यष्टौ प्रमोदतः ॥७१॥
वर्षं प्रति त्रिवारांश्च महासंघेन संयुता। श्रीजिनेन्द्ररथोत्साहं कारयत्येव शर्मदम् ॥७२॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी जातः सागरदत्तवाक्। भार्या समुद्रदत्ताख्या तयोः पुत्री बभूव च ॥७३॥
पापतः सा दरिद्राख्या दुःखदारिद्र्यकारिणी। मृते सागरदत्ताख्ये बन्धुवर्गे क्षयं गते ॥७४॥
दरिद्रा जीविता कष्टं परोच्छिष्टाऽशनैरपि। दानपूजागुणैः हीनः प्राणी स्याद्दुःखभाजनम् ॥७५॥
तदा तत्पुरमायातौ चर्यार्थं मुनिनायकौ। नन्दनाख्यो मुनिर्ज्येष्ठो द्वितीयश्चाभिनन्दनः ॥७६॥
तामुच्छिष्टाशनं बालां भक्ष्यन्तीं विलोक्य च। लघुः प्राह मुनिज्येष्ठं हाऽसौ कष्टेन जीवति ॥७७॥
इत्याकर्ण्य मुनीन्द्रोऽसौ नन्दनो ज्ञानलोचनः। अभिनन्दननामानं प्रोवाच मधुरं वचः ॥७८॥
अहो कन्या दरिद्रासौ पूतिगन्धमहीपतेः। अस्य पट्टमहाराज्ञी भविष्यति सुवल्लभा ॥७९॥
तदाकर्ण्य च भिक्षार्थं भ्रमता तत्र पत्तने। धर्मश्रीवन्दकेनोच्चै-र्नान्यथा मुनिभाषितम् ॥८०॥
संचिन्त्येति दरिद्रासौ नाना मृष्टाशनादिभिः। नीत्वा शीघ्रं निजस्थानं पोषिता बहुयत्नतः ॥८१॥

वज्रकुमार के साधु बन जाने के बाद की कथा अब लिखी जाती है। इस समय मथुरा के राजा थे पूतीगन्ध। उनकी रानी का नाम था उर्विला। वह बड़ी धर्मात्मा थी, सती थी, विदुषी थी और सम्यग्दर्शन से भूषित थी। उसे जिनभगवान् की पूजा से बहुत प्रेम था। वह प्रत्येक नन्दीश्वरपर्व में आठ दिन तक खूब पूजा महोत्सव करवाती, खूब दान करती। उससे जिनधर्म की बहुत प्रभावना होती। सर्व साधारण पर जैन धर्म का अच्छा प्रभाव पड़ता। मथुरा ही में एक सागरदत्त नाम का सेठ था। उसकी गृहिणी का नाम था समुद्रदत्ता। पूर्व पाप के उदय से उसके दरिद्रा नाम की पुत्री हुई उसके जन्म से माता पिता को सुख न होकर दुःख हुआ। धन सम्पत्ति सब जाती रही। माता-पिता मर गए। बेचारी दरिद्रा के लिए अब अपना पेट भरना भी मुश्किल पड़ गया। अब वह दूसरों का झूठा खा-खाकर दिन काटने लगी। सच है पाप के उदय से जीवों को दुःख भोगना ही पड़ता है ॥६९-७५॥

एक दिन दो मुनि भिक्षा के लिए मथुरा में आए। उनके नाम थे नन्दन और अभिनन्दन। उनमें नन्दन बड़े थे और अभिनन्दन छोटे। दरिद्रा को एक-एक अन्न का झूठा कण खाती हुई देखकर अभिनंदन ने नन्दन से कहा—मुनिराज, देखिये हाय! यह बेचारी बालिका कितनी दुःखी है? कैसे कष्ट से अपना जीवन बिता रही है। तब नन्दनमुनि ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—हाँ यद्यपि इस समय इसकी दशा अच्छी नहीं है तथापि इसका पुण्यकर्म बहुत प्रबल है उससे यह पूतीगन्ध राजा की पट्टरानी बनेगी। मुनि ने दरिद्रा का जो भविष्य सुनाया, उसे भिक्षा के लिए आए हुए एक बौद्ध भिक्षुक ने भी सुन लिया। उसे जैन ऋषियों के विषय में बहुत विश्वास था, इसलिए वह दरिद्रा को अपने स्थान पर लिवा लाया और उसका पालन करने लगा ॥७६-८१॥

एकदा यौवनारम्भे चैत्रमासे स्वलीलया। विलोक्यान्दोलयन्तीं तां दैवयोगान्महीपतिः ॥८२॥
कामान्धः पूतिगन्धोसौ तद्रूपासक्तमानसः। मंत्रिणं प्रेषयामास तदर्थं वन्दिकान्तिकम् ॥८३॥
गत्वा ते मंत्रिणः प्राहुर्भो वन्दक महीभुजे। दत्वा कन्यामिमां पूतां सुखीभव धनादिभिः ॥८४॥
तेनोक्तं बौद्धधर्मं मे करोति यदि भूपतिः। तदासौ दीयते कन्या मया तस्मै गुणोज्वला ॥८५॥
तत्स्वीकृत्य ततो भूपो दरिद्रां परिणीतवान्। कामी कामाग्निसन्तप्तः किं करोति न पातकम् ॥८६॥
दरिद्रा बुद्धदासीति स्वं प्रकाश्याभिधानकम्। प्राप्य राज्ञीपद बौद्ध-कुधर्मे तत्पराभवत् ॥८७॥
युक्तं श्रीमज्जिनेन्द्राणां धर्मः शर्मकरो भुवि। प्राप्यते नाल्पपुण्यैश्च निधानं वा भवान्धकैः ॥८८॥
अथ श्रीफाल्गुणे मासे नन्दीश्वरमहोत्सवे। महापूजाविधाने च रथं काञ्चननिर्मितम् ॥८९॥

दरिद्रा जैसी-जैसी बड़ी होती गई वैसे ही वैसे यौवन ने उसकी श्री को खूब सम्मान देना आरम्भ किया। वह अब युवती हो चली। उसके सारे शरीर से सुन्दरता की सुधाधारा बहने लगी। आँखों ने चंचल मीन को लजाना शुरू किया। मुँह ने चन्द्रमा को अपना दास बनाया। नितम्बों को अपने से जल्दी बढ़ते देखकर शर्म के मारे स्तनों का मुँह काला पड़ गया। एक दिन युवती दरिद्रा शहर के बगीचे में जाकर झूले पर झूल रही थी कि कर्मयोग से उसी दिन राजा भी वहीं आ गए। उनकी नजर एकाएक दरिद्रा पर पड़ी। उसे देखकर वे अचम्भे में आ गए कि यह स्वर्ग सुन्दरी कौन है? उन्होंने दरिद्रा से उसका परिचय पूछा। उसने निस्संकोच होकर अपना परिचय वगैरह सब उन्हें बता दिया। वह बेचारी भोली थी। उसे क्या मालूम कि मुझ से खास मथुरा के राजा पूछताछ कर रहे हैं। राजा तो उसे देखकर कामान्ध हो गए। वे बड़ी मुश्किल से अपने महल पर आए। आते ही उन्होंने अपने मंत्री को श्रीवन्दन के पास भेजा। मंत्री ने पहुँचकर श्रीवन्दक से कहा-आज तुम्हारा और तुम्हारी कन्या का बड़ा ही भाग्य है, जो मथुराधीश्वर उसे अपनी महारानी बनाना चाहते हैं। कहो, तुम्हें भी यह बात सम्मत है न? श्रीवन्दक बोला-हाँ मुझे महाराज की बात स्वीकार है, पर एक शर्त के साथ। वह शर्त यह है कि महाराज बौद्धधर्म स्वीकार करें तो मैं इसका ब्याह महाराज के साथ कर सकता हूँ। मन्त्री ने महाराज से श्रीवन्दक की शर्त कह सुनाई महाराज ने उसे स्वीकार किया। सच है लोग काम के वश होकर धर्मपरिवर्तन तो क्या बड़े-बड़े अनर्थ भी कर बैठते हैं ॥८२-८६॥

आखिर महाराज दरिद्रा के साथ ब्याह हो गया। दरिद्रा मुनिराज के भविष्य कथनानुसार पट्टरानी हुई। दरिद्रा इस समय बुद्धदासी के नाम से प्रसिद्ध है। इसलिए आगे हम भी इसी नाम से उसका उल्लेख करेंगे। बुद्धदासी पट्टरानी बनकर बुद्धधर्म का प्रचार बढ़ाने में सदा तत्पर रहने लगी। सच है, जिनधर्म संसार में सुख का देने वाला और पुण्य प्राप्ति का खजाना हैं, पर उसे प्राप्त कर पाते है भाग्यशाली ही। बेचारी अभागिनी बुद्धदासी के भाग्य में उसकी प्राप्ति कहाँ? ॥८७-८८॥

अष्टाह्निका का पर्व आया। उर्विला महारानी ने सदा के नियमानुसार अब की बार भी उत्सव करना आरम्भ किया। जब रथ निकालने का दिन आया और रथ, छत्र, चँवर, वस्त्र, भूषण, पुष्पमाला

लसन्तं पट्टकूलाद्यैः किंकिणीजालशोभितम्। नाना रत्नाञ्चितं चारु-छत्रत्रयविराजितम् ॥९०॥
घण्टाटंकारसंयुक्तं वीज्यमानं सुचामरैः। सनाथं जिनबिम्बेन पूजितं सज्जनोत्करैः ॥९१॥
प्रोल्लसत्पुष्पमालाभिः सुगन्धीकृतदिङ्मुखम्। इत्यादिबहुशोभाढ्यमुर्विलाया विलोक्य तम् ॥९२॥
बुद्धदासी नृपं प्राह क्षोभं गत्वा स्वमानसे। भो नरेन्द्र रथो मेऽत्र पूर्वं भ्रमतु पत्तने ॥९३॥
तदाकर्ण्य तदासक्तो नृपः प्राह भवत्विति। मोहान्धा नैव जानन्ति गोक्षीरार्कपयोन्तरम् ॥९४॥
उर्विला च महाराज्ञी जिनपादाब्जयो रता। पत्तने प्रथमं मे वै यदा भ्रमति सद्रथः ॥९५॥
तदाहारप्रवृत्तिर्मे प्रतिज्ञामिति मानसे। कृत्वा शीघ्रं तदा गत्वा क्षत्रियाख्यां गुहां सती ॥९६॥
सोमदत्तमुनिं नत्वा भक्तितो धर्मवत्सला। तथा वज्रकुमाराख्यं प्रणम्य मुनिसत्तमम् ॥९७॥
अहो मुने जिनेन्द्राणां सद्धर्माम्बुधिचन्द्रमाः। त्वमेव शरणं मेऽस्ति मिथ्यात्वध्वान्तभास्करः ॥९८॥
इति स्तुत्वा महाभक्त्या जगाद निजवृत्तकम्। संस्थिता तत्पदांभोज-मूले यावद्गुणोज्वला ॥९९॥
तौ दिवाकरदेवाद्यास्तदा विद्याधरेशिनः। तं वन्दितुं समायाता मुनीन्द्रौ पुण्यपाकतः ॥१००॥
तदा वज्रकुमारेण मुनीन्द्रेण लसद्धिया। प्रोक्तं भो भूपते शीघ्रं भवद्भिर्धर्मवत्सलैः ॥१०१॥
उर्विलाया महाराज्याः सम्यग्दृष्टिशिरोमणेः। यात्रा रथस्य जैनेंद्रीं कर्तव्या परमादरात् ॥१०२॥

आदि से खूब सजाया गया, उसमें भगवान् की प्रतिमा विराजमान की जाकर वह निकाला जाने लगा, तब बुद्धदासी ने राजा से यह कह कर, कि पहले मेरा रथ निकलेगा, उर्विला रानी का रथ रुकवा दिया। राजा ने भी उस पर कुछ बाधा न देकर उसके कहने को मान लिया। सच है– ॥८९-९४॥

अर्थात् मोह से अन्धे हुए मनुष्य गाय के दूध में और आकड़े के दूध में कुछ भी भेद नहीं समझते। बुद्धदासी के प्रेम ने यही हालत पूतिगंधराजा की कर दी। उर्विला को इससे बहुत कष्ट पहुँचा। उसने दुःखी होकर प्रतिज्ञा कर ली कि जब पहले मेरा रथ निकलेगा तब ही मैं भोजन करूँगी। यह प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रिया नाम की गुफा में पहुँची। वहाँ योगिराज सोमदत्त और वज्रकुमार महामुनि रहा करते हैं। वह उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर बोली–हे जिनशासन रूप समुद्र के बढ़ाने वाले चन्द्रमाओं और हे मिथ्यात्वरूप अन्धकार के नष्ट करने वाले सूर्य! इस समय आप ही मेरे लिए शरण हैं। आप ही मेरा दुःख दूर कर सकते हैं। जैनधर्म पर इस समय बड़ा संकट उपस्थित है, उसे नष्ट कर उसकी रक्षा कीजिए। मेरा रथ निकलने वाला था, पर उसे बुद्धदासी ने महाराज से कहकर रुकवा दिया है। आजकल वह महाराज की बड़ी कृपापात्र है, इसलिए जैसा वह कहती है महाराज भी बिना विचारे वही कहते हैं। मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि सदा की भाँति मेरा रथ पहले निकलेगा तब ही मैं भोजन करूँगी। अब जैसा आप उचित समझें वह कीजिए। उर्विला अपनी बात कर रही थी कि इतने में वज्रकुमार तथा सोमदत्त मुनि की वन्दना करने को दिवाकर देव आदि बहुत से विद्याधर आए। वज्रकुमार मुनि ने उनसे कहा–आप लोग समर्थ है और इस समय जैनधर्म पर कष्ट उपस्थित है। बुद्धदासी ने महारानी उर्विला का रथ रुकवा दिया है। सो आप जाकर जिस तरह बन सके इसका रथ निकलवाइये। वज्रकुमार मुनि

तच्छ्रुत्वा ते मुनेर्वाक्यं सर्वविद्याधरा द्रुतम्। तौ प्रणम्य मुनी भक्त्या सम्प्राप्ता मथुरापुरीम् ॥१०३॥
स्वयं ते श्रीजिनेन्द्राणां धर्मकर्मपरायणाः। किं पुनः प्रेरितास्तेन मुनीन्द्रेण सुकर्मणि ॥१०४॥
तत्र कोपेन ते प्रोच्चैर्बुद्धदास्या रथं भटान्। चूर्णीकृत्य समं तस्या महागर्वेण वेगतः ॥१०५॥
उर्विलाया महादेव्या जिनधर्माप्तचेतसः। संचक्रे परमानन्दा-द्रथयात्रामहोत्सवम् ॥१०६॥
नदत्सु सर्ववादित्र-प्रकारेषु समंततः। स्तुवत्सु भव्यलोकेषु चारणेषु पठत्सु च ॥१०७॥
समन्ताज्जयघोषेषु पुष्पवृष्टियुतेषु च। नाना नृत्यविनोदेषु कामिनीगीतहारिषु ॥१०८॥
दीयमानेषु दानेषु प्रोल्लसत्प्रमदेषु च। अनेकभव्यलोकानां वर्द्धमानेषु सुदृष्टिषु ॥१०९॥
जिनेन्द्रप्रतिमोपेतः सर्वसंघैरलंकृतः। संचचाल महाभूत्या रथः पूर्णमनोरथः ॥११०॥
उर्विलाया महादेव्याः सर्वेषां भव्यदेहिनाम्। संजातः परमानन्दः स केनात्र प्रवर्ण्यते ॥१११॥
जैनधर्मस्य ते सर्वे संविलोक्य प्रभावनाम्। राजा पूतिमुखो भक्त्या बुद्धदासी तथापरे ॥११२॥
त्यक्त्वा मिथ्यामतं शीघ्रं वान्तिवद्दुःखकारणम्। जैनधर्मे जगत्पूज्ये संजाता नितरां रताः ॥११३॥
एवं वज्रकुमारोसौ मुनीन्द्रो धर्मवत्सलः। कारयामास संप्रीत्या जैनधर्मप्रभावनाम् ॥११४॥
अन्यैश्चापि महाभव्यैः स्वर्गमोक्षप्रदायिनी। प्रभावना जिनेन्द्रोक्ते धर्मे कार्या जगद्धिता ॥११५॥
नाना यात्राप्रतिष्ठाभि-र्गरिष्ठाभिर्विशिष्टधीः। जैनशासनमुद्दिश्य यः करोति प्रभावनाम् ॥११६॥
धर्मानुरागतो धीमान्सम्यग्दृष्टिः शिरोमणिः। स भवेत्रिजगत्पूज्यः स्वर्गमोक्षसुखाधिपः ॥११७॥

की आज्ञानुसार सब विद्याधर लोग अपने विमान पर चढ़कर मथुरा आए। सच है जो धर्मात्मा होते हैं वे धर्म प्रभावना के लिए स्वयं प्रयत्न करते हैं, तब उन्हें तो मुनिराज ने स्वयं प्रेरणा की है, इसलिए रानी उर्विला को सहायता देना तो उन्हें आवश्यक ही था। विद्याधरों ने पहुँचकर बुद्धदासी को बहुत समझाया और कहा, जो पुरानी रीति है उसे ही पहले होने देना अच्छा है। पर बुद्धदासी को तो अभिमान आ रहा था, इसलिए वह क्यों मानने चली? विद्याधरों ने सीधेपन से अपना कार्य होता हुआ न देखकर बुद्धदासी के नियुक्त किए हुए सिपाहियों से लड़ना शुरू किया और बात की बात में उन्हें भगाकर बड़े उत्सव और आनन्द के साथ उर्विला रानी का रथ निकलवा दिया। रथ के निर्विघ्न निकलने से सबको बहुत आनन्द हुआ। जैनधर्म की भी खूब प्रभावना हुई बहुतों ने मिथ्यात्व छोड़कर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया। बुद्धदासी और राजा पर भी इस प्रभावना का खूब प्रभाव पड़ा। उन्होंने भी शुद्धान्तःकरण से जैनधर्म स्वीकार किया ॥९५-११३॥

जिस प्रकार श्रीवज्रकुमार मुनिराज ने धर्म प्रेम के वश होकर जैनधर्म की प्रभावना करवाई उसी तरह और धर्मात्मा पुरुषों को भी संसार का उपकार करने वाली और स्वर्ग सुख की देने वाली धर्म प्रभावना करना चाहिए। जो भव्य पुरुष, प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार, रथयात्रा, विद्यादान, आहारदान, अभयदान आदि द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होकर त्रिलोक पूज्य होते हैं और अन्त में मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं ॥११४-११७॥

स श्रीवज्रकुमारोत्र जिनधर्मे सुवत्सलः। नित्यं जैनमते कुर्यान्मतिं मे मुनिनायकः ॥११८॥

गच्छे श्रीमति मूलसंघतिलके श्रीशारदायाः शुभे
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सूरिः श्रुताब्धिः सुधीः।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तविलसद्रत्नाकरोनिर्मलो
दद्यान्मे वरमंगलानि नितरां भक्त्या समाराधितः ॥११९॥

इति कथाकोशे प्रभावनाङ्गे वज्रकुमार मुनेः कथा समाप्ता।

१४. नागदत्तमुनेः कथा

नत्वा पंच गुरून्भक्त्या पंचमीगतिनायकान्। नागदत्तमुनेश्चारु चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
देशेऽत्र मगधे ख्याते रम्ये राजगृहे पुरे। प्रजापालो महाराजः प्रजापालनतत्परः ॥२॥
धार्मिको न्यायशास्त्रज्ञो जिनभक्तिपरायणः। तद्राज्ञी प्रियधर्माख्या दानपूजाप्रसन्नधीः ॥३॥
तयोर्बभूवतुः पुत्रौ विख्यातौ गुणशालिनौ। ज्येष्ठोसौ प्रियधर्माख्यो द्वितीयः प्रियमित्रवाक् ॥४॥
एकदा राजपुत्रौ तौ दीक्षां जैनीं समाश्रितौ। तपः कृत्वाच्युते स्वर्गे देवौ जातौ महर्द्धिकौ ॥५॥
ज्ञात्वा पूर्वभवं तत्र प्रशस्य जिनशासनम्। कुर्वाणौ जैनसद्भक्तिं संस्थितौ सुखतश्च तौ ॥६॥

धर्म प्रेमी श्रीवज्रकुमार मुनि मेरी बुद्धि को सदा जैनधर्म में दृढ़ रखें, जिसके द्वारा मैं भी कल्याण पथ पर चलकर अपना अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त कर सकूँ ॥११८॥

श्रीमल्लिभूषण गुरु मुझे मंगल प्रदान करें, वे मूल संघ के प्रधान शारदा गच्छ में हुए हैं। वे ज्ञान के समुद्र हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नों से अलंकृत हैं। मैं उनकी भक्तिपूर्वक आराधना करता हूँ ॥११९॥

१४. नागदत्त मुनि की कथा

मोक्ष राज्य के अधीश्वर श्रीपंच परम गुरु को नमस्कार कर श्री नागदत्त मुनि का सुन्दर चरित मैं लिखता हूँ ॥१॥

मगधदेश की प्रसिद्ध राजधानी राजगृह में प्रजापाल नाम के राजा थे। वे विद्वान् थे, उदार थे, धर्मात्मा थे, जिनभगवान् के भक्त थे और नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते थे। उनकी रानी का नाम था प्रियधर्मा वह भी बड़ी सरल स्वभाव की सुशील थी। उसके दो पुत्र हुए। उनके नाम थे प्रियधर्म और प्रियमित्र। दोनों भाई बड़े बुद्धिमान् और सुचरित थे ॥२-४॥

किसी कारण से दोनों भाई संसार से विरक्त होकर साधु बन गए और अन्त समय समाधिमरण कर अच्युतस्वर्ग में जाकर देव हुए। उन्होंने वहाँ परस्पर में प्रतिज्ञा की कि, ''जो दोनों में से पहले मनुष्य पर्याय प्राप्त करे उसके लिए स्वर्गस्थ देव का कर्तव्य होगा कि वह उसे जाकर सम्बोधे और संसार से विरक्त कर मोक्षसुख को देने वाली जिनदीक्षा ग्रहण करने के लिए उसे उत्साहित करे।'' इस प्रकार

धर्मानुरागतस्तत्र प्रतिज्ञेति तयोरभूत्। आवयोर्योर्द्वयोर्मध्ये पूर्वं याति नृजन्मताम् ॥७॥
स्वर्गस्थितेन देवेन स सम्बोध्य जिनेशिनः। दीक्षां संग्राहितव्यश्च भवभ्रमणनाशिनीम् ॥८॥
नगर्यामुज्जयिन्यां च नागधर्मो महीपतिः। नागदत्ता महाराज्ञी रूपलावण्यमण्डिता ॥९॥
प्रियदत्तसुरस्तस्यां स्वर्गादागत्य शुद्धधीः। नागदत्तः सुतो जातः नागक्रीडाविचक्षणः ॥१०॥
एकदा प्रियधर्मोसौ देवो वाचातिनिश्चलः। भूत्वा गारुडिको धृत्वा सर्पयुग्मं करण्डके ॥११॥
उज्जयिन्यां समागत्य तस्य सम्बोधनाय च। सर्पक्रीडाविधौ चंचु-रहं चेति परिभ्रमन् ॥१२॥
तदासौ नागदत्तेन राजपुत्रेण गर्विणा। धृतः प्रोक्तं च भो नाग-पालक प्रस्फुरद्विषम् ॥१३॥
त्वदीयं सर्पकं मुञ्च तेन क्रीडां करोम्यहम्। तदा गारुडिकः प्राह राजपुत्रैः समं मया ॥१४॥
विवादः क्रियते नैव रुष्टो राजा यदि ध्रुवम्। तदा मां मारयत्येव समाकर्ण्य नृपात्मजः ॥१५॥
नीत्वा तं भूपतेरग्रे दापयित्वाऽभयं वचः। एकं भुजंगमं तस्य क्रीडया जयति स्म सः ॥१६॥

प्रतिज्ञा कर वे वहाँ सुख से रहने लगे। उन दोनों में से प्रियदत्त की आयु पहले पूर्ण हो गई वह वहाँ से उज्जयिनी के राजा नागधर्म की प्रिया नागदत्ता के, जो कि बहुत ही सुन्दरी थी, नागदत्त नामक पुत्र हुआ। नागदत्त सर्पों के साथ क्रीड़ा करने में बहुत चतुर था, सर्प के साथ उसे विनोद करते देखकर सब लोग बड़ा आश्चर्य प्रकट करते थे ॥५-१०॥

एक दिन प्रियधर्म, जो कि स्वर्ग में नागदत्त का मित्र था, गारुड़िका वेष लेकर नागदत्त को सम्बोधने को उज्जयिनी में आया। उसके पास दो भयंकर सर्प थे। वह शहर में घूम-घूमकर लोगों को तमाशा बताता और सर्व साधारण में यह प्रकट करता कि मैं सर्प-क्रीड़ा का अच्छा जानकार हूँ। कोई और भी इस शहर में सर्प-क्रीड़ा का अच्छा जानकार हो, तो फिर उसे मैं अपना खेल दिखलाऊँ। यह हाल धीरे-धीरे नागदत्त के पास पहुँचा। वह तो सर्प-क्रीड़ा का पहले ही से बहुत शौकीन था, फिर अब तो एक और उसका साथी मिल गया। उसने उसी समय नौकरों को भेजकर उसे अपने पास बुलाया। गारुड़ि तो इस कोशिश में था कि नागदत्त को किसी तरह मेरी खबर लग जाये और वह मुझे बुलावे। प्रियधर्म उसके पास गया। उसके पहुँचते ही नागदत्त ने अभिमान में आकर उससे कहा–मंत्रविद्, तुम अपने सर्पों को बाहर निकालो न? मैं उनके साथ कुछ खेल तो देखूँ कि वे कैसे जहरीले हैं ॥११-१४॥

प्रियधर्म बोला–मैं राजपुत्रों के साथ ऐसी हँसी दिल्लगी या खेल करना नहीं चाहता कि जिसमें जान की जोखिम तक हो, बतलाओ मैं तुम्हारे सामने सर्प निकाल कर रख दूँ और तुम उनके साथ खेलों, इस बीच में कुछ तुम्हें जोखिम पहुँच जाये तब राजा मेरी क्या बुरी दशा करें? क्या उस समय वे मुझे छोड़ देंगे? कभी नहीं। इसलिए न तो मैं ही ऐसा कर सकता हूँ और न तुम्हें ही इस विषय में कुछ विशेष आग्रह करना उचित है। हाँ तुम कहो तो मैं तुम्हें कुछ खेल दिखा सकता हूँ ॥१५॥

नागदत्त बोला–तुम्हें पिताजी की ओर से कुछ भय नहीं करना चाहिए। वे स्वयं अच्छी तरह जानते हैं कि मैं इस विषय में कितना विज्ञ हूँ और इस पर भी तुम्हें सन्तोष न हो तो आओ मैं पिताजी

ततो हृष्टेन तेनोक्तं नागदत्तेन तं प्रति। मुञ्च मुञ्च द्वितीयं च सर्पं भो मन्त्रवादिक ॥१७॥
तेनोक्तं देव सर्पोयं महादुष्टः प्रवर्तते। दैवात्खादति चेदस्य प्रतीकारो न विद्यते ॥१८॥
नागदत्तस्ततो रुष्ट्वा वराकोयं करोति किम्। मंत्रतंत्रप्रवीणस्य ममेति वचनं जगौ ॥१९॥
ततस्तेन नृपादींश्च कृत्वा तान्साक्षिणः पुनः। विमुक्तः कालसर्पश्च तेनासौ भक्षितः पुमान् ॥२०॥
तदा तद्विषमाहात्म्यान्नागदत्तो महीतले। पपात निश्चलो भूत्वा मोहान्धो वा भवाम्बुधौ ॥२१॥
राज्ञाप्याकारिताः सर्वे तदा ते मन्त्रवादिनः। तैरुक्तं कालदृष्टोयं भो स्वामिन्नैव जीवति ॥२२॥

से तुम्हें क्षमा करवाये देता हूँ। यह कहकर नागदत्त प्रियदत्त को पिता के पास ले गया और मारे अभिमान में आकर बड़े आग्रह के साथ महाराज से उसे अभय दिलवा दिया। नागधर्म कुछ तो नागदत्त का सर्पों के साथ खेलना देख चुके थे और इस समय पुत्र का बहुत आग्रह था, इसलिए उन्होंने विशेष विचार न कर प्रियधर्म को अभय प्रदान कर दिया। नागदत्त बहुत प्रसन्न हुआ उसने प्रियधर्म से सर्पों को बाहर निकालने के लिए कहा। प्रियधर्म ने पहले एक साधारण सर्प निकाला। नागदत्त उसके साथ क्रीड़ा करने लगा और थोड़ी देर में उसे उसने पराजित कर दिया, निर्विष कर दिया। अब तो नागदत्त का साहस खूब बढ़ गया। उसने दूने अभिमान के साथ कहा कि तुम क्या ऐसे मुर्दे सर्प को निकालकर और मुझे शर्मिन्दा करते हो? कोई अच्छा विषधर सर्प निकालो न? जिससे मेरी शक्ति का तुम भी परिचय पा सको ॥१६-१७॥

प्रियधर्म बोला—आपका होश पूरा हुआ। आपने एक सर्प को हरा भी दिया है। अब आप अधिक आग्रह न करें तो अच्छा है। मेरे पास एक सर्प और है, पर वह बहुत जहरीला है, दैवयोग से उसने काट खाया तो समझिये फिर उसका कुछ उपाय ही नहीं है। उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। इसलिए उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। उसने नागदत्त से बहुत-बहुत प्रार्थना की पर नागदत्त ने उसकी एक नहीं मानी। उलटा उस पर क्रोधित होकर वह बोला—तुम अभी नहीं जानते कि इस विषय में मेरा कितना प्रवेश है? इसीलिए ऐसी डरपोकपने की बातें करते हो। पर मैंने ऐसे-ऐसे हजारों सर्पों को जीत कर पराजित किया है। मेरे सामने यह बेचारा तुच्छ जीव कर ही क्या सकता है? और फिर इसका डर तुम्हें हो या मुझे? वह काटेगा तो मुझे ही न? तुम मत घबराओ, उसके लिए मेरे पास बहुत से ऐसे साधन हैं, जिससे भयंकर से भयंकर सर्प का जहर भी क्षणमात्र में उतर सकता है ॥१८-१९॥

प्रियधर्म ने कहा—अच्छा यदि तुम्हारा अत्यन्त ही आग्रह है तो उससे मुझे कुछ हानि नहीं। इसके बाद उसने राजा आदि की साक्षी से अपने दूसरे सर्प को पिटारे में से निकाल कर बाहर कर दिया। सर्प निकलते ही फुंकार मारना शुरू किया। वह इतना जहरीला था कि उसके साँस की हवा ही से लोगों के सिर घूमने लगते थे। जैसे ही नागदत्त उसे हाथ में पकड़ने को उसकी ओर बढ़ा कि सर्प ने उसे बड़े जोर से काट खाया। सर्प का काटना था कि नागदत्त उसी समय चक्कर खाकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा और अचेत हो गया। उसकी यह दशा देखकर हाहाकार मच गया। सब की आँखों से आँसू

महाचिन्तातुरेणोच्चैर्नागधर्ममहीभुजा। अहो वादिन्यदि त्वं च करोष्येतं सचेतनः ॥२३॥
अर्धराज्यं तदा तुभ्यं दीयतेऽत्र मया ध्रुवम्। इत्युक्त्वा तेन तस्यैव स्वपुत्रोसौ समर्पितः ॥२४॥
स वादी प्राह भो नाथ कालसर्पेण भक्षितः। जीवत्यत्र यदा जैनीं दीक्षां गृह्णाति निर्मलाम् ॥२५॥
भूत्वा सचेतनश्चेति ममादेशोस्ति भूपते। एवमस्त्विति भूभर्त्ता संजगाद प्रमोदतः ॥२६॥
तदा चोत्थापयामास मंत्रवादी नृपात्मजम्। मिथ्यामार्गविषक्रान्तं प्राणिनां वा गुरुर्महान् ॥२७॥
सावधानस्ततो भूत्वा नागदत्तो विचक्षणः। श्रुत्वा नृपादितः सर्वां तां प्रतिज्ञां प्रसन्नधीः ॥२८॥
मुनेर्यमधरस्योच्चैः पादमूले सुभक्तितः। दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीं सुरेन्द्रैः परिपूजिताम् ॥२९॥
प्रियधर्मचरो देवः प्रकटीभूय भक्तिभाक्। नत्वा तं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा दिवं गतः ॥३०॥
ततः परमवैराग्यान्नागदत्तो मुनीश्वरः। विशुद्धचरणोपेतो जिनकल्पी बभूव च ॥३१॥
सुधीः श्रीमज्जिनेन्द्राणां नाना तीर्थेषु शर्मदाम्। यात्रां जिनेन्द्रसद्भक्तिं कुर्वाणः परया मुदा ॥३२॥
एकदासौ महाटव्या-मागच्छन्मुनिसत्तमः। सूरदत्ताश्रितैश्चोरै रुद्धमार्गो दुराशयैः ॥३३॥

की धारा बह चली। राजा ने उसी समय नौकरों को दौड़ाकर सर्प का विष उतारने वालों को बुलवाया। बहुत से मांत्रिक-तांत्रिक इकट्ठे हुए। सबने अपनी-अपनी करनी में कोई की कमी नहीं रक्खी। पर किसी का किया कुछ नहीं हुआ। सबने राजा को यही कहा कि महाराज, युवराज को तो कालसर्प ने काटा है, अब ये नहीं जी सकेंगे। राजा बड़े निराश हुए। उन्होंने सर्प वाले से यह कह कर, कि यदि तू इसे जिला देगा तो मैं तुझे अपना आधा राज्य दे दूँगा। नागदत्त को उसी के सुपुर्द कर दिया। प्रियधर्म तब बोला—महाराज, इसे काटा तो है कालसर्प ने और इसका जी जाना भी असंभव है, यदि यह जी जाये तो आप इसे मुनि हो जाने की आज्ञा दें तो, मैं भी एक बार इसके जिलाने का यत्न कर देखूँ। राजा ने कहा—मैं इसे भी स्वीकार करता हूँ। तुम इसे किसी तरह जिला दो, यही मुझे इष्ट है ॥२०-२६॥

इसके बाद प्रियधर्म ने कुछ मन्त्र पढ़ पढ़ाकर उसे जिन्दा कर दिया। जैसे मिथ्यात्वरूपी विष से अचेत हुए मनुष्यों को परोपकारी मुनिराज अपना स्वरूप प्राप्त करा देते हैं। जैसे ही नागदत्त सचेत होकर उठा और उसे राजा ने अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई वह उससे बहुत प्रसन्न हुआ। पश्चात् एक क्षणभर भी वह वहाँ न ठहर कर वन की ओर रवाना हो गया और यमधर मुनिराज के पास पहुँचकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। उसे दीक्षित हो जाने पर प्रियधर्म, जो गारुड़ि का वेष लेकर स्वर्ग से नागदत्त को सम्बोधने को आया था, उसे सब हाल कहकर और अन्त में नमस्कार कर स्वर्ग चला गया ॥२७-३०॥

मुनि बनकर नागदत्त खूब तपस्या करने लगे और अपने चारित्र को दिन पर दिन निर्मल करके अन्त में जिनकल्पी मुनि हो गए अर्थात् जिनभगवान् की तरह अब वे अकेले ही विहार करने लगे। एक दिन वे तीर्थयात्रा करते हुए एक भयानक वन में निकल आए। वहाँ चोरों का अड्डा था, सो चोरों ने मुनिराज को देख लिया। उन्होंने यह समझ कर, कि ये हमारा पता लोगों को बता देंगे और फिर हम पकड़ लिए जावेंगे, उन्हें पकड़ लिया और अपने मुखिया के पास वे लिवा ले गए। मुखिया का नाम

अस्मानसौ मुनिर्गत्वा लोकानां कथयिष्यति। भीत्वेति धर्त्तुमारब्धो महालुण्टाकपण्डितैः ॥३४॥
सूरदत्तस्तत प्राह चौराणामग्रणीर्महान्। अहो परमचारित्रो वीतरागोयमद्भुतम् ॥३५॥
पश्यन्नपि प्रभुर्धीमान्नैव पश्यति किंचन। न किंचित्कथयिष्यत्येष केषांचिद्धीरमानसः ॥३६॥
अतोसौ मुच्यतां शीघ्रं मा भयं कुरुत ध्रुवम्। तदाकर्ण्य भटैस्तैश्च विमुक्तो मुनिनायकः ॥३७॥
अत्रान्तरे मुनेस्तस्य माता या नागदत्तिका। नागश्रियं निजां पुत्रीं समादाय विभूतिभिः ॥३८॥
वत्सदेशेऽत्र कौशब्यां जिनदत्तमहीपतेः। पुत्राय जिनदत्ताया जिनपालाय धीमते ॥३९॥
तां दातुं बहुभिः सार-सम्पदाभिः समन्विता। सा गच्छन्ती तदामार्गे सुजनैः परिमण्डिताः ॥४०॥
सम्मुखं नागदत्तं तं मुनीन्द्रं वीक्ष्य भक्तितः। नत्वा प्राह मुने मार्गो विशुद्धोस्ति नवैति च ॥४१॥
मौनं कृत्वा मुनिः सोपि निर्गतो मोहवर्जितः। शत्रुमित्रसमानश्च महाचारित्रमण्डितः ॥४२॥
नागदत्ता तथा चौरैर्धृत्वा सर्वधनादिकम्। गृहीत्वा सूरदत्तस्य सुपुत्री सा समर्पिता ॥४३॥
तदा तस्करनाथोसौ सूरदत्तो जगाद च। चौराणामग्रतः किं भो भवद्भिः सम्विलोकितम् ॥४४॥
औदासीन्यं मुनीन्द्रस्य निस्पृहस्यास्य सर्वथा। एतया वन्दितश्चापि पृष्टश्चापि सुभक्तितः ॥४५॥
एतेषां भाक्तिकानां च नास्मद्वार्त्तां जगौ मुनिः। धीरो वीरोतिगंभीरो जिनतत्वविदाम्वरः ॥४६॥

था सूरदत्त। वह मुनि को देखकर बोला– तुमने इन्हें क्यों पकड़ा? ये तो बड़े सीधे और सरल स्वभावी हैं। इन्हें किसी से कुछ लेना देना नहीं, किसी पर इनका राग–द्वेष नहीं। ऐसे साधु को तुमने कष्ट देकर अच्छा नहीं किया। इन्हें जल्दी छोड़ दो। जिस भय की तुम इनके द्वारा आशंका करते हो, वह तुम्हारी भूल है। ये कोई बात ऐसी नहीं करते जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचे। अपने मुखिया की आज्ञा के अनुसार चोरों ने उसी समय मुनिराज को छोड़ दिया ॥३१–३७॥

इसी समय नागदत्त की माता अपनी पुत्री को साथ लिए हुए वत्स देश की ओर जा रही थी। उसे उसका विवाह कौशाम्बी के रहने वाले जिनदत्त सेठ के पुत्र धनपाल से करना था। अपने जमाई को दहेज देने के लिए उसने अपने पास उपयुक्त धन–सम्पत्ति भी रख ली थी। उसके साथ और भी पुरजन परिवार के लोग थे। सो उसे रास्ते में अपने पुत्र नागदत्त मुनि के दर्शन हो गए। उसने उन्हें प्रणाम कर पूछा–प्रभो, आगे रास्ता तो अच्छा है न? मुनिराज इसका कुछ उत्तर न देकर मौन सहित चले गए क्योंकि उनके लिए तो शत्रु और मित्र दोनों ही समान है ॥३८–४२॥

आगे चलकर नागदत्ता को चोरों ने पकड़कर उसका सब माल असबाब छीन लिया और उसकी कन्या को भी उन पापियों ने छीन लिया। तब सूरदत्त उनका मुखिया उनसे बोला–क्यों आपने देखी न उस मुनि की उदासीनता और निस्पृहता? जो इस स्त्री ने मुनि को प्रणाम किया और उनकी भक्ति की तब भी उन्होंने इससे कुछ नहीं कहा और हम लोगों ने उन्हें बाँधकर कष्ट पहुँचाया तब उन्होंने हमसे कुछ द्वेष नहीं किया। सच बात तो यह कि उनकी वह वृत्ति ही इतने ऊँचे दरजे की है, जो उसमें भक्ति करने वाले पर तो प्रेम नहीं और शत्रुता करने वाले से द्वेष नहीं। दिगम्बर मुनि बड़े ही शान्त, धीर, गम्भीर और तत्त्वदर्शी हुआ करते हैं ॥४३–४६॥

इत्याकर्ण्य ततः प्राह नागदत्ता प्रकोपतः। देहि भो सूरदत्त त्वं छुरिकामतिदारुणाम् ॥४७॥
कुक्षिं विदारयामीति यत्रायं नवमासकान्। निष्ठुरः स्थापितः कष्टैः कुपुत्रो मोहवर्जितः ॥४८॥
तच्छ्रुत्वा सूरदत्तोसौ महावैराग्यमाप्तवान्। या माता मुनिनाथस्य सा त्वं माता ममापि च ॥४९॥
इत्युक्त्वा तां प्रणम्योच्चैर्दत्वा सर्वधनं पुनः। संविसर्ज्य तथागत्य सूराणामग्रणीर्द्रुतम् ॥५०॥
नागदत्तमुनेः पाद-पद्मद्वैतं प्रणम्य च। स्तुत्वा तं परया प्रीत्या मुनीन्द्रं गुणशालिनम् ॥५१॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं तत्समीपे सुखप्रदाम्। क्रमात्सद्दर्शनज्ञान-चारित्रैर्जिनभाषितैः ॥५२॥
घातिकर्मक्षयं कृत्वा लोकालोकप्रकाशकम्। केवलज्ञानमुत्पाद्य देवेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ॥५३॥
सम्बोध्य सकलान्भव्यान्स्वर्गमोक्षप्रदायकः। शेषकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तवान्मोक्षमक्षयम् ॥५४॥
सकलगुणसमुद्रः सर्वदेवेन्द्रवन्द्य- स्त्रिभुवनजननेत्रोत्कृष्टनीलोत्पलेन्दुः।
सृजतु मम शिवानि श्रीजिनः सूरदत्तो भवतु च भवशान्त्यै नागदत्तो मुनीन्द्रः ॥५५॥

इति कथाकोशे नागदत्तमुनेः कथा समाप्ता।

नागदत्ता यह सुनकर, कि यह सब कारस्तानी मेरे ही पुत्र की है, यदि वह मुझे इस रास्ते का सब हाल कह देता, तो क्यों आज मेरी यह दुर्दशा होती? क्रोध के तीव्र आवेग से थरथर काँपने लगी। उसने अपने पुत्र की निर्दयता से दुःखी होकर चोरों के मुखिया सूरदत्त से कहा–भाई, जरा अपनी छुरी तो मुझे दे, जिससे मैं अपनी कोख को चीरकर शान्ति लाभ करूँ। जिस पापी का तुम जिक्र कर रहे हो, वह मेरा ही पुत्र है। जिसे मैंने नौ महीने कोख में रखा और बड़े-बड़े कष्ट सहे उसी ने मेरे साथ इतनी निर्दयता की कि मेरे पूछने पर भी उसने मुझे रास्ते का हाल नहीं बतलाया। तब ऐसे कुपुत्र को पैदाकर मुझे जीते रहने से ही क्या लाभ? ॥४७-४८॥

नागदत्ता का हाल जानकर सूरदत्त को बड़ा वैराग्य हुआ! वह उससे बोला–जो उस मुनि की माता है, वह मेरी भी माता, क्षमा करो। यह कहकर उसने उसका सब धन असबाब उसी समय लौटा दिया और आप मुनि के पास पहुँचा। उसने बड़ी भक्ति के साथ परम गुणवान् नागदत्त मुनि की स्तुति की और पश्चात् उन्हीं के द्वारा दीक्षा लेकर वह तपस्वी बन गया ॥४९-५२॥

साधु बनकर सूरदत्त ने तपश्चर्या और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर अनेक भव्य जीवों को कल्याण का रास्ता बतलाया और अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अविनाशी, अनन्त, मोक्ष पद प्राप्त किया ॥५३-५४॥

श्री नागदत्त और सूरदत्त मुनि संसार के दुःखों को नष्ट कर मेरे लिए शान्ति प्रदान करें, जो कि गुणों के समुद्र हैं, जो देवों द्वारा सदा नमस्कार किए जाते हैं और जो संसारी जीवों के नेत्ररूपी कुमुद पुष्पों को प्रफुल्लित करने के लिए चन्द्रमा समान हैं जिन्हें देखकर नेत्रों को बड़ा आनन्द मिलता है शान्ति मिलती हैं ॥५५॥

१५. कुसङ्गोद्भवदोषस्य कथा।

श्रीसर्वज्ञं नमस्कृत्य सर्वसत्वहितप्रदम्। वक्ष्ये दुस्सङ्गदोषस्य कथां दुस्सङ्गहानये ॥१॥
वत्सदेशेत्र विख्याते कौशाम्बीपत्तने शुभे। राजाभूद्धनपालाख्यो दुष्टानां मानमर्दकः ॥२॥
चतुर्वेदपुराणादि-सर्वशास्त्रविचक्षणः। पुरोहितो भवत्तस्य शिवभूतिर्द्विजोत्तमः ॥३॥
तत्रैव कल्पपालश्च पूर्णचन्द्रो धनैर्युतः। मणिभद्रा प्रिया तस्य सुमित्राख्या सुता भवत् ॥४॥
कदाचित्पूर्णचन्द्रोसौ सुमित्राया विवाहके। भोजयित्वाखिलं लोकं युक्तितो वरभोजनः ॥५॥
आमंत्रितश्च मित्रत्वाच्छिवभूतिः पुरोहितः। तेनोक्तं मित्र शूद्रान्न-मस्माकं नैव कल्पते ॥६॥
कल्पपालः पुनः प्राह पवित्रोद्यानके सुधीः। निष्पादितं महाविप्रैर्भोजनं क्रियतामिति ॥७॥
एवमस्त्विति तेनोक्तं ब्राह्मणेन तदाग्रहात्। तद्दानं हि प्रधानं स्याल्लोके यद्विनयान्वितम् ॥८॥

आत्म तत्त्व का श्रद्धान करना यही शुद्ध सम्यक्त्व है उसे जानना वही सम्यग्ज्ञान है और उसी में अपने मन को निश्चल कर ठहराना वही सम्यक्चारित्र हैं। यही रत्नत्रय है जो कि मोक्ष का मार्ग है अर्थात् तत्त्व को देखना, जानना व उसमें लीन होना यही मोक्ष का निश्चल मार्ग है।

१५. शिवभूति पुरोहित की कथा

(कुसंगति के फल की कथा)

मैं संसार के हित करने वाले जिनभगवान् को नमस्कार कर दुर्जनों की संगति से जो दोष उत्पन्न होते हैं, उससे सम्बन्ध रखने वाली एक कथा लिखता हूँ, जिससे कि लोग दुर्जनों की संगति छोड़ने का यत्न करें ॥१॥

यह कथा उस समय की है, जब कि कौशाम्बी का राजा धनपाल था। धनपाल अच्छा बुद्धिमान् और प्रजाहितैषी था। शत्रु तो उसका नाम सुनकर काँपते थे। राजा के यहाँ एक पुरोहित था। उसका नाम था शिवभूति। वह पौराणिक अच्छा था ॥२-३॥

वहीं दो शूद्र रहते थे। उनके नाम कल्पपाल और पूर्णचन्द्र थे। उनके पास कुछ धन भी था। उनमें पूर्णचन्द्र की स्त्री का नाम था मणिप्रभा। उसके एक सुमित्रा नाम की लड़की थी। पूर्णचन्द्र ने उसके विवाह में अपने जातीय भाइयों को जिमाया और उसका राज पुरोहित से कुछ परिचय होने से उसने उसे भी निमंत्रित किया। पर पुरोहित महाराज ने उसमें यह बाधा दी कि भाई, तुम्हारा भोजन तो मैं नहीं कर सकता। तब कल्पपाल ने बीच में ही कहा-अस्तु। आप हमारे यहाँ का भोजन न करें। हम ब्राह्मणों के द्वारा आपके लिए भोजन तैयार करवा देंगे तब तो आपको कुछ उजर न होगा। पुरोहितजी आखिर थे तो ब्राह्मण ही न? जिनके विषय में यह नीति प्रसिद्ध है कि ''असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः'' अर्थात् लोभ

ततोसौ पूर्णचन्द्रश्च विप्रहस्तेन भोजनम्। उद्याने कारयामास रसैः षड्भिः समन्वितम् ॥९॥
तत्रैकतो वने पूर्ण-चन्द्रं तं बन्धुभिर्युतम्। अन्यपार्श्वे द्विजं तं च पिबन्तं दुग्धशर्कराम् ॥१०॥
कैश्चिल्लोकैः समालोक्य धनपालमहीपतेः। प्रोक्तं देव कृतं मद्य-पानं ते शिवभूतिना ॥११॥
इत्याकर्ण्य महीनाथस्तमाहूय द्विजोत्तमम्। पृष्टवांश्च द्विजः प्राह कृतं नैव मया प्रभो ॥१२॥
परीक्षार्थं ततो राज्ञा शिवभूतिं पुरोहितं। कारितो वमनं विप्रभ् वेदवेदाङ्गपारगः ॥१३॥
स्वभावतोतिदुर्गन्धे कृते तस्मिंश्च वान्तिके। महाकोपेन सन्तप्तो धनपालो धराधिपः ॥१४॥
निर्भर्त्स्य निष्ठुरैर्वाक्यैः शिवभूति सुकष्टतः। देशान्निर्घाटयामास कुसङ्गः कष्टदो ध्रुवम् ॥१५॥
अतो भव्यैः परित्यज्य कुसङ्गं सर्वनिन्दितम्। सङ्गतिः सुजनानां च कर्त्तव्या परमादरात् ॥१६॥

श्रीमज्जैनपदाब्जयुग्मरसिकैर्भव्यालिभिः साधुभिः
कर्त्तव्या सह सङ्गतिः सुनितरां त्यक्त्वा कुसंगं बुधैः।
सम्मानं धनधान्यमुन्नतिपदं प्रीतिं सतां सर्वदा
या लोके च करोति सङ्गतिरसौ सा मे क्रियान्मङ्गलम् ॥१७॥

इति कथाकोशे कुसङ्गोद्भवदोषस्य कथा समाप्ता।

में फँसकर ब्राह्मण नष्ट हुए। सो वे एक बार के भोजन का लोभ नहीं रोक सके। उन्होंने यह विचार कर, कि जब ब्राह्मण भोजन बनाने वाले हैं, तब तो कुछ नुकसान नहीं, उसका भोजन करना स्वीकार कर लिया। पर इस बात पर उन्होंने तनिक भी विचार नहीं किया कि ब्राह्मणों ने भोजन बना दिया तो हुआ क्या? आखिर पैसा तो उसका है और न जाने उसने कैसे-कैसे पापों द्वारा उसे कमाया है।

जो हो, नियमित समय पर भोजन तैयार हुआ। एक ओर पुरोहित देवता भोजन के लिए बैठे और दूसरी और पूर्णचन्द्र का परिवार वर्ग। इस जगह इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों का चौका अलग-अलग था। भोजन होने लगा। पुरोहित जी ने मन भर माल उड़ाया। मानों उन्हें कभी ऐसे भोजन का मौका ही नसीब नहीं हुआ था। पुरोहित जी को वहाँ भोजन करते हुए कुछ लोगों ने देख लिया। उन्होंने पुरोहित की शिकायत महाराज से कर दी। महाराज ने उसकी परीक्षा करने हेतु उसे वमन करवाया तब उसके अतिदुर्गंधित वमन से राजा कुपित हुआ। महाराज ने एक शूद्र के साथ भोजन करने वाले, वर्ण व्यवस्था को धूल में मिलाने वाले ब्राह्मण को अपने राज्य में रखना उचित न समझ देश से निकलवा दिया। सच है-''कुसंगो कष्टदो ध्रुवम्'' अर्थात् बुरी संगति दुःख देने वाली ही होती है। इसलिए अच्छे पुरुषों को उचित है कि वे बुरों की संगति न कर सज्जनों की संगति करें, जिससे वे अपने धर्म, कुल, मान-मर्यादा की रक्षा कर सकें ॥४-१७॥

१६. पवित्रहृदयबालकस्य कथा।

बालो विलोक्यते यादृक्तादृशं वदति ध्रुवम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि तत्कथां बुद्धये नृणाम् ॥१॥
कौशाम्बीनगरे राजा जयपालो विचक्षणः। श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यो धनाढ्यो धर्मवत्सलः ॥२॥
भार्या सागरदत्ताभूत्तयोः पुत्रो बभूव च। नाम्ना समुद्रदत्तोसौ रूपलावण्यमण्डितः ॥३॥
तत्रैव नगरे जातो गोपायनवणिक्कुधीः। सप्तव्यसनसंसक्तः पापतो धनवर्जितः ॥४॥
तस्य सोमाभवद्भार्या तयोः पुत्रश्च सोमकः। संजातो वत्सरैः कैश्चित्क्रमेण प्रौढबालकः ॥५॥
तौ द्वौ स्वलीलया बालौ बालक्रीडां परस्परम्। नित्यं समुद्रदत्ताख्य-सोमकौ कुरुतः स्म च ॥६॥
एकदा धनलोभेन पापी गोपायनो वणिक्। बालं समुद्रदत्ताख्यं सर्वाभरणभूषितम् ॥७॥
पश्यतः सोमकस्याग्रे मारयित्वा स्वगेहके। गृहीत्वाभरणान्याशु गर्त्तायां क्षिप्तवान्कुधीः ॥८॥
तदा सागरदत्ताद्यैस्तत्कुटुम्बैः सुदुःखितैः। कष्टतोपि न दृष्टोसौ पुण्यहीने यथा सुखम् ॥९॥

---

१६. पवित्र हृदय वाले एक बालक की कथा

बालक जैसा देखता है, वैसा ही कह भी देता है क्योंकि उसका हृदय पवित्र रहता है। यहाँ मैं जिनभगवान् को नमस्कार कर एक ऐसी ही कथा लिखता हूँ, जिसे पढ़कर सर्व साधारण का ध्यान पापकर्मों के छोड़ने की ओर जाये ॥१॥

कौशाम्बी में जयपाल नाम के राजा हो गए हैं। उनके समय में वहीं एक सेठ हुआ है। उसका नाम समुद्रदत्त था और उसकी स्त्री का नाम समुद्रदत्ता। उसके एक पुत्र हुआ। उसका नाम सागरदत्त था। वह बहुत ही सुन्दर था। उसे देखकर सबका चित्त उसे खिलाने के लिए व्यग्र हो उठता था। समुद्रदत्त का एक गोपायन नाम का पड़ोसी था। पूर्वजन्म के पापकर्म के उदय से वह दरिद्री हुआ। इसलिए धन की लालसा ने उसे व्यसनी बना दिया। उसकी स्त्री का नाम सोमा था। उसके भी एक सोमक नाम का पुत्र था। वह धीरे-धीरे कुछ बड़ा हुआ और अपनी मीठी और तोतली बोली से माता पिता को आनन्दित करने लगा ॥२-५॥

एक दिन गोपायन के घर पर सागरदत्त और सोमक अपना बालसुलभ खेल खेल रहे थे। सागरदत्त इस समय गहना पहने हुए था। उसी समय पापी गोपायन आ गया। सागरदत्त को देखकर उसके हृदय में पाप वासना हुई दरवाजा बन्द कर वह कुछ लोभ के बहाने सागरदत्त को घर के भीतर लिवा ले गया। उसी के साथ सोमक भी दौड़ा गया। भीतर ले जाकर पापी गोपायन ने उस अबोध बालक का बड़ी निर्दयता से छुरी द्वारा गला काट दिया और उसका सब गहना उतारकर उसे गड्ढे में गाड़ दिया ॥६-८॥

कई दिनों तक बराबर कोशिश करते रहने पर भी जब सागरदत्त के माता-पिता को अपने बच्चे का कुछ हाल नहीं मिला, तब उन्होंने जान लिया कि किसी पापी ने उसे धन के लोभ से मार

ततः पुत्रमपश्यन्ती सती सागरदत्तिका। स्व रे समुद्रदत्तोसौ सोमकं प्रति संजगौ ॥१०॥
सोमकः प्राह बालत्वाद् गर्त्तायां तव पुत्रकः। तिष्ठतीति न वेत्त्येव बालकः किंचिदप्यहो ॥११॥
पापी पापं करोत्येव प्रच्छन्नपि पापतः। तत्प्रसिद्धं भवत्येव कष्टकोटिप्रदायकम् ॥१२॥
तत्र सागरदत्ता सा मृतं पुत्रं विलोक्य तम्। भर्तुः सागरदत्तस्य जगौ वार्ता सुदुःखदाम् ॥१३॥
तेनोक्तं यमदण्डाख्य-कोट्टपालस्य तेन च। भूपतेस्तेन कोपेन चक्रे तन्निगृहं भृशम् ॥१४॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं त्यक्त्वा पापं सुदुःखदम्। धर्मः श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तः सेवनीयः सुखप्रदः ॥१५॥

डाला है। उन्हें अपने प्रिय बच्चे की मृत्यु से जो दुःख हुआ उसे वे ही पाठक अनुभव कर सकते हैं जिन पर कभी ऐसा प्रसंग आया हो। आखिर बेचारे अपना मन मसोस कर रहे गए। इसके सिवा वे और करते भी तो क्या? ॥९॥

कुछ दिन बीतने पर एक दिन सोमक समुददत्त के घर के आँगन में खेल रहा था। तब समुद्रदत्ता के मन में न जाने क्या बुद्धि उत्पन्न हुई सो उसने सोमक को बड़े प्यारे से अपने पास बुलाकर उससे पूछा–भैया, बतला तो तेरा साथी सागरदत्त कहाँ गया है? तूने उसे देखा है?

सोमक बालक था और साथ ही बालस्वभाव के अनुसार पवित्र हृदयी था। इसलिए उसने झट से कह दिया कि वह तो मेरे घर में एक गड्ढे में गड़ा हुआ है। बेचारी समुद्रदत्ता अपने बच्चे की दुर्दशा सुनते ही धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी। इतने में समुद्रदत्त भी वहीं आ पहुँचा। उसने उसे होश में लाकर उसके मूर्च्छित हो जाने का कारण पूछा। समुद्रदत्त ने सोमक का कहा हाल उसे सुना दिया। समुद्रदत्त ने उसी समय दौड़े जाकर यह खबर पुलिस को दी। पुलिस ने आकर मृत बच्चे की लाश सहित गोपायन को गिरफ्तार किया, मुकदमा राजा के पास पहुँचा। उन्होंने गोपायन के कर्म के अनुसार उसे फाँसी की सजा दी। बहुत ठीक कहा है–पापी लोग बहुत छुपकर भी पाप करते हैं, पर वह नहीं छुपता और प्रकट हो ही जाता है और परिणाम में अनन्त काल तक संसार के दुःख भोगना पड़ता है। इसलिए सुख चाहने वाले पुरुषों को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पाप, जो कि दुःख देने वाले हैं, छोड़कर सुख देने वाला दयाधर्म, जिनधर्म ग्रहण करना उचित है ॥१०-१५॥

बालपने में विशेष ज्ञान नहीं होता, इसलिए बालक अपना हिताहित नहीं जान पाता, युवावस्था में कुछ ज्ञान का विकास होता है, पर काम उसे अपने हित की ओर नहीं फटकने देता और वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ जर्जर हो जाती है, किसी काम के करने में उत्साह नहीं रहता और न शक्ति ही रहती है। इसके सिवा और जो अवस्थाएँ हैं, उनमें कुटुम्ब परिवार के पालन-पोषण का भार सिर पर रहने के कारण सदा अनेक प्रकार की चिन्ताएँ घेरे रहती हैं कभी स्वस्थचित्त होने ही नहीं पाता, इसलिए तब भी आत्महित का कुछ साधन प्राप्त नहीं होता। आखिर होता यह है कि जैसे पैदा हुए, वैसे ही चल बसते हैं। अत्यन्त कठिनता से प्राप्त हुई मनुष्य पर्याय को समुद्र में रत्न फेंक देने की

बालो वेत्ति हिताहितं न विकलो लोकेत्र कामातुर-
स्तारुण्ये गतयौवने च नितरां प्राणी जरापीडितः।
मध्यस्थोपि कुटुम्बदुर्भरतृषाक्रान्तः कदा स्वस्थता
दैवात्प्राप्य जिनेन्द्रशासनमसौ भव्योस्तु धर्माशयः ॥१६॥
इति कथाकोशे पवित्रहृदयबालकस्य कथा समाप्ता।

१७. धनदत्तराज्ञः कथा

नत्वा श्रीमज्जिनाधीशं सुराधीशैः समर्चितम्। धनदत्तमहीभर्तुः सत्कथां कथयाम्यहम् ॥१॥
अन्धदेशेऽत्र विख्याते धान्यादिकनकेपुरे। धनदत्ताभिधो राजा सद्दृष्टिर्धर्मवत्सलः ॥२॥
संघश्रीवन्दकस्तस्य मंत्री मिथ्यामताश्रितः। एवं राज्यं करोति स्म धर्मकर्मपरो नृपः ॥३॥
एकदा धनदत्ताख्या-संघश्रीभ्यां स्वलीलया। ताभ्यां मंत्रप्रकुर्वद्भ्यां प्रासादस्योपरि क्षितौ ॥४॥
कालेऽपराण्हके तत्र समालोक्य नभस्तले। मुनीन्द्रौ चारणौ चित्ते चमत्कारविधायिनौ ॥५॥
ससम्भ्रमं समुत्थाय कृत्वा तद्वन्दनां मुदा। स्वान्तिके तौ समानीतौ साधुसङ्गः सतां प्रियः ॥६॥
तदा तस्य महीभर्तुर्वचनेन विचक्षणौ। श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म-व्याख्यानं संविधाय तौ ॥७॥

तरह गँवा बैठते हैं और प्राप्त करते हैं वही एक संसार भ्रमण। जिसमें अनन्त काल ठोकरें खाते-खाते बीत गए। पर ऐसा करना उचित नहीं किन्तु प्रत्येक जीवमात्र को अपने आत्महित की ओर ध्यान देना परमावश्यक है। उन्हें सुख प्रदान करने वाला जिनधर्म ग्रहण कर शान्तिलाभ करना चाहिए ॥१६॥

१७. धनदत्त राजा की कथा

देवादि के द्वारा पूज्य और अनन्तज्ञान, दर्शनादि आत्मीयश्री से विभूषित जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं धनदत्त राजा की पवित्र कथा लिखता हूँ ॥१॥

अन्धदेशान्तर्गत कनकपुर नामक एक प्रसिद्ध और मनोहर शहर था। उसके राजा थे धनदत्त। वे सम्यग्दृष्टि थे, गुणवान् थे और धर्मप्रेमी थे। राजमंत्री का नाम श्रीवन्दक था। वह बौद्ध धर्मानुयायी था परन्तु तब भी राजा अपने मंत्री की सहायता से राजकार्य अच्छा चलाते थे। उन्हें किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती थी ॥२-३॥

एक दिन राजा और मंत्री राजमहल के ऊपर बैठे हुए कुछ राज्य सम्बन्धी विचार कर रहे थे कि राजा को आकाशमार्ग से जाते हुए दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों के दर्शन हुए। राजा ने हर्ष के साथ उठकर मुनिराज को बड़े विनय से नमस्कार किया और अपने महल में उनका आह्वान किया। ठीक भी है 'साधुसंगः सतां प्रियः' अर्थात्-साधुओं की संगति सज्जनों को बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है ॥४-६॥

इसके बाद राजा के प्रार्थना करने पर मुनिराज ने उसे धर्मोपदेश दिया और चलते समय वे श्रीवन्दक मंत्री को अपने साथ लिवा ले गए। ले जाकर उन्होंने उसे समझाया और आत्महित की इच्छा

संघश्रीवन्दकं कृत्वा श्रावकं परमादरात्। स्वस्थानं जग्मतुः पूतौ मुनीन्द्रौ गुणशालिनौ ॥८॥
बुद्धश्रीवन्दकं सोपि संघश्रीः स्वगुरुं सदा। त्रिसन्ध्यं वन्दितुं याति पुरा मिथ्यात्वमोहितः ॥९॥
तस्मिन्दिने गतो नैव वन्दनासमये ततः। बुद्धश्रिया समाहूय स नीतो निजपार्श्वकम् ॥१०॥
नमस्कारमकुर्वन्सन्पृष्टोसौ वन्दकेन च। न प्रणामं करोषीति कथं रे साम्प्रतं मम ॥११॥
मंत्रिणा मुनिवृत्तान्ते कथिते सुमनोहरे। वन्दकेन तदा प्रोक्तं पापिना पलभक्षिणा ॥१२॥
हा हा त्वं वञ्चितोसीति सन्ति नैवात्र चारणाः। मुनयो गगने मूढ गम्यते किं निराश्रये ॥१३॥
राजा ते कपटी लोके दर्शयामास साम्प्रतम्। इन्द्रजालं महाभ्रान्तिं मा गास्त्वं बुद्धभाक्तिकः ॥१४॥
एवं मिथ्यात्वमानीतो वारितो नितरामसौ। प्रभाते त्वं च मा गच्छ भूपतेः सदसि ध्रुवम् ॥१५॥
गत्वापि तत्र मावादी मया दृष्टौ मुनी इति। संघश्रीस्तत्समाकर्ण्य श्रावकत्वमपाकरोत् ॥१६॥
स्वयं ये पापिनो लोके परं कुर्वन्ति पापिनम्। यथा सन्तप्तमानोऽसौ दहत्यग्निर्न संशयः ॥१७॥
धनदत्तो महीभर्त्ता सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः। प्रभाते स्वसभामध्ये महाधर्मानुरागतः ॥१८॥

से उसके प्रार्थना करने पर उसे श्रावक के व्रत दे दिये। श्रीवन्दक अपने स्थान लौट आया। इसके पहले श्रीवन्दक अपने बौद्धगुरु की वन्दनाभक्ति करने को प्रतिदिन उनके पास जाया करता था। सो जब उसने श्रावकव्रत ग्रहण कर लिए तब से उसने जाना छोड़ दिया। यह देख बौद्धगुरु ने उसे बुलाया, पर जब श्रीवन्दक ने आकर भी उसे नमस्कार नहीं किया? तब संघश्री ने उससे पूछा–क्यों आज तुमने मुझे नमस्कार नहीं किया। उत्तर में मंत्री ने मुनि के आने, उपदेश करने और अपने व्रत ग्रहण करने का सब हाल संघश्री से कह सुनाया। सुनकर संघश्री बड़े दुःख के साथ बोला–हाय! तू ठगा गया, पापियों ने तुझे बड़ा धोखा दिया। क्या कभी यह संभव है कि निराश्रय आकाश में भी कोई चल सकता है? जान पड़ता है तुम्हारा राजा बड़ा कपटी और ऐन्द्रजालिक है। इसलिए उसने तुम्हें ऐसा आश्चर्य दिखला कर अपने धर्म में शामिल कर लिया। तुम तो भगवान् बुद्ध के इतने विश्वासी थे, फिर भी तुम उस पापी राजा की बहकावे में आ गए? इस तरह उसे बहुत कुछ ऊँचा नीचा समझाकर संघश्री ने कहा अब तुम कभी राजसभा में नहीं जाना और जाना भी पड़े तो यह आज का हाल राजा से नहीं कहना। कारण वह जैनी है। सो बुद्धधर्म पर स्वभाव ही से उसे प्रेम नहीं होगा। इसलिए क्या मालूम कब वह बुद्धधर्म का अनिष्ट करने को तैयार हो जाये? बेचारा श्रीवन्दक फिर संघ श्री की चिकनी चुपड़ी बातों में आ गया। उसने श्रावक-धर्म को भी उसी समय जलांजलि दे दी। बहुत ठीक कहा गया है– ॥७-१६॥

जो स्वयं पापी होते हैं वे औरों को भी पापी बना डालते हैं। यह उनका स्वभाव ही होता है। जैसे अग्नि स्वयं भी गरम होती है और दूसरों को भी जला देती है ॥१७॥

दूसरे दिन धनदत्त ने राजसभा में बड़े आनन्द और धर्मप्रेम के साथ चारणमुनि का हाल सुनाया। उनमें प्रायः लोगों को, जो कि जैन नहीं थे, बहुत आश्चर्य हुआ। उनका विश्वास राजा के

सामन्तादिमहाभव्य-लोकानामग्रतः सुधीः। चक्रे चारणयोगीन्द्र-समागमकथां शुभाम् ॥१९॥
विश्वासहेतवे तत्र समाहूय च मंत्रिणम्। अहो मंत्रिन्नृपः प्राह कीदृशौ तौ मुनीश्वरौ ॥२०॥
तेनोक्तं निन्दकेनेति वन्दकेन सुपापिना। नैव दृष्टं किमप्यत्र मया भो चारणादिकम् ॥२१॥
तदा संघश्रियस्तस्य महापापप्रभावतः। कष्टतः स्फुटिते नेत्रे तत्क्षणाद् दुष्टचेतसः ॥२२॥
प्रभावो जिनधर्मस्य सूर्यस्येव जगत्त्रये। नैव संछाद्यते केन घूकप्रायेण पापिना ॥२३॥
जैनधर्मं प्रशस्योच्चैः सर्वे ते भूमिपादयः। संजाताः श्रावकाचारः चञ्चवो भक्तिनिर्भराः ॥२४॥

इत्थं श्रीजिनशासनेऽतिविमले देवेन्द्रचन्द्रार्चिते
ज्ञात्वा भव्यजनैः प्रभावमतुलं स्वर्गापवर्गप्रदे।
त्यक्त्वा भ्रांतिमतीव शर्मनिलये कार्या मतिर्निर्मला
धर्मे श्रीजिनभाषितेऽत्र नितरां सर्वेष्टसंसाधिनी ॥२५॥

इति कथाकोशे धनदत्तराज्ञः कथा समाप्ता।

कथन पर नहीं जमा। सब आश्चर्य भरी दृष्टि से राजा के मुँह की ओर देखने लगे। राजा को जान पड़ा कि मेरे कहने पर लोगों को विश्वास नहीं हुआ। तब उन्होंने अपनी गंभीरता को हँसी के रूप में परिवर्तित कर झट से कहा, हाँ मैं यह कहना तो भूल ही गया कि उस समय हमारे मंत्री महाशय भी मेरे पास ही थे। यह कहकर उन्होंने मंत्री पर नजर दौड़ाई पर वे उन्हें नहीं दीख पड़े। तब राजा ने उसी समय नौकरों को भेजकर श्रीवन्दक को बुलवाया। उसके आते ही राजा ने अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उससे कहा–मंत्री जी, कल दोपहर का हाल तो इन सबको सुनाएँ कि वे चारणमुनि कैसे थे? तब बौद्धगुरु का बहकाया हुआ पापी श्रीवन्दक बोल उठा कि महाराज, मैंने तो उन्हें नहीं देखा और न यह संभव ही है कि आकाश में कोई चल सके? पापी श्रीवन्दक के मुँह से उक्त वाक्यों का निकलना था कि उसी समय उसकी दोनों आँखें मुनिनिन्दा के तीव्र पाप के उदय से फूट गईं ॥१८-२२॥

जैसे संसार में फैले हुए सूर्य के प्रभाव को उल्लू नहीं रोक सकता, ठीक उसी तरह पापी लोग पवित्र जिनधर्म के प्रभाव को कभी नहीं रोक सकते। उक्त घटना को देखकर राजा वगैरह ने जिनधर्म की खूब प्रशंसा की और श्रावक धर्म स्वीकार कर वे उपासक बन गए ॥२३-२४॥

इस प्रकार निर्मल और देवादि के द्वारा पूज्य जिनशासन का प्रभाव देखकर भव्य पुरुषों को उचित है कि वे निर्भ्रान्त होकर सुख के खजाने और स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले पवित्र जिनधर्म की ओर अपनी निर्मल और मनोवांछित की देने वाली बुद्धि को लगावें ॥२५॥

१८. ब्रह्मदत्तस्य कथा।

प्रणम्य परया भक्त्या जिनेन्द्रं जगदर्चितम्। ब्रह्मदत्तकथां वक्ष्ये सतां सद्बोधहेतवे ॥१॥
काम्पिल्यनगरेऽत्रैव राजा ब्रह्मरथः सुधीः। राज्ञी रूपगुणोपेता रामिल्या प्राणवल्लभा ॥२॥
तयोर्द्वादशचक्रेशो ब्रह्मदत्तोभवत्सुतः। षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं संसाध्य सुखतः स्थितः ॥३॥
एकदा सूपकारश्च तस्मै विजयसेनवाक्। भोजनावसरे तप्तं पायसं दत्तवांस्ततः ॥४॥
उष्णत्वात्तेन तद्भोक्तु-मसमर्थेन चक्रिणा। तेनैव पायसेनाशु क्रोधान्धेन कुबुद्धिना ॥५॥
मस्तके दाहयित्वा च सूपकारः स मारितः। धिक्कोपं प्राणिनां लोके कष्टकोटिविधायकम् ॥६॥
ततो विजयसेनोसौ सूपकारः सुदुःखितः। मृत्वा क्षारसमुद्रस्थे रत्नद्वीपे सुविस्तृते ॥७॥
भूत्वा व्यन्तरदेवश्च विभंगज्ञानचक्षुषा। ज्ञात्वा पूर्वभवं कष्टं महाकोपेन कम्पितः ॥८॥
परिव्राजकरूपेण पूर्ववैरेण संयुतः। कदल्यादिमहामिष्ट-फलान्यादाय वेगतः ॥९॥
तत्रागत्य ततस्तस्मै ब्रह्मदत्ताय दत्तवान्। स जिह्वालम्पटश्चक्री भक्षित्वा सुफलानि च ॥१०॥

---

१८. ब्रह्मदत्त की कथा

परम भक्ति से संसार पूज्य जिन भगवान् को नमस्कार कर मैं ब्रह्मदत्त की कथा लिखता हूँ। वह इसलिए कि सत्पुरुषों को इसके द्वारा कुछ शिक्षा मिले ॥१॥

कांपिल्य नामक नगर में एक ब्रह्मरथ नाम का राजा रहता था। उसकी रानी का नाम था रामिली। वह सुन्दरी थी, विदुषी थी और राजा को प्राणों से भी कहीं प्यारी थी। बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त इसी के पुत्र थे। वे छह खण्ड पृथ्वी को अपने वश करके सुखपूर्वक अपना राज्य शासन का काम करते थे ॥२-३॥

एक दिन राजा भोजन करने को बैठे उस समय उनके विजयसेन नाम के रसोइये ने उन्हें खीर परोसी। पर वह बहुत गरम थी, इसलिए राजा उसे खा न सके। उसे इतनी गरम देखकर राजा रसोइये पर बहुत गुस्सा हुए। गुस्से में आकर उन्होंने खीर के उसी बर्तन को रसोइये के सिर पर दे मारा। उसका सिर सब जल गया। साथ ही वह मर गया। हाय! ऐसे क्रोध को धिक्कार है, जिससे मनुष्य अपना हिताहित न देखकर बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठता है और फिर अनन्त काल तक कुगतियों में दुःख भोगता रहता है ॥४-६॥

रसोइया बड़े दुःख से मरा सही, पर उसके परिणाम उस समय भी शान्त रहे। वह मरकर लवण समुद्रान्तर्गत विशालरत्न नामक द्वीप में व्यन्तर देव हुआ। विभंगावधिज्ञान से वह अपने पूर्वभव की कष्ट कथा जानकर क्रोध के मारे काँपने लगा। वह एक संन्यासी के वेष में राजा के पास आया और राजा को उसने केला, आम, सेव, सन्तरा आदि बहुत से फल भेंट किए। राजा जीभ की लोलुपता से उन्हें खाकर संन्यासी से बोला—साधुजी, कहिए आप ये फल कहाँ से लाये? और कहाँ

सन्तुष्टः पृष्टवानित्थं परिव्राजक भो वद। ईदृशानि फलान्युच्चैः कुत्र सन्ति प्रियाणि च ॥११॥
तच्छ्रुत्वा सोपि संप्राह समुद्रे भो नरेश्वर। मदीयमठसान्निध्ये वाटिकायां बहून्यलम् ॥१२॥
तदाकर्ण्य नृपस्तत्र गन्तुकामोभवत्तराम्। शुभाशुभं न जानाति हा कष्टं लम्पटः पुमान् ॥१३॥
अन्तःपुरादिसंयुक्तं नीत्वा तं तेन सागरे। मारणार्थं समारब्धस्तथोच्चैरुपसर्गकः ॥१४॥
तदा पञ्चनमस्कारं स्मरन्तं चक्रवर्त्तिनम्। देवो मारयितुं तत्र न समर्थो बभूव च ॥१५॥
ततोसौ प्रकटो भूत्वा देवो दुष्टाशयोवदत्। रे रे दुष्ट त्वया कष्टं मारितोहं पुरा किल ॥१६॥
अतोहं मारयामि त्वां साम्प्रतं बहु दुःखतः। यदि त्वं नास्ति जैनेन्द्र-शासनं भुवनत्रये ॥१७॥
भणित्वेति प्रशस्योच्चैः स्ववाक्यैः परदर्शनम्। लिखित्वा च जले पञ्च-नमस्कारपदानि च ॥१८॥
विनाशयसि पादेन त्वां मुञ्चामि तदा ध्रुवम्। ब्रह्मदत्तस्ततो मिथ्या-दृष्टिश्चक्रे तदीरितम् ॥१९॥
मारितः सिन्धुमध्येऽसौ व्यन्तरेण सुवैरिणा। सप्तमं नरकं प्राप्तो मिथ्यात्वं कष्टकोटिदम् ॥२०॥

मिलेंगे? ये तो बड़े ही मीठे हैं। मैंने तो आज तक ऐसे फल कभी नहीं खाये। मैं आपकी इस भेंट से बहुत खुश हुआ ॥७-११॥

संन्यासी ने कहा, महाराज, मेरा घर एक टापू में है। वहीं एक बहुत सुन्दर बगीचा है। उसी के फल हैं और अनन्त फल उसमें लगे हुए हैं। संन्यासी की रसभरी बात सुनकर राजा के मुँह में पानी भर आया। उसने संन्यासी के साथ जाने की तैयार की। सच है-॥१२-१३॥

जिह्वा लोलुपी पुरुष भला-बुरा नहीं जान पाते, यह बड़े दुःख की बात है। यही हाल राजा का हुआ। जब वह लोलुपता के वश हो उस संन्यासी के साथ समुद्र के बीच में पहुँचा, तब उसने राजा को मारने के लिए बड़ा कष्ट देना शुरू किया। चक्रवर्ती अपने को कष्टों से घिरा देखकर पंचनमस्कार मंत्र की आराधना करने लगा। उसके प्रभाव से कपटी संन्यासी की सब शक्ति रुद्ध हो गई। वह राजा को कुछ कष्ट न दे सका। आखिर प्रकट होकर उसने राजा से कहा-दुष्ट, याद है? मैं जब तेरा रसोइया था, तब तूने मुझे जान से मार डाला था? वहीं आग आज मेरे हृदय को जला रही है और उसी को बुझाने के लिए, अपने पूर्व भव का बैर निकालने के लिए मैं तुझे यहाँ छलकर लाया हूँ और बहुत कष्ट के साथ तुझे जान से मारूँगा, जिससे फिर कभी तू ऐसा अनर्थ न करे। पर यदि तू एक काम करे तो बच भी सकता हैं। वह यह कि तू अपने मुँह से पहले तो यह कह दे कि संसार में जिनधर्म ही नहीं है और जो कुछ है वह अन्य धर्म है। इसके सिवा पंचनमस्कार मंत्र को जल में लिखकर उसे अपने पाँवों से मिटा दे, तब मैं तुझे छोड़ सकता हूँ। मिथ्यादृष्टि ब्रह्मदत्त ने उसके बहकाने में आकर वही किया जैसा उसे देव ने कहा था। उसका व्यन्तर के कहे अनुसार करना था कि उसने चक्रवर्ती को उसी समय मारकर समुद्र में फेंक दिया। अपना वैर उसने निकाल लिया। चक्रवर्ती मरकर मिथ्यात्व के उदय से सातवें नरक गया। सच है मिथ्यात्व अनन्त दुःखों का देने वाला है। जिसका जिनधर्म पर विश्वास नहीं क्या उसे इस अनन्त दुःखमय संसार में कभी सुख हुआ है? नहीं। मिथ्यात्व के समान

यस्य चित्ते न विश्वासो धर्मे श्रीजिनभाषिते। तस्य किं कुशलं लोके महादुष्कर्मकारिणः ॥२१॥
मिथ्यात्वेन समं किंचिन्निन्द्यं न भुवनत्रये। यतोऽसौ चक्रवर्त्ती च सप्तमं नरकं गतः ॥२२॥
तस्मात्तद्दूरतस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वं वान्तिवद्बुधाः। स्वर्मोक्षसाधने हेतुं सम्यक्त्वं भावयन्तु वै ॥२३॥
देवोर्हन्भुवनत्रयेऽत्र नितरां दोषौघसङ्गोज्झितो देवेन्द्रार्कनरेन्द्रखेचरशतैर्भक्त्या सदाभ्यर्चितः।
तद्वाक्यं भवसागरप्रवहणप्रायं महाशर्मदं नित्यं चेतसि भावितं च भवतां कुर्याद्वरं मङ्गलम् ॥२४॥

इति कथाकोशे ब्रह्मदत्तचक्रिणः कथा समाप्ता।

१९. श्रीश्रेणिकनृपस्य कथा

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम्। वक्ष्ये श्रीश्रेणिकस्योचैः सत्कथां श्रेयसे नृणाम् ॥१॥
देशेऽत्र मगधे ख्याते पुरे राजगृहे परे। राजा श्रीश्रेणिकस्तत्र राजविद्याविराजितः ॥२॥
तद्राज्ञी चेलिनी नाम्नी सम्यग्दृष्टिर्विचक्षणा। श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-पूजनैकपरायणा ॥३॥
एकदा श्रेणिकेनोक्तं शृणु त्वं देवि वच्म्यहम्। सर्वधर्मप्रधानोयं विष्णुधर्मोऽत्र वर्त्तते ॥४॥
अतस्त्वया रतिः कार्या तत्रैवाशु सुखप्रदे। तदाकर्ण्य प्रभोर्वाक्यं जैनतत्वेषु निश्चला ॥५॥
चेलना विनयोपेता संजगाद प्रियं वचः। भो देव विष्णुभक्तानां भोजनं दीयते मया ॥६॥

संसार में और कोई इतना निन्द्य नहीं है। उसी से तो चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त सातवें नरक गया। इसलिए आत्महित के चाहने वाले पुरुषों को दूर से मिथ्यात्व छोड़कर स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति का कारण सम्यक्त्व ग्रहण करना उचित है ॥१४-२३॥

संसार में सच्चे देव अरहन्त भगवान् हैं, जो क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, रोग, शोक, चिन्ता, भय आदि दोषों से और धन-धान्य, दासी-दास, सोना-चाँदी आदि दस प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, जो इन्द्र, चक्रवर्ती, देव, विद्याधरों द्वारा वंद्य हैं, जिनके वचन जीव मात्र को सुख देने वाले और भव समुद्र से तिरने के लिए जहाज समान हैं, उन अर्हन्त भगवान् का आप पवित्र भावों से सदा ध्यान किया कीजिए कि जिससे वे आपके लिए कल्याण पथ के प्रदर्शक हो ॥२४॥

१९. श्रेणिक राजा की कथा

केवलज्ञानरूपी नेत्र के द्वारा समस्त संसार के पदार्थों के देखने, जानने वाले और जगत्पूज्य श्री जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं राजा श्रेणिक की कथा लिखता हूँ, जिसके पढ़ने से सर्वसाधारण का हित हो। श्रेणिक मगध देश के अधीश्वर थे। मगध की प्रधान राजधानी राजगृह थी। श्रेणिक कई विषयों के सिवा राजनीति के बहुत अच्छे विद्वान् थे। उनकी महारानी चेलना बड़ी धर्मात्मा, जिनभगवान् की भक्त और सम्यग्दर्शन से विभूषित थी। एक दिन श्रेणिक ने उससे कहा-देखो, संसार में वैष्णव धर्म की बहुत प्रतिष्ठा है और वह जैसा सुख देने वाला है वैसा और धर्म नहीं। इसलिए तुम्हें भी उसी धर्म का आश्रय स्वीकार करना उचित है। सुनकर चेलना देवी, जिसे कि जिनधर्म पर अगाध विश्वास था, बड़े विनय से बोली-नाथ, अच्छी बात है, समय पाकर मैं इस विषय की परीक्षा करूँगी ॥१-६॥

अथैकदा समाहूय भोजनार्थं स्वमण्डपे। गौरवात्स्थापयामास सर्वान्भागवतान्सती ॥७॥
तत्र ते कपटोपेताः शठा ध्यानेन संस्थिताः। पृष्टास्तया भवन्तोऽत्र किं कुर्वन्ति तपस्विनः ॥८॥
इत्याकर्ण्य जगुस्तेऽपि त्यक्त्वा देहं मलैर्भृतम्। जीवं विष्णुपदं नीत्वा तिष्ठामो देवि सौख्यतः ॥९॥
ततस्तया महादेव्या चेलिन्या सोपि मण्डपः। प्रज्वलितोग्निना नष्टाः कष्टास्ते वायसा यथा ॥१०॥
राज्ञा रुष्टेन सा प्रोक्ता भक्तिर्नास्ति यदि ध्रुवम्। किं ते मारयितुं चैतान्युक्तं कष्टात्तपस्विनः ॥११॥
तयोक्तं देव भो त्यक्त्वा कुत्सितं स्ववपुर्द्रुतम्। एते विष्णुपदं प्राप्ताः सारसौख्यसमन्वितम् ॥१२॥
नित्यं तत्रैव तिष्ठन्ति किमत्रागमनेन च। इति ज्ञात्वोपकाराय मयेदं निर्मितं प्रभो ॥१३॥
अस्त्येव मम वाक्यस्य निश्चयार्थं महीपते। सद्दृष्टान्तकथां वक्ष्ये श्रूयतां परमादरात् ॥१४॥
''वत्सदेशे सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने प्रभुः। प्रजापालो महाराज्यं करोति स्म स्वलीलया ॥१५॥

इसके कुछ दिनों बाद चेलना ने कुछ भागवत साधुओं का अपने यहाँ निमंत्रण किया और बड़े गौरव के साथ अपने यहाँ उन्हें बुलाया। वहाँ आकर अपना ढोंग दिखलाने के लिए वे कपट मायाचार से ईश्वराराधन करने को बैठे। उस समय चेलना ने उनसे पूछा, आप लोग क्या करते है? उत्तर में उन्होंने कहा–देवी, हम लोग मलमूत्रादि अपवित्र वस्तुओं से भरे हुए शरीर को छोड़कर अपने आत्मा को विष्णु अवस्था में प्राप्त कर स्वानुभवजन्य सुख भोगते हैं। सुनकर देवी चेलना ने उस मंडप में, जिसमें सब साधु ध्यान करने को बैठे थे, आग लगवा दी। आग लगते ही वे सब कौओं की तरह भाग खड़े हुए। यह देखकर श्रेणिक ने बड़े क्रोध के साथ चेलना से कहा–आज तुमने साधुओं के साथ बड़ा अनर्थ किया। यदि तुम्हारी उन पर भक्ति नहीं थी, तो क्या उसका यह अर्थ है कि उन्हें जान से मार डालना? बतलाओ तो उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया, जिससे तुम उनके जीवन की ही प्यासी हो उठी? ॥७-११॥

रानी बोली–नाथ, मैंने तो कोई बुरा काम नहीं किया और जो किया वह उन्हीं के कहे अनुसार उनके लिए सुख का कारण था। मैंने तो केवल परोपकार बुद्धि से ऐसा किया था। जब वे लोग ध्यान करने को बैठे तब मैंने उनसे पूछा कि आप लोग क्या करते हैं? तब उन्होंने मुझे कहा था कि हम अपवित्र शरीर छोड़कर उत्तम सुखमय विष्णुपद प्राप्त करते हैं तब मैंने सोचा कि ओहो, ये जब शरीर छोड़कर विष्णुपद प्राप्त करते हैं तब तो बहुत अच्छा है और इससे उत्तम यह होगा कि यदि ये निरन्तर विष्णु बने रहें। संसार में बार-बार आना और जाना यह इनके पीछे पचड़ा क्यों? यह विचार कर वे निरन्तर विष्णुपद में रहकर सुखभोग करें, इस परोपकार बुद्धि से मैंने मंडप में आग लगवा दी थी। आप ही अब विचार कर बतलाइए कि इसमें मैंने सिवा परोपकार के कौन बुरा काम किया? और सुनिये मेरे वचनों पर आपको विश्वास हो, इसलिए एक कथा भी आपको सुनाये देती हूँ ॥१२-१४॥

''जिस समय की यह कथा है, उस समय वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी के राजा प्रजापाल थे। वे अपना राज्य शासन नीति के साथ करते हुए सुख से समय बिताते थे। कौशाम्बी में दो सेठ

श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यो वसुमत्या स्त्रिया युतः। तत्रैव च समुद्रादि दत्तः श्रेष्ठी परोभवत् ॥१६॥
भार्या समुद्रदत्ताख्या श्रेष्ठिनोश्च तयोर्द्वयोः। महास्नेहवशादुच्चै-र्वाचा बन्धोभवद्ध्रुवम् ॥१७॥
आवयोः पुत्रपुत्र्यौ यौ संजायेते परस्परम्। तयोर्विवाहः कर्त्तव्यो यस्मात्प्रीतिर्भवेत्सदा ॥१८॥
ततः सागरदत्तस्य वसुमत्यां सुतोभवत्। तिष्ठति स्म गृहे चेति वसुमित्रो महाद्भुतम् ॥१९॥
तथा समुद्रदत्तस्य नागदत्ता सुताजनि। तस्यां समुद्रदत्तायां रूपलावण्यमण्डिता ॥२०॥
वसुमित्रेण तेनोच्चैः परिणीता क्रमेण सा। नैव वाचा चलत्वं च सतां कष्टशतैरपि ॥२१॥
ततश्च वसुमित्रोऽसौ निशायां निजलीलया। धृत्वा पिट्टारके शीघ्रं नित्यं सर्पशरीरकम् ॥२२॥
भूत्वा दिव्यनरो नाग-दत्तया सह सौख्यतः। भुङ्क्ते भोगान्मनोभीष्टान्विचित्रा संसृतेः स्थितिः ॥२३॥
एकदा यौवनाक्रान्तां नागदत्तां विलोक्य च। जगौ समुद्रदत्ता सा पुत्री स्नेहेन दुःखिता ॥२४॥
हा विधेश्चेष्टितं कष्टं कीदृशी मे सुतोत्तमा। वरश्च कीदृशो जातो भीतिकारी भुजङ्गमः ॥२५॥
तच्छ्रुत्वा नागदत्ताऽऽसौ भो मातर्माविसूरय। समुद्धीर्येति वृत्तान्तं स्वभर्तुः संजगाद च ॥२६॥

रहते थे। उनके नाम थे सागरदत्त और समुद्रदत्त। दोनों सेठों में परस्पर बहुत प्रेम था। उनका प्रेम सदा दृढ़ बना रहे, इसलिए परस्पर में एक शर्त की। वह यह कि, ''मेरे यदि पुत्री हुई तो मैं उसका ब्याह तुम्हारे लड़के के साथ कर दूँगा और इसी तरह मेरे पुत्र हुआ तो तुम्हें अपनी लड़की का ब्याह उसके साथ करना पड़ेगा ॥१५-१८॥''

दोनों ने उक्त शर्त स्वीकार की। इसके कुछ दिनों बाद सागरदत्त के घर पुत्रजन्म हुआ। उसका नाम वसुमित्र हुआ। पर उसमें एक बड़े भारी आश्चर्य की बात थी। वह यह कि वसुमित्र न जाने किस कर्म के उदय से रात के समय तो एक दिव्य मनुष्य होकर रहता और दिन में एक भयानक सर्प ॥१९॥

उधर समुद्रदत्त के घर कन्या हुई उसका नाम रखा गया नागदत्ता। वह बड़ी खूबसूरत सुन्दरी थी। उसके पिता ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसका ब्याह वसुमित्र के साथ कर दिया। सच है-॥२०-२१॥

सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित नहीं होते। वसुमित्र का ब्याह हो गया। वह अब प्रतिदिन दिन में तो सर्प बनकर एक पिटारे में रहता और रात में एक दिव्य पुरुष होकर अपनी प्रिया के साथ सुखभोग करता। सचमुच संसार की विचित्र ही स्थिति होती है। इसी तरह उसे कई दिन बीत गए। एक दिन नागदत्ता की माता अपनी पुत्री को एक ओर तो यौवन अवस्था में पदार्पण करती हुई और दूसरी ओर उसके विपरीत भाग्य को देखकर दुःखी होकर बोली-हाय! कैसी विडम्बना है, जो कहाँ देवबाला सरीखी सुन्दरी मेरी पुत्री और कैसा उसका अभाग्य जो उसे पति मिला एक भयंकर सर्प? उसकी दुःख भरी आह को नागदत्ता ने सुन लिया। वह दौड़ी आकर अपनी माता से बोली-माता, इसके लिए दुःख आप क्यों करती हैं? मेरा जब भाग्य ही ऐसा था, तब उसके लिए दुःख करना व्यर्थ है और अभी मुझे विश्वास है कि मेरे स्वामी का इस दशा से उद्धार हो सकता है। इसके बाद नागदत्ता ने अपनी माता को स्वामी के उद्धार सम्बन्ध की बात समझा दी ॥२२-२६॥

तदाकर्ण्य समुद्रादिदत्ता गत्वा सुतागृहम्। रात्रौ पिट्टारके मुक्त्वा सर्पदेहं सुनिन्दितम् ॥२७॥
धृत्वा मनुष्यसद्रूपं वसुमित्रे च निर्गते। सा प्रच्छन्नं तदा भस्मी-चक्रे पिट्टारकं सती ॥२८॥
दाहिते च तदा तस्मिन्वसुमित्रो गुणोज्ज्वलः। भुञ्जानो विविधान्भोगान्सदाऽऽसौ पुरुषः स्थितः ॥२९॥
तथैते देव तिष्ठन्ति विष्णुलोके निरन्तरम्। एतदर्थं मयारब्धो देहदाहस्तपस्विनाम् ॥३०॥
तन्निशम्य महीनाथः श्रेणिकश्चेलनोदितम्। समर्थो नोत्तरं दातुं कोपान्मौनेन संस्थितः ॥३१॥
अथैकदा नृपाधीशो गतः पापर्द्धिहेतवे। तत्रातापनयोगस्थं यशोधरमहामुनिम् ॥३२॥
समालोक्य महाकोपान्ममेमं विघ्नकारिणम्। मारयामीति संचिन्त्य मुक्तवान्कुक्कुरान्वृथा ॥३३॥
गत्वा पञ्चशतान्युच्चैः कुक्कुरास्तेपि निष्ठुराः। यशोधरमुनेस्तस्य तपोमाहात्म्ययोगतः ॥३४॥
कृत्वा प्रदक्षिणां पाद-मूले तस्थुः सुभक्तितः। क्रोधान्धेन पुनस्तेन बाणा मुक्ताः सुदारुणाः ॥३५॥
तेऽपि बाणा बभूवुश्च पुष्पमालाः सुनिर्मलाः। प्रभावो मुनिनाथस्य महान्केनाऽत्र वर्ण्यते ॥३६॥
तस्मिन्काले महीपालः सप्तमं नरकं प्रति। त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुर्बन्धं चक्रे सुकष्टदम् ॥३७॥
ततः प्रभावमालोक्य मुनेः पादाम्बुजद्वयम्। प्रणम्य परया भक्त्या त्यक्त्वा दुष्टाशयं नृपः ॥३८॥

सदा के नियमानुसार आज भी रात के समय वसुमित्र अपना सर्प का शरीर छोड़कर मनुष्य रूप में आया और अपने शय्या-भवन में पहुँचा। इधर नागदत्ता छुपी हुई आकर वसुमित्र के पिटारे को वहाँ से उठा ले आई और उसे उसी समय उसने जला डाला। तब से वसुमित्र मनुष्यरूप में ही अपनी प्रिया के साथ सुख भोगता हुआ अपना समय आनन्द से बिताने लगा। नाथ! उसी तरह ये साधु भी निरन्तर विष्णुलोक में रहकर सुख भोगें यह मेरी इच्छा थी; इसलिए मैंने वैसे किया था। महारानी चेलना की कथा सुनकर श्रेणिक उत्तर तो कुछ नहीं दे सके, पर वे उस पर बहुत गुस्सा हुए और उपयुक्त समय न देखकर वे अपने क्रोध को उस समय दबा भी गए ॥२७-३१॥

एक दिन श्रेणिक शिकार के लिए गए हुए थे। उन्होंने वन में यशोधर मुनिराज को देखा। वे उस समय आतप योग धारण किए हुए थे। श्रेणिक ने उन्हें शिकार के लिए विघ्नरूप समझकर मारने का विचार किया और बड़े गुस्से में आकर अपने क्रूर शिकारी कुत्तों को उन पर छोड़ दिया। कुत्ते बड़ी निर्दयता के साथ मुनि को मारने को झपटे। पर मुनिराज की तपश्चर्या के प्रभाव से वे उन्हें कुछ कष्ट न पहुँचा सके। बल्कि उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके पाँवों के पास खड़े रह गए। यह देख श्रेणिक को और भी क्रोध आया। उन्होंने क्रोधान्ध होकर मुनि पर शर चलाना आरम्भ किया। पर यह कैसा आश्चर्य जो शरों के द्वारा उन्हें कुछ क्षति न पहुँच कर वे ऐसे जान पड़े मानों किसी ने उन पर फूलों की वर्षा की है। सच बात यह है कि तपस्वियों का प्रभाव कह कौन सकता है? श्रेणिक ने मुनि हिंसारूप तीव्र परिणामों द्वारा उस समय सातवें नरक की आयु का बन्ध किया, जिसकी स्थिति तैंतीस सागर की है ॥३२-३७॥

इन सब अलौकिक घटनाओं को देखकर श्रेणिक का पत्थर के समान कठोर हृदय फल सा कोमल हो गया। उनके हृदय की सब दुष्टता निकलकर उसमें मुनि के प्रति पूज्यभाव पैदा हो गए।

पुण्येन पूर्णयोगोसौ यशोधरमहामुनिः। तत्वं जगाद जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः प्रपूजितम् ॥३९॥
तच्छ्रुत्वोपशमं सार-सम्यक्त्वं संगृहीतवान्। तदायुश्चतुराशीति-गुणवर्षसहस्त्रकम् ॥४०॥
संचक्रे प्रथमे शीघ्रं नरके प्रस्तरादिमे। किं न स्याद्भव्यमुख्यानां शुभं सद्दर्शनागमे ॥४१॥
ततः पादान्तिके चित्र-गुप्तनाम महामुनेः। क्षयोपशमिकं प्राप्य सम्यक्त्वं भक्तिनिर्भरः ॥४२॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य पादमूले जगद्गुरोः। गृहीत्वा शुद्धसम्यक्त्वं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥४३॥
स्वीचक्रे तीर्थकृन्नाम त्रैलोक्येशैः समर्चितम्। तस्माच्छ्रेणिको भूपस्तीर्थेशः संभविष्यति ॥४४॥
स जयति जिनदेवः केवलज्ञानदीपः सकलसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः प्रपूज्यः।
यदुदितवरवाक्यैर्भावितैः स्वच्छचित्ते भवति विमललक्ष्मीनायकोऽसौ मनुष्यः ॥४५॥

इति कथाकोशे श्रीश्रेणिकनृपस्य कथा समाप्ता।

२०. पद्मरथस्य कथा

श्रीजिनं त्रिजगन्नाथैः समर्चितपदद्वयम्। नत्वा पद्मरथस्योच्चै-र्जिनभक्तकथोच्यते ॥१॥
देशेऽत्र मगधे रम्ये मिथिलायां महापुरि। राजा पद्मरथो जातो विख्यातो मुग्धमानसः ॥२॥

वे मुनिराज के पास गए और भक्ति से उन्होंने मुनि के चरणों को नमस्कार किया। यशोधर मुनिराज ने श्रेणिक के हित के लिए उपयुक्त समझकर उन्हें अहिंसामयी पवित्र जिनशासन का उपदेश दिया। उसका श्रेणिक के हृदय पर बहुत ही असर पड़ा। उनके परिणामों में विलक्षण परिवर्तन हुआ। उन्हें अपने कृतकर्म पर अत्यन्त पश्चाताप हुआ। मुनिराज के उपदेशानुसार उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया। इसके प्रभाव से, उन्होंने जो सातवें नरक की आयु का बन्ध किया था, वह उसी समय घटकर पहले नरक का रह गया, जहाँ स्थिति चौरासी हजार वर्षों की है। ठीक है सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भव्यपुरुषों को क्या प्राप्त नहीं होता? ॥३८-४१॥

इसके बाद श्रेणिक ने श्रीचित्रगुप्त मुनिराज के पास क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया और अन्त में भगवान् वर्धमान स्वामी के द्वारा शुद्ध क्षायिक-सम्यक्त्व, जो कि मोक्ष का कारण है, प्राप्त कर पूज्य तीर्थंकर नाम प्रकृति का बन्ध किया। श्रेणिक महाराज अब तीर्थंकर होकर निर्वाण लाभ करेंगे। वे केवलज्ञानरूपी प्रदीप श्रीजिनभगवान् संसार में सदाकाल विद्यमान रहें, जो इन्द्र, देव, विद्याधर, चक्रवर्ती द्वारा पूज्य हैं और जिनके पवित्र उपदेश के हृदय में मनन और ग्रहण द्वारा मनुष्य निर्मल लक्ष्मी को प्राप्त करने का पात्र होता है, मोक्षलाभ करता है ॥४२-४५॥

२०. पद्मरथ राजा की कथा

इन्द्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, राजा, महाराजाओं द्वारा पूज्य जिनभगवान् के चरणों को नमस्कार कर मैं पद्मरथ राजा की कथा लिखता हूँ, जो प्रसिद्ध जिनभक्त हुआ है ॥१॥

मगध देश के अन्तर्गत एक मिथिला नाम की सुन्दरी नगरी थी। उसके राजा थे पद्मरथ। वे बड़े बुद्धिमान् और राजनीति के अच्छे जानने वाले थे, उदार और परोपकारी थे। सुतरा वे खूब प्रसिद्ध थे ॥२॥

एकदासौ महाटव्यां पापर्द्ध्यै भूपतिर्गतः। दृष्ट्वैकं शशकं पृष्टे तस्याश्वं वाहयद्द्रुतम् ॥३॥
भूत्वैकाकी वने काल-गुहां प्राप्तः स्वपुण्यतः। तत्र दीप्ततपोयोगा-द्विस्फुरत्कान्तिमद्भुतम् ॥४॥
सुधर्ममुनिमालोक्य रत्नत्रयविराजितम्। शान्तो बभूव सन्तप्तो लोहपिण्डो यथाम्भसा ॥५॥
तुरंगादर्वतीर्याशु तं प्रणम्य महामुदा। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥६॥
सम्यक्त्वाणुव्रतान्युच्चैः समादाय सुभक्तितः। सन्तुष्टः पृष्टवानित्थं सुधीः पद्मरथो नृपः ॥७॥
भो मुने भुवनाधार-जैनधर्माम्बुधौ विधो। वक्तृत्वादिगुणोपेत-स्त्वादृशः पुरुषोत्तमः ॥८॥
किं कोपि वर्तते क्वापि परो वा नेति धीधन। सन्देहो मानसे मेऽस्ति ब्रूहि त्वं करुणापरः ॥९॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सुधर्मो जैनतत्ववित्। शृणु त्वं भो महीनाथ चम्पायां विबुधार्चितः ॥१०॥
तीर्थकृद्वासुपूज्योस्ति द्वादशो भवशर्मदः। स कोटिभास्करोत्कृष्ट-कान्तिसन्दोहसाधिकः ॥११॥
तस्य श्रीवासुपूज्यस्य ज्ञानदीप्तिगुणोदये। अन्तरं मे तरां चास्ति मेरुसर्षपयोरिव ॥१२॥
तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं धर्मप्रीतिविधायकम्। तत्पादवन्दनाभक्त्यै संजातः सोत्सवो नृपः ॥१३॥
यावच्चचाल सद्भूत्या प्रभाते प्रीतिनिर्भरः। यावद्धन्वन्तरिर्नाम्ना सुधीर्विश्वानुलोमवाक् ॥१४॥
तौ सखायौ सुरौ भूत्वा समागत्य महीतले। तस्य भक्तेः परीक्षार्थं मार्गे सङ्गच्छतो मुदा ॥१५॥

एक दिन पद्मरथ शिकार के लिए वन में गए हुए थे। उन्हें एक खरगोश दीख पड़ा। उन्होंने उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। खरगोश उनकी नजर से ओझल होकर न जाने कहाँ अदृश्य हो गया। पद्मरथ भाग्य से कालगुफा नाम की एक गुहा में जा पहुँचे। वहाँ एक मुनिराज रहते थे। वे बड़े तपस्वी थे। उनका दिव्य देह तप के प्रभाव से अपूर्व तेज धारण कर रहा था। उनका नाम था सुधर्म। पद्मरथ रत्नत्रय विभूषित और परम शान्त मुनिराज के पवित्र दर्शन से बहुत शान्त हुए। जैसे तपा हुआ लौहपिंड जल से शान्त हो जाता है। वे उसी समय घोड़े पर से उतर पड़े और मुनिराज को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनके द्वारा धर्म का पवित्र उपदेश सुना। उपदेश उन्हें बहुत रुचा। उन्होंने सम्यक्त्व पूर्वक अणुव्रत ग्रहण किए। इसके बाद उन्होंने मुनिराज से पूछा–हे प्रभो! हे संसार के आधार! इस समय जिनधर्मरूप समुद्र को बढ़ाने वाले आप सरीखे गुणज्ञ चन्द्रमा और भी कोई है या नहीं? और है तो कहाँ हैं? हे करुणासागर! मेरे इस सन्देह को मिटाइए ॥३-९॥

उत्तर में मुनिराज ने कहा–राजन्! चम्पानगरी में इस समय बारहवें तीर्थंकर भगवान् वासुपूज्य विराजमान हैं। उनके भौतिक शरीर के तेज की समानता तो अनेक सूर्य मिलाकर भी नहीं कर सकते और उनके अनन्त ज्ञानादि गुणों के देखते हुए मुझमें और उनमें राई और सुमेरु का अन्तर है। भगवान् वासुपूज्य का समाचार सुनकर पद्मरथ को उनके दर्शनों की अत्यन्त उत्कण्ठा हुई वे उसी समय फिर वहाँ से बड़े वैभव के साथ भगवान् के दर्शनों के लिए चले। यह हाल धन्वन्तरी और विश्वानुलोम नाम के दो देवों को जान पड़ा। सो वे पद्मरथ की परीक्षा के लिए मध्यलोक में आए। उन्होंने पद्मरथ की भक्ति की दृढ़ता देखने के लिए रास्ते में उन पर उपद्रव करना शुरू किया। पहले उन्होंने उन्हें एक

दर्शयामासतु: कष्टं कालसर्पं तिरोगतम्। मायया छत्रभंगं च पुरो दाहादिकं पुन: ॥१६॥
वातोद्धूतमहाधूली-पाषाणपतनादिकम्। अकालेऽपि महावृष्टिं निमग्नं कर्दमे द्विपम् ॥१७॥
मन्त्र्यादिभिस्तदा वार्य-माणोपि बहुधा नृप:। अमङ्गलशते सति गम्यते नैव भूपते: ॥१८॥
नम: श्रीवासुपूज्याय भणित्वेति प्रसन्नधी:। कर्दमे प्रेरयामास भक्तिमान्निजकुंजरम् ॥१९॥
तथाभूतं तमालोक्य जिनभक्तिभरान्वितम्। स्वमायामुपसंहृत्य संप्रशस्य सुरोत्तमौ ॥२०॥
सर्वरोगापहं हारं भेरीं योजननादिनीम्। धर्मानुरागतस्तस्मै दत्वा स्वस्थानकं गतौ ॥२१॥
यस्य चित्ते जिनेन्द्राणां भक्ति: सन्तिष्ठते सदा। सिध्यन्ति सर्वकार्याणि तस्य नैवात्र संशय: ॥२२॥
ततो पद्मरथो राजा प्रहृष्टहृदयाम्बुज:। गत्वा चम्पापुरीं तत्र दृष्ट्वा त्रैलोक्यमङ्गलम् ॥२३॥
समवादिसृतौ संस्थं प्रातिहार्यादिभूषितम्। सुरासुरनराधीश-समर्चितपदद्वयम् ॥२४॥
केवलज्ञाननिर्णीत-विश्वतत्त्वोपदेशकम्। अनन्तभवसम्बद्ध-महामिथ्यात्वनाशकम् ॥२५॥
वासुपूज्यजिनाधीशं समभ्यर्च्य सुभक्तित:। स्तुत्वा स्तोत्रैस्तथा नत्वा श्रुत्वा तत्वं जिनोदितम् ॥२६॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं पादमूले जिनेशिन:। संजातो गणभृच्चारु-चतुर्ज्ञानविराजित: ॥२७॥

भयंकर कालसर्प दिखलाया, इसके बाद राज्यछत्र का भंग, अग्नि का लगना, प्रचण्ड वायु द्वारा पर्वत और पत्थरों का गिरना, असमय में भयंकर जलवर्षा और खूब कीचड़मय मार्ग और उसमें फँसा हाथी आदि दिखलाया। यह उपद्रव देखकर साथ के सब लोग भय के मारे अधमरे हो गए। मंत्रियों ने यात्रा अमंगलमय बतलाकर पद्मरथ से पीछे लौट चलने के लिए आग्रह किया परन्तु पद्मरथ ने किसी की बात नहीं सुनी और बड़ी प्रसन्नता के साथ ''नम: श्रीवासुपूज्याय'' कहकर अपना हाथी आगे बढ़ाया। पद्मरथ की इस प्रकार अचल भक्ति देखकर दोनों देवों ने उनकी बहुत-बहुत प्रशंसा की। इसके बाद वे पद्मरथ को सब रोगों को नष्ट करने वाला एक दिव्य हार और एक बहुत सुन्दर वीणा, जिसकी आवाज एक योजन पर्यन्त सुनाई पड़ती है, देकर अपने स्थान चले गए। ठीक कहा है-जिनके हृदय में जिनभगवान् की भक्ति सदा विद्यमान रहती है, उनके सब काम सिद्ध हों, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥१०-२२॥

पद्मरथ ने चम्पानगरी में पहुँच कर समवसरण में विराजे हुए, आठ प्रातिहार्यों से विभूषित, देव, विद्याधर, राजा, महाराजाओं द्वारा पूज्य, केवलज्ञान द्वारा संसार के सब पदार्थों को जानकर धर्म का उपदेश करते हुए और अनन्त जन्मों में बाँधे हुए मिथ्यात्व को नष्ट करने वाले भगवान् वासुपूज्य के पवित्र दर्शन किए, उनकी पूजा की, स्तुति की और उपदेश सुना। भगवान् के उपदेश का उनके हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा। वे उसी समय जिनदीक्षा लेकर तपस्वी हो गए। प्रव्रजित होते ही उनके परिणाम इतने विशुद्ध हुए कि उन्हें अवधि और मन:पर्ययज्ञान हो गया। भगवान् वासुपूज्य के वे

अतो भव्यैः सदा कार्या जिनभक्तिः सुशर्मदा। त्यक्त्वा मिथ्यामतं शीघ्रं स्वर्गमोक्षसुखाप्तये ॥२८॥
यथा पद्मरथो राजा जिनभक्तिपरोभवत्। अन्यैश्चापि महाभव्यै-र्भवितव्यं तथा श्रिये ॥२९॥
यद्भक्तिर्भुवनत्रयेऽत्र नितरां निर्वाणसंसाधिनी सामान्येन सुरेन्द्रखेचरनराधीशादिशर्मप्रदा।
स श्रीमान्मुनिपुंगवः शुचितरः सत्केवलोद्योतकोदद्यात्सारसुखं समस्तजगतो पूज्यः सतां सेवितः ॥३०॥

इति कथाकोशे जिनभक्तपद्मरथस्य कथा समाप्ता।

२१. पञ्चनमस्कारमंत्रप्रभावकथा।

नत्वा पंच गुरून्भक्त्या पञ्चमीगतिसिद्धये। कथा पञ्चनमस्कार-फलस्योच्चैर्निगद्यते ॥१॥
अंगदेशे सुविख्याते चम्पायां चारुलोचनः। प्रतापनिर्जितारातिर्जातो राजा नृवाहनः ॥२॥
श्रेष्ठि वृषभदासाख्यो-र्हद्दासी मानसप्रियः। श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-सेवनैकलसत्क्रियः ॥३॥
श्रेष्ठिनस्तस्य गोपालः कदाचित्पुण्ययोगतः। स्वेच्छया गृहमागच्छन्नरण्ये भुवनोत्तमम् ॥४॥

गणधर हुए। इसलिए भव्य पुरुषों को उचित है कि वे मिथ्यात्व छोड़कर स्वर्ग-मोक्ष को देने वाली जिनभगवान् की भक्ति निरन्तर पवित्र भावों के साथ करें और जिस प्रकार पद्मरथ सच्चा जिनभक्त हुआ, उसी प्रकार वे भी हों ॥२३-२९॥

जिनभक्ति सब प्रकार का सांसारिक सुख देती है और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति का कारण है, जो केवलज्ञान द्वारा संसार के प्रकाशक हैं और सत्पुरुषों द्वारा पूज्य हैं, वे भगवान् वासुपूज्य सारे संसार को मोक्ष सुख प्रदान करें, कर्मों के उदय से घोर दुःख सहते हुए जीवों का उद्धार करें ॥३०॥

२१. पंच नमस्कार मंत्र-माहात्म्य कथा

मोक्षसुख प्रदान करने वाले श्रीअर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार कर पंच नमस्कार मंत्र की आराधना द्वारा फल प्राप्त करने वाले सुदर्शन की कथा लिखी जाती है ॥१॥

अंगदेश की राजधानी चम्पानगरी में गजवाहन नाम के एक राजा हो चुके हैं। वे बहुत खूबसूरत और साथ ही बड़े भारी शूरवीर थे। अपने तेज से शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सारे राज्य को उन्होंने निष्कण्टक बना लिया था। वहीं वृषभदत्त नाम के एक सेठ रहा करते थे। उनकी गृहिणी का नाम था अर्हद्दासी। अपनी प्रिया पर सेठ का बहुत प्रेम था। वह भी सच्ची पतिभक्ति परायणा थी, सुशीला थी, सती थी, वह सदा जिनभक्ति में तत्पर रहा करती थी ॥२-३॥

वृषभदत्त के यहाँ एक ग्वाल नौकर था। एक दिन वह वन से अपने घर पर आ रहा था। समय शीतकाल का था। जाड़ा खूब पड़ रहा था। उस समय रास्ते में उसे एक ऋद्धिधारी मुनिराज के दर्शन हुए, जो कि एक शिला पर ध्यान लगाये बैठे हुए थे। उन्हें देखकर ग्वाले को बड़ी दया आयी। वह

दृष्ट्वा चारणयोगीन्द्रं यथा स्तिमितमद्भुतम्। अभ्रावकाशिनं शीत-काले तीव्रे शिलास्थितम् ॥५॥
अहो कथं मुनीन्द्रोसौ वस्त्रादिपरिवर्जितः। शिलापीठे स्थितो रात्रिं कष्टतो गमयिष्यति ॥६॥
संचिन्त्य गृहं गत्वा मुनिं स्मृत्वा सुमानसे। तथा पश्चिमरात्रौ च गृहीत्वा महिषीः पुनः ॥७॥
तत्रागत्य समालोक्य तं मुनिं ध्यानसंस्थितम्। तच्छरीरे महाशीतं तुषारं पतितं द्रुतम् ॥८॥
स्फेटयित्वा स्वहस्तेन मुनेः पादादिमर्दनम्। कृत्वा स्वास्थ्यं निधायोच्चैः पुण्यभागी बभूव च ॥९॥
प्रभातेऽसौ महाध्यान-मुपसंहृत्य धीधनः। अयमासन्नभव्योस्ति मत्वेति मुनिनायकः ॥१०॥
''णमो अरिहंताणं''
इति दत्वा महामंत्रं तस्मै स्वर्मोक्षदायकम्। तमेवाशु समुच्चार्य नभोभागे स्वयं गतः ॥११॥
गोपालस्य तदा तस्य तन्मंत्रस्योपरि स्थिरा। संजाता महती श्रद्धा सैव लोके सुखप्रदा ॥१२॥
ततोऽसौ सर्वकार्येषु गोपालः परमादरात्। पूर्वमेव महामंत्रं तमुच्चरति सुस्फुटम् ॥१३॥
एकदा श्रेष्ठिना तेन पठन्मंत्रं स गोपकः। किं रे करोषि चापल्यं वारितश्चेति धीमता ॥१४॥
तेनोक्ते पूर्ववृत्तान्ते श्रेष्ठी सन्तुष्टमानसः। संजगाद त्वमेवात्र धन्यो गोप महीतले ॥१५॥
येन दृष्टौ मुनीन्द्रस्य पादौ त्रैलोक्यपूजितौ। भवन्ति भुवने सन्तः सत्यं धर्मानुरागिणः ॥१६॥
अथैकदा महिष्योस्य वल्लिक्षेत्रं प्रभक्षितुम्। गंगानदीं समुत्तीर्य निर्गता निजलीलया ॥१७॥

यह विचार कर, कि अहा! इनके पास कुछ वस्त्र नहीं है और जाड़ा इतने जोर का पड़ रहा है, तब भी ये इसी शिला पर बैठे हुए ही रात बिता डालेंगे, अपने घर गया और आधी रात के समय अपनी स्त्री को साथ लिए मुनिराज के पास आया। मुनिराज को जिस अवस्था में बैठे हुए वह देख गया था, वे अब भी उसी तरह ध्यानस्थ बैठे हुए थे। उनका सारा शरीर ओस से भीग रहा था। उनकी यह हालत देखकर दयाबुद्धि से उसने मुनिराज के शरीर पर से ओस को साफ किया और सारी रात वह उनके पाँव दाबता रहा, सब तरह उनकी वैयावृत्य करता रहा। सबेरा होते ही मुनिराज का ध्यान पूरा हुआ। उन्होंने आँख उठाकर देखा तो ग्वाले को पास ही बैठा पाया। मुनिराज ने ग्वाले को निकट भव्य समझकर पंच नमस्कार मंत्र का उपदेश दिया, जो कि स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति का कारण है। इसके बाद मुनिराज भी पंचनमस्कार मंत्र का उच्चारण कर आकाश में विहार कर गए ॥४-११॥

ग्वाले की धीरे-धीरे मंत्र पर बहुत श्रद्धा हो गई। वह किसी भी काम को जब करने लगता तो पहले ही नमस्कार मंत्र का स्मरण कर लिया करता था। एक दिन जब ग्वाला मंत्र पढ़ रहा था, तब उसे उसके सेठ ने सुन लिया। वे मुस्कराकर बोले-क्यों रे, तूने यह मंत्र कहाँ से उड़ाया? ग्वाले ने सब बात अपने स्वामी से कह दी। सेठ ने प्रसन्न होकर ग्वाले से कहा-भाई, क्या हुआ यदि तू छोटे भी कुल में उत्पन्न हुआ? पर आज तू कृतार्थ हुआ, जो तुझे त्रिलोकपूज्य मुनिराज के दर्शन हुए। सच बात है सत्पुरुष धर्म के बड़े प्रेमी हुआ करते हैं ॥१२-१६॥

एक दिन ग्वाला भैंसें चराने के लिए जंगल में गया। समय वर्षा का था। नदी नाले सब पूर थे। उसकी भैंसे चरने के लिए नदी पार जाने लगी। सो इन्हें लौटा लाने की इच्छा से ग्वाला भी उनके पीछे

तां निवर्तयितुं सोपि महिषीर्गोपकस्तदा। तं सुमंत्रं समुच्चार्य नद्यां झंपां प्रदत्तवान् ॥१८॥
तत्रादृश्योरुकाष्ठेन विद्धोसौ जठरे तदा। प्रच्छन्नदुर्जनेनेव तीक्ष्णेन प्राणहारिणा ॥१९॥
मृत्वा निदानतस्तस्य श्रेष्ठिनस्तनयोभवत्। अर्हद्दास्याः शुभे गर्भे पुण्यान्नाम्ना सुदर्शनः ॥२०॥
रूपलावण्यसौभाग्य-धनधान्यसमन्वितः। संजातः कृतपुण्यानां किमप्यत्र न दुर्लभम् ॥२१॥
ततः सागरदत्तस्य पुत्रीं नाम्ना मनोरमाम्। जातां सागरसेनायां युक्त्याऽसौ परिणीतवान् ॥२२॥
एकदासौ महाश्रेष्ठी सुधीर्वृषभदत्तवाक्। त्रिधा वैराग्यमासाद्य धृत्वा तं स्वपदे सुतम् ॥२३॥
मुनेः समाधिगुप्तस्य पादमूले सुभक्तितः। दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो विचक्षणः ॥२४॥
तदा सुदर्शनो धीमान्प्राप्य श्रेष्ठीपदं महत्। राजादिपूजितो जातः सुप्रसिद्धो बभूव च ॥२५॥
नित्यं श्रीमज्जिनेन्द्रोक्त-श्रावकाचारतत्परः। दानपूजास्वशीलादि-धर्मकर्मपरोऽभवत् ॥२६॥

ही नदी में कूद पड़ा। जहाँ वह कूदा वहीं एक नुकीला लकड़ा गड़ा हुआ था। सो उसके कूदते ही लकड़े की नोंक उसके पेट में जा घुसी। उससे उसका पेट फट गया। वह उसी समय मर गया। वह जिस समय नदी में कूदा था, उस समय सदा के नियमानुसार पंचनमस्कार मंत्र का उच्चारण कर कूदा था। वह मरकर मंत्र के प्रभाव से वृषभदत्त के यहाँ पुत्र हुआ। वह जाता तो कहीं स्वर्ग में पर, उसने वृषभदत्त के यही उत्पन्न होने का निदान कर लिया था, इसलिए निदान उसकी ऊँची गति का बाधक बन गया। उसका नाम रखा गया सुदर्शन। सुदर्शन बड़ा सुन्दर था। उसका जन्म माता-पिता के लिए खूब उत्कर्ष का कारण हुआ। पहले से कई गुणी सम्पत्ति उनके पास बढ़ गई। सच है-पुण्यवानों के लिए कहीं भी कुछ कमी नहीं रहती ॥१७-२१॥

वहीं एक सागरदत्त सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम था सागरसेना। उसके एक पुत्री थी। उसका नाम मनोरमा था। वह बहुत सुन्दरी थी। देवकन्यायें भी उसकी रूपमाधुरी को देखकर शर्मा जाती थी। उसका ब्याह सुदर्शन के साथ हुआ। दोनों दम्पत्ति सुख से रहने लगे॥२२॥

एक दिन वृषभदत्त समाधिगुप्त मुनिराज के दर्शन करने के लिए गए। वहाँ उन्होंने मुनिराज द्वारा धर्मोपदेश सुना। उपदेश उन्हें बहुत रुचा और उसका प्रभाव भी उन पर खूब पड़ा। संसार की दशा देखकर उन्हें बहुत वैराग्य हुआ। वे घर का कारोबार सुदर्शन के सुपुर्द कर समाधिगुप्त मुनिराज के पास दीक्षा लेकर तपस्वी बन गए ॥२३-२४॥

पिता के प्रव्रजित हो जाने पर सुदर्शन ने भी खूब प्रतिष्ठा सम्पादन की। राजदरबार में भी उसकी पिता के जैसी ही पूछताछ होने लगी। वह सर्वसाधारण में खूब प्रसिद्ध हो गया। सुदर्शन न केवल लौकिक कामों में ही प्रेम करता था किन्तु वह उस समय एक बहुत धार्मिक पुरुषों में गिना जाता था। वह सदा जिनभगवान् की भक्ति में तत्पर रहता, श्रावक के व्रतों का श्रद्धा के साथ पालन करता, दान देता, पूजन स्वाध्यान करता। यह सब होने पर भी ब्रह्मचर्य में बहुत दृढ़ था ॥२५-२६॥

कदाचिद्भूभुजा सार्द्धं वनक्रीडनहेतवे। गतोऽसौ निजसंभूत्या श्रेष्ठी सर्वगुणान्वितः ॥२७॥
तं दृष्ट्वा श्रेष्ठिनं तत्र निधानं रूपसम्पदः। तद्राज्ञी विह्वलीभूया-ऽभयाख्या प्राह धात्रिकाम् ॥२८॥
कोयं भो धात्रिके धीमान्नरकोटिशिरोमणिः। तयोक्तं देवि विख्यातो राजश्रेष्ठी सुदर्शनः ॥२९॥
तच्छ्रुत्वा सावदद्राज्ञी यद्यमुं पुरुषोत्तमम्। त्वं ददासि समानीय तदाजीवाम्यहं ध्रुवम् ॥३०॥

एक दिन मगधाधीश्वर गजवाहन के साथ सुदर्शन वनविहार के लिए गया। राजा के साथ राजमहिषी भी थी। सुदर्शन सुन्दर तो था ही, सो उसे देखकर राजरानी काम के पाश में बुरी तरह फँसी। उसने अपनी एक परिचारिका को बुलाकर पूछा-क्यों तू जानती है कि महाराज के साथ आगन्तुक कौन है? और ये कहाँ रहते हैं? ॥२७-२८॥

परिचारिका ने कहा-देवी, आप नहीं जानती, ये तो अपने प्रसिद्ध राजश्रेष्ठी सुदर्शन हैं ॥२९॥

राजमहिषी ने कहा-हाँ! तब तो ये अपनी राजधानी के भूषण हैं। अरी, देख तो इनका रूप कितना सुन्दर, कितना मन को अपनी ओर खींचने वाला है? मैंने तो आज तक ऐसा सुन्दर नररत्न नहीं देखा। मैं तो कहती हूँ, इनका रूप स्वर्ग के देवों से भी कही बढ़कर है। तूने भी कभी ऐसा सुन्दर पुरुष देखा है ॥३०॥

वह बोली-महारानी जी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनके समान सुन्दर पुरुष रत्न तीन लोक में भी नहीं मिलेगा।

राजमहिषी ने उसे अपने अनुकूल देखकर कहा-हाँ तो तुझसे मुझे एक बात कहनी है।

वह बोली-वह क्या, महारानी जी?

महारानी बोली-पर तू उसे पूरा कर दे तो मैं कहूँ, वह बोली-देवी, भला, मैं तो आपकी दासी हूँ फिर मुझे आपकी आज्ञा पालन करने में क्यों इनकार होगा। आप निःसंकोच होकर कहिए।

जहाँ तक मेरा बस चलेगा, मैं उसे पूरा करूँगी। महारानी ने कहा-देख, मुझे तेरे पर पूर्ण विश्वास है, इसलिए मैं अपने मन की बात तुझे कहती हूँ। देखना कहीं मुझे धोखा न देना? तो सुन, मैं जिस सुदर्शन की बात तुझसे कह आई हूँ, वह मेरे हृदय में स्थान पा गया है। उसके बिना तुझे संसार निःसार और सूना जान पड़ता है। तू यदि किसी प्रयत्न से मुझे उससे मिला दे तब ही मेरा जीवन बच सकता है। अन्यथा समझ संसार में मेरा जीवन कुछ ही दिनों के लिए हैं।

वह महारानी की बात सुनकर पहले तो कुछ विस्मित सी हुई, पर थी तो आखिर पैसे की गुलाम न? उसने महारानी की आशा पूरी कर देने के बदले में अपने को आशातीत धन की प्राप्ति होगी, इस विचार से कहा-महारानी जी, बस यही बात है? इसी के लिए आप इतनी निराश हुई जाती है? जब तक मेरे शरीर में दम है तब तक आपको निराश होने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। मैं आपकी आशा अवश्य पूरी करूँगी। आप घबराये नहीं। बहुत ठीक लिखा है-

धात्री जगाद भो देवि करिष्यामि तवेप्सितम्। अवश्यं दुष्टनारीभिर्निन्दितं क्रियते न किम् ॥३१॥
स श्रीसुदर्शनः श्रेष्ठी विशिष्टश्रावकव्रती। अष्टम्याञ्च चतुर्दश्यां रात्रौ भीमे श्मशानके ॥३२॥
स्थित्वा वैराग्यभावेन योगं गृह्णाति शुद्धधीः। तन्मत्वा धात्रिका सापि पापकर्मविचक्षणा ॥३३॥
कुंभकारगृहं गत्वा मृत्तिकापुत्तलं तदा। नरप्रमाणकं शीघ्रं कारयित्वा सुवाससा ॥३४॥
वेष्टयित्वा समादाय राज्ञीपार्श्वे चचाल सा। किमेतद्धात्रिके ब्रूहि धृतेति द्वारपालकैः ॥३५॥
कौटिल्येन तया तत्र क्षिप्त्वा पुत्तलकं क्षितौ। भग्नमालोक्य कोपेन प्रोक्तं धात्र्या सुधूर्तया ॥३६॥
रे रे दुष्टाः सुपापिष्ठा भवद्भिः निन्दितं कृतम्। राज्या नरव्रतं चास्ति पूजयित्वा सुपुत्तलम् ॥३७॥

असभ्य और दुष्ट स्त्रियाँ कौन-सा बुरा काम नहीं करती? अभया की धाय भी ऐसी ही स्त्रियों में थी। फिर वह क्यों इस काम में अपना हाथ न डालती? वह अब सुदर्शन को राजमहल में ले आने के प्रयत्न में लग गई ॥३१॥

सुदर्शन एक धर्मात्मा श्रावक था। वह वैरागी था। संसार में रहता तब भी सदा उससे छुटकारा पाने के उपाय में लगा रहता था। इसलिए वह ध्यान का भी अभ्यास किया करता था। अष्टमी और चतुर्दशी को रात्रि में वह भयंकर श्मशान में जाकर ध्यान करता। धाय को सुदर्शन के ध्यान की बात मालूम थी। उसने सुदर्शन को राजमहल में लिवा ले जाने को एक षड्यंत्र रचा। एक दिन वह एक कुम्हार के पास गई और उससे मनुष्य के आकार का एक मिट्टी का पुतला बनवाया और उसे वस्त्र पहनाकर वह राजमहल लिवा ले चली। महल में प्रवेश करते समय पहरेदारों ने उसे रोका और पूछा कि यह क्या है? वह उसका कुछ उत्तर न देकर आगे बढ़ी। पहरेदारों ने उसे नहीं जाने दिया। उसने गुस्से का ढोंग बनाकर पुतले को जमीन पर दे मारा। वह चूर-चूर हो गया। इसके साथ ही उसने अकड़कर कहा-पापियों, दुष्टों, तुमने आज बड़ा अनर्थ किया है। तुम नहीं जानते कि महारानी के नरव्रत था, सो वे इस पुतले की पूजा करके भोजन करती। सो तुमने इसे फोड़ डाला है। अब वे कभी भोजन नहीं करेंगी। देखो, मैं अब महारानी से जाकर तुम्हारी दुष्टता का हाल कहती हूँ। फिर वे सबेरे ही तुम्हारी क्या गति करती हैं? तुम्हारी दुष्टता सुनकर ही वे तुम्हें जान से मरवा डालेंगी। धाय की धूर्यता से बेचारे पहरेदारों के प्राण सूख गए। उन्हें काटो तो खून नहीं। मारे डर के वे थर-थर काँपने लगे। वे उसके पाँवों में पड़कर अपने प्राण बचाने की उससे भीख माँगने लगे। बड़ी आरजू मिन्नत करने पर उसने उनसे कहा-तुम्हारी यह दशा देखकर मुझे दया आती है। खैर, मैं तुम्हारे बचाने का उपाय करूँगी। पर याद रखना अब तुम मुझे कोई काम करते समय मत छेड़ना। तुमने इस पुतले को तो फोड़ डाला, बतलाओ अब महारानी आज अपना व्रत कैसे पूरा करेंगी? और न इसी समय और दूसरा पुतला ही बन सकता है। अस्तु। फिर भी मैं कुछ उपाय करती हूँ। जहाँ तक बन पड़ा वहाँ तक तो दूसरा पुतला ही बनवाकर लाती हूँ और यदि नहीं बन सका तो किसी जिन्दा ही पुरुष को मुझे थोड़ी देर के लिए लाना पड़ेगा। तुम्हें सचेत करती हूँ कि उस समय मैं किसी से नहीं बोलूँगी, इसलिए तुम मुझसे कुछ कहना सुनना नहीं। बेचारे पहरेदारों को तो अपनी जान की पड़ी

पश्चात्तया च कर्त्तव्यं भोजनं नान्यथा ध्रुवम्। अतः प्रभाते मार्यन्ते भवन्तोऽन्यायकारिणः ॥३८॥
तदा भीत्वा जगुस्तेपि भो मातस्त्वं क्षमां कुरु। कदाचित्कोपि नैव त्वां वारयत्यत्र सर्वथा ॥३९॥
एवं सर्वान्वशीकृत्य धात्री तान्द्वारपालकान्। अष्टम्याश्च तथा रात्रौ गत्वा घोरे श्मशानके ॥४०॥
कायोत्सर्गस्थितं दृष्ट्वा श्रेष्ठिनं तं सुदर्शनम्। राज्ञ्याः समर्पयामास तत्रानीय प्रयत्नतः ॥४१॥
आलिङ्गनादिविज्ञानैः सा राज्ञी कामपीडिता। नानोपसर्गकं चक्रेऽभयाख्या तस्य धीमतः ॥४२॥
सः श्रेष्ठी मेरुवद्धीरो गंभीरो जलधेस्तराम्। श्रीमज्जैनेन्द्रपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः ॥४३॥
एतस्मादुपसर्गान्मे यदि शान्तिर्भविष्यति। पाणिपात्रे तदाहारं करिष्यामि सुनिश्चयात् ॥४४॥
इति प्रतिज्ञामादाय संस्थितः काष्ठवत्तराम्। सन्तः कष्टशतैश्चापि चारित्रान्न चलत्यलम् ॥४५॥
असमर्था तदा भूत्वा राज्ञी तच्छीलखण्डने। संविदार्य नखैर्देहं स्वकीयं दुष्टमानसा ॥४६॥
इदं मे श्रेष्ठिना चक्रे सा चकारेति पूत्कृतिम्। किं न कुर्वन्ति पापिन्यो निन्द्यं दुष्टस्त्रियो भुवि ॥४७॥

हुई थी, इसलिए उन्होंने हाथ जोड़कर कह दिया कि–अच्छा, हम लोग आप से अब कुछ नहीं कहेंगे। आप अपना काम निडर हो कर कीजिए। इस प्रकार वह धूर्त्ता सब पहरेदारों को अपने वश कर उसी समय श्मशान में पहुँची ॥३२-४०॥

श्मशान जलती चिताओं से बड़ा भयंकर बन रहा था उसी भयंकर श्मशान में सुदर्शन कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। महारानी अभया की परिचारिका ने उसे उठा लाकर महारानी के सुपुर्द कर दिया। अभया अपनी परिचारिका पर बहुत प्रसन्न हुई सुदर्शन को प्राप्त कर उसके आनन्द का कुछ ठिकाना न रहा, मानो उसे अपनी मनमानी निधि मिल गई। वह काम से तो अत्यन्त पीड़ित थी ही, उसने सुदर्शन से बहुत अनुनय विनय किया, इसलिए कि वह उसकी इच्छा पूरी करके उसे सुखी करे, कामाग्नि से जलते हुए शरीर को आलिंगन सुधा प्रदान कर शीतल करें। पर सुदर्शन ने उसकी एक भी बात का उत्तर नहीं दिया। यह देख रानी ने उसके साथ अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करनी आरंभ की, जिससे वह विचलित हो जाये। पर तब भी रानी की इच्छा पूरी नहीं हुई। सुदर्शन मेरु सा निश्चल और समुद्र सा गंभीर बना रहकर जिनभगवान् के चरणों का ध्यान करने लगा। उसने प्रतिज्ञा की कि यदि मैं इस उपसर्ग से बच गया तो अब संसार में रहकर साधु हो जाऊँगा। प्रतिज्ञा कर वह काष्ठ की तरह निश्चल होकर ध्यान करने लगा। बहुत ठीक लिखा है–

सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपने व्रत से कभी नहीं चलते। अनेक तरह का यत्न, अनेक कुचेष्टाएँ करने पर भी जब रानी सुदर्शन को शील शैल से न गिरा सकी,उसे तिल भर भी विचलित नहीं कर सकी, तब शर्मिन्दा होकर उसने सुदर्शन को कष्ट देने के लिए एक नया ही ढोंग रचा। उसने अपने शरीर को नखों से खूब खुजा डाला, अपने कपड़े फाड़ डाले, भूषण तोड़-फोड़ डाले और यह कहती हुई वह जोर-जोर से हिचकियाँ ले लेकर रोने लगी कि हाय! इस पापी दुराचारी ने मेरी यह हालत कर दी। मैंने तो इसे भाई समझकर अपने महल बुलाया था। मुझे क्या

तदाकर्ण्य महीनाथो महाकोपेन कम्पितः। नीत्वा श्मशानके श्रेष्ठिं मार्यतामिति चोक्तवान् ॥४८॥
ततो राजभटैः सोपि समानीतः श्मशानके। तत्रैकेन गले तस्य खड्गो मुक्तो दुरात्मना ॥४९॥
तदा तच्छीलमाहात्म्यात्स खड्गः सम्पतन्नपि। पुष्पमालाभवत्कण्ठे सुगन्धीकृतदिङ्मुखा ॥५०॥
जय त्वं त्रिजगत्पूज्य-जिनपादाब्जषट्पद। विशिष्टधीरहो श्रेष्ठिन् श्रावकाचारकोविदः ॥५१॥
इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैः पुष्पवृष्ट्यादिभिस्तराम्। देवास्तं पूजयन्ति स्म लसद्धर्मानुरागतः ॥५२॥
अहो पुण्यवतां पुंसां कष्टं चापि सुखायते। तस्माद्भव्यैः प्रयत्नेन कार्यं पुण्यं जिनोदितम् ॥५३॥
पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां भक्त्या यच्चार्चनं सदा। पात्रदानं तथा शीलं सोपवासादिकं मतम् !! ५४॥
श्रुत्वा तद्वृतमाहात्म्यं श्रेष्ठिनो भुवनोत्तमम्। राज्ञा लोकैः समागत्य सत्क्षमां कारितः सुधीः ॥५५॥
ततः सुदर्शनः श्रेष्ठी संसारादेर्विरक्तवान्। दत्वा श्रेष्ठिपदं शीघ्रं सुकान्ताख्यसुताय च ॥५६॥
नत्वा मुनिं जगत्पूतं भक्त्या विमलवाहनम्। दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्भूत्वातिनिर्मलः ॥५७॥

मालूम था कि यह इतना दुष्ट होगा? हाय! दौड़ो!! मुझे बचाओ! मेरी रक्षा करो! यह पापी मेरा सर्वनाश करना चाहता है। रानी के चिल्लाते ही बहुत से नौकर-चाकर दौड़े आए और सुदर्शन को बाँधकर वे महाराज के पास लिवा ले गए।

सच है—पापिनी और दुष्ट स्त्रियाँ संसार में कौन-सा बुरा काम नहीं करती? अभया भी ऐसे ही स्त्रियों में एक थी। इसलिए उसने अपना चरित कर बतलाया। महाराज को जब यह हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने क्रोध में आकर सुदर्शन को मार डालने का हुकुम दे दिया। महाराज की आज्ञा होते ही जल्लाद लोग उसे श्मशान में लिवा ले गए। उनमें से एक ने अपनी तेज तलवार सुदर्शन के गले पर दे मारी। पर यह हुआ क्या? जो सुदर्शन को उससे कुछ कष्ट नहीं पहुँचा और उलटा उसे वह तलवार का मारना ऐसा जान पड़ा, मानो किसी ने उस पर फूल की माला फेंकी हो। जान पड़ा यह सब उसके अखण्ड शीलव्रत का प्रभाव था। ऐसे कष्ट के समय देवों ने आकर उसकी रक्षा की और स्तुति की कि सुदर्शन, तुम धन्य हो, तुम सच्चे जिनभक्त हो, सच्चे श्रावक हो, तुम्हारा ब्रह्मचर्य अखण्ड है, तुम्हारा हृदय सुमेरु से भी कहीं अधिक निश्चल है। इस प्रकार प्रशंसा कर देवों ने उस पर सुगन्धित फूलों की वर्षा की और धर्मप्रेम के वश होकर उसकी पूजा की। सच है—पुण्यवानों के लिए दुःख भी सुख के रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए भव्य पुरुषों को जिनभगवान् के कहे मार्ग से पुण्यकर्म करना चाहिए। भक्तिपूर्वक जिनभगवान् की पूजा करना, पात्रों को दान देना, ब्रह्मचर्य का पालना, अणुव्रतों का पालन करना, अनाथ, अपाहिज दुखियों को सहायता देना, विद्यालय, पाठशाला खुलवाना, उनमें सहायता देना, विद्यार्थियों को छात्र-वृत्तियाँ देना आदि पुण्यकर्म है। सुदर्शन के व्रतमाहात्म्य का हाल महाराज को मालूम हुआ। वे उसी समय सुदर्शन के पास आए और उन्होंने उससे अपने अविचार के लिए क्षमा माँगी ॥४१-५५॥

सुदर्शन को संसार की इस लीला से बड़ा वैराग्य हुआ। वह अपना कारोबार सब सुकान्त पुत्र को सौंपकर वन में गया और त्रिलोकपूज्य विमलवाहन मुनिराज को नमस्कार कर उनके पास प्रव्रजित

दर्शनज्ञानचारित्र-तपोत्यागैः सुशर्मदम्। केवलज्ञानमुत्पाद्य देवेन्द्राद्यैः समर्चितः ॥५८॥
भव्यान्सम्बोध्य पूतात्मा स्वर्गमोक्षसुखप्रदः। निराबाधसुखोपेतां मुक्तिं संप्राप्तवान्सुधीः ॥५९॥
इत्थं ज्ञात्वा महाभव्यैः कर्त्तव्यः परया मुदा। सारपञ्चनमस्कार-विश्वासः शर्मदः सताम् ॥६०॥
स जयति जिनचन्द्रः केवलज्ञानकान्तिर्मुदितसकलभव्योत्कृष्टनेत्रोत्पलौघः।
असुरसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः सुभक्त्या श्रुतजलधिमुनीन्द्रैः सेवितः शर्मदाता ॥६१॥

इति कथाकोशे पंचनमस्कारमंत्रप्रभावकथा समाप्ता।

२२. श्रीयममुनेः कथा

श्री जिनं भारतीं साधुं प्रणम्य परया मुदा। खण्डश्लोकैः कथा जाता कथ्यते सा सुखप्रदा ॥१॥
औढ्रदेशेऽत्र विख्याते धर्माख्यनगरे वरे। जातो राजा यमो धीमान्सर्वशास्त्रविचक्षणः ॥२॥
तद्राज्ञी धनवत्याख्या गर्दभाख्यः सुतस्तयोः। सुताभूत्कोणिका नाम्ना रूपलावण्यमण्डिता ॥३॥
तस्यैव यमभूपस्य पुत्राः पञ्चशतानि च। अन्यराज्ञीषु संजाता जैनधर्मधुरन्धराः ॥४॥
दीर्घनामाभवन्मंत्री मंत्रकर्मपरायणः। एवं राज्यं प्रकुर्वाणः स राजा सुखतः स्थितः ॥५॥

हो गया। मुनि होकर सुदर्शन ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चर्या द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और अनेक भव्य पुरुषों को कल्याण का मार्ग दिखलाकर तथा देवादि द्वारा पूज्य होकर अन्त में वह निराबाध, अनन्त सुखमय मोक्षधाम में पहुँच गया ॥५६-५९॥

इस प्रकार नमस्कार मंत्र का माहात्म्य जानकर भव्यों को उचित है कि वे प्रसन्नता के साथ उस पर विश्वास करें और प्रतिदिन उसकी आराधना करें ॥६०॥

धर्मात्माओं के नेत्ररूपी कुमुद-पुष्पों के प्रफुल्लित करने वाले, आनन्द देने वाले और श्रुतज्ञान के समुद्र तथा मुनि, देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि द्वारा पूज्य, केवलज्ञानरूपी कान्ति से शोभायमान भगवान् जिनचन्द्र संसार में सदा काल रहें ॥६१॥

२२. यम मुनि की कथा

मैं देव, गुरु और जिनवाणी को नमस्कार कर यम मुनि की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने बहुत ही थोड़ा ज्ञान होने पर भी अपने को मुक्ति का पात्र बना लिया और अन्त में वे मोक्ष गए। यह कथा सब सुख की देने वाली है ॥१॥

उड्रदेश के अन्तर्गत धर्म नाम का प्रसिद्ध और सुन्दर शहर है। उसके राजा थे यम। वे बुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ थे। उनकी रानी का नाम धनवती था। धनवती के एक पुत्र और एक पुत्री थी। उनके नाम थे गर्दभ और कोणिका। कोणिका बहुत सुन्दरी थी। धनवती के अतिरिक्त राजा की और भी कई रानियाँ थीं। उनके पुत्रों की संख्या पाँच सौ थी। ये पाँच सौ ही भाई धर्मात्मा थे और संसार से उदासीन रहा करते थे। राजमंत्री का नाम दीर्घ था वह बहुत बुद्धिमान् और राजनीति का अच्छा जानकार था। राजा इन सब साधनों से बहुत सुखी थे और राज्य भी बड़ी शान्ति से करते थे ॥२-५॥

नैमित्तिकेन सम्प्रोक्तमेकदा तस्य भूपतेः। यः कोणिकापतिर्भावी स भावी सर्वभूमिपः ॥६॥
तच्छ्रुत्वा स यमो राजा तां पुत्रीं भूरि यत्नतः। प्रच्छन्नं पालयामास सुधीर्भूमिगृहे सदा ॥७॥
एकदा नगरे तत्र मुनिपञ्चशतैर्युतः। महामुनिः समायातः सुधर्माख्यो जगद्धितः ॥८॥
वन्दनार्थं तदा सर्वे पूजाद्रव्येण संयुताः। प्रचेलुः परया भक्त्या पौराः सन्तुष्टमानसाः ॥९॥
तान् गच्छतो जनान् वीक्ष्य स भूपो ज्ञानगर्वतः। कुर्वन्निन्दां मुनीन्द्राणां तत्रैव गतवांस्तदा ॥१०॥
निन्दया ज्ञानगर्वाच्च तत्कालं तस्य भूपतेः। सर्वबोधक्षयो जातो लक्ष्मीर्वा पापकर्मणा ॥११॥
ततोऽष्टधा महाकष्टं गर्वो दुःखशतप्रदम्। ज्ञानविज्ञानमिच्छन्तो न कुर्युर्भव्यदेहिनः ॥१२॥
निर्मदोसौ ततो भूत्वा गजो वा दन्तवर्जितः। नत्वा मुनीन्महाभक्त्या संस्थितस्तत्र भूपतिः ॥१३॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं द्विधा शर्मप्रदायकम्। त्रिधा वैराग्यसम्पन्नो यमो भूत्वा स्वमानसे ॥१४॥

एक दिन एक राज ज्योतिषी ने कोणिका के लक्षण वगैरह देखकर राजा से कहा–महाराज, राजकुमारी बड़ी भाग्यवती है। जो इसका पति होगा वह सारी पृथ्वी का स्वामी होगा। यह सुनकर राजा बहुत खुश हुए और उस दिन से वे उसकी बड़ी सावधानी से रक्षा करने लगे, उन्होंने उसके लिए एक बहुत सुन्दर और भव्य तलग्रह बनवा दिया। वह इसलिए कि उसे और छोटा-मोटा बलवान् राजा न देख पाए ॥६-७॥

एक दिन उसकी राजधानी में पाँच सौ मुनियों का संघ आया। संघ के आचार्य थे महामुनि सुधर्माचार्य। संसार का हित करना उनका एक मात्र व्रत था। बड़े आनन्द उत्साह के साथ शहर के सब लोग अनेक प्रकार के पूजन द्रव्य हाथों में लिए हुए आचार्य की पूजा के लिए गए। उन्हें जाते हुए देख राजा भी अपने पाण्डित्य के अभिमान में आकर मुनियों की निन्दा करते हुए उनके पास गए। मुनि निन्दा और ज्ञान का अभिमान करने से उसी समय उसके कोई ऐसा कर्म का तीव्र उदय आया कि उसकी सब बुद्धि नष्ट हो गई वे महामूर्ख बन गए। इसलिए जो उत्तम पुरुष हैं और ज्ञानी बनना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे कभी ज्ञान का गर्व न करें और ज्ञानहीन का क्यों? किन्तु कुल, जाति, बल, ऋद्धि, ऐश्वर्य, शरीर, तप, पूजा, प्रतिष्ठा आदि किसी का भी गर्व-अभिमान न करें। इनका अभिमान करना बड़ा ही दुःखदायी है ॥८-१२॥

अपनी यह हालत देखकर राजा का होश ठिकाने आया। वे एक साथ ही दाँत रहित हाथी की तरह गर्व रहित हो गए। उन्होंने अपने कृत कर्मों का बहुत पश्चाताप किया और मुनिराज को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनसे धर्मोपदेश सुना, जो कि जीव मात्र को सुख का देने वाला है। धर्मोपदेश से उन्हें बहुत शान्ति मिली। उसका असर भी उन पर बहुत पड़ा। वे संसार से विरक्त हो गए। वे उसी समय अपने गर्दभ नाम के पुत्र को राज्य सौंपकर अपने अन्य पाँच सौ पुत्रों के साथ, जो कि बालपन ही से वैरागी रहा करते थे, मुनि हो गए। मुनि होने के बाद उन सबने खूब शास्त्रों का अभ्यास किया। आश्चर्य है कि वे पाँच सौ ही भाई खूब विद्वान् हो गए, पर राजा को (यम मुनि

गर्दभाख्यस्वपुत्राय राज्यं दत्वा सुनिश्चलः। युक्तैः पञ्चशतैः पुत्रैर्मुनिर्भक्त्या बभूव सः ॥१५॥
तत्पुत्रास्ते तदा सर्वे जाताः सर्वश्रुतैर्युताः। मुनेः पञ्चनमस्कार-मात्रं नायाति तस्य तु ॥१६॥
ततो लज्जापरो भूत्वा गुरुं पृष्ट्वा सुभक्तितः। यमो मुनिर्जिनेन्द्राणां तीर्थयात्रासु निर्गतः ॥१७॥
तत्रैकाकी मुनिः सोपि कुर्वन्यात्रां सुखप्रदाम्। एकदा च महामार्गे गच्छन्स्वेच्छाशयो मुदा ॥१८॥
दृष्ट्वा रथं नरोपेतं नीयमानं च गर्दभैः। भक्षणार्थं यवक्षेत्रं हरितं प्रति लोलुपैः ॥१९॥
रथोपरिस्थितेनोच्चैर्ध्रियमाणं च कष्टतः। खण्डश्लोकं तदा चक्रे किंचिद्बुद्धेः प्रसादतः ॥२०॥

''कट्टसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पेच्छसि खादितुं।''

तथैकदा सुधीर्मार्गे बालक्रीडां प्रकुर्वताम्। लीलया लोकपुत्राणां बिलेऽगात्काष्ठकोणिका ॥२१॥
तां कोणिकामपश्यन्तो जातास्ते व्यग्रमानसाः। तां विलोक्य मुनिः सोपि खण्डं श्लोकं चकार सः ॥२२॥

''अण्णत्थ किं पलोवह तुम्हे पत्थणिबुद्धिं या छिद्दे अत्थई कोणिआ।''

एकदा पद्मिनीपत्र-छन्नदुःसर्पसम्मुखम्। भीत्या गच्छन्तमालोक्य मण्डूकं च यमोवदत् ॥२३॥

''अह्मादो णत्थि भयं दीहादो दीसदे भयं तुम्हे।''

एतैः खण्डैस्त्रिभिः श्लोकैः स मुनिर्नित्यमेव च। स्वाध्यायं श्रीजिनेन्द्राणां वन्दनादिकमद्भुतम् ॥२४॥

को) पंचनमस्कार मंत्र का उच्चारण करना तब भी नहीं आया। अपनी यह दशा देखकर यम मुनि बड़े शर्मिन्दा और दुःखी हुए उन्होंने वहाँ रहना उचित न समझ अपने गुरु से तीर्थयात्रा करने की आज्ञा ली और अकेले ही वहाँ से निकल पड़े। यम मुनि अकेले ही यात्रा करते हुए एक दिन स्वच्छन्द होकर रास्ते में जा रहे थे। जाते हुए उन्होंने एक रथ देखा। रथ में गधे जुते हुए थे और उस पर आदमी बैठा हुआ था। गधे उसे एक हरे धान के खेत की ओर लिए जा रहे थे। रास्ते में मुनि को जाते हुए देखकर रथ पर बैठे हुए मनुष्य ने उन्हें पकड़ लिया और लगा वह उन्हें कष्ट पहुँचाने। मुनि ने कुछ ज्ञान का क्षयोपशम हो जाने से एक खण्ड गाथा बनाकर पढ़ी। वह गाथा यह थी–॥१३-२०॥

''रे गधों, कष्ट उठाओगे, तो तुम जब भी खा सकोगे।''

इसी तरह एक दिन कुछ बालक खेल रहे थे। वहीं कोणिका भी न जाने किसी तरह पहुँच गई उसे देखकर सब बालक डरे। उस समय कोणिका को देखकर यम मुनि ने एक और खण्ड गाथा बनाकर आत्मा के प्रति कहा। वह गाथा यह थी– ॥२१-२२॥

''दूसरी ओर क्या देखते हो? तुम्हारी पत्थर सरीखी कठोर बुद्धि को छेदने वाली कोणिका तो है।''

एक दिन यम मुनि ने एक मेंढक को एक कमल पत्र की आड़ में छुपे हुए सर्प की ओर आते हुए देखा। देखकर वे मेंढक से बोले– ॥२३॥

''मुझे-मेरे आत्मा को तो किसी से भय नहीं है। भय है तो तुम्हें।''

बस, यम मुनि ने जो ज्ञान सम्पादन कर पाया, वह इतना था। वे इन्हीं तीन खण्ड गाथाओं का स्वाध्याय करते, पाठ करते और कुछ उन्हें आता नहीं था। इसी तरह पवित्रात्मा और धर्मानुयायी यम

कुर्वंस्तीर्थेषु शुद्धात्मा महाधर्मानुरागतः। गत्वा धर्मपुरोद्याने कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥२५॥
तमायातं समाकर्ण्य गर्दभो दीर्घकश्च तौ। राज्य गृहीतुमायातो यमोऽयमिति भीवशौ ॥२६॥
अर्धरात्रौ मुनेस्तस्य मारणार्थं दुराशयौ। तत्रागत्य वने शस्त्रो-पेतौ तत्पृष्ठतः स्थितौ ॥२७॥
धिक्राज्यं धिङ्मूर्खत्वं कातरत्वं च धिक्तराम्। निस्पृहाच्च मुनेर्येन शङ्का राज्येभवत्तयोः ॥२८॥
तदा गर्दभदीर्घौ च मुनेर्हत्याभयं गतौ। खड्गस्याकर्षणं कष्टं चक्रतुस्तु पुनः पुनः ॥२९॥
तस्मिन्नेव क्षणे तेन स्वाध्यायं गृह्णता मुदा। श्लोकार्धं पठितं पूर्वं यमेन मुनिनेति च ॥३०॥
''कड्डसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पेच्छसि खादिदुं''
तच्छ्रुत्वा गर्दभेनोक्तं मंत्रिणं प्रति भो सुधीः। आवां द्वौ लक्षितौ दुष्टौ मुनीन्द्रेण महाधिया ॥३१॥
पठिते द्वितीयार्धे च गर्दभो हि पुनर्जगौ। अहो दीर्घ मुनीन्द्रोऽसौ राज्यार्थं नागतो ध्रुवम् ॥३२॥
कोणिका भगिनी मे च या स्थिता भूमिसद्गृहे। महास्नेहेन तां वक्तुं समायातो विचक्षणः ॥३३॥
तृतीयार्द्धं मुनिः प्राह तच्छ्रुत्वा गर्दभेन वै। स्वचित्ते चिन्तितं चेति दृष्टोयं दीर्घकः कुधीः ॥३४॥
मां हंतुमिच्छति क्रूरस्तद्गुप्तं स्नेहतो मम। बुद्धिं दातुं समायातः पिता मे मुनिसत्तमः ॥३५॥
ततस्तौ परया भक्त्या त्यक्त्वा दुष्टाशयं द्रुतम्। तं प्रणम्यं मुनिं पूतं शुद्धचारित्रमण्डितम् ॥३६॥

मुनि ने अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए धर्मपुर की ओर आ निकले। वे शहर के बाहर एक बगीचे में कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे। उनके पीछे लौट आने का हाल उनके पुत्र गर्दभ और राजमंत्री दीर्घ को ज्ञात हुआ। उन्होंने समझा कि ये हमसे राज्य लेने को आए हैं। सो वे दोनों मुनि के मारने का विचार कर आधी रात के समय वन में गए और तलवार खींचकर उनके पीछे खड़े हो गए। आचार्य कहते हैं कि– ॥२४-२७॥

ऐसे राज्य को, ऐसी मूर्खता और ऐसे डरपोकपने को धिक्कार है, जिससे एक निस्पृह और संसार त्यागी मुनि के द्वारा राज्य के छिन जाने का उन्हें भय हुआ। गर्दभ और दीर्घ, मुनि की हत्या करने को तो आए पर उनकी हिम्मत उन्हें मारने की नहीं पड़ी। वे बार-बार अपनी तलवारों को म्यान में रखने लगे और बाहर निकालने लगे। उसी समय यम मुनि ने अपनी स्वाध्याय की पहली गाथा पड़ी, जो कि ऊपर लिखी जा चुकी है। उसे सुनकर गर्दभ ने अपने मंत्री से कहा–जान पड़ता है मुनि ने हम दोनों को देख लिया। पर साथ ही जब मुनि ने दूसरी गाथा पड़ी तब उसने कहा–नहीं जी, मुनिराज राज्य लेने को नहीं आए हैं। मैंने जो वैसा समझा वह मेरा भ्रम था। मेरी बहिन कोणिका को प्रेम के वश कुछ कहने को ये आए हुए जान पड़ते हैं। इसके बाद जब मुनिराज ने तीसरी आधी गाथा भी पढ़ी तब उसे सुनकर गर्दभ ने अपने मन में उसका यह अर्थ समझा कि ''मंत्री दीर्घ बड़ा कूट है और मुझे मारना चाहता है'' यही बात पिताजी, प्रेम के वश हो तुझे कहकर सावधान करने को आए हैं परन्तु थोड़ी देर बाद ही उसका यह सन्देह भी दूर हो गया। उन्होंने अपने हृदय की सब दुष्टता छोड़कर बड़ी भक्ति के साथ पवित्र चारित्र के धारक मुनिराज को प्रणाम किया

धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं स्वर्गमोक्षप्रदायकम्। तुष्टौ गर्दभदीर्घौ च संजातौ श्रावकोत्तमौ ॥३७॥
ततो यमो मुनीन्द्रोऽसौ महावैराग्यमण्डितः। जिनोक्तैः शुद्धचारित्रैर्जातः सप्तर्द्धिसंयुतः ॥३८॥
यतोऽसौ ज्ञानलेशेन संजातो गुणभाजनम्। यतो भव्यैः सदाराध्यं जैनं ज्ञानं जगद्धितम् ॥३९॥

स्तोकं ज्ञानमपि प्रसिद्धमहिमा भक्त्या समाराध्य च
जातोऽसौ मुनिसत्तमो गुणनिधिः सप्तर्द्धियुक्तो महान्।
ज्ञात्वेत्थं त्रिजगत्प्रपूज्यजिनपैः प्रोक्तं सुशर्मप्रदं
ज्ञानं निर्वृतिसाधनं शुचितरं सन्तः श्रयन्तु श्रिये ॥४०॥

इति कथाकोशे श्री यममुनेः कथा समाप्ता।

२३. श्रीदृढसूर्यस्य कथा

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं लोकालोकप्रकाशकम्। वक्ष्येहं दृढसूर्यस्य वृत्तं विश्वासदायकम् ॥१॥
उज्जयिन्यां महाराजो नगर्यां धनपालवाक्। तद्राज्ञी धनवत्याख्या सैकदा निजलीलया ॥२॥

और उनसे धर्म का उपदेश सुना, जो कि स्वर्ग-मोक्ष का देने वाला है। उपदेश सुनकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए। इसके बाद वे श्रावकधर्म ग्रहण कर अपने स्थान लौट गए ॥२८-३७॥

इधर यमधर मुनि भी अपने चारित्र को दिन दूना निर्मल करने लगे, परिणामों को वैराग्य की ओर खूब लगाने लगे। उसके प्रभाव से थोड़े ही दिनों में उन्हें सातों ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई ॥३८॥

अहा! नाममात्र ज्ञान द्वारा भी यम मुनिराज बड़े ज्ञानी हुए, उन्होंने अपनी उन्नति को अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचा दिया। इसलिए भव्य पुरुषों को संसार का हित करने वाले जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट सम्यग्ज्ञान की सदा आराधना करना चाहिए। देखो, यम मुनिराज को बहुत थोड़ा ज्ञान था, पर उसकी उन्होंने बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ आराधना की। उसके प्रभाव से वे संसार में प्रसिद्ध हुए मुनियों में प्रधान और मान्य हुए और सातों ऋद्धियाँ उन्हें प्राप्त हुई इसलिए सज्जन धर्मात्मा पुरुषों को उचित है कि वे त्रिलोकपूज्य जिनभगवान् द्वारा उपदिष्ट, सब सुखों का देने वाला और मोक्ष-प्राप्ति का कारण अत्यन्त पवित्र सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करें ॥३९-४०॥

२३. दृढ़सूर्य की कथा

लोकालोक के प्रकाश करने वाले, केवलज्ञान द्वारा संसार के सब पदार्थों को जानकर उनका स्वरूप कहने वाले और देवेन्द्रादि द्वारा पूज्य श्री जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं दृढ़सूर्य की कथा लिखता हूँ, जो कि जीवों को विश्वास दिलाने वाली है ॥१॥

उज्जयिनी के राजा जिस समय धनपाल थे, उस समय की यह कथा है। धनपाल उस समय के राजाओं में एक प्रसिद्ध राजा थे। उनकी महारानी का नाम धनवती था। एक दिन धनवती अपनी

वसन्तर्तौ वनं प्राप्ता क्रीडार्थं सुजनैर्वृता। तत्र तस्या गले हारं धनवत्या मनोहरम् ॥३॥
दृष्ट्वा बसन्तसेनाख्या गणिका धनलम्पटा। किं हारेण विनाऽनेन जीवितं निष्फलं मम ॥४॥
सञ्चिन्त्येति गृहं गत्वा संस्थिता दुःखमानसा। तदा रात्रौ समागत्य चोरोसौ दृढसूर्यकः ॥५॥
तां जगाद तदासक्तः किं प्रिये दुःखतः स्थिता। तयोक्तं चेत्समानीय राज्ञीहारं ददासि मे ॥६॥
तदा जीवाम्यहं धीर नान्यथा त्वं च मे प्रियः। तच्छ्रुत्वा दृढसूर्योसौ तां समुद्धीर्य वल्लभाम् ॥७॥
राजगेहं प्रविश्योच्चैर्गृहीत्वा हारमुत्तमम्। निशायां निर्गतः शीघ्रं किं न कुर्वन्ति लम्पटाः ॥८॥
हारोद्योतेन चोरोसौ यमपाशेन संधृतः। कष्टतः कोट्टपालेन शूले प्रोतो नृपाज्ञया ॥९॥
प्रभाते धनदत्ताख्यं संगच्छन्तं जिनालये। दृष्ट्वा कण्ठगतः प्राणस्तस्करः श्रेष्ठिनं जगौ ॥१०॥
त्वं दयालुर्महाधीर जिनपादाब्जषट्पद। महातृषातुरस्योच्चैस्तोयं देहि मम द्रुतम् ॥११॥
श्रेष्ठी तस्योपकारार्थं संजगादेति शुद्धधीः। वर्षैर्द्वादशभिर्दत्ता विद्या मे गुरुणा मुदा ॥१२॥
जलार्थं गच्छतः सा मे विस्मृतिं याति साम्प्रतम्। तां धृत्वा यत्नतो विद्या-मागताय ददासि चेत् ॥१३॥

सखियों के साथ वसन्तश्री देखने को उपवन में गई। उसके गले में एक बहुत कीमती रत्नों का हार पड़ा हुआ था। उसे वहीं आई हुए एक वसन्तसेना नाम की वेश्या ने देखा। उसे देखकर उसका मन उसकी प्राप्ति के लिए आकुलित हो उठा। उसके बिना उसे अपना जीवन निष्फल जान पड़ने लगा। वह दुःखी होकर अपने घर लौटी। सारे दिन वह उदास रही। जब रात के समय उसका प्रेमी दृढ़सूर्य आया तब उसने उसे उदास देखकर पूछा–प्रिये, कहो! कहो!! तुम आज अप्रसन्न कैसी? बसन्तसेना ने उसे अपने लिए इस प्रकार खेदित देखकर कहा–आज मैं उपवन में गई हुई थी। वहाँ मैंने राजरानी के गले में एक हार देखा हैं। वह बहुत ही सुन्दर है। उसे आप लाकर दें तब ही मेरा जीवन रह सकता है और तब ही आप मेरे सच्चे प्रेमी हो सकते हैं ॥२-४॥

दृढ़सूर्य हार के लिए चला। वह सीधा राजमहल पहुँचा। भाग्य से हार उसके हाथ पड़ गया। वह उसे लिए हुए राजमहल से निकला। सच है लोभी, लंपटी कौन काम नहीं करते? उसे निकलते ही पहरेदारों ने पकड़ लिया। सबेरा होने पर राजसभा में पहुँचाया गया। राजा ने उसे शूली पर चढ़ाने की आज्ञा दी। वह शूली पर चढ़ाया गया। इसी समय धनदत्त नाम के एक सेठ दर्शन करने को जिनमन्दिर जा रहे थे। दृढ़सूर्य ने उनके चेहरे और चाल-ढाल से उन्हें दयालु समझ कर उनसे कहा–सेठजी, आप बड़े जिनभक्त और दयावान् हैं, इसलिए आपसे प्रार्थना है कि मैं इस समय बड़ा प्यासा हूँ, सो आप कहीं से थोड़ा सा जल लाकर मुझे पिला दें, तो आपका बड़ा उपकारी रहूँगा। धनदत्त ने उसकी भलाई की इच्छा से कहा–''भाई, मैं जल तो लाता हूँ, पर इस बीच में तुम्हें एक बात करनी होगी। वह यह कि–मैंने कोई बारह वर्ष के कठिन परिश्रम द्वारा अपने गुरु महाराज की कृपा से एक विद्या सीखी है, सो मैं तुम्हारे लिए जल लेने को जाते समय कदाचित् उसे भूल जाऊँ तो उससे मेरा सब श्रम व्यर्थ जायेगा और मुझे बहुत हानि भी उठानी पड़ेगी, इसलिए उसे मैं तुम्हें सौंप जाता हूँ।

तदा तोयं समानीय मया तुभ्यं प्रदीयते। एवं करोमि तेनोक्ते स श्रेष्ठी धर्मतत्त्ववित् ॥१४॥
तस्मै पञ्चनमस्कारं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। कथयित्वा गतो धीमान्सर्वेषां हितकारकः ॥१५॥
स चोरो दृढसूर्यश्च श्रेष्ठिवाक्येषु निश्चलः। तं मंत्रं त्रिजगत्पूतं स्मरन्नुच्चारयन्नपि ॥१६॥
मृत्वा सौधर्मकल्पेभू-द्देवो नानर्द्धिमण्डितः। अहो पञ्चनमस्कारैर्जायते किं न देहिनाम् ॥१७॥
तदा केनापि सम्प्रोक्तं दुर्जनेन महीपतेः। भो देव धनदत्ताख्यः श्रेष्ठी ते न्यायकारकः ॥१८॥
गत्वा चोरसमीपं च मंत्रं तेन समं व्यधात्। अतोऽस्य मन्दिरे तस्य धनं तिष्ठति निश्चितम् ॥१९॥
धिग्दुर्जनं दुराचारं वृथा प्राणप्रहारिणम्। सर्वलोकहितानां च सतां यो वक्ति दुर्वचः ॥२०॥
तच्छ्रुत्वा धनपालाख्यः स भूपः कोपकम्पितः। बन्धनार्थं गृहे तस्य प्रेषयामास किङ्करान् ॥२१॥
तस्मिन्नेव क्षणे सोपि देवो ज्ञात्वाऽवधीक्षणात्। श्रेष्ठिनो गृहरक्षार्थं शीघ्रमागत्य भक्तितः ॥२२॥
द्वारपालः स्वयं भूत्वा संस्थितो यष्टिमंडितः। तद्गृहं विशतः क्रूरान्वारयामास किंकरान् ॥२३॥
कुर्वन्तश्च हठं तत्र भटास्ते दुष्टमानसाः। मायया मारिताः सर्वे तदाऽनेन स्वशक्तितः ॥२४॥
तत्समाकर्ण्य भूपेन प्रेषिताः बहवो भटाः। तेन तेऽपि तथा सर्वे मारिताः क्षणतस्तराम् ॥२५॥

मैं जब जल लेकर आऊँ तब तुम मुझे वह लौटा देना। यह कहकर परोपकारी धनदत्त स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाला पंच नमस्कार मंत्र उसे सिखाकर जल लेने को चला गया। वह जल लेकर वापस लौटा, इतने में दृढ़सूर्य की जान निकल गई, वह मर गया। पर वह मरा नमस्कार मंत्र का ध्यान करता हुआ, उसे सेठ के इस कहने पर पूर्ण विश्वास हो गया था कि वह विद्या महाफल के देने वाली है। नमस्कार मंत्र के प्रभाव से वह सौधर्मस्वर्ग जाकर देव हुआ। सच है-पंच नमस्कारमंत्र के प्रभाव से मनुष्य को क्या प्राप्त नहीं होता? इसी समय किसी एक दुष्ट ने राजा से धनदत्त की शिकायत कर दी कि, महाराज, धनदत्त ने चोर के साथ कुछ गुप्त मंत्रणा की है, इसलिए उसके घर में चोरी का धन होना चाहिए। नहीं तो एक चोर से बातचीत करने का उसे क्या मतलब? ऐसे दुष्टों को और उनके दुराचारों को धिक्कार है, जो व्यर्थ ही दूसरों के प्राण लेने के यत्न में रहते हैं और परोपकार करने वाले सज्जनों को भी जो दुर्वचन कहते रहते हैं ॥५-२०॥

राजा सुनते ही क्रोध के मारे आग बबूला हो गए। उन्होंने बिना कुछ सोचे विचारे धनदत्त को बाँध ले आने के लिए अपने सैनिक को भेजा। इसी समय अवधिज्ञान द्वारा यह हाल देव को, जो कि दृढ़सूर्य का जीव था, मालूम हो गया। अपने उपकारी को, कष्ट में फँसा देखकर वह उसी समय उज्जयिनी में आया और स्वयं ही द्वारपाल बनकर उसके घर के दरवाजे पर पहरा देने लगा। जब सैनिक धनदत्त को पकड़ने के लिए घर में घुसने लगे तब देव ने उन्हें रोका। पर जब वे हठ करने लगे और जबरन घर में घुसने लगे तब देव ने भी अपनी माया से उन सब को एक क्षण भर में धराशायी कर दिया। राजा ने यह हाल सुनकर और भी बहुत से अपने अच्छे-अच्छे शूरवीरों को भेजा, देव ने उन्हें

तदा रुष्टो महीनाथस्तत्रायातो बलान्वितः। एकेन तेन तच्छीघ्रं बलं सर्वं तथा हतम् ॥२६॥
नष्टो राजा भयग्रस्तो देवेन भणितस्त्विति। श्रेष्ठिनः शरणं यासि तदा ते जीवितं ध्रुवम् ॥२७॥
ततो राजा जिनेन्द्राणां मन्दिरे शर्ममन्दिरे। रक्ष रक्षेति संजल्पन् श्रेष्ठिनः शरणं व्रजः ॥२८॥
श्रेष्ठी तदा विशिष्टात्मा संजगाद सुरं प्रति। कस्त्वं धीर किमर्थं च त्वयेदं निर्मितं वद ॥२९॥
दृढसूर्यचरो देवः श्रेष्ठिनं तं प्रणम्य च। स्वरूपं प्रकटीकृत्य प्रोवाच मधुरं वचः ॥३०॥
अहो श्रेष्ठिन् जिनाधीश-चरणार्चनकोविदः। अहं चोरो महापापी दृढसूर्याभिधानकः ॥३१॥
त्वत्प्रसादेन भो स्वामिन्स्वर्गे सौधर्मसंज्ञके। देवो महर्द्धिको जातो ज्ञात्वा पूर्वभवं सुधीः ॥३२॥
महोपकारिणस्तेऽत्र रक्षार्थं च समागतः। मयेदं सेवकेनोच्चैः कार्यं सर्वं विनिर्मितम् ॥३३॥
एवं प्रोक्त्वा महाभक्त्या श्रेष्ठिनं गुणशालिनम्। रत्नादिभिः समभ्यर्च्य स देवः स्वर्गमाप्तवान् ॥३४॥
स श्रेष्ठी धनदत्ताख्यो जिनभक्तिपरायणः। पूजितश्च नरेन्द्राद्यैर्धार्मिकः कैर्न पूज्यते ॥३५॥

सर्वे ते धनपालभूपतिमुखा दृष्ट्वा प्रभावं शुभं
श्रीमत्पञ्चनमस्कृतेश्च नितरां सन्तुष्टसच्चेतसः।

भी धराशायी कर दिया। इससे राजा का क्रोध अत्यन्त बढ़ गया। तब वे स्वयं अपनी सेना को लेकर धनदत्त पर आ चढ़े। पर उस एक ही देव ने उनकी सारी सेना को तीन तेरह कर दिया। यह देखकर राजा भय के मारे भगाने लगे। उन्हें भागते हुए देखकर देव ने उनका पीछा किया और वह उनसे बोला– आप कहीं नहीं भाग सकते। आपके जीने का एक उपाय है, आप धनदत्त के आश्रय में जायें और उससे अपने प्राणों की भीख माँगें। बिना ऐसा किए आपकी कुशल नहीं। सुनकर ही राजा धनदत्त के पास जिनमन्दिर गए और उन्होंने सेठ से प्रार्थना की कि–धनदत्त, मेरी रक्षा करो! मुझे बचाओ! मैं तुम्हारे शरण में हूँ। सेठ ने देव को पीछे ही आया हुआ देखकर कहा–तुम कौन हो? और क्यों हमारे महाराज को कष्ट दे रहे हो? देव ने अपनी माया समेटी और सेठ को प्रणाम करके कहा हे जिनभक्त सेठ! मैं वही पापी चोर का जीव हूँ, जिसे तुमने नमस्कार मंत्र उपदेश दिया था। उसी के प्रभाव से मैं सौधर्मस्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ हूँ। मैंने अवधिज्ञान द्वारा जब अपना पूर्वभव का हाल जाना तब मुझे ज्ञात हुआ कि इस समय मेरे उपकारी पर बड़ी आपत्ति आ रही है, इसलिए मैं आया हूँ। यह सब कर्तव्य पूरा करने के लिए और आपकी रक्षा के लिए मैं आया हूँ। यह सब माया मुझ सेवक की ही की हुई है। इस प्रकार सब हाल सेठ से कहकर और रत्नमय भूषणादि से उसका यथोचित सत्कार कर देव स्वर्ग में चला गया। जिनभक्त धनदत्त की परोपकार बुद्धि और दूसरों के दुःख दूर करने की कर्तव्यपरता देखकर राजा वगैरह ने उसका खूब आदर सम्मान किया। सच है–

''**धार्मिकः कैर्न पूज्यते**'' अर्थात् धर्मात्मा का कौन सत्कार नहीं करता? ॥२१-३५॥

राजा और प्रजा के लोग इस प्रकार नमस्कार मंत्र का प्रभाव देखकर बहुत खुश हुए और

श्रीमज्जैनविशुद्धशासनरता जाताः सुभक्त्या श्रिये
भव्यैश्चापि परैर्जिनेन्द्रकथिते धर्मेऽत्र कार्या मतिः ॥३६॥

इति कथाकोशे दृढसूर्यचोरस्य कथा समाप्ता।

२४. यमपालचाण्डालस्य कथा

प्रणम्य श्रीजिनाधीशं शर्मदं धर्महेतवे। मातङ्गः पूजितो देवैस्तच्चरित्रं सतां ब्रुवे ॥१॥
वाणारस्यां महापुर्यां राजाभूत्पाकशासनः। एकदासौ निजे देशे पीडां श्रुत्वातिदारुणाम् ॥२॥
शान्त्यर्थं कार्तिके मासे शुक्ले नन्दीश्वरोत्सवे। अष्टम्यादिदिनान्यष्टौ जीवामारिप्रघोषणाम् ॥३॥
दापयामास भूभर्ता प्रजानां हितकारकः। तदा श्रेष्ठिसुतः पापी सप्तव्यसनतत्परः ॥४॥
धर्मनामा महोद्याने राजकीयं च मेढ्रकम्। हत्वा प्रच्छन्नतः शीघ्रं भक्षयित्वा च तत्पलम् ॥५॥

पवित्र जिनशासन के श्रद्धानी हुए। इसी तरह धर्मात्माओं को भी उचित है कि वे अपने आत्महित के लिए भक्तिपूर्वक जिनभगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म में अपनी बुद्धि को स्थिर करें ॥३६॥

२४. यमपाल चाण्डाल की कथा

मोक्ष सुख के देने वाले श्री जिनभगवान् धर्म प्राप्ति के लिए नमस्कार कर मैं एक ऐसे चाण्डाल की कथा लिखता हूँ, जिसकी कि देवों तक ने पूजा की है ॥१॥

काशी के राजा पाकशासन ने एक समय अपनी प्रजा को महामारी से पीड़ित देखकर ढिंढोरा पिटवा दिया कि ''नन्दीश्वरपर्व में आठ दिन पर्यन्त किसी जीव का वध न हो। इस राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाला प्राणदंड का भागी होगा।'' वही एक सेठ पुत्र रहता था। उसका नाम तो था धर्म, पर असल में वह महा अधर्मी था। वह सात व्यसनों का सेवन करने वाला था। उसे मांस खाने की बुरी आदत पड़ी हुई थी। एक दिन भी बिना मांस खाये उससे नहीं रहा जाता था। एक दिन वह गुप्त रीति से राजा के बगीचे में गया। वहाँ एक राजा का खास मेढ़ा बँधा करता था। उसने उसे मार डाला और उसके कच्चे ही मांस को खाकर वह उसकी हड्डियों को एक गड्ढे में गाड़ गया। सच है– व्यसनी मनुष्य नियम में पाप में सदा तत्पर रहा करते है॥२–६॥

दूसरे दिन जब राजा ने बगीचे में मेढ़ा नहीं देखा और उसके लिए बहुत खोज करने पर भी जब उसका पता नहीं चला, तब उन्होंने उसका शोध लगाने को अपने बहुत से गुप्तचर नियुक्त किए। एक गुप्तचर राजा के बाग में भी चला गया। वहाँ का बागमाली रात को सोते समय सेठ पुत्र के द्वारा मेंढे के मारे जाने का हाल अपनी स्त्री से कह रहा था, उसे गुप्तचर ने सुन लिया। सुनकर उसने महाराज से जाकर सब हाल कह दिया। राजा को इससे सेठ पुत्र पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने कोतवाल को बुलाकर आज्ञा की कि, पापी धर्म ने एक तो जीव हिंसा की और दूसरे राजाज्ञा का

तदस्थीनि च गर्तायां निक्षिप्य गतवान्कुधीः। व्यसनेन युतो जीवः सत्यं पापपरो भवेत् ॥६॥
मेढ्रकादर्शने तत्र पाकशासनभूभुजा। सर्वत्र स्वपुरीमध्ये चराः शीघ्रं निरूपिताः ॥७॥
उद्यानपालको रात्रौ तदा गेहे स्वकामिनीम्। जगौ मेढ्रकवृत्तान्तं श्रेष्ठिपुत्रेण निर्मितम् ॥८॥
तां वार्तां च समाकर्ण्य चरः प्राह महीपतिम्। स राजा यमदण्डाख्यं कोट्टपालं क्रुधावदत् ॥९॥
धर्मकः श्रेष्ठिनः पुत्रः पापी धर्मपराङ्मुखः। कोट्टपाल त्वया शूला-रोहणं कार्यतामिति ॥१०॥
कोट्टपालेन तं नीत्वा शूलाभ्यर्णे च धर्मकम्। मातंगो यमपालाख्यः समाहूतः स्वकिंकरैः ॥११॥
सर्वौषधिमुनेः पार्श्वे मातङ्गेनैकदा मुदा। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥१२॥
चतुर्दशीदिने जीवं मारयामि न सर्वथा। एतद्व्रतं जगत्पूतं गृहीतं वर्तते पुरा ॥१३॥
यतश्चागच्छतो वीक्ष्य कोट्टपालस्य किंकरान्। मातंगो व्रतरक्षार्थं संजगाद स्वकामिनीम् ॥१४॥
प्रिये ग्रामं गतश्चेति वद त्वं किंकरान्प्रति। इति प्रोक्त्वा द्रुतं गेह-कोणेऽसौ संस्थितः सुधीः ॥१५॥
सा मातंगी तदा प्राह गतो ग्रामं मम प्रियः। तच्छ्रुत्वा सुभटैरुक्तं हा पापी दैववञ्चितः ॥१६॥
अद्यैवाभरणोपेतः श्रेष्ठिपुत्रस्य मारणे। गतो ग्रामं तदाकर्ण्य मातंग्या स्वर्णलोभतः ॥१७॥
गतो ग्राममिति व्यक्तं पूत्कुर्वत्या च मायया। हस्तस्य संज्ञया शीघ्रं मातंगो दर्शितस्तया ॥१८॥

उल्लंघन किया है, इसलिए उसे ले जाकर शूली चढ़ा दो। कोतवाल राजाज्ञा के अनुसार धर्म को शूली के स्थान पर लिवा ले गया और नौकरों को भेजकर उसने यमपाल चाण्डाल को इसलिए बुलाया कि वह धर्म को शूली पर चढ़ा दें क्योंकि यह काम उसी के सुपुर्द था। पर यमपाल ने एक दिन सर्वोषधिऋद्धिधारी मुनिराज के द्वारा जिनधर्म का पवित्र उपदेश सुनकर, जो कि दोनों भवों में सुख का देने वाला है, प्रतिज्ञा कि थी कि– ॥७-१२॥

मैं चतुर्दशी के दिन कभी जीवहिंसा नहीं करूँगा। इसलिए उसने राज नौकरों को आते हुए देखकर अपने व्रत की रक्षा के लिए अपनी स्त्री से कहा–प्रिये, किसी को मारने के लिए मुझे बुलाने को राज-नौकर आ रहे हैं, सो तुम उनसे कह देना कि घर में वे नहीं हैं, दूसरे ग्राम गए हुए हैं। इस प्रकार वह चांडाल अपनी प्रिया को समझाकर घर के एक कोने में छुप रहा। जब राज-नौकर उसके घर पर आए और उनसे चाण्डालप्रिया ने अपने स्वामी के बाहर चले जाने का समाचार कहा, तब नौकर ने बड़े खेद के साथ कहा–हाय! वह बड़ा अभागा है। दैव ने उसे धोखा दिया। आज ही तो एक सेठ पुत्र के मारने को मौका आया था और आज ही वह चल दिया। यदि वह आज सेठ पुत्र को मारता तो उसे उसके सब वस्त्राभूषण प्राप्त होते। वस्त्राभूषण का नाम सुनते ही चाण्डालिनी के मुँह में पानी भर आया। वह अपने लोभ के सामने अपने स्वामी का हानि-लाभ कुछ नहीं सोच सकी। उसने रोने को ढोंग बनाकर और यह कहते हुए, कि हाय वे आज ही गाँव को चले गए, आती हुई लक्ष्मी को उन्होंने पाँव से ठुकरा दी, हाथ के इशारे से घर के भीतर छुपे हुए अपने स्वामी को बता दिया। सच है– ॥१३-१८॥

स्त्रीणां स्वभावतो माया किं पुनर्लोभकारणे। प्रज्वलन्नपि दुर्वह्निः किं वाते वाति दारुणे ॥१९॥
गृहान्निःसारितः सोपि चाण्डालः सुवचो जगौ। प्राणत्यागेऽपि जीवोऽद्य मार्यते न मया ध्रुवम् ॥२०॥
राजाग्रेऽपि भटैर्नीतो मातंगो धीरमानसः। जीवघाते चतुर्दश्याम् नियमोस्ति मम प्रभो ॥२१॥
मारयामि हि ततो नैव जीवमद्यैवमब्रवीत्। यस्य धर्मे सुविश्वासः क्वापि भीतिं न याति सः ॥२२॥
श्रेष्ठिपुत्रमहादोषात्ततो रुष्टेन भूभुजा। क्षिप्येते द्वावपि प्रोक्तं शिशुमारह्रदे द्रुतम् ॥२३॥
ततस्तौ कोट्टपालेन यमदण्डेन तेन च। निक्षिप्तौ द्वावपि क्रूरैर्जन्तुभिः संकुले ह्रदे ॥२४॥
धर्महीनः स धर्माख्यो भक्षितः शिशुमारकैः। मातंगो यमपालोसौ निश्चलो व्रतरक्षणे ॥२५॥
तदा तद्व्रतमाहात्म्यात्महाधर्मानुरागतः। सिंहासने समारोप्य देवताभिः शुभैर्जलैः ॥२६॥
अभिषिंच्य प्रहर्षेण दिव्यवस्त्रादिभिः सुधीः। नाना रत्नसुवर्णाद्यैः पूजितः परमादरात् ॥२७॥
तं प्रभावं समालोक्य राजाद्यैः परया मुदा। अभ्यर्चितः स मातंगो यमपालो गुणोज्ज्वलः ॥२८॥
इत्थं ज्ञात्वा महाभव्यैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदे। धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते मतिः कार्या सदा मुदा ॥२९॥

स्त्रियाँ एक तो वैसे ही मायाविनी होती है, और फिर लोभादि का कारण मिल जाये तब तो उनकी माया का कहना ही क्या? जलती हुई अग्नि वैसे ही भयानक होती है और यदि ऊपर से खूब हवा चल रही हो तब फिर उसकी भयानकता का क्या पूछना? ॥१९॥

यह देख राज-नौकरों ने उसे घर से बाहर निकाला। निकलते ही निर्भय होकर उसने कहा–आज चतुर्दशी है और मुझे आज अहिंसाव्रत है, इसलिए मैं किसी तरह, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न जायें कभी हिंसा नहीं करूँगा। यह सुन नौकर लोग उसे राजा के पास लिवा ले गए। वहाँ भी उसने वैसा ही कहा। ठीक है–जिसका धर्म पर दृढ़ विश्वास है, उसे कहीं भी भय नहीं होता ॥२०-२२॥

राजा सेठ पुत्र के अपराध के कारण उस पर अत्यन्त गुस्सा हो ही रहे थे कि एक चाण्डाल की निर्भयपने की बातों ने उन्हें और भी अधिक क्रोधी बना दिया। एक चाण्डाल को राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाला और इतना अभिमानी देखकर उनके क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने उसी समय कोतवाल की आज्ञा की कि जाओ, इन दोनों को ले जाकर अपने मगरमच्छादि क्रूर जीवों से भरे हुए तालाब में डाल आओ। वही हुआ। दोनों को कोतवाल ने तालाब में डलवा दिया। तालाब में डालते ही पापी धर्म को तो जल जीवों ने खा लिया। रहा यमपाल, सो वह अपने जीवन की कुछ परवाह न कर अपने व्रतपालन में निश्चल बना रहा। उसके उच्च भावों और व्रत के प्रभाव से देवों ने आकर उसकी रक्षा की। उन्होंने धर्मानुराग से तालाब में ही एक सिंहासन पर यमपाल चाण्डाल को बैठाया, उसका अभिषेक किया और उसे खूब स्वर्गीय वस्त्राभूषण प्रदान किए, खूब उसका आदर सम्मान किया। जब राजा प्रजा को यह हाल सुन पड़ा, तो उन्होंने भी उस चाण्डाल का बड़े आनन्द और हर्ष के साथ सम्मान किया। उसे खूब धन दौलत दी। जिनधर्म का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव देखकर और भव्य पुरुषों को उचित है कि वे स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाले जिनधर्म में

चाण्डालोऽपि व्रतोपेतः पूजितो देवतादिभिः। तस्मादन्यैर्न विप्राद्यैर्जातिगर्वो विधीयते ॥३०॥
मातंगो यमपालको गुणरतैर्देवादिभिः पूजितो नाना वस्त्रसुवर्णरत्नविकसत्पुष्पोत्करैः सादरम्।
यद्धर्मस्य हि लेशतोपि भुवने स श्रीजिनः संक्रियाद्भक्त्या देवनिकायपूजितपदद्वन्दो महाश्रेयसे ॥३१॥

इति कथाकोशे यमपालचाण्डालस्य कथा समाप्ता।

समाप्तः प्रथमो भागः।

अपनी बुद्धि को लगावें स्वर्ग के देवों ने भी एक अत्यन्त नीच चाण्डाल का आदर किया, यह देखकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वेश्यों को अपनी-अपनी जाति का कभी अभिमान नहीं करना चाहिए क्योंकि पूजा जाति की नहीं होती किन्तु गुणों की होती है ॥२३-३०॥

यमपाल जाति का चाण्डाल था, पर उसके हृदय में जिनधर्म की पवित्र वासना थी, इसलिए देवों ने उसका सम्मान किया, उसे रत्नादिकों के अलंकार प्रदान किए; अच्छे-अच्छे वस्त्र दिये, उस पर फूलों की वर्षा की। यह जिनभगवान् के उपदिष्ट धर्म का प्रभाव है, वे ही जिनेन्द्रदेव, जिन्हें कि स्वर्ग के देव भी पूजते हैं, मुझे मोक्षश्री प्रदान करें। यह मेरी उनसे प्रार्थना है ॥३१॥

॥ इति आराधना कथाकोश प्रथम खण्ड॥

द्वितीयखण्डम्

२५. मृगसेनधीवरस्य कथा

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या केवलज्ञानलोचनम्। वक्ष्येऽहिंसाफलप्राप्त-धीवरस्य कथानकम् ॥१॥
जयत्वत्रार्हती वाणी सर्वसन्देहहारिणी। प्राणिनां प्राणवत्प्रीत्या सेविता शर्मकारिणी ॥२॥
सन्तु मे गुरवो नित्यं मानसे बोधसिन्धवः। घोरसंसारवार्राशे-र्भव्यानां यत्र सेतवः ॥३॥
इत्यर्हद्भारतीसाधु-पादस्मरणमंगलम्। कृत्वा करोमि कर्मारि-शान्तये सत्कथामहम् ॥४॥
या हिंसा सर्वजन्तूनां नामतोपि भयप्रदा। सा त्रेधा त्यज्यते सद्भिर्हिंसा सांकल्पिकी सदा ॥५॥
पित्रर्थं देवतार्थं वा शान्त्यर्थं वात्र निर्मिता। शर्मणे न भवेद्धिंसा किन्तु दुष्कर्मणे मता ॥६॥
शृण्वन्तु सुधियो भव्या भवभ्रमणनाशनम्। अहिंसाव्रतमाहात्म्यं श्रेयसे शर्मकारणम् ॥७॥
अवन्तिविषये रम्ये सम्पदासारसंभृते। शिरीषग्रामवास्तव्यो धीवरो मृगसेनवाक् ॥८॥

---

२५. मृगसेन धीवर की कथा

केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारक श्री जिनेन्द्र भगवान् को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर मैं अहिंसाव्रत का फल पाने वाले एक धीवर की कथा लिखता हूँ ॥१॥

सब सन्देहों को मिटाने वाली, प्रीतिपूर्वक आराधना करने वाले प्राणियों के लिए सब प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाली, जिनेन्द्र भगवान् की वाणी संसार में सदैव बनी रहे ॥२॥

संसाररूपी अथाह समुद्र से भव्य पुरुषों को पार कराने के लिए पुल के समान ज्ञान के सिन्धु मुनिराज निरन्तर मेरे हृदय में विराजमान रहें ॥३॥

इस प्रकार पंचपरमेष्ठी का स्मरण और मंगल करके कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने के लिए मैं अहिंसाव्रत की पवित्र कथा लिखता हूँ। जिस अहिंसा का नाम ही जीवों को अभय प्रदान करने वाला है, उसका पालन करना तो निस्सन्देह सुख का कारण है। अतः दयालु पुरुषों को मन, वचन और काय से संकल्पी हिंसा का परित्याग करना उचित है। बहुत से लोग अपने पितरों आदि की शान्ति के लिए श्राद्ध वगैरह में हिंसा करते हैं, बहुत से देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए उन्हें जीवों की बलि देते हैं और कितने ही महामारी, रोग आदि के मिट जाने के उद्देश्य से जीवों की हिंसा करते है परन्तु यह हिंसा सुख के लिए न होकर दुःख के लिए ही होती है। हिंसा द्वारा जो सुख की कल्पना करते हैं, यह उनका अज्ञान ही है। पाप कर्म कभी सुख का कारण हो ही नहीं सकता। सुख है अहिंसाव्रत के पालन करने में। भव्य जन! मैं आपको भव भ्रमण का नाश करने वाला तथा अहिंसाव्रत का माहात्म्य प्रकट करने वाली एक कथा सुनाता हूँ; आप ध्यान से सुनें ॥४-७॥

अपनी उत्तम सम्पत्ति से स्वर्ग को नीचा दिखाने वाले सुरम्य अवन्ति देश के अन्तर्गत शिरीष

स्कन्धावलम्बितस्फार-पापकृद्गलजालकः। गच्छन्सिप्रां नदीं मत्स्यान्समानेतुं कदाचन ॥९॥
मार्गे भूपादिभिर्भव्यैः समर्चितपदद्वयम्। इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-सेवनीयं मुनीश्वरम् ॥१०॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-स्याद्वादनयकोविदम्। सर्वजन्तून्समुद्धर्तुं बद्धकक्षं भटोत्तमम् ॥११॥
धर्मोपदेशपीयूष-सन्तर्पितजगत्त्रयम्। स्ववाक्यकिरणैर्ध्वस्त-मिथ्यात्वतिमिरोत्करम् ॥१२॥
दिगम्बरं महारत्न-त्रयालंकृतविग्रहम्। दृष्ट्वा यशोधरं नाम तारहारयशोभरम् ॥१३॥
आसन्नसुकृतोत्संगो दूरं त्यक्त्वा गलादिकम्। चक्रे दीर्घतरं भक्त्या प्रणामं तत्पदाम्बुजे ॥१४॥
अहो महामुने स्वामिन् कामद्विपमृगाधिप। केनचिद्व्रतदानेन जनोयमनुगृह्यताम् ॥१५॥
इत्युक्त्वा संस्थितोप्यग्रे विनयानम्रमस्तकः। तदा यशोधरः स्वामी स्वचित्ते संविचारयन् ॥१६॥
कथं भो हिंसकस्यास्य मनोवृत्तिर्व्रतेऽभवत्। युक्तं स्यात्प्राणिनां भावि-शुभाशुभनिभं मनः ॥१७॥
प्रयुक्तावधिबोधेन ज्ञात्वा तुच्छायुषं च तम्। संजगाद दयायुक्तो भो सुधीरद्य वासरे ॥१८॥

नाम के एक छोटे से सुन्दर गाँव में मृगसेन नाम का एक धीवर रहा करता था। अपने कन्धों पर एक बड़ा भारी जाल लटकाए हुए एक दिन वह मछलियाँ पकड़ने के लिए क्षिप्रा नदी की ओर जा रहा था। रास्ते में उसे यशोधर नामक मुनिराज के दर्शन हुए। उस समय अनेक राजा महाराजा आदि उनके पवित्र चरणों की पर्युपासना कर रहे थे, मुनिराज जैन सिद्धान्त के मूल रहस्य स्याद्वाद के बहुत अच्छे विद्वान् थे, जीवमात्र का उद्धार करने हेतु वे सदा कमर कसे तैयार रहते थे, जीवमात्र का उपकार करना ही एक मात्र उनका व्रत था, धर्मोपदेश रूपी अमृत से सारे संसार को उन्होंने सन्तुष्ट कर दिया था, अपने वचनरूपी प्रखर किरणों के तेज से उन्होंने मिथ्यात्वरूपी गाढ़ान्धकार को नष्ट कर दिया था, उनके पास वस्त्र वगैरह कुछ नहीं थे किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी इन तीन मौलिक रत्नों से वे अवश्य अलंकृत थे। मुनिराज को देखते ही उसके ऐसा पुण्य का उदय आया, जिससे हृदय में कोमलता ने अधिकार कर लिया। अपने कन्धों पर से जाल हटाकर वह मुनिराज के समीप पहुँचा, बहुत भक्तिपूर्वक उनके चरणों में प्रणाम कर उसने उनसे प्रार्थना की कि हे स्वामी! कामरूपी हाथी को नष्ट करने वाले हे केसरी! मुझे भी ऐसा व्रत दीजिए, जिससे मेरा जीवन सफल हो। ऐसी प्रार्थना कर विनय-विनीत मस्तक से वह मुनिराज के चरणों में बैठ गया। मुनिराज ने उसकी ओर देखकर विचार किया कि देखो! कैसे आज इस महाहिंसक के परिणाम कोमल हो गए हैं और इसकी मनोवृत्ति व्रत लेने की हुई है। सत्य है-आगे जैसा अच्छा या बुरा होना होता है, जीवों का मन भी उसी अनुसार पवित्र या अपवित्र बन जाता है अर्थात् जिसका भविष्य अच्छा होता है उसका मन पवित्र हो जाता है और जिसका बुरा होनहार होता है उसका मन भी बुरा हो जाता है ॥८-१७॥

इसके बाद मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा मृगसेन के भावी जीवन पर जब विचार किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि इसकी आयु अब बहुत कम रह गई है। यह देख उन्होंने करुणा बुद्धि से उसे समझाया कि हे भव्य! मैं तुझे एक बात कहता हूँ, तू जब तक जीए तब तक उसका पालन करना वह यह कि

आदौ जाले समायातो मीनः सन्त्यज्यते त्वया। जीवन्नेव महाभाग पालनीयं हि मद्वचः ॥१९॥
यावत्स्वकीयहस्तेन मारितप्राणिजंगमम्। नैव प्राप्नोषि तावत्ते तन्निवृत्तिश्च सर्वथा ॥२०॥
तथा पञ्चनमस्कार-मंत्रोयं त्रिजगद्धितः। सुस्थितेन त्वया ध्येयो दुःस्थितेनाथवा सुधीः ॥२१॥
इति श्रुत्वा मुनेर्वाक्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। मत्स्यबन्धोपि सन्तुष्टः सर्वं स्वीकृतवान्भृशम् ॥२२॥
ये कुर्वन्ति गुरोर्वाक्यं प्रमाणं भक्तिनिर्भराः। तेषां स्वर्गापवर्गोत्थं सौख्यमायाति लीलया ॥२३॥
तं नत्वा मृगसेनोसौ गत्वा सिप्रां नदीं द्रुतम्। मुक्त्वा जालं समासाद्य महामत्स्यं व्रतस्मृतेः ॥२४॥
अहो मे सर्वदा पाप-कर्मणे मत्स्यघातिने। दैवयोगाद्व्रतं दत्तं गुरुणा शर्मकारिणा ॥२५॥
तस्मादयं न हन्तव्यो मयेति व्रतशुद्धधीः। सारिणस्तस्य चिह्नाय कर्णे चीरीं स्ववाससः ॥२६॥
बद्ध्वा नद्यां तमत्याक्षीन्निर्विघ्नं हि सतां व्रतम्। भवेदामृत्युपर्यन्तं सारसम्पद्विधायकम् ॥२७॥
पुनस्तत्तीरणीतीरे दूरं गत्वा स्वकर्मकृत्। लब्ध्वा तमेव पाठीनं सोमुचद्भाविसद्गतिः ॥२८॥
एवं तस्मिन्महामत्स्ये मोहजालोपमे तते। जाले लग्ने विमुक्ते च पञ्चशो व्रतरक्षणात् ॥२९॥
तदाऽस्तं भुवनोद्भासी भास्करो गतवान्भृशम्। निर्गुणाः सगुणाश्चापि के के नास्तं गताः क्षितौ ॥३०॥

तेरे जाल में पहली बार जो मछली आए उसे तू छोड़ देना और इस तरह जब तक तेरे हाथ से मरे हुए जीव का मांस तुझे प्राप्त न हो, तब तक तू पाप से मुक्त ही रहेगा। इसके अतिरिक्त मैं तुझे पंचनमस्कार मंत्र सिखाता हूँ जो प्राणी मात्र का हित करने वाला है, उसका तू सुख में, दुःख में, सरोग या नीरोग अवस्था में सदैव ध्यान करते रहना। मुनिराज के स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले इस प्रकार के वचनों को सुनकर मृगसेन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने यह व्रत स्वीकार कर लिया। जो भक्तिपूर्वक अपने गुरुओं के वचनों को मानते हैं, उन पर विश्वास लाते हैं, उन्हें सब सुख मिलता है और वे परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करते हैं ॥१८-२३॥

व्रत लेकर मृगसेन नदी पर गया। उसने नदी में जाल डाला। भाग्य से एक बड़ा भरी मत्स्य उसके जाल में फँस गया। उसे देखकर धीवर ने विचारा हाय! मैं निरन्तर ही तो महापाप करता हूँ और आज गुरु महाराज ने मुझे व्रत दिया है, भाग्य से आज ही इतना बड़ा मच्छ जाल में आ फँसा। पर जो कुछ हो, मैं तो इसे कभी नहीं मारूँगा। यह सोचकर व्रती मृगसेन ने अपने कपड़े की एक चिन्दी फाड़कर उस मत्स्य के कान में इसलिए बाँध दी कि यदि वही मच्छ दूसरी बार जाल में आ जाय तो मालूम हो जाये। इसके बाद वह उसे बहुत दूर जाकर नदी में छोड़ आया। सच है, मृत्यु पर्यन्त निर्विघ्न पालन किया हुआ व्रत सब प्रकार की उत्तम सम्पत्ति को देने वाला होता है ॥२४-२७॥

वह फिर दूसरी ओर जाकर मछलियाँ पकड़ने लगा। पर भाग्य से इस बार भी वही मच्छ उसके जाल में आया। उसने उसे फिर छोड़ दिया। इस तरह उसने जितनी बार जाल डाला, उसमें वही-वही मत्स्य आया पर उससे वह क्षुब्ध नहीं हुआ अपितु अपने व्रत की रक्षा के लिए खूब दृढ़ हो गया। उसे वहाँ इतना समय हो गया कि सूर्य भी अस्त हो चला, पर उसके जाल में उस मत्स्य को छोड़कर और

ततोसौ मृगसेनस्तु स्वव्रते प्रीतमानसः। संस्मरन्स्वगुरोर्वाक्यं चचाल स्वगृहं प्रति ॥३१॥
आगच्छन्तं तमालोक्य रिक्तं ज्ञात्वा च कारणम्। घंटाख्या यमघंटा वा कुपिता तस्य कामिनी ॥३२॥
रे रे मूढ कथं रिक्तः समायातोसि मद्गृहे। भक्ष्यते किं दृषच्चेति जल्पन्ती निष्ठुरं वचः ॥३३॥
कुटीरान्तः प्रविश्याशु दत्वा द्वारं दृढं स्थिता। सत्यं सामान्यनारीणां लाभेऽलाभे पतिः प्रियः ॥३४॥
तदासौ धीवरो बाह्ये स्मरन्पंच नमस्कृतीः। उच्छीर्षके निधायोच्चै-र्जीर्णकाष्ठं च सुप्तवान् ॥३५॥
रात्रौ तस्माद्विनिर्गत्य दुर्जनेनैव पापिना। दष्टः सर्पेण निर्मुक्तः प्राणैर्दशभिरुत्सुकैः ॥३६॥
प्रातःकाले तमःकाले दष्ट्वा तं घण्टया मृतः। पश्चातापं तदा कृत्वा रुदित्वा च पुनः पुनः ॥३७॥
यदेवास्य व्रतं पूतं तदेवं स्यान्ममापि च। अयं जन्मान्तरे भर्त्ता भूयान्मे मानसप्रियः ॥३८॥
कृत्वा निदानकं चेति सार्द्धं तेनैव साहसात्। संचक्रे चतुरैर्निन्द्यं तया वह्निप्रवेशनम् ॥३९॥
अथास्त्येव विशालायां पुर्यां विश्वंभरः प्रभुः। राज्ञ्या विश्वगुणाख्याया-श्चित्तरत्नमलिम्लुचः ॥४०॥
श्रेष्ठी श्रीगुणपालाख्यः परमेष्ठिप्रसन्नधीः। धनश्रीः श्रेष्ठिनी तस्याः सुबन्धुस्तनुजा शुभा ॥४१॥

कोई मत्स्य नहीं आया। अन्त में मृगसेन निरुपाय होकर घर की ओर लौट पड़ा। उसे अपने व्रत पर खूब श्रद्धा हो गई। वह रास्ते भर गुरु महाराज द्वारा सिखाए पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करता हुआ चला आया। जब वह अपने घर के दरवाजे पर पहुँचा तो उसकी स्त्री उसे खाली हाथ देखकर आग बबूला हो उठी उसने गुस्से से पूछा-रे मूर्ख! घर पर खाली हाथ तो चला आया, पर बतला तो सही कि खायेगा क्या पत्थर? इतना कहकर वह घर के भीतर चली गई और गुस्से में उसने भीतर से किवाड़ बन्द कर लिए। सच हैं-छोटे कुल की स्त्रियों का अपने पति पर प्रेम, लाभ होते रहने पर ही अधिक होता है। अपनी स्त्री का इस प्रकार दुर्व्यवहार देखकर बेचारा मृगसेन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। उसकी कुछ नहीं चली। उसे घर के बाहर ही रह जाना पड़ा। बाहर एक पुराना बड़ा भारी लकड़ा पड़ा हुआ था। मृगसेन निरुपाय होकर पंचनमस्कार मंत्र का ध्यान करता हुआ उसी पर सो गया। दिनभर के श्रम के कारण रात में वह नींद में सोया हुआ था कि उस लकड़े में से एक भयंकर और जहरीले सर्प ने निकल कर उसे काट खाया। वह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥२८-३६॥

प्रातःकाल होने पर जब उसकी पत्नी ने मृगसेन की यह दुर्दशा देखी तो उसके दुःख का कोई ठिकाना नहीं रहा। वह रोने लगी, छाती कूटने लगी और अपने नीच कर्म का बार-बार पश्चाताप करने लगी। उसका दुःख बढ़ता ही गया। उसने भी यह प्रतिज्ञा ली कि जो व्रत मेरे स्वामी ने ग्रहण किया था वही मैं भी ग्रहण करती हूँ और निदान किया कि ''ये ही मेरे अन्य जन्म में भी स्वामी हों।'' अनन्तर साहस करके वह भी अपने स्वामी के साथ अग्नि प्रवेश कर गई इस प्रकार अपघात से उसने अपनी जान गँवा दी ॥३७-३९॥

विशाला नाम की नगरी में विश्वम्भर राजा राज्य करते थे। उनकी प्रिया का नाम विश्वगुणा था। वही एक सेठ रहते थे। गुणपाल उनका नाम था। उनकी स्त्री का नाम धनश्री था। धनश्री के सुबन्धु

तस्या धनश्रियश्चैव गर्भे पूर्वस्वपुण्यतः। मृगसेनः समागत्य संस्थितो गुणमण्डितः ॥४२॥
तदा विश्वंभरो राजा विटसंगप्रणष्टधीः। नर्मभर्माख्यसचिव-सूनवे नर्मधर्मणे ॥४३॥
श्रेष्ठिनं गुणपालं तं सुतां याचितवान् भृशम्। सुबन्धुं बन्धुराकारां कुलोद्योतनदीपिकाम् ॥४४॥
अहो नष्टधिया राज्ञा याचितोहं भयाकुलः। चेद्ददामि सुतां निंद्य-कर्मणे नर्मधर्मणे ॥४५॥
कुलक्रमक्षयो लोकेऽ-पवादस्तु भवेन्मम। नो चेत्सर्वस्वनाशः स्यात्प्राणापायोपि मानसे ॥४६॥
इत्याकलय्य स श्रेष्ठी श्रीदत्तस्य वणिक्पतेः। स्वमित्रस्य गृहे धृत्वा गर्भिणीं निजकामिनीम् ॥४७॥
स्वापतेयं सुतां चापि गृहीत्वा गूढवृत्तितः। कौशाम्बीविषयं प्राप्तो देशत्यागो हि दुर्जनात् ॥४८॥
अत्रान्तरे मुनी पूतौ श्रीदत्तावाससन्निधौ। वासिनोपासकेनोच्चैः समायातौ स्वमन्दिरे ॥४९॥
शिवादिगुप्तमुन्यादि-गुप्तौ सद्वृत्तमण्डितौ। यथाविधि प्रतीक्ष्याशु ताभ्यां दत्वा शुभश्रिये ॥५०॥
अन्नदानं जगत्सारं नाना सम्पद्विधायकम्। दुःखदारिद्र्यनिर्नाशि स्वीचक्रे पुण्यमद्भुतम् ॥५१॥

नाम की एक अतिशय सुन्दरी और गुणव्रती कन्या थी। पुण्योदय से मृगसेन धीवर का जीव धनश्री के गर्भ में आया ॥४०-४२॥

अपने नर्मधर्म नामक मंत्री के अत्यन्त आग्रह और प्रार्थना से राजा ने सेठ गुणपाल से आग्रह किया कि वह मंत्री नर्मधर्म के साथ अपनी पुत्री सुबन्धु का ब्याह कर दे। यह जानकर गुणपाल को बहुत दुःख हुआ। उसके सामने एक अत्यन्त कठिन समस्या उत्पन्न हुई उसने विचारा कि पापी राजा मेरी प्यारी सुन्दरी सुबन्धु का, जो कि मेरे कुलरूपी बगीचे पर प्रकाश डालने वाली है, नीच कर्म करने वाले नर्मधर्म के साथ ब्याह कर देने को कहता है। उसने इस समय मुझे बड़ा संकट में डाल दिया। यदि सुबन्धु का नर्मधर्म के साथ ब्याह कर देता हूँ, तो मेरे कुल का क्षय होता है और साथ ही अपयश होता है और यदि नहीं करता हूँ, तो सर्वनाश होता है। राजा न जाने क्या करेगा? प्राण भी बचे या नहीं बचे? आखिर उसने निश्चय किया जो कुछ हो, पर मैं ऐसे नीचों के हाथ तो कभी अपनी प्यारी पुत्री का जीवन नहीं सौपूँगा-उसकी जिन्दगी बरबाद नहीं करूँगा। इसके बाद वह अपने श्रीदत्त मित्र के पास गया और उससे सब हाल कह कर तथा उसकी सम्मति से अपनी गर्भिणी स्त्री को उसी के घर पर छोड़कर रात के समय अपना कुछ धन और पुत्री को साथ लिए वहाँ गुपचुप से निकल खड़ा हुआ। वह धीरे-धीरे कौशाम्बी आ पहुँचा। सच है, दुर्जनों के सम्बन्ध से देश भी छोड़ देना पड़ता है ॥४३-४८॥

श्रीदत्त के घर के पास ही एक श्रावक रहता था। एक दिन उसके यहाँ पवित्र चारित्र के धारक शिवगुप्त और मुनिगुप्त नाम के दो मुनिराज आहार के लिए आए ॥४९-५०॥

उन्हें श्रावक महाशय ने अपने कल्याण की इच्छा से विधिपूर्वक आहार दिया जो कि सर्वोत्तम सम्पत्ति की प्राप्ति का कारण है। मुनिराज को आहार देकर उसने बहुत पुण्य उत्पन्न किया, जो कि दुःख दरिद्रता आदि का नाश करने वाला है। मुनिराज आहार के बाद जब वन में जाने लगे तब उनमें से

ततस्तत्प्राङ्गणे वीक्ष्य मुनिगुप्तो धनश्रियम्। पतिस्वपुत्रिकासार-कुटुम्बविरहाश्रितम् ॥५२॥
परावासनिवासोत्थ-महादु:खेन दु:खिताम्। अलंकारविनिर्मुक्तां दुष्कृतिं कुकवेरिव ॥५३॥
गर्भभारभराक्रान्तां दुर्व्यवस्थां समाश्रिताम्। ज्येष्ठं मुनीश्वरं प्राह पश्यतां भो महामुने: ॥५४॥
कोपि कष्टप्रद: पुत्र: कुक्षिमस्या: समाश्रित:। येनासौ दृश्यते नारी वराकी च मलीमसा ॥५५॥
तच्छ्रुत्वा शिवगुप्तोसौ मुनीन्द्रो ज्ञानलोचन:। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सप्ततत्त्वविशारद: ॥५६॥
संजगौ मुनिगुप्तस्त्व मैवं ब्रूहि वृथा वच:। यद्यपि श्रेष्ठिनीदृक्च दु:खिता दृश्यते सती ॥५७॥
गतेषु कतिचिद्दु:ख-वासरेषु शुभोदयात्। अस्या: पुत्र: पवित्रात्मा जिनधर्मधुरंधर: ॥५८॥
राजश्रेष्ठिपदाधीशो विश्वंभरमहीपते:। कन्यापतिर्वणिग्वृन्द-सेवित: संभविष्यति ॥५९॥
तन्निशम्य निजावास-कोष्ठस्थो दुष्टमानस:। श्रीदत्तो हन्तुकामोऽभूत्तदातद्भाविबालके ॥६०॥
तिष्ठति स्म गृहे चैव स पापी बकवत्तराम्। कारणेन विना वैरी दुर्जन: सुजनो भवेत् ॥६१॥
धनश्री: श्रेष्ठिनी प्राप्य प्रसूतिदिवसं सती। सासूत तनयं साक्षात्पुण्यपुञ्जमिवापरम् ॥६२॥

मुनिगुप्त की नजर धनश्री पर पड़ी, जो कि श्रीदत्त के आँगन में खड़ी हुई थी। उस समय उसकी दशा अच्छी नहीं थी। बेचारी पति और पुत्री वियोग से दु:खी थी, पराये घर पर रह कर अनेक दु:खों को सहती थी, आभूषण वगैरह सब उसने उतार डालकर शरीर को शोभाहीन बना डाला था, कुकवि की रचना के समान उसका सारा शरीर रुक्ष और श्रीहीन हो रहा था और इन सब दु:खों के होने पर भी वह गर्भिणी थी, इससे और अधिक दुर्व्यवस्था में वह फँसी थी। उसे इस हालत में देखकर मुनिगुप्त ने शिवगुप्त मुनिराज से कहा–प्रभो, देखिये तो इस बेचारी की कैसी दुर्दशा हो रही है, कैसे भयंकर कष्ट का इसे सामना करना पड़ा है? जान पड़ता है। इसके गर्भ में किसी अभागे जीव ने जन्म लिया है, इसी से इसकी यह दीन-हीन दशा हो रही है। सुनकर जैनसिद्धान्त के विद्वान् और अवधिज्ञानी श्री शिवगुप्त मुनि बोले–मुनिगुप्त, तुम यह न समझो कि इसके गर्भ में कोई अभागा आया है किन्तु इतना अवश्य है कि इस समय उसकी अवस्था ठीक नहीं है और यह दु:खी है परन्तु थोड़े ही दिनों के बाद-इसके दिन फिरेंगे और पुण्य का उदय आएगा। इसके यहाँ जिसका जन्म होगा, वह बड़ा महात्मा, जिनधर्म का पूर्ण भक्त और राजसम्मान का पात्र होगा। होगा तो वह वैश्यवंश में पर उसका ब्याह इन्हीं विश्वंभर राजा की पुत्री के साथ होगा, राजवंश भी उसकी सेवा करेगा ॥५१-५९॥

मुनिराज की भविष्य वाणी पापी श्रीदत्त ने भी सुनी। वह था तो धनश्री के पति गुणपाल का मित्र, पर अपने एक जातीय बंधु का उत्कर्ष होना उसे सह्य नहीं हुआ। उसका पापी हृदय मत्सरता के द्वेष से अधीर हो उठा। उसने बालक को जन्मते ही मार डालने का निश्चय किया। अब से वह बाहर कहीं न जाकर बगुले की तरह सीधा साधा बनकर घर ही में रहने लगा। सच है–दुर्जन-शत्रु बिना कारण के भी सुजन-मित्र बन जाया करते हैं ॥६०-६१॥

पहले तो श्रीदत्त बेचारी धनश्री को कष्ट दिया करता था और अब उसके साथ बड़ी सज्जनता

प्रसूतिदु:खतो मूर्च्छां संगतां तां धनश्रियम्। ज्ञात्वा श्रीदत्तकः पापी स्वचित्ते कृतचिन्तनः ॥६३॥
वह्निवद्बालकोप्येष स्वाश्रयक्षयकारकः। इत्यालोच्य मृतो जातो बालको जरतीजनैः ॥६४॥
कृत्वोद्घोषं समाकार्य चाण्डालं चण्डकर्मकृत्। बालं तस्यार्पयामास वधार्थी स वणिक्कुधीः ॥६५॥
शत्रुजोपि न हन्तव्यो बालकः किं पुनर्वृथा। हा कष्टं किं न कुर्वन्ति दुर्जनाः फणिनो यथा ॥६६॥
मातंगोपि तमादाय गत्वैकान्ते लसत्प्रभम्। तदाकारं समालोक्य शर्मकोटिविधायकम् ॥६७॥
संजातकरुणासार-सुधासंपूरिताशयः। तत्रार्भकं सुखं धृत्वा स्वयं च गतवान् गृहम् ॥६८॥
श्रीदत्तकस्य तस्यैव भगिन्याः पतिरुत्तमः। इन्द्रदत्तो वणिग्वर्यो विक्रयाय विनिर्गतः ॥६९॥
गोष्टीने च समायातः श्रुत्वा गोपालजल्पनैः। चन्द्रकान्तोत्पलोत्पीठे गोवत्साद्यैश्च सेविते ॥७०॥
सुखासीनं समालोक्य बालं वा बालभास्करम्। नीत्वा पुत्रविहीनत्वात्पुत्रबुद्ध्या प्रहर्षतः ॥७१॥
हे राधे गूढगर्भोत्थं पुत्रं ते त्वं गृहाण वै। इत्युक्त्वा निजभार्यायै राधायै परमादरात् ॥७२॥

का बर्ताव करने लगा। धनश्री सेठानी ने समय पाकर पुत्र को प्रसव किया। वास्तव में बालक बड़ा भाग्यशाली हुआ। वह उत्पन्न होते ही ऐसा तेजस्वी जान पड़ता था, मानो पुण्यसमूह हो। धनश्री पुत्र की प्रसव वेदना से मूर्छित हो गई उसे अचेत देखकर पापी श्रीदत्त ने अपने मन में सोचा- बालक प्रज्ज्वलित अग्नि की तरह तेजस्वी है, अपने को आश्रय देने वाले का ही क्षय करने वाला होगा, इसलिए इसका जीता रहना ठीक नहीं। यह विचार कर उसने अपने घर की बड़ी बूढ़ी स्त्रियों द्वारा यह प्रकट करवा कर, कि बालक मरा हुआ पैदा हुआ था, बालक को एक दुर्जन के हाथ सौंप दिया और उससे कह दिया कि इसे ले जाकर मार डालना। उचित तो यह था कि–

शत्रु का भी यदि बच्चा हो, तो उसे नहीं मारना चाहिए, तब दूसरों के बच्चों के सम्बन्ध में तो क्या कहें? परन्तु खेद है कि सर्प के समान दुष्ट पुरुष कोई भी बुरा काम करते नहीं हिचकते। चाण्डाल बच्चे को एकान्त में मारने को ले गया, पर जब उसने उजेले में उसे देखा तो उसकी सुन्दरता को देखकर उसे भी दया आ गई करुणा से उसका हृदय भर आया। सो वह उसे न मारकर वहीं एक अच्छे स्थान पर रखकर अपने घर चला गया ॥६२-६८॥

श्रीदत्त की एक बहिन थी। उसका ब्याह इन्द्रदत्त सेठ के साथ हुआ था। भाग्य से उसके सन्तान नहीं हुई थी। बालक के पूर्व पुण्य के उदय से इन्द्रदत्त माल बेचता हुआ इसी ओर आ निकला। जब वह ग्वाल लोगों के मुहल्ले में आया तो उसने ग्वालों को परस्पर बातें करते हुए सुना कि ''एक बहुत सुन्दर बालक को न जाने कोई अमुक स्थान की सिला पर लेटा गया है, वह बहुत तेजस्वी है, उसके चारों ओर अपनी गायों के बच्चे खेल रहे हैं और वह उनके बीच में बड़े सुख से खेल रहा है।'' उनकी बातें सुनकर ही इन्द्रदत्त बालक के पास आया। वह एक दूसरे बाल सूर्य को देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसके कोई सन्तान तो थी ही नहीं, इसलिए बच्चे को उठाकर वह अपने घर ले आया और अपनी प्रिया से बोला–प्यारी राधा? तुम्हें इसकी खबर भी नहीं कि तुम्हारे गूढ़गर्भ से अपने कुल का प्रकाशक

दत्वा स्तनंधयोत्पत्तेः संचक्रेऽसौ महोत्सवम्। प्राणिनां पूर्वपुण्याना-मापदा सम्पदायते ॥७३॥
श्रीदत्तेन तमाकर्ण्य वृत्तान्तं दुष्टचेतसा। तत्रागत्येन्द्रदत्तस्य गेहे भो स्नेहवत्सल ॥७४॥
भागिनेयोयमत्यन्त-भाग्यभाग् मन्दिरे मम। वर्धतामिति कूटोक्त्या नीतोसौ भगिनीयुतः ॥७५॥
अहो दुष्टाशयः प्राणी चित्तेऽन्यद्वचनेऽन्यथा। कायेनान्यत्करोत्येव परेषां वंचनं महत् ॥७६॥
पूर्ववद्धन्तुकामोसौ तं शिशुं शुभलक्षणम्। अन्तावसायिने शीघ्रं ददौ निर्दयमानसः ॥७७॥
गृहीत्वा श्वपचः सोपि बालकं भुवनोत्तमम्। तद्रूपसम्पदां वीक्ष्य सञ्जातः सदयो भृशम् ॥७८॥
क्वचित्स गह्वरे देशे प्रोल्लसद्द्रुमसंकुले। सत्तोयतीरणीतीरे तं निधाय गतो गृहम् ॥७९॥
गुणपालसुतः सोपि पूर्वोपार्जितपुण्यतः। तत्रायाताभिरानन्द-ध्वनिभिर्धेनुभिस्तराम् ॥८०॥

पुत्र हुआ है? और देखो वह यह है इसे ले लो और पालो। आज अपना जीवन कृतार्थ हुआ। यह कहकर उसने बालक को अपनी प्रिया की गोद में रख दिया है। बालक की खुशी के उपलक्ष में इन्द्रदत्त ने खूब उत्सव किया। खूब दान किया। सच है–पुण्यवानों के लिए विपत्ति भी सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है॥६९-७३॥

पापी श्रीदत्त को यह सारा हाल मालूम हो गया। इससे वह इन्द्रदत्त के घर आया और मायाचार से अपने बहनोई से कहा–देखो जी, हमारा भानजा बड़ा तेजस्वी है, बड़ा भाग्यवान् है, इसलिए उसे हम अपने घर पर ही रखेंगे। आप हमारी बहिन को भेज दीजिये। बेचारा इन्द्रदत्त उसके पापी हृदय की बात नहीं जान पाया। इसलिए उसने अपने सीधे स्वभाव से अपनी प्रिया को पुत्र सहित उसके साथ कर दिया। बहुत ठीक लिखा है–

जिन लोगों का हृदय दुष्ट होता है, उनके चित्त में कुछ और रहता है, वचनों से वे कुछ और ही कहते और शरीर से कुछ और ही करते हैं। दूसरों को ठगना, उन्हें धोखा देना ही एक मात्र ऐसे पुरुषों का उद्देश्य रहता है। पापी श्रीदत्त भी एक ऐसा ही दुष्ट मनुष्य था। इसीलिए तो वह निरपराध बालक के खून का प्यासा हो उठा। उसने पहले की तरह फिर भी उसे मार डालने की इच्छा से एक चाण्डाल को बहुत कुछ लोभ देकर उसके हाथ सौंप दिया। चाण्डाल ने भी बालक को ले तो लिया पर जब उसने उसकी स्वर्गीय सुन्दरता देखी तो उसके हृदय में भी दया आ गई। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि कुछ भी हो, मैं कभी इस बच्चे को न मारूँगा और इसे बचाऊँगा। वह अपना विचार श्रीदत्त से नहीं कहकर बच्चे को लिवा ले गया। कारण श्रीदत्त की पाप वासना उसे कभी जिन्दा रहने न देगी, यह उसे उसकी बातचीत से मालूम हो गया था। चाण्डाल बच्चे को एक नदी के किनारे पर लिवा ले गया। वहीं एक सुन्दर गुहा थी, जिसके चारों ओर वृक्ष थे। वह बालक को उस गुहा में रखकर अपने घर पर लौट आया ॥७४-७९॥

संध्या का समय था। ग्वाल लोग अपनी-अपनी गायों को घर पर लौटा कर ला रहे थे। उनमें

तद्वीक्षणात्क्षरत्क्षीर-स्तनीभिरुपसेवितः। धात्रिकाभिरिव प्रीत्या स्थितो वा जननीकरे ॥८१॥
गोपालकैस्तथाभूतं दृष्ट्वा तं लीलया स्थितम्। सन्ध्याकाले समायातैः प्रोल्लसन्मुखपंकजम् ॥८२॥
सर्वगोष्टप्रधानाय गोविन्दाय प्रवेगतः। महाविस्मयतां प्राप्तैः प्रोक्तं तद्बालचेष्टितम् ॥८३॥
गोपालाधिपतिः सोपि गोविन्दस्तं सुतेच्छया। समानीय सुनन्दायाः स्वकान्तायाः समर्प्य च ॥८४॥
धनकीर्त्तिरिति व्यक्तं कृत्वा नामास्य संभ्रमात्। पालयामास यत्नेन प्रोल्लसत्प्रीतिमण्डितः ॥८५॥
सोपि गोपाङ्गनानेत्र-नीलोत्पलसुधाकरः। सर्वलक्षणसम्पूर्णो जनयन्प्रीतिमद्भुताम् ॥८६॥
रूपेण कामदेवो वा कान्त्या वा मृगलाञ्छनः। तेजसा नूतनार्को वा वृद्धिं प्राप गुणैः सह ॥८७॥
आज्यार्थमेकदा तेन तत्रायातेन दुर्धिया। श्रीदत्तेन तमालोक्य ज्ञात्वा तद्वृत्तकं महत् ॥८८॥
प्रोक्तं गोविन्द मद्गेहे कार्यमस्त्येव सत्वरम्। इमं लेखं करे दत्वा प्रेषणीयोयमङ्गजः ॥८९॥
गोविन्दः प्राह शुद्धात्मा भो श्रेष्ठिन्नेवमस्तु च। अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन वेगतः ॥९०॥

से कुछ गायें इस गुहा की ओर आ गई थीं, जहाँ गुणपाल का पुत्र अपने पूर्वपुण्य के उदय से रक्षा पा रहा था। धाय के समान उन गायों ने आकर उस बच्चे को घेर लिया। मानों बच्चा प्रेम से अपनी माँ की ही गोद में बैठा हो। बच्चे को देखकर गायों के थनों में से दूध झरने लग गया। ग्वाल लोग प्रसन्नमुख बच्चे को गायों से घिरा हुआ और निर्भय खेलता हुआ देखकर बहुत आश्चर्य करने लगे। उन्होंने जाकर अपनी जाति के मुखिया गोविन्द से यह सब हाल कह सुनाया। गोविन्द के कोई सन्तान नहीं थी, इसलिए वह दौड़ा गया और बालक को उठा लाकर उसने अपनी सुनन्दा नाम की प्रिया को सौंप दिया। उसका नाम उसने धनकीर्ति रखा। वहाँ बड़े यत्न और प्रेम से उसका पालन व संरक्षण होने लगा। धनकीर्ति भी दिनों दिन बढ़ने लगा। वह ग्वाल महिलाओं के नेत्ररूपी कुमुद पुष्पों को प्रफुल्लित करने वाला चन्द्रमा था। उसे देखकर उनके नेत्रों को बड़ी शान्ति मिलती थी। वह सब सामुद्रिक लक्षणों से युक्त था। उसे देखकर सबको बड़ा प्रेम होता था। वह अपनी रूप मधुरिमा से कामदेव जान पड़ता था, कान्ति चन्द्रमा और तेज से एक दूसरा सूर्य से जैसे-जैसे उसकी सुन्दरता बढ़ती जाती थी, वैसे-वैसे ही उसमें अनेक उत्तम-उत्तम गुण भी स्थान पाते चले जाते थे ॥८०-८७॥

एक दिन पापी श्रीदत्त घी की खरीद करता हुआ इधर आ गया। उसने धनकीर्ति को देखकर पहचान लिया। अपना सन्देह मिटाने को और भी दूसरे लोगों से उसने उसका हाल जान लिया। उसे निश्चय हो गया कि यह गुणपाल ही का पुत्र है। तब उसने फिर उसके मारने का षड्यंत्र रचा। उसने गोविन्द से कहा–भाई, मेरा एक बहुत जरूरी काम हैं, यदि तुम अपने पुत्र द्वारा उसे करा दो तो बड़ी कृपा हो। मैं अपने घर पर भेजने के लिए एक पत्र लिख देता हूँ, उसे यह पहुँचा आवे। बेचारे गोविन्द ने कह दिया कि मुझे आपके काम से कोई इनकार नहीं है। आप लिख दीजिये, यह उसे दे आयेगा। सच बात है–दुष्टों की दुष्टता का पता जल्दी से कोई नहीं पा सकता। पापी श्रीदत्त ने पत्र में लिखा ॥८८-९०॥

पापिना लिखितस्तेन लेखं पुत्रमहाबलः। अस्मत्कुलद्रुमध्वंसी-ज्वलत्कालानलोप्ययम् ॥९१॥
हन्तव्यो ब्रह्मपुत्रेण मद्वाक्यैर्मुसलेन वा। तं गृहीत्वा कुमारोपि धनकीर्त्तिर्गुणोज्ज्वलः ॥९२॥
कण्ठालंकारसान्निध्ये बध्वा लेखं भटाग्रणीः। तातश्रेष्ठिनिदेशेन निःशंङ्कश्चलितो मुदा ॥९३॥
उज्जयिन्यां प्रवेशेऽसौ प्राप्तश्चाम्रमहावनम्। मार्गश्रमविनाशाय सुप्तो वृक्षतले सुखम् ॥९४॥
अत्रान्तरे समायाता तद्वने सपरिच्छदा। नाना प्रसूनसन्दोह-चुण्टने प्रीतिमानसा ॥९५॥
भूरिविद्याविनोदाढ्याऽनंगसेनाभिधानिका। पण्याङ्गनाम्रवृक्षस्य मूले सुप्तं निरीक्ष्य तम् ॥९६॥
पूर्वजन्मोपकारेण जातस्नेहा महादरात्। शनैर्लेखं समादाय ज्ञात्वा तच्छ्रेष्ठिचेष्टितम् ॥९७॥
तान्यक्षराण्युपायेन परामृश्य विचक्षणा। तस्मिन्नेव तदा पत्रे लोचनाञ्जनभाजनात् ॥९८॥
गृहीतकज्जलेनोच्चै-र्वल्लीनिर्यासशालिना। संलिखित्वेति मद्भार्या मन्यते मां यदि प्रियम् ॥९९॥

पुत्र महाबल, जो तुम्हारे पास पत्र लेकर आ रहा है, वह अपने कुल का नाश करने के लिए भयंकरता से जलता हुआ मानों प्रलय काल की अग्नि है, समर्थ होते ही यह अपना सर्वनाश कर देगा। इसलिए तुम्हें उचित है कि इसे गुप्तरीति से तलवार द्वारा वा मूसले से मार डालकर अपना कांटा साफ कर दो। काम बड़ी सावधानी से हो, जिसे कोई जान न पावे ॥९१-९२॥

पत्र को अच्छी तरह बन्द करके उसने कुमार धनकीर्ति को सौंप दिया। धनकीर्ति ने उसे अपने गले में पड़े हुए हार से बाँध लिया और सेठ की आज्ञा लेकर उसी समय वह वहाँ से निडर होकर चल दिया। वह धीरे-धीरे उज्जयिनी के उपवन में आ पहुँचा। रास्ते में चलते-चलते वह थक गया था इसलिए थकावट मिटाने के लिए वह वहीं एक वृक्ष की ठंडी छाया में सो गया। उसे वहाँ नींद आ गई ॥९३-९५॥

इतने ही में वहाँ एक अनंगसेना नाम की वेश्या फूल तोड़ने के लिए आई, वह बहुत सुन्दरी थी अनेक तरह के मौलिक भूषण और वस्त्र वह पहने थी। उससे उसकी सुन्दरता भी बेहद बढ़ गई थी। वह अनेक विद्या कलाओं की जानने वाली और बड़ी विनोदिनी थी। उसने धनकीर्ति को एक वृक्ष के नीचे सोता देखा। पूर्वजन्म में अपना उपकार करने के कारण से उस पर उसका बहुत प्रेम हुआ। उसके वश होकर ही उसे न जाने क्या बुद्धि उत्पन्न हुई जो उसने उसके गले में बँधे हुए श्रीदत्त के कागज को खोल लिया। पर जब उसने उसे बाँचा तो उसके आश्चर्य का कुछ ठिकाना न रहा। एक निर्दोष कुमार के लिए श्रीदत्त का ऐसा घोर पैशाचिक अत्याचार का हाल पढ़कर उसका हृदय काँप उठा। वह उसकी रक्षा के लिए घबरा उठी। वह भी थी बड़ी बुद्धिमती सो झट एक युक्ति सूझ गई। उसने उस लिखावट को बड़ी सावधानी से मिटाकर उसकी जगह अपनी आँखों में अंजे हुए काजल को पत्तों के रस से गीली की हुई सलाई से निकाल-निकाल कर उसके द्वारा लिख दिया कि-''प्रिये! यदि तुम मुझे सच्चा अपना स्वामी समझती हो और पुत्र महाबल! तुम यदि वास्तव में मुझे अपना पिता समझते हो तो इस पत्र लाने वाले के साथ श्रीमती का ब्याह शीघ्र कर देना। अपने को बड़े भाग्य से ऐसे वर की प्राप्ति हुई

पुत्रो महाबलश्चापि चेन्मां जानाति तातकम्। तदा सर्वप्रकारेण कन्यास्मै धनकीर्त्तये ॥१००॥
शाखासप्तकपर्यन्तं शोधिताय महात्मने। ममापेक्षां विना शीघ्रं दानमानादिपूर्वकम् ॥१०१॥
दातव्या श्रीमतिश्चेति पूर्ववत्पत्रमुत्तमम्। कण्ठे तस्य निबध्योच्चै-र्जीवितं वा हि सागमत् ॥१०२॥
ततः श्रीधनकीर्त्तिस्तु चिरेणोत्थाय शुद्धधीः। श्रीदत्तस्य गृहं गत्वा दत्वा लेखं तयोर्द्वयोः ॥१०३॥
मातृपुत्रकयोः शीघ्रं श्रीमत्या वल्लभोभवत्। संभवेत्कृतपुण्यानां महापायेऽपि सत्सुखम् ॥१०४॥
तां वार्तां च समाकर्ण्य श्रीदत्तो व्यग्रमानसः। प्रत्यागत्य पुरीबाह्ये चण्डिकामन्दिरे पुनः ॥१०५॥
संकेतपुरुषं धृत्वा तद्वधाय दुराशयः। समागत्य गृहं प्राह प्रच्छन्नं तनुजापतिम् ॥१०६॥
धनकीर्तेः शृणु व्यक्तं मदीयेप्यस्ति वंशके। आचारोयं सुधी रात्रि-मुखे कात्यायनीगृहे ॥१०७॥
गृहीत्वा माषनिर्माणं कीरकाकबलिं द्रुतम्। संछाद्य रक्तवस्त्रेण पुत्रीकान्तेन सादरम् ॥१०८॥
हस्तस्थकंकणेनोच्चै-र्गन्तव्यं सर्वशान्तये। तच्छ्रुत्वा धनकीर्त्तिस्तु यथादेशस्तथास्तु वै ॥१०९॥

है। मैंने इसकी साखें वगैरह सब अच्छी तरह देख ली है। कहीं कोई बाधा आती है। इस काम के लिए तुम मेरी भी अपेक्षा नहीं करना। कारण, सम्भव है मुझे आने में कुछ विलम्ब हो जाए। फिर ऐसा योग मिलना कठिन है। वर के मान-सम्मान में तुम लोग किसी प्रकार की कमी मत रखना।''

इस प्रकार पत्र लिखकर अनंगसेना ने पहले की तरह उसे धनकीर्ति के गले में बाँध दिया अथवा यों कह लीजिए कि उसने धनकीर्ति को मानों जीवन प्रदान किया। इसके बाद वह अपने घर पर लौट आई ॥९६-१०२॥

अनंगसेना के चले जाने के बाद धनकीर्ति की भी नींद खुली। वह उठा और श्रीदत्त के घर पहुँचा। उसने पत्र निकाल कर श्रीदत्त की स्त्री के हाथ में सौंपा। पत्र को उसके पुत्र महाबल ने भी पढ़ा। पत्र पढ़कर उन्हें बहुत खुशी हुई। धनकीर्ति का उन्होंने बहुत आदर-सम्मान किया तथा शुभ मुहूर्त में श्रीमती का ब्याह उसके साथ कर दिया। सच कहा है-

पुण्यवान् जीवों को महासंकट के समय भी जीवन के नष्ट होने के कारणों के मिलने पर भी सुख प्राप्त होता है। यह हाल जब श्रीदत्त को ज्ञात हुआ, तो वह घबराकर उसी समय दौड़ा हुआ आया। उसने रास्ते में ही धनकीर्ति को मार डालने की युक्ति सोचकर अपनी नगरी के बाहर पार्वती के मन्दिर में एक मनुष्य को इसलिए नियुक्त कर दिया कि मैं किसी बहाने से धनकीर्ति को रात के समय यहाँ भेजूँगा, सो उसे तुम मार डालना। इसके बाद वह अपने घर आया और एकान्त में अपने जमाई को बुलाकर उसने कहा-देखो जी, मेरी कुल परम्परा में एक रीति चली आ रही है, उसका पालन तुम्हें भी करना होगा। वह यह है कि नवविवाहित वर रात्रि के आरम्भ में उड़द के आटे के बनाए हुए तोता, काक, मुर्गा आदि जानवरों को लाल वस्त्र से ढककर और कंकण पहने हुए हाथ में रखकर बड़े आदर के साथ शहर के बाहर पार्वती के मन्दिर में ले जाए और शान्ति के लिए उनकी बलि दे ॥१०३-१०९॥

यह सुनकर धनकीर्ति बोला-जैसी आपकी आज्ञा। मुझे शिरोधार्य है। इसके बाद वह बलि लेकर

गदित्वेति समादाय तं बलिं भद्रमानसः। निर्गतस्तु पुरीबाह्ये दृष्टोऽसौ शालकेन च ॥११०॥
महाबलेन पृष्टस्तु हंहो त्वं यासि कुत्रचित्। एकाकी तमसि व्याप्ते तन्निशम्य जगाद सः ॥१११॥
महाबल बलिं दातुं दुर्गायै गम्यते मया। मातुलस्य निदेशेन तदाकर्ण्य महाबलः ॥११२॥
प्राहैवं तत्र गच्छामि याहि त्वं निजमन्दिरम्। तातो रोशिष्यति व्यक्तं सर्वं जानेऽहकं तदा ॥११३॥
इत्युच्चैस्तन्निषिद्धोसौ धनकीर्त्तिः स्वपुण्यतः। निर्विघ्नं गृहमायातः स च प्राप्तो यमालयम् ॥११४॥
पूर्वपुण्येन जन्तूनां कालवह्निर्जलायते। स्थलायते समुद्रोपि शत्रुर्मित्रायते भृशम् ॥११५॥
हालाहलं सुधाभावं यात्यापत्सम्पदा भवेत्। विघ्ना नश्यन्ति निःशेषा महाभीत्येव सत्वरम् ॥११६॥
तस्मात्पुण्यं बुधैः कार्यं स्वर्मोक्षसुखबीजकम्। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं सर्वदुःखौघनाशकम् ॥११७॥
तत्सुपुण्यं जिनेन्द्रार्चा महाभक्तिभरान्विता। पात्रदानं व्रतं शीलं सोपवासं क्रियादिकम् ॥११८॥
पुत्रशोकाकुलः श्रेष्ठी श्रीदत्तो धर्मवर्जितः। एकान्ते कामिनीं प्राह विशाखां प्रति हे प्रिये ॥११९॥

घर से निकला। शहर के बाहर पहुँचते ही उसे उसका साला महाबल मिला। महाबल ने उससे पूछा–क्यों जी! ऐसे अन्धकार में अकेले कहाँ जा रहे हो? उत्तर में धनकीर्ति ने कहा–आपके पिताजी की आज्ञा से मैं पार्वती के मन्दिर बलि देने के लिए जा रहा हूँ। यह सुनकर महाबल बोला–आप बलि मुझे दे दीजिए, मैं चला जाता हूँ। आपके वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप घर पधारिए। धनकीर्ति ने कहा–देखिए, इससे आपके पिताजी बुरा मानेंगे। इसलिए आप मुझे ही जाने दीजिए। महाबल ने कहा–नहीं, मुझे बलि देने की सब विधि वगैरह मालूम है, इसलिए मैं ही जाता हूँ–यह कहकर उसने धनकीर्ति को तो घर लौटा दिया और आप दुर्गा के मन्दिर जाकर काल के घर का पाहुना बना। सच है– ॥११०-११४॥

पुण्यवानों के लिए कालरूपी अग्नि जल हो जाती है, समुद्र स्थल हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है, विष अमृत के रूप में परिणत हो जाता है, विपत्ति सम्पत्ति हो जाती है और विघ्न डर के मारे नष्ट हो जाते हैं। इसलिए बुद्धिमानों को सदा पुण्यकर्म करते रहना चाहिए। पुण्य उत्पन्न करने के कारण ये हैं–भक्ति से भगवान् की पूजा करना, पात्रों को दान देना, व्रत पालना, उपवासादि के द्वारा इंद्रियों को जीतना, ब्रह्मचर्य रखना, दुखियों की सहायता करना, विद्या पढ़ाना, पाठशाला खोलना अर्थात् अपने से जहाँ तक बन पड़े तन से, मन से और धन से दूसरों की भलाई करना ॥११५-११८॥

अपने पुत्र के मारे जाने की जब श्रीदत्त को खबर हुई, तब वह बहुत दुःखी हुआ। पर फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसका हृदय अब प्रतिहिंसा से और अधिक जल उठा। उसने अपनी स्त्री को एकान्त में बुलाकर कहा–प्रिये, बतलाओ तो हमारे कुलरूपी वृक्ष को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाले इस दुष्ट की हत्या कैसे हो? कैसे यह मारा जा सके? मैंने इसके मारने को जितने उपाय किए, भाग्य से वे सब व्यर्थ गए और उलटा उनसे मुझे ही अत्यन्त हानि उठानी पड़ी। सो मेरी बुद्धि तो बड़े असमंजस में फँस गई है। देखो, कैसे अचंभे की बात है जो इसके मारने के लिए जितने उपाय किए,

अस्मद्वंशतरुच्छेदी हन्यतेऽयं कथं खलः। नाना पापपरित्यक्तो व्यक्तो वैरी गृहे स्थितः ॥१२०॥
श्रेष्ठिन्यालपितं श्रेष्ठिन्वृद्धत्वान्नैव वेत्सि च। तस्मात्तूष्णीं समास्व त्वं कुर्वेहं वाञ्छितं तव ॥१२१॥
इत्याभाष्य परेद्युश्च विषं संचार्य मोदकान्। कृत्वा तां तनुजां प्राह विशाखा पापमण्डिता ॥१२२॥
श्रीमते भो सुते ये च चन्द्रकान्तिवदुज्ज्वलाः। ते मोदकाः स्वकान्ताय श्यामवर्णास्तु ये ध्रुवम् ॥१२३॥
दीयन्ते त्वया मुग्धे स्वताताय गुणोज्ज्वले। इत्युक्त्वा श्रेष्ठिनी शीघ्रं गता स्नानाय सा नदीम् ॥१२४॥
सा पुत्री श्रीमतिश्चेति यच्छुभं भुवनत्रये। तद्वेयं स्वपितुर्भक्त्या किं पती रागकारणम् ॥१२५॥
अज्ञातमातृदुश्चेष्टा संविचार्येति मोदकान्। विपर्ययेण दत्ते स्म विचित्रा कर्मणां गतिः ॥१२६॥
तद्भक्षणात्तदा श्रेष्ठी श्रीदत्तो मृत्युमाप्तवान्। दुष्कर्मकारिणां लोके कुतः श्रेयो भवत्यहो ॥१२७॥
सा विशाखा समागत्य नाथशून्यं निजालयम्। दृष्ट्वा शोकं विधायोच्चै रुदित्वा च सुतां जगौ ॥१२८॥

उन सबसे रक्षा पाकर और अपना ही बैरी बना हुआ यह अपने घर में बैठा है ॥११९-१२०॥

श्री दत्त की स्त्री ने कहा–बात यह है कि अब आप बूढ़े हो गए है। आपकी बुद्धि अब काम नहीं देती। अब जरा आप चुप होकर बैठे रहें। मैं आपकी इच्छा बहुत जल्दी पूरी करूँगी। यह कहकर उस पापिनी ने दूसरे दिन विष मिले हुए लड्डू बनाये और अपने पुत्री से कहा–बेटी श्रीमती, देख मैं तो अब स्नान करने जाती हूँ और तू इतना ध्यान रखना कि ये जो उजले लड्डू हैं, उन्हें तो अपने स्वामी को परोसना और जो मैले हैं, उन्हें अपने पिता को परोसना। यह कहकर श्रीमती की माँ नहाने को चली गई। श्रीमती अपने पिता और पति को भोजन कराने को बैठी। बेचारी श्रीमती भोली-भाली लड़की थी और न उसे अपनी माता का कूट-कपट ही मालूम था; इसलिए उसने अच्छे लड्डू अपने पिता के लिए ही परोसना उचित समझा, जिससे कि उसके पिता को अपने सामने श्रीमती का बरताव बुरा न जान पड़े और यही एक कुलीन कन्या के लिए उचित भी था, क्योंकि अपने माता-पिता या बड़ों के सामने ऐसा बेहयापन काम अच्छी स्त्रियाँ नहीं करती। इसलिए जो लड्डू उसके पति के लिए उसकी माँ ने बनाये थे, उन्हें उसने पिता की थाली में परोस दिया। सच है–

''विचित्रा कर्मणां गतिः'' अर्थात् कर्मों की गति विचित्र ही हुआ करती है ॥१२१-१२६॥

विष मिले हुए लड्डुओं के खाते ही श्रीदत्त ने अपने किए कर्म का उपयुक्त प्रायश्चित पा लिया, वह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हुआ। ठीक ही कहा है कि पाप कर्म करने वालों का कभी कल्याण नहीं होता ॥१२७॥

श्रीमती की माँ जब नहाकर लौटी और उसने अपने स्वामी को इस प्रकार मरा पाया तो उसके दुःख का कोई पार नहीं रहा। वह बहुत विलाप करने लगी परन्तु अब क्या हो सकता था! जो दूसरों के लिए कुआँ खोदते हैं, उसमें पहले वे स्वयं ही गिरते हैं, यह संसार का नियम है। श्रीमती की माँ और पिता उसके उदाहरण है। इसलिए जो अपना बुरा नहीं चाहते उन्हें दूसरों का बुरा करने का कभी

हे सुते तव तातेन मयापि क्रूरचेतसा। स्वान्वयक्षयकारीति सर्वं दुश्चेष्टितं वृथा ॥१२९॥
पूर्णं बहुप्रलापेन स्वकान्तेन समं मुखम्। तिष्ठ त्वमेव गेहेस्मिञ्छक्रेणेव शची यथा ॥१३०॥
इत्याशीर्वचनं दत्वा तं समासाद्य मोदकम्। प्राप्ता यमालयं सापि दुर्धियामीदृशी गतिः ॥१३१॥
परेषां येऽत्र कुर्वन्ति विघ्नं दुष्टाशयाः खलाः। ते स्वयं विघ्नमासाद्य पश्चाद्यान्त्येव दुर्गतिम् ॥१३२॥
ततः श्रीधनकीर्त्तिस्तु पूर्वपुण्यप्रभावतः। उल्लंघितमहाघोर-पंचापत्सुखतः स्थितः ॥१३३॥
एकदा शुभयोगेन विश्वंभरमहीभुजा। महोत्सवशतैस्तस्मै दत्वा कन्यां निजां शुभाम् ॥१३४॥
नाना रत्नादिसन्दोहैः पूजितो धनकीर्त्तिवाक्। महाश्रेष्ठिपदे शीघ्रं स्थापितो जयघोषणैः ॥१३५॥
अहो भव्या न कर्त्तव्य-माश्चर्यं भुवनत्रये। जैनधर्मप्रसादेन किं शुभं यन्न जायते ॥१३६॥
तत्प्रतापं समाकर्ण्य स श्रेष्ठी गुणपालवाक्। कौशाम्बीदेशतः शीघ्र-मुज्जयिन्यां समागतः ॥१३७॥

स्वप्न में भी विचार नहीं करना चाहिए। अन्त में श्रीमती की माता ने अपनी पुत्री से कहा–हे पुत्री! तेरे पिता ने और मैंने निर्दय होकर अपने हाथों ही अपने कुल का सर्वनाश किया। हमने दूसरे का अनिष्ट करने के जितने प्रयत्न किए वे सब व्यर्थ गए और अपने नीच कर्मों का फल भी हमें हाथों हाथ मिल गया। अब जो तेरे पिताजी की गति हुई वही मेरे लिए भी इष्ट है। अन्त में मैं तुझे आशीर्वाद देती हूँ कि तू और तेरे पति इस घर में सुख शान्ति से रहें जैसे इन्द्र अपनी प्रिया के साथ रहता है। इतना कहकर उसने भी जहर के लड्डुओं को खा लिया। देखते–देखते उसकी आत्मा भी शरीर को छोड़कर चली गई। ठीक है-दुर्बुद्धियों की ऐसी ही गति हुआ करती है। जो लोग दुष्ट हृदय बनकर दूसरों का बुरा कर सोचते हैं, उनका बुरा करते हैं, वे स्वयं अपना बुरा अन्त में कुगतियों में जाकर अनन्त दुःख उठाते हैं। इस प्रकार धनकीर्ति पुण्य के प्रभाव से अनेक बड़ी–बड़ी आपत्तियों से भी सुरक्षित रहकर सुखपूर्वक जीवनयापन करने लगा ॥१२८–१३३॥

जब महाराज विश्वम्भर को धनकीर्ति के पुण्य, उसकी प्रतिष्ठा तथा गुणशालीनता का परिचय मिला तो वे उससे बहुत खुश हुए और उन्होंने अपनी राजकुमारी का विवाह भी शुभ दिन देखकर बड़े ठाटबाट सहित उसके साथ कर दिया। धनकीर्ति को उन्होंने दहेज में बहुत धन सम्पत्ति दी, उसका खूब सम्मान किया तथा 'राज्य सेठ' के पद पर भी उसे प्रतिष्ठित किया। इस पर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि संसार में ऐसी कोई शुभ वस्तु नहीं जो जिनधर्म के प्रभाव से प्राप्त न होती हो ॥१३४–१३६॥

गुणपाल को जब अपने पुत्र का हाल ज्ञात हुआ तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई वह उसी समय कौशाम्बी से उज्जयिनी के लिए चला और बहुत शीघ्र अपने पुत्र से आ मिला। सबका फिर पुण्य मिलाप हुआ। धनकीर्ति पुण्योदय से प्राप्त हुए भोगों को भोगता हुआ अपना समय सुख से बिताने लगा। इससे कोई यह न समझ ले कि वह अब दिन–रात विषयभोगों में ही फँसा रहता था, नहीं; उसका अपने आत्मकल्याण की ओर भी पूरा ध्यान था वह बड़ी सावधानी के साथ सुख देने वाले जिनधर्म

एवं श्रीधनकीर्त्तिस्तु प्राप्ततातादिसंगमः। सुस्थितो निजपुण्येन सम्पदासारमण्डितः ॥१३८॥
भुञ्जानो विविधान्भोगान्मुधीः पञ्चेन्द्रियोचितान्। धर्मशर्माकरे जैने सावधानो विचक्षणः ॥१३९॥
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोजं नित्यं भक्त्या समर्चयन्। ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः पात्रदानेषु तत्परः ॥१४०॥
नित्यं परोपकारादि-सत्कर्मस्थितिमाचरत्। बह्वालापेन किं कार्यं यत्फलं सुकृतोदयात् ॥१४१॥
तत्तत्सर्वं समासाद्य पूर्वपुण्यप्रभावतः। अन्वभूत्सुचिरं सौख्यं जगच्चेतोनुरञ्जयन् ॥१४२॥
अथैकदा महाश्रेष्ठी गुणपालो गुणोज्वलः। सुधीः श्रीधनकीर्त्यादि-पुत्रमित्रादिसंयुतः ॥१४३॥
दर्शनार्थं समायाता-नंगसेनायुतोपि च। श्रीयशोध्वजनामानं मुनीन्द्रं त्रिजगद्धितम् ॥१४४॥
अभिवन्द्य महाभक्त्या प्रीत्याप्रच्छच्च तं गुरुम्। स्वामिन्ननेन पुत्रेण पुण्यं श्रीधनकीर्त्तिना ॥१४५॥
किं पुरोपार्जितं येन बालत्वेऽपि महानसौ। नाना दुष्टोपसर्गौघं हेलया जयति स्म च ॥१४६॥
कीर्त्तिमान्सारलक्ष्मीशः संजातः सारसौख्यभाक्। महाविज्ञानसम्पन्नो दाता भोक्ता दयापरः ॥१४७॥
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि भगवन्वक्तुमर्हसि। तदा यशोध्वजः स्वामी चतुर्ज्ञानविराजितः ॥१४८॥
स जगौ करुणासिन्धुः श्रूयतां भो वणिक्पते। अवन्तिविषये पूर्वं शिरीषग्रामवासकः ॥१४९॥
मृगादिसेनको मत्स्य-बन्धकः किल त्वेकदा। यशोधरमुनेर्वाक्या-देकस्मिन्वासरे मुदा ॥१५०॥

की सेवा करता था, भगवान् की प्रतिदिन पूजा करता था, पात्रों को दान देता था, दुःखी अनाथों की सहायता करता था और सदा स्वाध्याय-अध्ययन करता था, मतलब यह कि धर्म-सेवा और परोपकार करना ही उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य हो गया था। पुण्य के उदय से जो प्राप्त होना चाहिए वह सब धनकीर्ति को इस समय प्राप्त था। इस प्रकार धनकीर्ति ने बहुत दिनों तक खूब सुख भोगा और सबको प्रसन्न रखने की वह सदा चेष्टा करता रहा ॥१३७-१४२॥

एक दिन धनकीर्ति का पिता गुणपाल सेठ अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धव को साथ लिए यशोध्वज मुनिराज की वन्दना करने को गया। भाग्य से अनंगसेना भी इस समय पहुँच गई संसार का उपकार करने वाले उन मुनिराज की सभी ने बड़ी भक्ति के साथ वन्दना की। इसके बाद गुणपाल ने मुनिराज से पूछा-प्रभो, कृपाकर बतलाइए कि मेरे इस धनकीर्ति पुत्र ने ऐसा कौन महापुण्य पूर्व जन्म में किया है, जिससे इसने इस बालपन में ही भयंकर से भयंकर कष्टों पर विजय प्राप्त कर बहुत कीर्ति कमाई, खूब धन कमाया और अच्छे-अच्छे पवित्र काम किए, सुख भोगा और यह बड़ा ज्ञानी हुआ, दानी हुआ तथा दयालु हुआ। भगवन्, इन सब बातों को मैं सुनना चाहता हूँ ॥१४३-१४८॥

करुणा समुद्र और चार ज्ञान के धारी यशोध्वज मुनिराज ने, मृगसेन धीवर के अहिंसाव्रत ग्रहण करने, जाल में एक ही एक मच्छ के बार-बार आने, घर पर सूने हाथ लौट आने, स्त्री के नाराज होकर घर में न आने देने आदि की सब कथा गुणपाल से कहकर कहा-वह मृगसेन तो अहिंसाव्रत के प्रभाव से यह धनकीर्ति हुआ, जो कि सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति का मालिक और महाभव्य है और मृगसेन की जो घण्टा नाम की स्त्री थी, वह निदान करके इस जन्म में भी धनकीर्ति की श्रीमती नाम की गुणवती स्त्री हुई

अहिंसाव्रतमाराध्य जातोसौ धनकीर्त्तिभाक्। महाभव्यो जगत्सार-सम्पदाप्रमदापतिः ॥१५१॥
या घण्टा कामिनी पूर्वं निदानवशवर्त्तिनी। सा श्रीमती प्रिया जाता सती सद्गुणमण्डिता ॥१५२॥
पञ्चकृत्वो विमुक्तस्तु यो मत्स्यः स क्रमेण वै। अभूदनंगसेनेयं परोपकृतितत्परा ॥१५३॥
एतत्सर्वमहिंसायाः फलं श्रेष्ठिन् विजृंभते। जैनधर्मेण जन्तूनां किं न स्याद्भुवनत्रये ॥१५४॥
इत्याकर्ण्य मुनेर्वाक्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे बभुवुस्ते तरां रताः ॥१५५॥
श्रुत्वा भवान्तरं श्रीमान् धनकीर्त्तिः प्रसन्नधीः। श्रीमती कामिनी सापि गणिकानंगसेनिका ॥१५६॥
त्रयो जातिस्मृतिं प्राप्य त्रिधा वैराग्यमाश्रिताः। धर्मं धर्मफलं ज्ञात्वा संजातास्तुष्टमानसाः ॥१५७॥
तस्यैव सद्गुरोः पाद-मूले सेवापरायणः। श्रेष्ठी श्रीधनकीर्त्तिस्तु कीर्त्त्या व्याप्तजगत्त्रयः ॥१५८॥
केशपाशं समुन्मूल्य मोहपाशमिवापरम्। दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं जगत्तापनिवारिणीम् ॥१५९॥
निर्मलं सुतपस्तप्त्वा भव्यान्सम्बोध्य युक्तितः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्दोक्त-धर्मे कृत्वा प्रभावनाम् ॥१६०॥
रत्नत्रयं समाराध्य संन्यासविधिना सुधीः। सर्वार्थसिद्धिसत्सौख्यं प्राप्तवान्भाविकेवली ॥१६१॥

अन्यग्रन्थे—

पञ्चकृत्वः किलैकस्य मत्सस्याहिंसनात्पुरा। अभूत्पञ्चापदोतीत्य धनकीर्त्तिः पतिः श्रियः॥

है और जो मच्छ पाँच बार पकड़कर छोड़ दिया गया था, वह यह अनंगसेना हुई है, जिसने कि धनकीर्ति को जीवनदान देकर अत्यन्त उपकार किया है, सेठ महाशय, यह सब एक अहिंसाव्रत के धारण करने का फल है और परम अहिंसामयी जिनधर्म के प्रसाद से सज्जनों को क्या प्राप्त नहीं होता। मुनिराज के द्वारा इस सुखदाई कथा को सुनकर सब ही बहुत प्रसन्न हुए, जिनधर्म पर उनकी गाढ़ श्रद्धा हो गई। अपने पूर्व भव का हाल सुनकर धनकीर्ति, श्रीमती और अनंगसेना को जातिस्मरण हो गया। उससे उन्हें संसार की क्षणस्थायी दशा पर बड़ा वैराग्य हुआ। धर्माधर्म का फल भी उन्हें जान पड़ा। उनमें धनकीर्ति तो, जिसका कि सुयश सारे संसार में विस्तृत है, यशोध्वज मुनिराज के पास ही एक दूसरे मोहपाश की तरह जान पड़ने वाले अपने केशकलाप को हाथों से उखाड़ कर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि संसार के जीवों का उद्धार करने वाली है। साधु हो जाने के बाद धनकीर्ति ने खूब निर्दोष तपस्या की, अनेक जीवों को कल्याण के मार्ग पर लगाया, जिनधर्म की प्रभावना की, पवित्र रत्नत्रय प्राप्त किया और अन्त में समाधि सहित मरकर सर्वार्थसिद्धि का श्रेष्ठ सुख लाभ किया ॥१४९-१६१॥

धनकीर्ति आगे केवली होकर मुक्ति प्राप्त करेगा और ऋषियों ने भी अहिंसाव्रत का फल लिखते समय धनकीर्ति की प्रशंसा में लिखा है—''धनकीर्ति ने पूर्व भव में एक मच्छ को पाँच बार छोड़ा था, उसके फल से वह स्वर्गीयश्री का स्वामी हुआ।'' इसलिए आत्महित की इच्छा करने वालों को यह व्रत मन, वचन, काय की पवित्रतापूर्वक निरन्तर पालते रहना चाहिए।

धनकीर्ति दीक्षित हुआ देखकर श्रीमती और अनंगसेना ने भी हृदय से विषय-वासनाओं को दूरकर अपने योग्य जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि सब दुःखों की नाश करने वाली है। इसके बाद

श्रीमतिस्तु तथानंग-सेनासौ भोगनिस्पृहे। यथायोग्यं समादाय दीक्षां दु:खौघनाशिनीम् ॥१६२॥
स्वस्वभावानुसारेण स्वर्गलोकं समाश्रिते। आराध्य शासनं जैनं प्रापु: के के न सत्सुखम् ॥१६३॥
इत्थं श्रीजिनसूत्रतो विरचिताहिंसाकथा शर्मणे संक्षेपेण मयाल्पबुद्धिवशिना धर्मानुरागेण च।
नाना सारसुखप्रमोदजननी विघ्नौघनिर्नाशिनी भव्यानां भवशान्तये भवतु वै संभाविता मानसे ॥१६४॥
जात: श्रीमति मूलसंघतिलके श्रीकुन्दकुन्दान्वये श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरु: सद्बोधिसिन्धुर्महान्।
तच्छिष्य: परमार्थपंडितनुत: श्रीसिंहनन्दीमुनिर्भव्यानां भवतारकोतिचतुर: सूरिश्चिरं नन्दतु ॥१६५॥

इति कथाकोशेऽहिंसाव्रते मृगसेनधीवरस्य कथा समाप्ता।

२६. वसुनृपस्य कथा

नत्वा जिनं जगद्बन्धुं सुरासुरसमर्चितम्। वक्ष्ये सत्यवचोदोषी चरित्रं वसुभूपते: ॥१॥
नगर्यां स्वस्तिकावत्यां राजा विश्वावसु: सुधी:। तद्राज्ञी श्रीमती तस्यां वसुनामा सुतोभवत् ॥२॥

अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या कर उन दोनों ने भी मृत्यु के अन्त में स्वर्ग प्राप्त किया। सच है-जिनशासन की आराधना कर किस किसने सुख प्राप्त न किया अर्थात् जिसने जिनधर्म ग्रहण किया उसे नियम से सुख मिला है ॥१६२-१६३॥

इस प्रकार मुझ अल्पबुद्धि ने धर्म-प्रेम के वश हो यह अहिंसाव्रत की पवित्र कथा जैनशास्त्र के अनुसार लिखी है। यह सब सुखों की देने वाली माता है और विघ्नों को नाश करने वाली है। इसे आप लोग हृदय में धारण करें। वह इसलिए कि इसके द्वारा आपको शान्ति प्राप्त होगी ॥१६४॥

मूलसंघ के प्रधान प्रवर्तक श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में मल्लिभूषण गुरु हुए। वे ज्ञान के समुद्र थे। उनके शिष्य श्रीसिंहनन्दी मुनि हुए। वे बड़े आध्यात्मिक विद्वान् थे। उन्हें अच्छे-अच्छे परमार्थवित्-अध्यात्मशास्त्र के जानकार विद्वान् नमस्कार करते थे। वे सिंहनन्दी मुनि आपके लिए संसार-समुद्र से पार करने वाले होकर संसार में चिरकाल तक बढ़े। उनका यश:शरीर बहुत समय तक प्रकाशित रहे ॥१६५॥

२६. वसुराजा की कथा

संसार के बन्धु और देवों द्वारा पूज्य श्रीजिनेन्द्रदेव को नमस्कार कर झूठ बोलने से नष्ट होने वाले वसुराजा का चरित्र मैं लिखता हूँ ॥१॥

स्वस्तिकावती नाम की एक सुन्दर नगरी थी। उसके राजा का नाम विश्वावसु था। विश्वावसु की रानी श्रीमती थी। उसके एक वसु नाम का पुत्र था ॥२॥

वहीं एक क्षीरकदम्ब नामक उपाध्याय रहता था। वह बड़ा सुचरित्र और सरल स्वभावी था। जिनभगवान् का वह भक्त था और होम, शान्तिविधान आदि जैन क्रियाओं द्वारा गृहस्थों के लिए

तत्र क्षीरकदम्बाख्यः क्षीरवन्निर्मलाशायः। उपाध्यायो महाधीमान् विप्रवंशशिरोमणिः ॥३॥
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-महापूजाविधायकः। जैनहोमक्रियामंत्रै-र्भव्यानां शान्तिदायकः ॥४॥
तद्भार्या स्वस्तिमत्याख्या तयोः पुत्रश्च पर्वतः। पापी दुष्कर्मकर्त्ताभूद्विचित्रा संसृतेः स्थितिः ॥५॥
एको वैदेशिको विप्रो नारदो निर्मदो महान्। जिनेन्द्रपादपद्मेषु चञ्चरीकोतिनिश्चलः ॥६॥
स वसुः पर्वतः सोपि नारदश्च गुणोज्वलः। त्रयः क्षीरकदम्बस्य पार्श्वे शास्त्रं पठन्ति ते ॥७॥
वसुनारदनामानौ सञ्जातौ शास्त्रकोविदौ। पर्वतस्य स्वपापेन शास्त्रं नायाति निर्मलम् ॥८॥
एकदा स्वपतिं प्राह कोपात्स्वस्तिमती प्रिया। स्वपुत्रं भो त्वकं नैव व्यक्तं पाठयसीति च ॥९॥
प्रोक्तं क्षीरकदम्बेन पुत्रस्ते मूढमानसः। किञ्चिन्न वेत्ति पापात्मा मया किं क्रियते प्रिये ॥१०॥
विश्वासार्थं ततस्तेन त्रयश्छात्राः स्वबुद्धितः। प्रोक्ता भो पुत्रका यूयं शीघ्रमेतैः कपर्दकैः ॥११॥
भक्षयित्वापणं गत्वा चणकांश्च कपर्दकान्। समादाय स्वचातुर्यात्समागच्छथ मन्दिरम् ॥१२॥
ततस्ते तान्समादाय निर्गता गुरुवाक्यतः। गत्वापणं स निर्बुद्धिः पर्वतस्तैः कपर्दकैः ॥१३॥

शान्ति-सुखार्थ अनुष्ठान करना उसका काम था। उसकी स्त्री का नाम स्वस्तिमती था। उसे पर्वत नाम का एक पुत्र था। भाग्य से वह पापी और दुर्व्यसनी हुआ। कर्मों की कैसी विचित्र स्थिति है पिता तो कितना धर्मात्मा और सरल और उसका पुत्र दुराचारी। इसी समय एक विदेशी ब्राह्मण नारद, जो कि निरभिमानी और सच्चा जिनभक्त था, क्षीरकदम्ब के पास पढ़ने के लिए आया। राजकुमार वसु, पर्वत और नारद ये तीनों एक साथ पढ़ने लगे। वसु और नारद की बुद्धि अच्छी थी, सो वे थोड़े ही समय में अच्छे विद्वान् हो गए। रहा पर्वत सो एक तो उसकी बुद्धि ही खराब और पाप के उदय से उसे कुछ नहीं आता जाता था। अपने पुत्र की यह हालत देखकर उसकी माता ने एक दिन अपने पति से गुस्सा होकर कहा—जान पड़ता है, आप बाहर के लड़कों को तो अच्छी तरह पढ़ाते हैं और खास अपने पुत्र पर आपका ध्यान नहीं है, उसे आप अच्छी तरह नहीं पढ़ाते। इसीलिए उसे इतने दिन तक पढ़ते रहने पर भी कुछ नहीं आया। क्षीरकदम्ब ने कहा—इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है। मैं तो सबके साथ एक सा श्रम करता हूँ। तुम्हारा पुत्र ही मूर्ख है, पापी है, वह कुछ समझता ही नहीं। बोलो, अब इसके लिए मैं क्या करूँ? स्वस्तिमती को इस बात पर विश्वास हो, इसलिए उसने तीनों शिष्यों को बुलाकर कहा—पुत्रों, देखो तुम्हें यह एक-एक पाई दी जाती है, इसे लेकर तुम बाजार जाओ; और अपने बुद्धिबल से इसके द्वारा चने लेकर खा आओ और पाई पीछे वापस भी लौटा लाओ। तीनों गए ॥३-१२॥

उनमें पर्वत एक जगह से चने मोल लेकर और वहीं खा पीकर सूने हाथ घर लौट आया। अब रहे वसु और नारद, सो इन्होंने पहले तो चने मोल लिए और फिर उन्हें इधर-उधर घूमकर बेचा, जब उनकी पाई वसूल हो गई तब बाकी बचे चनों को खाकर वे लौट आए। आकर उन्होंने गुरुजी को अमानत वापस सौंप दी। इसके बाद क्षीरकदम्ब ने एक दिन तीनों को आटे के बने हुए तीन बकरे देकर उनसे कहा—देखो, इन्हें ले जाकर और जहाँ कोई न देख पाए ऐसे एकान्त स्थान में इनके कानों को छेद

चणकान्भक्षयित्वा च रिक्तः स्वगृहमागतः। अहो पुण्यं विना जन्तोः क्व बुद्धिः प्रीतिदायिनी ॥१४॥
तौ द्वौ विचक्षणौ गत्वा बहुस्थानेषु तान्मुदा। अर्थव्याजेन भुक्त्वोच्चै-रागतौ सकपर्दकौ ॥१५॥
तथा पिष्टमयांश्छागान्दत्वा तेन त्रयोपि ते। यत्र कोपि न भो पुत्राः पश्यत्येषां च तत्र वै ॥१६॥
कर्णच्छेदो विधातव्यः प्रोक्त्वेति प्रेषिताः पुनः। ततस्ते गुरुवाक्येन तान्गृहीत्वा विनिर्ययुः ॥१७॥
पर्वतस्तु क्वचिद्देशे तत्कृत्वा गृहमागतः। गत्वा सर्वत्र तौ द्वौ च वनादौ निजमानसे ॥१८॥
अहो सर्वे प्रपश्यन्ति चन्द्रार्कग्रहतारकाः। व्यन्तराश्चामरा धीराः पक्षिणः पशवस्तथा ॥१९॥
ज्ञानिनो मुनयश्चापि वार्यते तन्तु केन च। इति ज्ञात्वा न तत्कृत्वा गृहीत्वा तौ तथैव च ॥२०॥
समागत्य गृहं भक्त्या नत्वा क्षीरकदम्बकम्। स्ववृत्तं प्राहतुः सर्वं बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥२१॥
उपाध्यायस्तदावीक्ष्य चातुरीं छात्रयोस्तयोः। जगौ स्वस्तिमतीं भार्यां दृष्टं रे सर्वचेष्टितम् ॥२२॥
एकदा तेन विप्रेण स वसुः कृतदोषकः। यष्ट्या संकुट्यमानस्तु स्वस्तिमत्या सुरक्षितः ॥२३॥
तस्यै तेन वरो दत्तस्तयोक्तं पुत्र मे यदा। कार्यं भविष्यति व्यक्तं तदायं दीयते त्वया ॥२४॥
अथैकदा सुधीः क्षीर-कदम्बोसौ विचक्षणः। सेव्यमानस्त्रिभिच्छात्रै-रटव्यां पठने गतः ॥२५॥

लाओ। गुरु की आज्ञानुसार तीनों फिर इस नये काम के लिए गए। पर्वत ने तो एक जंगल में जाकर बकरे का कान छेद डाला। वसु और नारद बहुत जगह गए, सर्वत्र उन्होंने एकान्त स्थान ढूँढ डाला, पर उन्हें कहीं उनके मन योग्य स्थान नहीं मिला अथवा यों कहिए कि उनके विचारानुसार एकान्त स्थान कोई था ही नहीं। वे जहाँ पहुँचते और मन में विचार करते वहीं उन्हें चन्द्र, सूर्य, तारा, देव, व्यन्तर, पशु, पक्षी और अवधिज्ञानी मुनि आदि जान पड़ते। वे उस समय यह विचार कर, कि ऐसा कोई स्थान ही नहीं जहाँ कोई न देखता हो, वापस घर लौट आए। उन्होंने उन बकरों के कानों को नहीं छेदा। आकर उन्होंने गुरुजी को नमस्कार किया और अपना सब हाल उनसे कह सुनाया। सच है–बुद्धि कर्म के अनुसार ही हुआ करती है। उनकी बुद्धि की इस प्रकार चतुरता देखकर उपाध्याय जी ने अपनी प्रिया से कहा–क्यों देखी सबकी बुद्धि और चतुरता? अब कहा, दोष मेरा या पर्वत के भाग्य का? ॥१३-२२॥

एक दिन की बात है कि वसु से कोई ऐसा अपराध बन गया, जिससे उपाध्याय ने उसे बहुत मारा। उस समय स्वस्तिमती ने बीच में पड़कर वसु को बचा लिया। वसु ने अपनी बचाने वाली गुरु माता से कहा–माता, तुमने मुझे बचाया इससे मैं बड़ा उपकृत हुआ। कहिए तुम्हें क्या चाहिए? वहीं लाकर मैं तुम्हें प्रदान करूँ। स्वस्तिमती ने उत्तर में राजकुमार से कहा–पुत्र, इस समय तो मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है, पर जब होगी तब मागूँगी। तू मेरे इस वर को अभी अपने ही पास रख ॥२३-२४॥

एक दिन क्षीरकदम्ब के मन में प्रकृति की शोभा देखने के लिए उत्कंठा हुई वह अपने साथ तीनों शिष्यों को भी इसलिए लिवा ले गया कि उन्हें वहीं पाठ भी पढ़ा दूँगा। वह एक सुन्दर बगीचे में पहुँचा। वहाँ कोई अच्छा पवित्र स्थान देखकर वह अपने शिष्यों को बृहदारण्य का पाठ पढ़ाने लगा। वहीं पर

तत्र ते स्वच्छभूभागे चत्वारो निजलीलया। बृहदारण्यकं शास्त्रं पठन्ति स्म प्रयुक्तितः ॥२६॥
तत्रैकस्मिन्प्रदेशे तु महान्तौ चारणौ मुनी। स्वस्वाध्यायं गृहीतुं च संस्थितौ भुवनोत्तमौ ॥२७॥
तान्दृष्ट्वा लघुना प्रोक्तं मुनिना विनयेन भो। पश्य स्वामिन्कथं चैते संपठन्ति शुचि क्षितौ ॥२८॥
तच्छ्रुत्वा स गुरु प्राह मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः। एतेषु द्वौ प्रवर्त्तेते स्वपुण्यादूर्ध्वगामिनौ ॥२९॥
द्वौ नरौ निजपापेन निन्द्यौ नरकगामिनौ। स्यात्स्वकर्मवशाज्जन्तुः सुखदुःखैकभाजनम् ॥३०॥
मुनेर्वाक्यं समाकर्ण्य सुधीः क्षीरकदम्बवाक्। छात्रान्गृहं विसृज्याशु स्वयं नत्वा मुनीश्वरम् ॥३१॥
पृष्टवान्भो मुने ब्रूहि जैनतत्त्वविदांवर। कौ भाविसुखिनौ देव कौ द्वौ संभाविनारकौ ॥३२॥
ततोऽसौ मदनद्वेषी संजगाद महामुनिः। सुधीर्विप्रकुलाधीश त्वं जिनेन्द्रप्रभक्तिमान् ॥३३॥
नारदश्चोर्ध्वगामी स्यात्स्वपुण्योत्करसम्बलः। द्वौ छात्रौ ते ध्रुवं भावि-नारकौ वसुपर्वतौ ॥३४॥
तत्समाकर्ण्य विप्रोसौ नत्वा मुनिपदद्वयम्। पुत्रखेदात्सखेदस्तु चिन्तयन्निजचेतसि ॥३५॥
काले कल्पशते चापि नान्यथा मुनिभाषितम्। ततः स्वगृहमायातः सर्वशास्त्रविचक्षणः ॥३६॥
एकदा स महाराजः सुधीर्विश्वावसुस्तराम्। वसुं राज्ये समारोप्य सम्प्राप्तः सुतपोवनम् ॥३७॥
तदा राज्यं प्रकुर्वाणो वसुश्चैकदिने मुदा। क्रीडां कर्त्तुं वनं गत्वा तत्राकाशाच्च पक्षिणः ॥३८॥
प्रस्खल्य पतितान्वीक्ष्य विस्मयाक्रान्तमानसः। अत्रास्ति कारणं किञ्चि-दिति ज्ञात्वा स्वचेतसि ॥३९॥

दो ऋद्धिधारी महामुनि स्वाध्याय कर रहे थे। उनमें से छोटे मुनि ने क्षीरकदम्ब को पाठ पढ़ाते देखकर बड़े मुनिराज से कहा–प्रभो, देखिए कैसे पवित्र स्थान में उपाध्याय अपने शिष्यों को पढ़ा रहे है। गुरु ने कहा–अच्छा है, पर देखो, इनमें से दो तो पुण्यात्मा है और वे स्वर्ग में जाएँगे और दो पाप के उदय से नरकों के दुःख सहेंगे। सच है– ॥२५-३०॥

कर्मों के उदय से जीवों को सुख या दुःख भोगना ही पड़ता है। मुनि के वचन क्षीरकदम्ब ने सुन लिए। वह अपने विद्यार्थियों को घर भेजकर मुनिराज के पास गया। उन्हें नमस्कार कर उसने पूछा–हे भगवन्! हे जैन सिद्धान्त के उत्तम विद्वान्! कृपाकर मुझे कहिए कि हममें से कौन दो स्वर्ग जाकर सुखी होंगे और कौन दो नरक जाएँगे? काम के शत्रु मुनिराज ने क्षीरकदम्ब से कहा–भव्य, स्वर्ग जाने वालों में एक तो तू जिनभक्त और दूसरा धर्मात्मा नारद है और वसु तथा पर्वत पाप के उदय से नरक जाएँगे। क्षीरकदम्ब मुनिराज को नमस्कार कर अपने घर आया। उसे इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि उसका पुत्र नरक में जायेगा क्योंकि मुनियों का कहा अनन्तकाल में भी झूठा नहीं होता ॥३१-३६॥

एक दिन कोई ऐसा कारण देख पड़ा, जिससे वसु के पिता विश्वावसु अपना राज-काज वसु को सौंपकर आप साधु हो गए। राज्य अब वसु करने लगा। एक दिन वसु वन-विहार के लिए उपवन में गया हुआ था। वहाँ उसने आकाश से लुढ़क कर गिरते हुए एक पक्षी को देखा। देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उसने सोचा पक्षी के लुढ़कते हुए गिरने का कोई कारण यहाँ अवश्य होना चाहिए। उसकी शोध लगाने को जिधर से पक्षी गिरा था उधर ही लक्ष्य बाँधकर उसने बाण छोड़ा। उसका लक्ष्य व्यर्थ न गया। यद्यपि उसे यह नहीं जान पड़ा कि क्या गिरा, पर इतना उसे विश्वास हो गया कि उसके बाण के साथ

मुक्त्वा बाणं परीक्षार्थं तत्प्रदेशं प्रति ध्रुवम्। तथा तं स्खलितं दृष्ट्वा गत्वा तत्र स्वयं पुनः ॥४०॥
मत्वा प्रभुः करस्पर्शा-दाकाशस्फटिकोद्भवम्। महास्तंभं तमानीय स्वगेहं गूढवृत्तितः ॥४१॥
तेन स्तंभेन निर्माप्य महापादचतुष्टयम्। सिंहासनं समारुह्य स्वयं लोके स धूर्तकः ॥४२॥
सत्यवाक्यप्रभावेन वसोः सिंहासनं महत्। आकाशे संस्थितं चेति कृत्वा स्फीतिं प्रपञ्चतः ॥४३॥
सेव्यमानो जनैर्नित्यं संस्थितः कपटाश्रितः। जन्तुर्मायारतो मूढः किंः करोति् न वञ्चनम् ॥४४॥
अथ क्षीरकदम्बोसौ सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक्। विरक्तः संसृतेर्भूत्वा मुनिर्जातो गुणोज्ज्वलः ॥४५॥
तपः कृत्वा जिनन्द्रोक्तं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। प्रान्ते विधाय संन्यासं स्वर्गलोकं सुधीर्ययौ ॥४६॥
पर्वतस्तु पितुः स्थाने स्थित्वा छात्रान्स्वबुद्धितः। शास्त्रं पाठयतिस्मोच्चैः स्ववृत्तिस्थितिहेतवे ॥४७॥
नारदोपि सुधीः श्रीम-ज्जिनपादाब्जषट्पदः। तदा देशान्तरं प्राप्तो लीलया शुद्धमानसः ॥४८॥
ततो भूरि दिनैः सोपि नारदः सर्वशास्त्रवित्। पर्वतस्य समीपं तु समायातो विनोदतः ॥४९॥
तत्प्रस्तावे दुरात्मासौ पर्वतः पापमण्डितः। अजैर्यष्टव्यमित्येतद्वाक्ये शाखे समागते ॥५०॥

ही कोई भारी वस्तु गिरी जरूर है। जिधर से किसी वस्तु के गिरने की आवाज उसे सुनाई पड़ी थी वह उधर ही गया पर तब भी उसे कुछ नहीं देख पड़ा। यह देख उसने उस भाग को हाथों से टटोलना शुरू किया। हस्तस्पर्श से उसे बहुत निर्मल खम्भा, जो कि स्फटिकमणि का बना था, जान पड़ा। वसुराजा उसे गुप्तरीति से अपने महल पर ले आया। वसु ने उस खम्भे के चार पाए बनवाएँ और उन्हें अपने न्याय-सिंहासन में लगवा दिये। उन पायों के लगने से सिंहासन ऐसा जान पड़ने लगा मानों वह आकाश में ठहरा हुआ हो। वसु अब उसी पर बैठकर राज्यशासन करने लगा। उसने सब जगह यह प्रकट कर दिया कि ''राजा वसु बड़ा ही सत्यवादी है, उसकी सत्यता के प्रभाव से उसका न्याय-सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ है।'' इस प्रकार कपट की आड़ में वह सर्वसाधारण के बहुत ही आदर का पात्र हो गया। सच है– ॥३७-४४॥

मायावी पुरुष संसार में क्या ठगाई नहीं करते! इधर सम्यग्दृष्टि, जिनभक्त क्षीरकदम्ब संसार से विरक्त होकर तपस्वी हो गया और अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या कर अन्त में समाधिमरण द्वारा उसने स्वर्ग लाभ लिया। पिता का उपाध्याय पद अब पर्वत को मिला। पर्वत की जितनी बुद्धि थी, जितना ज्ञान था, उसके अनुकूल वह पिता के विद्यार्थियों को पढ़ाने लगा। उसी वृत्ति के द्वारा उसका निर्वाह होता था। क्षीरकदम्ब के साधु हुए बाद ही नारद भी वहाँ से कहीं अन्यत्र चल दिया। वर्षों तक नारद विदेशों में घूमा, घूमते फिरते वह फिर भी एक बार स्वस्तिपुरी की ओर आ निकला। वह अपने सहाध्यायी और गुरुपुत्र पर्वत से मिलने को गया। पर्वत उस समय अपने शिष्यों को पढ़ा रहा था। साधारण कुशल प्रश्न के बाद नारद वहीं बैठ गया और पर्वत का अध्यापन कार्य देखने लगा। प्रकरण कर्मकाण्ड का था। वहाँ एक श्रुति थी–''अजैर्यष्टव्यमिति।'' दुराग्रही पापी पर्वत ने उसका अर्थ किया कि ''अजैश्छागैः प्रयष्टव्यमिति'' अर्थात् बकरों की बलि देकर होम करना चाहिए। उसमें बाधा देकर नारद ने कहा–नहीं, इस श्रुति का यह अर्थ नहीं है। गुरुजी ने तो हमें इसका अर्थ बतलाया था कि

अजैश्छागैः प्रयष्टव्यं व्याख्यानं कृतवानिति। तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्त-मजैर्धान्यैस्त्रिवार्षिकैः ॥५१॥
उपाध्यायेन सम्प्रोक्तं तदस्माकमिति स्फुटम्। त्वया किं लपितं मूढ महापापविधायकम् ॥५२॥
पापात्मा पर्वतः प्राह यष्टव्यं छागकैर्ध्रुवम्। अहो जानन्नपि प्राणी वक्त्येवं भाविदुर्गतिः ॥५३॥
तौ विवादे तदा कृत्वा जिह्वाच्छेदस्थितिं ध्रुवम्। वचः प्रमाणीकृत्योच्चैः संस्थितौ वसुभूपतेः ॥५४॥
तदा स्वस्तिमती प्राह पर्वतं रे दुराशयम्। विरूपकं त्वया चक्रे व्याख्यानं पापकारणम् ॥५५॥
पिता ते जैनधर्मज्ञो नित्यं पूतैस्त्रिवार्षिकैः। धान्यैरेव करोति स्म यज्ञं पुण्याशयः सुधीः ॥५६॥
इत्यादिकं क्रुधा प्रोक्त्वा पुनः पुत्रस्य मोहतः। ब्राह्मणी सा द्रुतं गत्वा वसोः पार्श्वं जगाद च ॥५७॥
देहि मे तं वरं देव प्रस्तावश्चाद्य विद्यते। त्वया प्रमाणीकर्त्तव्यं पर्वतस्य वचः स्फुटम् ॥५८॥

''अजैस्त्रिवार्षिकैर्धान्यैः प्रयष्टव्यम्' अर्थात्–तीन वर्ष के पुराने धान से, जिसमें उत्पन्न होने की शक्ति न हो, होम करना चाहिए। तू यह क्या अनर्थ करता है जो उलटा ही अर्थ कर दिया? उस पर पापी पर्वत ने दुराग्रह के वश हो यही कहा कि नहीं तुम्हारा कहना सर्वथा मिथ्या है। असल में 'अज' शब्द का अर्थ बकरा होता है और उसी से होम करना चाहिए। ठीक कहा है–जिसे दुर्गति में जाना होता है, वही पुरुष जानकर भी ऐसा झूठ बोलता है ॥४५–५३॥

तब दोनों में सच्चा कौन है, इसके निर्णय के लिए उन्होंने राजा वसु को मध्यस्थ चुना। उन्होंने परस्पर में प्रतिज्ञा की कि जिसका कहना झूठ हो उसकी जबान काट दी जाए। पर्वत की माँ को जब इस विवाद का और परस्पर की प्रतिज्ञा का हाल मालूम हुआ तब उसने पर्वत को बुलाकर बहुत डाँटा और गुस्से में आकर कहा–पापी, तूने यह क्या अनर्थ किया? क्यों उस श्रुति का उलटा अर्थ किया? तुझे नहीं मालूम कि तेरा पिता जैनधर्म का पूर्ण श्रद्धानी था और वह 'अजैर्यष्टव्यम्' इसका अर्थ तीन वर्ष के पुराने धान से होम करने को कहता था और स्वयं भी वह पुराने धान ही से सदा होमादिक किया करता था। स्वस्तिमती ने उसे और भी बहुत फटकारा, पर उसका फल कुछ नहीं निकला। पर्वत अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ बना रहा। पुत्र का इस प्रकार दुराग्रह देखकर वह अधीर हो उठी। एक ओर पुत्र के अन्याय पक्ष का समर्थन होकर सत्य की हत्या होती है और दूसरी ओर पुत्र–प्रेम उसे अपने कर्तव्य से विचलित करता है। अब वह क्या करे? पुत्र–प्रेम में फँसकर सत्य की हत्या करे या उसकी रक्षा कर अपना कर्तव्य पालन करे? वे बड़े संकट में पड़ी। आखिर दोनों शक्तियों का युद्ध होकर पुत्र–प्रेम ने विजय प्राप्त कर उसे अपने कर्तव्य पथ से गिरा दिया, सत्य की हत्या करने को उसे सन्नद्ध किया। वह उसी समय वसु के पास पहुँची और उससे बोली–पुत्र, तुम्हें याद होगा कि मेरा एक वर तुमसे पाना बाकी है। आज उसकी मुझे जरूरत पड़ी है। इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह कर मुझे कृतार्थ करो। बात यह है पर्वत और नारद का किसी विषय पर झगड़ा हो गया है। उसके निर्णय के लिए उन्होंने तुम्हें मध्यस्थ चुना है। इसलिए मैं तुम्हें कहने को आई हूँ कि तुम पर्वत के पक्ष का समर्थन करना। सच है– ॥५४–५८॥

स्वयं पापीजनश्चैवं सपापान्कुरुते परान्। विषोपेतो यथा सर्पः करोति सविषाञ्जनान् ॥५९॥
प्रभाते च तयोर्वादे पापात्मा वसुभूपतिः। उपाध्यायोदितं वाक्यं जानन्नपि हृदि स्फुटम् ॥६०॥
पर्वतस्य वचः सत्यं सम्प्रोक्त्वेति क्षितौ तदा। कष्टादाकण्ठपर्यन्तं प्रविष्टो विष्टरान्वितः ॥६१॥
नारदः प्राह भो भूप यथार्थं गुरुभाषितम्। अद्यापि च द्रुतं ब्रूहि मा गास्त्वं दुर्गतिं वृथा ॥६२॥
इत्युच्चैर्भणितः सोपि वसुभूपः स्वपापतः। पर्वतोक्तं भवेत्सत्यं प्रोक्त्वा भूमिं तरां श्रितः ॥६३॥
ततो मृत्वातिकष्टेन सप्तमं नरकं गतः। पापिनां दुष्टचित्ताना-मीदृशी कुमतिर्भवेत् ॥६४॥
तस्मात्प्राणक्षये चापि कष्टकोटिविधायकम्। असत्यवचनं सद्भिर्न वाच्यं शुभमिच्छुभिः ॥६५॥

जो स्वयं पापी होते हैं वे दूसरों को भी पापी बना डालते हैं। जैसे सर्प जहरीला होता है और जिसे काटता है उसे भी विषयुक्त कर देता है। पापियों का यह स्वभाव ही होता है ॥५९॥

राजसभा लगी हुई थी। बड़े-बड़े कर्मचारी यथास्थान बैठे हुए थे। राजा वसु भी एक बहुत सुन्दर रत्न-जड़े सिंहासन पर बैठा हुआ था। इतने में पर्वत और नारद अपना न्याय कराने के लिए राजसभा में आए। दोनों ने अपना-अपना कथन सुनाकर अन्त में किसका कहना सत्य है और गुरुजी ने अपने को ''अजैर्यष्टव्यम्'' इसका क्या अर्थ समझाया था, इसका खुलासा करने का भार वसु पर छोड़ दिया। वसु उक्त वाक्य का ठीक अर्थ जानता था और यदि वह चाहता तो सत्य की रक्षा कर सकता था, पर उसे अपनी गुराणी जी के माँगे हुए वर ने सत्यमार्ग से ढकेल कर आग्रही और पक्षपाती बना दिया। मिथ्या आग्रह के वश हो उसने अपनी मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा की कुछ परवाह न कर नारद के विरुद्ध फैसला दिया। उसने कहा कि जो पर्वत कहता है वही सत्य है और गुरुजी ने हमें ऐसा ही समझाया था कि ''अजैर्यष्टव्यम्'' इसका अर्थ बकरों को मारकर उनसे होम करना चाहिए। प्रकृति को उसका यह महा अन्याय सहन नहीं हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि राजा वसु जिस स्फटिक के सिंहासन पर बैठकर प्रतिदिन राजकार्य करता था और लोगों को यह कहा करता था कि मेरे सत्य के प्रभाव से मेरा सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ है, वही सिंहासन वसु की असत्यता से टूट पड़ा और पृथ्वी में घुस गया। उसके साथ ही वसु भी पृथ्वी में जा धँसा। यह देख नारद ने उसे समझाया-महाराज, अब भी सत्य-सत्य कह दीजिए, गुरुजी ने जैसा अर्थ कहा था वह प्रकट कर दीजिए। अभी कुछ नहीं गया। सत्यव्रत आपकी इस संकट से अवश्य रक्षा करेगा। कुगति में व्यर्थ अपने आत्मा को न ले जाइए। अपनी इस दुर्दशा पर भी वसु को दया नहीं आयी। वह और जोश में आकर बोला-नहीं, जो पर्वत कहता है वही सत्य है। उसका इतना कहना था कि उसके पाप के उदय ने उसे पृथ्वीतल में पहुँचा दिया। वसु काल के सुपुर्द हुआ। मरकर वह सातवें नरक में गया। सच है जिसका हृदय दुष्ट और पापी होता है उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और अन्त में उन्हें कुगति में जाना पड़ता है। इसलिए जो अच्छे पुरुष हैं और पाप से बचना चाहते हैं उन्हें प्राणों पर कष्ट आने पर भी कभी झूठ न बोलना

तदा तं पर्वतं दुष्टं बहिः कृत्वा खरादिभिः। नारदः पूजितः सर्वैः सज्जनैर्भक्तिभारतः ॥६६॥
नारदोपि सुधीस्तत्र जैनधर्मधुरन्धरः। सर्वशास्त्रप्रवीणोऽसौ सारधर्मोपदेशतः ॥६७॥
राज्यं गिरितटाख्याया नगर्याः प्राप्य पुण्यतः। दीर्घकालं सुखं भुक्त्वा दानपूजाव्रतान्वितः ॥६८॥
प्रान्ते वैराग्यभावेन जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम्। समादाय मुनिर्भूत्वा भव्यान्सम्बोध्य शुद्धधीः ॥६९॥
स्वयं रत्नत्रयं पूतं समाराध्य विचक्षणः। कृत्वा सारतपः स्वामी जिनपादाब्जभक्तिमान् ॥७०॥
प्राप्तः सर्वार्थसिद्धिं हि प्रोल्लसच्छर्मदायिनीम्। जैनधर्मप्रसादेन किं न स्याद्भव्यदेहिनाम् ॥७१॥
जित्वा सर्वकुवादिनो दृढतरः श्रीनारदो निर्मदः श्रीमत्सारजिनेन्द्रशासनमहासिन्धोर्लसच्चन्द्रमाः।
धृत्वा सारतपः प्रसिद्धमहिमा सर्वार्थसिद्धिं श्रितः स श्रीमान्द्विजवंशमण्डनमणिः कुर्यात्सतां मंगलम् ॥७२॥

इति कथाकोशेऽनृतदोषाख्याने वसुराज्ञः कथा समाप्ता।

२७. श्रीभूतेःकथा।

श्रीजिनं शर्मदं नत्वा सुरासुरसमर्चितम्। स्तेयदोषोद्भवं वृत्तं वक्ष्ये श्रीभूतिसंश्रितम् ॥१॥
सुधीः सिंहपुरे राजा सिंहसेनोतिधार्मिकः। रामदत्ता महाराज्ञी सर्वकार्यविचक्षणा ॥२॥

चाहिए। पर्वत की यह दुष्टता देखकर प्रजा के लोगों ने उसे गधे पर बैठा कर शहर से निकाल बाहर किया और नारद का बहुत आदर-सत्कार किया। नारद अब वहीं रहने लगा। वह बड़ा बुद्धिमान् और धर्मात्मा था। सब शास्त्रों में उसकी गति थी। वह वहाँ रहकर लोगों को धर्म का उपदेश दिया करता, भगवान् की पूजा करता, पात्रों को दान देता। उसकी यह धर्मपरायणता देखकर वसु के बाद राज्य-सिंहासन पर बैठने वाला राजा उस पर बहुत खुश हुआ। उस खुशी में उसने नारद को गिरितट नामक नगरी का राज्य भेंट में दे दिया। नारद ने बहुत समय तक उस राज्य का सुख भोगा। अन्त में संसार से उदासीन होकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि होकर उसने अनेक जीवों को कल्याण के मार्ग में लगाया और तपस्या द्वारा पवित्र रत्नत्रय की आराधना कर आयु के अन्त में वह सर्वार्थसिद्धि गया, जो कि सर्वोत्तम सुख का स्थान है। सच है, जैनधर्म की कृपा से भव्य पुरुषों को क्या प्राप्त नहीं होता ॥६०-७१॥

निरभिमानी नारद अपने धर्म पर बड़ा दृढ़ था। उसने समय-समय पर और धर्म वालों के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर जैनधर्म की खूब प्रभावना की। यह जिनशासन रूप महान् समुद्र के बढ़ाने वाला चन्द्रमा था। ब्राह्मणवंश का एक चमकता हुआ रत्न था। अपनी सत्यता के प्रभाव से उसने बहुत सिद्धि प्राप्त कर ली थी। अन्त में वह तपस्या कर सर्वार्थसिद्धि गया। वह महात्मा नारद सबका कल्याण करे ॥७२॥

२७. श्रीभूति-पुरोहित की कथा

जिन्हें स्वर्ग के देवता बड़ी भक्ति के साथ पूजते हैं, उन सुख के देने वाले जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं श्रीभूत-पुरोहित का उपाख्यान कहता हूँ, जो चोरी करके दुर्गति में गया है। सिंहपुर नाम

अभूत्पुरोहितस्तस्य श्रीभूतः सोपि विप्रकः। सत्यवक्ताहमित्युच्चैः स्वस्फीतिं मायया व्यधात् ॥३॥
पद्मखंडपुरे चाथ सुमित्राख्यो वणिग्वरः। पुत्रः समुद्रदत्तोस्य सुमित्राकुक्षिसंभवः ॥४॥
वाणिज्येनैकदासौ च सुधीः सिंहपुरं गतः। तत्र श्रीभूतिविप्रस्य पार्श्वे सद्रत्नपञ्चकम् ॥५॥
धृत्वा समुद्रदत्तोगा-द्रत्नद्वीपं धनार्जनम्। कृत्वा यावत्समायाति समुद्रे पापकर्मतः ॥६॥
याने संस्फुटिते मृत्युं सम्प्राप्ता बहवो जनाः। अहो पुण्यं विना लोके कार्यैसिद्धिर्न देहिनाम् ॥७॥
कष्टात्समुद्रदत्तोसौ प्राप्य सिंहपुरं परम्। पार्श्वे श्रीभूतिविप्रस्य रत्नार्थी निर्धनो गतः ॥८॥
आगच्छन्तं तमालोक्य दूरतो दुष्टमानसः। लोकानामग्रतो पापी श्रीभूतिर्लोभसंचयः ॥९॥
शृण्वन्त्वंहो अयं कोपि श्रूयते भग्नयानकः। धनक्षयात्समायाति भूत्वा च ग्रहिलस्तराम् ॥१०॥

का सुन्दर नगर था। उसका राजा सिंहसेन था। सिंहसेन की रानी का नाम रामदत्ता था। राजा बुद्धिमान् और धर्मपरायण था। रानी भी बड़ी चतुर थी। सब कामों को वह उत्तमता के साथ करती थी। राजपुरोहित श्रीभूति था। उसने मायाचारी से अपने सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध कर रक्खी थी कि मैं बड़ा सत्य बोलने वाला हूँ। बेचारे भोले लोग उस कपटी के विश्वास में आकर अनेक बार ठगे जाते थे। पर उसके कपट का पता किसी को नहीं पड़ पाता था। ऐसे ही एक दिन एक विदेशी उसके चंगुल में फँसा। इसका नाम समुद्रदत्त था। यह पद्मखण्डपुर का रहने वाला था। इसके पिता सुमित्र और माता सुमित्रा थी। समुद्रदत्त की इच्छा एक दिन व्यापारार्थ विदेश जाने की हुई। इसके पास पाँच बहुत कीमती रत्न थे। पद्मखण्डपुर में कोई ऐसा विश्वस्त पुरुष इसके ध्यान में नहीं आया, जिसके पास यह अपने रत्नों को रखकर निश्चिंत हो सकता था। इसने श्रीभूति की प्रसिद्धि सुन रखी थी। इसलिए उसके पास रत्न रखने का विचार कर यह सिंहपुर आया। यहाँ श्रीभूति से मिलकर इसने अपना विचार उसे कह सुनाया। श्रीभूति ने इसके रत्नों का रखना स्वीकार कर लिया। समुद्रदत्त को इससे बड़ी खुशी हुई और साथ ही वह उन रत्नों को श्रीभूति को सौंपकर आप रत्नद्वीप के लिए रवाना हो गया। वहाँ कई दिनों तक ठहरकर इसने बहुत घन कमाया। जब वह वापस लौटकर जहाज द्वारा अपने देश की ओर आ रहा था तब पापकर्म के उदय से इसका जहाज टकराकर फट गया। बहुत से आदमी डूब मरे। बहुत ठीक लिखा है कि **बिना पुण्य के कभी कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।** समुद्रदत्त इस समय भाग्य से मरते-मरते बच गया। इसके हाथ जहाज का एक छोटा-सा टुकड़ा लग गया। यह उस पर बैठकर बड़ी कठिनता के साथ किसी तरह किनारे आ गया। यहाँ से यह सीधा श्रीभूति पुरोहित के पास पहुँचा। श्रीभूति इसे दूर से देखकर ही पहचान गया। वह धूर्त तो था ही, सो उसने अपने आसपास बैठे हुए लोगों से कहा-देखिये, वह कोई दरिद्र भिखमंगा आ रहा है अब यहाँ आकर व्यर्थ सिर खाने लगेगा। जिसके पास थोड़ा बहुत पैसा होता है या जिनकी मान मर्यादा लोगों में अधिक होती है तो उन्हें इन भिखारियों के मारे चैन नहीं। एक न एक हर समय सिर पर खड़ा ही रहता है। हम लोगों ने जो सुना था कि कल एक जहाज फटकर डूब गया है, मालूम

मन्येहं मां वृथा नत्वा महादुःखेन पीडितः। संयाचिष्यति रत्नानी-त्युक्त्वासौ ब्राह्मणः स्थितः ॥११॥
तदा समुद्रदत्तोसौ तं प्रणम्य जगाद च। देहि मे पञ्च रत्नानि श्रीभूते ब्राह्मणोत्तम ॥१२॥
इत्याकर्ण्य तदा तेन किं भो लोका मयोदितम्। सत्यं जातमिति प्रोक्त्वा ग्रहिलोयं बहिः कृतः ॥१३॥
ये पापिनो भवन्त्यत्र परेषां धनलम्पटाः। ते दुष्टा निन्दितं कर्म किं न कुर्वन्ति लोभतः ॥१४॥
ततो वणिग्वरः सोपि वञ्चितस्तेन पापिना। न दत्ते पञ्च रत्नानि श्रीभूतिर्मे द्विजः कुधीः ॥१५॥

होता है। यह उसी पर का कोई यात्री है और इसका सब धन नष्ट हो जाने से यह पागल हो गया जान पड़ता है। इसकी दुर्दशा से ज्ञान होता है कि यह इस समय बड़ा दुःखी है और इसी से संभव है कि यह मुझसे कोई बड़ी भारी याचना करे। श्रीभूति तो इस तरह लोगों को कह ही रहा था कि समुद्रदत्त उसके सामने जा खड़ा हुआ। श्रीभूति को नमस्कार कर अपनी हालत सुनाना आरम्भ करता है कि इतने में श्रीभूति बोल उठा कि मुझे इतना समय नहीं कि मैं तुम्हारी सारी दुःख कथा सुनूँ। हाँ तुम्हारी इस हालत से जान पड़ता है कि तुम पर कोई बड़ी भारी आफत आई है। अस्तु, मुझे तुम्हारे दुःख में संवेदना है। अच्छा जाइए, मैं नौकरों से कहे देता हूँ कि वे तुम्हें कुछ दिनों के लिए खाने का सामान दिलवा दें। यह कहकर ही उसने नौकरों की ओर मुँह फेरा और आठ दिन तक का खाने का सामान समुद्रदत्त को दिलवा देने के लिए उनसे कह दिया। बेचारा समुद्रदत्त तो श्रीभूति की बातें सुनकर हत-बुद्धि हो गया। उसे काटो तो खून नहीं। उसने घबराते-घबराते कहा-महाराज, आप यह क्या करते है? मेरे जो आपके पास पाँच रत्न रक्खे हैं, मुझे तो वे ही दीजिए। मैं आपका समान-वामान नहीं लेता ॥१-१२॥

श्रीभूति ने रत्न का नाम सुनते ही अपने चेहरे पर का भाव बदला और त्यौरी चढ़ाकर जोर के साथ कहा-रत्न! अरे दरिद्र! तेरे रत्न और मेरे पास? यह तू क्या बक रहा है? कह तो सही वास्तव में तेरी मंशा क्या है? क्या मुझे तू बदनाम करना चाहता है? तू कौन, और कहाँ का रहने वाला है? मैं तुझे जानता तक नहीं, फिर तेरे रत्न मेरे पास आए कहाँ से? जा-जा, पागल तो नहीं हो गया है? ठीक ध्यान से विचार कर। किसी और के यहाँ रखकर उसके भ्रम से मेरे पास आ गया जान पड़ता है। इसके बाद ही उसने लोगों की ओर नजर फेरकर कहा-देखिये साहब, मैंने कहा था न? कि यह मेरे से कोई बड़ी भारी याचना करेगा। ठीक वही हुआ। बतलाइए, इस दरिद्र के पास रत्न कहाँ से आ सकते हैं? धन नष्ट हो जाने से जान पड़ता है यह बहक गया है। यह कहकर श्रीभूति ने नौकरों द्वारा समुद्रदत्त को घर से बाहर निकलवा दिया। नीतिकार ने ठीक लिखा है-जो लोग पापी होते है और जिन्हें दूसरों के धन की चाह होती है, वे दुष्ट पुरुष ऐसा कौन बुरा काम है जिसे लोभ के वश हो न करते हों? श्रीभूति ऐसे ही पापियों में से एक था, तब वह कैसे ऐसे निंद्य कर्म से बचा रह सकता था? पापी श्रीभूति से ठगा जाकर बेचारा समुद्रदत्त सचमुच पागल हो गया? वह श्रीभूति के मकान से निकलते ही यह चिल्लाता हुआ कि पापी श्रीभूति मेरे रत्न नहीं देता है, सारे शहर में घूमने लगा। पर उसे एक

सर्वत्र नगरीमध्ये कृत्वेत्याक्रोशकं सदा। तथा पश्चिमरात्रौ च राजमन्दिरसन्निधौ ॥१६॥
पूत्कारं संकरोत्येवं षण्मासेषु गतेषु च। रामदत्ता तदा राज्ञी सिंहसेनं नृपं जगौ ॥१७॥
नायं देव ग्रहग्रस्तो नित्यमेवैकवाक्यतः। इत्युक्त्वा च ततो द्यूते तया राज्ञ्या स्वबुद्धितः ॥१८॥
पृष्टः पुरोहितश्चेति ब्रूहि भो द्विजसत्तम। अद्यः किं भोजनं भुक्तं भवद्भिः सोशनं जगौ ॥१९॥
साभिज्ञानेन तेनोच्चैः श्रीभूतस्त्रीसमीपके। धात्री निपुणमत्याख्या प्रेषिता रत्नहेतवे ॥२०॥

भिखारी के वेश में देखकर किसी ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। उल्टा उसे ही सब पागल बताने लगे। समुद्रदत्त दिन भर तो इस तरह चिल्लाता हुआ सारे शहर में घूमता-फिरता और जब रात होती तब राजमहल के पीछे एक वृक्ष पर चढ़ जाता और सारी रात उसी तरह चिल्लाया करता। ऐसा करते-करते उसे ठीक छह महीना बीत गये। समुद्रदत्त का इस तरह रोज-रोज चिल्लाना सुनकर एक दिन महारानी रामदत्ता ने सोचा कि बात वास्तव में क्या है, इसका जरूर पता लगाना चाहिए। तब एक दिन उसने अपने स्वामी से कहा-प्राणनाथ, मैं रोज एक गरीब की पुकार सुनती हूँ। मैं तो यह समझती रही कि वह पागल हो गया है और इसी से दिन-रात चिल्लाया करता है, कि श्रीभूति मेरे रत्न नहीं देता। पर प्रतिदिन उसके मुँह से एक ही वाक्य सुनकर मेरे मन में कुछ खटका पैदा होता है। इसलिए आप उसे बुलाकर पूछिये तो कि वास्तव में रहस्य क्या है? रानी के कहे अनुसार राजा ने समुद्रदत्त को बुलाकर सब बातें पूछी। समुद्रदत्त ने जो यथार्थ घटना थी, वह राजा से कह सुनाई सुनकर राजा ने रानी से कहा कि इसके चेहरे पर से तो इसकी बात ठीक जँचती है। पर इसका भेद खुलने के लिए क्या उपाय है? रानी ने थोड़ी देर तक विचार कर कहा-हाँ, इसकी आप चिन्ता न करें। मैं सब बातें जान लूँगी ॥१३-१८॥

दूसरे दिन रानी ने पुरोहित जी को अपने अन्तःपुर में बुलाया। आदर-सत्कार होने के बाद रानी ने उनसे कहा-मेरी इच्छा बहुत दिनों से आपसे मिलने की थी, पर कोई ठीक समय ही नहीं मिल पाता था। आज बड़ी खुशी हुई कि आपने यहाँ आने की कृपा की। इसके बाद रानी ने पुरोहित से कुछ इधर-उधर की बातें करके उनसे भोजन का हाल पूछा। उनके भोजन का सब हाल जानकर उसने अपनी एक विश्वस्त दासी को बुलाया और उसे कुछ बातें समझा-बुझाकर जाने को कह दिया। दासी के जाने के बाद रानी ने पुरोहित जी से एक नई ही बात का जिकर उठाया। वह बोली-पुरोहित जी, सुनती हूँ कि आप पासे खेलने में बड़े चतुर और बुद्धिमान् है। मेरी बहुत दिनों से इच्छा होती थी कि आपके साथ खेलकर मैं भी एक बार देखूँ कि आप किस चतुराई से खेलते हैं। यह कहकर रानी ने एक दासी को बुलाकर चौपड़ ले आने की आज्ञा की ॥१९॥

पुरोहितजी रानी की बात सुनकर दंग रह गए। वे घबराकर बोले-हैं! हैं! महारानीजी, यह आप क्या करती हैं? मैं एक भिक्षुक ब्राह्मण और आपके साथ मेरी यह धृष्टता। यदि महाराज सुन पावें तो

नैव दत्तानि रत्नानि तया श्रीभूतभार्यया। रामदत्ता ततो राज्ञी द्यूते जित्वा प्रपञ्चतः ॥२१॥
पुनः संप्रेषयामास तन्नामाङ्कितमुद्रिकाम्। ब्राह्मणी सा तदा नैव ददौ रत्नानि लोभतः ॥२२॥
पुनर्यज्ञोपवीतेन धात्र्या संयाचिता सती। सा तस्यै तानि रत्नानि संददाति स्म भीतितः ॥२३॥
ततो राज्ञ्या स्वनाथस्य दर्शितानि तया मुदा। तेन श्रीसिंहसेनेन रत्नान्यादाय धीमता ॥२४॥

वे मेरी क्या गति बनायेंगे?

रानी ने कहा—पुरोहित जी, आप इतने घबराइए मत। मेरे साथ खेलने में आपको किसी प्रकार के गहरे विचार में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। महाराज इस विषय में आपसे कुछ नहीं कहेंगे। आप डरिए मत।

बेचारे पुरोहितजी बड़े पशोपेश में पड़े। रानी की आज्ञा भी वे नहीं टाल सकते और इधर महाराज का उन्हें भय। वे तो इस उधेड़-बुन में लगे हुए थे कि दासी ने चौपड़ लाकर रानी के सामने रख दी। आखिर उन्हें खेलना ही पड़ा। रानी ने पहली ही बाजी में पुरोहित जी की अँगूठी, जिस पर कि उसका नाम खुदा हुआ था, जीत ली। दोनों फिर खेलने लगे। इतने में पहली दासी ने आकर रानी से कुछ कहा। रानी ने अब की बार पुरोहित जी से जीती हुई अँगूठी चुपके से उसे देकर चले जाने को कह दिया। दासी घण्टे भर बाद फिर आई उसे कुछ निराश सी देखकर रानी ने इशारे से अपने कमरे के बाहर ही रहने को कह दिया और आप अपने खेल में लग गई। अब की बार उसने पुरोहित जी का जनेऊ जीत लिया और किसी बहाने से उस दासी को बुलाकर चुपके से जनेऊ देकर भेज दिया। दासी के वापस आने तक रानी और पुरोहित जी को खेल में लगाये रही। इतने में दासी भी आ गई उसे प्रसन्न देखकर, रानी ने अपना मनोरथ पूर्ण हुआ समझा। उसने उसी समय खेल बन्द किया और पुरोहित जी की अँगूठी और जनेऊ उन्हें वापस देकर वह बोली—आप सचमुच खेलने में बड़े चतुर हैं। आपकी चतुरता देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई आज मैंने सिर्फ इस चतुरता को देखने के लिए ही आपको यह कष्ट दिया था। आप इसके लिए मुझे क्षमा करें। अब आप खुशी के साथ जा सकते है।

बेचारे पुरोहित जी रानी के महल से बिदा हुए। उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं पड़ा कि रानी मेरी आँखों में दिन दहाड़े धूल झोंककर मुझे कैसा उल्लू बनाया है।

बात असल में यह थी कि रानी ने पहले पुरोहित जी की जीती हुई अँगूठी देकर दासी को उनकी स्त्री के पास समुद्रदत्त के रत्न लेने को भेजा, पर जब पुरोहित जी की स्त्री ने अँगूठी देखकर भी उसे रत्न नहीं दिये तब यज्ञोपवीत जीता और उसे दासी के हाथ देकर फिर भेजा। अब की बार रानी का मनोरथ सिद्ध हुआ। पुरोहित की स्त्री ने दासी की बातों से डरकर झटपट रत्नों को निकाल दासी के हवाले कर दिया। दासी ने रत्न लाकर रानी को दे दिये। रानी प्रसन्न हुई। पुरोहित जी तो खेलते रहे और उधर उनका भाग्य फट गया, इसकी उन्हें रत्तीभर भी खबर नहीं पड़ी।

क्षिप्त्वा स्वकीयरत्नानां मध्येऽसौ भणितो वणिक्। यानि ते त्वं गृहाणेति तानि भो ग्रहिल ध्रुवम् ॥२५॥
ततो समुद्रदत्तोसौ स्वरत्नान्येव शुद्धधीः। संजग्राह सतां चित्ते परद्रव्यं विषोपमम् ॥२६॥
सिंहसेनो महीनाथस्तदा सन्तुष्टमानसः। तस्मै वणिग्वरायोच्चै-र्दिव्यं श्रेष्ठिपदं ददौ ॥२७॥
ततो भूपेन रुष्टेन पृष्टा धर्माधिकारिणः। ब्रूत भो रत्नचोरस्य किं कार्यं चास्य पापिनः ॥२८॥
तैरुक्तं देव दण्डोस्य महादोषविधायिनः। सर्वस्वहरणं मल्ल-त्रिंशत्सन्मुष्टयोथवा ॥२९॥
कांस्यपात्रत्रयापूर्ण-नवगोमयभक्षणम्। इति त्रिविधदण्डेन दण्डितः पुररक्षकैः ॥३०॥

रानी ने रत्नों को ले जाकर महाराज के सामने रख दिया और साथ ही पुरोहित जी के महल से रवाना होने की खबर दी। महाराज ने उसी समय उनके गिरफ्तार करने की सिपाहियों को आज्ञा दी। बेचारे पुरोहित जी अभी महल के बाहर भी नहीं हुए थे कि सिपाहियों ने जाकर उनके हाथों में हथकड़ी डाल दी और उन्हें दरबार में लाकर उपस्थित कर दिया।

पुरोहित जी देखकर भौचक से रह गए। उनकी समझ में नहीं आया कि यह एकाएक क्या हो गया और कौन सा मैंने ऐसा भारी अपराध किया जिससे मुझे एक शब्द तक न बोलने देकर मेरी यह दशा की गई वे हतबुद्धि हो गए। उन्हें इस बात का और अधिक दुःख हुआ कि मैं एक राजपुरोहित, ऐसा वैसा गैर आदमी नहीं और मेरी यह दशा? और वह बिना किसी अपराध के? क्रोध, लज्जा और आत्मग्लानि से उनकी एक विलक्षण ही दशा हो गई ॥२०-२४॥

रानी ने जैसे ही रत्नों को महाराज के सामने रखा, महाराज ने उसी समय उन्हें अपने और बहुत से रत्नों में मिलाकर समुद्रदत्त को बुलाया और उससे कहा—अच्छा, देखो तो इन रत्नों में तुम्हारे रत्न है क्या? और हो तो उन्हें निकाल लो। महाराज की आज्ञा पाकर समुद्रदत्त ने उन सब रत्नों में से अपने रत्नों को पहचान कर निकाल लिया। सच है, सज्जन पुरुष अपनी ही वस्तु को लेते हैं। दूसरों की वस्तु उन्हें विष समान जान पड़ती हैं। समुद्रदत्त ने अपने रत्न पहचान लिए, यह देख महाराज उस पर इतने प्रसन्न हुए कि उसे उन्होंने अपने राज सेठ बना लिया ॥२५-२७॥

महाराज तुरन्त ही दरबार में आए। जैसे ही उनकी दृष्टि पुरोहित जी पर पड़ी, उन्होंने बड़ी ग्लानि की दृष्टि से उनकी ओर देखकर गुस्से के साथ कहा—पापी, ठग! ॥२८॥

मैं नहीं जानता था कि तू हृदय का इतना काला हो गया और ऊपर से ऐसा ढोंगी का वेष लेकर मेरी गरीब और भोली प्रजा को इस तरह धोखे में फँसायेगा? न मालूम तेरी इस कपटवृत्ति ने मेरे कितने बन्धुओं को घर-घर का भिखारी बनाया होगा? ऐ पाप के पुतले, लोभ के जहरीले सर्प, तुझे देखकर हृदय चाहता तो यह है कि तुझे इसकी कोई ऐसी भयंकर सजा दी जाए, जिससे तुझे भी इसका ठीक प्रायश्चित मिल जाए और सर्व साधारण को दुराचारियों के साथ मेरे कठिन शासन का ज्ञान हो जाए; उससे फिर कोई ऐसा अपराध करने का साहस न करे। परन्तु तू ब्राह्मण है, इसलिए तेरे कुल के लिहाज से तेरी सजा के विचार का भार मैं अपने मंत्री-मण्डल पर छोड़ता हूँ। यह कहकर ही राजा ने अपने

आर्त्तध्यानेन मृत्वासौ श्रीभूतः पापपण्डितः। कष्टतो दुर्गतिं प्राप विप्रको धनलम्पटः ॥३१॥
इति ज्ञात्वा महाभव्यैः स्तेयत्वं कष्टकोटिदम्। त्यक्त्वा श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते धर्मे कार्या मतिः सदा ॥३२॥

धर्माधिकारियों की ओर देखकर कहा–''इस पापी ने एक विदेशी यात्री के, जिसका कि नाम समुद्रदत्त है और वह यहीं बैठा हुआ भी है, कीमती पाँच रत्नों को हड़प कर लिया है, जिनको कि यात्री ने समुद्र यात्रा करने के पहले श्रीभूति को एक विश्वस्त और राजप्रतिष्ठित समझकर धरोहर के रूप में रक्खे थे। दैव की विचित्र गति से यात्रा से लौटते समय यात्री का जहाज एकाएक फट गया और साथ ही उसका सब माल असबाब भी डूब गया। यात्री किसी तरह बच गया। उसने जाकर पुरोहित श्रीभूति से अपनी धरोहर वापस लौटा देने के लिए प्रार्थना की।

पुरोहित के मन में पाप का भूत सवार हुआ। बेचारे गरीब यात्री को उसने धक्के देकर घर से बाहर निकलवा दिया। यात्री अपनी इस हालत से पागल-सा होकर सारे शहर में यह पुकार मचाता हुआ महिनों फिरा कि श्रीभूति ने मेरे रत्न चुरा लिए, पर उस पर किसी का ध्यान न जाकर उल्टा सबने उसे ही पागल कह दिया। उसकी यह दशा देखकर महारानी को बड़ी दया आई। यात्री को बुलाया कर उससे सब बातें दर्याफ्त की गई बाद में महारानी ने उपाय द्वारा वे रत्न अपने हस्तगत कर लिए। वे रत्न समुद्रदत्त के हैं या नहीं इसकी परीक्षा करने के आशय से उन पाँचों रत्नों को मैंने बहुत से और रत्नों में मिला दिया। पर आश्चर्य है कि यात्री ने अपने रत्नों को पहचान कर निकाल लिए। श्रीभूति के जिस्में धरोहर हड़पकर जाने को गुरुत्तर अपराध है। इसके सिवा धोखेबाजी, ठगाई आदि और भी बहुत से अपराध हैं। इसकी इसे क्या सजा दी जाए, इसका आप विचार करें।

धर्माधिकारियों ने आपस में सलाहकर कहा–महाराज, श्रीभूति पुरोहित का अपराध बड़ा भारी है। इसके लिए हम तीन प्रकार की सजायें नियत करते हैं। उनमें से फिर जिसे यह पसन्द करे, स्वीकार करे। या तो इसका सर्वस्व हरण कर लिया जाए और इसे देश बाहर कर दिया जाए, या पहलवानों की बत्तीस मुक्कियाँ इस पर पड़े या तीन थाली में भरे हुए गोबर को यह खा जाए। श्री भूति से सजा पसन्द करने को कहा गया। पहले उसने गोबर खाना चाहा, पर खाया नहीं गया, तब मुक्कियाँ खाने को कहा। मुक्कियाँ पड़ना शुरू हुई कोई दस पन्द्रह मुक्कियाँ पड़ी होंगी कि पुरोहित जी अकल ठिकाने आ गई आप एकदम चक्कर खाकर जमीन पर ऐसे गिरे कि उठे ही नहीं। महा आर्त्तध्यान से उनकी मृत्यु हुई वे दुर्गति में गए। धन में अत्यन्त लम्पटता का उन्हें उपयुक्त प्रायश्चित्त मिला। इसलिए जो भव्य पुरुष हैं, उसे उचित है कि वे चोरी को अत्यन्त दुःख का कारण समझकर उसका परित्याग करें और अपनी बुद्धि को पवित्र जैनधर्म की ओर लगावें, जो ऐसे महापापों से बचाने वाला है ॥२९-३२॥

असुरसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः प्रपूज्यो जिनपतिरिह भक्त्या सर्वसन्देहहर्ता।
तदुदितवरवाणी सारसौख्यस्य खानिर्दिशतु मम शिवानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥३३॥

इति कथाकोशे स्तेयदोषस्य श्रीभूतिकथा समाप्ता।

२८. नीली-कथा

अथ श्रीजिननाथस्य नत्वा पादद्वयं हितम्। चतुर्थाणुव्रताख्यानं वक्ष्ये नीलीसमाश्रितम् ॥१॥
क्षेत्रेऽस्मिन् भारते पूते लाटदेशे मनोहरे। श्रीमत्सर्वज्ञनाथोक्त-धर्मकार्यैरनुत्तरे ॥२॥
पत्तने भृगुकच्छाख्ये सर्ववस्तुशतैर्भृते। राजाभूद्वसुपालाख्यो सावधानः प्रजाहिते ॥३॥
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्तोभू-द्वणिक्सन्दोहसुन्दरः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चनतत्परः ॥४॥
तत्प्रिया जिनदत्ताख्या साध्वी सज्ज्ञानमण्डिता। नीली नाम्नी तयोः पुत्री मुनीनामिव शीलता ॥५॥

वे जिनभगवान्, जो सब सन्देहों के नाश करने वाले और स्वर्ग के देवों और विद्याधरों द्वारा पूज्य हैं, वह जिनवाणी जो सब सुखों की खान है और मेरे गुरु श्रीप्रभाचन्द्र ये सब मुझे मंगल प्रदान करें, मुझे कल्याण का मार्ग बतलावें ॥३३॥

२८. नीली की कथा

जिनभगवान् के चरणों को, जो कि कल्याण के करने वाले हैं, नमस्कार कर श्रीमती नीली सुन्दरी की मैं कथा कहता हूँ। नीली ने चौथे अणुव्रत ब्रह्मचर्य की रक्षा कर प्रसिद्धि प्राप्त की है ॥१॥

पवित्र भारतवर्ष में लाटदेश एक सुन्दर और प्रसिद्ध देश था। जिनधर्म का वहाँ खूब प्रचार था। वहाँ की प्रजा अपने धर्म कर्म पर बड़ी दृढ़ थी। इससे इस देश की शोभा को उस समय कोई देश नहीं पा सकता था। जिस समय की यह कथा है, तब उसकी प्रधान राजधानी भृगुकच्छ नगर था। वह नगर बहुत सुन्दर और सब प्रकार की योग्य और कीमती वस्तुओं से पूर्ण था। इसका राजा वसुपाल था और वह जिससे अपनी प्रजा सुखी हो, धनी हो, सदाचारी हो, दयालु हो इसके लिए कोई बात का कष्ट न हो इसका सदा प्रयत्नशील रहता था ॥२-३॥

यहीं एक सेठ रहता था। उसका नाम जिनदत्त था। जिनदत्त की शहर के सेठ साहूकारों में बड़ी इज्जत थीं वह धर्मशील और जिनभगवान् का भक्त था। दान, पूजा, स्वाध्याय आदि पुण्यकर्मों को वह सदा नियमानुसार किया करता था। उसकी धर्मप्रिया का नाम जिनदत्ता था। जैसा जिनदत्त धर्मात्मा और सदाचारी था, उसकी गुणवती साध्वी स्त्री भी उसी के अनुरूप थी और इसी से इनके दिन बड़े ही सुख के साथ बीतते थे। अपने गार्हस्थ्य सुख को स्वर्ग सुख से भी कहीं बढ़कर इन्होंने बना लिया था। जिनदत्ता बड़ी उदार प्रकृति की स्त्री थी। वह जिसे दुःखी देखती उसकी सब तरह सहायता करती और उनके साथ प्रेम करती। इसके सन्तान में केवल एक पुत्री थी। उसका नाम नीली था। अपने माता-पिता के अनुरूप ही इसमें गुण और सदाचार की सृष्टि हुई थी। जैसे सन्तों का स्वभाव पवित्र होता है, नीली भी उसी प्रकार बड़े पवित्र स्वभाव की थी ॥४-५॥

तत्रैवान्यो वणिग्जातो मिथ्यादृष्टिर्विनष्टधीः। नाम्ना समुद्रदत्तोस्य भार्या सागरदत्तिका ॥६॥
पुत्रः सागरदत्तोभूदेकदा जिनमन्दिरे। महापूजाविधौ नीलीं सर्वाभरणभूषिताम् ॥७॥
कायोत्सर्गस्थितां दिव्यां तां विलोक्य सुनिर्मलाम्। जगौ सागरदतोसौ विह्वलीभूतमानसः ॥८॥
किमेषा देवता काचित्किमेषा नागकन्यका। किमेषा खेचरीचारु-रूपसौन्दर्यमण्डिता ॥९॥
तच्छ्रुत्वा तस्य मित्रेण प्रियदतेन जल्पितम्। जिनदत्तमहाश्रेष्ठि पुत्रीयं कुलदीपिका ॥१०॥
तदाकर्ण्य तदासक्तो भूत्वैषा प्राप्यते कथम्। इति चिन्ताग्रहग्रस्तो जातोसौ दुर्बलस्तराम् ॥११॥
हरिर्लक्ष्म्या हरो देवो गंगया जडरूपया। उर्वश्या खण्डितो ब्रह्मा हता कामेन के न च ॥१२॥

इस नगर में एक और वैश्य रहता था उसका नाम समुद्रदत्त था। यह जैनी नहीं था। इसकी बुद्धि बुरे उपदेशों को सुन-सुनकर बड़ी मट्टी हो गई थी। अपने हित की ओर तो कभी इसकी दृष्टि नहीं जाती थी। इसकी स्त्री का नाम सागरदत्ता था। इसके एक पुत्र था। उसका नाम सागरदत्त था। सागरदत्त एक दिन अचानक जिनमन्दिर में पहुँच गया। इस समय नीली भगवान की पूजा कर रही थी। वह एक तो स्वभाव से ही बड़ी सुन्दरी थी। इस पर उसने अच्छे-अच्छे रत्न, जड़े गहने और बहुमूल्य वस्त्र पहन रखे थे। इससे उसकी सुन्दरता और भी बढ़ गई थी। वह देखने वालों को ऐसी जान पड़ती थी, मानों कोई स्वर्ग की देव-बाला भगवान् की खड़ी-खड़ी पूजा कर रही है। सागरदत्त उसकी भुवनमोहिनी सुन्दरता को देखकर मुग्ध हो गया। काम ने उसके मन को बेचैन कर दिया। अपने पास ही खड़े हुए मित्र से कहा-यह है कौन? मुझे तो नहीं जान पड़ता कि यह मध्यलोक की बालिका हो। या तो यह कोई स्वर्ग-बाला है या नागकुमारी अथवा विद्याधर कन्या क्योंकि मनुष्यों में इतना सुन्दर रूप होना असम्भव है ॥६-९॥

सागरदत्त के मित्र प्रियदत्त ने नीली का परिचय देते हुए कहा कि यह तुम्हारा भ्रम है, जो तुम ऐसा कहते हो कि ऐसी सुन्दरता मनुष्यों में नहीं हो सकती। तुम जिसे स्वर्ग-बाला समझ रहे हो वह न स्वर्ग-बाला है, न नागकुमारी और न किसी विद्याधर वगैरह की पुत्री है किन्तु मनुष्यनी है और अपने इसी शहर में रहने वाले जिनदत्त सेठ के कुल की एकमात्र प्रकाश करने वाली उसकी नीली नाम की कन्या है। अपने मित्र द्वारा नीली का हाल जानकर सागरदत्त आश्चर्य के मारे दंग रह गया। साथ ही काम ने उसके हृदय पर अपना पूरा अधिकार किया। वह घर पर आया सही, पर अपने मन को वह नीली के पास ही छोड़ आया। अब वह दिन-रात नीली की चिन्ता में घुल-घुलकर दुबला होने लगा। खाना-पीना उसके लिए कोई आवश्यक काम नहीं रहा सच है-जिस काम के वश होकर श्रीकृष्ण लक्ष्मी द्वारा, महादेव गंगा द्वारा और ब्रह्मा उर्वशी द्वारा अपना प्रभुत्व, ईश्वरपना खो चुके तब बेचारे साधारण लोगों की तो कथा ही क्या कही जाये ॥१०-११॥

सागरदत्त की हालत उसके पिता को जान पड़ी। उसने एक दिन सागरदत्त से कहा-देखो, जिनदत्त जैनी है, वह कभी अपनी कन्या को अजैनी के साथ नहीं ब्याहेगा। इसलिए तुम्हें यह उचित नहीं कि तुम अप्राप्य वस्तु के लिए इस प्रकार तड़फ-तड़फ कर अपनी जान को जोखिम में डालो।

ततः समुद्रदत्तेन ज्ञात्वा पुत्रस्य वेदनाम्। प्रोक्तं भो पुत्र जैनोयं जिनदत्तो विचक्षणः ॥१३॥
मुक्त्वा जैनं निजां पुत्रीं न ददात्येव कस्यचित्। इत्युक्त्वा श्रावकौ भूत्वा तदा तौ कपटोक्तिभिः ॥१४॥
कन्यामादाय तां नीलीं नीलोत्पलदलेक्षणाम्। कल्याणविधिना जातौ पुनर्बुद्धकुधर्मकौ ॥१५॥
युक्तं पापप्रयुक्तानां सद्धर्मे किं स्थिरा मतिः। सुप्रसिद्धमिदं नैव श्वोदरे पायसस्थितिः ॥१६॥
तथा तैर्बुद्धभक्तैश्च नील्यास्तातस्य मन्दिरे। निषिद्धं गमनं दुष्टैः किं न कुर्वन्ति पापिनः ॥१७॥
इत्येवं वञ्चने जाते जिनदत्तो वदत्यसौ। कूपादौ पतिता पुत्री नीता मे वा यमेन च ॥१८॥
संगतिर्दुर्जनानां हि शोकं यच्छति दारुणम्। अधः स्थितोपि वन्हिः स्यादूर्ध्वे कालुष्यकारणम् ॥१९॥

तुम्हें यह अनुचित विचार छोड़ देना चाहिए। यह कहकर समुद्रदत्त ने पुत्र के उत्तर पाने की आशा से उसकी ओर देखा। पर जब सागरदत्त उसकी बात का कुछ भी जवाब न देकर नीची नजर किए ही बैठा रहा। तब समुद्रदत्त को निराश हो जाना पड़ा। उसने समझ लिया कि इसके दो ही उपाय हैं या तो पुत्र के जीवन की आशा से हाथ धो बैठना या किसी तरह सेठ की लड़की के साथ इसको ब्याह देना। पुत्र के जीने की आशा को छोड़ बैठने की अपेक्षा उसने किसी तरह नीली के साथ उसका ब्याह कर देना ही अच्छा समझा। सच है, सन्तान का मोह मनुष्य से सब कुछ करा सकता है। इस सम्बन्ध के लिए समुद्रदत्त के ध्यान में एक युक्ति आई। वह यह कि इस दशा में उसने अपना और पुत्र का जैनी बन जाना बहुत ही अच्छा समझा और वे बन भी गए। अब से वे मन्दिर जाने लगे, भगवान् की पूजा करने लगे, स्वाध्याय, व्रत, उपवास भी करने लगे। मतलब यह कि थोड़े ही दिनों में पिता-पुत्र ने अपने जैनी हो जाने का लोगों को विश्वास करा दिया और धीरे-धीरे जिनदत्त से भी इन्होंने अधिक परिचय बढ़ा लिया। बेचारा जिनदत्त सरल स्वभाव का था और इसीलिए वह सब को अपना जैसा ही सरल-स्वभावी समझता था। यही कारण हुआ कि समुद्रदत्त का चक्र उस पर चल गया। उसने सागरदत्त को अच्छा पढ़ा लिखा, खूबसूरत और अपनी पुत्री के योग्य वर समझकर नीली को उसके साथ ब्याह दिया। सागरदत्त का मनोरथ सिद्ध हुआ। उसे नया जीवन मिला। इसके बाद थोड़े दिनों तक तो पिता-पुत्र ने और अपने को ढोंगी वेष में रखा, पर फिर कोई प्रसंग लाकर वे पीछे बुद्ध धर्म के मानने वाले हो गए। सच है, मायाचारियों-पापियों की बुद्धि अच्छे धर्म पर स्थिर नहीं रहती। यह बात प्रसिद्ध है कि **कुत्ते के पेट में घी नहीं ठहरता** ॥१२-१६॥

जब इन पिता-पुत्र ने जैनधर्म छोड़ा तब इन दुष्टों ने यहाँ तक अन्याय किया कि बेचारी नीली का उसके पिता के घर जाना-आना भी बन्द कर दिया। सच है, पापी लोग क्या नहीं करते! जब जिनदत्त को इनके मायाचार का यह हाल जान पड़ा तब उसे बहुत पश्चाताप हुआ, बेहद दुःख हुआ वह सोचने लगा-क्यों मैंने अपनी प्यारी पुत्री को अपने हाथों से कुँए में ढकेल दिया? क्यों मैंने उसे काल के हाथ सौंप दिया? सच है दुर्जनों की संगति से दुःख के सिवा कुछ हाथ नहीं पड़ता। नीचे जलती हुई अग्नि भी ऊपर की छत को काली कर देती है ॥१७-१९॥

सा नीली निजनाथस्य भूत्वा प्राणप्रिया तदा। जिनधर्मं प्रकुर्वाणा स्थिता भिन्नगृहे मुदा ॥२०॥
नित्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां पूजां कल्याणदायिनीम्। पात्रदानं व्रतं शीलं सोपवासं सुनिर्मलम् ॥२१॥
साधर्मिकेषु वात्सल्यं शर्मदं शल्यवर्जितम्। इत्यादिधर्मसद्भावं पालयामास भक्तितः ॥२२॥
एकदा श्वसुरेणैव संविचार्य स्वमानसे। संसर्गाद्दर्शनाद्धर्म-श्रुतेर्वा बुद्धभक्तिका ॥२३॥
भविष्यतीति सा प्रोक्ता नीली पुत्रि गुणोज्ज्वले। ज्ञानिनां वन्दकानां त्वं भोजनं देहि नो मतात् ॥२४॥
ततस्तया समाहूय वन्दकान्कृतदंभकान्। तत्पादत्राणखण्डानि कृत्वा मृष्टानि सद्रसैः ॥२५॥
तेषां भोक्तुं प्रदत्तानि तैः कृत्वा भोजनं मुदा। गच्छद्भिश्चेति पृष्टं क्व पादत्राणे तयोदिते ॥२६॥
भवन्तस्त्वेव जानन्ति ज्ञानिनो यतयो भुवि। ज्ञानं नास्ति यदि व्यक्त्यै कुर्वन्तु वमनं द्रुतम् ॥२७॥

जिनदत्त ने जैसा किया उसका पश्चाताप उसे हुआ। पर इससे क्या नीली दुःखी हो? उसका यह धर्म था क्या? नहीं! उसे अपने भाग्य के अनुसार जो पति मिला, उसे ही वह अपना देवता समझती थी और उसकी सेवा में कभी रत्तीभर भी कमी नहीं होने देती थी। उसका प्रेम पवित्र और आदर्श था। यही कारण था कि वह अपने प्राणनाथ की अत्यन्त प्रेमपात्र थी। विशेष इतना था कि नीली ने बुद्ध धर्म के मानने वालों के यहाँ आकर भी जिनधर्म को न छोड़ा था। वह बराबर भगवान् की पूजा, शास्त्र स्वाध्याय, व्रत, उपवास आदि पुण्यकर्म करती थी, धर्मात्माओं से निष्कपट प्रेम करती थी और पात्रों को दान देती थी। मतलब यह कि अपने धर्म-कर्म में उसे खूब श्रद्धा थी और भक्तिपूर्वक वह उसे पालती थी। पर खेद है कि समुद्रदत्त की आँखों में नीली का यह कार्य भी खटका करता था। उसकी इच्छा थी कि नीली भी हमारा ही धर्म पालने लगे और इसके लिए उसने यह सोचकर, कि बुद्ध साधुओं की संगति से या दर्शन से या उनके उपदेश से यह अवश्य बुद्ध धर्म को मानने लगेगी। एक दिन नीली से कहा–पुत्री, तू पात्रों को तो सदा दान दिया करती है, तब एक दिन अपने धर्म के अनुसार बुद्ध साधुओं को भी तो दान दे ॥२०-२४॥

नीली ने श्वसुर की बात मान ली। पर उसे जिनधर्म के साथ उनकी यह ईर्ष्या ठीक नहीं लगी और इसीलिए उसने कोई उपाय भी अपने मन में सोच लिया, जिससे फिर कभी उससे ऐसा मिथ्या आग्रह करके उसके धर्म पालन में किसी प्रकार की बाधा न दी जाए। फिर कुछ दिनों बाद उसने मौका देखकर कुछ बुद्ध साधुओं को भोजन के लिए बुलाया। वे आए। उनका आदर-सत्कार भी हुआ। वे एक अच्छे सुन्दर कमरे में बैठाये गए। इधर नीली ने उनके जूतों को एक दासी द्वारा मँगवा लिया और उनका खूब बारीक बूरा बनवाकर उसके द्वारा एक किस्म की बहुत ही बढ़िया मिठाई तैयार करवाई इससे जब वे साधु भोजन करने को बैठे तब और-और व्यंजन-मिठाइयों के साथ वह मिठाई भी उन्हें परोसी गई सब ने उसे बहुत पसन्द किया। भोजन समाप्त हुए बाद जब जाने की तैयारी हुई, तब वे देखते हैं तो जूता नहीं हैं। उन्होंने पूछा–जूते कहाँ गए? भीतर से नीली ने आकर कहा–महाराज, सुनती हूँ, साधु लोग बड़े ज्ञानी होते हैं? तब क्या आप अपने जूतों का हाल नहीं जानते हैं? और यदि आपको

वर्तेते भवतां तुन्दे तत्सुस्वादुविलोभिनाम्। कृते तैर्वमने दृष्टस्तत्खण्डानां समूहकः ॥२८॥
बौद्धानां मानभङ्गेन तदा स्वशुरवर्गके। रुष्टे सागरदत्तस्य भगिन्यादिभिरर्जितम् ॥२९॥
महापापं वृथा दत्वा तस्याः शीलस्य दूषणम्। पापिनां न भयं चित्ते साधूनां दोषभाषणे ॥३०॥
असत्यदोषके तस्मिन्प्रसिद्धे सा गुणोज्ज्वला। दोषोच्छेदे ममाहार-प्रवृत्तिर्नान्यथेति च ॥३१॥
संन्यासं श्रीजिनस्याग्रे गृहीत्वा द्विविधं स्थिता। कायोत्सर्गेण मेरोर्वा चूलिका चारुनिश्चला ॥३२॥
सत्यं सतां सुखे दुःखे प्रध्वस्तापत्सहस्त्रकः। शरणं श्रीजिनस्त्वेव नित्यं शक्रैः समर्चितः ॥३३॥
ततस्तच्छीलमाहात्म्यात्क्षुभिता पुरदेवता। ससंभ्रमं समागत्य तत्समीपं जगौ निशि ॥३४॥
सती शिरोमणे मैवं कुरु प्राणविसर्जनम्। अहं राज्ञः प्रधानानां प्रजानां स्वप्नमद्भुतम् ॥३५॥
ददामीति नगर्याश्च प्रतोल्यः सकला ध्रुवम्। महासती यदा वाम-पादसंस्पर्शनं मुदा ॥३६॥
करिष्यति तदोद्घाटं यास्यन्त्येताः प्रवेगतः। त्वं पादेन प्रतोलीनां कुर्याः संस्पर्शनं शुभे ॥३७॥

इतना ज्ञान नहीं तो मैं बतला देती हूँ कि जूते आपके पेट में हैं। विश्वास के लिए आप उल्टी कर देखें। नीली की बात सुनकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने उल्टी करके देखा तो उन्हें जूतों के छोटे-छोटे बहुत से टुकड़े दीख पड़े। इससे उन्हें बहुत लज्जित होकर अपने स्थान पर आना पड़ा ॥२५-२८॥

नीली की इस कार्यवाही से, अपने गुरुओं के अपमान से समुद्रदत्त, नीली की सासू, ननद आदि को बहुत ही गुस्सा आया। पर भूल उनकी जो नीली द्वारा उसके धर्मविरुद्ध कार्य उन्होंने करवाना चाहा। इसलिए वे अपना मन मसोस कर रह गए, नीली से वे कुछ नहीं कह सके। पर नीली की ननद को इससे संतोष नहीं हुआ। उसने कोई ऐसा ही छल-कपट कर नीली के माथे व्यभिचार का दोष मढ़ दिया। सच है, सत्पुरुषों पर किसी प्रकार का ऐब लगा देने में पापियों को तनिक भी भय नहीं रहता। बेचारी नीली अपने पर झूठ-मूठ महान् कलंक लगा सुनकर बड़ी दुःखी हुई। उसे कलंकित होकर जीते रहने से मर जाना ही उत्तम जान पड़ा। वह उसी समय जिनमन्दिर में गई और भगवान् के सामने खड़ी होकर उसने प्रतिज्ञा की, कि मैं इस कलंक से मुक्त होकर ही भोजन करूँगी, इसके अतिरिक्त मुझे इस जीवन में अन्न-पानी का त्याग है। इस प्रकार वह संन्यास लेकर भगवान् के सामने खड़ी हुई उनका ध्यान करने लगी। इस समय उसकी ध्यान मुद्रा देखने के योग्य थी। वह ऐसी जान पड़ती थी मानों सुमेरु पर्वत की स्थिर और सुन्दर जैसी चूलिका हो। सच है, उत्तम पुरुषों को सुख या दुःख में जिनेन्द्र भगवान् ही शरण होते हैं, जो अनेक प्रकार की आपत्तियों के नष्ट करने वाले और इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य हैं ॥२९-३३॥

नीली की इस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञा और उसके निर्दोष शील के प्रभाव से पुरदेवी का आसन हिल गया। वह रात के समय नीली के पास आई और बोली-सतियों की शिरोमणि, तुझे इस प्रकार निराहार रहकर प्राणों को कष्ट में डालना उचित नहीं। सुन, मैं आज शहर के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पुरुषों को तथा राजा को एक स्वप्न देकर शहर के सब दरवाजे बन्द कर दूँगी। वे तब खुलेंगे जब कि उन्हें कोई शहर की महासती अपने पाँवों से छुएगी। सो जब तुझे राजकर्मचारी यहाँ से उठाकर ले जाय तब तू

इत्युक्त्वा स्वप्नकं दत्वा राजादीनां सुनिश्चलम्। कीलित्वा सा प्रतोलीस्ता गतादृश्यं सुराङ्गना ॥३८॥
प्रभाते कीलिता दृष्ट्वा प्रतोलीर्भूमिपादिभिः। स्मृत्वा तं रात्रिजं स्वप्नं सर्वैस्तत्पुरयोषिताम् ॥३९॥
कारितश्चरणैर्घातः प्रतोलीनां तथापि सा। नोद्घाटिता कयाप्येका नाल्पपुण्यैर्यशोर्ज्यते ॥४०॥
पश्चादुत्क्षिप्य नीता सा नीली सच्छीलशालिनी। तया स्वपादसंस्पर्शात्सर्वाश्चोद्घाटिता हि ताः ॥४१॥
शलाकया यथा वैद्यः करोत्युद्घाटनं दृशाम्। तथा नीली स्वपादेन प्रतोल्युद्घाटनं व्यधात् ॥४२॥
तदा स्वशीलमाहात्म्य-प्रहर्षितजगज्जना। सा नीली वस्तुसन्दोहै-र्नरेन्द्राद्यैः समर्चिता ॥४३॥
जय त्वं जिननाथस्य चरणाम्भोजषट्पदी। भो मातस्तव शीलस्य माहात्म्यं केन वर्ण्यते ॥४४॥
इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैः सा सती शीलमण्डिता। सर्वैर्धर्मानुरागेण संस्तुता सज्जनैर्मुदा ॥४५॥
स जयति जिनदेवः सर्वदेवेन्द्रवन्द्यो विमलतरगिरो वै यस्य विश्वोपकाराः।
तदुदितवरशीलं पालितं शर्ममूलं दिशतु शुचिजनानां स्वर्गमोक्षोरुलक्ष्मीम् ॥४६॥

इति कथाकोशे शीलप्रभाववर्णने नीलीश्राविकाकथा समाप्ता।

उनका स्पर्श करना। तेरे पाँव के लगते ही दरवाजे खुल जायेंगे और तू कलंक मुक्त होगी। यह कहकर पुरदेवी चली गई और सब दरवाजों को बन्द कर उसने राजा वगैरह को स्वप्न दिया ॥३४-३८॥

सबेरा हुआ। कोई घूमने के लिए, कोई स्नान के लिए और कोई किसी काम के लिए शहर के बाहर जाने लगे। जाकर देखते हैं तो शहर से बाहर होने के सब दरवाजे बन्द हैं। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत कुछ कोशिशें की गई; पर एक भी दरवाजा नहीं खुला। सारे शहर में शोर मच गया। बात ही बात में राजा के पास खबर पहुँची। इस खबर के पहुँचते ही राजा को रात में आए हुए स्वप्न की याद हो उठी। उसी समय एक बड़ी भारी सभा बुलाई गई राजा ने सबको अपने स्वप्न का हाल कह सुनाया। शहर के कुछ प्रतिष्ठित पुरुषों ने भी अपने को ऐसा ही स्वप्न आया बतलाया। आखिर सब की सम्मति से स्वप्न के अनुसार दरवाजों का खोलना निश्चित किया गया। शहर की स्त्रियाँ दरवाजों का स्पर्श करने को भेजी गई सबने उन्हें पाँवों से छुआ, पर दरवाजों को कोई नहीं खोल सकी। तब किसी ने, जो कि नीली के संन्यास का हाल जानता था, नीली को उठा ले जाकर उसके पावों को स्पर्श करवाया। दरवाजे खुल गए। जैसे वैद्य सलाई के द्वारा आँखों को खोल देता है उसी तरह नीली ने अपने चरणस्पर्श से दरवाजों को खोल दिया। नीली के शील की बहुत प्रशंसा हुई। नीली कलंक मुक्त हुई। उसके अखण्ड शीलप्रभाव को देखकर लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। राजा तथा शहर के और प्रतिष्ठित पुरुषों ने बहुमूल्य वस्त्राभूषणों द्वारा नीली का खूब सत्कार किया और इस शब्दों में उसकी प्रशंसा की "हे जिनभगवान् के चरणकमलों की भौंरी, तुम खूब फलो, फूलो माता, तुम्हारे शील का माहात्म्य कौन कह सकता है।" सती नीली अपने धर्म पर दृढ़ रही, उससे उसकी बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पुरुषों ने प्रशंसा की। इसलिए सर्वसाधारण को भी सती नीली का पथ ग्रहण करना चाहिए ॥३९-४५॥

जिनके वचन सारे संसार का उपकार करने वाले हैं, जो स्वर्ग के देवों और बड़े-बड़े राजा महाराजाओं से पूज्य हैं और जिनका किया हुआ उपदेश पवित्र शील-ब्रह्मचर्य स्वर्ग तथा परम्परा मोक्ष का देने वाला है, वे जिनभगवान् संसार में सदा काल रहें और उनके द्वारा कर्म-परवश जीवों को कर्म पर विचार प्राप्त करने का पवित्र उपदेश सदा मिलता रहे ॥४६॥

२९. कडारपिङ्गस्य कथा।

नत्वार्हतं जगत्पूतं भारतीगुरुपङ्कजम्। वक्ष्ये कडारपिङ्गस्या-ब्रह्मदोषं कथानकम् ॥१॥
कांपिल्यनगरे राजा नरसिंहो विचक्षणः। प्राज्यं राज्यं करोत्युच्चैर्धर्मकर्मपरायणः ॥२॥
तन्मंत्री सुमतिर्नाम्ना धनश्रीः प्राणवल्लभा। तयोः कडारपिङ्गाख्यः पुत्रो जातोतिलम्पटः ॥३॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी संजातोत्यन्तधार्मिकः। सुधीः कुबेरदत्ताख्यो दानपूजाविराजितः ॥४॥
तस्य भार्याभवत्सार-पूर्वपुण्येन संयुता। प्रियंगुसुन्दरी नाम्ना साध्वी सद्रूपमण्डिता ॥५॥
एकदा तां समालोक्य श्रेष्ठिनीं गुणशालिनीम्। कुधीः कडारपिङ्गोसौ संजातो विकलाशयः ॥६॥
गत्वा गृहं स्थितो याव-द्धनश्रीः प्राह तं प्रति। अहो पुत्र त्वकं कस्माद् दृश्यते दुर्मनास्तराम् ॥७॥
तेनोक्तं श्रेष्ठिभार्यासौ प्राप्यतेऽत्र मया यदि। तदा मे जीवितं मात-र्नान्यथेति सुनिश्चितः ॥८॥

---

२९. कडारपिंग की कथा

अर्हन्त, जिनवाणी और गुरुओं को नमस्कार कर, कडारपिंग की, जो कि स्वदारसन्तोषव्रत-ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हुआ है, कथा लिखी जाती है। कांपिल्य नाम का एक प्रसिद्ध शहर था। उसके राजा का नाम नरसिंह था। नरसिंह बुद्धिमान् और धर्मात्मा थे। अपने राज्य का पालन वे नीति के साथ करते थे। इसलिए प्रजा उन्हें बहुत चाहती थी ॥१-२॥

राजमंत्री का नाम सुमति था। इनके धनश्री स्त्री और कडारपिंग नामक एक पुत्र था। कडारपिंग का चाल-चलन अच्छा नहीं था। वह बड़ा कामी था। इसी नगर में एक कुबेरदत्त सेठ रहता था। यह बड़ा धर्मात्मा और पूजा, प्रभावना करने वाला था। इसकी स्त्री प्रियंगुसुन्दरी सरल स्वभाव की, पुण्यवती और बहुत सुन्दर थी ॥३-५॥

एक दिन कडारपिंग ने प्रियंगसुन्दरी को कहीं जाते देख लिया। उसकी रूप-मुधरिमा को देखकर इसका मन बेचैन हो उठा। यह जिधर देखता उधर ही इसे प्रियंगुसुन्दरी दिखने लगी। प्रियंगुसुन्दरी के सिवा इसे और कोई वस्तु अच्छी न लगने लगी। काम ने इसे आपे से भुला दिया। बड़ी कठिनता से उस दिन वह घर पर पहुँच पाया। उसे इस तरह बेचैन और भ्रम बुद्धि देखकर इसकी माँ को बड़ी चिन्ता हुई उसने इससे पूछा-कडार, क्यों आज एकाएक तेरी यह दशा हो गई? अभी तो तू घर से अच्छी तरह गया था और थोड़ी ही देर में तेरी यह हालत कैसे हुई? बतला तो, हुआ क्या? क्यों तेरा मन आज इतना खेदित हो रहा है? कडारपिंग ने कुछ न सोचा अथवा यों कह लीजिए कि सोच विचार करने की बुद्धि ही उसमें न थी। यही कारण था कि उसने, कौन पूछने वाली है, इसका भी कुछ ख्याल न कर कह दिया कि कुबेरदत्त सेठ की स्त्री को मैं यदि किसी तरह प्राप्त कर सकूँ, तो मेरा जीना हो सकता है। सिवा इसके मेरी मृत्यु अवश्यंभावी हैं। नीतिकार कहते हैं कि **काम से अन्धे हुए लोगों को धिक्कार है जो लज्जा और भय रहित होकर फिर अच्छे और बुरे कार्य को भी नहीं सोचते।**

धिक्कामान्धजनाँल्लोके लज्जाभयविवर्जितान्। यतः कामी न जानाति कार्याकार्यं शुभाशुभम् ॥९॥
तया धनश्रिया प्रोक्तं स्वभर्त्तुः सुमतेस्तदा। निजपुत्रमहादुःखं परस्त्रीदर्शनोद्भवम् ॥१०॥
तच्छ्रुत्वा सुमतिर्मंत्री पापात्मा कपटेन सः। नरसिंहमहीनाथं संजगाविति दुष्टधीः ॥११॥
अहो महीपते रत्न-द्वीपे किंजल्कपक्षिणः। तिष्ठन्ति बहवो देव भवद्भिः श्रूयतां प्रभो ॥१२॥
तत्प्रभावान्महाव्याधि-दुर्भिक्षमरणादयः। शत्रुचक्रं तथा चोराः प्रभवन्ति न निश्चयात् ॥१३॥
ततः कुबेरदत्तोसौ श्रेष्ठी कार्यविचक्षणः। तं पक्षिणं समानेतुं प्रेषणीयो न संशयः ॥१४॥
तत्समाकर्ण्य भूभर्त्ता तमानेतुं सुमुग्धधीः। श्रेष्ठिनं प्रेषयामास राजानो मंत्रिणां वशाः ॥१५॥
तदा श्रेष्ठी विशुद्धात्मा गृहमागत्य वेगतः। प्रयाणं स्वस्य भार्यायै संजगाद महाद्भुतम् ॥१६॥
प्रियंगुसुन्दरी प्राह भो स्वामिन्वञ्चितोसि च। पापी कडारपिंगो मे महाशीलस्य खण्डनम् ॥१७॥

बेचारी धनश्री पुत्र की यह निर्लज्जता देखकर दंग रह गई वह इसका कुछ उत्तर न देकर सीधी अपने स्वामी के पास गई और पुत्र की सब हालत उसने उनसे कह सुनाई। सुमति एक राजमंत्री था और बुद्धिमान् था। उसे उचित था कि वह अपने पुत्र को पाप की ओर से हटाने का यत्न करता, पर उसने इस डर से, कि कहीं पुत्र मर न जाए, उल्टा पापकार्य का सहायक बनने में अपना हाथ बँटाया। सच है, विनाशकाल जब आता है तब बुद्धि भी विपरीत हो जाया करती है। ठीक यही हाल सुमति का हुआ। वह पुत्र की आशा पूरी करने के लिए एक कपट-जाल रचकर राजा के पास गया और बोला-महाराज, रत्नद्वीप में एक किंजल्क जाति के पक्षी होते हैं, वे जिस शहर में रहते हैं वहाँ महामारी, दुर्भिक्ष रोग, अपमृत्यु आदि नहीं होते तथा उस शहर पर शत्रुओं का चक्र नहीं चल पाता और न चोर वगैरह उसे किसी प्रकार की हानि पहुँचा सकते हैं और महाराज, उनकी प्राप्ति का भी उपाय सहज है। अपने शहर में जो कुबेरदत्त सेठ हैं; उनका जाना आना प्रायः वहाँ हुआ करता है और वे हैं भी कार्यचतुर इसलिए उन पक्षियों के लाने को आप उन्हें आज्ञा कीजिए। अपने राजमंत्री की एक अभूतपूर्व बात सुनकर राजा तो पक्षियों को मँगाने को अकुला उठे। भला, ऐसी आश्चर्य उपजाने वाली बात सुनकर किसे ऐसी अपूर्व वस्तु की चाह न होगी? और इसीलिए महाराज ने मंत्री की बातों पर कुछ विचार न किया। उन्होंने उसी समय कुबेरदत्त को बुलवाया और सब बात समझाकर उसे रत्नद्वीप जाने को कहा। बेचारा कुबेरदत्त इस कपट-जाल को कुछ न समझ सका। वह राजाज्ञा पाकर घर पर आया और रत्नद्वीप जाने का हाल उसने अपनी विदुषी प्रिया से कहा। सुनते ही प्रियंगुसुन्दरी के मन में कुछ खटका पैदा हुआ। उसने कहा-नाथ, जरूर कुछ दाल में काला है। आप ठगे गए हो। किंजल्क पक्षी की बात बिल्कुल असंभव है। भला, कहीं पक्षियों का भी ऐसा प्रभाव हुआ है? तब क्या रत्नद्वीप में कोई मरता ही न होगा? बिल्कुल झूठ! अपने राजा सरल स्वभाव के हैं सो जान पड़ता है वे भी किसी के चक्र में आ गए है। मुझे जान पड़ता है, यह कारस्तानी राजमंत्री की हुई है ॥६-१७॥

कर्त्तुं समीहते तस्मा-त्तवेदं गमनं ध्रुवम्। क्वापि स्त्रियो भवन्त्युच्चैः स्वप्रियादतिचञ्चवः ॥१८॥
श्रेष्ठी कुबेरदत्तोसौ समाकर्ण्य प्रियोदितम्। शुभे दिने विसृज्योच्चै-र्नलयानं सुबुद्धिमान् ॥१९॥
स्वयं व्याघुट्य गेहे च प्रच्छन्नं संस्थितो द्रुतम्। लोकदुस्संगतेः क्वापि सन्तोसन्तो भवन्त्यमी ॥२०॥
तदा कडारपिङ्गोसौ श्रेष्ठिनीरूपलम्पटः। कुधीस्तद्गृहमायातो मदनोन्मत्तमानसः ॥२१॥
ततो वर्चोगृहे सापि पल्यंकं रज्जुवर्जितम्। छादितं शुभ्रवस्त्रेण स्थापयामास सुन्दरी ॥२२॥

उसका पुत्र कडारपिंग महा व्यभिचारी है। उसने मुझे एक दिन मन्दिर जाते समय देख लिया था। मैं उसकी पापभरी दृष्टि को उसी समय पहचान गई थी। मैं जितना ध्यान से इस बात पर विचार करती हूँ तो अधिक-अधिक विश्वास होता जाता है कि इस षड्यंत्र के रचने से मंत्री महाशय की मंशा बहुत बुरी है। उन्होंने अपने पुत्र की आशा पूरी करने का और कोई उपाय न पाकर आपको विदेश भेजना चाहा है। इसलिए अब आप यह करें कि यहाँ से तो आप रवाना हो जायें, जिससे कि किसी को सन्देह न हो और रात होते ही जहाज को आगे जाने देकर आप वापस लौट आइये। फिर देखिये कि क्या गुल खिलता है। यदि मेरा अनुमान ठीक निकले तब तो फिर आपके जाने की कोई आवश्यकता नहीं और नहीं तो दस-पन्द्रह दिन बाद चले जाइयेगा ॥१७-१८॥

प्रियंगुसुन्दरी की बुद्धिमानी देखकर कुबेरदत्त बहुत खुश हुआ। उसने उसके कहे अनुसार ही किया। जहाज रवाना हो गया। जब रात हुई तब कुबेरदत्त चुपचाप घर आकर छुपा रहा। सच है, **कभी-कभी दुर्जनों की संगति से सत्पुरुषों को भी वैसा ही हो जाना पड़ता है** ॥१९-२०॥

जब यह खबर कडारपिंग के कानों में पहुँची कि कुबेरदत्त रत्नद्वीप के लिए रवाना हो गया तो उसकी प्रसन्नता का कुछ ठिकाना न रहा। वह जिस दिन के लिए तरस रहा था, बेचैन हो रहा था वही दिन उसके लिए अब उपस्थित हो गया तब वह क्यों न प्रसन्न होगा? प्रियंगुसुन्दरी के रूप का भूखा और काम से उन्मत्त वह पापी कडारपिंग बड़ी आशा और उत्सुकता से कुबेरदत्त के घर पर आया। प्रियंगुसुन्दरी ने इसके पहले ही उसके स्वागत की तैयारी के लिए पाखाना जाने के कमरे को साफ-सुथरा करवाकर और उसमें बिना निवार का पलंग बिछवाकर उस पर एक चादर डलवा दी थी। जैसे ही मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए कुँवर कडारपिंग आए, उन्हें प्रियंगुसुन्दरी उस कमरे में लिवा ले गई और पलंग पर बैठने का उसने इशारा किया। कडारपिंग प्रियंगुसुन्दरी को अपना इस प्रकार स्वागत करते देखकर, जिसका कि उसे स्वप्न में भी ख्याल नहीं था, फूलकर कुप्पा हो गया। वह समझने लगा, स्वर्ग अब थोड़ा ही ऊँचा रह गया है। पर उसे यह विचार भी न हुआ कि पाप का फल बहुत बुरा होता है। खुशी में आकर प्रियंगुसुन्दरी के इशारे के साथ ही जैसे ही पलंग पर बैठा कि धड़ाम से नीचे आ गिरा। जब वहाँ की भीषण दुर्गन्ध ने उसकी नाक में प्रवेश किया तब उसे भान हुआ कि मैं कैसे अच्छे स्थान पर आया हूँ। वह अपनी करनी पर बहुत पछताया, उसने बहुत आरजू-मिन्नत अपने छुटकारा पाने के लिए की, पर उसकी इस अर्जी पर ध्यान देना प्रियंगुसुन्दरी को नहीं भाया। उसने पापकर्म का उपयुक्त प्रायश्चित दिये बिना छोड़ना उचित नहीं समझा। नारकी जैसे नरकों में पड़कर दुःख

यावत्तत्रोपविष्टोसौ शठो विष्टागृहे तदा। पतितो मंत्रिणः पुत्रो नारको नरके यथा ॥२३॥
षण्मासेषु गतेषूच्चै-रागते जलयानके। नाना पक्षिमहापक्षान्कृत्वा तस्य शरीरके ॥२४॥
विधाय तन्मुखं कृष्णं कृत्वा हस्तादिबन्धनम्। धृत्वा पंजरके कष्टं मंत्रिपुत्रं कुकर्मकम् ॥२५॥
पक्षी कुबेरदत्तेन श्रेष्ठिना गुणशालिना। समानीतो महाद्वीपा-दिति क्षोभं गते जने ॥२६॥
दुष्टं कडारपिङ्गाख्यं नीत्वा श्रेष्टी नृपान्तिकम्। देव किंजल्कपक्षी ते समानीतोयमद्भुतः ॥२७॥
इति हास्यं विधायोच्चैः पूर्ववृत्तान्तमुक्तवान्। तच्छ्रुत्वा नरसिंहेन महाकोपेन भूभुजा ॥२८॥
गर्दभारोहणं कृत्वा दण्डितो मंत्रिपुत्रकः। मृत्वा कडारपिंगोसौ दुर्ध्यानान्नरकं गतः ॥२९॥
परस्त्रीलम्पटो जन्तु दुर्गतिं याति निश्चयात्। तस्मात्सदा परस्त्रीणां त्यागः कार्यो बुधोत्तमैः ॥३०॥
ये भव्या श्रीजिनन्द्रोक्तं शीले शर्मशतप्रदे। महायत्नं प्रकुर्वन्ति ते पूज्यन्ते पदे पदे ॥३१॥
शीलं श्रीजिनभाषितं शुचितरं देवेन्द्रवृन्दैः स्तुतं नाना शर्ममहाप्रमोदजनकं स्वर्गापवर्गप्रदम्।
ये भव्याः प्रतिपालयन्ति नितरां त्रेधा जगन्मोहनं भुक्त्वा ते त्रिदशादिसौख्यमतुलं मुक्तेर्लभन्ते सुखम् ॥३२॥

इति कथाकोशे ब्रह्मचर्यदोषोद्भवकडारपिङ्गस्य कथा समाप्ता।

उठाते हैं, ठीक वैसे ही एक राजमंत्री का पुत्र अपनी सब मान-मर्यादा पर पानी फेरकर अपने किए कर्मों का फल आज पाखाने में पड़ा-पड़ा भोग रहा है। इस तरह कष्ट उठाते-उठाते पूरे छह महीने बीत गए। इतने में कुबेरदत्त का जहाज भी रत्नद्वीप से लौट आया। जहाज का आना सुनकर सारे शहर में इस बात का शोर मच गया कि सेठ कुबेरदत्त किंजल्क पक्षी ले आए ॥२१-२४॥

इधर कुबेरदत्त ने कडारपिंग को बाहर निकालकर उसे अनेक प्रकार के पक्षियों के पंखों से खूब सजाया और काला मुँह करके उसे एक विचित्र ही जीव बना दिया। इसके बाद उसने कडारपिंग के हाथ-पाँव बाँध कर और उसे एक लोहे के पिंजरे में बन्द कर राजा के सामने ला उपस्थित किया। पश्चात् कुबेरदत्त ने मुस्कुराते हुए यह कहकर, कि देव, यह आपका मँगाया किंजल्क पक्षी उपस्थित है, यथार्थ हाल राजा से कह दिया। सच्चा हाल जानकर राजा को मंत्री पुत्र पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने उसी समय उसे गधे पर बैठाकर और सारे शहर में घुमा-फिराकर उसके मार डालने की आज्ञा दे दी। वही किया भी गया। कडारपिंग को अपनी करनी का फल मिल गया। वह बड़े खोटे परिणामों से मर कर नरक गया। सच है, परस्त्री आसक्त पुरुष की नियम से दुर्गति होती है। इसके विपरीत जो भव्य-पुरुष जिनभगवान् के उपदेश किए और सुखों के देने वाले शीलव्रत के पालने का सदा यत्न करते हैं, वे पद-पद आदर-सत्कार के पात्र होते हैं। इसलिए उत्तम पुरुषों को सदा परस्त्री-त्यागव्रत ग्रहण किए रहना चाहिए ॥२५-३०॥

भगवान् के उपदेश किए हुए, देवों द्वारा प्रशंसित और स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाले पवित्र शीलव्रत का जो मन, वचन, काय की पवित्रता के साथ पालन करते हैं, वे स्वर्गों का सुख भोगकर अन्त में मोक्ष के अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं ॥३१-३२॥

३०. देवरतिराज्ञः कथा

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम्। कथा देवरतेर्वच्मि विनितापत्तनेशिनः ॥१॥
अयोध्या नगरे राजा जातो देवरतिर्महान्। रक्ता नाम्नी महाराज्ञी रूपसौभाग्यशालिनी ॥२॥
स भूपतिः सदा तस्या-मासक्तः कामलम्पटः। शत्रुभिः पीडितश्चापि राज्यचिन्तां करोति न ॥३॥
मुक्त्वा धर्मार्थनामानौ पदार्थौ नीतिवर्जितः। भुङ्क्ते भोगान्कुधीर्योत्र स स्याद्दुःखैकभाजनम् ॥४॥
मंत्रिभिश्चैकदा पुत्रं जयसेनाभिधानकम्। राज्ये धृत्वा तया सार्द्धं देशान्निर्घाटितः प्रभुः ॥५॥
तदा देवरतिः सोपि रक्तया सह भूपतिः। महाटव्यां समायातो धिक्कामं नीतिवर्जितम् ॥६॥
तत्र क्षुधामहाक्लेशपीडितायाः स्वयोषितः। स्वोरुमांसं सुसंस्कृत्य दत्तवान्मोहवञ्चितः ॥७॥
तथा तस्यास्तृषाक्रान्तचेतसो मूढमानसः। बाहुरक्तं महौषध्या जलं कृत्वा च सन्ददौ ॥८॥
यमुनायास्तटं प्राप्य रक्तां धृत्वा तरोस्तले। भोजनं च समानेतुं ग्राममध्ये नृपो गतः ॥९॥

---

३०. देवरतिराजा की कथा

केवलज्ञान जिनका नेत्र है, उन जग पवित्र जिनभगवान् को नमस्कार कर देवरति नामक राजा का उपाख्यान लिखा जाता है, जो अयोध्या के स्वामी थे ॥१॥

अयोध्या नगरी के राजा देवरति थे। उनकी रानी का नाम रक्ता था। वह बहुत सुन्दरी थी राजा सदा उसी के नाद में लगे रहते थे। वे बड़े विषयी थे। शत्रु बाहर से आकर राज्य पर आक्रमण करते, उसकी भी उन्हें कुछ परवाह नहीं थी। राज्य की क्या दशा है, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। जो धर्म और अर्थ पुरुषार्थ को छोड़कर अनीति से केवल काम का सेवन करते हैं, सदा विषयवासना के ही दास बने रहते हैं, वे नियम में कष्टों को उठाते हैं। देवरति की भी यही दशा हुई। राज्य की ओर से उनकी यह उदासीनता मंत्रियों को बहुत बुरी लगी। उन्होंने राजकाम के सम्हालने की राजा से प्रार्थना की, पर उसका फल कुछ नहीं हुआ। यह देख मंत्रियों ने विचार कर देवरति के पुत्र जयसेन को तो अपना राजा नियुक्त किया और देवरति को उनकी रानी के साथ देश बाहर कर दिया। ऐसे काम को धिक्कार है, जिससे मान-मर्यादा धूल में मिल जाए और अपने को कष्ट सहना पड़े ॥२-५॥

देवरति अयोध्या से निकल कर एक भयानक वन में आए। रानी को भूख ने सताया, पास खाने को एक अन्न का कण तक नहीं। अब वे क्या करें? इधर जैसे-जैसे समय बीतने लगा, रानी भूख से बेचैन होने लगी। रानी की दशा देवरति से नहीं देखी गई और देख भी वे कैसे सकते थे। उसी के लिए तो अपना राजपाट तक उन्होंने छोड़ दिया था। आखिर उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने उसी समय अपनी जाँघ काटकर उसका मांस पकाया और रानी को खिलाकर उसकी भूख शान्त की और प्यास मिटाने के लिए उन्होंने अपनी भुजाओं का खून निकाला और उसे एक औषधि बता कर पिलाया। इसके बाद वे धीरे-धीरे यमुना के किनारे पर आ पहुँचे। देवरति ने रानी को तो एक झाड़ के नीचे बैठाया और आप भोजन सामग्री लेने को पास के एक गाँव में गए ॥६-९॥

सापि तत्र समालोक्य वाटिकासेवनोद्यतम्। वार्यन्त्रं खेटयन्तं च पंगुं सद्गानसंयुतम् ॥१०॥
तस्मिन्नासक्तचित्ताभूद्रक्ता तं प्राह पापिनी। अहो पंगो त्वकं शीघ्रं मामिच्छेति प्रभो स्वयम् ॥११॥
तेनोक्तं पंगुना मुग्धे त्वदीयप्राणनाथतः। अहं चित्ते बिभेमीति महाभटशिरोमणेः ॥१२॥
सावोचन्मारयामीति तं प्रियं मा भयं कुरु। दुराचारश्रिता लोके किं न कुर्वन्ति योषितः ॥१३॥
गृहीत्वा भोजनं तत्र समायाते महीपतौ। रोदनं कर्त्तुमारब्धं तया कौटिल्यभावतः ॥१४॥
नृपः प्राह प्रिये कस्मात्त्वं करोषीति रोदनम्। सा जगौ देव रक्ताख्या रिक्ताहं पापकर्मतः ॥१५॥

यहाँ एक छोटा-सा पर बहुत ही सुन्दर बगीचा था। उसमें एक कोई अपंग मनुष्य चड़स खींचता हुआ और गा रहा था। उसकी आवाज बड़ी मधुर थीं। इसलिए उसका गाना बहुत मनोहारी और सुनने वालों को प्रिय लगता था। उसके गाने की मधुर आवाज रक्ता रानी के भी कानों से टकराई न जाने उसमें ऐसी कौन-सी मोहक-शक्ति थी, जो रानी को उसने उसी समय मोह लिया और ऐसा मोहा कि उसे अपने निजत्व से भी भुला दिया। रानी सब लाज-शरम छोड़कर उस अपंग के पास गई और उससे अपनी पाप-वासना उसने प्रकट की। वह अपंग कोई ऐसा सुन्दर न था, पर रानी तो उस पर जी जान से न्यौछावर हो गई। सच है- ''काम ने देखे जात कुजात।'' राजरानी की पाप-वासना सुनकर वह घबराकर रानी से बोला-मैं एक भिखारी और आप राजरानी तब मेरी आपकी जोड़ी कहाँ? और मुझे आपके साथ देखकर क्या राजा साहब जीता छोड़ देंगे? मुझे आपके शूरवीर और तेजस्वी प्रियतम की सूरत देखकर कँपी छूटती है। आप मुझे क्षमा कीजिए। उत्तर में रानी महाशया ने कहा-इसकी तुम चिन्ता न करो। मैं उन्हें तो अभी ही परलोक पहुँचाये देती हूँ। सच है, दुराचारिणी स्त्रियाँ क्या-क्या अनर्थ नहीं कर डालती। ये तो इधर बातें कर रहे थे कि राजा भी इतने में भोजन लेकर आ गए। उन्हें दूर से देखते ही कुलटा रानी ने मायाचारी से रोना आरम्भ किया। राजा उसकी यह दशा देखकर आश्चर्य में आ गए। हाथ के भोजन को एक ओर पटककर वे रानी के पास दौड़े आकर बोले-प्रिये, प्रिये, कहो! जल्दी कहो!! क्या हुआ? क्या किसी ने तुम्हें कुछ कष्ट पहुँचाया? तुम क्यों रो रही हो? तुम्हारा आज अकस्मात् रोना देखकर मेरा सब धैर्य छूटा जाता है। बतलाओ, अपने रोने का कारण, जल्दी बतलाओ? रानी एक लम्बी आह भरकर बोली-प्राणनाथ, आपके रहते मुझे कौन कष्ट पहुँचा सकता है? परन्तु मुझे किसी के कष्ट पहुँचाने से भी जितना दुःख नहीं होता उससे कहीं बढ़कर आज अपनी इस दशा का दुःख है। नाथ, आप जानते हैं आज आपकी जन्मगाँठ का दिन है। पर अत्यन्त दुःख है कि पापी दैव ने आज मुझे इस भिखारिणी की दशा में पहुँचा दिया। मेरे पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं। बतलाइए, मैं आज ऐसे उत्सव के दिन आपकी जन्मगाँठ का क्या उत्सव मनाऊँ? सच है नाथ, बिना पुण्य के जीवों को अथाह शोक-सागर में डूब जाना पड़ता है। रानी की प्रेम-भरी बातें सुनकर राजा का गला भर आया, आँखों से आँसू टपक पड़े। उन्होंने बड़े प्रेम से रानी के मुँह को चूमकर कहा-प्रिये, इसके लिए कोई चिन्ता की बात नहीं। कभी

अद्य किं क्रियते प्राप्ते तवायुर्ग्रन्थिवासरे। जन्तोः पुण्यं विना घोरे मज्जनं शोकसागरे ॥१६॥
इत्याकर्ण्य तदासक्तः संजगाद महीपतिः। किं शोकेन प्रिये सर्वं त्वयैव मम पूर्यते ॥१७॥
तथाप्याचारमात्रं च करोमीति प्रजल्प्य सा। तंत्रीगुंफितपुष्पौघैर्बन्धित्वा स्वपतिं गले ॥१८॥
यमुनाख्यमहानद्यां क्षिप्त्वा तं दुष्टमानसा। पंगुना सह दुष्कर्म-कुर्वती संस्थिता तदा ॥१९॥
अथ देवरतिर्भूपः कथंचित्कर्मयोगतः। मंगलाख्यपुरं प्राप्य श्रान्तो नद्याः प्रवाहतः ॥२०॥
सुप्तस्तत्र बहिर्देशे वृक्षमूले सुखप्रदे। जन्तूनां जैनधर्मे वा महाभ्युदयकारणे ॥२१॥

वह दिन भी आयेगा जिस दिन तुम अपनी कामनाओं को पूरी कर सकोगी और न भी आए तो क्या? जबकि तुम जैसी भाग्यशालिनी जिसकी प्रिया है उसे इस बात की कुछ परवाह भी नहीं है। जिसने अपनी प्रिया की सेवा के लिए अपना राजपाट तक तुच्छ समझा उसे ऐसी छोटी बातों का दुःख नहीं होता। उसे यदि दुःख होता है तो अपनी प्यारी को दुःखी देखकर प्रिये, इस शोक को छोड़ो। मेरे लिए तो तुम ही सब कुछ हो। हाय! ऐसे निष्कपट प्रेम का बदला जान लेकर दिया जायेगा, इस बात की खबर या सम्भावना बेचारे रतिदेव को स्वप्न में भी नहीं थी। देव की विचित्र गति है ॥१०-१७॥

राजा के इस हार्दिक और सच्चे प्रेम का पापिनी रानी के पत्थर के हृदय पर जरा भी असर न हुआ। वह ऊपर से प्रेम बताकर बोली-अस्तु, नाथ! बात जो भी हो उसके लिए पछताना तो व्यर्थ ही है। पर तब भी मैं अपने चित्त को सन्तोषित करने को इस पवित्र फूल की माला द्वारा नाम मात्र के लिए कुछ करती हूँ। यह कहकर रानी ने अपने हाथ में जो फूल गूँथने की रस्सी थी, उससे राजा को बाँध दिया। बेचारा वह तब भी यही समझा कि रानी कोई जन्मगाँठ की विधि करती होगी और यही समझ उसने खूब मजबूत बाँधे जाने पर भी चूँ तक नहीं किया। जब राजा बाँध दिया गया और उसके प्राण निकलने का कोई भय नहीं रहा तब रानी ने इशारे से उस अपंग को बुलाया और उसकी सहायता से पास ही बहने वाली यमुना नदी के किनारे पर ले जाकर बड़े ऊँचे से राजा को नदी में ढकेल दिया और आप अब अपने दूसरे प्रियतम के पास रहकर अपनी नीच मनोवृत्तियों को सन्तुष्ट करने लगी। नीचता और कुलटापन की हद हो गई ॥१८-१९॥

पुण्य का जब उदय होता है तब कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे या कैसी ही भयंकर आपत्ति का क्यों न सामना करना पड़े। पर तब भी वह रक्षा पा जाता है। देवरति के भी कोई ऐसा पुण्ययोग था, जिससे रानी के नदी में डाल देने पर भी वह बच गया। कोई गहरी चोट उसके नहीं आई वह नदी से निकलकर आगे बढ़ा। धीरे-धीरे वह मंगलपुर नामक शहर के निकट आ पहुँचा। देवरति कई दिनों तक बराबर चलते रहने से बहुत थक गया था, उसे बीच में कोई अच्छी जगह विश्राम करने को नहीं मिली थी, इसलिए अपनी थकावट मिटाने के लिए वह एक छायादार वृक्ष के नीचे सो गया। मानों जैसे वह सुख देने वाले जैनधर्म की छत्रछाया में ही सोया हो ॥२०-२१॥

तत्र श्रीवर्द्धनो राजा विपुत्रो मृत्युमाप्तवान्। मंत्रिभिर्भणितेनोच्चै-र्विधिना पट्टहस्तिना ॥२२॥
पूर्णकुंभेन संस्नाप्य स भूपः पुण्ययोगतः। नीत्वा पुरं तदा राज्ये स्थापितः सन्महोत्सवैः ॥२३॥
पूर्वपुण्येन जन्तूनामापदा सम्पदायते। तस्माच्छ्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं पुण्यं कुर्वन्तु भो बुधाः ॥२४॥
पुण्यं श्रीजिनपादार्चा पुण्यं सत्पात्रदानतः। पुण्यं पुण्यव्रतादुक्तं पुण्यं सत्प्रोषधादिभिः ॥२५॥
तदा देवरतिर्भूपः स्थितो राज्ये सुखप्रदे। गुणोपेतस्त्रियश्चापि मुखाब्जं नैव पश्यति ॥२६॥
दुर्जनैर्वंचितो धत्ते विश्वासं नैव सज्जने। संतप्तपयसा दग्धो भुङ्क्ते फूत्कृत्य सद्दधि ॥२७॥
तथा दानं ददात्युच्चैः सर्वेभ्योसौ यशस्करम्। पंगूनां न ददात्येव भूपतिः किञ्चिदप्यथः ॥२८॥
सा रक्ता पापिनी पंगुं तं कृत्वा चोल्लके तदा। अयं मे प्राणनाथोस्ति दत्तस्तातादिभिस्तराम् ॥२९॥

मंगलपुर का राजा श्रीवर्धन था उसके कोई सन्तान न थी। इसी समय उसकी मृत्यु हो गई। मंत्रियों ने यह विचार कर, कि पट्टहाथी को एक जलभरा घड़ा दिया जाकर वह छोड़ा गया और वह जिसका अभिषेक करे वही अपना राजा होगा, एक हाथी को छोड़ा। दैव की विचित्र लीला है, जो राजा है, उसे वह रंक बना देता है और जो रंक है, उसे संसार का चक्रवर्ती सम्राट् बना देता है। देवरति का दैव जब उसके विपरीत हुआ तब तो उसे उसने पथ-पथ का भिखारी बनाया और अनुकूल होने पर सब राज-योग मिला दिया। देवरति भर नींद में वृक्ष के नीचे सो रहा था। हाथी उधर ही पहुँचा और देवरति का उसने अभिषेक कर दिया। देवरति बड़े आनन्द-उत्साह के साथ शहर में लाया जाकर राज्यसिंहासन पर बैठाया गया। सच है, पुण्य जब पल्ले में होता है तब आपत्तियाँ भी सुख के रूप में परिणत हो जाती हैं। इसलिए सुख की चाह करने वालों को भगवान् के उपदेश किए हुए मार्ग द्वारा पुण्य-कर्म करना चाहिए। भगवान् की पूजा, पात्रों को दान, व्रत, उपवास ये सब पुण्य-कर्म हैं। इन्हें सदा करते रहना चाहिए ॥२२-२४॥

देवरति फिर राजा हो गए। पर पहले और अब के राजापन में बहुत फर्क है। अब वे स्वयं सब राज-काज देखा करते हैं। पहले से अब उनकी परिणति में भी बहुत भेद पड़ गया हैं। जो बातें पहले उन्हें बहुत प्यारी थी और जिनके लिए उन्होंने राज्य-भ्रष्ट होना तक स्वीकार कर लिया था, अब वे बातें उन्हें अत्यन्त अप्रिय हो उठीं। अब वे स्त्री नाम से घृणा करते हैं। वे एक कुल कलंकिनी का बदला सारे संसार की स्त्रियों को कुल कलंकिनी कहकर लेते हैं। वे अब गुणवती स्त्रियों का भी मुँह देखना पसन्द नहीं करते। सच है, **जो एक बार दुर्जनों द्वारा ठगा जाता है वह फिर अच्छे पुरुषों के साथ भी कैसा ही व्यवहार करने लगता है। गरम दूध का जला हुआ छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीता है।** देवरति की भी अब विपरीत गति है। अब वे स्त्रियों को नहीं चाहते। वे सबको दान करते हैं, पर जो अपंग, लूला, लँगड़ा होता है उसे वे एक अन्न का कण तक देना पाप समझते हैं ॥२५-२८॥

इधर रक्ता रानी ने बहुत दिनों तक तो वहीं रहकर मजामौज मारी और बाद में वह उस अपंग को एक टोकरे में रखकर देश-विदेश घूमने लगी। उस टोकरे को सिर पर रखे हुए वह जहाँ पहुँचती

इत्याद्यसत्यवाग्जालै-र्लोकानामग्रतो मुदा। स्वसतीत्वं प्रकाश्योच्चैः पर्यटन्ती पुरादिषु ॥३०॥
भिक्षां सर्वत्र कुर्वाणा मंगलाख्यपुरं ययौ। तत्र तां वीक्ष्य पौरास्ते प्रापुराश्चर्यकं महत् ॥३१॥
येन स्त्रीणां चरित्रेण ब्रह्माद्या वंचिता भुवि। का कथा तत्र लोकानां वञ्चने मुग्धतेचसाम् ॥३२॥
राजद्वारे तथा प्राप्तौ तौ गायन्तौ मनोहरम्। प्रतीहारस्तदा प्राह भूपतिं परमादरात् ॥३३॥
अहो स्वामिन्महाश्चर्यं सिंहद्वारे कलस्वनौ। सतीपंगू समायातौ दृष्टव्यौ धार्मिकैर्जनैः ॥३४॥
इत्याकर्ण्य प्रभुः सोपि जनानामाग्रहेण च। अन्तःपटं विधायोच्चैस्तौ समाहूय लम्पटौ ॥३५॥
प्रियावाक्यं समाकर्ण्य ज्ञात्वा तां च स्वकामिनीम्। अहो सती समायाता मया ज्ञातेयमद्भुता ॥३६॥
इत्युक्त्वा तां प्रचार्योच्चैः पापिनीं शीलवर्जिताम्। त्रिधा वैराग्यसम्पन्नः सुधीर्देवरतः प्रभुः ॥३७॥
तस्यैव जयसेनाख्यस्वपुत्रस्य महोत्सवैः। राज्यलक्ष्मीं समर्प्याशु जिनानभ्यर्च्य भक्तितः ॥३८॥
दीक्षां यमधराचार्यपार्श्वे शर्मशतप्रदाम्। समादाय मुनिर्भूत्वा पूतात्मा भव्यतारकः ॥३९॥
कृत्वा तपो जिनेन्द्रोक्तं लोकद्वयसुखप्रदम्। स्वर्गे देवोभवत्काले महान्नानर्द्धिमण्डितः ॥४०॥

अपने को महासती जाहिर करती और कहती कि माता-पिता ने जिसके हाथ मुझे सौंपा वही मेरा प्राणनाथ है, देवता है। उसकी इस ठगाई से बेचारे लोग ठगे जाकर उसे खूब रुपया पैसा देते। इसी तरह भिक्षा-वृत्ति करती-करती रक्ता रानी मंगलपुर में आ निकली। वहाँ भी लोगों को उसके सतीत्व पर बड़ी श्रद्धा हो गई। हाँ सच है, जिन स्त्रियों ने ब्रह्मा, विष्णु, महादेव सरीखे देवताओं को भी ठग लिया, तब साधारण लोग उनके जाल में फँस जायें इसका आश्चर्य क्या? ॥२९-३२॥

एक दिन ये दोनों गाते राजमहल के सामने आए। इनके सुन्दर गाने को सुनकर ड्यौढ़ीवान् ने राजा से प्रार्थना की-महाराज, सिंहद्वार पर एक सती अपने अपंग पति को टोकरे में रखकर और उसे सिर पर उठाये खड़ी है। वे दोनों बड़ा ही सुन्दर गाना जानते हैं। महाराज का वे दर्शन करना चाहते हैं। आज्ञा हो तो मैं उन्हें भीतर आने दूँ। इसके साथ ही सभा में बैठे हुए और प्रतिष्ठित कर्मचारियों ने भी उनके देखने की इच्छा जाहिर की। राजा ने एक परदा डलवा कर उन्हें बुलवाने की आज्ञा की ॥३३-३५॥

सती सिर पर टोकरा लिए भीतर आई, उसने कुछ गाया। उसके गानों को सुनकर सब मुग्ध हो गए और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। राजा ने उसकी आवाज सुनकर उसे पहचान लिया। उसने परदा हटवाकर कहा-अहा, सचमुच में यह महासती है। इसका सतीत्व मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ। इसके बाद ही उन्होंने अपनी सारी कथा सभा में प्रकट कर दी। लोग सुनकर दाँतों तले अँगुली दबा गए। उसी समय महासती रक्ता को शहर बाहर करने का हुक्म हुआ। देवरति को स्त्रियों का चरित देखकर बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होंने अपने पहले पुत्र जयसेन को अयोध्या से बुलवाया और उसे इस राज्य का भी मालिक बनाकर आप श्रीयमधराचार्य के पास जिनदीक्षा के लिए गए, जो कि अनेक सुखों की देने वाली हैं। साधु होकर देवरति ने खूब तपश्चर्या की, बहुतों को कल्याण का मार्ग बतलाया और अन्त में समाधि से शरीर त्याग कर वे स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों के धारक देव हुए ॥३६-४०॥

दृष्ट्वा स्त्रीचरितं समस्तजगतां निन्द्यं सदा वञ्चकं ज्ञात्वा संसृतिदेहभोगमखिलं शक्रस्य चापोपमम्।
नाम्ना देवरतिप्रभुर्जिनपतेर्दीक्षां समादाय यः संजातो मुनिसत्तमो गुणनिधिर्नित्यं स मेऽशं क्रियात् ॥४१॥

इति कथाकोशे देवरतिराज्ञः कथा समाप्ता।

३१. गोपवती-कथा

सर्वसौख्यप्रदं नत्वा श्रीजिनं जगदर्चितम्। वैराग्याय सतां वक्ष्ये वृत्तं गोपवतीश्रितम् ॥१॥
पलासग्रामवास्तव्यो नाम्ना सिंहबलो नरः। भार्या गोपवती तस्य संजाता दुष्टमानसा ॥२॥
एकदा पद्मिनीखेटग्रामं गत्वा निजेच्छया। प्रच्छन्नं स्वस्त्रियो गाढं सुधीः सिंहबलो मुदा ॥३॥
तत्रस्थसिंहसेनाख्य ग्रामकूटस्य पुत्रिकाम्। सुभद्रां रूपलावण्यमण्डितां परिणीतवान् ॥४॥
तच्छ्रुत्वा पापिनी सापि महाकोपाग्निकम्पिता। गत्वा गोपवती तत्र तद्गृहं सम्प्रविश्य च ॥५॥
मातृकाग्रे प्रसुप्तायाः सुभद्रायाश्च मस्तकम्। गृहीत्वा गृहमायाता सपत्नी पापकारिणी ॥६॥
प्रातःकाले सुभद्राया रुण्डं दृष्ट्वा भयानकम्। सोपि सिंहबलो दुःखी समायातो निजं गृहम् ॥७॥

रक्तारानी सरीखी कुलटा स्त्रियों का घृणित चरित देखकर और संसार, शरीर, भोगादिकों को इन्द्र-धनुष की तरह क्षणिक समझकर जिन देवरति राजा ने जिनदीक्षा ग्रहण कर मुनिपद स्वीकार किया, वे गुणों के खजाने मुनिराज मुझे मोक्ष लक्ष्मी का स्वामी बनावें ॥४१॥

३१. गोपवती की कथा

संसार द्वारा वन्दना-स्तुति किए गए और सब सुखों को देने वाले जिनभगवान् को नमस्कार कर गोपवती की कथा लिखी जाती है, जिसे सुनकर हृदय में वैराग्य भावना जगती है ॥१॥

पलासगाँव में सिंहबल नाम का एक साधारण गृहस्थ रहता था। उसकी स्त्री का नाम गोपवती था। गोपवती बड़े दुष्ट स्वभाव की स्त्री थी। उसकी दिन-रात की खटपट से बेचारा सिंहबल तबाह हो गया। उसे पलभर के लिए भी गोपवती के द्वारा कभी सुख नहीं मिला ॥२॥

गोपवती से तंग आकर एक दिन सिंहबल पास ही के एक पद्मिनीखेट नाम के गाँव में गया। वहाँ उसने अपनी पहली स्त्री को बिना कुछ पूछे-ताछे गुप्त रीति से सिंहसेन चौधरी की सुभद्रा नाम की लड़की से, जो कि बहुत ही खूबसूरत थी, ब्याह कर लिया। किसी तरह यह बात गोपवती को मालूम हो गई, सुनते ही क्रोध के मारे वह आग-बबूला हो गई उससे सिंहबल का यह अपराध नहीं सहा गया। वह उसे उसके अपराध की योग्य सजा देने की फिराक में लग गई ॥३-५॥

एक दिन शाम के कोई सात बजे होंगे कि गोपवती अपने घर से निकलकर पद्मिनीखेट गई। उस समय कोई ग्यारह बज गए होंगे। गोपवती सीधी सिंहसेन के घर पहुँची। घर के लोगों ने समझा कि कोई आवश्यक काम के लिए यहाँ आई होगी, सबेरा होने पर विशेष पूछ-ताछ करेंगे। यह विचार कर वे सब सो गए। गोपवती भी तब लोगों को दिखाने के लिए सो गई पर जब सबको नींद आ गई, तब आप चुपके से उठी और जहाँ अपनी माँ के पास बेचारी सुभद्रा सोई थी, वहाँ पहुँचकर उस

तदा गोपवती तस्य स्वनाथस्यातिसंभ्रमम्। आगतस्वागतं कृत्वा सा ददाति स्म भोजनम् ॥८॥
तदुद्वेगात्तदा तस्मै रोचते नैव भोजनम्। महादुःखाश्रितस्यात्र का प्रीतिर्भोजनादिषु ॥९॥
ततस्तया सुपापिन्या गोपवत्या प्रकोपतः। सुभद्राया मुखं पश्य यतस्ते रोचतेशनम् ॥१०॥
इत्युक्त्वा मस्तकं तच्च क्षिप्तं तद्भाजने तदा। तद्दृष्ट्वा भयभीतोसौ राक्षसीयं भयानका ॥११॥
इति ज्ञात्वा द्रुतं चित्ते नश्यन्सिंहबलो भटः। कुन्तेन मारितः कष्टं पापिन्या दुष्टयोषिता ॥१२॥
मत्वा स्त्रीचरितं चेति स्वचित्ते चतुरोत्तमैः। विश्वासो नैव कर्त्तव्यो दुष्टस्त्रीणां कदाचन ॥१३॥
स जयति जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो मदनमदकरीन्द्रध्वंसने यो मृगेन्द्रः।
तव भवभयहर्त्ता स्वर्गमोक्षप्रकर्त्ता शिवयुवतिसुभर्त्ता शान्तये शान्तिदाता ॥१४॥

इति कथाकोशे गोपवती-कथा समाप्ता।

३२. वीरवती-कथा

नत्वार्हतं जगन्मित्रं पवित्रं मुक्तिशर्मदम्। वक्ष्ये वीरवतीवृत्तं सतां वैराग्यकारणम् ॥१॥

पापिनी ने सुभद्रा का मस्तक काट लिया और उसे लेकर रात ही में अपने घर पर आ गई। सबेरा होते ही यह हाल सिंहबल को मालूम हुआ। सुभद्रा के मुर्दे को देखकर उसे बेहद दुःख हुआ। वह खिन्न मन होकर अपने घर आ गया। उसे आया देखकर गोपवती अब उसका बड़ा आदर-सत्कार करने लगी। बड़ा स्नेह प्रकट कर उसे भोजन कराने लगी। पर सिंहबल के हृदय पर तो सुभद्रा के मरण की बड़ी गहरी चोट लगी थी, इसलिए उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता था और वह सदा उदास रहा करता था और सच भी है, एक महा दुःखी को भोजन वगैरह में क्या प्रीति होती होगी? सिंहबल की सुभद्रा के लिए वह दशा देख गोपवती का क्रोध और भी बढ़ गया। एक दिन बेचारा सिंहबल उदास मन से भोजन कर रहा था। यह देख गोपवती ने क्रोध से सुभद्रा का मस्तक लाकर उसकी थाली में डाल दिया और बोली- हाँ, बिना इसके देखे तुझे भोजन अच्छा नहीं लगता था; अब तो अच्छा लगेगा न? सुभद्रा के सिर को देखकर सिंहबल काँप गया। वह ''हाय! यह तो महाराक्षसी है'' इस प्रकार जोर से चिल्लाकर डर के मारे भागने लगा। इतने में राक्षसी गोपवती ने पास ही पड़े हुए भाले को उठाकर सिंहबल की पीठ में जोर से मारा कि वह उसी समय तड़फड़ा कर वहीं पर ढेर हो गया। गोपवती के ऐसे घृणित चरित को देखकर बुद्धिमानों को उचित है कि वे दुष्ट स्त्रियों पर कभी विश्वास न लावें ॥६-१३॥

वे कर्मों के जीतने वाले जिनेन्द्र भगवान् संसार में सर्वश्रेष्ठ कहलावें जो कामरूपी हाथी के मारने को सिंह हैं, संसार का भय मिटाने वाले हैं, शान्ति, स्वर्ग और मोक्ष के देने वाले हैं और मोक्षरूपी रमणी-रत्न के स्वामी हैं। वे मुझे भी शान्ति प्रदान करें॥१४॥

३२. वीरवती की कथा

संसार के बन्धु, पवित्रता की मूर्ति और मुक्ति का स्वतंत्रता का सुख देने वाले जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर वीरवती का उपाख्यान लिखा जाता है, जो सत्पुरुषों के लिए वैराग्य को बढ़ाने वाला है ॥१॥

पुरे राजगृहे श्रेष्ठी धनमित्रो धनैर्युतः। धारिणी श्रेष्ठिनी तस्य तयोर्दत्तोभवत्सुतः ॥२॥
तथा भूमिगृहे नाम्ना नगरे सम्पदाभृते। आनन्दमित्रवत्योश्च पुत्री वीरवती मता ॥३॥
तां कन्यां कुलजाचारैः स दत्तः परिणीतवान्। सम्बन्धो विधिना बद्धो धीमता केन वार्यते ॥४॥
तत्रैव नगरे चोरः प्रचण्डोगारनामकः। रक्ता वीरवती तस्मिन्सा जाता पापकर्मणि ॥५॥
एकदासौ सुधीर्दत्तो रत्नद्वीपं मनोहरम्। गत्वोपार्ज्य धनं भूरि वासरैर्बहुभिर्मुदा ॥६॥
आगच्छन्स्वसुरावासं भार्यां संसक्तमानसः। महाटव्यां सहस्त्रादिभटचोरेण वीक्षितः ॥७॥
तदा कौतूहलात्सोपि तस्करस्तस्य पृष्ठतः। दृष्टुं तच्चेष्टितं मूढं तत्पुरं च समागतः ॥८॥
मन्दिरे श्वसुरस्योच्चैरागतस्य तदा द्रुतम्। भार्या तातादिभिस्तस्य कृता प्राघूर्णिकक्रिया ॥९॥
तस्मिन्नेव दिने पापी चोरो गारकसंज्ञकः। धृत्वा स कोट्टपालाद्यैः शूले प्रोतः सुकष्टतः ॥१०॥
रात्रौ वीरवती सापि सुप्तं त्यक्त्वा च दत्तकम्। चचाल तस्कराभ्यर्णं खड्गं कृत्वा करे खरम् ॥११॥

राजगृह नगर में धनमित्र नामक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धारिणी और पुत्र का दत्त था। भूमिगृह नामक एक और सुन्दर नगर था। उसमें आनन्द नाम का एक साधारण गृहस्थ रहता था। इसकी स्त्री मित्रवती थी। उसके एक वीरवती नाम की कन्या हुई। वीरवती का व्याह दत्त के साथ हुआ। सो ठीक ही है, जो सम्बन्ध दैव को मंजूर होता है उसे कौन रोक सकता है ॥२-४॥

यहीं एक चोर रहता था। इसका नाम था गारक। किसी समय वीरवती ने इसे देखा। वह इसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गई। एक बार दत्त रत्नद्वीप से धन कमाकर घर की ओर रवाना हुआ। रास्ते में इसकी ससुराल पड़ी। इसे अपने प्रियतमा से मिले बहुत दिन हो गए थे और यह उससे बहुत प्रेम भी करता था, इसलिए इसने ससुराल होकर घर जाना उचित समझा। यह रास्ते में एक जंगल में ठहरा। यहीं एक सहस्त्रभट नाम के चोर ने इसे देखा। यहाँ से चलते समय दत्त के पीछे यह चोर भी विनोद से हो लिया और साथ-साथ भूमिगृह में आ पहुँचा ॥५-८॥

ससुराल में दत्त का बहुत कुछ आदर-सत्कार हुआ। वीरवती भी बड़े प्रेम के साथ इससे मिली। पर उसका चित्त स्वभाव-प्रसन्न न होकर कुछ बनावट को लिए था। उसका मन किसी गहरी चोट से जर्जरित है, इस बात को चतुर पुरुष उसके चेहरे के रंग-ढंग से बहुत जल्दी ताड़ सकता था। पर सरल-स्वभावी दत्त इसका रत्तीभर भी पता नहीं पा सका। कारण, अपनी स्त्री के सम्बन्ध में उसे स्वप्न में भी किसी तरह का सन्देह न था। बात यह थी कि जिस चोर से वीरवती की आशनाई थी, वह आज किसी बड़े भारी अपराध के कारण सूली पर चढ़ाया जाने वाला था। वीरवती को उसी का बड़ा रंज था और इसी से उसका चित्त चल-विचल हो रहा था। रात के समय जब सब घर के लोग सो गए तब वीरवती अकेली उठी और हाथ में एक तलवार लिए वहीं पहुँची जहाँ अपराधी सूली पर चढ़ाये जाते थे। इसे घर से निकलते समय सहस्त्रभट चोर ने देख लिया। वह यह देखने के लिए कि इतनी रात में यह अकेली कहाँ जाती है, उसके पीछे-पीछे हो गया। वीरवती को उसके पाँवों

सहस्त्रभटचोरोपि दृष्टुं तस्याश्चरित्रकम्। पृष्ठतश्चलितो गूढं चौराः केचिद्विनोदिनः ॥१२॥
ज्ञात्वा तत्पादसंचारं तया खड्गेन दुष्टया। छिन्ना चौराङ्गुलिश्छन्नो वटप्रारोहकोपि च ॥१३॥
शूलाभ्यर्णे गता यावत्स चौरो गारकोऽवदत्। हे प्रिये म्रियमाणं मां समालिंग्य मम द्रुतम् ॥१४॥
स्वताम्बूलं मुखेनोच्चैस्त्वं देहीति सुखप्रदम्। धिक्कामं मरणं प्राप्तो यतो वाञ्छति भोगकम् ॥१५॥
ततस्तस्याः सुपापिन्याः कृत्वा मृतकसञ्चयम्। तस्योपरि चटित्वा च ताम्बूलं स्वमुखस्थितम् ॥१६॥
ददत्याः पापतस्तस्मै तस्मिन्काले शवोच्चये। पतिते म्रियमाणेनाधरश्चोरेण खण्डितः ॥१७॥
तस्यैव तस्करस्यास्ये सोधरः संस्थितस्तदा। गूढं वीरवती वक्त्रं वस्त्रेणाछाद्य वेगतः ॥१८॥
ततो गेहं समागत्य सा दत्तस्य समीपके। अनेनैतत्कृतं चेति चक्रे पूत्कारमुच्चकैः ॥१९॥
पापिनी लम्पटा योषित्स्वकुलक्षयकारिणी। किं करोति न दुष्कर्म कष्टकोटिविधायकम् ॥२०॥
मार्यमाणो ततो दत्तो राज्ञा रुष्टेन कष्टतः। सहस्त्रभटचोरेण तदीयं पापचेष्टितम् ॥२१॥

की आवाज से जान पड़ा कि उसके पीछे-पीछे कोई आ रहा है, पर रात अन्धेरी होने से वह उसे देख न सकी। तब उस दुष्टा ने अपनी हाथ की तलवार का एक वार पीछे की ओर किया। उससे बेचारे सहस्त्रभट की अँगुलियाँ कट गई। तलवार को झटका लगने से उसे और दृढ़ विश्वास हो गया कि कोई पीछे अवश्य आ रहा है। वह देखने के लिए खड़ी हो गई, पर उसे कुछ सफलता प्राप्त न हुई। सहस्त्रभट कुछ और पीछे हट गया। वह फिर आगे बढ़ी। पास ही सूली का स्थान उसे दिख पड़ा। वह पीछे आने वाले की बात भूलकर दौड़ी हुई अपने यार के पास पहुँची। उसे सूली पर चढ़ाये बहुत समय नहीं हुआ था, इसलिए उसकी अभी कुछ साँसें बाकी थी। वीरवती को देखते ही उसने कहा-प्रिये, यही मेरी और तुम्हारी अन्तिम भेंट है। मैं तुम्हारी ही आशा लगाये अब तक जी रहा हूँ, नहीं तो कभी का मरमिटा होता। अब देर न कर मुझ दुःखी को अन्तिम प्रेमालिंगन दे, सुखी करो और आओ, अपने मुख का पान मेरे मुख में देओ; जिससे मेरा जीवन जिसके लिए अब तक टिका है उस तुमसी सुन्दरी का आलिंगन कर शान्ति से परमधाम सिधारे। हाय! इस काम को धिक्कार है, जो मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ भी इसे चाहता है ॥९-१५॥

वीरवती ने अपने यार को सूली पर से उतारने का कोई उपाय तत्काल न देखकर पास में पड़े हुए कुछ मुर्दों को इकट्ठा किया और उन्हें ऊपर तले रखकर वह उन पर चढ़ी और अपना मुँह उसके मुँह के पास ले जाकर बोली-प्रियतम, लो अपनी इच्छा पूरी करो। गारक ने वीरवती के मुँह का पान लेने के लिए उसके ओठों को अपने मुँह में लिया था कि कोई ऐसा धक्का लगा जिससे वीरवती के पाँव के नीचे का मुर्दों का ढेर खिसक जाने से वीरवती नीचे आ गिरी और उसका ओठ कट गया अपना ओठ देख कर घबरा गई और उस दुष्टा ने चालाकी से घर आकर शोर मचाने लगी कि दत्त ने मेरा ओठ काट लिया और साथ ही बड़े जोर से वह रोने लगी। उसी समय अड़ोस-पड़ोस और घर के लोगों ने आकर दत्त को बाँध लिया। सच है, पापिनी, कुलटा और अपने वंश का नाश करने वाली स्त्रियाँ क्या नीच कर्म नहीं कर सकतीं? ॥१६-२०॥

सबेरा हुआ। दत्त राजा के सामने उपस्थित किया गया। उसका क्या अपराध है और वह सच

सर्वं प्रोक्त्वा नृपस्याग्रे रक्षितः शुभयोगतः। लोके पुण्यवतां पुंसां सर्वे कुर्वन्ति रक्षणम् ॥२२॥
इत्थं ज्ञात्वा बुधैश्चित्ते कुस्त्रीवृत्तं सुदारुणम्। कार्यं कष्टकराणां हि विषयाणां विचारणम् ॥२३॥
धन्यास्ते मुनयो जिनेन्द्रकथितैः शीलव्रतैर्मण्डिताः कामक्रूरकरीन्द्रदुर्जयघटाविन्त्रासकण्ठीरवाः।
ज्ञानध्यानरता विरक्तहृदया भव्याब्जसद्भास्कराः संसारार्णवतारणेतिचतुराः कुर्युः सतां मंगलम् ॥२४॥

इति कथाकोशे वीरवतीकथा समाप्ता।

३३. सुरतभूपस्य कथा

इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्कैः समर्चितपदद्वयम्। भक्त्या नत्वा जिनं वक्ष्ये वृत्तं सुरतभूपतेः ॥१॥
अयोध्यानगरे राजा सुरताख्यो महानभूत्। सती नाम्नी महादेवी योषित्पञ्चशताग्रणीः ॥२॥

है या झूठ, इसकी कुछ विशेष तलाश न की जाकर एकदम उसके मारने का हुक्म दिया गया। पर यह सबको ध्यान में रखना चाहिए कि जब पुण्य का उदय होता है तब मृत्यु के समय भी रक्षा हो जाती है। पाठकों विनोदी सहस्रभट की याद होगी। यह वीरवती के अन्तिम कुकर्म तक उसके आगे पीछे उपस्थित रहा है। उसने सच्ची घटना अपनी आँखों से देखी है। वह इस समय यहीं उपस्थित था। राजा का दत्त के लिए मारने का हुक्म सुनकर उससे न रहा गया। उसने अपनी कुछ परवाह न कर सब सच्ची घटना राजा से कह सुनाई। राजा सुनकर दंग रह गया। उसने उसी समय अपने पहले हुक्म को रद्दकर निरपराध दत्त को रिहाई दी और वीरवती को उसके अपराध की उपयुक्त सजा दी। सच है **पुण्यवानों की सभी रक्षा करते हैं।** दुष्ट स्त्रियों का ऐसा घृणित और कलंकित चरित देखकर सबको उचित है कि वे दुःख देने वाले विषयों से अपनी सदा रक्षा करें ॥२१-२३॥

वे महात्मा धन्य है जो भगवान् के उपदेश किए हुए पवित्र शीलव्रत से विभूषित है, कामरूपी क्रूर हाथी को मारने के लिए सिंह है, विषयों को जिन्होंने जीत लिया है, ज्ञान, ध्यान, आत्मानुभव में जो सदा मग्न हैं, विषयभोगों से निरन्तर उदास हैं, भव्यरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने में जो सूर्य हैं और संसार समुद्र से पार करने में जो बड़े कर्मवीर खेवटिया हैं वे सबका कल्याण करें ॥२४॥

३३. सुरत राजा की कथा

देवों द्वारा पूजा किए गए जिनभगवान् के चरणों को भक्ति सहित नमस्कार कर सुरत नाम के राजा का हाल लिखा जाता है ॥१॥

सुरत अयोध्या के राजा थे। इनके पाँच सौ स्त्रियाँ थीं। उनमें पट्टरानी का पद महादेवी सती को प्राप्त था। राजा का सती पर बहुत प्रेम था। वे रात दिन भोगों में ही आसक्त रहा करते थे, उन्हें राज-काज की कुछ चिन्ता न थी। अन्तःपुर के पहरे पर रहने वाले सिपाही से उन्होंने कह रखा था कि जब कोई खास मेरा कार्य हो या कभी कोई साधु-महात्मा यहाँ आवें तो मुझे उनकी सूचना देना। वैसे कभी कुछ कहने को न आना ॥२॥

स तस्यां भूपतिर्नित्यं भोगासक्तैकमानसः। प्रतीहारं प्रति प्राह भो त्वया द्वारपालक ॥३॥
समायाते महाराज-कार्ये च मुनिसत्तमे। स्तवनीयं मम व्यक्तं नान्यत्किञ्चित्कदाचन ॥४॥
इत्युक्त्वान्तःपुरं शीघ्रं प्रविश्य परया मुदा। भुंजानो विविधान्भोगान्संस्थितो तृप्तिकारकान् ॥५॥
एकदा पुण्ययोगेन मन्दिरे तस्य भूपतेः। दमदत्तो धर्मरुचिर्मुनी मासोपवासिनौ ॥६॥
चर्यार्थं तौ समायातौ दृष्ट्वासौ द्वारपालकः। कुर्वन्तं तिलकं सत्या वक्त्राब्जे मण्डिते तराम् ॥७॥
नत्वा तं सुरतं भूपं संजगौ भो महीपते। समायातौ मुनीन्द्रौ द्वौ सुरेन्द्रार्चितपङ्कजौ ॥८॥
इत्याकर्ण्य प्रभुः सोपि हे प्रिये तिलकस्तव। यावच्छुष्यति नैवात्र तावद्भक्त्या मुनीन्द्रयोः ॥९॥
आहारं कारयित्वोच्चैरागमिष्यामि सत्वरम्। प्रोक्त्वेति सुरतो धीमान्स्थापयित्वा मुनीश्वरौ ॥१०॥
नव पुण्यैः समायुक्तं ताभ्यामाहारमुत्तमम्। ददौ भक्त्या गुणैर्युक्तो भूरिशर्माकरं परम् ॥११॥
दानपूजाव्रतोपेतः शोभते श्रावकोत्तमः। तैर्विहीनो नरो नैव भाति वा निष्फलो द्रुमः ॥१२॥
तस्माद्दानं त्रिधा पात्रे पूजां श्रीमज्जिनेशिनः। स्वव्रतं शर्मणे शक्त्या संभजन्तु सदा बुधाः ॥१३॥
तस्मिन्काले सती सापि मुनि निन्दोरुपापतः। उदंचरमहाकुष्टकष्टराशिप्रपीडिता ॥१४॥
वरं हालाहलं भुक्तमेकजन्मभयप्रदम्। नैव निन्दा मुनीन्द्राणां जन्मकोटिषु कष्टदा ॥१५॥
ये नित्यं व्रतशीलाद्यैर्मण्डिता मुनिनायकाः। सन्मार्गदीपका प्रायास्ते निन्द्यन्ते कथं भुवि ॥१६॥

एक दिन पुण्योदय से एक महीने के उपवासे दमदत्त और धर्मरुचि मुनि आहार के लिए राजमहल में आए। उन्हें देखकर द्वारपाल राजा के पास गया और नमस्कार कर उसने मुनियों के आने का हाल उनसे कहा। राजा इस समय अपनी प्राणप्रिया सती के मुख-कमल पर तिलक रचना कर रहे थे। वे सती से बोले-प्रिये, जब तक कि तुम्हारा तिलक न सूखे, मैं अभी मुनिराजों को आहार देकर बहुत जल्दी आया जाता हूँ। यह कहकर राजा चले आए। उन्होंने मुनिराजों को भक्तिपूर्वक ऊँचे आसन पर बैठाकर नवधा भक्ति-सहित पवित्र आहार कराया, जो कि उत्तम सुखों का देने वाला है। सच है, **दान, पूजा, व्रत, उपवासादि से ही श्रावकों की शोभा है और जो इनसे रहित हैं वे फलरहित वृक्ष की तरह निरर्थक समझे जाते हैं।** इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे पात्रदान, जिनपूजा, व्रत, उपवासादिक सदा अपनी शक्ति के अनुसार करते रहें ॥३-१३॥

इधर तो राजा ने मुनियों को दान देकर पुण्य उत्पन्न किया और उधर उनकी प्राणप्रिया अपने विषय सुख के अन्तराय करने वाले मुनियों का आना सुनकर बड़ी दु:खी हुई उसने अपना भला-बुरा कुछ न सोचकर मुनियों की निन्दा करना शुरू किया और खूब ही मनमानी उन्हें गालियाँ दी। सन्तों का यह कहना व्यर्थ नहीं है कि-''इस हाथ दे, उस हाथ ले''। सती के लिए यह नीति चरितार्थ हुई अपने बाँधे तीव्र पापकर्मों का फल उसे उसी समय मिल गया। रानी के कोढ़ निकल आया। सारा शरीर काला पड़ गया। उससे दुर्गन्ध निकलने लगी। आचार्य कहते हैं-हलाहल विष खा लेना अच्छा है, जो एक ही जन्म में कष्ट देता है, पर जन्म-जन्म में दु:ख देने वाली मुनि-निन्दा करना कभी अच्छा नहीं क्योंकि सन्त-महात्मा तो व्रत, उपवास, शील आदि से भूषित होते हैं और सच्चे आत्महित का मार्ग

गुरुर्दीपो गुरुर्बन्धु-र्गुरुः संसारतारकः। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन समाराध्यो गुरुर्बुधैः ॥१७॥
ततो राजा तदासक्तो समागत्य तदन्तिकम्। तस्याः शरीरमालोक्य कुष्टकालाग्निपीडितम् ॥१८॥
संसारदेहभोगेषु विरक्तः सुरतः सुधीः। दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो जगद्धितः ॥१९॥
सापि मृत्वा सती नाम्नी दीर्घसंसारमाश्रिता। स्वकीयपुण्यपापस्य फलं भुङ्क्ते जनो ध्रुवम् ॥२०॥
मत्वेति संसृतिचरित्रविचित्रमुच्चैः श्रीमज्जिनेन्द्रकथिते भुवि सारधर्मे।
स्वर्गापवर्गसुखसाधनहेतुभूते कार्या मतिर्बुधजनैः सततं सुखाप्त्यै ॥२१॥

इति कथाकोशे श्रीसुरतराज्ञः कथा समाप्ता।

३४. विषयलुब्धसंसारिजीवस्य कथा

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्योच्चैः संसाराम्भोधितारणम्। वक्ष्ये संसारिजीवस्य वृत्तं स्तोकेन दारुणम् ॥१॥
महाटव्यां नरः कोपि भीतो व्याघ्राद्भयानकात्। अन्धकूपे स्थितस्तत्र तृणस्तम्बे विलम्बितः ॥२॥
तथा व्याघ्राहतोत्तुङ्गकूपवृक्षप्रकम्पनात्। प्रोच्छलन्मधुकक्रूरमक्षिकाभिः प्रपीडितः ॥३॥

बताने वाले हैं, वे निन्दा करने योग्य कैसे हों? और ये ही गुरु अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं इसलिए दीपक हैं, सबका हित करते हैं इसलिए बन्धु हैं और संसाररूपी समुद्र से पार कराते हैं इसलिए कर्मशील खेवटिया हैं। अतः हर प्रयत्न द्वारा इनकी आराधना, सेवा-सुश्रुषा करते रहना चाहिए ॥१४-१७॥

जब राजा मुनिराजों को आहार देकर निवृत्त हुए तब अपनी प्रिया के पास आ गए। आते ही जैसे उन्होंने रानी का काला और दुर्गन्धमय शरीर देखा वे बड़े अचंभे में पड़ गए। पूछने पर उन्हें उसका कारण मालूम हुआ। सुनकर वे बहुत खिन्न हुए। संसार, शरीर, भोग उन्हें अब अप्रिय जान पड़ने लगे। उन्हें अपनी रानी का मुनि-निन्दारूप घृणित कर्म देखकर बड़ा वैराग्य हुआ। वे उसी समय सब राज-पाट छोड़कर योगी बन गए और अपना तथा संसार का हित करने में उद्यमी बने ॥१८-१९॥

समय पाकर सती की मृत्यु हुई। अपने पाप के फल से वह संसाररूपी वन में घूमने लगी। सो ठीक ही है, अपने किए पुण्य या पाप का फल जीवों को भोगना ही पड़ता है। इस प्रकार संसार की विचित्र स्थिति जानकर आत्महित के चाहने वाले सत्पुरुषों को भगवान् के उपदेश किए पवित्र धर्म पर सदा विश्वास रखना चाहिए, जो कि स्वर्ग और मोक्ष के सुख का प्रधान कारण है ॥२०-२१॥

३४. विषयों में फँसे हुए संसारी जीव की कथा

संसार-समुद्र से पार करने वाले सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार कर संक्षेप से संसारी जीव की दशा दिखलाई जाती है, जो बहुत ही भयावनी है ॥१॥

कभी कोई मनुष्य एक भयंकर वन में जा पहुँचा। वहाँ वह एक विकराल सिंह को देखकर डर के मारे भागा। भागते-भागते अचानक वह एक गहरे कुँए में गिरा। गिरते हुए उसके हाथों में एक वृक्ष की जड़ें पड़ गई उन्हें पकड़ कर वह लटक गया। वृक्ष पर शहद का एक छत्ता जमा था। सो इस मनुष्य के पीछे भागे आते हुए सिंह के धक्के से वृक्ष हिल गया। वृक्ष के हिल जाने से मधुमक्खियाँ

स्तम्बमूलेऽशितश्वेतमूषकाभ्यां निरन्तरम्। छेद्यमानोप्यधोभागे चतुस्सर्पेषु सत्सु च ॥४॥
इत्यादिभूरिकष्टेषु स मूढो नष्टमानसः। प्राप्तास्यमधुबिन्दुश्च तदेवं वाञ्छति स्फुटम् ॥५॥
अत्रान्तरे समागत्य जगौ कश्चित्खगो हि तम्। आगच्छ भो नभोयाने तिष्ठ त्वं शर्मदायिनि ॥६॥
तदाकर्ण्य कुधीः सोपि कूपस्थो लम्पटोऽवदत्। मधुबिन्दुः समायाति यावन्मे मधुरो मुखे ॥७॥
भव त्वं सुस्थिरस्तावदित्याकर्ण्य खगो गतः। विषयैर्वञ्चितो जीवो न कदाचिद्धिते रतः ॥८॥
यथासौ पुरुषः कूपे संस्थितो मधुलम्पटः। समाहूतः खगेनापि न वेत्ति स्म निजं हितम् ॥९॥
तथासौ विषयासक्तः प्राणी संसारकूपके। कालव्याघ्रादिभिर्नित्यं पीडितोपि प्रकष्टतः ॥१०॥
बोधितो गुरुभिश्चापि लोकद्वयसुखप्रदैः। सन्मार्गं नैव जानाति पापतो भाविदुर्गतिः ॥११॥

उड़ गई और छत्ते से शहद की बूँदें टप-टप टपककर उस मनुष्य के मुँह में गिरने लगी। इधर कुँए में चार भयानक सर्प थे, सो वे उसे डसने के लिए मुँह बाय हुए फुफकार करने लगे और जिन जड़ों को यह अभागा मनुष्य पकड़े हुए था, उन्हें एक काला और एक सफेद ऐसे दो चूहे काट रहे थे। इस प्रकार के भयानक कष्ट में वह फँसा था, फिर भी उससे छुटकारा पाने का कुछ यत्न न कर वह मूर्ख स्वाद की लोलुपता से उन शहद की बूँदों के लोभ को नहीं रोक सका और उल्टा अधिक-अधिक उनकी इच्छा करने लगा। इसी समय जाता हुआ कोई विद्याधर उस ओर आ निकला। उस मनुष्य की ऐसी कष्टमय दशा देखकर उसे बड़ी दया आई। विद्याधर ने उससे कहा-भाई, आओ और इस वायुयान में बैठो। मैं तुम्हें निकाले लेता हूँ। इसके उत्तर में उस अभागे ने कहा-हाँ, जरा आप ठहरें, यह शहद की बूँद गिर रही है, मैं इसे लेकर ही निकलता हूँ। वह बूँद गिर गई विद्याधर ने फिर उससे आने को कहा। तब भी इसने वही उत्तर दिया कि हाँ यह बूँद आई जाती है, मैं अभी आया। गर्ज यह कि विद्याधर ने उसे बहुत समझाया, पर वह "हाँ इस गिरती हुई बूँद को लेकर आता हूँ" इसी आशा में फँसा रहा। लाचार होकर बेचारे विद्याधर को लौट जाना पड़ा। सच है, विषयों द्वारा ठगे गए जीवों की अपने हित की ओर कभी प्रीति नहीं होती ॥२-८॥

जैसे उस मनुष्य को उपकारी विद्याधर ने कुँए से निकालना चाहा, पर वह शहद की लोलुपता से अपने हित को नहीं जान सका, ठीक इसी तरह विषयों में फँसा हुआ जीव संसाररूपी कुँए में कालरूपी सिंह द्वारा अनेक प्रकार के कष्ट पा रहा है, उसकी वायुरूपी डाली को दिन-रात रूपी दो सफेद और काले चूहे काट रहे हैं, कुँए के चार सर्परूपी चार गतियाँ इसे डसने के लिए मुँह बाये खड़ी हैं और गुरु इसे हित का उपदेश दे रहे हैं; तब भी यह अपना हित न कर शहद की बूँदरूपी विषयों में लुब्ध हो रहा है और उनकी ही अधिक-अधिक इच्छा करता जाता है। सच तो यह है कि अभी इसे दुर्गतियों का दुःख बहुत भोगना है। इसीलिए सच्चे मार्ग की ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती ॥९-११॥

इत्थं कष्टशतप्रदानचतुरे संसारघोरार्णवे ज्ञात्वा वै विषयान् विषान्नसदृशान्तान्दुर्जनान्वा भुवि।
श्रीमत्सारजिनेन्द्रदेवगदितो धर्मः सुशर्मप्रदश्चित्ते निश्चलभावतो बुधजनैराराधनीयः सदा ॥१२॥

इति कथाकोशे विषयलुब्धसंसारिजीवस्य कथा समाप्ता।

३५. चारुदत्तश्रेष्ठिनः कथा।

श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-युग्मं नत्वा सुरार्चितम्। श्रेष्ठिनश्चारुदत्तस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
चम्पाख्ये नगरे राजा शूरसेनो महानभूत्। भानुनामाभवच्छ्रेष्ठी सुभद्रा श्रेष्ठिनी प्रिया ॥२॥
पुत्रार्थिनी कुदेवानां सा करोति स्म सेवनम्। श्रेष्ठिनी न सुतं लेभे नास्ति सिद्धिः कुदेवतः ॥३॥
एकदा श्रीजिनेन्द्राणां मन्दिरे शर्ममन्दिरे। नत्वा चारणयोगीन्द्रं सा सुभद्रा जगाद च ॥४॥
ब्रूहि भो भगवन्मेऽत्र तपोलक्ष्मीर्भविष्यति। नैवं वेति समाकर्ण्य मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः ॥५॥
ज्ञात्वा तस्या मनोभावं जगौ भो पुत्रि साम्प्रतम्। मिथ्यादेवस्य सेवां च कृत्वा सम्यक्त्वहानिताम् ॥६॥

इस प्रकार यह संसाररूपी भयंकर समुद्र अत्यन्त दुःखों का देने वाला है और विषयभोग विष मिले भोजन या दुर्जनों के समान कष्ट देने वाले हैं। इस प्रकार संसार की स्थिति देखकर बुद्धिमानों को जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किए हुए पवित्र धर्म को, जो कि अविनाशी, अनन्तसुख का देने वाला है, स्थिर भावों के साथ हृदय में धारण करना उचित है ॥१२॥

३५. चारुदत्त सेठ की कथा

देवों द्वारा पूजा किए गए जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार कर चारुदत्त सेठ की कथा लिखी जाती है ॥१॥

जिस समय की यह कथा है, तब चम्पापुरी का राजा शूरसेन था। राजा बड़ा बुद्धिमान् और प्रजाहितैषी था। उसके नीतिमय शासन की सारी प्रजा एक स्वर से प्रशंसा करती थी। यही एक इज्जतदार भानुदत्त सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था। सुभद्रा के कोई सन्तान नहीं हुई, इसलिए वह सन्तान प्राप्ति की इच्छा से नाना प्रकार के देवी-देवताओं की पूजा किया करती थी, अनेक प्रकार की मान्यताएँ लिया करती थी परन्तु तब भी उसका मनोरथ नहीं फला। सच तो है, कहीं कुदेवों की पूजा-स्तुति से कभी कार्य सिद्ध हुआ है क्या? एक दिन जब वह भगवान् के दर्शन करने को मन्दिर गई तब वहाँ उसने एक चारण मुनि देखे। उन्हें नमस्कार कर उसने पूछा-प्रभो, क्या मेरा मनोरथ भी कभी पूर्ण होगा? मुनिराज उसके हृदय के भावों को जानकर बोले-पुत्री, इस समय तू जिस इच्छा से दिन-रात कुदेवों की पूजा-मानता किया करती है, वह ठीक नहीं है। उससे लाभ की जगह उल्टी हानि हो रही है। तू इस प्रकार की पूजा मानता द्वारा अपने सम्यक्त्व को नष्ट मत कर। तू विश्वास कर कि संसार में अपने पुण्य-पाप के सिवा और कोई देवी-देवता किसी को कुछ देने-लेने में समर्थ नहीं। अब तक तेरे पाप का उदय था, इसलिए तेरी इच्छा पूरी न हो सकी। पर अब तेरे महान् पुण्यकर्म का

मा कुरु त्वं महान्पुत्रः सत्यं तेऽत्र भविष्यति। तच्छ्रुत्वा सा मुनिं नत्वा प्रहर्षेण गृहं गता ॥७॥
ततस्तस्याः प्रकुर्वन्त्या सद्धर्मं श्रीजिनोदितम्। कैश्चिद्दिनैः सुतो जातश्चारुदत्तो गुणोज्वलः ॥८॥
नाना महोत्सवैर्नित्यं स वृद्धिं प्राप सद्‌गुणैः। जीवानां कृतपुण्यानां माङ्गल्यं च दिने दिने ॥९॥
सर्वार्थमातुलस्योच्चैः पुत्रीं मित्रवतीं सतीम्। आग्रहेण कुटुम्बस्य स धीमान्परिणीतवान् ॥१०॥
तथाप्यसौ विरक्तः सन् चारुदत्तो विचक्षणः। कामसेवां विशुद्धात्मा न करोति कदाचन ॥११॥
तदा स्वपुत्रस्य मोहेन संगतिं गणिकादिभिः। सुभद्रा कारयामास तस्योच्चैर्लम्पटैर्जनैः ॥१२॥
ततोसौ चारुदत्तश्च कुसंगाप्तप्रदोषतः। मांसादिकेऽपि संसक्तः कुसंगः पापकारणम् ॥१३॥
तथा द्वादशवर्षेषु षोडशस्वर्णकोटयः। वसन्तसेनया सार्द्धं भक्षितस्तेन वेश्यया ॥१४॥

उदय आयेगा, जिससे तुझे एक पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। तू इसके लिए पुण्य के कारण पवित्र धर्म पर विश्वास कर ॥२-७॥

मुनिराज द्वारा अपना भविष्य सुनकर सुभद्रा को बहुत खुशी हुई वह उन्हें नमस्कार कर घर चली गई। अब से उसने सब कुदेवों की पूजा-मानता करना छोड़ दिया। वह अब जिन भगवान् के पवित्र धर्म पर विश्वास कर दान, पूजा, व्रत वगैरह करने लगी। इस दशा में दिन बड़े सुख के साथ कटने लगे। इसी तरह कुछ दिन बीतने पर मुनिराज के कहे अनुसार उसके पुत्र हुआ। उसका नाम चारुदत्त रखा गया। वह जैसा-जैसा बड़ा होता गया, साथ में उत्तम-उत्तम गुण भी उसमें अपना स्थान बनाते गए। सच है, **पुण्यवानों को अच्छी-अच्छी सब बातें अपने आप प्राप्त होती चली आती हैं** ॥८-९॥

चारुदत्त बचपन ही से पढ़ने-लिखने में अधिक योग्य दिखा करता था। यही कारण था कि उसे चौबीस-पच्चीस वर्ष का होने पर भी किसी प्रकार की विषय-वासना छू तक न गई थी। उसे तो दिन-रात अपनी पुस्तकों से प्रेम था। उन्हीं के अभ्यास, विचार, मनन, चिन्तन में वह सदा मग्न रहा करता था और इसी से बालपन से ही वह बहुधा करके विरक्त रहता था। उसकी इच्छा नहीं थी। कि वह ब्याह कर संसार के माया-जाल में अपने को फँसावे, पर उसके माता-पिता ने उससे ब्याह करने का बहुत आग्रह किया। उनकी आज्ञा के अनुरोध से उसे अपने मामा की गुणवती पुत्री मित्रवती के साथ ब्याह करना पड़ा ॥१०॥

ब्याह हो गया सही, पर तब भी चारुदत्त उसका रहस्य नहीं समझ पाया और इसीलिए उसने कभी अपनी प्रिया का मुँह तक नहीं देखा। पुत्र की युवावस्था में यह दशा देखकर उसकी माँ को बड़ी चिन्ता हुई चारुदत्त की विषयों की ओर प्रवृत्ति हो, इसके लिए उसने चारुदत्त को ऐसे लोगों की संगति में डाल दिया, जो व्यभिचारी थे। इससे उसकी माँ का अभिप्राय सफल अवश्य हुआ। चारुदत्त विषयों में फँस गया और खूब फँस गया। पर अब वह वेश्या का ही प्रेमी बन गया। उसने तब से घर का मुँह तक नहीं देखा। उसे कोई लगभग बारह वर्ष वेश्या के यहाँ रहते हुए बीत गए। इस अरसे में उसने अपने घर का सब धन भी गवा दिया। चम्पा में चारुदत्त का घर अच्छे धनिकों की गिनती में था, पर अब वह एक साधारण स्थिति का आदमी रह गया। अभी तक चारुदत्त के खर्च के लिए

एकदा चारुदत्तस्य भार्यायाश्च समागतम्। दृष्ट्वाभरणसन्दोहं कुट्टिनी स्वसुतां जगौ ॥१५॥
अहो पुत्रि त्वया शीघ्र-मिमं त्यक्त्वा धनोज्झितम्। अन्यस्मिन्सधने पुंसि प्रीतिः कार्या च सम्पदे ॥१६॥
इत्याकर्ण्य तया सोपि वसन्तादिकसेनया। त्यक्तः धनप्रिया लोके वेश्या नैव स्थिरस्थितिः ॥१७॥
ततश्च चारुदत्तोसौ वञ्चितो भोगतस्करैः। स्वभार्यायाः समादाय तदाभरणसञ्चयम् ॥१८॥
उलूखाख्यस्थदेशस्थमुशिरावर्त्तपत्तनम्। मातुलेन समं गत्वा तस्मात्कर्पासकं मुदा ॥१९॥
गृहीत्वा ताम्रलिप्ताख्यां पुरीं प्रति चचाल च। महाटव्यां स कर्पासो दग्धो दावाग्निना तदा ॥२०॥
अहो पुण्यं विना जन्तोर्नोद्यमो सिद्धिदो भवेत्। तस्मात्पुण्यं जिनेन्द्रोक्तं कर्त्तव्यं धीधनैः सदा ॥२१॥
आपृच्छ्य मातुलं तस्मादुद्वेगात्पीडिताशयः। नाम्ना समुद्रदत्तस्य कस्यचिज्जलयानके ॥२२॥
स्थित्वाऽऽसौ पवनद्वीपं गत्वा लक्ष्मीकृते ततः। धनं चोपार्ज्य कष्टेन समागच्छन्यदा तदा ॥२३॥

उसके घर से नगद रुपया आया करता था। पर अब रुपया लुट जाने से उसकी स्त्री का गहना आने लगा। जिस वेश्या के साथ चारुदत्त का प्रेम था उसकी कुट्टनी माँ ने चारुदत्त को अब दरिद्र हुआ समझकर एक दिन अपनी लड़की से कहा–बेटी, अब इसके पास धन नहीं रहा, यह भिखारी हो चुका, इसलिए अब तुझे इसका साथ जल्दी छोड़ देना चाहिए। अपने लिए दरिद्र मनुष्य किस काम का। वही हुआ भी। वसन्त सेना ने उसे अपने घर से निकाल बाहर किया। सच है, वेश्याओं की प्रीति धन के साथ ही रहती है। जिसके पास जब तक पैसा रहता है उससे तभी तक प्रेम करती है। जहाँ धन नहीं वहाँ वेश्या का प्रेम भी नहीं। यह देख चारुदत्त को बहुत दुःख हुआ। अब उसे जान पड़ा कि विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्ति का कैसा भयंकर परिणाम होता है। वह अब एक पलभर के लिए भी वहाँ पर नहीं ठहरा और अपनी प्रिया के भूषण ले-लिवाकर विदेश चलता बना। उसे इस हालत में माता को अपना कलंकित मुँह दिखलाना उचित नहीं जान पड़ा ॥११-१८॥

यहाँ से चलकर चारुदत्त धीरे-धीरे उलूख देश के उशिरावर्त नाम के शहर में पहुँचा। चम्पा से जब वह रवाना हुआ तब साथ में इसका मामा भी हो गया था। उशिरावर्त में इन्होंने कपास की खरीद की। यहाँ से कपास लेकर ये दोनों ताम्रलिप्ता नामक पुरी की ओर रवाना हुए। रास्ते में ये एक भयंकर वनों में जा पहुँचे। कुछ विश्राम के लिए इन्होंने यहीं डेरा डाल दिया। इतने में एक महा आँधी आई उससे परस्पर की रगड़ से बाँसों में आग लग उठी। हवा चल ही रही थी, सो आग की चिनगारियाँ उड़कर इनके कपास पर जा पड़ीं। देखते-देखते वह सब कपास भस्मीभूत हो गया। सच है, **बिना पुण्य के कोई काम सिद्ध नहीं हो पाता है।** इसलिए पुण्य कमाने के लिए भगवान् के उपदेश किए मार्ग पर चलना सबका कर्तव्य है। इस हानि से चारुदत्त बहुत ही दुःखी हो गया। वह यहाँ से किसी दूसरे देश की ओर जाने के लिए अपने मामा से सलाहकर समुद्रदत्त सेठ के जहाज द्वारा पवनद्वीप में पहुँचा। यहाँ इसके भाग्य का सितारा चमका। कुछ वर्ष यहाँ रहकर इसने बहुत धन कमाया। इसकी इच्छा अब देश लौट आने की हुई। अपनी माता के दर्शनों के लिए इसका मन बड़ा अधीर हो उठा। इसने चलने की तैयारी कर जहाज में अपना जब धन-असबाब लाद दिया ॥१९-२३॥

पापतः स्फुटितः पोतो हा कष्टं पापचेष्टितम्। एवं सप्तसु वारेषु यानेषु स्फुटितेषु च ॥२४॥
किञ्चित्पुण्यात्समासाद्य फलकं गुरुवाक्यवत्। समुत्तीर्य समुद्रं स प्राप्तो राजगृहं परम् ॥२५॥
तत्रैको विष्णुमित्राख्यः परिव्राजककः कुधीः। चारुदत्तं समालोक्य दुष्टात्मा संजगाविति ॥२६॥
भो पुत्र त्वं समागच्छ भीमाटव्यां प्रवर्तते। नितम्बे पर्वतस्योच्चैर्महाधेनुरसोधिकम् ॥२७॥
तुभ्यं ददामि तं पूतं येन दारिद्र्य सञ्चयः। क्षयं याति तवेदानीं तदाकर्ण्य वणिक्सुतः ॥२८॥
चारुदत्तो वदत्तात कुरु त्वेवं मम ध्रुवम्। धनाशालम्पटा लोके दुर्जनैः के न वञ्चिताः ॥२९॥

जहाज अनुकूल समय देख रवाना हुआ। जैसे-जैसे वह अपनी ''स्वर्गादपि गरीयसी'' जन्मभूमि की ओर शीघ्र गति से बढ़ा हुआ जा रहा था, चारुदत्त को उतनी ही अधिक प्रसन्नता होती जाती थी। पर यह कोई नहीं जानता कि मनुष्य का चाहा कुछ नहीं होता। होता वही है जो दैव को मंजूर होता है। यही कारण हुआ कि चारुदत्त की इच्छा पूरी न हो पाई और अचानक जहाज किसी से टकराकर फट पड़ा। चारुदत्त का सब माल-असबाब समुद्र के विशाल उदर की भेंट चढ़ा। वह पहले सा ही दरिद्र हो गया। पर चारुदत्त को दु:ख उठाते-उठाते बड़ी सहन-शक्ति प्राप्त हो गई थी। एक पर एक आने वाले दु:खों ने उसे निराशा के गहरे गढ़े से निकाल कर पूर्ण आशावादी और कर्तव्यशील बना दिया था। इसलिए अब की बार उसे अपनी हानि का कुछ विशेष दु:ख नहीं हुआ। वह फिर कमाने के लिए विदेश चल पड़ा। उसने अब की बार भी बहुत धन कमाया। घर लाते समय फिर भी उसकी पहले सी दशा हुई। इतने में ही उसके बुरे कर्मों का अन्त न हो गया किन्तु ऐसी-ऐसी भयंकर घटनाओं का कोई सात बार उसे सामना करना पड़ा। इसने कष्ट पर कष्ट सहा, पर अपने कर्तव्य से यह कभी विमुख नहीं हुआ। अब की बार जहाज के फट जाने से यह समुद्र में गिर पड़ा। इसे अपने जीवन का भी सन्देह हो गया था। इतने में भाग्य से बहकर आता हुआ एक लकड़े का तख्ता इसके हाथ पड़ गया। उसे पाकर इसके जी में जी आया। किसी तरह यह उसकी सहायता से समुद्र किनारे आ लगा। यहाँ से चलकर यह राजगृह में पहुँचा। यहाँ इसे एक विष्णुमित्र नाम का संन्यासी मिला। संन्यासी ने इसके द्वारा कोई अपना काम निकलता देखकर पहले बड़ी सज्जनता का इसके साथ बरताव किया। चारुदत्त ने यह समझकर कि यह कोई भला आदमी है, अपनी सब हालत उससे कह दी। चारुदत्त को धनार्थी समझकर विष्णुमित्र उससे बोला-मैं समझा, तुम धन कमाने को घर बाहर हुए हो। अच्छा हुआ तुमने अपना हाल सुना दिया। पर सिर्फ धन के लिए अब तुम्हें इतना कष्ट न उठाना पड़ेगा। आओ, मेरे साथ आओ, यहाँ से कुछ दूर पर जंगल में एक पर्वत है। उसकी तलहटी में एक कुँआ है। वह रसायन से भरा हुआ है। उससे सोना बनाया जाता है। सो तुम उसमें से कुछ थोड़ा सा रस ले आओ। उससे तुम्हारी सब दरिद्रता नष्ट हो जायेंगी। चारुदत्त संन्यासी के पीछे-पीछे हो लिया। सच है, दुर्जनों द्वारा धन के लोभी कौन-कौन नहीं ठगे गए ॥२४-२९॥

ततस्तेन गिरिं नीत्वा नितम्बस्थितकूपकम्। तत्करे तुम्बकं दत्वा वरत्राबद्धसिक्यके ॥३०॥
धृत्वा प्रवेशितः सोपि रसं गृह्णन्निजेच्छया। तत्रस्थितेन चैकेन निषिद्धश्चारुदत्तकः ॥३१॥
ततः प्राह सुधीः कस्त्वं सोपि कूपस्थितोऽवदत्। उज्जयिन्यां महापुर्यां धनदत्तोहकं वणिक् ॥३२॥
गत्वा च सिंहलद्वीपं तस्माद्व्याघुटितोम्बुधौ। भग्ने याने धनैर्हीनः परिव्राजककेन तु ॥३३॥
वञ्चित्वानेन दुष्टेन गृहीत्वा रसतुम्बकम्। कर्त्तित्वा वरत्रां च निक्षिप्तः कूपकेऽशुभात् ॥३४॥
रसेन भक्षिताः प्राणाः साम्प्रतं यान्ति मे ध्रुवम्। इत्याकर्ण्य जगौ सोपि रसोऽस्मै किं न दीयते ॥३५॥
कूपस्थोपि जगावेवं यद्यस्मै स न दीयते। तदा पाषाणकैरेष चोपसर्गं करिष्यति ॥३६॥

संन्यासी और उसके पीछे-पीछे चारुदत्त ये दोनों एक पर्वत के पास पहुँचे। संन्यासी ने रस लाने की सब बातें समझाकर चारुदत्त के हाथ में एक तूंबी दी और एक सीके पर उसे बैठाकर कुँए में उतार दिया। चारुदत्त तूंबी में रस भरने लगा। इतने में वहाँ बैठे हुए एक मनुष्य ने उसे रस भरने से रोका। चारुदत्त पहले तो डरा, पर जब उस मनुष्य ने कहा तुम डरो मत, तब कुछ सम्हल कर वह बोला-तुम कौन हो और इस कुँए में कैसे आये? कुँए में बैठा हुआ मनुष्य बोला, सुनिए, मैं उज्जयिनी में रहता हूँ। मेरा नाम धनदत्त है। मैं किसी कारण से सिंहलद्वीप गया था। वहाँ से लौटते समय तूफान पड़कर मेरा जहाज फट गया। धन-जन की बहुत हानि हुई मेरे हाथ एक लक्कड़ का पटिया लग जाने से अथवा यों कहिए कि दैव की दया से मैं बच गया। समुद्र से निकलकर मैं अपने शहर की ओर जा रहा था कि रास्ते में मुझे यही संन्यासी मिला। यह दुष्ट मुझे धोखा देकर यहाँ लाया। मैंने कुँए में से इसे रस भरकर ला दिया। इस पापी ने पहले तूंबी मेरे हाथ से ली और फिर आप रस्सी काटकर भाग गया। मैं आकर कुँए में गिरा। भाग्य से चोट तो अधिक न आई, पर दो-तीन दिन इसमें पड़े रहने से मेरी तबियत बहुत बिगड़ गई और अब मेरे प्राण घुट रहे हैं। उसकी हालत सुनकर चारुदत्त को बड़ी दया आई पर वह ऐसी जगह में फँस चुका था, जिससे उसके जिलाने का कुछ यत्न नहीं कर सकता था। चारुदत्त ने उससे पूछा-तो मैं इस संन्यासी को रस भरकर न दूँ? धनदत्त ने कहा-नहीं, ऐसा मत करो; रस तो भरकर दे ही दो, अन्यथा यह ऊपर से पत्थर वगैरह मारकर बड़ा कष्ट पहुँचायेगा। तब चारुदत्त ने एक बार तो तूंबी को रस से भरकर सीके में रख दिया। संन्यासी ने उसे निकाल लिया। जब चारुदत्त को निकालने के लिए उसने फिर सीका कुँए में डाला। अब की बार चारुदत्त ने स्वयं सीके पर न बैठकर बड़े-बड़े वजनदार पत्थरों को उसमें रख दिया। संन्यासी उस पत्थर भरे सीके पर चारुदत्त को बैठा समझकर, जब सीका आधी दूर आया तब उसे काटकर आप चलता बना। चारुदत्त की जान बच गई। उसने धनदत्त से कहा तुमने मुझे जीवनदान दिया और इसके लिए मैं तुम्हारा जन्म-जन्म में ऋणी रहूँगा। हाँ और यह तो कहिए कि इससे निकलने का भी कोई उपाय हैं क्या? धनदत्त बोला-यहाँ रस पीने को प्रतिदिन एक गो आया करती है। तब आज तो वह चली गई कल सबेरे वह फिर आवेगी तुम उसकी पूँछ पकड़कर निकल जाना। इतना कहकर वह बोला-अब मुझसे बोला नहीं जाता। मेरे प्राण बड़े संकट में हैं। चारुदत्त

तच्छ्रुत्वा चारुदत्तश्च सुधीर्बुद्धिप्रपञ्चतः। तस्मै पापात्मने दत्वा तुम्बकं रससंभृतम् ॥३७॥
धृत्वा द्वितीयवेलायां सिक्ये पाषाणकं पुनः। दत्वा तस्मै स्वयं तत्र कूपेऽसौ यत्नतः स्थितः ॥३८॥
स परिव्राजकश्चापि समाकृष्य वरत्रिकाम्। कर्त्तित्वा रसमादाय पापिष्ठः स्वगृहं गतः ॥३९॥
ततोऽसौ चारुदतेन कूपस्थो भणितो मुदा। त्वया मे जीवितं दत्तं तवेदानीं ददाम्यहम् ॥४०॥
सुगतेः साधनोपायं जिनेन्द्रैः परिकीर्त्तितम्। इत्युक्त्वा च तथा तस्मै स्वर्गमोक्षसुखप्रदान् ॥४१॥
सारपञ्चनमस्कारान्संन्यासेन समन्वितान्। दत्वा तेन पुनः पृष्टो भक्त्यासौ कूपसंस्थितः ॥४२॥
कोपि निःसरणोपायो वर्त्तते ब्रूहि मे सुधीः। तन्निशम्य स च प्राह शृणु त्वं भो विचक्षण ॥४३॥
अद्य पीत्वा रसं गोधा गता प्रातः समेष्यति। पुच्छं तस्या गृहीत्वा त्वं गच्छ स्वेच्छाशयः स्वयम् ॥४४॥
इति श्रुत्वा प्रभातेऽसौ चारुदत्तो गुणोज्ज्वलः। तथा निर्गत्य कूपाच्च गतोटव्यां सुधीरधीः ॥४५॥
महाटवीं परित्यज्य ततो गच्छन्निजेच्छया। दृष्टोसौ रुद्रदत्ताख्यमातुलेन मनोहरः ॥४६॥
चारुदत्त समागच्छ रत्नद्वीपं सुखप्रदम्। शीघ्रमावां प्रगच्छाव-स्तेनाऽसौ भणितो मुदा ॥४७॥
गन्तुकामौ ततस्तौ द्वौ रत्नद्वीपं धनाशया। छागपृष्ठं समारुह्य चलितौ छागमार्गतः ॥४८॥
पर्वतोपरि गत्वासौ रुद्रदत्तोवदत्तदा। पापी रौद्राशयश्चेति शृणु त्वं चारुदत्त भो ॥४९॥
हत्वा छागौ परावृत्य चर्मसं स्थीयतेऽत्र च। भेरुण्डपक्षिणौ शीघ्रं समागत्य पलाशया ॥५०॥
आवां चंच्वा समादाय रत्नद्वीपं प्रयाष्यतः। इत्युच्चैः प्रेरितश्चापि तेनासौ करुणापरः ॥५१॥

को यह देख बड़ा दुःख हुआ कि वह अपने उपकारी की कुछ सेवा नहीं कर पाया। उससे और तो कुछ नहीं बना, पर इतना तो उसने तब भी किया कि धनदत्त को पवित्र जिनधर्म का उपदेश देकर, जो कि उत्तम गति का साधन है, पंच नमस्कार मन्त्र सुनाया और साथ ही संन्यास भी लिवा दिया ॥३०-४२॥

सबेरा हुआ। सदा की भाँति आज भी गो रस पीने के लिए आई रस पीकर जैसे ही वह जाने लगी, चारुदत्त ने उसकी पूँछ पकड़ ली। उसके सहारे वह बाहर निकल आया। यहाँ से इस जंगल को लांघकर यह एक ओर जाने लगा। रास्ते में इसकी अपने मामा रुद्रदत्त से भेंट हो गई। रुद्रदत्त ने चारुदत्त का सब हाल जानकर कहा-तो चलिए अब हम रत्नद्वीप में चलें। वहाँ अपना मनोरथ अवश्य पूरा होगा। धन की आशा से ये दोनों अब रत्नद्वीप जाने को तैयार हुए। रत्नद्वीप जाने के लिए पहले एक पर्वत पर जाना पड़ता था और पर्वत पर जाने का जो रास्ता था, वह बहुत सँकरा था। इसलिए पर्वत पर जाने के लिए इन्होंने दो बकरे खरीद लिए और उन पर सवार होकर ये रवाना हो गए। जब ये पर्वत पर कुशलपूर्वक पहुँच गये तब पापी रुद्रदत्त ने चारुदत्त से कहा-देखो, अब अपने को यहाँ पर इन दोनों बकरों को मारकर दो चमड़े की थैलियाँ बनानी चाहिए और उन्हें उलटकर उनके भीतर घुस दोनों का मुँह सी लेना चाहिए। मांस के लोभ से यहाँ सदा ही भेरुण्ड-पक्षी आया करते हैं। सो वे अपने को उठा ले जाकर उस पार रत्नद्वीप ले जाएँगे। वहाँ जब वे हमें खाने लगें तब इन थैलियों को चीरकर हम बाहर हो जायेंगे। मनुष्य को देखकर पक्षी उड़ जाएँगे और ऐसा करने से बहुत सीधी तरह अपना काम बन जायेगा ॥४३-५१॥

चारुदत्तो निजं छागं नैव मारयति स्म च। न कुर्वन्ति दुराचारं सन्तः कस्मादपि ध्रुवम् ॥५२॥
सोपि छागस्ततस्तेन रुद्रदत्तेन मारितः। ये दुष्टा निर्दयास्तेऽत्र किं न कुर्वन्ति पातकम् ॥५३॥
चारुदत्तस्तदा तस्मै छागायोच्चैः सुखप्रदान्। सारपञ्चनमस्कारान्संन्यासं च प्रदत्तवान् ॥५४॥
धर्मिणो येऽत्र वर्तन्ते ज्ञातश्रीजिनसद्गिरः। नित्यं परोपकाराय सन्ति ते परमार्थतः ॥५५॥
छागयोश्चर्मभस्त्रायां तौ प्रविश्य स्थितौ ततः। रत्नद्वीपात्समागत्य तदा भेरुण्डपक्षिणौ ॥५६॥
तौ समादाय चञ्चुभ्यां रत्नद्वीपं विनिर्गतौ। द्वयोर्भेरुण्डयोर्युद्धे नभोभागे स्वपापतः ॥५७॥
दुष्टात्मा रुद्रदत्तोऽसौ समुद्रे पतितस्तदा। मृत्वा च दुर्गतिं प्राप क्व भवेत्पापिनां शुभम् ॥५८॥
चारुदत्ताश्रितां भस्त्रां रत्नद्वीपे मनोहरे। रत्नचूलगिरिं नीत्वा भेरुण्डस्तां विदार्य च ॥५९॥
चारुदत्तं समालोक्य भीत्वा पक्षी स नष्टवान्। लोके पुण्यवतां पुंसां दुष्टाश्चापि हितङ्करा ॥६०॥

चारुदत्त ने रुद्रदत्त की पापमयी बात सुनकर उसे बहुत फटकारा और वह साफ इनकार कर गया कि मुझे ऐसे पाप द्वारा प्राप्त किए धन की जरूरत नहीं। सच है–दयावान् कभी ऐसा अनर्थ नहीं करते। रात को ये दोनों सो गए। चारुदत्त को स्वप्न में भी ख्याल न था कि रुद्रदत्त सचमुच इतना नीच होगा और इसीलिए वह निःशंक होकर सो गया था। जब चारुदत्त को खूब गाढ़ी नींद आ गई तब पापी रुद्रदत्त चुपके से उठा और जहाँ बकरें बँधे थे वहाँ गया। उसने पहले अपने बकरे को मार डाला और चारुदत्त के बकरे का भी उसने आधा गला काट दिया होगा कि अचानक चारुदत्त की नींद खुल गई। रुद्रदत्त को अपने पास सोया न पाकर उसका सिर ठनका। वह उठकर दौड़ा और बकरों के पास पहुँचा। जाकर देखता है तो पापी रुद्रदत्त बकरे का गला काट रहा है। चारुदत्त को काटो तो खून नहीं। वह क्रोध के मारे भर्रा गया। उसने रुद्रदत्त के हाथ से छुरी तो छुड़ाकर फेंकी और उसे खूब ही सुनाई सच है, कौन ऐसा पाप है, जिसे निर्दयी पुरुष नहीं करते?

उस अधमरे बकरे को टगर–टगर करते देखकर दया से चारुदत्त का हृदय भर आया। उसकी आँखों से आँसुओं की बूँदें टपकने लगीं। पर वह उसके बचाने का प्रयत्न करने के लिए लाचार था। इसलिए कि वह प्रायः काटा जा चुका था। उसकी शांति के साथ मृत्यु होकर वह सुगति लाभ करे, इसके लिए चारुदत्त ने इतना अवश्य किया कि उसे पंच नमस्कार मंत्र सुनाकर संन्यास दे दिया। जो धर्मात्मा जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश का रहस्य समझने वाले हैं, उनका जीवन सच पूछो तो केवल परोपकार के लिए ही होता है ॥५२–५५॥

चारुदत्त ने बहुतेरा चाहा कि मैं पीछे लौट जाऊँ, पर वापस लौटने का उसके पास कोई उपाय न था। इसलिए अत्यन्त लाचारी की दशा में उसे भी रुद्रदत्त की तरह उस थैली की शरण लेनी पड़ी। उड़ते हुए भेरुण्ड पक्षी पर्वत पर दो मांस–पिण्ड पड़े देखकर आए और उन दोनों को चोंचों से उठा चलते बने। रास्ते में उनमें परस्पर लड़ाई होने लगी। परिणाम यह निकला कि जिस थैली में रुद्रदत्त था, वह पक्षी की चोंच से छूट पड़ी। रुद्रदत्त समुद्र में गिरकर मर गया। मरकर वह पाप के फल से

तत्रातापेन योगस्थं रत्नचूलगिरौ मुनिम्। दृष्ट्वा तत्पादयोर्लग्नश्चारुदत्तोतिभक्तितः ॥६१॥
पूर्णयोगस्तदा प्राह मुनीन्द्रः शुद्धमानसः। अस्ति भो कुशलं चारुदत्त ते गुणमण्डितः ॥६२॥
तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं सन्तुष्टश्चारुदत्तवाक्। क्व भो मुने त्वया दृष्टः सेवकश्चेत्यहं जगौ ॥६३॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह शृणु त्वं भानुनन्दन। अमिताख्यो महाविद्याधरोहं चैकदा मुदा ॥६४॥
चम्पायां कदलीवृक्षवने शोभासमन्विते। क्रीडां कर्तुं गतो धीर वसन्तप्रियया युतः ॥६५॥
धूमसिंहखगः पापी तत्रागत्य दुराशयः। वसन्तश्रियमालोक्य महाकन्दर्पपीडितः ॥६६॥
कीलित्वा मां छलेनोच्चैः पादपे निजविद्यया। तां समादाय मे भार्यां नभोभागे गतो द्रुतम् ॥६७॥
तस्मिन्नेव क्षणे वत्स मम पुण्यप्रभावतः। क्रीडितुं त्वमपि प्राप्तः सूत्रोत्कृष्टदयानिधिः ॥६८॥
त्वां विलोक्य मया प्रोक्तं तस्मिन्मे करके सुधीः। तिस्रश्चौषधयः सन्ति दृष्टविद्याक्षयप्रदाः ॥६९॥

कुगति में गया। ठीक भी है, पापियों की कभी अच्छी गति नहीं होती। चारुदत्त की थैली को जो पक्षी लिए था, उसने उसे रत्नद्वीप के एक सुन्दर पर्वत पर ले जाकर रख दिया। इसके बाद पक्षी ने उसे चोंच से चीरना शुरू किया। उसका कुछ भाग चीरते ही उसे चारुदत्त देख पड़ा। पक्षी उसी समय डरकर उड़ भागा। सच है, **पुण्यवानों का कभी-कभी तो दुष्ट भी हित करने वाले हो जाते हैं।** जैसे ही चारुदत्त थैली के बाहर निकला कि धूप में मेरु की तरह निश्चल खड़े मुनिराज को देखकर चारुदत्त की उन पर बहुत श्रद्धा हो गई। चारुदत्त उनके पास गया और बड़ी भक्ति से उसने उनके चरणों में अपना सिर नवाया। मुनिराज का ध्यान पूरा होते ही उन्होंने चारुदत्त से कहा–चारुदत्त, क्यों तुम अच्छी तरह तो हो। न? मुनि द्वारा अपना नाम सुनकर चारुदत्त को कुछ सन्तोष तो इसलिए अवश्य हुआ कि एक अत्यन्त अपरिचित देश में उसे कोई पहचानता भी है, पर इसके साथ ही उसके आश्चर्य का भी कुछ ठिकाना न रहा। वह बड़े विचार में पड़ गया कि मैंने तो कभी इन्हें कहीं देखा नहीं, फिर इन्होंने ही मुझे कहाँ देखा था! अस्तु, जो हो, इन्हीं से पूछता हूँ कि ये मुझे कहाँ से जानते हैं। वह मुनिराज से बोला–प्रभो, मालूम होता है आपने मुझे कहीं देखा है, बतलाइए तो आपको मैं कहाँ मिला था? मुनि बोले–सुनो, मैं एक विद्याधर हूँ! मेरा नाम अमितगति है। एक दिन मैं चम्पापुरी के बगीचे से अपनी प्रिया के साथ सैर करने को गया हुआ था। उसी समय एक धूमसिंह नाम का विद्याधर वहाँ आ गया। मेरी सुन्दरी स्त्री को देखकर उस पापी की नियत डगमगी। काम से अन्धे हुए उस पापी ने अपनी विद्या के बल से मुझे एक वृक्ष में कील दिया और मेरी प्यारी को विमान में बैठाकर मेरे देखते-देखते आकाश मार्ग से चल दिया। उस समय मेरे कोई ऐसा पुण्यकर्म का उदय आया तो तुम उधर आ निकले। तुम्हें दयावान् समझकर मैंने तुमसे इशारा करके कहा–वे औषधियाँ रखी हैं, उन्हें पीसकर मेरे शरीर पर लेप दीजिए। आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर वैसा ही किया। उससे दुष्ट विद्याओं का प्रभाव नष्ट हुआ और मैं उन विद्याओं के पंजे से छूट गया। जैसे गुरु के उपदेश से जीव, माया, मिथ्या की कील से छूट जाता है। मैं उसी समय दौड़ा हुआ कैलाश

ताः पिष्ट्वा त्वं प्रयत्नेन देहि मे वपुषि ध्रुवम्। भवाम्युत्कीलितो येन भो मित्रेति गुणाकरः ॥७०॥
तासु त्वया प्रदत्तासु ममाङ्गे भूरियत्नतः। निःशल्योहमभूवं हि प्राणी वा सद्गुरोर्मतात् ॥७१॥
ततः कैलासनामानं गत्वाहं वेगतो गिरिम्। धूमसिंहं खगं जित्वा गृहीत्वा कामिनीं निजाम् ॥७२॥
पश्चादागत्य भक्त्या त्वं भणितोसि मया मुदा। वरं प्रार्थय भो मित्र मनोभीष्टमिति स्फुटम् ॥७३॥
त्वया प्रोक्तं न मे कार्यं वरेणेति महाधिया। कृत्वा परोपकारं हि सन्तो वाञ्छति किं धनम् ॥७४॥
ततोऽहं दक्षिणश्रेण्यां शिवमन्दिरपत्तने। राज्यं भुक्त्वा कियत्कालं नाना भोगैः समन्वितम् ॥७५॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य क्षिप्त्वा राज्यं सुपुत्रयोः। नाम्ना सिंहयशश्चारुवराहग्रीवसंज्ञयोः ॥७६॥
जैनीं दीक्षां समादाय भवभ्रमणनाशिनीम्। चारणर्द्धिमुनिर्भूत्वा करोम्यत्र महातपः ॥७७॥
इत्यादिकं मुनिप्रोक्तं श्रुत्वासौ परमादरात्। चारुदत्तः सुधीस्तुष्टो यावत्तत्र सुखस्थितः ॥७८॥
अत्रान्तरे समायातौ वन्दनार्थं खगाधिपौ। स्वपुत्रौ प्रति योगीन्द्र-श्चारुदत्तकथां जगौ ॥७९॥
तस्मिंश्चापि क्षणे छाग-चरदेवेन धीमता। तत्रागत्य प्रणामश्च चारुदताङ्घ्रिके कृतः ॥८०॥
तेनोक्तं चारुदत्तेन नैव युक्तं सुरोत्तम। कर्त्तुं मे ते नमस्कारं विद्यमाने महामुनौ ॥८१॥
तच्छ्रुत्वा स सुरः प्राह शृणु त्वं भो सुधीः पुरा। पापिना रुद्रदत्तेन मारितायाजकाय मे ॥८२॥
संन्यासपूर्वक दत्ता त्वया पञ्चनमस्कृतिः। तत्प्रभावेन सौधर्मे देवो जातोऽहमद्भुतः ॥८३॥
तस्मात्त्वमेव मे स्वामिन्गुरुः सन्मार्गदर्शकः। इत्युक्त्वा स ततो देवो महाधर्मानुरागतः ॥८४॥

पर्वत पर पहुँचा और धूमसिंह को उसके कर्म का उचित प्रायश्चित्त देकर उससे अपनी प्रिया को छुड़ा लाया। फिर मैंने आप से कुछ प्रार्थना की कि आप जो इच्छा हो वह मुझसे माँगे, पर आप मुझ से कुछ भी लेने के लिए तैयार नहीं हुए। सच तो यह है कि महात्मा लोग दूसरों का भला किसी प्रकार की आशा से करते ही नहीं इसके बाद मैं आपसे विदा होकर अपने नगर में आ गया। मैंने इसके पश्चात् कुछ वर्षों तक और राज्य किया, राज्यश्री का खूब आनन्द लूटा। बाद आत्मकल्याण की इच्छा से पुत्रों को राज्य सौंपकर स्वयं दीक्षा ले गया, जो कि संसार का भ्रमण मिटाने वाली है। चारणऋद्धि के प्रभाव से मैं यहाँ आकर तपस्या कर रहा हूँ। मेरा तुम्हारे साथ पुराना परिचय है, इसलिए मैं तुम्हें पहचानता हूँ। सुनकर चारुदत्त बहुत खुश हुआ। वह जब तक वहाँ बैठा रहा, इसी बीच में इन मुनिराज के दो पुत्र इनकी पूजा करने को वहाँ आए। मुनिराज ने चारुदत्त का कुछ हाल उन्हें सुनाकर उसका उनसे परिचय कराया। परस्पर में मिलकर इन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। थोड़े ही समय के परिचय से इनमें अत्यन्त प्रेम बढ़ गया ॥५६-७९॥

इसी समय एक बहुत खूबसूरत युवा यहाँ आया। सबकी दृष्टि उसके दिव्य तेज की ओर जा लगी। उस युवा ने सबसे पहले चारुदत्त को प्रणाम किया। यह देख चारुदत्त ने उसे ऐसा करने से रोककर कहा-तुम्हें पहले गुरु महाराज को नमस्कार करना उचित है। आगत युवा ने अपना परिचय देते हुए कहा-मैं बकरा था। पापी रुद्रदत्त जब मेरा आधा गला काट चुका होगा कि उसी समय मेरे भाग्य से आपकी नींद खुल गई आपने आकर मुझे नमस्कार मंत्र सुनाया और साथ ही संन्यास दे

वस्त्राभरणसन्दोहै-श्चारुदत्तं गुणोज्ज्वलम्। समभ्यर्च्य पुनर्नत्वा स्वर्गलोकं गतो मुदा ॥८५॥
परोपकारिणो लोके सन्ति ये बुधसत्तमाः। कैः सुराद्यैर्न पूज्यन्ते महाभक्तिभरैश्च ते ॥८६॥
ततः सिंहयशाः सोपि वराहग्रीवसंज्ञकः। विद्याधरेशिनौ तौ द्वौ नत्वा तं मुनिनायकम् ॥८७॥
चारुदत्तवणिक्पुत्रं नाना रत्नादिभिर्युतम्। नीत्वा चम्पापुरीं भूत्या भक्त्या संस्थाप्य सौख्यतः ॥८८॥
तं प्रणम्य समापृच्छ्य स्वस्थानं जग्मतुः सुखम्। अहो पुण्येन जीवानां किं न जायेत भूतले ॥८९॥
तस्माच्छ्रीमज्जिनेन्द्रोक्तः सद्धर्मोसौ चतुर्विधः। दानपूजाव्रतैः शीलैः पालनीयो बुधैः श्रिये ॥९०॥
भानुः श्रेष्ठी सुभद्रा सा चारुदत्तागमे तदा। अन्ये चम्पापुरीलोकाः प्रीतिं प्राप्ता महाद्भुताम् ॥९१॥
चारुदत्तः सुधीश्चापि भुक्त्वा भोगान्स्वपुण्यतः। समाराध्य जिनेन्द्रोक्तं धर्मशर्माकरं चिरम् ॥९२॥
ततो वैराग्यमासाद्य सुन्दराख्यसुताय च। दत्वा श्रेष्ठिपदं पूतं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥९३॥

दिया। मैं शान्त भावों से मरकर मंत्र के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। इसलिए मेरे गुरु तो आप ही हैं-आप ही ने मुझे सन्मार्ग बतलाया है। इसके बाद सौधर्म-देव धर्म-प्रेम से बहुत सुन्दर-सुन्दर और मूल्यवान् दिव्य वस्त्राभरण चारुदत्त को भेंटकर और उसे नमस्कार कर स्वर्ग चला गया। सच है, जो परोपकारी हैं उनका सब ही बड़ी भक्ति के साथ आदर सत्कार करते हैं ॥८०-८६॥

इधर ये विद्याधर सिंहयश और वारहग्रीव मुनिराज को नमस्कार कर चारुदत्त से बोले चलिए हम आपको आपकी जन्मभूमि चम्पापुरी में पहुँचा आवें। इससे चारुदत्त को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह जाने को सहमत हो गया। चारुदत्त ने इसके लिए उनसे बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। उन्होंने चारुदत्त को उसके सब माल-असबाब सहित बहुत जल्दी विमान द्वारा चम्पापुरी में ला रखा। इसके बाद वे उसे नमस्कार कर और आज्ञा लेकर अपने स्थान लौट गए। सच हैं, पुण्य से संसार में क्या नहीं होता! और पुण्य प्राप्ति के लिए जिनभगवान् के द्वारा उपदेश किए दान, पूजा, व्रत शीलरूप चार प्रकार पवित्र धर्म का सदा पालन करते रहना चाहिए ॥८७-९०॥

अचानक अपने प्रिय पुत्र के आ जाने से चारुदत्त के माता-पिता को बड़ी खुशी हुई उन्होंने बारबार उसे छाती से लगाकर वर्षो से वियोगाग्नि से जलते हुए अपने हृदय को ठंडा किया। चारुदत्त की प्रिया मित्रवती के नेत्रों से दिन-रात बहती हुई वियोग-दुःखाश्रुओं की धारा और आज प्रिय को देखकर बहने वाली आनन्दाश्रुओं की धारा अपूर्व समागम हुआ। उसे जो सुख आज मिला, उसकी समानता में स्वर्ग का दिव्य सुख तुच्छ है। बात ही बात में चारुदत्त के आने के समाचार सारी पुरी में पहुँच गया और उससे सभी को आनन्द हुआ ॥९१॥

चारुदत्त एक समय बड़ा धनी था। अपने कुकर्मों से वह पथ-पथ का भिखारी बना। पर जब से उसे अपनी दशा का ज्ञान हुआ तब से उसने केवल कर्तव्य को ही अपना लक्ष्य बनाया और फिर कर्मशील बनकर उसने कठिन से कठिन काम किया। उसमें कई बार उसे असफलता भी प्राप्त हुई,

संन्यासविधिना कालं कृत्वासौ शल्यवर्जितः। स्वर्गलोकं समासाद्य देवो जातो महर्द्धिकः ॥९४॥
तत्र भोगान्सुभुञ्जानः स्वर्गलोकसमुद्भवान्। कुर्वन्यात्रां जिनेन्द्राणां महास्वर्णाचलादिषु ॥९५॥
साक्षात्तीर्थंकरानुच्चैः केवलज्ञानलोचनान्। चारुदत्तचरो देवः समभ्यर्चत्सुभक्तितः ॥९६॥
शृण्वन् जैनेश्वरीं वाणी-माप्तेभ्यः शर्मदायिनीम्। इत्यादिधर्मसंसक्तः स देवः सुखतःस्थितः ॥९७॥
श्रीमत्सारसुरेन्द्रचन्द्रनिकरैर्नागेन्द्रसत्खेचरैः षट्खण्डाधिपभूचरैश्च नितरां भक्त्या सदाभ्यर्चितम्।
धर्मं श्रीजिनभाषितं शुचितरं स्वर्गापवर्गप्रदं नित्यं सारसुखाय शर्मनिलयं सन्तः श्रयन्त्वञ्जसा ॥९८॥

इति कथाकोशे चारुदत्तकथा समाप्ता।

३६. पाराशरकथा

नत्वा श्रीमज्जिनं देवं ज्ञातुं चान्यमतं सताम्। वक्ष्ये पाराशरस्याहं कुमुनेर्लौकिकी कथा ॥१॥
हस्तिनागपुरे पूर्वं गंगादिभटधीवरः। एकदासौ महामत्सीं धृत्वा जालेन पापधीः ॥२॥
तां निहन्ति यदा तावत्तस्याः कुक्षेर्विनिर्गता। कन्यासद्रूपसंयुक्ता महादुर्गन्धविग्रहा ॥३॥
तेन सत्यवतीत्युक्त्वा पोषिता धीवरेण च। हा कष्टं दुर्दृशां शास्त्रं सर्वमेतदसत्यकम् ॥४॥

पर वह निराश नहीं हुआ और काम करता ही चला गया। अपने उद्योग से उसके भाग्य का सितारा फिर चमक उठा और वह आज पूर्ण तेज प्रकाश कर रहा है। इसके बाद चारुदत्त ने बहुत वर्षों तक खूब सुख भोगा और जिनधर्म की भी भक्ति के साथ उपासना की। अन्त में उदासीन होकर वह अपनी जगह पर अपने सुन्दर नाम के पुत्र को नियुक्त कर आप दीक्षा ले ली। मुनि होकर उसने खूब तप किया और आयु के अन्त में संन्यास सहित मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग लाभ किया। स्वर्ग में वह सुख के साथ रहता है, अनेक प्रकार के उत्तम से उत्तम भोगों को भोगता है, सुमेरु और कैलाश पर्वत आदि स्थानों के जिनमन्दिरों की यात्रा करता है, विदेहक्षेत्र में जाकर साक्षात् तीर्थंकर केवली भगवान् की स्तुति-पूजा करता है और उनका सुख देने वाला पवित्र धर्मोपदेश सुनता है। मतलब यह कि उसका प्रायः समय धर्म साधन में बीतता है और इसी जिनभगवान् के उपदेश किए निर्मल धर्म की इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी सदा भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं, यही धर्म स्वर्ग और मोक्ष का देने वाला है। इसलिए यदि तुम्हें श्रेष्ठ सुख की चाह है तो तुम भी इसी धर्म का आश्रय लो ॥९२-९८॥

३६. पाराशर मुनि की कथा

जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर अन्यमतों की असत्य कल्पनाओं का सत्पुरुषों को ज्ञान हो, इसलिए उन्हीं के शास्त्रों में लिखी हुई पाराशर नामक एक तपस्वी की कथा यहाँ लिखी जाती है ॥१॥

हस्तिनापुर में गंगभट नाम का एक धीवर रहा करता था। एक दिन वह पाप-बुद्धि एक बड़ी भारी मछली को नदी से पकड़कर लाया। घर लाकर उस मछली को जब उसने चीरा तो उसमें से एक सुन्दर कन्या निकली। उसके शरीर से बड़ी दुर्गन्ध निकल रही थी। उस धीवर ने उसका नाम सत्यवती रखा। वही उसका पालन-पोषण भी करने लगा। पर सच पूछो तो यह बात सर्वथा-असंभव है। कही

गंगातीरे च तां कन्यां सनावं सोपि धीवरः। धृत्वा गंगभटो गेहं गतश्चैकदिने मुदा ॥५॥
ततो ग्राम्यमुनिस्तत्र नाम्ना पाराशरः कुधीः। मार्गश्रान्तः समागत्य नद्यास्तीरे निजेच्छया ॥६॥
गन्तुं नदीं समुत्तीर्य तां जगाद सुकन्यकाम्। एहि मां नय भो कन्ये नद्याः पारं मनोहरम् ॥७॥
तयागत्य तदा शीघ्रं नौ मध्येऽसौ धृतः मुखम्। नीयमानः पुनः प्राह दृष्ट्वा तद्रूपमद्भुतम् ॥८॥
मामिच्छेति समाकर्ण्य कन्या सत्यवती जगौ। दुर्जातिर्दुष्टगन्धाहं कथं स्पर्शं करोमि ते ॥९॥
त्वं तपस्वी सदा गंगानदीस्नानविधायकः। शापानुग्रहसंयुक्तो बिभेमीति स्वचेतसि ॥१०॥
ततस्तस्याश्च दुर्गन्धं स्फेटयित्वा स्वविद्यया। सुगन्धकुसुमामोदं स चक्रे तच्छरीरकम् ॥११॥
तया प्रोक्तमहो स्वामिँल्लोकाः पश्यन्ति सर्वतः। तदासौ धूमरीं कृत्वा नौ मध्ये कामलम्पटः ॥१२॥
द्वीपं तत्र विधायोच्चैः परिणीय च तां पुनः। कामसेवां तया सार्द्धं यावत्पाराशरो व्यधात् ॥१३॥

मछली से भी कन्या पैदा हुई? खेद है कि लोग आँख बन्द किए ऐसी-ऐसी बातों पर भी अन्धश्रद्धा किए चले आते हैं ॥२-४॥

जब सत्यवती बड़ी हो गई तो एक दिन की बात है कि गंगभट सत्यवती को नदी किनारे नाव पर बैठाकर आप किसी काम के लिए घर पर आ गया। इतने में रास्ते का थका हुआ एक पाराशर नाम का मुनि, जहाँ सत्यवती नाव लिए बैठी हुई थी, वहाँ आया। वह सत्यवती से बोला-लड़की मुझे नदी के उस पार जाना है, तू अपनी नाव पर बैठाकर नदी के पार उतार दे तो बहुत अच्छा हो। भोली सत्यवती ने उसका कहा मान लिया और नाव में उसे अच्छी तरह बैठाकर वह नाव खेने लगी। सत्यवती खूबसूरत तो थी ही और इस पर वह अब तेरह चौदह वर्ष की हो चुकी थी; इसलिए उसकी खिलती हुई नई जवानी थी। उसकी मनोहारी मधुर सुन्दरता ने तपस्वी के तप को डगमगा दिया। वह काम वासना का गुलाम हुआ। उसने अपनी पापमयी मनोवृत्ति को सत्यवती पर प्रकट किया। सत्यवती सुनकर लजा गई, और डरी भी। वह बोली-महाराज, आप साधु-सन्त, सदा गंगास्नान करने वाले और शाप देने तथा दया करने में समर्थ और मैं नीच जाति की लड़की, इस पर भी मेरा शरीर दुर्गन्धमय, फिर मैं आप सरीखों के योग्य कैसे हो सकती हूँ? पाराशर को इस भोली लड़की के निष्कपट हृदय की बात पर भी कुछ शर्म नहीं आई और कामियों को शर्म होती भी कहाँ? उसने सत्यवती से कहा-तू इसकी कुछ चिन्ता न कर। मैं तेरा शरीर अभी सुगन्धमय बनाये देता हूँ। यह कहकर पाराशर ने अपने विद्याबल से उसके शरीर को देखते-देखते सुगन्धमय कर दिया। उसके प्रभाव को देखकर सत्यवती को राजी हो जाना पड़ा। कामी पाराशर ने अपनी वासना नाव में ही मिटाना चाही, तब सत्यवती बोली-आपको इसका ख्याल नहीं कि सब लोग देखकर क्या कहेंगे? तब पाराशर ने आकाश को धुँधला कर, जिससे कोई देख न सके और अपनी इच्छा इसके बाद उसने नदी के बीच में एक छोटा-सा गाँव बसाया और सत्यवती के साथ ब्याह कर आप वहीं रहने लगा ॥५-१२॥

एक दिन पाराशर अपनी वासनाओं की तृप्ति कर रहा था कि उस समय सत्यवती के एक

तत्क्षणे पञ्चकूर्चादिर्जटायज्ञोपवीतभीक्। व्यासनामाऽभवत्पुत्रः पितुश्चक्रेभिवादनम् ॥१४॥
लौकिकं लपितं चेति मत्तचेष्टा समानकम्। कस्य चित्ते समायाति सदृष्टेर्ज्ञानचक्षुषः ॥१५॥
इत्थं मत्तजनप्रजल्पितमिमं भक्त्या कुवादीरितं विद्वद्भिर्जिनतत्त्वसारनिपुणैः सार्द्धं सदा संगतिम्।
कृत्वा श्रीजिनधर्मकर्मणि रता भूत्वा स्वयं भक्तितो नित्यं शास्त्रमहाशुभे शुचिमतिं कुर्वन्तु सन्तः श्रिये ॥१६॥

इति कथाकोशे पाराशरस्य लौकिकी कथा समाप्ता।

३७. सात्यकिरुद्रयोः कथा

श्रीजिनं केवलज्ञानलोचनं सम्प्रणम्य च। वक्ष्येऽहं पूर्वसूत्रेण कथां सात्यकिरुद्रयोः ॥१॥
गन्धारविषये रम्ये महेश्वरपुरेऽभवत्। राजा सत्यन्धरस्तस्य राज्ञी सत्यवती मता ॥२॥
तयोः सात्यकिनामाभूत्पुत्रो राजकलान्वितः। राजविद्यां विना राजा राजते नैव भूतले ॥३॥
सिन्धुदेशे विशालाख्यपत्तने चेटको नृपः। श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ॥४॥
तस्य राज्ञी सुभद्राऽभूत्सती व्रतमतल्लिका। पुत्र्यस्तयोः समुत्पन्नाः सप्त सद्रूपमण्डिताः ॥५॥
तासामाद्याभवत्पुत्री पवित्रा प्रियकारिणी। मृगावती द्वितीया च तृतीया सुप्रभा मता ॥६॥
प्रभावती चतुर्थी च पञ्चमी चेलिनी शुभा। ज्येष्ठा षष्ठी बुधैः प्रोक्ता सप्तमी चन्दना सती ॥७॥

व्यास नाम का पुत्र हुआ। उसके सिर पर जटाएँ थीं, वह यज्ञोपवीत पहने हुआ था और उससे उत्पन्न होते ही अपने पिता को नमस्कार किया। पर लोगों का यह कहना उन्मत्त पुरुष के सरीखा है और न किसी ज्ञान-नेत्र वाले की समझ में ये बातें आवेंगी ही क्योंकि वे समझते हैं कि समझदार कभी ऐसी असंभव बातें नहीं कहते किन्तु भक्ति के आवेश में आकर अतत्त्व पर विश्वास लाने वालों ने ऐसा लिख दिया है। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे उन विद्वानों की संगति करें जो जैनधर्म का रहस्य समझने वाले हैं और जैनधर्म से ही प्रेम करें और उसी के शास्त्रों का भक्ति और श्रद्धा के साथ अध्ययन करें, उनमें पवित्र बुद्धि को लगावें, इसी से उन्हें सच्चा सुख प्राप्त होगा ॥१३-१६॥

३७. सात्यकि और रुद्र की कथा

केवलज्ञान ही जिनका नेत्र है, ऐसे जिनभगवान् को नमस्कार कर शास्त्रों के अनुसार सात्यकि और रुद्र की कथा लिखी जाती है ॥१॥

गन्धार देश में महेश्वरपुर एक सुन्दर शहर था। उसके राजा सत्यन्धर थे। सत्यन्धर की प्रिया का नाम सत्यवती था। इनके एक पुत्र हुआ उसका नाम सात्यकि था। सात्यकि ने राजविद्या में अच्छी कुशलता प्राप्त की थी और ठीक भी है, राजा बिना राजविद्या के शोभा भी नहीं पाता ॥२-३॥

इस समय सिन्धुदेश की विशाला नगरी का राजा चेटक था। चेटक जैनधर्म का पालक और जिनेन्द्र भगवान् का सच्चा भक्त था, इसकी रानी का नाम सुभद्रा था। सुभद्रा बड़ी पतिव्रता और धर्मात्मा थी। इसके सात कन्याएँ थी। उनके नाम थे-पवित्रता, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा और चन्दना ॥४-७॥

अथाभयकुमारेण श्रेणिकाय महीभुजे। चेलिन्या भूमिमार्गेण प्रच्छन्नं नीयमानया ॥८॥
सा ज्येष्ठाभरणव्याजाद्वञ्चिता दुःखिता सती। यशस्वत्यर्यिकापार्श्वे दीक्षां जग्राह भक्तितः ॥९॥
सात्यकेस्तस्य सा ज्येष्ठा पूर्वं दत्तास्ति वाक्यतः। तस्या दीक्षां समाकर्ण्य सात्यकिस्तु विरक्तधीः ॥१०॥
मुनेः समाधिगुप्तस्य नत्वा पादद्वयं मुदा। जिनदीक्षां समादाय सोपि जातो मुनिस्तदा ॥११॥
एकदा वर्द्धमानस्य श्रीमत्तीर्थकरेशिनः। वन्दनार्थं प्रगच्छन्त्यो यशस्वत्यार्यिकादयः ॥१२॥
महाटव्यामकालोत्थवृष्ट्या ताः पीडितास्तराम्। इतस्ततो गताः कष्टं प्रावृट्कालो हि दुःसहः ॥१३॥
ज्येष्ठा कालगुहामध्यं संप्रविश्य स्ववाससः। चक्रे निपीडनं चित्ते मत्वैकान्तं निजेच्छया ॥१४॥
अन्धकारे स्थितस्तत्र सात्यकिः स मुनिस्तदा। तां दृष्ट्वा विह्वलीभूतमानसोजनि पापतः ॥१५॥

सम्राट् श्रेणिक ने चेटक से चेलना के लिए याचना की थी, पर चेटक ने उनकी आयु अधिक देखकर लड़की देने से इनकार कर दिया। इससे श्रेणिक को बहुत बुरा लगा। अपने पिता के दुःख का कारण जानकर अभयकुमार उनका एक बहुत ही बढ़िया चित्र बनवा कर विशाला में पहुँचा। उसने वह चित्र चेलना को बतलाकर उसे श्रेणिक पर मुग्ध कर लिया। पर चेलना के पिता को उसका ब्याह श्रेणिक से करना सम्मत नहीं किया था। इसलिए अभयकुमार ने गुप्त मार्ग से चेलना को ले जाने का विचार किया। जब चेलना उसके साथ जाने को तैयार हुई जब ज्येष्ठा ने उससे अपने को भी ले चलने के लिए कहा। चेलना सहमत तो हो गई, पर उसे उसका चलना इष्ट नहीं था, इसलिए जब ये दोनों बहिनें थोड़ी दूर गई होंगी कि धूर्ता चेलना ने ज्येष्ठा से कहा—बहिन, मैं अपने आभूषण तो सब महल ही में भूल आई हूँ। तू जाकर उन्हें ले आ न? मैं तब तक यहीं खड़ी हूँ। बेचारी भोली ज्येष्ठा उसके झाँसे में आकर चली गई वह थोड़ी दूर ही पहुँची होगी कि इसने इधर आगे का रास्ता पकड़ा और जब तक ज्येष्ठा संकेत स्थान पर आती है तब तक यह बहुत दूर आगे बढ़ आई। अपनी बहिन की इस कुटिलता या धोखेबाजी से ज्येष्ठा को बेहद दुःख हुआ और इसी दुःख के मारे वह यशस्वती आर्यिका के पास दीक्षा ले गई। ज्येष्ठा की सगाई सत्यन्धर के पुत्र सात्यकि से हो चुकी थी। पर जब सात्यकि ने उसका दीक्षा ले लेना सुना तो वह भी विरक्त होकर समाधिगुप्त मुनि द्वारा दीक्षा लेकर मुनि बन गया ॥८-११॥

एक दिन यशस्वती, ज्येष्ठा आदि आर्यिकाएँ श्रीवर्द्धमान भगवान् की वन्दना करने को चलीं। वे सब एक वन में पहुँची होगी कि पानी बरसने लगा, और खूब बरसा। इससे इस आर्यिका संघ को बड़ा कष्ट हुआ। कोई किधर और कोई किधर, इस तरह उनका सब संघ तितिर-बितर हो गया। ज्येष्ठा एक कालगुहा नाम की गुफा में पहुँची। वह उसे एकान्त समझकर शरीर से भीगे वस्त्रों को उतार कर उन्हें निचोड़ने लगी। भाग्य से सात्यकि मुनि भी इसी गुफा में ध्यान कर रहे थे। सो उन्होंने ज्येष्ठा आर्यिका का खुला शरीर देख लिया। देखते ही विकार भावों से उनका मन भ्रष्ट हुआ और उन्होंने शीलरूपी मौलिक रत्न को आर्यिका के शरीररूपी अग्नि में झोंक दिया। सच है, काम से अन्धा बना

तद्वपुर्वन्हिना मूढः स्वकीयं शीलरत्नकम्। भस्मीचकार हा कष्टं कामान्धः किं करोति न ॥१६॥
ततस्तदिङ्गितैर्ज्ञात्वा यशस्वत्यार्यिका सती। नीत्वा ताम् चेलिनीपार्श्वे स्थापयामास शुद्धधीः ॥१७॥
प्रच्छन्न च तया ज्येष्ठा चेलिन्या स्वगृहे धृता। सद्दृष्टयः प्रकुर्वन्ति दर्शनच्छादनं महत् ॥१८॥
सा ज्येष्ठा नवभिर्मासैः प्रसूता तनुजं ततः। चेलिन्यास्तनुजो जातः श्रेणिकेनेति घोषितम् ॥१९॥
कैश्चिद्दिनैरसौ सार्द्धं वृद्धिं प्राप दुराशयैः। यो वृक्षो मूलतो नष्टस्तत्फले क्वात्र मिष्टता ॥२०॥
एकदा रौद्रभावेन मारयत्परपुत्रकान्। चेलिन्या रुष्टया सोपि रुद्रनामेति जल्पितः ॥२१॥
तथैकदा कृतेऽन्याये चेलिनी प्राह कोपतः। अन्येन जनितोप्यन्यं सन्तापयति पापधीः ॥२२॥
तच्छ्रुत्वा रुद्रकश्चित्ते किमप्यत्रास्ति कारणम्। विचार्येति नृपं प्राह को मे तातो महाग्रहात् ॥२३॥
ततः कष्टेन तेनोक्तं समाकर्ण्य स्ववृत्तकम्। गत्वा सात्यकिसान्निध्ये रुद्रो दीक्षां गृहीतवान् ॥२४॥

मनुष्य क्या नहीं कर डालता ॥१२-१६॥

गुराणी यशस्वती ज्येष्ठा की चेष्टा वगैरह से उसकी दशा जान गई और इस भय से कि धर्म का अपवाद न हो, वह ज्येष्ठा को चेलना के पास रख आई चेलना ने उसे अपने यहाँ गुप्त रीति से रख लिया। सो ठीक ही है, सम्यग्दृष्टि निन्दा आदि से शासन की सदा रक्षा करते हैं ॥१७॥

नौ महीने होने पर ज्येष्ठा के पुत्र हुआ। पर श्रेणिक ने इस रूप में प्रकट किया कि चेलना के पुत्र हुआ। ज्येष्ठा उसे वही रखकर आप आर्यिका के संघ में चली आई और प्रायश्चित्त लेकर तपस्विनी हो गई इसका लड़का श्रेणिक के यही पलने लगा। बड़ा होने पर वह और लड़कों के साथ खेलने को जाने लगा। पर संगति इसकी अच्छे लड़कों के साथ नहीं थी इससे इसके स्वभाव में कठोरता अधिक आ गई। यह अपने साथ के खेलने वाले लड़को को रुद्रता के साथ मारने-पीटने लगा। इसकी शिकायत महारानी के पास आने लगी। महारानी को इस पर बड़ा गुस्सा आया। उसने इसका ऐसा रौद्र स्वभाव देखकर नाम भी इसका रुद्र रख दिया। सो ठीक ही है जो वृक्ष जड़ से खराब होता है तब उसके फलों में मीठापन आ भी कहाँ से सकता है। इसी तरह रुद्र से एक दिन और कोई अपराध बन पड़ा। सो चेलना ने अधिक गुस्से में आकर यह कह डाला कि किसने तो इस दुष्ट को जना और किसे यह कष्ट देता है। चेलना के मुँह से, जिसे कि यह अपनी माता समझता था, ऐसी अचम्भा पैदा करने वाली बात सुनकर बड़े गहरे विचार में पड़ गया। इसने सोचा कि इसमें कोई कारण जरूर होना चाहिए। यह सोचकर यह श्रेणिक के पास पहुँचा और उनसे इसने आग्रह के साथ पूछा-पिताजी, सच बतलाइए, मेरे वास्तव में पिता कौन हैं और कहाँ हैं? श्रेणिक ने इस बात के बताने को बहुत आनाकानी की। पर जब रुद्र ने बहुत ही उनका पीछा किया और किसी तरह वह नहीं मानने लगा। तब लाचार हो उन्हें सब सच्ची बात बता देनी पड़ी। रुद्र को इससे बड़ा वैराग्य हुआ और वह अपने पिता के पास जाकर मुनि हो गया ॥१८-२४॥

ततश्चैकादशाङ्गानि दशपूर्वमहाश्रुतम्। तस्योच्चैः पठतः शास्त्रप्रभावेण समागता ॥२५॥
विद्याः पञ्चशतान्याशु महत्यश्च तथा पराः। लघ्व्यः सप्तशतान्येव विद्याः सिद्धा मनोहराः ॥२६॥
लोभतः सोपि ता विद्याः स्वीचक्रे रुद्रकस्तदा। श्रेयसे न भवेल्लोभो भाविसौख्यक्षयंकरः ॥२७॥
रुद्रस्ताभिश्च विद्याभिर्गोकर्णगिरिमस्तके। महातापनयोगस्थं सात्यकिं तं मुनीश्वरम् ॥२८॥
वन्दितुं ये समायान्ति भक्ता भव्यमतल्लिकाः। सिंहव्याघ्रादिरूपेण दुष्टस्तांस्त्रासयते तराम् ॥२९॥
तदाकर्ण्य तकं प्राह सात्यकिर्मुनिसत्तमः। अहो रुद्र वृथा चेष्टां मा कुरु त्वं प्रकष्टदाम् ॥३०॥
स्त्रीनिमित्तात्तपोभङ्गः संभविष्यति ते कुधीः। इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं स रुद्रो दुष्टमानसः ॥३१॥
चेष्टां न मुञ्चति स्मोच्चैस्तां करोति स्म पापतः। मानसे नैव तिष्ठन्ति पापिनां सद्गुरोर्गिरः ॥३२॥
ततः कैलासनामानं पर्वतं सुमनोहरम्। गत्वा तापनयोगेन स्थितोसौ मुनिमर्कटः ॥३३॥
अथेह विजयार्द्धे च दक्षिणश्रेणिसंस्थितम्। पुरं मेघनिबद्धाख्यं मेघादिनिचयं पुनः ॥३४॥

एक दिन रुद्र ग्यारह अंग और दस पूर्व का बड़े ऊँचे से पाठ कर रहा था। उस समय श्रुतज्ञान के माहात्म्य से पाँच सौ तो बड़ी-बड़ी विद्याएँ और सात सौ छोटी-छोटी विद्याएँ सिद्ध होकर आयी। उन्होंने अपने को स्वीकार करने की रुद्र से प्रार्थना की। रुद्र ने लोभ के वश हो उन्हें स्वीकार तो कर लिया, पर लोभ आगे होने वाले सुख और कल्याण के नाश का कारण होता है, इसका उसने कुछ विचार न किया ॥२५-२७॥

इस समय सात्यकि मुनि गोकर्ण पर्वत की ऊँची चोटी पर प्रायः ध्यान किया करते थे। समय गर्मी का था। उनकी वन्दना को अनेक धर्मात्मा भव्य-पुरुष आया जाया करते थे। पर जब से रुद्र को विद्याएँ सिद्धि हुई, तब से वह मुनि-वन्दना के लिए आने वाले धर्मात्मा भव्य-पुरुषों को अपने विद्याबल से सिंह, व्याघ्र, गेंडा, चीता आदि हिंसक और भयंकर पशुओं द्वारा डरा कर पर्वत पर न जाने देता था। सात्यकि मुनि को जब यह हाल ज्ञात हुआ तब उन्होंने इसे समझाया और ऐसे दुष्ट कार्य करने से रोका। पर इसने उनका कहा नहीं माना और अधिक यह लोगों को कष्ट देने लगा। सात्यकि ने तब कहा-तेरे इस पाप का फल बहुत बुरा होगा ॥२८-३०॥

तेरी तपस्या नष्ट होगी। तू स्त्रियों द्वारा तपभ्रष्टा होकर आखिर मृत्यु का ग्रास बनेगा। इसलिए अभी तुझे सम्हल जाना चाहिए। जिससे कुगतियों के दुःख न भोगना पड़े। रुद्र पर उनके इस कहने का कुछ असर न हुआ। वह और अपनी दुष्टता करता ही चला गया। सच है, पापियों के हृदय में गुरुओं का अच्छा उपदेश कभी नहीं ठहरता ॥३१-३२॥

एक दिन रुद्र मुनि प्रकृति के दृश्यों से अपूर्व मनोहरता धारण किए हुए कैलाश पर्वत पर गया और वहाँ तापन योग द्वारा तप करने लगा। इसके बीच में एक और कथा है, जिसका इसी से सम्बन्ध है। विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में मेघनिबद्ध, मेघनिचय और मेघनिदान ऐसे तीन सुन्दर शहर है।

तथा मेघनिदानं च तेषु राजा महानभूत्। कनकादिरथो नाम्ना राज्ञी तस्य मनोहरा ॥३५॥
तयोः पुत्रौ समुत्पन्नौ देवदारुर्द्वितीयकः। विद्युज्जिह्वो महाविद्या-रूपसौभाग्यमण्डितौ ॥३६॥
एकदा स महाराजस्त्रिधा वैराग्ययोगतः। देवदारुसुपुत्राय राज्यं दत्वा प्रमोदतः ॥३७॥
दीक्षां गणधराख्यस्य मुनेः पार्श्वे विकल्मषः। समादाय मुनिर्जातो भव्यसन्दोहतारकः ॥३८॥
कैश्चिद्दिनैस्ततः सोपि देवदारुखगाधिपः। निर्घाटितो लघुभात्रा विद्युज्जिह्वेन लोभिना ॥३९॥
तस्मात्कैलासमागत्य संस्थितो मानभंगतः। कुटुम्बकलहेनात्र नष्टाः के के न भूतले ॥४०॥
तस्याष्टौ च महाकन्याः प्रोल्लसद्रूपसम्पदाः। वाप्यां स्नातुं समायान्ता यत्रास्ते रुद्रको मुनिः ॥४१॥
यावद्वापी तटे धृत्वा वस्त्राभरणसञ्चयम्। कन्यास्तोये प्रविष्टास्ताः स्नानं कर्त्तुं निजेच्छया ॥४२॥
तदा तद्रूपसंसक्तः स रुद्रः स्मरपीडितः। विद्यया चोरयामास तासां वस्त्रादिकं कुधीः ॥४३॥
ततस्ताभिः समागत्य व्याकुलाभिः स्वचेतसि। पृष्टः सोपि मुनिः स्वामिन्नस्माकं केन सहृतः ॥४४॥
वस्त्रालंकारसन्दोहो ब्रूहि भो नाथ वेगतः। आपदायां कुतो लज्जा प्राणिनां पापकर्मतः ॥४५॥
तेनोक्तं यदि मां यूय-मिच्छथेति सुनिश्चितम्। तदाहं दर्शयाम्युच्चैर्युष्माकं सर्ववस्तुकम् ॥४६॥

उनका राजा था कनकरथ। कनकरथ की रानी का नाम मनोहरा था। इसके दो पुत्र हुए। एक देवदारु और दूसरा विद्युज्जिह्व। ये दोनों भाई खूबसूरत भी थे और विद्वान् भी थे। इन्हें योग्य देखकर इनका पिता कनकरथ राज्यशासन का भार बड़े पुत्र देवदारु को सौंप आप गणधर मुनिराज के पास दीक्षा लेकर योगी बन गया। सबको कल्याण के मार्ग पर लगाना ही एक मात्र अब इसका कर्तव्य हो गया ॥३३-३८॥

दोनों भाईयों की कुछ दिनों तक तो पटी, पर बाद में किसी कारण को लेकर बिगड़ पड़ी। उसका फल यह निकला कि छोटे भाई ने राज्य के लोभ में फँसकर और अपने बड़े भाई के विरुद्ध षड्यंत्र रच उसे राज्य से निकाल दिया। देवदारु को अपने मानभंग का बड़ा दुःख हुआ। वह वहाँ से चलकर कैलाश पर आया यहीं पर रहने भी लगा। सच है, घरेलू झगड़ों से कौन नष्ट नहीं हो जाता। देवदारु के आठ कन्याएँ थीं और सब ही सुन्दर थीं। सो एक दिन ये सब बहिनें मिलकर तालाब पर स्नान करने को आई अपने सब कपड़े उतारकर ये नहाने को जल में घुसीं। रुद्र मुनि ने इन्हें खुले शरीर देखा। देखते ही वह काम से पीड़ा जाकर इन पर मोहित हो गया। उसने अपनी विद्या द्वारा उनके सब कपड़े चुरा मँगाये। कन्याएँ जब नहाकर जल बाहर हुई तब उन्होंने देखा कपड़े वहाँ नहीं; उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वे खड़ी-खड़ी बेचारी लज्जा के मारे सिकुड़ने लगीं और व्याकुल भी वे अत्यन्त हुई, इतने में उनकी नजर रुद्र मुनि पर पड़ी। उन्होंने मुनि के पास जाकर बड़े संकोच के साथ पूछा-प्रभो, हमारे वस्त्रों को यहाँ से कौन ले गया? कृपाकर हमें बतलाइए। सच है, पाप के उदय से आपत्ति आ पड़ने पर लज्जा संकोच सब जाता रहता है। पापी रुद्र मुनि ने निर्लज्ज होकर उन कन्याओं से कहा-हाँ मैं तुम्हारे वस्त्र वगैरह सब बता सकता हूँ, पर इस शर्त पर कि यदि तुम मुझे चाहने लगो। तब कन्याओं ने कहा-हम अभी अबोध ठहरी, इसलिए हमें इस बात पर विचार

ताभिरुक्तं यदास्माकं पिता तुभ्यं ददाति नः। त्वामिच्छामस्तदा सत्यं वाक्यमेतत्कुलस्त्रियः ॥४७॥
इत्युक्ते तेन तत्सर्वं तासामेव समर्पितम्। ताभिस्ततो गृहं गत्वा स्वपितुस्तं निरूपितम् ॥४८॥
तदाकर्ण्य ततस्तेन देवदारुखगेशिना। प्रधानः प्रेषितः शीघ्रं तत्समीपेषु कार्यवित् ॥४९॥
विद्युज्जिह्वं खगं हत्वा राज्यं मे त्रिपुरोद्भवम्। त्वं ददासि तदा तुभ्यं दीयन्ते सर्वकन्यकाः ॥५०॥
इति श्रुत्वा प्रधानोक्तं सर्वमेवं करोम्यहम्। अंगीचकार तद्रुद्रः कामी किं न करोत्यघम् ॥५१॥
तदा तेन खगेन्द्रेण नीतोसौ स्वगृहं मुदा। किं करोति न राज्यार्थं राज्यभ्रष्टो महीपतिः ॥५२॥
ततो रौद्रेण रुद्रेण स्वविद्यानां प्रभावतः। विजयार्द्धगिरिं गत्वा हत्वा तं दुष्टमानसम् ॥५३॥
विद्युज्जिह्वं खगाधीशं त्रिपुरेषु तदा द्रुतम्। देवदारुर्नृपो राज्ये स्थापितः सन्महोत्सवैः ॥५४॥
ततस्तेन महाभूत्या विद्याधरमहीभुजा। तस्मै रुद्राय ताः कन्या दत्ताश्चान्यास्तु भूरिशः ॥५५॥
तदा तस्य महातीव्र-कामसेवावशं गताः। अन्येषां भूभुजां कन्याः शतशश्च क्षयं ययुः ॥५६॥
ततोऽसौ पार्वतीख्यातां परिणीय गुणोज्ज्वलाम्। संजातः कामभोगेषु सन्तुष्टो रुद्रको महान् ॥५७॥
दुरात्मना ततस्तेन सर्वे भूपादयस्तराम्। पीडिताः स्वस्य विद्याभिर्दुष्टात्मा कस्य शान्तये ॥५८॥

करने का कोई अधिकार नहीं। हमारे पिताजी यदि इस बात को स्वीकार कर लें तो फिर हमें कोई परेशानी नहीं रहेगी। कुल बालिकाओं का यह उत्तर देना उचित ही था। उनका उत्तर सुनकर मुनि ने उन्हें उनके वस्त्र वगैरह दे दिये। उन बालिकाओं ने घर आकर यह सब घटना अपने पिता से कह सुनाई देवदारु ने तब अपने एक विश्वस्त कर्मचारी को मुनि के पास कुछ बातें समझाकर भेजा। उसने जाकर देवदारु की ओर से कहा–आपकी इच्छा देवदारु महाराज को जान पड़ी। उसके उत्तर में उन्होंने यह कहा है कि हाँ मैं अपनी लड़कियों को आपको अर्पण कर सकता हूँ, पर इस शर्त पर कि ''आप विद्युज्जिह को मारकर मेरा राज्य मुझे दिलवा दें।'' रुद्र ने यह स्वीकार किया। सच है, कामी पुरुष कौन पाप नहीं करता। रुद्र को अपनी इच्छा के अनुकूल देख देवदारु उसे अपने घर पर लिवा लाया और बहुत ठीक है, राज्य-भ्रष्ट राजा राज्य प्राप्ति के लिए क्या काम नहीं करता ॥३९-५२॥

इसके बाद रुद्र विजयार्द्ध पर्वत पर गया और विद्याओं की सहायता से उसने विद्युज्जिह्व को मारकर उसी समय देवदारु को राज्य सिंहासन पर बैठा दिया। राज्य प्राप्ति के बाद ही देवदारु ने भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। अपनी सब लड़कियों का ब्याह आनन्द-उत्सव के साथ उसने रुद्र से कर दिया। इसके सिवा उसने और भी बहुत सी कन्याओं को उसके साथ ब्याह दिया। रुद्र तब बहुत ही कामी हो गया। उसके इस प्रकार तीव्र कामसेवन का नतीजा यह हुआ कि सैकड़ों बेचारी राजबालिकाएँ अकाल में मर गई पर यह पापी तब भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। इसने अब की बार पार्वती के साथ ब्याह किया। उसके द्वारा इसकी कुछ तृप्ति जरूर हुई ॥५३-५७॥

कामी होने के सिवा इसे अपनी विद्याओं का भी बड़ा घमंड हो गया था। इसने सब राजाओं को विद्याबल से बड़ा कष्ट दे रखा था, बिना ही कारण यह सबको तंग किया करता था। और सच भी है दुष्ट से किसे शान्ति मिल सकती है। इसके द्वारा बहुत तंग आकर पार्वती के पिता तथा और भी

ततस्तस्याश्च पार्वत्यास्ताताद्यैर्दुःखतो भृशम्। कामसेवाक्षणे तस्य विद्यास्तिष्ठन्ति दूरतः ॥५९॥
इति ज्ञात्वा स संभोगसमये क्रूरमानसः। सस्त्रीको मारितः कष्टं पापिनां सुहृदोरयः ॥६०॥
तदा तस्य महाविद्याः स्वनाथमरणक्षणे। प्रजानां पीडनं चक्रुर्नाना व्याधिशतैस्तराम् ॥६१॥
ततो ज्ञानिमुनेर्वाक्यात्कस्यचित्ते पुनर्जनाः। एकवारं स्वशान्त्यर्थं कृत्वा लिङ्गः क्षमां जगुः ॥६२॥
इदं तस्मान्महामूढो गड्डुरीणां प्रवाहवत्। देवत्वं मानसे ज्ञात्वा मानयन्ति स्म दुर्दृशः ॥६३॥
देवोर्हन्दोषनिर्मुक्तो देवेन्द्राद्यैः प्रपूजितः। केवलज्ञानसाम्राज्यो नान्यो रागादिदूषितः ॥६४॥

सकलभुवननाथैः पूजितो भक्तिभारैः विमलतरगुणौघः केवलज्ञानचन्द्रः।
निखिलसुखसुदाता सर्वसन्तापहर्त्ता स जयतु जगदेकः श्रीजिनो मे प्रशान्त्यै ॥६५॥

इति कथाकाशे सात्यकिरुद्रयोः कथा समाप्ता।

बहुत से राजाओं ने मिलकर इसे मार डालने का विचार किया। पर इसके पास था विद्याओं का बल, सो उसके सामने होने की किसी की हिम्मत न पड़ती और पड़ती भी तो वे कुछ कर नहीं सकते थे। तब उन्होंने इस बात का शोध लगाया कि विद्याएँ इससे किस समय अलग रहती हैं। इस उपाय से उन्हें सफलता प्राप्त हुई। उन्हें यह ज्ञात हो गया कि कामसेवन के समय बल विद्याएँ रुद्र से पृथक् हो जाती है। सो मौका देखकर पर्वती के पिता वगैरह ने खड्ग द्वारा रुद्र को सस्त्रीक मार डाला। सच है–पापियों के मित्र भी शत्रु हो जाया करते हैं ॥५८-६०॥

विद्याएँ अपने स्वामी की मृत्यु देखकर बड़ी दुःखी हुई और साथ ही उन्हें क्रोध भी अत्यन्त आया। उन्होंने तब प्रजा को दुःख देना शुरू किया और अनेक प्रकार की बीमारियाँ प्रजा में फैला दीं। उससे बेचारी गरीब प्रजा त्राह-त्राह कर उठी। इसी समय एक ज्ञानी मुनि इस ओर आ निकले। प्रजा के कुछ लोगों ने जाकर मुनि से इस उपद्रव का कारण और उपाय पूछा। मुनि ने सब कथा कहकर कहा–जिस अवस्था में रुद्र मारा गया है, उसकी एक बार स्थापना करके उससे क्षमा कराओ। वैसा ही किया गया। प्रजा का उपद्रव शान्त हुआ, पर तब भी लोगों की मूर्खता देखो जो एक बार कोई काम किसी कारण को लेकर किया गया सो उसे अब तक भी गडरिया प्रवाह की तरह करते चले आते हैं और देवता के रूप में उसकी सेवा-पूजा करते हैं। पर यह ठीक नहीं। सच्चा देव वही हो सकता है जिसमें राग-द्वेष नहीं जो सबका जानने और देखने वाला हो सकता है और जिसे स्वर्ग के देव, चक्रवर्ती, विधाधर, राजा, महाराजा आदि सभी बड़े-बड़े लोग मस्तक झुकाते हैं और ऐसे देव एक अर्हन्त भगवान् ही हैं ॥६१-६४॥

वे जिन भगवान् मुझे शान्ति दें, जो अनन्त उत्तम-उत्तम गुणों के धारक हैं, सब सुखों के देने वाले हैं, दुःख, शोक, सन्ताप के नाश करने वाले हैं, केवलज्ञान के रूप में जो संसार का आताप हर कर उसे शीतलता देने वाले चन्द्रमा हैं और तीनों लोकों के स्वामियों द्वारा जो भक्तिपूर्वक पूजे जाते हैं ॥६५॥

३८. ब्रह्मण: कथा

नत्वा जिनं जगत्पूज्यमाद्यब्रह्माणमद्भुतम्। ब्रह्मेति देवपुत्रोसौ वक्ष्येऽहं लौकिकीं कथाम् ॥१॥
एवं मूढा: प्रजल्पन्ति ब्रह्मासावेकदामुदा। इन्द्रादीनां पदं जित्वा सर्वोत्कृष्टो भवाम्यहम् ॥२॥
इत्यास्थया महाटव्यामूर्द्धबाहु: प्रकष्टत:। देवतार्द्धचतुर्वर्षसहस्त्राणि महातप: ॥३॥
कुर्वन्नेकपदेनोच्चैर्भुञ्जान: पवनं स्थित:। तप:शक्त्या तदेन्द्रादेर्जातमासनकम्पनम् ॥४॥
इन्द्रनागेन्द्ररुद्राद्या: स्वराजक्षयभीतित:। अप्सरोरूपमादाय कृत्वा देवीं तिलोत्तमाम् ॥५॥
नाना गन्धर्वसद्गान-पेटकाद्यै: समन्विताम्। तत्पार्श्वे प्रेषयामासु: सत्तप:क्षयहेतवे ॥६॥
सापि स्वर्गात्समागत्य तत्ससीपे सुरांगना। हावैर्भावैर्विलासाद्यै: संचक्रे नर्त्तनं महत् ॥७॥
सोपि तद्रूपसंसक्तो भूत्वा ब्रह्मा स्वमानसे। प्रोत्फुल्ललोचनस्तां च पश्यति स्म स्मरोहत: ॥८॥
तच्चित्तं सा परिज्ञात्वा विद्धं कन्दर्पसायकै:। ब्रह्मणो वामपार्श्वं च गत्वा नृत्यं चकार च ॥९॥
दिव्यवर्षसहस्त्रोत्थतपसा दारुणेन च। तत्रापि वामपार्श्वेऽसौ चक्रे वक्त्रं द्वितीयकम् ॥१०॥

---

३८. लौकिक ब्रह्मा की कथा

संसार के द्वारा पूजे गए भगवान् आदि ब्रह्मा (आदिनाथ स्वामी) को नमस्कार कर, देवपुत्र ब्रह्मा की कथा लिखी जाती है ॥१॥

कुछ असमझ लोग ऐसा कहते हैं कि एक दिन ब्रह्माजी के मन में आया कि मैं इन्द्रादिक का पद छीनकर सर्वश्रेष्ठ हो जाऊँ और इसके लिए उन्होंने एक भयंकर वन में हाथ ऊँचा किए बड़ी घोर तपस्या की। वे कोई साढ़े चार हजार वर्ष पर्यन्त (यह वर्ष संख्या देवों के वर्ष के हिसाब से हैं, जो कि मनुष्यों के वर्षों से कई गुणी होती है।) एक ही पाँव से खड़े होकर तप करते रहे और केवल वायु का आहार करते रहे। ब्रह्माजी की यह कठिन तपस्या निष्फल न गई इन्द्रादि का आसन हिल गया। उन्हें अपने राज्य नष्ट होने का बड़ा भय हुआ। तब उन्होंने ब्रह्माजी का तप भ्रष्ट करने के लिए स्वर्ग की एक तिलोत्तमा नाम की वेश्या को, जो कि गन्धर्व देवों के समान गाने और बड़ी सुन्दर नाचने वाली थी, भेजा। तिलोत्तमा उनके पास आई और अनेक प्रकार के हाव-भाव विलास बतला-बतलाकर नाचने लगी। तिलोत्तमा का नृत्य, तिलोत्तमा की भुवन मनोहारिणी रूपराशि और उसका हाव-भाव-विलास देखकर ब्रह्माजी तपसे डगमगे। उन्होंने हजारों वर्षों की तपस्या को एक क्षण भर में नष्ट कर अपने को काम के हाथ सौंप दिया। वे आँखें फाड़-फाड़कर तिलोत्तमा की रूप राशि को बड़े चाव से देखने लगे। तिलोत्तमा ने जब देखा कि हाँ योगिराज अब अपने आपमें नहीं है और आँखें फाड़-फाड़कर मेरी ही ओर देख रहे हैं, तब उनकी इच्छा को और जागृत करने के लिए वह उनकी बायीं ओर आकर नाचने लगी। ब्रह्मा जी ने तब अपनी हजारों वर्षों की तपस्या के प्रभाव से अपना दूसरा मुँह बाँयी ओर बना लिया। तिलोत्तमा जब उनकी पीठ पीछे आकर नाचने लगी। ब्रह्माजी ने तब तीसरा मुँह पीछे की ओर बना लिया ॥२-१०॥

एवं क्रमात्तदासक्तो जातोसौ चतुराननः। ऊर्ध्वे च गर्दभाकारं स्वतुण्डं कृतवान्पुनः ॥११॥
सा नर्त्तकी तपो भ्रष्टं तं विधायेति धूर्त्तिका। स्वर्गं गत्वा सुरेन्द्राणां नत्वा तद्वृत्तकं जगौ ॥१२॥
भो स्वामिनः सुखं नित्यं यूयं तिष्ठथ लीलया। कन्दर्पमूर्च्छितो ब्रह्मा सम्पपात महीतले ॥१३॥
इन्द्रेणोक्तं तदाकर्ण्य तत्र किं त्वं स्थिता न हि। सा जगादेति भो देव वृद्धोसौ नैव रोचते ॥१४॥
ततः कारुण्यभावेन देवेन्द्रेण महाधिया। उर्वशी प्रेषिता वेश्या तत्समीपे मनोहरा ॥१५॥
सापि तत्र समागत्य शक्रादेशेन भक्तितः। कृत्वा तत्पादसंस्पर्श चक्रे तं च सचेतनम् ॥१६॥
तदा तामुर्वशीं प्राप्य गृहं कृत्वा निजेच्छया। नाना भोगान्प्रभुञ्जानः स ब्रह्मा लौकिकः स्थितः ॥१७॥
अहो मूढा न जानन्ति देवं देवस्वरूपकम्। जल्पन्ति मत्तवन्नित्यं स्वेच्छया सत्यवर्जितम् ॥१८॥
इन्द्रादीनां पदं दिव्यं गृह्यते केन तद्धठात्। किं दुराचारमित्युच्चैः कुर्वन्ति सुरयोषितः ॥१९॥
यो ब्रह्मा त्रिजगद्देवः किं करोति कुकर्म सः। सर्वमेतदसत्यं हि ज्ञातव्यं नीतिवेदिभिः ॥२०॥

तिलोत्तमा फिर उनकी दाहिनी ओर जाकर नाचने लगी, ब्रह्माजी ने उस ओर भी मुँह बना लिया। अन्त में तिलोत्तम आकाश में जाकर नाचने लगी। तब ब्रह्माजी ने अपना पाँचवाँ मुँह गधे के मुख के आकार का बनाया। कारण अब उनकी तपस्या का फल बहुत थोड़ा बच रहा था। मतलब यह कि तिलोत्तमा ने जिस प्रकार ब्रह्माजी को नचाया वे उसी प्रकार नाचे। इस प्रकार उन्हें तप से भ्रष्ट कर और उनके हृदय में काम की आग धधका कर चालाक तिलोत्तमा अछूती की अछूती स्वर्ग को चली गई और बेचारे ब्रह्माजी काम के तीव्र वेग से मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर आ गिरे। तिलोत्तमा ने सब हाल इन्द्र से कहकर कहा–प्रभो, अब आप अनन्त काल तक सुख से रहे। मैं ब्रह्माजी की खूब गति बना आई हूँ। तब इन्द्र ने बहुत खुश होकर उससे पूछा–हाँ तिलोत्तमा, तू ब्रह्माजी के पास ठहरी नहीं? तिलोत्तमा बोली–वाह! प्रभो, भली उस बूढ़े की और मेरी आपने जोड़ी मिलाई! मैं तो कभी उसके पास खड़ी तक नहीं रह सकती। यह सुन इन्द्र को ब्रह्माजी की हालत पर बड़ी दया आई उसने फिर सुन्दर वेश्या को उनके पास भेजा। इन्द्र की आज्ञा सिर पर चढ़ा उर्वशी ब्रह्माजी के पास आई उनके पाँवों को छूकर उन्हें उसने सचेत किया। ब्रह्माजी पाँव तले एक स्वर्गीय सुन्दरी को बैठी देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें मानों आज उनकी कड़ी तपस्या का फल मिल गया। ब्रह्माजी अब घर बनाकर उर्वशी के साथ रहने लगे और मनमाने भोग भोगने लगे; तब से लौकिक ब्रह्मा कहलाने लगे ॥११-१७॥

बड़े दुःख की बात है कि असमझ लोग देव या देव के सच्चे स्वरूप को जानते नहीं और जैसी अपनी इच्छा में आता है उन्मत्त की तरह झूठा ही कह दिया करते हैं क्या कोई हठ करके इन्द्रादि का का पद छीन सकता है? और क्या स्वर्ग की देवांगनाएँ व्यभिचार कर सकती है? और जो ब्रह्मा तीन लोक का स्वामी देव कहा जाता है वह क्या ऐसा नीच कर्म करेगा? समझदारों को ये बातें झूठी समझना चाहिए और जिसमें ऐसी बातें हैं वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता। जैन शास्त्रों में ब्रह्मा उसे कहा है, जो मोक्षमार्ग का बताने वाला, सच्चे ज्ञान और सच्चे चारित्र की प्राप्ति कराने वाला और

श्रीमज्जिनागमे प्रोक्तो ब्रह्मासौ पञ्चधा ध्रुवम्। मोक्षे तथाऽऽत्मनिज्ञाने चारित्रे वृषभप्रभुः ॥२१॥
अन्यथा न परो ब्रह्मा विद्यते भुवनत्रये। रागादिदूषितः कामी कथं देवो भवेद्भुवि ॥२२॥
यस्तु रागादिभिर्मुक्तो लोकालोकप्रकाशकः। केवलज्ञानसच्चक्षु स मे ब्रह्मा वृषध्वजः ॥२३॥
यो जानात्यखिलं जगत्त्रयमिदं सत्केवलज्ञानभाक् भव्याम्भोरुहभास्करोतिचतुर संसारनिस्तारकः।
ब्रह्मा श्रीवृषभेश्वरो गुणनिधिः स्वर्गापवर्गप्रदः स स्यान्मे भवशान्तये शुचितरो देवेन्द्रवर्यैः स्तुतः ॥२४॥

इति कथाकोशे लौकिकस्य ब्रह्मणः कथा समाप्ता।

३९. परिग्रहाद्भीतस्य धनदत्तस्य कथा

नत्वा निर्ग्रन्थनाथेशं श्रीजिनं परमेश्वरम्। ग्रन्थोत्पन्नं भयं प्राप्तौ भ्रातरौ तत्कथां ब्रुवे ॥१॥
दशार्णविषये रम्ये पुरे चैकरथाभिधे। धनदत्तोभवच्छ्रेष्ठी धनदत्ता प्रिया तयोः ॥२॥
संजातौ धनदेवाख्यधनमित्रौ सुतोत्तमौ। धनमित्राभवत्पुत्री स्वरूपगुणमण्डिता ॥३॥
धनदत्ते मृते तस्मिन्तौ पुत्रौ पापकर्मणा। दारिद्र्येण महाकष्टं पीडितौ शर्महारिणा ॥४॥

आत्मा को निजस्वरूप में स्थिर करने वाला है। वह अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन अवस्थाओं से पाँच प्रकार का है। इनके सिवा संसार में कोई ब्रह्मा नहीं है क्योंकि राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ आदि दोषों से युक्त कभी ब्रह्मा-देव हो ही नहीं सकता किन्तु जो इन रागादि दोषों से रहित हैं, लोक और अलोक जानने वाले हैं और केवलज्ञानरूपी नेत्र से युक्त हैं वे ही ऋषभ भगवान् मेरे सच्चे ब्रह्मा हैं ॥१८-२३॥

वे परम पवित्र आदिनाथ जिनेन्द्र मुझे संसार के दुःखों से छुड़ाकर शांति प्रदान करें, जो भव्यजनरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूरज के समान हैं, संसार-समुद्र पार करने वाले हैं, गुणों के समुद्र हैं, स्वर्ग और मोक्ष का पवित्र सुख देने वाले हैं, इंद्रादि देवों द्वारा पूज्य हैं और केवलज्ञान द्वारा सारे संसार के जानने और देखने वाले हैं ॥२४॥

३९. परिग्रह से डरे हुए दो भाइयों की कथा

धन, धान्य, दास, दासी, सोना, चाँदी आदि जो संसार के जीवों को तृष्णा के जाल में फँसाकर कष्ट पर कष्ट देने वाले हैं ऐसे परिग्रह से माया, ममता छोड़ने वाले जो साधु-सन्त हैं, उनसे भी जो ऊँचा हैं, जिनके त्याग से आगे त्याग की कोई सीमा नहीं, ऐसे सर्वश्रेष्ठ जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर परिग्रह से डरे हुए दो भाइयों की कथा लिखी जाती है ॥१॥

दशार्ण देश में बहुत सुन्दर एकरथ नाम का एक शहर था। उसमें धनदत्त नाम का सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था। इसके धनदेव और धनमित्र ऐसे दो पुत्र और धनमित्रा नाम की सुन्दर लड़की थी ॥२-३॥

धनदत्त की मृत्यु के बाद इन दोनों भाइयों के कोई ऐसा पापकर्म का उदय आया, जिससे

कौशाम्बीं नगरीं गत्वा प्रणम्य निजमातुलम्। ऊचतुः साश्रुपातं च स्वपितुर्मरणं तदा ॥५॥
मातुलोपि ततो धीमान् श्रुत्वा तद्वृत्तकं तयोः। समुद्धीर्य शुभैर्वाक्यैरष्टानर्घ्यमणीन्ददौ ॥६॥
बन्धुत्वं तद्दयालुत्वं गम्भीरत्वं तदेव च। अर्थिनां यन्निजैर्वित्तैर्भवेदाशाप्रपूरणम् ॥७॥
तौ तान्मणीन्समादाय मार्गे तल्लोभतस्तराम्। चिन्तयामासतुश्चित्ते मारणं च परस्परम् ॥८॥
ततः स्वपुरसानिध्यं समागत्य स्वमानसे। पश्चातापं विधायोच्चैस्तौ प्रकाश्य मनोमलम् ॥९॥
क्षिप्त्वा वेत्रवतीनद्यां तान्मणीन्गृहमागतौ। मत्स्येन गिलितास्ते तु मांसं मत्वा सुपापिना ॥१०॥
ततोसौ धीवरेणैव हतस्तोयचरः पुनः। तयोर्मातुः करे प्राप्ता मणयः कर्मयोगतः ॥११॥
तदासौ धनदत्तोपि मणीनादाय मानसे। पुत्रपुत्रीमहाघातं चिन्तयामास लोभतः ॥१२॥
पुनर्निन्दां निजां कृत्वा स्वपुत्र्यै संददौ मणीन्। गृहीत्वा धनमित्रा च महापापप्रमोहिता ॥१३॥
सापि स्वभ्रातृमातृणां चित्ते धत्ते स्म मारणम्। अहो कष्टं कुधीर्लोभो जन्तूनां पापकारणम् ॥१४॥
ततस्तया निजे चित्ते पश्चातापं विधाय च। भ्रातृभ्यां मणयो दत्ता कष्टकोटिविधायकाः ॥१५॥

इनका सब धन नष्ट हो गया, ये महा दरिद्र बन गए। कुछ सहायता मिलेगी इस आशा से ये दोनों भाई अपने मामा के यहाँ कौशाम्बी गए और इन्होंने बड़े दुःख के साथ पिता की मृत्यु का हाल मामा को सुनाया। मामा भी इनकी हालत देखकर बड़ा दुःखी हुआ। उसने अनेक प्रकार समझा-बुझाकर इन्हें धीरज दिया और साथ ही आठ कीमती रत्न दिये, जिससे कि ये अपना संसार चला सकें। सच है, यही बन्धुपना है, यही दयालुपना है और यही गम्भीरता है जो अपने धन द्वारा याचकों की आशा पूरी की जाए ॥४-७॥

दोनों भाई रत्नों को लेकर अपने घर की ओर रवाना हुए। रास्ते में आते-आते इन दोनों की नियत उन रत्नों के लोभ से बिगड़ी। दोनों ही के मन में परस्पर के मार डालने की इच्छा हुई इतने में गाँव पास आ जाने से इन्हें सुबुद्धि सूझ गई। दोनों ने अपने-अपने नीच विचारों पर बड़ा ही पश्चाताप किया और परस्पर में अपना विचार प्रकट कर मन का मैल निकाल डाला। ऐसे पाप विचारों के मूल कारण इन्हें वे रत्न ही जान पड़े। इसलिए उन रत्नों को वेत्रवती नदी में फेंककर ये अपने घर पर चले आए। उन रत्नों को मांस समझकर एक मछली निगल गई यही मछली एक धीवर के जाल में आ फँसी। धीवर ने मछली को मारा। उसमें से वे रत्न निकले। धीवर ने उन्हें बाजार में बेच दिया। धीरे-धीरे कर्मयोग से वही रत्न इन दोनों भाईयों की माँ के हाथ पड़े। माता ने उनके लोभ से अपने लड़के-लड़की को ही मार डालना चाहा परन्तु तत्काल सुबुद्धि उपज जाने से उसने बहुत पश्चाताप किया और रत्नों को अपनी लड़की को दे दिये। धनमित्रा की भी यही दशा हुई उसकी भी लोभ के मारे नियत बिगड़ गई उसने माता, भाई आदि की जान लेनी चाही। सच है-**संसार में सबसे बड़ा भारी पाप का मूल लोभ है।** अन्त में धनमित्रा को भी अपने विचार पर बड़ी घृणा हुई और उसने फिर उन रत्नों को अपने भाइयों के हाथ दे दिया। वे उन्हें पहचान गए। उन्हें रत्नों के प्राप्त होने का हाल जानकर बड़ा ही वैराग्य हुआ। उसी समय वे संसार की सब माया-ममता छोड़कर, जो कि

तौ तान्मणीन्परिज्ञात्वा महावैराग्ययोग्यतः। त्यक्त्वा परिग्रहं सर्वं महाक्लेशस्य कारकम् ॥१६॥
स्वमातृभगिनीयुक्तौ नत्वा दमधराभिधम्। मुनीन्द्रं परया भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥१७॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं सुरेन्द्राद्यैः समर्चिताम्। जातौ मुनी जगत्पूज्यौ निजात्मपरतारकौ ॥१८॥
मत्वैवं भवभूरिदुःखजनकं लोभं महापापदं मातृभ्रातृकुटुम्बवञ्चनगृहं त्यक्त्वा त्रिधा धार्मिकैः।
श्रीमज्जैनमते जगत्त्रयहिते धर्मे सुशर्मप्रदे कर्त्तव्यं सुमनो दृढं प्रतिदिनं शुद्धं महाश्रेयसे ॥१९॥

इति कथाकोशे परिग्रहाद्भयमिति कथा समाप्ता।

४०. धनाद्भीतस्य सागरदत्तस्य कथा

प्रणम्य परमात्मानं श्रीजिनं केवलेक्षणम्। जातं भयं धनाच्चेति कथयामि कथानकम् ॥१॥
कौशाम्ब्यां धनमित्राख्यधनदत्तादयो मुदा। वाणिज्येन वणिक्पुत्रा निर्गता राजगेहकम् ॥२॥
तस्करैश्च महाटव्यां पापिष्ठैस्तद्धनं हृतम्। हानिर्लोके विपुण्यानामुद्यमेऽपि भवेद्ध्रुवम् ॥३॥
चौरास्तेऽपि धनार्थं च मारणार्थं परस्परम्। रात्रौ चक्रुर्विषाहारं हा कष्टं दुष्ट चेष्टितम् ॥४॥
दस्यवस्ते तदाहारं भुक्त्वाशु प्राणनाशकम्। मृत्युं प्रापुः प्रकष्टेन क्व भवेन्पापिनां शुभम् ॥५॥

महा दुःख का कारण है, दमधर मुनि के पास दीक्षा के लिए गए। इन्हें साधु हुए देखकर इनकी माता और बहिन भी आर्यिका हो गई आगे चलकर ये दोनों भाई बड़े तपस्वी महात्मा हुए। अपना और दूसरों का संसार के दुःखों से उद्धार करना ही एक मात्र इनका कर्तव्य हो गया। स्वर्ग के देवता और प्रायः सब ही बड़े-बड़े राजा-महाराजा इनकी सेवा-पूजा करने को आने लगे ॥८-१८॥

यह लोभ संसार के दुःखों का मूल कारण और अनेक कष्टों का देने वाला है, जो माता, पिता, भाई, बहिन, बन्धु, बान्धव आदि के परस्पर में ठगने और बुरे विचारों के उत्पन्न करने की इच्छा करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे इस पाप के बाप लोभ को मनसा, वाचा, कर्मणा छोड़कर संसार का हित करने वाले और स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख देने वाले जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किए परम पवित्र धर्म में अपने मन को दृढ़ करने का यत्न करें ॥१९॥

४०. धन से डरे हुए सागरदत्त की कथा

केवलज्ञानरूपी उज्ज्वल नेत्र और तीनों लोक को देखने और जानने वाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर धन के लोभ से डरकर मुनि हो जाने वाले सागरदत्त की कथा लिखी जाती है ॥१॥

किसी समय धनमित्र, धनदत्त आदि बहुत से सेठों के पुत्र व्यापार के लिए कौशाम्बी से चलकर राजगृह की ओर रवाना हुए। रास्ते में एक गहन वन में चोरों ने इन्हें लूट-लिया। इनका सब माल-असबाब छीन-छानकर वे चलते हुए। सच है, जिनके पल्ले में कुछ पुण्य नहीं होता। वे कोई भी काम करें, उन्हें नुकसान ही उठाना पड़ता है ॥२-३॥

उधर धन पाकर चोरों की नियत बिगड़ी। सब परस्पर में यह चाहने लगे कि धन मेरे ही हाथ पड़े और किसी को कुछ न मिले और इसी लालसा से एक-एक के विरुद्ध जान लेने की कोशिश करने

तेषां मध्ये वणिक्पुत्रः सुधीः सागरदत्तवाक्। रात्रिभुक्तिव्रतात्तेन न भुक्तं तद्विषान्नकम् ॥६॥
समालोक्य तदा सोपि तेषां मृत्युं विरक्तवान्। संत्यक्त्वा तद्धनं त्रेधा मुनिर्जातो जगद्धितः ॥७॥
एकेनापि जिनेन्द्रदेवकथिते नोच्चैर्व्रतेन स्वयं ज्ञात्वा संसृतिचेष्टितं च हृदये विद्युच्चलं जीवितम्।
त्यक्त्वा तच्च धनं विशिष्टचरणो ज्ञातो मुनिः शुद्धधीः स श्रीसागरदत्तवाग्गुणनिधिः कुर्यात्सतां मंगलम् ॥८॥

इति कथाकोशे धनाद्भीतस्य सागरदत्तस्य कथा समाप्ता।

४१. धनाद्भ्रमबुद्धिकुबेरदत्त-कथा

श्रीजिनं त्रिजगत्पूज्यं भारतीं भुवनोत्तमाम्। नमस्कृत्य गुरुन् भक्त्या वक्ष्ये संगकथानकम् ॥१॥
देशे मणिवते ख्याते पुरे मणिवताभिधे। राजा मणिवतो नाम्ना तद्राज्ञी पृथिवीमती ॥२॥
तत्पुत्रो मणिचन्द्राख्यः संजातो गुणसंयुतः। शूरो धीरोतिगंभीरो राजविद्याविराजितः ॥३॥
स राजा पूर्वपुण्येन कुर्वनराज्यं निजेच्छया। संस्थितः श्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मकर्मपरायणः ॥४॥
दानं भक्त्या सुपात्रेषु पूजां श्रीमज्जिनेशिनाम्। नित्यं परोपकारं च करोति स्म स भूपतिः ॥५॥
एकदा पृथिवीदेवी कुर्वती केशसंस्कृतिम्। मस्तके स्वपतेः केशं पलितं वीक्ष्य सा ददौ ॥६॥

लगे। रात को जब वे सब खाने को बैठे तो किसी ने भोजन में विष मिला दिया और उसे खाकर सब के सब परलोक सिधार गए। यहाँ तक कि जिसने विष मिलाया था, वह भी भ्रम से उसे खाकर मर गया। उसमें एक सागरदत्त नामक वैश्यपुत्र बच गया। वह इसलिए कि उसे रात्रि में खाने-पीने की प्रतिज्ञा थी। धन के लोभ में फँसने से एक साथ सबको मरा देखकर सागरदत्त को बड़ा वैराग्य हुआ। वह उस धन को वहीं छोड़-छाड़कर चल दिया और एक साधु के पास जाकर आप मुनि बन गया ॥४-७॥

रात्रिभुक्तत्यागव्रती सागरदत्त ने संसार की सब लीलाओं को दुःख का कारण और जीवन को बिजली की तरह जानकर पलभर में नाश होने वाला सब धन वहीं पर पड़ा छोड़कर आप एक ऊँचा आचरण का धारक साधु हो गया। वह सागरदत्त मुनि आप सज्जनों का कल्याण करें ॥८॥

४१. धन के लोभ से भ्रम में पड़े कुबेरदत्त की कथा

जिनेन्द्र भगवान् को, जो कि सारे संसार द्वारा पूज्य हैं और सबसे उत्तम गिनी जाने वाली जिनवाणी तथा गुरुओं को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर परिग्रह के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है ॥१॥

मणिवत देश में मणिवत नाम का एक शहर था। उसके राजा का नाम भी मणिवत था। मणिवत की रानी पृथ्वीमति थी। इसके मणिचन्द्र नाम एक पुत्र था। मणिवत विद्वान्, बुद्धिमान् और अच्छा शूरवीर था। राजकाज में उसकी बहुत अच्छी गति थी ॥२-३॥

राजा पुण्योदय से राजकाज योग्यता के साथ चलाते हुए सुख से अपना समय बिताते थे। धर्म पर उनकी पूरी श्रद्धा थी वे सुपात्रों को प्रतिदिन दान देते, भगवान् की पूजा करते और दूसरों की भलाई करने में भरसक यत्न करते। एक दिन रानी पृथ्वीमति महाराज के बालों को सँवार रही थीं कि उनकी

दृष्ट्वा मणिवतो राजा केशं वा यमपाशकम्। त्रिधा वैराग्यमापन्नो जैनतत्वविदाम्वरः ॥७॥
स्वराज्यं मणिचन्द्राय दत्वा पुत्राय धीमते। कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ॥८॥
दानं दत्वा यथायोग्यमर्थिभ्यो विनयान्वितः। जिनदीक्षां समादाय मुनिर्जातो जगद्धितः ॥९॥
एकदासौ विशुद्धात्मा संस्मरञ्जिनपादयोः। एकाकी विहरन्धीमानुज्जयिन्याः श्मशानके ॥१०॥
समागत्य स्थितो रात्रौ धीरो मृतकशय्यया। ध्यायंश्चित्ते महाशान्त्यै परमात्मानमुत्तमम् ॥११॥
तदा कापालिकः पापी तत्रागत्य श्मशानके। मृतकद्वयं समानीय मुनेः पार्श्वे सुनिर्घृणः ॥१२॥
तन्मस्तकत्रयेणाशु कृत्वा चुल्लीं निजेच्छया। तत्र वेतालिकीविद्यासाधनार्थं नरस्य च ॥१३॥
कपाले चरुकं कर्त्तुं प्रवृत्तो वह्निना तदा। मुनेस्तस्य नसादाहात्पतिते च कपालके ॥१४॥
नष्टः कापालिकः सोपि भयाच्चकितमानसः। मुनीन्द्रो मेरुवद्धीरो तथैवोच्चैः स संस्थितः ॥१५॥
प्रभाते तं मुनिं दृष्ट्वा केनचित्कर्मयोगतः। श्रेष्ठिनो जिनदत्तस्य प्रोक्तं तद्वृत्तकं तदा ॥१६॥
श्रेष्ठिना तेन तच्छ्रुत्वा गत्वा शीघ्रं श्मशानके। तं विलोक्य मुनिं धीरं हाहाकारं विधाय च ॥१७॥
समानीय निजं गेहं महायत्नेन धीमता। पृष्टो वैद्यो मुनेस्तस्य शान्त्यर्थं सोपि संजगौ ॥१८॥
अहो श्रेष्ठिन्सुधीः सोमशर्मभट्टगृहेस्ति च। लक्षपाकं शुभं तैलं तेन स्यादग्निशान्तिता ॥१९॥

नजर एक सफेद बाल पर पड़ी। रानी ने उसे निकालकर राजा के हाथ में रख दिया। राजा उस सफेद बाल को काल का भेजा दूत समझ कर संसार और विषयभोगों से बड़े विरक्त हो गए। उन्होंने अपने मणिचन्द्र पुत्र को राज्य का सब कारोबार सौंप दिया और आप भगवान् की पूजा, अभिषेक कर तथा याचकों को दान दे जंगल की ओर रवाना हो गए और दीक्षा लेकर तपस्या करने लगे। वे अब दिनों-दिन आत्मा को पवित्र बनाते हुए परमात्म-स्मरण में लीन रहने लगे ॥४-९॥

मणिवत मुनि नाना देशों में धर्मोपदेश करते हुए एक दिन उज्जैन के बाहर श्मसान में आए। रात के समय वे मृतक शय्या द्वारा ध्यान करते हुए शान्ति के लिए परमात्मा का स्मरण-चिन्तन कर रहे थे। इतने में वहाँ एक कापालिक बैताली विद्या साधने के लिए आया। उसे चूल्हा बनाने के लिए तीन मुर्दों की जरूरत पड़ी। सो एक तो उसने मुनि को समझ लिया और दो मुर्दों को वह और घसीट लाया। उन तीनों के सिर पर चूल्हा बनाकर उस पर उसने एक कपाल रखा और आग सुलगाकर कुछ नैवेद्य पकाने लगा। थोड़ी देर बाद जब आग जोर से चेती और मुनि की नसें जलने लगीं तब एकदम मुनि का हाथ ऊपर की ओर उठ जाने से सिर पर का कपाल गिर पड़ा। कापालिक उससे डर कर भागकर खड़ा हुआ। मुनिराज मेरु समान वैसे के वैसे ही अचल बने रहे। सबेरा होने पर किसी आते-जाते मनुष्य ने मुनि की यह दशा देख जिनदत्त को यह हाल सुनाया। जिनदत्त उसी समय दौड़ा-दौड़ा श्मसान में गया। मुनि की दशा देखकर उसे बेहद दुःख हुआ। मुनि को अपने घर पर लाकर उसने एक प्रसिद्ध वैद्य से उनके इलाज के लिए पूछा। वैद्य महाशय ने कहा-सोमशर्मा भट्ट के यहाँ लक्षपाक नाम का बहुत ही अच्छा तैल है, उसे लाकर लगाओ। उससे बहुत जल्दी आराम होगा, आग का जला उससे फौरन आराम होता है। सेठ सोमशर्मा के घर दौड़ा हुआ गया। घर पर

श्रेष्ठिना तत्समाकर्ण्य गत्वा विप्रगृहं तदा। तुंकारी नामतद्भार्या तत्तैलं याचिता सती ॥२०॥
तया प्रोक्तं गृहाणैकं भो श्रेष्ठिंस्तैलसद्घटं। केचिल्लोकेऽर्थिनां सन्ति दानिनो वा सुरद्रुमाः ॥२१॥
ततस्तद्घटमादाय निर्गतो यावदेव सः। भग्नो घटस्ततस्तेन पुनस्तस्या निरूपितम् ॥२२॥
सा जगाद सुधीरन्यो घटः संगृह्यते त्वया। चित्तं सतां भवेन्नित्यं गंभीरं सागरादपि ॥२३॥
स्फुटिते च द्वितीयेऽस्मिन्कर्मतस्तृतीयेऽपि च। सा तुंकारी सती प्राह भो श्रेष्ठिन्मा भयं कुरु ॥२४॥
यावत्ते कार्यसिद्धिः स्यात्तावत्तैलं गृहाण मे। तच्छ्रुत्वा जिनदत्तेन श्रेष्ठिना निजमानसे ॥२५॥
अस्याः क्षमा महाश्चर्यमद्वितीयात्र दृश्यते। संविचार्येऽति सा पृष्टा भो मातः केन हेतुना ॥२६॥
कृते महापराधेऽस्मिन् कोपो न क्रियते त्वया। तया प्रोक्तं मया प्राप्तं भो सुधीः कोपजं फलम् ॥२७॥
तत्कथं श्रूयतां तात पुरे चानन्दनामनि। विप्रोभूच्छिवशर्माख्यो धनवान्नृपः पूजितः ॥२८॥
कमलश्रीः प्रिया पुत्राः शिवभूत्यादयोऽभवन्। अष्टाहं नवमी पुत्री भट्टा नाम्नी मता जनैः ॥२९॥
रूपलावण्यसौभाग्यमहामानविराजिता। तुंकर्त्तुं मां समर्थो न विद्यते कोपि भीतितः ॥३०॥

भट्ट महाशय नहीं थे, इसलिए उसने उनकी तुंकारी नाम की स्त्री से तैल के लिए प्रार्थना की। तैल के कई घड़े उसके यहाँ भरे रखे थे। तुंकारी ने उनमें से एक घड़ा ले जाने को जिनदत्त से कहा। जिनदत्त ऊपर जाकर एक घड़ा उठाकर लाने लगा। भाग्य से सीढ़ियाँ उतरते समय पाँव फिसल जाने से घड़ा उसके हाथों से छूट पड़ा। घड़ा फूट गया और तैल सब रेलम-ठेल हो गया। जिनदत्त को इससे बहुत भय हुआ। उसने डरते-डरते घड़े के फूट जाने का हाल तुकारी से कहा। तब तुंकारी ने दूसरा घड़ा ले आने को कहा। उसे पहले घड़े के फूट जाने का कुछ भी ख्याल नहीं हुआ। सच है-सज्जनों का हृदय समुद्र से भी कहीं अधिक गम्भीर हुआ करता है। जिनदत्त दूसरा घड़ा लेकर आ रहा था। अब की बार तैल से चिकनी जगह पर पाँव पड़ जाने से फिर भी वह फिसल गया और घड़ा फूटकर उसका सब तैल बह गया। इसी तरह तीसरा घड़ा भी फूट गया। अब तो जिनदत्त के देवता कूँच कर गए। भय के मारे वह थर-थर काँपने लगा। उसकी यह दशा देखकर तुंकारी ने उससे कहा कि घबराने और डरने की कोई बात नहीं। तुमने कोई जानकर थोड़े ही फोड़े हैं। तुम किसी तरह की चिन्ता-फिकर मत करो। जब तक तुम्हें जरूरत पड़े तुम प्रसन्नता के साथ तैल ले जाया करो देने से मुझे कोई उजर न होगा। कोई कैसा ही सहनशील क्यों न हो, पर ऐसे मौके पर उसे भी गुस्सा आये बिना नहीं रहता। फिर इस स्त्री में इतनी क्षमा कहाँ से आई? इसका जिनदत्त को बड़ा आश्चर्य हुआ। जिनदत्त ने तुकारी से पूछा भी, कि माँ मैंने तुम्हारा इतना भारी अपराध किया, उस पर भी तुमको रत्तीभर क्रोध नहीं आया, इसका क्या कारण है? तुकारी ने कहा-भाई, क्रोध करने का फल जैसा चाहिए वैसा मैं भुगत चुकी हूँ ॥१०-२७॥

इसलिए क्रोध के नाम से ही मेरा जी काँप उठता है। यह सुनकर जिनदत्त का कौतुक और बढ़ा, तब उसने पूछा यह कैसे? तुकारी कहने लगी-चन्दनपुर में शिवशर्मा ब्राह्मण रहता है। वह धनवान् और राजा का आदरपात्र है। उसकी स्त्री का नाम कमलश्री है। उसके कोई आठ तो पुत्र और

एकदा मे पिता पुर्यां दापयामास घोषणाम्। तुंकारं मे सुतां कोपि माकरोत्विति सर्वथा ॥३१॥
तदा तुंकारिका चेति संजातं मम नामकम्। महामानो भवत्यत्र श्रेयसे नैव देहिनाम् ॥३२॥
कदाचिन्न करोम्यस्य तुंकारमिति निश्चयात्। सोमशर्मद्विजेनाहं परिणीता कुलक्रमात् ॥३३॥
अत्रैवोज्जयिनीमध्ये समानीता विभूतिभिः। यावत्स्थिता सुखं गेहे सारसम्पद्विराजिते ॥३४॥
तावच्चैकं दिने सोमशर्मा मे प्राणवल्लभः। रात्रौ नाट्यकलां दृष्ट्वा दीर्घकाले समागतः ॥३५॥
द्वारे स्थित्वा जगादोच्चैरुद्घाट्य कपाटकम्। मया तदा प्रकोपेन मौनेनावस्थितं गृहे ॥३६॥
बृहद्वेला गता याव-त्तावत्तेन क्रुधा मम। तुंकारितं तदा चित्ते कोपेनाहं प्रकम्पिता ॥३७॥
वह्निज्वालेव मूढात्मा कृत्वा द्वारं निरर्गलम्। त्यक्त्वा गेहं पुरं चापि बहिर्यावद्विनिर्गता ॥३८॥

एक लड़की है। लड़की का नाम भट्टा है और वह मैं ही हूँ। मैं थी बड़ी सुन्दरी, पर मुझमें एक बड़ा दुर्गुण था। वह यह कि मैं अत्यन्त मानिनी थी। मैं बोलने में बड़ी ही तेज थी और इसलिए मेरे भय का सिक्का लोगों के मन पर ऐसा जमा हुआ था कि किसी की हिम्मत मुझे 'तू' कहकर पुकारने की नहीं होती थी। मुझे ऐसी अभिमानी देखकर मेरे पिता ने एक बार शहर में डौंडी पिटवा दी कि मेरी बेटी को कोई 'तू' कहकर न पुकारे क्योंकि जहाँ मुझसे किसी ने 'तू' कहा कि मैं उससे लड़ने-झगड़ने को तैयार ही रहा करती थी और फिर जहाँ तक मुझमें शक्ति जोर होता मैं उसकी हजारों पीढ़ियों को एक पलभर में अपने सामने ला खड़ा करती और पिताजी इस लड़ाई-झगड़े से सौ हाथ दूर भागने की कोशिश करते। जो हो, पिताजी ने अच्छा ही काम किया था, पर मेरे खोटे भाग्य से उनका डौंडी पिटवाना मेरे लिए बहुत ही बुरा हुआ। उस दिन से मेरा नाम ही 'तुंकारी' पड़ गया और सब ही मुझे इस नाम से पुकार-पुकार कर चिढ़ाने लगे। सच है-अधिक मान भी कभी अच्छा नहीं होता और इसी चिड़ के मारे मुझसे कोई ब्याह करने तक के लिए तैयार न होता था। मेरे भाग्य से इन सोमशर्मा जी ने इस बात की प्रतिज्ञा की कि मैं कभी इसे 'तू' कहकर न पुकारूँगा। तब इनके साथ मेरा ब्याह हो गया। मैं बड़े उत्साह के साथ उज्जैन में लाई गई। सच कहूँगी कि इस घर में आकर मैं बड़े सुख से रही। भगवान् की कृपा से घर सब तरह हरा भरा है। धन सम्पत्ति भी मनमानी है ॥२८-३४॥

पर **''पड़ा स्वभाव जाए जीव से''** इस कहावत के अनुसार मेरा स्वभाव भी सहज में थोड़े ही मिट जाने वाला था। सो एक दिन की बात है कि मरे स्वामी नाटक देखने गए। नाटक देखकर आते हुए उन्हें बहुत देर लग गई उनकी इस देरी से मुझे अत्यन्त गुस्सा आया। मैंने निश्चय कर लिया कि आज जो कुछ भी हो, मैं दरवाजा नहीं खोलूँगी और मैं सो गई थोड़ी देर बाद वे आए और दरवाजे पर खड़े रहकर बार-बार मुझे पुकारने लगे। मैं चुप्पी साधे पड़ी रही, पर मैंने किवाड़ न खोले। बाहर से चिल्लाते-चिल्लाते वे थक गए, पर उसका मुझ पर कुछ असर न हुआ। आखिर उन्हें भी बड़ा क्रोध हो आया। क्रोध में आकर वे अपनी प्रतिज्ञा तक भूल बैठे। सो उन्होंने मुझे 'तू' कहकर पुकार लिया। बस, उनका 'तू' कहना था कि मैं सिर से पाँव तक जल उठी और क्रोध से अन्धी बनकर

तावच्चोरैः समालोक्य गृहीत्वाभरणादिकम्। नाम्ना विजयसेनस्य भिल्लस्याहं समर्पिता ॥३९॥
पल्लिकायां स पापिष्ठः कुर्वन्मे शीलखण्डनम्। वारितो वनदेव्योच्चैः कृत्वा नानोपसर्गकम् ॥४०॥
भिल्लो भीत्वा तदा सोपि सार्थवाहाय मां ददौ। सार्थवाहोपि मे शीलं कालं कर्त्तुं क्षमो न हि ॥४१॥
ततो रुष्ट्वा स पापात्मा नीत्वा मां परतीरकम्। दत्तवान्कृमिरागेण रक्तकम्बलकारिणे ॥४२॥
तदा तेन जलूकाभिः कष्टतो रक्तकं मम। कम्बलानां निमित्तेन स्वीकृतं भूरिवासरैः ॥४३॥
महाकोपेन जन्तूनां मादृशानां स्वपापतः। भो श्रेष्ठिन्संभवत्येव दुष्टापच्च पदे पदे ॥४४॥
उज्जयिन्या महीभर्त्रा तत्र पारसभूपतेः। पार्श्वे सम्प्रेषितो दूतो मद्भ्राता धनदेवभाक् ॥४५॥
कृतकार्येण तेनाहं दृष्ट्वा भ्रात्रा शुभोदयात्। प्रोक्त्वा तद्भूपतेः सर्व-मत्रानीय च भक्तितः ॥४६॥
सोमशर्मद्विजस्यास्य भर्तृकस्य समर्पिता। बान्धवास्ते भवन्त्येव ये कष्टे शर्मदायिनः ॥४७॥
रक्तक्षयात्तदा कष्टं वातेनाहं प्रपीडिता। लक्ष्यपाकेन तैलेन वैद्येन सुखिनी कृता ॥४८॥
ततो मया मुनीन्द्रेभ्यो धर्मं श्रुत्वा जिनेशिनाम्। सम्यक्त्वं त्रिजगत्पूतं व्रतं चादाय शर्मदम् ॥४९॥

किवाड़ खोलती हुई घर से निकल भागी। मुझे उस समय कुछ न सूझा कि मैं कहाँ जा रही हूँ। मैं शहर के बाहर होकर जंगल की ओर चल धरी। रास्ते में चोरों ने मुझे देख लिया।

उन्होंने मेरे सब गहने-दागी ने और वस्त्र छीन-छानकर विजयसेन नाम के एक भील को सौंप दिया। मुझे खूबसूरत देखकर इस पापी ने मेरा धर्म बिगाड़ना चाहा, पर उस समय मेरे भाग्य से किसी दिव्य स्त्री ने आकर मुझे बचाया, मेरे धर्म की उसने रक्षा की। भील ने उस दिव्य स्त्री से डरकर मुझे एक सेठ के हाथ में सौंप दिया। उसकी नियत भी मुझ पर बिगड़ी। मैंने उसे खूब ही आड़े हाथों लिया। इससे वह मेरा कर तो कुछ न सका, पर गुस्से में आकर उस नीच ने मुझे एक ऐसे मनुष्य के हाथ सौंप दिया जो जीवों के खून से रँगकर कम्बल बनाया करता था। वह मेरे शरीर पर जौंके लगा-लगाकर मेरा रोज-रोज बहुत सा खून निकाल लेता था और उसमें फिर कम्बल को रँगा करता था। सच है, एक तो वैसे ही पाप कर्म का उदय और उस पर ऐसा क्रोध, तब उससे मुझ सरीखी हत-भागिनियों को यदि पद-पद पर कष्ट उठाना पड़े तो उसमें आश्चर्य ही क्या? ॥३५-४४॥

इसी समय उज्जैन के राजा ने मेरे भाई को यहाँ के राजा पारस के पास किसी कार्य के लिए भेजा। मेरा भाई अपना काम पूराकर उज्जैन की ओर जा रहा था कि अचानक मेरी उसकी भेंट हो गई मैंने अपने कर्मों पर बड़ा पश्चाताप किया। जब मैंने अपना सब हाल उससे कहा तो उसे भी बहुत दुःख हुआ। उसने मुझे धीरज दिया। इसके बाद वह उसी समय राजा के पास गया और सब हाल उनसे कहकर उस कम्बल बनाने वाले पापी से उसने मेरा पंजा छुड़ाया। वहाँ से लाकर बड़ी आरजू-मिन्नत के साथ उसने फिर मुझे अपने स्वामी के घर ला रखा। सच है, सच्चे बन्धु वे ही हैं जो कष्ट के समय काम आवें। यह तो तुम्हें मालूम ही है कि मेरे शरीर का प्रायः खून निकल चुका था। इसी कारण घर पर आते ही मुझे लकवा मार गया। तब वैद्य ने यह लक्षपाक तैल बनाकर मुझे जिलाया।

नैव कस्योपरि श्रेष्ठिन्कर्तव्यः कोपको ध्रुवम्। स्वीचक्रे सद्व्रतं चेति शर्मकोटिविधायकम् ॥५०॥
तस्माद्भो तात कुत्रापि कोपो न क्रियते मया। सारं तैलं गृहीत्वोच्चैः समाधानं मुनेः कुरु ॥५१॥
श्रेष्ठिना तां प्रणम्याशु तैलमादाय वेगतः। गत्वा गृहं मुनेस्तस्य शरीरे भूरि यत्नतः ॥५२॥
तत्तैलेन दिनैः कैश्चित्कृत्वा सम्मर्दनादिकम्। महाशान्तिं विधायोच्चैः सारपुण्यमुपार्जितम् ॥५३॥
ततः श्रेष्ठी महाभक्त्या तस्यैव जिनमन्दिरे। जगत्पूज्यो मुनीन्द्रोसौ प्रावृट्योगं गृहीतवान् ॥५४॥
श्रेष्ठिनानर्घ्यरत्नौघैः पूरितस्ताम्रसद्घटः। सप्तव्यसनसंसक्तस्वपुत्रस्य दुरात्मनः ॥५५॥
तदा कुबेरदत्तस्य भयात्तत्र जिनालये। निखन्य स्थापितो गूढं मुनेः शयनसन्निधौ ॥५६॥
तदा कुबेरदत्तोसौ प्रच्छन्नं पापमण्डितः। तत्सर्वं पश्यतिस्मोच्चैश्चेष्टितं स्वपितुः कुधीः ॥५७॥
एकदा तेन पुत्रेण तस्मादुत्खन्य वेगतः। प्रासादं प्रांगणे सोपि निखन्य स्थापितो घटः ॥५८॥
मुनिर्विशुद्धचारित्रो जानन्पश्यन्नपि ध्रुवम्। तदा मध्यस्थभावेन संस्थितो मेरुवत्तराम् ॥५९॥
पूर्णयोगे तु योगीन्द्रः पृष्ट्वा तं श्रेष्ठिनं सुखम्। विहाराय विनिर्गत्य स्थितो ध्याने पुराद्बहिः ॥६०॥

इसके बाद मैंने एक वीतरागी साधु द्वारा धर्मोपदेश सुनकर सर्वश्रेष्ठ और सुख देने वाला सम्यक्त्व व्रत ग्रहण किया और साथ ही यह प्रतिज्ञा की कि आज से मैं किसी पर क्रोध नहीं करूँगी। यही कारण है कि मैं अब किसी पर क्रोध नहीं करती। अब आप जाइए और इस तैल द्वारा मुनिराज की सेवा कीजिए। अधिक देरी करना उचित नहीं है ॥४५-५१॥

जिनदत्त भट्टारक को नमस्कार कर घर गया और तेल की मालिश वगैरह से बड़ी सावधानी के साथ मुनि की सेवा करने लगा। कुछ दिन तक बराबर मालिश करते रहने से आराम हो गया। सेठ ने भी अपनी इस सेवा भक्ति द्वारा बहुत पुण्यबंध किया। चौमासा आ गया था इसलिए मुनिराज ने कहीं अन्यत्र जाना ठीक न समझ यहीं जिनदत्त सेठ के जिनमंदिर में वर्षायोग ले लिया और यहीं वे रहने लगे ॥५२-५५॥

जिनदत्त का एक लड़का था, नाम इसका कुबेरदत्त था। इसका चाल-चलन अच्छा न देखकर जिनदत्त इस के डर से कीमती रत्नों का भरा अपना एक घड़ा जहाँ मुनि सोया करते थे वहाँ खोद कर गाड़ दिया। जिनदत्त ने यह कार्य किया तो था बड़ी दुपका-चोरी से, पर कुबेरदत्त को इसका पता पड़ गया। उसने अपने पिता का सब कर्म देख लिया और मौका पाकर वहाँ से घड़े को निकाल मंदिर के आँगन में दूसरी जगह गाड़ दिया। कुबेरदत्त को ऐसा करते मुनि ने देख लिया था परन्तु तब भी वह चुपचाप रहे और उन्होंने किसी से कुछ नहीं कहा और कहते भी कहाँ से जब कि उनका यह मार्ग ही नहीं है ॥५६-५७॥

जब योग पूरा हुआ तब मुनिराज जिनदत्त को सुख-साता पूछकर वहाँ से बिहार कर गए। शहर बाहर जाकर वे ध्यान करने बैठे। इधर मुनिराज के चले जाने के बाद सेठ ने वह रत्नों का घड़ा घर ले जाने के लिए जमीन खोद कर देखा तो वहाँ घड़ा नहीं। घड़े को एकाएक गायब हो जाने का उसे बड़ा अचंभा हुआ और साथ ही उसका मन व्याकुल भी हुआ। उसने सोचा कि घड़े का हाल

श्रेष्ठी कुम्भमनालोक्य संजातो व्यग्रमानसः। तं जानाति मुनिश्चैव नान्यः कोपीति चेतसि ॥६१॥
संविचार्य मुनेः पार्श्वं गत्वा देव मम ध्रुवम्। त्वां विना न रतिश्चित्ते तस्मादागच्छ भो पुरम् ॥६२॥
इत्यादि मायया पश्चात्तं समानीय सन्मुनिम्। पृच्छति स्म मुने ब्रूहि काञ्चिद्धर्मकथामिति ॥६३॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह भो श्रेष्ठिंस्त्वं महानपि। चिरश्रावकतो दिव्यं कथयात्र कथानकम् ॥६४॥
ततोऽसौ जिनदत्ताख्यः श्रेष्ठी स्वाभिमतार्थकम्। सूचयन्समुवाचैवं ख्याते पद्मरथे पुरे ॥६५॥
वसुपालो महाराजस्तेनायोध्यापतिं प्रति। जितशत्रुं द्रुतं दूतः प्रेषितः कार्यहेतवे ॥६६॥
स दूतस्तु महाटव्यां तृषितो मूर्च्छयान्वितः। वृक्षाधः पतितः कष्टं गतप्राणधनोथवा ॥६७॥
दूतं कण्ठगतप्राणं तमालोक्यैकवानरः। निमज्य सरसि स्वच्छे तत्रागत्य दयापरः ॥६८॥
तस्योपरि स्वकीयं च संविधूय शरीरकम्। अग्रे भूत्वा जलं तस्य दर्शयामास निर्मलम् ॥६९॥
सोपि पापी पयः पीत्वा हत्वा तं वानरं पुनः। तच्चर्ममस्त्रिकां कृत्वा ततो गमनहेतवे ॥७०॥
तोयमादाय दुष्टात्मा निर्गतो धर्मवर्जितः। किं स्वामिंस्तस्य दूतस्य युक्तं मर्कटमारणम् ॥७१॥

केवल मुनि ही जानते थे, फिर बड़े अचंभे की बात है कि उनके रहते यहाँ से घड़ा गायब हो जाए? उसे घड़ा गायब करने का मुनि पर कुछ सन्देह हुआ। तब वह मुनि के पास गया और उनसे उसने प्रार्थना की कि प्रभो, आप पर मेरा बड़ा ही प्रेम है, आप जब से चले आए है तब से मुझे सुहाता ही नहीं, इसलिए चलकर आप कुछ दिनों तक और वहीं ठहरें तो बड़ी कृपा हो। इस प्रकार मायाचारी से जिनदत्त मुनिराज को अपने मन्दिर पर लौटा लाया। इसके बाद उसने कहा, स्वामी, कोई ऐसी धर्म-कथा सुनाए, जिससे मनोरंजन हो। तब मुनि बोले-हम तो रोज ही सुनाया करते है, आज तुम ही कोई ऐसी कथा कहो। तुम्हें इतने दिन शास्त्र पढ़ते हो गए, देखें तुम्हें उसका सार कैसा याद रहता है? तब जिनदत्त अपने भीतरी कपट-भावों को प्रकट करने के लिए एक ऐसी ही कथा सुनाने लगा। वह बोला- ॥५८-६४॥

एक दिन पद्मरथपुर के राजा वसुपाल ने अयोध्या के महाराज जितशत्रु के पास किसी काम के लिए अपना एक दूत भेजा। एक तो गर्मी का समय और ऊपर से चलने की थकावट सो इसे बड़े जोर की प्यास लग आई पानी इसे कहीं नहीं मिला। आते-आते यह एक घने वन में आकर वृक्ष के नीचे गिर पड़ा। इसके प्राण कण्ठगत हो गए। इसको यह दशा देखकर एक बन्दर दौड़ा-दौड़ा तालाब पर गया और उसमें डूबकर यह उस वृक्ष के नीचे पड़े पथिक के पास आया। आते ही इसने अपने शरीर को उस पर झिड़का दिया। जब जल उस पर गिरा और उसकी आँखें खुली तब बन्दर आगे होकर उसे इशारे से तालाब के पास ले गया। जल पीकर इसे बहुत शान्ति मिली। अब इसे आगे के लिए जल की चिन्ता हुई पर इसके पास कोई बरतन वगैरह न होने से यह जल ले जा नहीं सकता था। तब इसे एक युक्ति सूझी। इसने उस बेचारे जीवदान देने वाले बन्दर को बन्दूक से मारकर उसके चमड़े की थैली बनाई और उसमें पानी भर चल दिया। अच्छा प्रभो, अब आप बतलाइए कि उस

तदाकर्ण्य मुनीन्द्रोसौ प्रोक्त्वा युक्तं न तद्भुवि। निर्दोषत्वं स्वकीयं च सूचयन्सत्कथां जगौ ॥७२॥
कौशाम्बीपत्तने विप्रः शिवशर्माभिधानकः। ब्राह्मणी कपिला तस्य संजाता पुत्रवर्जिता ॥७३॥
एकदा शिवशर्मासौ दृष्ट्वाटव्यां द्विजोत्तमः। पिल्लकं नकुलस्योच्चैः समानीय स्वयोषितः ॥७४॥
इमं पुत्रं गृहाणेति कपिलायाः समर्पयत्। किं करोति न मोहान्धः प्राणी तत्त्वपराङ्मुखः ॥७५॥
ततोसौ पालितः सौख्यं शिक्षितो गृहकर्मकम्। करोति नकुलः किंचित्स्वशक्त्या प्रेषणं तदा ॥७६॥
ततश्च कपिला कुक्षौ पुत्रोद्भूत्कर्मयोगतः। तं सुप्तं मञ्चके पुत्रं सैकदा कपिला द्रुतम् ॥७७॥
नकुलस्य समर्प्योच्चैस्तण्डुलान्खण्डितुं गता। तदा सर्पेण पुत्रोसौ भक्षितो मृत्युमाप्तवान् ॥७८॥
कोपतो नकुलः सोपि हत्वा सर्पं सुदारुणम्। रक्तलिप्तमुखः पश्चात्संप्राप्तः कपिलान्तिकम् ॥७९॥
अनेन मारितः पुत्रः इत्याशंक्य स्वमानसे। मारितो नकुलः कष्टं ब्राह्मण्या मुशलेन सः ॥८०॥
पश्चात्स्वगेहमागत्य मृतं दृष्ट्वा भुजंगमम्। पश्चातापस्तया चक्रे धिङ्मूढानां विचेष्टितम् ॥८१॥

नीच, निर्दयी, अधर्मी को अपने उपकारी बन्दर को मार डालना क्या उचित था? मुनि बोले तुम ठीक कहते हो। उस दूत का यह अत्यन्त कृतघ्नता भरा नीच काम था। इसके बाद अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए मुनिराज ने भी एक कथा कहना आरम्भ किया। वे कहने लगे– ॥६५-७२॥

कौशाम्बी में किसी समय एक शिवशर्मा ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम कपिला था। इसके कोई लड़का नहीं था। एक दिन शिवशर्मा किसी दूसरे गाँव से अपने शहर की ओर लौट रहा था। रास्ते में एक जंगल में उसने एक नेवला के बच्चे को देखा। शिवशर्मा ने उसे घर उठा लाकर अपनी प्रिया से कहा–ब्राह्मणी जी आज मैं तुम्हारे लिए एक लड़का लाया हूँ। यह कहकर उसने नेवले को कपिला की गोद में रख दिया। सच है–मोह से अन्धे हुए मनुष्य क्या नहीं करते? ब्राह्मणी ने उसे ले लिया और पाल-पोस कर उसे कुछ सिखा-विखा भी दिया। नेवले में जितना ज्ञान और जितनी शक्ति थी वह उसके अनुसार ब्राह्मणी का बताये कुछ काम भी कर दिया करता था ॥७३-७६॥

भाग्य से अब ब्राह्मणी के भी एक पुत्र हो गया। सो एक दिन ब्राह्मणी बच्चे को पालने में सुलाकर आप धान खाँडने को चली गई और जाते समय पुत्ररक्षा का भार वह नेवले को सौंपती गई इतने में एक सर्प ने आकर इस बच्चे को काट लिया बच्चा मर गया। क्रोध में आकर नेवले ने सर्प के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इसके बाद वह खून भरे मुँह से ही कपिला के पास गया। कपिला उसे खून से लथ-पथ भरा देखकर काँप गई उसने समझा कि इसने मेरे बच्चे को खा लिया। उसे अत्यन्त क्रोध आया। क्रोध के वेग में उसने न कुछ सोचा-विचारा और न जाकर देखा ही कि असल में बात क्या है किन्तु एक साथ ही पास में पड़े हुए मूसले को उठा कर नेवले पर दे मारा। नेवला तड़फड़ा कर मर गया। अब वह दौड़ी हुई बच्चे के पास गई देखती है तो वहाँ एक काला भुजंग सर्प मरा हुआ पड़ा है। फिर उसे बहुत पछतावा हुआ। ऐसे मूर्ख को धिक्कार है जो बिना विचारे जल्दी में आकर हर एक काम कर बैठते हैं। अच्छा सेठ महाशय, कहिए तो सर्प के अपराध पर बेचारे नेवले को इस प्रकार

भो श्रेष्ठिन्सर्पदोषेण किं तस्या विप्रयोषितः। युक्तं निरपराधस्य नकुलस्यैव मारणम् ॥८२॥
न युक्तमिति भो देव श्रेष्ठी प्राह कथानकम्। वाराणस्यां महाराजो जितशत्रुर्विचक्षणः ॥८३॥
तद्वैद्यो धनदत्ताख्यो धनदत्ता प्रियाभवत्। तयोर्धनादिमित्राख्यधनचन्द्रौ सुतौ मतौ ॥८४॥
पठितौ न भिषक्शास्त्रं मृते वैद्ये स्वकर्मतः। तज्जीवनं तदान्यस्मै ददौ वैद्याय भूपतिः ॥८५॥
वैद्यपुत्रौ तु चम्पायाः शिवभूतिभिषग्वरम्। नत्वा वैद्यमहाशास्त्रं ज्ञात्वा व्याघुटितौ पुनः ॥८६॥
ततोऽटव्यां समालोक्य व्याघ्रं चक्षुःप्रपीडितम्। ज्येष्ठेन वारितश्चापि धनचन्द्रो लघुर्भिषक् ॥८७॥
औषधं नेत्रयोस्तस्य परीक्षार्थं ददौ मुदा। नीरोगेण तदा तेन लघुरेव प्रभक्षितः ॥८८॥
किं मुने पापिनस्तस्य युक्तं वैद्यप्रभक्षणम्। इत्यादि श्रेष्ठिनो वाक्यं समाकर्ण्य सकारणम् ॥८९॥
मुनिः प्राह विशुद्धात्मा शृणु त्वं भो वणिग्वर। चम्पायां सोमशर्माख्यो ब्राह्मणोऽस्य प्रिया द्वयम् ॥९०॥
सोमिल्या सोमशर्मा च सोमिल्यायाः सुतोभवत्। तत्रैव पत्तने चास्ति भद्राख्यो वृषभोत्तमः ॥९१॥
गृहे गृहे पशुः सोपि ग्रासं च लभते तृणम्। शान्तत्वात्कस्यचिन्नैव स बाधां कुरुते कदा ॥९२॥
वन्ध्या सा सोमशर्मा च ब्राह्मणी दुष्टमानसा। सपत्नी पुत्रकं हत्वाऽऽरोपयद्भद्रशृंगके ॥९३॥

निर्दयता से मार देना ब्राह्मणी को योग्य था क्या? जिनदत्त ने कहा–नहीं। यह उसकी बड़ी गलती हुई। यह कहकर उसने फिर एक कथा कहना आरम्भ की– ॥७७-८२॥

बनारस के राजा जितशत्रु के यहाँ धनदत्त राज्यवैद्य था। इसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था। वैद्य महाशय के धनमित्र और धनचन्द्र नाम के दो लड़के थे। लाड़-प्यार में रहकर इन्होंने अपनी कुलविद्या भी न पढ़ पाई कुछ दिनों बाद वैद्यराज काल कर गए। राजा ने दोनों भाइयों को मूर्ख देख इनके पिता की जीविका पर किसी दूसरे को नियुक्त कर दिया। तब इनकी बुद्धि ठिकाने आई ये दोनों भाई अब वैद्यशास्त्र पढ़ने की इच्छा से चम्पापुरी में शिवभूति वैद्य के पास गए। इन्होंने वैद्य से अपनी सब हालत कहकर उनसे वैद्यक पढ़ने की इच्छा जाहिर की। शिवभूति बड़ा दयावान् और परोपकारी था, इसलिए उसने इन दोनों भाइयों को अपने ही पास रखकर पढ़ाया और कुछ ही वर्षों में इन्हें अच्छा होशियार कर दिया। दोनों भाई गुरु महाशय के अत्यन्त कृतज्ञ होकर बनारस की ओर रवाना हुए। रास्ते में आते हुए इन्होंने जंगल में आँख की पीड़ा से दुःखी एक सिंह को देखा। धनचन्द्र को उस पर दया आई अपने बड़े भाई के बहुत कुछ मना करने पर भी धनचन्द्र ने सिंह की आँखों का इलाज किया। उससे सिंह को आराम हो गया। आँख खोलते ही उसने धनचन्द्र को अपने पास खड़ा पाया। वह अपने जन्म स्वभाव को न छोड़कर क्रूरता के साथ उसे खा गया। मुनिराज उस दुष्ट सिंह को बेचारे वैद्य को खा जाना क्या अच्छा काम हुआ? मुनि ने 'नहीं' कहकर एक और कथा कहना शुरू की ॥८३-८९॥

चम्पापुरी में सोमशर्मा ब्राह्मण की दो स्त्रियाँ थी। एक का नाम सोमिल्या और दूसरी का सोमशर्मा था। सोमिल्या बाँझ थी और सोमशर्मा के एक लड़का था। यहीं एक बैल रहता था। लोग उसे 'भद्र' नाम से बुलाया करते थे। बेचारा बड़ा सीधा था। कभी किसी को मारता नहीं था। वह सबके घर पर घूमा-फिरा करता था। उसे इस तरह जहाँ थोड़ी बहुत घास खाने को मिलती वह उसे

अनेन मारितो बालो विप्रघातीति पत्तने। त्यक्तः सर्वजनैर्भद्रवृषोऽयं क्षुत्प्रपीडितः ॥९४॥
प्रवेशं लभते नैव कदा क्वापि सुदुःखितः। एकदा जिनदत्ताख्यश्रेष्ठिनो वल्लभा प्रिया ॥९५॥
संजाते परगोधोरुदोषे सा चात्मशुद्धये। कर्त्तुकामोज्वलद्दिव्यं संस्थिता जनसंगमे ॥९६॥
तदा प्रस्तावमासाद्य वृषोयं तप्तफालकम्। संजग्राह सुखेनादु निर्दोषो भणितो जनैः ॥९७॥
किं भो श्रेष्ठिन्वृथा तस्य जनानां मूढचेतसाम्। दोषं निरपराधस्य दातुं युक्तं भवेद्भुवि ॥९८॥
जिनदत्तो जगादैवं गंगातीरे मनोहरे। गर्त्तायां पतितः कष्टं हस्तिबालः कदाचन ॥९९॥
तापसो विश्वभूतिस्तु तं विलोक्य तदा द्रुतम्। नीत्वा स्वपल्लिकायां च पोषयामास यत्नतः ॥१००॥
कैश्चिद्दिनैस्ततो सोपि संजातः सुमहान् गजः। तच्छ्रुत्वा श्रेणिकेनोच्चै-र्गृहीतस्तापसात्सुखम्॥१०१॥
बन्धनाङ्कुशघातादिकष्टं दृष्ट्वा द्विपोपि सः। भक्त्वा स्तंभं समायातस्तदा तापससन्निधौ ॥१०२॥
तत्पृष्ठतः समायाता राजकीयनृणां पुनः। तेषां समर्प्यमानेन सम्बोध्य मधुरैः स्वनैः ॥१०३॥
पापिना हस्तिना तेन तापसः सोपि मारितः। युक्तं किं भो मुनेस्तस्य महातापसमारणम् ॥१०४॥

खाकर रह जाता था। एक दिन उस बाँझ पापिनी ने डाह के मारे अपनी सौत के बच्चे को निर्दयता से मार कर उसका अपराध बेचारे बैल पर लगा दिया। उसे ब्राह्मण बालक का मारने वाला समझ कर सब लोगों ने घास खिलाना छोड़ दिया और शहर से निकाल बाहर कर दिया। बेचारा भूख-प्यास के मारे बड़ा दुःख पाने लगा। बहुत ही दुबला पतला हो गया। पर तब भी किसी ने उसे शहर के भीतर नहीं घुसने दिया। एक दिन जिनदत्त सेठ की स्त्री पर व्यभिचार का अपराध लगा। वह अपनी निर्दोषता बतलाने के लिए चौराहे पर जाकर खड़ी हुई, जहाँ बहुत से मनुष्य इकट्ठे हो रहे थे उसने कोई भयंकर दिव्य लेने के इरादे से एक लोहे के टुकड़े को अग्नि में खूब तपाकर लाल सुर्ख किया। इस मौके को अपने लिए बहुत अच्छा समझ उस बैल ने झट वहाँ पहुँच कर जलते हुए उस लोहे के टुकड़े को मुँह से उठा लिया। उसका यह भयंकर दृश्य देखकर सब लोगों ने उसे निर्दोष समझ लिया। अच्छा सेठ महाशय, बतलाइए तो क्या उन मूर्ख लोगों को बिना समझे-बूझे एक निरपराध पशु पर दोष लगाना ठीक था क्या? जिनदत्त ने 'नहीं' कहकर फिर एक कथा छेड़ी ॥९०-९८॥

वह बोला-''गंगा के किनारे कीचड़ में एक बार एक हाथी का बच्चा फँस गया। विश्वभूति तापस ने उसे तड़फते हुए देखा। वह कीचड़ से उस हाथी के बच्चे को निकालकर अपने आश्रम में लिवा ले आया। उसने उसे बड़ी सावधानी के साथ पाला-पोसा भी। धीरे-धीरे वह बड़ा होकर एक महान् हाथी के रूप में आ गया। श्रेणिक ने इसकी प्रशंसा सुनकर इसे अपने यहाँ रख लिया। हाथी जब तक तापस के यहाँ रहा तब तक बड़ी स्वतंत्रता से रहा। वहाँ इसे कभी अंकुश वगैरह का कष्ट नहीं सहना पड़ा। पर जब यह श्रेणिक के यहाँ पहुँचा तबसे इसे बन्धन, अंकुश आदि का बहुत कष्ट सहना पड़ता था। इस दुःख के मारे एक दिन यह सांकल तोड़-ताड़ कर तापस के आश्रम में भाग आया। इसके पीछे-पीछे राजा के नौकर भी इसे पकड़ने को आए। तापसी मीठे-मीठे शब्दों से हाथी को समझा कर उसे नौकरों के सुपुर्द करने लगा। हाथी को इससे अत्यन्त गुस्सा आया। सो इसने उस

ततो मुनिः कथां प्राह हस्तिनागपुरे शुभे। पूर्वस्यां दिशि भात्युच्चैर्विश्वसेनेन कारितम् ॥१०५॥
भूभुजा सहकाराणां वनं तत्रैकदा पुरा। सौलिका सर्पमादाय स्थिता चाम्रतरूपरि ॥१०६॥
तदा सर्पविषेणाशु पक्वमेकं फलं च तत्। गृहीत्वा वनपालोपि दर्शयामास भूपतेः ॥१०७॥
स्वराज्ञ्यै धर्मसेनायै ददौ राजा च तत्फलम्। तद्भक्षणात्तदा सापि राज्ञी प्राप्ता यमालयम् ॥१०८॥
रुष्टो राजा ततः सर्व-तदुद्यानस्य खण्डनम्। कारयामास भो श्रेष्ठिन्तत्किं युक्तं महीपते ॥१०९॥
नैव युक्तमिति प्रोक्त्वा ततः श्रेष्ठी कथां जगौ। कश्चिन्नरो महाटव्यां गच्छन्सिंहं विलोक्य च ॥११०॥
शीघ्रं सिंहभयान्नष्ट्वाऽऽसन्नपल्लीमहाद्रुमम्। समारुह्य स्थितः सौख्यं ततः सिंहे गते सति ॥१११॥
अवतीर्य तरोर्मार्गे गच्छता तेन पापिना। तदान्वेषयतां काष्ठं महद्भूमिपतेर्नृणाम् ॥११२॥
सारभेरीनिमित्तं च दर्शितः सोपि पादपः। तैस्तु संखंडितो वृक्षः सुच्छायः सुमनोहरः ॥११३॥
रक्षाविधायिनस्तस्य सुजनस्येव सत्तरोः। तत्किं कारयितुं युक्तं भो मुने तस्य पापिनः ॥११४॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोसौ संजगाद कथानकम्। कौशीम्बीपत्तेन राजा गन्धर्वानीक संज्ञकः ॥११५॥
स्वर्णकारोभवत्तत्र सज्जातिः पत्तने तराम्। नामतोङ्गारदेवोसौ रत्नसंस्कारकोविदः ॥११६॥

बेचारे तापस की ही जान ले ली। तो क्या मुनिराज, हाथी को यह उचित था कि वह अपने को बचाने वाले को ही मार डाले? इसके उत्तर में मुनि 'ना' कहकर और एक कथा कहने लगे। उन्होंने कहा–

हस्तिनागपुर की पूरब दिशा में विश्वसेन राजा का बनाया आमों का एक बगीचा था। उसमें आम खूब लग रहे थे। एक दिन एक चील मरे साँप को चोंच में लिए आम के झाड़ पर बैठ गई उस समय साँप के जहर से एक आम पक गया, पीला-सा पड़ गया। माली ने उस पके फल को ले जाकर राजा को भेंट किया। राजा ने उसे 'प्रेमोपहार' के रूप में अपनी प्रिय रानी धर्मसेना को दिया। रानी उसे खाते ही मर गई राजा को बड़ा गुस्सा आया और उसने एक फल के बदले सारे बगीचे को ही कटवा डाला। मुनिराज ने कहा, तो क्या सेठ महाशय, राजा का यह काम ठीक हुआ ? सेठ ने भी 'ना' कहकर और एक कथा कहना शुरू की ॥९९-११०॥

वह बोला–एक मनुष्य जंगल से चला जा रहा था। रास्ते में वह सिंह को देखकर डर के मारे एक वृक्ष पर चढ़ गया। जब सिंह चला गया, तब यह नीचे उतरा और जाने लगा। रास्ते में इसे राजा के बहुत से आदमी मिले, जो कि भेरी के लिए अच्छे और बड़े झाड़ की तलाश में आये थे। सो इस दुष्ट मनुष्य ने वह वृक्ष इन लोगों को बता दिया, जिस पर चढ़कर कि इसने अपनी जान बचाई थी। राजा के आदमी उस घनी छाया वाले सुन्दर वृक्ष को काटकर ले गये। मुनिराज, जिसने बन्धु की तरह अपनी रक्षा की, मरने से बचाया, उस वृक्ष के लिए इस दुष्ट को ऐसा करना योग्य था क्या? मुनिराज 'नहीं' कहकर और एक कथा कही ॥१११-११४॥

वे बोले–गन्धर्वसेन राजा की कौशाम्बी नगरी में एक अंगारदेव सुनार रहता था। जाति का यह ऊँच था। यह रत्नों की जड़ाई का काम बहुत ही बढ़िया करता था। एक दिन अंगारदेव राजमुकुट के एक बहुमूल्य मणि को उजाल रहा था। इसी समय उसके घर पर मेदज नाम के एक मुनि आहार

एकदा राजकीयोरुमुकुटाग्रहामणिम्। तेनोज्वालयता गेहे समायातो मुनीश्वरः ॥११७॥
चर्यार्थं संप्रणम्याशु भक्त्या मेदजसंज्ञकः। स्थापितः कर्मशालायां स मुनिस्तु सुखं स्थितः ॥११८॥
तत्समीपे मणिं धृत्वा भार्याग्रे स गतो यदा। मणिः संगलितस्तावद्रक्तत्वात्क्रौञ्चपक्षिणा ॥११९॥
आगतेन ततस्तेन मणिं चापश्यता द्रुतम्। सम्पृष्टोसौ मुनीन्द्रोपि जानन्मौनेन संस्थितः ॥१२०॥
स्वर्णकारः पुनः प्राह ब्रूहि त्वं भो मणिं मुने। अन्यथा सकुटुम्बस्य संक्षयो मे भविष्यति ॥१२१॥
तथैव संस्थितः सोपि मुनीन्द्रः करुणापरः। ततो रुष्टेन तेनाशु चोरोयं चेति मानसे ॥१२२॥
ज्ञात्वा बध्वा महाकाष्ठै-राहतोसौ मुनीश्वरः। धिग्धनं धिक्च मूढत्वं वेत्ति किंचिन्न यज्जनः ॥१२३॥
एककाष्ठे तदा क्रौञ्च-गले लग्ने लसद्द्युतिः। पद्मरागमणिः सोपि निर्गतो वा यशस्ततिः ॥१२४॥
तं विलोक्य मणिं सोपि स्वर्णकारः सुदुःखितः। हाहाकारं विधायोच्चैर्लग्नस्तन्मुनिपादयोः ॥१२५॥
अहो श्रेष्ठिन्यथा तेन जानता मुनिना मणिः। प्रोक्तो नैव दयालुत्वा-त्तथाहं ते च सद्घटम् ॥१२६॥
जानन्नपि ध्रुवं धीर कथयामि न संयमी। कुरु त्वं यच्च जानासि साम्प्रतं त्वन्मनोगतम् ॥१२७॥
तदा कुबेरदत्तोसौ प्रच्छन्नं तन्निशम्य च। समानीय घटं शीघ्रं प्रोल्लसद्रत्नसंभृतम् ॥१२८॥

के लिए आये। वह मुनि को एक ऊँची जगह बैठाकर और उनके सामने उस मणि को रखकर आप भीतर स्त्री के पास चला गया। इधर मणि को मांस के भ्रम से कूँज पक्षी निगल गया। जब सुनार सब विधि ठीक-ठाक कर आया तो देखता है वहाँ मणि नहीं। मणि न देखकर उसके तो होश उड़ गये। उसने मुनिराज से पूछा-मुनिराज, मणि को मैं आपके पास अभी रखकर गया हूँ, इतने में वह कहाँ चला गया? कृपा करके बतलाइए। मुनि चुप रहे। उन्हें चुप्पी साधे देखकर अंगारदेव का उन्हीं पर कुछ शक गया। उसने फिर पूछा-स्वामी, मणि का क्या हुआ? जल्दी कहिये। राजा को मालूम हो जाने से वह मेरा और मेरे बाल-बच्चों तक का बुरा हाल कर डालेगा। मुनि तब भी चुप ही रहे। अब तो अंगारदेव से न रहा गया। क्रोध से उसका चेहरा लाल सुर्ख पड़ गया। उसने जान लिया कि मणि को इसी ने चुराया है। सो मुनि को बाँधकर उसने उन पर लकड़े की मार मारना शुरू की। उन्हें खूब मारा-पीटा सही, पर तब भी मुनि उसी तरह स्थिर बने रहे। ऐसे धन को, ऐसी मूर्खता को धिक्कार है जिससे मनुष्य कुछ भी सोच-समझ नहीं पाता और हर एक काम को जोश में आकर कर डालता है। अंगारदेव मुनि को लकड़े से पीट रहा था तब एक चोट कूँज पक्षी के गले पर भी जाकर लगी। उससे वह मणि बाहर आ गिरा। मणि को देखते ही अंगारदेव आत्मग्लानि, लज्जा और पश्चाताप के मारे अधमरा-सा हो गया। उसे काटो तो खून नहीं। वह मुनि के पाँवों में गिर पड़ा और रो-रोकर उनसे क्षमा माँगने लगा। इतना कह कर मुनिराज बोले-क्यों सेठ महाशय, अब समझे? मेदज मुनि को उस मणि का हाल मालूम था, पर तब भी दया के वश हो उन्होंने पक्षी का मणि निगल जाना न बतलाया। इसलिए कि पक्षी की जान न जाय और न मुनियों का ऐसा मार्ग ही है। इसी तरह मैं भी यद्यपि तुम्हारे घड़े का हाल जानता हूँ, तथापि कह नहीं सकता। इसलिए कि संयमी का यह मार्ग नहीं है कि वे किसी को कष्ट पहुँचावे। अब जैसा तुम जानते हो और जो तुम्हारे

कियन्तमुपसर्गं भो करिष्यति भवान्मुनेः। इत्युक्त्वा कोपतः पित्रे जिनदत्ताय तं ददौ ॥१२९॥
ततोसौ जिनदत्ताख्यः श्रेष्ठी लज्जाभरान्वितः। कुबेरदत्तोपि पुत्रः पश्चातापं विधाय च ॥१३०॥
नत्वा तं मेरुवद्धीरं मुनीन्द्रं सत्तपोनिधिम्। भक्त्या क्षमापयित्वा च तस्यैव चरणान्तिके ॥१३१॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम्। गृहीत्वा तौ मुनी जातौ निजात्मपरतारकौ ॥१३२॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-प्रोल्लसद्बोधसिंधवः। सारसम्यक्त्वरत्नाढ्या लसच्छीलोर्मिराजिताः ॥१३३॥
ये ते मुनये नित्यं सुरेन्द्राद्यैः समर्चिताः। अस्माकं वन्दिता भक्त्या शान्तये सन्तु शर्मदाः ॥१३४॥
जातः श्रीमतिमूलसंघतिलके श्रीकुन्दकुन्दान्वये विद्यानन्दिगुरुप्रपट्टकमलोल्लासप्रदो भास्करः।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरू रत्नत्रयालंकृतः कुर्यात्सूरिमतल्लिको गुणनिधिर्नित्यं सतां मङ्गलम् ॥१३५॥

इति कथाकोशे भट्टारक-श्रीमल्लिभूषण-शिष्य-ब्रह्मनेमिदत्तविरचिते सगभयाधिकारे मणिवतमुनि-तुंकारी-कथावर्णनायां द्वितीयः परिच्छेदः।

४२. पिण्याकगन्धस्य कथा

प्रणम्य त्रिजगन्नाथं श्रीजिनं सारशर्मदम्। वक्ष्ये पिण्याकगन्धस्य चरित्रं धनलोभिनः ॥१॥
कांपिल्यनगरे राजा नाम्ना रत्नप्रभोभवत्। राज्ञी विद्युत्प्रभा जाता रूपसौभाग्यमण्डिता ॥२॥

मन में हो उसे करो। मुझे उसकी परवा नहीं। घड़े का छुपाने वाला कुबेरदत्त अपने पिता और मुनि का यह परस्पर का कथोपकथन छुपा सुन रहा था। मुनि का अन्तिम निश्चय सुन उसकी उन पर बड़ी भक्ति हो गई वह दौड़ा जाकर झट से घड़े को निकाल लाया और अपने पिता के सामने उसे रखकर जरा गुस्से से बोला–हाँ देखता हूँ आप मुनिराज पर अब कितना उपसर्ग करते हैं? यह देखकर जिनदत्त बड़ा शर्मिन्दा हुआ। उसने अपने भ्रम भरे विचारों पर बड़ा ही पछतावा किया। अन्त में दोनों पिता–पुत्रों ने उन मेरु के समान स्थिर और तप के खजाने मुनिराज के पाँवों में पड़कर अपने अपराध की क्षमा कराई और संसार से उदासीन होकर उन्हीं के पास उन्होंने दीक्षा भी ले ली, जो कि मोक्ष–सुख की देने वाली है। दोनों पिता–पुत्र मुनि होकर अपना कल्याण करने लगे और दूसरों को भी आत्मकल्याण का मार्ग बतलाने लगे। वे साधुरत्न मुझे सुख–शान्ति दें, जो भगवान् के उपदेश किये सम्यग्ज्ञान के उमड़े हुए समुद्र हैं, सम्यक्त्वरूपी रत्नों को धारण किये हैं और पवित्र शील जिसकी लहरें हैं। ऐसे मुनिराजों को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। मूलसंघ के मुख्य चलाने वाले श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में भट्टारक मल्लिभूषण हुए हैं। वे मेरे गुरु हैं, रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण किये हैं और गुणों की खान हैं। वे आप लोगों का कल्याण करें ॥११५–१३५॥

४२. पिण्याकगन्ध की कथा

सुख देने वाले और सारे–संसार के प्रभु श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर धन लोभी पिण्याकगन्ध की कथा लिखी जाती है ॥१॥

रत्नप्रभ कांपिल्य नगर के राजा थे। उनकी रानी विद्युत्प्रभा थी। वह सुन्दर और गुणवती थी।

श्रेष्ठी श्रीजिनदत्ताख्यो जिनपादाब्जषट्पदः। राजादिपूजितो धीमान् श्रावकाचारकोविदः ॥३॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी परः पिण्याकगन्धवाक्। द्वात्रिंशत्कोटिसुद्रव्यो लोभाद्भुङ्क्ते खलं खलः ॥४॥
द्रव्यं लब्ध्वा कुधीर्यस्तु दातुं भोक्तुं क्षमो न हि। पापतः कृपणत्वाच्च स भुङ्क्ते दुःखमेव च ॥५॥
तस्य स्त्री सुन्दरी नाम्नी विष्णुदत्तः सुतोजनि। एकदा राजकीयं च तडागं खनता तदा ॥६॥
उडुनैकेन संलब्ध्वा सुवर्णकुशिकाभृता। मञ्जूषा कर्मयोगेन चिरकालस्थिता ततः ॥७॥
महाकिट्टिप्रलिप्तत्वा-देका लोहस्य मूल्यतः। दत्ता श्रीजिनदत्ताख्यश्रेष्ठिने कुशिका मुदा ॥८॥
सोपि श्रेष्ठी सुधीर्ज्ञात्वा पश्चात्स्वर्णमनोहरम्। पापभीरुस्तदा तेन सुवर्णेन सुखप्रदाम् ॥९॥
जिनेन्द्रप्रतिमां कृत्वा तत्प्रतिष्ठां जगद्धिताम्। कारयामास सद्दृष्टि-र्धर्मिणामीदृशी मतिः ॥१०॥
द्वितीया च कुशी तेन जिनदत्तेन धीमता। परद्रव्यमिति ज्ञात्वा गृहीता नैव तद्व्रतात् ॥११॥
ततः पिण्याकगन्धस्तां गृहीत्वा लोहमूल्यतः। ज्ञात्वा सुवर्णमयीं तां च पुनर्देहीति संजगौ ॥१२॥
तथाष्टानवतिः कुश्यः प्रच्छन्नं चोडुकेन हि। तस्य तावद्भिनैर्दत्ता लोहमूल्यादजानता ॥१३॥

यहीं एक जिनदत्त सेठ रहता था। जिनधर्म पर इनकी गाढ़ श्रद्धा थी। अपने योग्य आचार-विचार इसके बहुत अच्छे थे। राजदरबार में भी इसकी अच्छी पूछ थी, मान-मर्यादा थी। यहीं एक और सेठ था। जिसका नाम पिण्याकगन्ध था। इसके पास कई करोड़ का धन था, पर तब भी वह मूर्ख और बड़ा लोभी था, कृपण था। वह न किसी को कभी एक कौड़ी देता और न स्वयं आप ही अपने धन को खाने-पीने, पहनने में खर्च करता और न ही खाया करता था। इसके पास सब सुख की सामग्री थी, पर अपने पाप के उदय से या यों कहो कि अपनी कंजूसी से वह सदा ही दुःख भोगा करता था। उसकी स्त्री का नाम सुन्दरी था। उसके एक विष्णुदत्त नाम का लड़का था ॥२-६॥

एक दिन राजा के तालाब को खोदते वक्त उडु नाम के मजूर को सोने के सलाइयों की भरी हुई लोहे की सन्दूक मिल गई। वह सन्दूक वहाँ हजारों वर्षों से गड़ी हुई होगी। यही कारण था कि उसे खूब कीटों ने खा लिया था। उसके भीतर की सलाइयों पर भी बहुत मैल जमा हो गया। मैल से यह नहीं जान पड़ता था कि वे सोने की हैं। उडु ने उसमें से एक सलाई लाकर जिनदत्त सेठ को लोहे के भाव बेचा। सेठ ने उस समय तो उसे ले लिया, पर जब वह ध्यान से धो-धाकर देखी गई तो जान पड़ा कि वह एक सोने की सलाई है। सेठ ने उसे चोरी का माल समझ अपने घर में उसका रखना उचित नहीं समझा। उसने उसकी एक जिनप्रतिमा बनवा ली और प्रतिष्ठा कराकर उसे मंदिर में विराजमान कर दिया। सच है, धर्मात्मा पुरुष पाप से बड़े डरते हैं। कुछ दिनों बाद उडु फिर एक सलाई लिए जिनदत्त के पास आया। पर अब की बार सेठ ने उसे नहीं खरीदा। इसलिए कि वह धन दूसरे का है। तब उडु ने उसे पिण्याकगन्ध को बेच दिया। पिण्याकगन्ध को भी मालूम हो गया कि वह सलाई सोने की है, पर तब भी लोभ में आकर उसने उडु से कहा कि यदि तेरे पास ऐसी सलाइयाँ और हों तो उन्हें यहाँ दे जाया करना ॥७-१२॥

मुझे इन दिनों लोहे की कुछ अधिक जरूरत है। मतलब यह कि पिण्याकगन्ध ने उडु से कोई

ततः पिण्याकगन्धाख्यः स श्रेष्ठी धनलम्पटः। भागिनेयविवाहार्थं भगिन्याग्रहतो द्रुतम् ॥१४॥
कुशीनां ग्रहणे पुत्रं तं निरूप्य प्रलोभतः। संप्राप्तः पिप्पलग्रामं प्रेरितः पापकर्मणा ॥१५॥
तेनोड्डुना समानीतां विष्णुदत्तस्तु तां कुशीम्। किं कार्यमनया चेति तदासौ न गृहीतवान् ॥१६॥
ततो राजभटेनाशु खननार्थं हठेन ताम्। गृहीत्वा खनता तेन सुवर्णकुशिका शतम् ॥१७॥
इत्यक्षराणि संवीक्ष्य दर्शिता सा महीपतेः। उड्डुश्चाकारितो राज्ञा पृष्टोसौ संजगाविति ॥१८॥
एका श्रीजिनदत्ताय कुश्योष्टानवतिर्ध्रुवम्। अन्याः पिण्याकगन्धाय मया दत्ता महीपते ॥१९॥
आहूतो जिनदत्तोसौ प्रोक्त्वा तद्वृत्तकं पुनः। दर्शयामास जैनेन्द्रीं प्रतिमां पापनाशिनीम् ॥२०॥
तां दृष्ट्वा भूपतिश्चित्ते परमानन्दनिर्भरः। वस्त्राद्यैः पूजयामास श्रेष्ठिनं तं गुणोज्ज्वलम् ॥२१॥

अट्ठानवे सलाइयाँ खरीद कर ली। बेचारे उड्डु को उसकी सच्ची कीमत ही मालूम न थी, इसलिए उसने सब की सब सलाइयाँ लोहे के भाव बेच दीं ॥१३॥

एक दिन पिण्याकगन्ध अपनी बहिन के विशेष कहने-सुनने से अपने भानजे के ब्याह में दूसरे गाँव जाने लगा। जाते समय धन के लोभ से पुत्र को वह सलाई बतलाकर कह गया कि इसी आकार-प्रकार का लोहा कोई बेचने अपने यहाँ आवे तो तू उसे मोल ले लिया करना। पिण्याकगन्ध के पाप का घड़ा अब बहुत भर चुका था। अब उसके फूटने की तैयारी थी इसलिए तो वह पापकर्म की जबरदस्ती से दूसरे गाँव भेजा गया ॥१४-१५॥

उड्डु के पास अब केवल एक ही सलाई बची थी। वह उसे भी बेचने को पिण्याकगन्ध के पास आया। पर पिण्याकगन्ध तो वहाँ था नहीं, तब वह उसके लड़के विष्णुदत्त के हाथ सलाई देकर बोला- आपके पिताजी ने ऐसी बहुतेरी सलाइयाँ मुझसे मोल ली है। अब यह केवल एक ही बची है। इसे आप लेकर मुझको इसकी कीमत दे दीजिये। विष्णुदत्त ने उसे यह कहकर टाल दिया, कि मैं इसे लेकर क्या करूँगा? मुझे जरूरत नहीं। तुम इसे ले जाओ। इस समय एक सिपाही ने उड्डु को देख लिया। उसने खोदने के लिए वह सलाई उससे छुड़ा ली। एक दिन वह सिपाही जमीन खोद रहा था। उससे सलाई पर जमा हुआ कीट साफ हो जाने से कुछ लिखा हुआ उसे दिख पड़ा। लिखा यह था कि सोने की सौ सलाइयाँ सन्दूक में हैं। यह लिखा देखकर सिपाही ने उड्डु को पकड़ लाकर उससे सन्दूक की बाबत पूछा। उड्डु ने सब बातें ठीक-ठाक बतला दीं। सिपाही उड्डु को राजा के पास ले गया। राजा के पूछने पर उसने कहा कि मैंने ऐसी अट्ठानबे सलाइयाँ तो पिण्याकगन्ध सेठ को बेची हैं ओर एक जिनदत्त सेठ को। राजा ने पहले जिनदत्त को बुलाकर सलाई मोल लेने के बाबत पूछा। जिनदत्त ने कहा-महाराज, मैंने एक सलाई खरीदी तो जरूर है, पर जब मुझे यह मालूम पड़ा कि वह सोने की है तो मैंने उसकी जिनप्रतिमा बनवा ली। प्रतिमा मन्दिर में मौजूद है। राजा प्रतिमा को देखकर बहुत खुश हुआ। उसने जिनदत्त की इस सच्चाई पर उसका बहुत मान किया, उसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण दिए। सच है, गुणों की पूजा सब जगह हुआ करती है ॥१६-२१॥

**पिण्याकश्रेष्ठिनो गेहं गृहीत्वा तत्कुटुम्बकम्। निक्षिप्तं कष्टतो राज्ञा कारागारे प्रकोपतः ॥२२॥
येन तृष्णातुरेणोच्चैर्गृहीतं परवित्तकम्। निजं तेन स्वहस्तेन क्षयं नीतं च सर्वथा ॥२३॥
विवाहान्तरं सोपि समागच्छन्निजं गृहम्। श्रुत्वा स्वगेहवृत्तान्तं मार्गे पिण्याकगन्धकः ॥२४॥
इमौ पादौ दुरात्मानौ सर्वलक्ष्मीक्षयङ्करौ। गतौ ग्राममिति क्रोधाद्धत्वा पाषाणकेन च ॥२५॥
मृत्वार्तध्यानतो कष्टं षष्ठेऽसौ नरके कुधीः। लेल्लकप्रस्तरे पापी पपात प्रौढलोभतः ॥२६॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं विवेकोत्कृष्टमानसैः। त्याज्यः पापप्रदो लोभो यस्त्वन्यायप्रवर्त्तकः ॥२७॥
स जयतु जिननाथः सर्वदेवेन्द्रवन्द्यः सकलगुणसमुद्रो विश्वतत्त्वैकदीपः।
विगतनिखिलदोषो दत्तभव्यप्रलक्ष्मीर्विमलतरगिरीशो बोधसिन्धुः सतां वै ॥२८॥**

इति कथाकोशे कृपण-पिण्याकगन्धस्य कथा समाप्ता।

४३. लुब्धकस्य कथा

प्रोल्लसत्केवलज्ञानं श्रीजिनं त्रिजगद्गुरुम्। प्रणम्य परया भक्त्या वक्ष्ये लुब्धकथानकम् ॥१॥

इसके बाद राजा ने पिण्याकगन्ध को बुलवाया। पर वह घर पर न होकर गाँव गया हुआ था। राजा को उसके न मिलने से और निश्चय हो गया कि उसने अवश्य राजधन धोखा देकर ठग लिया है। राजा ने उसी समय उसका घर जब्त करवा कर उसके कुटुम्ब को कैदखाने में डाल दिया। इसलिए कि उसने पूछ-ताछ करने पर भी सलाइयों का हाल नहीं बताया था। सच है, जो आशा के चक्कर में पड़कर दूसरों का धन मारते हैं, वे अपने हाथों अपना सर्वनाश करते हैं ॥२२-२३॥

उधर ब्याह हो जाने के बाद पिण्याकगंध घर की ओर वापस आ रहा था। रास्ते में ही उसे अपने कुटुम्ब की दुर्दशा का समाचार सुन पड़ा। उसे उसका बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने इस धन-जन की दुर्दशा का मूल कारण अपने पाँवों को ठहराया। इसलिए कि वह उन्हीं के द्वारा दूसरे गाँव गया था। पाँवों पर उसे बड़ा गुस्सा आया और इसीलिए उसने बड़ा भारी पत्थर लेकर उससे अपने दोनों पाँवों को तोड़ लिया। मृत्यु उसके सिर पर खड़ी ही थी। वह लोभी आर्त्तध्यान; बुरे भावों से मरकर नरक गया। यह कथा शिक्षा देती है जो समझदार है उन्हें चाहिए कि वे अनीति के कारण और पाप के बढ़ाने वाले इस लोभ का दूर ही से छोड़ने का यत्न करें ॥२४-२७॥

वे कर्मों को जीतने वाले जिन भगवान् संसार में सदा काल रहें जो संसार के पदार्थों को दिखलाने के लिये दीपक के समान है; सब दोषों से रहित हैं, भव्य-जनों को स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाले हैं, जिनके वचन अत्यन्त ही निर्मल या निर्दोष हैं, जो गुणों के समुद्र हैं, देवों द्वारा पूज्य हैं और सत्पुरुषों के लिए ज्ञान के समुद्र हैं ॥२८॥

४३. लुब्धक सेठ की कथा

केवलज्ञान की शोभा को प्राप्त हुए और तीनों जगत् के गुरु ऐसे जिन भगवान् को नमस्कार कर लुब्धक सेठ की कथा लिखी जाती है ॥१॥

चम्पापुर्यां महाराजः संजातोभयवाहनः। पुण्डरीकाऽभवद्राज्ञी पुण्डरीकसमेक्षणा ॥२॥
लुब्धनामाजनि श्रेष्ठी पापतो धनलम्पटः। श्रेष्ठिनी नागवस्वाख्या तस्याभूत्प्राणवल्लभा ॥३॥
पुत्रौ गरुडदत्ताख्यनागदत्तौ मनःप्रियौ। लुब्धकश्रेष्ठिना तेन स्वगेहे भूरिवित्ततः ॥४॥
यक्षयक्षीगजोष्ट्रादि-महिषाश्वयुगानि च। हैमानि कारितान्युच्चैः शृङ्गपुच्छखुरादिषु ॥५॥
नाना रत्नप्रवालादिजटितानि निजेच्छया। बलीवर्दस्तु वैकाकी सुवर्णाभावतस्तदा ॥६॥
द्वितीयवृषभस्योच्चै-र्निमित्तेनैकदा कुधीः। सप्ताहोरात्रिसद्वृष्टौ जातायां कर्मयोगतः ॥७॥
गंगाप्रवाहतः काष्ठं कष्टादानयति स्म सः। अहो दुरात्मनां तृष्णा कदा केन प्रशाम्यति ॥८॥
पुण्डरीका तदा राज्ञी स्वप्रासादोपरि स्थिता। आनयन्तं महाकाष्ठं कष्टतो वीक्ष्य लुब्धकम् ॥९॥
स्वनाथं प्रति सा प्राह हंहो स्वामिंस्तवापि च। राज्ये कोपि दरिद्रोयं दृश्यते कष्टमाश्रितः ॥१०॥
अस्मै किञ्चिद्धनं देव दीयते करुणाधिया। युक्तं कारुण्ययुक्तानां चित्ते दानमतिर्भवेत् ॥११॥
तदाकर्ण्य नृपो धीमांस्तं समाहूय लुब्धकम्। संजगाद त्वया वित्तं यावदत्र प्रयोजनम् ॥१२॥

राजा अभयवाहन चम्पापुरी के राजा हैं इनकी रानी पुण्डरीका है। नेत्र इसके ठीक पुण्डरीक कमल जैसे हैं। चम्पापुरी में लुब्धक नाम का एक सेठ रहता है। इसकी स्त्री का नाम नागवसु हैं। लुब्धक के दो पुत्र हैं। इनके नाम गरुड़दत्त और नागदत्त हैं। दोनों भाई सदा हँस-मुख रहते हैं ॥२-४॥

लुब्धक के पास बहुत धन था। उसने बहुत कुछ खर्च करके यक्ष, पक्षी, हाथी, ऊँट, घोड़ा, सिंह, हरिण आदि पशुओं की एक-एक जोड़ी सोने की बनवाई थी। इसके सींग, पूँछ, खूर आदि में अच्छे-अच्छे बहुमूल्य हीरा, मोती, माणिक आदि रत्नों को जड़ाकर लुब्धक ने देखने वालों के लिए एक नया ही आविष्कार कर दिया था। जो इन जोड़ियों को देखता वह बहुत खुश होता और लुब्धक की तारीफ किये बिना नहीं रहता। स्वयं लुब्धक भी अपनी इस जगमगाती प्रदर्शनी को देखकर अपने को बड़ा धन्य मानता था। इसके सिवा लुब्धक को थोड़ा-सा दुःख इस बात का था कि उसने एक बैल की जोड़ी बनवाना शुरू की थी और एक बैल बन भी चुका था, पर फिर सोना न रहने के कारण वह दूसरा बैल नहीं बनवा सका। बस, इसी की उसे एक चिन्ता थीं। पर यह प्रसन्नता की बात है कि वह सदा चिन्ता से घिरा न रहकर इसी कमी को पूरा करने के यत्न में लगा रहता था ॥५-६॥

एक बार सात दिन बराबर पानी की झड़ी लगी रही। नदी-नाले सब पूर आ गये। पर कर्मवीर लुब्धक ऐसे समय भी अपने दूसरे बैल के लिए लकड़ी लेने को स्वयं नदी पर गया और बहती नदी में से बहुत-सी लकड़ी निकालकर उसने उसकी गठरी बाँधी और उसे आप ही अपने सिर पर लादे लाने लगा। सच है, ऐसे लोभियों की तृष्णा कहीं कभी किसी से मिटी है? नहीं ॥७-८॥

इस समय रानी पुण्डरीका अपने महल पर बैठी हुई प्रकृति की शोभा को देख रही थी। महाराज अभयवाहन भी इस समय यहीं पर थे। लुब्धक को सिर पर एक बड़ा भारी काठ का भार लादकर लाते देख रानी ने अभयवाहन से कहा-प्राणनाथ, जान पड़ता है आपके राज में यह कोई

तावत्संगृह्यते शीघ्रं तच्छ्रुत्वा लुब्धकोवदत्। एकाकी मे गृहे देव बलीवर्दः प्रवर्त्तते ॥१३॥
विलोक्यते द्वितीयस्तु तन्निशम्य महीपतिः। जगावित्थं मदीयेषु बलीवर्देषु साम्प्रतम् ॥१४॥
बलीवर्दं गृहाण त्वं यः सर्वेषु मनोहरः। राजकीयान्समालोक्य ततोसौ वृषभोत्तमात् ॥१५॥
अस्माद् वृषेन सादृश्यो नास्ति देवेति ते वृषः। लुब्धकः प्राह भूपाग्रे ततो राज्ञा प्रजल्पितम् ॥१६॥
कीदृशस्ते बलीवर्दो भो वणिक्मे प्रदर्शय। ततस्तेन गृहं नीत्वा राज्ञः सन्दर्शितो वृषः ॥१७॥
तं समालोक्य भूपालः सुवर्णवृषभोत्तमम्। ईदृशस्ते वृषभोस्ति परमाश्चर्यमाप्तवान् ॥१८॥
श्रेष्ठिन्या नागवस्वा च रत्नैः स्थालं प्रपूरितम्। दत्वा श्रेष्ठिकरे प्रोक्त समर्पय महीभुजे ॥१९॥

बड़ा ही दरिद्री है। देखिए, बेचारा सिर पर लकड़ियों का कितना भारी गट्ठा लादे हुए आ रहा है। दया करके इसे कुछ आप सहायता दीजिए, जिससे इसका कष्ट दूर हो जाये। यह उचित ही है कि दयावानों की बुद्धि दूसरों पर दया करने की होती है। राजा ने उसी समय नौकरों को भेजकर लुब्धक को अपने पास बुलवाया। लुब्धक के आने पर राजा ने उससे कहा–जान पड़ता है तुम्हारे घर की हालत अच्छी नहीं है। इसका मुझे खेद है कि इतने दिनों से मेरा तुम्हारी ओर ध्यान न गया। अस्तु, तुम्हें जितने रुपये पैसे की जरूरत हो, तुम खजाने से ले जाओ। मैं तुम्हें एक पत्र लिख देता हूँ। यह कहकर राजा पत्र लिखने को तैयार हुए कि लुब्धक ने उनसे कहा–महाराज, मुझे और कुछ न चाहिए किन्तु एक बैल की जरूरत है। कारण मेरे पास एक बैल तो है, पर उसकी जोड़ी मुझे मिलानी है। राजा ने कहा–अच्छी बात है तो जाओ हमारे बहुत से बैल है उनमें तुम्हें जो बैल पसंद आवे उसे अपने घर ले जाओ। राजा के जितने बैल थे उन सबको देख आकर लुब्धक ने राजा से कहा–महाराज, उन बैलों में मेरे बैल सरीखा तो एक भी बैल मुझे नहीं दिखाई पड़ा। सुनकर राजा को बड़ा अचम्भा हुआ। उन्होंने लुब्धक से कहा–भाई, तुम्हारा बैल कैसा है, यह मैं नहीं समझा। क्या तुम मुझे अपना बैल दिखाओगे? लुब्धक बड़ी खुशी के साथ अपना बैल दिखाना स्वीकार कर महाराज को अपने घर पर लिवा ले गया। राजा को उस सोने के बने बैल को देखकर बड़ा अचम्भा हुआ। जिसे उन्होंने एक महा दरिद्री समझा था, वही इतना बड़ा धनी है, यह देखकर किसे अचम्भा न होगा ॥९–१८॥

लुब्धक की स्त्री नागवसु अपने घर पर महाराज को आये देखकर बहुत ही प्रसन्न हुई उसने महाराज की भेंट के लिए सोने का थाल बहुमूल्य सुन्दर-सुन्दर रत्नों से सजाया और उसे अपने स्वामी के हाथ में देकर कहा–इस थाल को महाराज को भेंट कीजिए। रत्नों के थाल को देखकर लुब्धक की तो छाती बैठ गई, पर पास ही महाराज के होने से उसे वह थाल हाथों में लेना पड़ा। जैसे ही थाल को उसने हाथों में लिया उसके दोनों हाथ थर-थर काँपने लगे और ज्यों ही उसने थाल देने को महाराज के पास हाथ बढ़ाया तो लोभ के मारे इसकी अंगुलियाँ महाराज को साँप के फण की तरह देख पड़ी। सच है, जिस पापी ने कभी किसी को एक कौड़ी तक नहीं दी, उसका मन क्या

तदा तस्य प्रलोभत्वात्स्थालं च ददतो द्रुतम्। हस्तस्याङ्गुलयो जाताः फणाकाराः सुकष्टतः ॥२०॥
दत्तं येन कदा किञ्चित्कस्मैचिन्नैव पापतः। तन्मतिः प्रेरिता चापि नास्ति दाने कदाचन ॥२१॥
ततो राजा विलोक्योच्चैस्तच्चरित्रं सुनिन्दितम्। दुष्टात्मा फणहस्तोयमित्युक्त्वा स्वगृहं गतः ॥२२॥
एकदासौ महालोभग्रहग्रस्तस्तु लुब्धकः। तद्‌द्वितीयबलीवर्दनिमित्तं पापकर्मतः ॥२३॥
गत्वा च सिंहलद्वीपप्रमुखेषु बहुष्वपि। चतस्त्रः स्वर्णकोट्यस्तु समुपार्ज्य प्रकृष्टतः ॥२४॥
सिन्धुमध्ये समागच्छन्स्फुटिते यानपात्रके। मृत्वा सर्पो निजे गेहे निधिस्थाने बभूव च ॥२५॥
तत्रापि तद्धनं कस्य गृहीतं न ददाति सः। कोपाद् गरुडदत्तेन ज्येष्ठपुत्रेण मारितः ॥२६॥
तदा मृत्वा चतुर्थेऽसौ महार्त्तध्यानपीडितः। संजातो नारको घोरे नरके पापकर्मणा ॥२७॥
एवं धर्मं विना जन्तुर्नाना लोभादिवञ्चितः। कष्टं प्रयाति पापेन संसारे दुःखसागरे ॥२८॥
ज्ञात्वैवं भवदुःखकोटिजनकं दुष्क्रोधलोभादिकं त्यक्त्वा दूरतरं विशुद्धमनसस्त्रेधा सदा चेतसि।
श्रीमत्सारजिनेन्द्रदेवगदितं धर्मं सुशर्मप्रदं शक्त्या भक्तिभरेण शान्तिनिलयं सन्तो भजन्तु श्रिये ॥२९॥

इति कथाकोशे लुब्धकश्रेष्ठिनः कथा समाप्ता।

दूसरे की प्रेरणा से भी कभी दान की ओर झुक सकता है? नहीं। राजा को उसके ऐसे बुरे बरताव पर बड़ी नफरत हुई फिर एक पल भर भी उन्हें वहाँ ठहरना अच्छा न लगा। वे उसका नाम 'फणहस्त' रखकर अपने महल पर आ गये ॥१९-२०॥

लुब्धक की दूसरा बैल बनाने की आकांक्षा अभी पूरी नहीं हुई वह उसके लिए धन कमाने को सिंहलद्वीप गया। लगभग चार करोड़ का धन उसने वहाँ रहकर कमाया भी। जब वह अपना धन, माल-असबाब जहाज पर लाद कर लौटा तो रास्ते में आते-आते कर्मयोग से हवा उलटी वह चली। समुद्र में तूफान पर तूफान आने लगे। एक जोर की आँधी आई उसने जहाज को एक ऐसा जोर का धक्का मारा कि जहाज उलट कर देखते-देखते समुद्र के विशाल गर्भ में समा गया। लुब्धक, उसका धन-असबाब, इसके सिवा और भी बहुत से लोग जहाज के संगी हुए। लुब्धक आर्त्तध्यान से मरकर अपने धन का रक्षक साँप हुआ। तब भी उसमें से एक कोड़ी भी किसी को नहीं उठाने देता था ॥२१-२६॥

एक सर्प को अपने धन पर बैठा देखकर लुब्धक के बड़े लड़के गरुड़दत्त को बहुत क्रोध आया और इसीलिए उसने उसे उठाकर मार डाला। यहाँ से वह बड़े बुरे भावों से मरकर चौथे नरक गया, जहाँ के पापकर्मों का बड़ा ही दुस्सह फल भोगना पड़ता था। इस प्रकार धर्मरहित जीव क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वश होकर पाप के उदय से इस दुःखों के समुद्र संसार में अनन्त काल तक दुःख- कष्ट उठाया करता है। इसलिए जो सुख चाहते हैं, जिन्हें सुख प्यारा है, उन्हें चाहिए कि वे इन क्रोध, लोभ, मान, मायादि को संसार में दुःख देने वाले मूल कारण समझ कर इनका मन, वचन और शरीर से त्याग करें और साथ ही जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किये धर्म को भक्ति और शक्ति के अनुसार ग्रहण करें, जो परम शान्ति-मोक्ष का प्राप्त कराने वाला है ॥२७-२९॥

४४. वसिष्ठतापसस्य कथा

नत्वाष्टादशभिर्दोषैर्निर्मुक्तं जिननायकम्। वसिष्ठतापसस्योच्चै-श्चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
मथुरानगरे राजा समभूदुग्रसेनवाक्। रेवतीनाम तद्राज्ञी संजाता चित्तवल्लभा ॥२॥
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्ताख्यो जिनपादाब्जषट्पदः। तस्यैव श्रेष्ठिनो दासी प्रियंगुलतिकाभवत् ॥३॥
पुरे तत्र वसिष्ठाख्य-स्तापसो यमुनातटे। कृत्वा स्नानं च पञ्चाग्निसाधनं कुरुते सदा ॥४॥
तदा पौरजनो मूढस्तं समालोक्य तापसम्। स जातो भक्तिकस्तस्य मूढा मूढक्रियारताः ॥५॥
पौरदास्यस्तथा सर्वाः पानीयानयनक्षणे। नित्यं प्रदक्षिणीकृत्य भक्तितस्तं नमन्ति च ॥६॥
सा प्रियंगुलता दासी सखीभिः प्रेरितापि च। प्रणामं कुरुते नैव जैनगेहप्रसंगतः ॥७॥
ततस्ताभिर्बलात्कारं संधृत्वा हस्तपादयोः च। पात्यमाना पदे तस्य निःशंकं सा जगाविति ॥८॥
यद्यस्य तापसस्यात्र प्रणामः क्रियते मया। तदा धीवरनाथस्य प्रणामः क्रियते न किम् ॥९॥
तच्छ्रुत्वा सर्वदासीनां रुष्टोसौ तापसः कुधीः। नष्टास्ताश्च मदोन्मत्ताः कृत्वा हास्यं च दासिकाः ॥१०॥

---

४४. वशिष्ठ तापसी की कथा

भूख, प्यास, रोग, शोक, जन्म, मरण, भय, माया, चिन्ता, मोह, राग, द्वेष आदि अठारह दोषों से जो रहित हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर वशिष्ठ तापसी की कथा लिखी जाती है ॥१॥

उग्रसेन मथुरा के राजा थे। उनकी रानी का नाम रेवती था। रेवती अपने स्वामी की बड़ी प्यारी थी। यहीं एक जिनदत्त सेठ रहता था। जिनदत्त के यहाँ प्रियंगुलता नाम की एक नौकरानी थी। मथुरा में यमुना किनारे पर वशिष्ठ नाम का एक तापसी रहता था। वह रोज नहा-धोकर पंचाग्नि तप किया करता था। लोग उसे बड़ा भारी तपस्वी समझ कर उसकी खूब सेवा-भक्ति करते थे। सो ठीक ही है, असमझ लोग प्रायः देखा-देखी हर एक काम करने लग जाते हैं। यहाँ तक कि शहर की दासियाँ पानी भरने को कुँए पर जब आती तो वे भी तापस महाराज की बड़ी भक्ति से प्रदक्षिणा करती, उनके पाँवों पड़ती और उनकी सेवा-सुश्रुषा कर फिर वे घर जातीं। प्रायः सभी का यही हाल था। पर हाँ प्रियंगुलता इससे बरी थी। उसे ये बातें बिल्कुल नहीं रुचती थीं। इसलिए कि वह बचपने से ही जैनी के यहाँ काम करती रही। उसके साथ की और स्त्रियों को प्रियंगुलता का यह हठ अच्छा नहीं जान पड़ा और इसलिए मौका पाकर वे एक दिन प्रियंगुलता को उस तापसी के पास जबरदस्ती लिवा ले गई और इच्छा न रहते भी उन्होंने उसका सिर तापसी के पाँवों पर रख दिया। अब तो प्रियंगुलता से न रहा गया। उसने गुस्सा होकर साफ-साफ कह दिया कि यदि इस ढोंगी के मैं हाथ जोड़ूँ, तब फिर मुझे एक धीवर (भोई) के ही क्यों न हाथ जोड़ना चाहिए? इससे तो वह बहुत अच्छा है। एक दासी के द्वारा अपनी निन्दा सुनकर तापसी जी को बड़ा गुस्सा आया। वे उन दासियों पर भी बहुत बिगड़े, जिन्होंने जर्बदस्ती प्रियंगुलता को उनके पाँवों पर पटका था। दासियाँ तो तापसी जी की लाल-पीली आँखें देखकर उसी समय वहाँ से नौ-दो-ग्यारह हो गई पर तापस महाराज की क्रोधाग्नि तब भी न बुझी ॥२-१०॥

उग्रसेननृपस्याग्रे गत्वासौ तापसोवदत्। भो प्रभो जिनदत्तेन धीवरो भणितोप्यहम् ॥११॥
ततो राज्ञो समाहूतो स श्रेष्ठी जिनदत्तवाक्। सद्दृष्टिर्निर्भयः प्राह भूपाग्रे सत्यमण्डितः ॥१२॥
देवायं तापसश्चैव प्रमाणं तपसा युतः। यद्यसौ धीवरः प्रोक्तो मया भो नाऽथ निश्चयात् ॥१३॥
तापसेन ततः प्रोक्तं दास्याहं भणितोस्य च। हसित्वा वचनं तस्य साहूता भूभुजा तदा ॥१४॥
तां दृष्ट्वा तापसः कोपात्स च प्राह कुधीस्तदा। रे रण्डे विप्रपुत्रोहं वायुभक्षी सुतापसः ॥१५॥
कथं त्वयातिपापिन्या धीवरो भणितो भुवि। मा प्रियंगुलतावोचत्तदोच्चैर्निर्भया सती ॥१६॥
मत्स्यान्मारयति व्यक्तं धीवरस्त्वमपि ध्रुवम्। ततस्ते धीवरस्यापि विशेषो नैव भूतले ॥१७॥
परीक्षार्थं जटाभारं झाटय त्वं शठ द्रुतम्। तस्मिन्कृते तदा तेन पतिताः क्षुद्रमत्स्यकाः ॥१८॥
तदा राजा जिनेन्द्राणां धर्मस्योच्चैः प्रशंसनम्। कृत्वा निष्काशितः शीघ्रं तापसो मानवर्जितः ॥१९॥

उसने उग्रसेन महाराज के पास पहुँचकर शिकायत की कि प्रभो, जिनदत्त सेठ ने मुझे धीवर बतलाकर मेरा बड़ा अपमान किया। उसे एक साधु की इस तरह बुराई करने का क्या अधिकार था? उग्रसेन को भी एक दूसरे धर्म के साधु की बुराई करना अच्छा नहीं जान पड़ा। उन्होंने जिनदत्त को बुलाकर पूछा, जिनदत्त ने कहा–महाराज यदि यह तपस्या करता है तो यह तापसी है ही, इसमें विवाद किसको है। पर मैंने तो इसे धीवर नहीं बतलाया और सचमुच जिनदत्त ने उससे कुछ कहा भी नहीं था। जिनदत्त को इंकार करते देख तापसी घबराया। तब उसने अपनी सच्चाई बतलाने के लिए कहा– ना प्रभो, जिनदत्त की दासी ने ऐसा कहा था तापसी की बात पर महाराज को कुछ हँसी-सी आ गई उन्होंने तब प्रियंगुलता को बुलवाया। वह आई उसे देखते ही तापसी के क्रोध का कुछ ठिकाना ना रहा। वह कुछ न सोचकर एक साथ ही प्रियंगुलता पर बिगड़ खड़ा हुआ और गाली देते हुए उसने कहा– राँड़ तूने मुझे धीवर बतलाया है, तेरे इस अपराध की सजा तो तुझे महाराज देंगे ही। पर देख, मैं धीवर नहीं हूँ किन्तु केवल हवा के आधार पर जीवन रखने वाला एक परम तपस्वी हूँ। बतला तो, तूने मुझे क्या समझ कर धीवर कहा? प्रियंगुलता ने तब निर्भय होकर कहा–हाँ बतलाऊँ कि मैंने तुझे क्यों मल्लाह बतलाया था? ले सुन, जबकि तू रोज-रोज मच्छलियाँ मारा करता है तब तू मल्लाह तो है ही! मुझे ऐसी दशा से कौन समझदार तापसी कहेगा? तू यह कहे कि इसके लिए सबूत क्या? तू जैनी के यहाँ रहती है, इसलिए दूसरे धर्मों की या उनके साधु-सन्तों की बुराई करना तो तेरा स्वभाव होना ही चाहिए। पर सुन, मैं तुझे आज यह बतला देना चाहती हूँ कि जैनधर्म सत्य का पक्षपाती है ॥११-१७॥

उसमें सच्चे साधु संत ही पुजते हैं। तेरे से ढोंगी, बेचारे भोले लोगों को धोखा देने वालों की उसके सामने दाल नहीं गल पाती। ऐसा ही ढोंगी देखकर तुझे मैंने मल्लाह बतलाया और न मैं तुझमें मछली मारने वाले मल्लाहों से कोई अधिक बात ही पाती हूँ। तब बतला मैंने इसमें कौन तेरी बुराई की? अच्छा, यदि तू मल्लाह नहीं है तो जरा अपनी इन जटाओं को तो झाड़ दे अब तो तापस महाराज बड़े घबराये और उन्होंने बातें बनाकर इस बात को ही उड़ा देना चाहा। पर प्रियंगुलता ऐसे

गंगागंधवतीनद्योः संगमे सोपि तापसः। पञ्चाग्निसाधनं कर्त्तुं प्रवृत्तः कष्टतः पुनः ॥२०॥
तत्र पञ्चशतैर्युक्तो मुनीन्द्रो मुनिभिस्तदा। वीरभद्रः समायातो जैनतत्त्वविदांवरः ॥२१॥
दृष्ट्वा तं तापसं तत्र मुनिश्चैको जगौ तदा। अस्य घोरं तपो देव तच्छ्रुत्वा गुरुरब्रवीत् ॥२२॥
अज्ञानिनां दयाहीनं किं तपस्तु प्रशस्यते। ततो रुष्टाहमज्ञानी कथं भो तापसोवदत् ॥२३॥
आचार्येण तदा प्रोक्तं यदि त्वं ज्ञानवान्ध्रुवम्। मृत्वा गुरुः क्व ते जातो वद त्वं चेति तापस ॥२४॥
स च प्राह गतः स्वर्गं मे गुरुस्तापसोत्तमः। तच्छ्रुत्वा वीरभद्रेण प्रोक्तं संज्ञानचक्षुषा ॥२५॥
नन्वस्मिन्दह्यमाने च महाकाष्ठे प्रकष्टतः। गुरुस्ते सर्परूपेण दह्यमानस्तु तिष्ठति ॥२६॥
ततो रुष्टेन तेनाशु तत्काष्ठे च द्विधाकृते। दृष्टो भुजंगमः सोपि हा कष्टं मूढचेष्टितम् ॥२७॥
तं दृष्ट्वा तापसश्चापि त्यक्त्वा गर्वं ततो द्रुतम्। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं मुनिर्जातो दिगम्बरः ॥२८॥

कैसे रास्ते पर आ जाने वाली थी। उसने तापसी से जटा झड़वा कर ही छोड़ा। जटा झाड़ने पर सचमुच छोटी-छोटी मछलियाँ उसमें से गिरी। सब देखकर दंग रह गए। उग्रसेन ने तब जैनधर्म की खूब तारीफ कर तापसी से कहा-महाराज, जाइए-जाइए आपके इस भेष से पूरा पड़े। मेरी प्रजा को आपसे हृदय के मैले साधुओं की जरूरत नहीं। तापसी को भरी सभा में अपमानित होने से बहुत ही नीचा देखना पड़ा। वह अपना-सा मुँह लिए वहाँ से अपने आश्रम में आया पर लज्जा, अपमान, आत्मग्लानि से वह मरा जाता था। जो उसे देख पाता वही उसकी ओर अँगुली उठाकर बतलाने लगता। तब उसने वहाँ रहना छोड़ देना ही अच्छा समझ कुच कर दिया। वहाँ से वह गंगा और गंधवती के मिलाप होने की जगह आया और वहीं आश्रम बनाकर रहने लगा। एक दिन जैनतत्त्व के परम जानकार श्री वीरभद्राचार्य अपने संघ को लिए इस ओर आ गए। वशिष्ठ-तापस को पंचाग्नि तप करते देख एक मुनि ने अपने गुरु से कहा-महाराज, यह तापसी तो बड़ा ही कठिन और असह्य तप करता है ॥१८-२२॥

आचार्य बोले-हाँ यह ठीक है कि ऐसे तप में भी शरीर को बेहद कष्ट दिये बिना काम नहीं चलता, पर अज्ञानियों का तप कोई प्रशंसा के लायक नहीं। भला, जिनके मन में दया नहीं, जो संसार की सब माया, ममता और आरम्भ-सारम्भ छोड़-छोड़कर योगी हुए और फिर वे ऐसा दयाहीन, (जिसमें हजारों लाखों जीव रोज-रोज जलते हैं) तप करें तो इससे और अधिक दुःख की बात कौन होगी। वशिष्ठ के कानों में भी यह आवाज गई वह गुस्सा होकर आचार्य के पास आया और बोला-आपने मुझे अज्ञानी कहा, यह क्यों? मुझमें आपने क्या अज्ञानता देखी, बतलाइए? आचार्य ने कहा-भाई, गुस्सा मत हो। तुम्हें लक्ष कर तो मैंने कोई बात नहीं कही हैं। फिर क्यों इतना गुस्सा करते हों? मेरी धारणा तो ऐसे तप करने वाले सभी तापसों के सम्बन्ध में है कि वे बेचारे अज्ञान से ठगे जाकर ही ऐसे हिंसामय तप को तप समझते हैं। यह तप नहीं है किन्तु जीवों का होम करना है और जो तुम यह कहते हो, कि मुझे आपने अज्ञानी क्यों बतलाया, तो अच्छा एक बात तुम ही बतलाओ कि तुम्हारे गुरु, जो सदा ऐसा तप किया करते थे, मरकर तप के फल से कहाँ पैदा हुए हैं? तापस बोला-हाँ, क्यों

एकदा मथुराभ्यर्णे गोवर्द्धनगिरौ शुभे। वसिष्ठयतिनस्तस्य महामासोपवासिनः ॥२९॥
सुविद्यादेवताः सिद्धाः संजगुश्चेति भो प्रभो। आदेशं देहि नः शीघ्रं किं कुर्मो दासिका वयम् ॥३०॥
तेनोक्तं लोभभावेन यदास्माकं प्रयोजनम्। तदागच्छथ यूयं भो देवता गुणमण्डिताः ॥३१॥
पूर्णे मासोपवासेऽथ भक्तितश्चोग्रसेनकः। स्थापयत्वत्र मा कोपि वसिष्ठमुनिसत्तमम् ॥३२॥
अहं संस्थापयिष्यामि पत्तने चेति घोषणम्। दापयामास भूभर्त्ता मूढभक्तिस्तु कष्टदा ॥३३॥
पारणादिवसे पूर्वं पट्टहस्तिमदाश्रितः। आलानस्तंभमुन्मूल्य निर्गतो निजलीलया ॥३४॥
स राजा व्यग्रचित्तोभूदुग्रसेनः सुविस्मृतः। मुनिः सोपि क्षुधाक्रान्तो भ्रमित्वा पत्तनेऽखिले ॥३५॥

नहीं कहूँगा? मेरे गुरुजी स्वर्ग में गए हैं। वीरभद्राचार्य ने कहा–नहीं तुम्हें इसका मालूम ही नहीं हो सकता। सुनो, मैं बतलाता हूँ कि तुम्हारे गुरु की मरे बाद क्या दशा हुई, आचार्य ने अवधिज्ञान जोड़कर कहा–तुम्हारे गुरु स्वर्ग में नहीं गए किन्तु साँप हुए हैं और इस लकड़े के साथ-साथ जल रहे हैं। तापस को विश्वास नहीं हुआ बल्कि उसे गुस्सा भी आया कि इन्होंने क्यों मेरे गुरु को साँप हुआ बतलाकर उनकी बुराई की। पर आचार्य की बात सच है या झूठ इसकी परीक्षा कर देखने के लिए यही उपाय था कि उस लकड़े को चीरकर देखे। तापसी ने वैसा ही किया। लकड़े को चीरा। वीरभद्राचार्य का कहा सत्य हुआ। सर्प उसमें से निकला। देखते ही तापस को बड़ा अचम्भा हुआ। उसका सब अभिमान चूर-चूर हो गया। उसकी आचार्य पर बहुत ही श्रद्धा हो गई उसने जैनधर्म का उपदेश सुना। सुनकर उसके हिये की आँखें, जो इतने दिनों से बन्द थीं, एकदम खुल गई हृदय में पवित्रता का स्रोत फट निकला। बहुत दिनों का कूट-कपट, मायाचार रूपी मैलापन देखते-देखते न जाने कहाँ बहकर चला गया। वह उसी समय वीरभद्राचार्य से मुनि दीक्षा लेकर अब से सच्चा तापसी बन गया। यहाँ घूमते-फिरते और धर्मोपदेश करते वशिष्ठ मुनि एक बार मथुरा की ओर फिर आए। तपस्या के लिए इन्होंने गोवर्द्धन पर्वत बहुत पसन्द किया। वहीं ये तपस्या किया करते थे। एक बार इन्होंने महीना भर के उपवास किए। तप के प्रभाव से इन्हें कई विद्याएँ सिद्ध हो गई विद्याओं ने आकर इनसे कहा–प्रभो, हम आपकी दासियाँ हैं। आप हमें कोई काम बतलाइए। वशिष्ठ ने कहा–अच्छा, इस समय तो मुझे कोई काम नहीं, पर जब होगा तब मैं तुम्हें याद करूँगा। उस समय तुम उपस्थित होना। इसलिए इस समय तुम जाओ। जिन्होंने संसार की सब माया, ममता छोड़ रखी है, सच पूछो तो उनके लिए ऐसी ऋद्धि-सिद्धि की कोई जरूरत नहीं। पर वशिष्ठ मुनि ने लोभ में पड़कर विद्याओं को अपनी आज्ञा में रहने को कह दिया। पर यह उनके पदस्थ योग्य न था ॥२३-३१॥

महीना भर के उपवास से वशिष्ठ मुनि पारणा को शहर में आए। उग्रसेन को उनके उपवास करने की पहले से मालूम थी। इसलिए तभी से उन्होंने भक्ति के वश हो सारे शहर में डौंडी पिटवा दी थी कि तपस्वी वशिष्ठ मुनि को मैं पारणा कराऊँगा उन्हें आहार दूँगा और कोई न दे। सच है, कभी-कभी मूर्खता की हुई भक्ति भी दुःख की कारण बन जाया करती है। वशिष्ठ मुनि के प्रति

राजालये तथा नैव प्राप्तवान्भ्रामरीं ततः। अलाभेन समागत्य स्वस्थानं तपसि स्थितः ॥३६॥
द्वितीये पारणाघस्रे वह्निदाहे पुरे सति। कर्मतश्चोग्रसेनोसौ संजातो व्याकुलाशयः ॥३७॥
तृतीयस्य तथा मासो-पवासस्य परे दिने। प्रेषिते श्रीजरासन्धराजेनादेशके तदा ॥३८॥
उग्रसेनः स मूढात्मा संजातो व्यग्रमानसः। अज्ञानादत्र जन्तूनां कार्यसिद्धिः कुतो भवेत् ॥३९॥
अन्तरायं ततः कृत्वा निर्गच्छन्तं पुराद्बहिः। मूर्च्छया विकलीभूतं दृष्ट्वा तं कष्टमाश्रितम् ॥४०॥
वृद्धैका कोपतः प्राह मुनिं स्थापयतो जनान्। वारयत्येष भूनाथः स्वयं न स्थापयत्यहो ॥४१॥
मारितोनेन राज्ञासौ मुनीन्द्रस्तपसां निधिः। इत्याकर्ण्य मुनिः सोपि महाकोपाग्निमास्थितः ॥४२॥
गत्वा गोवर्द्धनं शीघ्रं पर्वतं ताः स्वदेवताः। प्रोक्तवान्पापकर्मायं युष्माभिर्मार्यतां नृपः ॥४३॥

उग्रसेन राजा की थी तो भक्ति, पर उसमें स्वार्थ का भाग होने से उसका उल्टा परिणाम हो गया। बात यह हुई कि जब वशिष्ठ मुनि पारणा के लिए आए, तब अचानक राजा का खास हाथी उन्मत्त हो गया। वह साँकल तुड़ाकर भाग खड़ा हुआ और लोगों को कष्ट देने लगा। राजा उसके पकड़वाने का प्रबन्ध करने में लग गए। उन्हें मुनि के पारणे की बात याद न रही। सो मुनि शहर में इधर-उधर घूम-घामकर वापस वन में लौट गए। शहर के और किसी गृहस्थ ने उन्हें इसलिए आहार न दिया कि राजा ने उन्हें सख्त मना कर दिया था। दूसरे दिन कर्मसंयोग से शहर के किसी मुहल्ले में भयंकर आग लग आई, सो राजा इसके मारे व्याकुल हो उठे। मुनि आज भी सब शहर में तथा राजमहल में भिक्षा के लिए चक्कर लगाकर लौट गए। उन्हें कहीं आहार न मिला। तीसरे दिन जरासन्ध राजा का किसी विषय को लिए आज्ञापत्र आ गया, सो आज इसकी चिन्ता के मारे उन्हें स्मरण न आया। सच है, अज्ञान से किया काम कभी सिद्ध नहीं हो पाता। मुनि आज भी अन्तराय कर लौट गए। शहर बाहर पहुँचते न पहुँचते वे गश खाकर जमीन पर गिर पड़े। मुनि की यह दशा देखकर एक बुढ़िया ने गुस्सा होकर कहा– यहाँ का राजा बड़ा ही दुष्ट है। न तो मुनि को आप ही आहार देता है और न दूसरों को देने देता है। हाय! एक निरपराध तपस्वी की उसने व्यर्थ ही जान ले ली। बुढ़िया की बातें मुनि ने सुन लीं ॥३२-४२॥

राजा की इस नीचता पर उन्हें अत्यन्त क्रोध आया। वे उठकर सीधे पर्वत पर गए। उन्होंने विद्याओं को बुलाकर कहा–मथुरा का राजा बड़ा ही पापी है, तुम जाकर फौरन ही मार डालो! मुनि को इस प्रकार क्रोध की आग उगलते देख विद्याओं ने कहा–प्रभो, आपको कहने का हमें कोई अधिकार नहीं, पर तब भी आपके अच्छे के लिहाज से और धर्म पर कोई कलंक न लगे कि एक जैनमुनि ने ऐसा अन्याय किया, हम निःसंकोच होकर कहेंगे कि इस वेष के लिए आपकी यह आज्ञा सर्वथा अनुचित है और इसीलिए हम आपके साथ देने के लिए भी हिचकते हैं। आप क्षमा के सागर हैं, आपके लिए शत्रु और मित्र एक जैसे हैं। मुनि पर देवियों की इस शिक्षा का कुछ असर नहीं हुआ। उन्होंने यह कहते हुए प्राण छोड़ दिये कि अच्छा, तुम मेरी आज्ञा का दूसरे जन्म में पालन करना। मैं दान में विघ्न करने वाले इस उग्रसेन राजा को मारकर अपना बदला अवश्य चुकाऊँगा।

ताभिः प्रोक्तं मुने नैव युक्तं ते जिनलिङ्गिनः। तच्छ्रुत्वा स पुनः प्राह मूढधीः कोपमण्डितः ॥४४॥
जन्मान्तरे तु युष्माभिर्मदीयाज्ञा विधीयताम्। इत्युक्त्वा मारयिष्यामि भवेन्यस्मिन्सुपापिनम् ॥४५॥
उग्रसेनमिमं दान-महाविघ्नविधायकम्। कृत्वा निदानकं चेति स्वतपःक्षयकारकम् ॥४६॥
मृत्वासौ रेवतीगर्भे समायातो निदानतः। हा कष्टं पापरूपोयं कोपः कार्यविनाशकः ॥४७॥
एकदा क्षीणदेहां च रेवतीं वीक्ष्य भूपतिः। उग्रसेनो जगौ देवि किं ते दौर्बल्यकारणम् ॥४८॥
तयोक्तं देव संजातो दोहलो दुष्टको मम। कीदृशो दोहलश्चेति पृष्टा सापि पुनर्जगौ ॥४९॥
वक्तुं न शक्यते स्वामिन्दुष्टत्वात्सोपि दोहलः। आग्रहेण तदावोच-द्रेवती प्राणवल्लभम् ॥५०॥
विदार्य हृदयं तेऽत्र रक्तपानं करोम्यहम्। यादृशो बालको गर्भे तादृशः स्त्रीमनोरथः ॥५१॥
ततस्तेन नरेन्द्रेण कारिते लेपनिर्मिते। स्वाकारे च तया चक्रे हा कष्टं पापकर्म तत् ॥५२॥
कैश्चिद्दिनैः सुतः सोपि संजातः कुलनाशकः। यथा वंशोद्भवो वह्निर्दहत्येव सुकाननम् ॥५३॥

मुनि ने तपस्या नाश करने वाले निदान को तप का फल पर जन्म में मुझे इस प्रकार मिले, ऐसे संकल्प को करके रेवती के गर्भ में जन्म लिया। सच है, क्रोध सब कामों को नष्ट करने वाला और पाप का मूल कारण है। एक दिन रेवती को दुर्बल देखकर उग्रसेन ने उससे पूछा–प्रिये, दिनों–दिन तुम ऐसी दुबली क्यों होती जाती हो? तुझे चिन्तातुर देख बड़ा खेद होता है। रेवती ने कहा–नाथ, क्या कहूँ, कहते हृदय काँपता है। नहीं जान पड़ता कि होनहार कैसी हो? स्वामी, मुझे बड़ा ही भयंकर दोहला हुआ है। मैं नहीं कह सकती कि अपने यहाँ अब की बार किस अभागे ने जन्म लिया है। नाथ! कहते हुए आत्मग्लानि से मेरा हृदय फटा पड़ता है। मैं उसे कहकर आपको और अधिक चिन्ता में डालना नहीं चाहती। उग्रसेन को अधिकाधिक आश्चर्य और उत्कण्ठा बढ़ी। उन्होंने बड़े हठ के साथ पूछा–आखिर रानी को कहना ही पड़ा। वह बोली–अच्छा नाथ, यदि आपका आग्रह ही है तो सुनिए, जी कड़ा करके कहती हूँ। मेरी अत्यन्त इच्छा होती है कि–''मैं आपका पेट चीरकर खून पान करूँ।'' मुझे नहीं जान पड़ता कि ऐसा दुष्ट दोहला क्यों होता है? भगवान् जाने। यह प्रसिद्ध है कि जैसा गर्भ में बालक आता है, दोहला भी वैसा ही होता है। सुनकर उग्रसेन को भी चिन्ता हुई, पर उसके लिए इलाज क्या था, उन्होंने सोचा, दोहला बुरा या भला, इसका निश्चय होना तो अभी असंभव है। पर उसके अनुसार रानी की इच्छा तो पूरी होनी ही चाहिए। तब इसके लिए उन्होंने यह युक्ति की कि अपने आकार का एक पुतला बनवाकर उसमें कृत्रिम खून भरवाया और रानी को उसकी इच्छा पूरी करने के लिए उन्होंने कहा। रानी ने अपनी इच्छा पूरी करने के लिए उस पापकर्म को किया। वह सन्तुष्ट हुई ॥४३–५२॥

थोड़े दिनों बाद रेवती ने एक पुत्र जना। वह देखने में बड़ा भयंकर था। उसकी आँखों से क्रूरता टपक पड़ती थी। उग्रसेन ने उसके मुँह की ओर देखा तो वह मुट्ठी बाँधे बड़ी क्रूर दृष्टि से उनकी ओर देखने लगा। उन्हें विश्वास हो गया कि जैसे बाँसों की रगड़ से उत्पन्न हुआ आग सारे

तन्मुखं चोग्रसेनस्य तदालोकयतः स्वयम्। क्रूरदृष्टिं विधायोच्चैर्बद्धो मुष्टिः सुतेन तु ॥५४॥
दुष्टोयमिति संज्ञात्वा स बालो भूभुजा तदा। स्वनाममुद्रिकारत्नकम्बलाभ्यां समन्वितः ॥५५॥
धृत्वा कांस्यसमुत्पन्नमंजूषायां प्रवेगतः। यमुनायां विनिर्मुक्तो दुष्टात्मा कस्य वा प्रियः ॥५६॥
कौशाम्ब्यां गंगभट्टाख्यकल्पपालस्य भामिनी। राजोदरी समागत्य नदीतीरं जलार्थिनी ॥५७॥
तां समादाय मंजूषां दृष्ट्वा तं बालकं मुदा। कंसनाम विधायोच्चैः पोषयामास सा गृहे ॥५८॥
यदाष्टवार्षिको जातो दुष्टत्वात्परपुत्रकान्। निर्दयं हन्ति पापिष्ठः प्राणी कस्य सुखप्रदः ॥५९॥
निर्घाटितस्तया गेहात्स कंसो रौद्रमानसः। सौरीं पुरीं समागत्य वसुदेवमहीपतेः ॥६०॥
शिष्यो भूत्वा सुशास्त्रज्ञो वरं कश्चिच्च लब्धवान्। अत्रान्तरे कथां वक्ष्ये नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरान् ॥६१॥

वन को जलाकर खाक कर देती है ठीक इसी तरह से कुल में उत्पन्न हुआ दुष्ट पुत्र भी सारे कुल को जड़मूल से उखाड़ फेंक देता है। मुझे इस लड़के की क्रूरता को देखकर भी यही निश्चय होता है कि अब इस कुल के भी दिन अच्छे नहीं है। यद्यपि अच्छा-बुरा होना दैवाधीन है, तथापि मुझे अपने कुल की रक्षा के निमित्त कुछ यत्न करना ही चाहिए। हाथ पर हाथ रखे बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। यह सोचकर उग्रसेन ने एक छोटा-सा सुन्दर सन्दूक मँगवाया और उस बालक को अपने नाम की एक अँगूठी पहनाकर हिफाजत के साथ उस सन्दूक में रख दिया। इसके बाद सन्दूक को उन्होंने यमुना नदी में छुड़वा दिया। सच है, दुष्ट किसी को भी प्रिय नहीं लगता ॥५३-५६॥

कौशाम्बी में गंगाभद्र नाम का एक माली रहता था। उसकी स्त्री का नाम राजोदरी था। एक दिन वह जल भरने को नदी पर आई हुई थी। तब नदी में बहती हुई एक सन्दूक पर उसकी नजर पड़ी। वह उसे बाहर निकाल अपने घर ले आई सन्दूक को राजोदरी ने खोला। उसमें से एक बालक निकला। राजोदरी उस बालक को पाकर बड़ी खुश हुई कारण कि उसके कोई लड़का नहीं था। उसने बड़े प्रेम से इसे पाला-पोसा। वह बालक काँसे की सन्दूक में निकला था, इसलिए राजोदरी ने इसका नाम भी 'कंस' रख दिया ॥५७-५८॥

कंस का स्वभाव अच्छा न होकर क्रूरता लिए हुए था। यह अपने साथ के बालकों को मारा-पीटा करता और बात-बात पर उन्हें तंग किया करता था। इसके अड़ोस-पड़ोस के लोग बड़े दुःखी रहा करते थे। राजोदरी के पास दिनभर में कंस की कोई पचासों शिकायतें आया करती थी। उस बेचारी ने बहुत दिन तक तो उसका उत्पात-उपद्रव सहा, पर फिर उससे भी यह दिन-रात का झगड़ा-टंटा न सहा गया। सो उसने कंस को घर से निकाल दिया। सच है-पापी पुरुषों से किसी को भी कभी सुख नहीं मिलता। कंस अब शौरीपुर पहुँचा। यहाँ वह वसुदेव का शिष्य बनकर शास्त्राभ्यास करने लगा। थोड़े दिनों में वह साधारण अच्छा लिख-पढ़ गया। वसुदेव की इस पर अच्छी कृपा हो गई इस कथा के साथ एक और कथा का सम्बन्ध है, इसलिए वह कथा यहाँ लिखी जाती है- ॥५९-६१॥

अथ सिंहरथो राजा जरासंधस्य शत्रुकः। नैव सिद्ध्यति दुष्टत्वात्ततोसौ चक्रभृज्जगौ ॥६२॥
सर्वसामन्तभूपानामग्रणीर्यस्तु सद्भटः। शीघ्रं सिंहरथं शत्रुं धृत्वा चानयति ध्रुवम् ॥६३॥
तस्मै जीवंजसां पुत्रीं स्वदेशं वाञ्छितं पुनः। ददामीति पुरे शीघ्रं दापयामास घोषणम् ॥६४॥
तच्छ्रुत्वा वसुदेवोसौ समुद्रविजयस्य वै। ज्येष्ठभ्रातुः समादेशात्सर्वसैन्यसमन्वितः ॥६५॥
पोदनंपुरमासाद्य सैन्यं धृत्वा पुराद्बहिः। सार्थवाहस्य रूपेण पुरे प्रच्छन्नभावतः ॥६६॥
सिंहमूत्रादिकं तत्र दापयित्वा गजादिषु। रणे सिंहरथं जित्वा पातयामास भूतले ॥६७॥
पुनः कंसं प्रति प्राह वसुदेवः स्वसारथिम्। गृह्यते भो त्वया शीघ्रं शत्रुकश्चेति धीमता ॥६८॥

सिंहरथ नाम का एक राजा जरासन्ध का शत्रु था। जरासन्ध ने इसे पकड़ लाने का बड़ा यत्न किया, पर किसी तरह यह इसके काबू में नहीं आता था। तब जरासन्ध ने सारे शहर में डौंडी पिटवाई कि वीर-शिरोमणि सिंहरथ को पकड़कर मेरे सामने लाकर उपस्थित करेगा, उसे मैं अपनी जीवंजसा लड़की को ब्याह दूँगा और अपने देश का कुछ हिस्सा भी मैं उसे दूँगा। इसके लिए वसुदेव तैयार हुआ। वह अपने बड़े भाई की आज्ञा से सब सेना को साथ लिए सिंहरथ के ऊपर जा चढ़ा। उसने जाते ही सिंहरथ की राजधानी पोदनपुर के चारों ओर घेरा डाल दिया और आप एक व्यापारी के वेष में राजधानी के भीतर घुसा। कुछ खास-खास लोगों को धन का खूब लोभ देकर उसने उन्हें फोड़ लिया। हाथी के महावत, रथ के सारथी आदि को उसने पैसे का गुलाम बनाकर अपनी मुट्ठी में कर लिया। सिंहरथ को इसका समाचार लगते ही उसने भी उसी समय रणभेरी बजवाई और बड़ी वीरता के साथ वह लड़ने के लिए अपने शहर से बाहर हुआ। दोनों ओर से युद्ध के झुझारु बाजे बजने लगे। उनकी गम्भीर आवाज अनन्त आकाश को भेदती हुई स्वर्गों के द्वारों से जाकर टकराई, सुखी देवों का आसन हिल गया। अमरांगनाओं ने समझा कि हमारे यहाँ मेहमान आते हैं, सो वे उनके सत्कार के लिए हाथों में कल्पवृक्षों के फलों की मनोहर मालाएँ ले-लेकर स्वर्गों के द्वार पर उनकी अगवानी के लिए आ डटीं। स्वर्गों के दरवाजे उनसे ऐसे खिल उठे मानों चन्द्रमाओं की प्रदर्शनी की गई है। थोड़ी ही देर में दोनों ओर से युद्ध छिड़ गया। खूब मारकाट हुई खून की नदी बहने लगी। मृतकों के सिर और धड़ उसमें तैरने लगे। दोनों ओर की वीर सेना ने अपने-अपने स्वामी के नमक का जी खोलकर परिचय कराया। जिसे न्याय की जीत कहते हैं, वह किसी को प्राप्त न हुई। पर वसुदेव ने जो पोदनपुर के कुछ लोगों को अपने मुट्ठी में कर लिया था, उन स्वार्थियों, विश्वासघातियों ने अन्त में अपने मालिक को दगा दे दिया। सिंहरथ को उन्होंने वसुदेव के हाथ पकड़वा दिया ॥६२-६६॥

सिंहरथ का रथ मौके के समय बेकार हो गया। उसी समय वसुदेव ने उसे घेरकर कंस से कहा-जो कि उसके रथ का सारथी था, कंस देखते क्या हो? उतर कर शत्रु को बाँध लो। कंस ने

तेन क्रुद्धेन कंसेन बद्धः सिंहरथो नृपः। स्वयं तप्तो भवेद्वन्हिः किं पुनर्वायुना हतः ॥६९॥
तं गृहीत्वा द्रुतं सोपि वसुदेवो विचक्षणः। जरासन्धमहीभर्त्तुरर्पयामास शत्रुकम् ॥७०॥
जरासन्धस्तु सन्तुष्टो जगाद मम देहजाम्। गृहाणेमं शुभं देशं यत्तुभ्यं रोचते तराम् ॥७१॥
प्रोक्तं श्रीवसुदेवेन नायं बद्धो मया प्रभो। बद्धः कंसेन भो देव ततोस्मै दीयतेऽखिलम् ॥७२॥
कुलं पृष्टस्ततः प्राह कंसोयं सुभटाग्रणीः। कल्पपालीसुतोहं च भो नरेन्द्रेति सेवकः ॥७३॥
तल्लक्षणं समालोक्य जरासन्धो नरेश्वरः। तस्याः पुत्रोयामित्युच्चैर्निश्चयो नैव संभवेत् ॥७४॥
इत्यालोच्य तदा शीघ्रं तामाकारयति स्म सः। भवन्ति प्रायशो भूपा भूतले चतुराशयाः ॥७५॥
कल्पपाली ततो भीत्या धृत्वा मंजूषिकां करे। तत्रागत्य नृपस्याग्रे तां मुक्त्वा चेति संजगौ ॥७६॥

गुस्से के साथ रथ से उतर कर सिंहरथ को बाँध लिया और रथ में रखकर उसी समय वे वहाँ से चल दिये। सच है, अग्नि एक तो वैसे ही तपी हुई होती है और ऊपर से यदि वायु बहने लगे तब तो उसके तपने का पूछना ही क्या? सिंहरथ को बाँध लाकर वसुदेव ने जरासन्ध के सामने उसे रख दिया। देखकर जरासन्ध बहुत ही प्रसन्न हुआ। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए उसने वसुदेव से कहा– मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूँ। अब आप कृपाकर मेरी कुमारी का पाणिग्रहण कर मेरी इच्छा पूरी कीजिए और मेरे देश के जिस प्रदेश को आप पसन्द करें मैं उसे भी देने को तैयार हूँ। वसुदेव ने कहा–प्रभो, आपकी इस कृपा का मैं पात्र नहीं। कारण मैंने सिंहरथ को नहीं बाँधा है। इसे बाँधा है मेरे प्रिय शिष्य कंस ने। सो आप जो कुछ देना चाहें इसे देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए। जरासन्ध ने कंस की ओर देखकर उससे पूछा–भाई, तुम्हारी जाति–कुल क्या है? कंस को अपने विषय में जो बात ज्ञात थी, उसने वही स्पष्ट बतला दी कि प्रभो, मैं तो एक मालिन का लड़का हूँ। जरासन्ध को कंस की सुन्दरता और तेजस्विता देखकर यह विश्वास नहीं हुआ कि वह सचमुच ही एक मालिन का लड़का होगा। इसके निश्चय करने के लिए जरासन्ध ने उसकी माँ को बुलवाया। यह ठीक है कि राजा लोग प्रायः बुद्धिमान् और चतुर हुआ करते हैं। कंस की माँ को जब यह खबर मिली कि उसे राजदरबार में बुलाया है, तब तो उसकी छाती धड़कने लग गई वह कंस की शैतानी का हाल तो जानती ही थी, सो उसने सोचा कि जरूर कंस ने कोई बड़ा भारी गुनाह किया है और इसी से वह पकड़ा गया है। अब उसके साथ मेरी भी आफत आई वह घबराई और पछताने लगी कि हाय? मैंने क्यों इस दुष्ट को अपने घर लाकर रखा? अब न जाने राजा मेरा क्या हाल करेगा? जो हो, बेचारी रोती–झींकती राजा के पास गई और अपने साथ उस सन्दूक को भी ले गई, जिसमें कि कंस निकला था। इसने राजा के सामने होते ही काँपते–काँपते कहा–दुहाई है महाराजा की! महाराज, यह पापी मेरा लड़का नहीं हैं, मैं सच कहती हूँ। इस सन्दूक में से यह निकला है। सन्दूक को आप लीजिए और मुझे छोड़ दीजिये। मेरा इसमें कोई अपराध नहीं। मालिन को इतनी घबराई देखकर राजा को कुछ हँसी–सी आ गई उसने कहा–नहीं, इतने डरने–घबराने की कोई बात नहीं। मैंने तुम्हें कोई कष्ट

नायं देव सुतो मेऽस्ति मंजूषायाः सुतोप्ययम्। इत्याकर्ण्य ततश्चक्री दृष्ट्वा तद्रत्नकम्बलम् ॥७७॥
उग्रसेनमहीभर्त्तुस्तां विलोक्य च मुद्रिकाम्। ज्ञात्वा राजकुलोत्पन्नं ददौ तस्मै स्वपुत्रिकाम् ॥७८॥
जीवंजसाभिधां कंसः परिणीय महोत्सवैः। स्वपितुः पर्ववैरेण देशमादाय दुष्टधीः ॥७९॥
मथुरायां समागत्य प्रज्वलन्कोपवह्निना। उग्रसेनं च संग्रामे धृत्वा कष्टेन तातकम् ॥८०॥
पुरीगोपुरसान्निध्ये कृत्वा तं पंजरे दृढम्। दत्वा कोद्रवकाहारं काञ्जिकेन तु मिश्रितम् ॥८१॥
स्वयं राज्यं प्रकुर्वाणः संस्थितः क्रूरमानसः। अहो लोके भवत्येव कुपुत्रः कुलनाशकः ॥८२॥
तदा कंसलघुभ्राता दृष्ट्वा संसारचेष्टितम्। अतिमुक्तकनामासौ संजातो मुनिसत्तमः ॥८३॥
ततः कंसेन सद्भक्त्या गुरुत्वाद्वसुदेववाक्। संस्थापितः स्वसान्निध्ये प्रीतितो गुणमण्डितः ॥८४॥
अथेह मृतिकावत्यां पुर्यां देवकिभूपतेः। भार्याया धनदेव्यास्तु देवकीं चारुकन्यकाम् ॥८५॥

देने को नहीं बुलाया है। बुलाया है सिर्फ कंस की खरी-खरी हकीकत जानने के लिए। इसके बाद राजा ने सन्दूक उठाकर खोला तो उसमें एक कम्बल और एक अँगूठी निकली। अँगूठी पर खुदा हुआ नाम पढ़कर राजा को कंस के सम्बन्ध में अब कोई शंका न रह गई उसने उसे एक अच्छे राजकुल में जन्मा समझ उसके साथ अपनी जीवंजसा कुमारी का ब्याह बड़े ठाटबाट से कर दिया। जरासन्ध ने उसे अपना राज का हिस्सा भी दिया। कंस अब राजा हो गया ॥६७-७९॥

राजा होने के साथ ही अब उसे अपनी राज्य सीमा और प्रभुत्व बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा हुई। मथुरा के राजा उग्रसेन के साथ उसकी पूर्व जन्म की शत्रुता है। कंस जानता था कि उग्रसेन मेरे पिता हैं, पर तब भी उन पर वह जला करता है और उसके मन में सदा यह भावना उठती हैं कि मैं उग्रसेन से लड़ूँ और उनका राज्य छीनकर अपनी आशा पूरी करूँ। यही कारण था कि उसने पहली चढ़ाई अपने पिता पर ही की। युद्ध में कंस की विजय हुई उसने अपने पिता को एक लोहे के पिंजरे में बन्द कर और शहर के दरवाजे के पास उस पिंजरे को रखवा दिया और आप मथुरा का राजा बनकर राज्य करने लगा। कंस को इतने पर भी सन्तोष न हुआ सो अपना बैर चुकाने का अच्छा मौका समझ वह उग्रसेन को बहुत कष्ट देने लगा। उन्हें खाने के लिए वह केवल कोदू की रोटियाँ और छाछ देता। पीने के लिए गन्दा पानी और पहनने के लिए बड़े ही मैले-कुचैले और फटे-पुराने चिथड़े देता। मतलब यह कि उसने एक बड़े से बड़े अपराधी की तरह उनकी दशा कर रक्खी थी। उग्रसेन की इस हालात को देखकर उनके कट्टर दुश्मन की भी छाती फटकर उसकी आँखों से सहानुभूति के आँसू गिर सकते थे, पर पापी कंस को उनके लिए रत्तीभर भी दया या सहानुभूति नहीं थी। सच है- कुपुत्र कुल का काल होता है। अपने भाई की यह नीचता देखकर कंस के छोटे भाई अतिमुक्तक को संसार से बड़ी घृणा हुई उन्होंने सब मोह-माया छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली। वसुदेव कंस के गुरु थे। इसके सिवा उन्होंने उसका बहुत कुछ उपकार किया था; इसलिए कंस की उन पर बड़ी श्रद्धा थी। उसने उन्हें अपने ही पास बुलाकर रख लिया ॥८०-८४॥

मृतकावती पुरी के राजा देवकी के एक कन्या थी। वह बड़ी सुन्दर थी। राजा का उस पर

प्रतिपन्नस्वभगिनीं तां विवाहप्रयुक्तितः। कंसोसौ वासुदेवाय कुरुवंशोद्भवां ददौ॥८६॥
देवक्याश्चैकदा पूर्वं पुष्पवत्याः सुचीरकम्। धृत्वा स्वमस्तके तूर्यनिनादेन महोत्सवैः॥८७॥
पुरीमध्ये प्रनृत्यन्ती तदा जीवंजसा मुदा। चर्यागतमुनिं हास्यादतिमुक्तकसंज्ञकम्॥८८॥
चक्रिपुत्री जगौ तं च देवर त्वमपि स्फुटम्। नृत्यं कुरु स्वयं चेति यौवनादिमदोद्धता॥८९॥
तेनोक्तं ज्ञानिना मुग्धे नृत्यं मे नैव कल्पते। मार्गं रुद्धा स्थिता सापि पापिनी कंसभामिनी॥९०॥
तदातिपीडितेनोक्तं मुनीन्द्रेणेति मूढधीः। किं नृत्यं त्वं करोषीति देवक्या पुत्रकेन हि॥९१॥
भर्त्ता तव प्रहन्तव्यस्तच्छ्रुत्वा तच्च चीरकम्। कोपतः सा द्विधा चक्रे पुनस्तेन प्रजल्पितम्॥९२॥
त्वयेदं चीरकं मुग्धे कृतं द्वेधा यथा ध्रुवम्। तथा च देवकीभावीपुत्रः शूरमतल्लिकः॥९३॥
संकरिष्यति भो बाले त्वत्पितुर्देहखण्डनम्। तत्समाकर्ण्य सा शीघ्रं कष्टतः स्वगृहं गता॥९४॥
हसन्पापं प्रपुष्णाति प्राणी चाज्ञानभावतः। पश्चात्तत्कर्मणः सोपि फलं भुङ्क्ते सुकष्टतः॥९५॥

बहुत प्यार था। इसलिए उसका नाम उन्होंने अपने ही नाम पर देवकी रख दिया था। कंस ने उसे अपनी बहिन मानी थी, सो वसुदेव के साथ उसने उसका ब्याह कर दिया। एक दिन की बात है कि कंस की स्त्री जीवंजसा ने देवकी के और अपने देवर अतिमुक्तक की स्त्री पुष्पवती के वस्त्रों को आप पहनकर नाच रही थी–हँसी मजाक कर रही थी। इसी समय कंस के भाई अतिमुक्तक मुनि आहार के लिए आए। जीवंजसा ने हँसते–हँसते मुनि से कहा–अजी ओ देवरजी, आइए! आइए! मेरे साथ–साथ आप भी नाचिये। देखिए, फिर बड़ा ही आनन्द आयेगा। मुनि ने गंभीरता से उत्तर दिया। बहिन, मेरा यह मार्ग नहीं है। इसलिए अलग हो जा और मुझे जाने दे। पापिनी जीवंजसा ने मुनि को जाने न देकर उल्टा हाथ पकड़ लिया और बोली–नहीं, मैं तब तक आपको कहीं न जाने दूँगी जब तक कि आप मेरे साथ न नाचेंगे। मुनि को इससे कुछ कष्ट हुआ और इसी से उन्होंने आवेग में आ उससे कह दिया कि मूर्ख, नाचती क्यों है! जाकर अपने स्वामी से कह कि आपकी मौत देवकी के लड़के द्वारा होगी और वह समय बहुत नजदीक आ रहा है। सुनकर जीवंजसा को बड़ा गुस्सा आया। उसने गुस्से में आकर देवकी के वस्त्र को, जिसे कि वह पहने हुए थी, फाड़कर दो टुकड़े कर दिये। मुनि ने कहा–मूर्ख स्त्री, कपड़े को फाड़ देने से क्या होगा? देख और सुन, जिस तरह तूने इस कपड़े के दो टुकड़े कर दिये हैं उसी तरह देवकी के होने वाला वीर पुत्र तेरे बाप के दो टुकड़े करेगा। जीवंजसा को बड़ा ही दुःख हुआ। वह नाचना गाना सब भूल गई अपने पति के पास दौड़ी जाकर वह रोने लगी। सच है यह जीव अज्ञानदशा में हँसता–हँसता जो पाप कमाता है उसका फल भी इसे बड़ा ही बुरा भोगना पड़ता है। कंस जीवंजसा को रोती देखकर बड़ा घबराया। उसने पूछा–प्रिये, क्यों रोती हो? बतलाओ, क्या हुआ? संसार में ऐसा कौन धृष्ट होगा जो कंस की प्राणप्यारी को रुला सके! प्रिये, जल्दी बतलाओ, तुम्हें रोती देखकर मैं बड़ा दुःखी हो रहा हूँ। जीवंजसा ने मुनि द्वारा जो–जो बातें सुनी थीं, उन्हें कंस से कह दिया। सुनकर कंस को भी बड़ी

पृष्टा कंसेन सा प्राह गलदश्रुविलोचना। तन्मुनेर्वचनं चित्ते महाचिन्ताविधायकम् ॥९६॥
तच्छ्रुत्वा कंसराजोसौ मूढात्मा जीविताशया। दुष्टबुद्ध्या ततो नत्वा वसुदेवं गुणोज्ज्वलम् ॥९७॥
देवक्या जनितः पुत्रो हन्तव्यः स मया ध्रुवम्। देवकी च प्रसूतिं मे गृहे कुर्यादिति स्फुटम् ॥९८॥
वरं याचितवान्पूर्वं सोपि तस्मै प्रदत्तवान्। नैव छद्म सतां चित्ते स्ववाक्यप्रतिपालने ॥९९॥
तन्निशम्य तदा प्राह देवकी स्वपतिं प्रति। तपो गृह्णामि भो देव पुत्रदुःखं सुदुस्सहम् ॥१००॥
ततश्च वसुदेवोसौ देवक्या भार्यया सह। गत्वोद्याने समालोक्य फलिताम्रतरोरधः ॥१०१॥
अतिमुक्तकनामानं मुनीन्द्रं ज्ञानलोचनम्। प्रणम्य च महाभक्त्या संजगौ भो यतीश्वर ॥१०२॥
केन मे तनुजेनोच्चैर्जरासन्धश्च कंसकः। हन्तव्यो ब्रूहि योगीन्द्र जिनेन्द्रपदपद्मभाक् ॥१०३॥
देवक्या च तदा हस्तधृताम्रतरुशाखिका। मुक्त्वा तस्यास्तु शाखायाः फलयुग्मत्रयं शुभम् ॥१०४॥
ऊर्ध्वगतं ततश्चैकं फलं भूमौ पपात तत्। अष्टमं च फलं पक्वमूर्ध्वभागं गतं पुनः ॥१०५॥
तं निमित्तं समालोक्य तेनोक्तं ज्ञानचक्षुषा। शृणु भो वासुदेव त्वं महाभव्यशिरोमणे ॥१०६॥

चिन्ता हुई। वह जीवंजसा से बोला–प्रिये, घबराने की कोई बात नहीं, मेरे पास इस रोग की भी दवा है। इसके बाद ही वह वसुदेव के पास पहुँचा और उन्हें नमस्कार कर बोला–गुरु महाराज, आपने मुझे पहले एक 'वर' दिया था। उसकी मुझे अब जरूरत पड़ी है। कृपा कर मेरी आशा पूरी कीजिए इतना कहकर कंस ने कहा–मेरी इच्छा देवकी के होने वाले पुत्र के मार डालने की है। इसलिए कि मुनि ने उसे मेरा शत्रु बतलाया है। सो कृपाकर देवकी की प्रसूति मेरे महल में हो इसके लिए अपनी अनुमति दीजिए ॥८५-९८॥

अपने एक शिष्य की इस प्रकार नीचता, गुरुद्रोह देखकर वसुदेव की छाती धड़क उठी। उनकी आँखों में आँसू भर आए। पर करते क्या? वे क्षत्रिय थे और क्षत्रिय लोग इस व्रत के व्रती होते हैं कि ''प्राण जाँहि पर वचन न जाँहि।'' तब उन्हें लाचार होकर कंस का कहना बिना कुछ कहे-सुने मान लेना पड़ा क्योंकि सत्पुरुष अपने वचनों का पालन करने में कभी कपट नहीं करते। देवकी ये सब बातें खड़ी-खड़ी सुन रही थी। उसे अत्यन्त दुःख हुआ। वह वसुदेव से बोली–प्राणनाथ, मुझसे यह दुःसह पुत्र–दुःख नहीं सहा जायेगा। मैं तो जाकर जिनदीक्षा ले लेती हूँ। वसुदेव ने कहा–प्रिये, घबराने की कोई बात नहीं है, चलो, हम चलकर मुनिराज से पूछे कि बात क्या है? फिर जैसा कुछ होगा विचार करेंगे। वसुदेव अपनी प्रिया के साथ वन में गए वहाँ अतिमुक्तक मुनि एक फले हुए आम के झाड़ के नीचे स्वाध्याय कर रहे थे। उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर वसुदेव ने पूछा–हे जिनेन्द्र भगवान् के सच्चे भक्त योगिराज, कृपा कर मुझे बतलाइए कि मेरे किस पुत्र द्वारा कंस और जरासंध की मौत होगी? इस समय देवकी आम की एक डाली पकड़े हुए थी। उस पर आठ आम लगे थे। उनमें छह आम तो दो-दो की जोड़ी में लगे थे और उनमें ऊपर दो आम जुदा-जुदा लगे थे। इन दो आमों में से एक आम इसी समय पृथ्वी पर गिर पड़ा और दूसरा आम थोड़ी ही देर बाद पक गया। इस निमित्त ज्ञान पर विचार कर अवधिज्ञानी मुनि बोले–भव्य वसुदेव, सुनो मैं तुम्हें

षट् पुत्रास्तेऽत्र निर्वाण-गामिनो नास्ति संशयः। सप्तमस्तु जरासन्धकंसयोः प्राणनाशकः ॥१०७॥
अष्टमश्चाष्ट कर्माणि क्षयं नीत्वा विचक्षणः। ज्ञातव्यो मुक्तिकान्तायाः कान्तो भावी गुणाष्टभाक् ॥१०८॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोक्तं परमानन्ददायकम्। स्वचित्ते संविचार्येति नान्यथा मुनिभाषितम् ॥१०९॥
भक्त्या तौ तं मुनिं नत्वा संप्राप्तौ हर्षितौ गृहे। धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते विश्वासः शर्मकारणम् ॥११०॥
अथैकदा सती सैव देवकी शुद्धमानसा। कंसगेहे सुतं द्वन्द्वं संप्रसूता शुभप्रदम् ॥१११॥
तत्क्षणे पुण्ययोगेन तच्च देवतया द्वयम्। भद्रिलाख्यपुरे रम्ये श्रेष्ठी श्रीश्रुतदृष्टिवाक् ॥११२॥
अलकाख्या प्रिया तस्याः प्रसूतायाः समर्प्य च। मृतं तत्पुत्रयुग्मं तु देवक्याग्रे शनैर्धृतम् ॥११३॥
अहो पुण्यवतां पुंसां सुराः कुर्वन्ति रक्षणम्। तस्मात्पुण्यं जिनन्द्रोक्तं कार्यं सत्सौख्यकारणम् ॥११४॥
पुण्यं जिनेन्द्रपादाब्जचार्चनं परया मुदा। पात्रदानं व्रताद्यैस्तु संयुक्तं मुनिभिः स्मृतम् ॥११५॥
पापिना तेन कंसेन धृत्वा तन्मृतकद्वयम्। आस्फालितं शिलापीठे पापिनां धिक्च जीवितम् ॥११६॥
एवं तस्याः सुदेवक्याः पुत्रयुग्मत्रयं मुदा। देवतापूर्वपुण्येन स्थापयामास यत्नतः ॥११७॥

खुलासा समझाये देता हूँ। देखो, देवकी के आठ पुत्र होंगे। उनमें छह तो नियम से मोक्ष जायेंगे। रहे दो, सो इनमें सातवाँ जरासंध और कंस का मारने वाला होगा और आठवाँ कर्मों का नाश कर मुक्ति-महिला का पति होगा। मुनिराज से इस सुख-समाचार को सुनकर वसुदेव और देवकी को बहुत आनन्द हुआ। वसुदेव को विश्वास था कि मुनि का कहा कभी झूठ नहीं हो सकता। मेरे पुत्र द्वारा कंस और जरासंध की होने वाली मौत को कोई नहीं टाल सकता। इसके बाद वे दोनों भक्ति से मुनि को नमस्कार कर अपने घर आए। सच है—जिनभगवान् के धर्म पर विश्वास करना ही सुख का कारण है ॥९९-११०॥

देवकी के जब से सन्तान होने की सम्भावना हुई तब से उसके रहने का प्रबन्ध कंस के महल पर हुआ। कुछ दिनों बाद पवित्रमना देवकी ने दो पुत्रों को एक साथ जना। इसी समय कोई ऐसा पुण्य-योग मिला कि भद्रिलापुर में श्रुतदृष्टि सेठ की स्त्री अलका के भी पुत्र युगल हुआ। पर वह युगल-मरा हुआ था। सो देवकी के पुत्रों के पुण्य से प्रेरित होकर एक देवता इस मृत-युगल को उठा कर तो देवकी के पास रख आया और उसके जीते पुत्रों को अलका के पास ला रखा। सच है, पुण्यवानों की देव भी रक्षा करते हैं। इसलिए कहना पड़ेगा कि जिन भगवान् ने जो पुण्यमार्ग में चलने का उपदेश दिया है वह वास्तव में सुख का कारण है और पुण्य भगवान् की पूजा करने से होता है, दान देने से होता है और व्रत, उपवासदि करने से होता है। इसलिए इन पवित्र कर्मों द्वारा निरन्तर पुण्य कमाते रहना चाहिए। कंस को देवकी की प्रसूति का हाल मालूम होते ही उसने उस मरे हुए पुत्र-युगल को उठा लाकर बड़े जोर से शिला पर दे मारा। ऐसे पापियों के जीवन को धिक्कार हैं। इसी तरह देवकी के जो दो और पुत्र-युगल हुए, उन्हें देवता वहीं अलका सेठानी के यहाँ रख आए और उसके मरे पुत्र युगलों को उसने देवकी के पास ला रखा। कंस ने इन दोनों युगलों की भी पहले युगल

भद्रिलाख्यपुरे तत्र षट् पुत्रास्ते गुणोज्ज्वलाः। चरमाङ्गधरा धीराः प्राप्ता वृद्धिं यथासुखम् ॥११८॥
ततोसौ सप्तमे मासे देवक्या चाष्टमीनिशि। सप्तमः शत्रुसन्दोहध्वंसकस्तनुजोभवत् ॥११९॥
तदा रात्रौ गलत्तोये तं समादाय देहजम्। संचचाल पिता धीरो रक्षार्थं वसुदेववाक् ॥१२०॥
छत्रं श्रीबलभद्रेण संधृतं बालकोपरि। रक्षाविधायिनी सापि देवता पुण्ययोगतः ॥१२१॥
शीघ्रं वृषभरूपेण शृङ्गे कृत्वा सुदीपकम्। द्योतयामास सन्मार्गमग्रे भूत्वा शुभोदयात् ॥१२२॥
वासुदेवपदाङ्गुष्ठस्पर्शमात्रेण पुण्यतः। अभूत्प्रतोलिकासार-कपाटं च निरर्गलम् ॥१२३॥
समुत्तीर्य नदीं दत्तपारां तां यमुनां ततः। मातृकादेवतागेहं सम्प्रविश्य सबालकौ ॥१२४॥
प्रच्छन्नं देवतापृष्ठे यावत्तौ संस्थितौ भटौ। तावदेव प्रपुण्येन नन्दाख्यो यस्तु गोपकः ॥१२५॥
तस्य प्रिया यशोदा च चन्दनाक्षतपुष्पकैः। पुत्रार्थिनी समाराध्य भक्त्या तां पुरदेवताम् ॥१२६॥
तस्यामेव सती रात्रौ प्रसूता स्वगृहे सुताम्। तां विलोक्य ततो रुष्टा नन्दगोपस्य भामिनी ॥१२७॥
गृहीत्वा पुत्रिकां कोपात्तत्रागत्य मठे तदा। धृत्वा तां देवताग्रे च गृहाण तव देवते ॥१२८॥

की सी दशा की। देवकी के ये छहों पुत्र इसी भव से मोक्ष जायेंगे, इसलिए इनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। ये सुखपूर्वक यहीं रहकर बढ़ने लगे ॥१११-११८॥

अब सातवें पुत्र की प्रसूति का समय नजदीक आने लगा। अब की बार देवकी के सातवें महीने में पुत्र हो गया। यही शत्रुओं का नाश करने वाला था; इसलिए वसुदेव को इसकी रक्षा की चिन्ता थी। समय कोई दो तीन बजे रात का था। पानी बरस रहा था। वसुदेव उसे गोद में लेकर चुपके से कंस के महल से निकल गए। बलभद्र ने इस होनहार बच्चे के ऊपर छत्री लगायी। चारों ओर गाढ़ान्धकार के मारे हाथ से हाथ तक भी न देख पड़ता था। पर इस तेजस्वी बालक के पुण्य से वही देवता, जिसने कि इसके छह भाइयों की रक्षा की है, बैल के रूप में सींगों पर दीया रखे आगे-आगे हो चला। आगे चलकर इन्हें शहर बाहर होने के दरवाजे बन्द मिले, पर भाग्य की लीला अपरम्पार है। उससे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। वही हुआ। बच्चे के पाँवों का स्पर्श होते ही दरवाजा भी खुल गया। आगे चले तो नदी अथाह बह रही थी। उसे पार करने का कोई उपाय न था बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई उन्होंने होना-करना सब भाग्य के भरोसे पर छोड़कर नदी में पाँव रख दिया। पुण्य की कैसी महिमा जो यमुना का अथाह जल घुटनों प्रमाण हो गया। पार होकर वे एक देवी के मन्दिर में गए। इतने में इन्हें किसी के आने की आहट सुनाई दी। वे वेदी के पीछे छुप गए ॥११९-१२४॥

इसी से संबंध रखने वाली एक और घटना का हाल सुनिये! एक नन्द नाम का ग्वाल यहीं पास के गाँव में रहता है। उसकी स्त्री का नाम यशोदा है। यशोदा के प्रसूति होने वाली थी, सो वह पुत्र की इच्छा से देवी की पूजा वगैरह कर गई थी। आज ही रात को उसके प्रसूति हुई पुत्र न होकर पुत्री हुई उसे बड़ा दुःख हुआ कि मैंने पुत्र की इच्छा से देवी की इतनी आराधना पूजा की और फिर भी लड़की हुई मुझे देवी के इस प्रसाद की जरूरत नहीं। यह विचार कर वह उठी और गुस्सा में आकर उसी लड़की

इत्युक्त्वा निर्गता यावत्तावत्तेनैव धीमता। तां पुत्रीं वसुदेवेन गृहीत्वा परया मुदा ॥१२९॥
देवताग्रे निजं पुत्रं धृत्वा प्रच्छन्नतो द्रुतम्। गच्छन्ती भणिता सैवं हे यशोदे मनोहरम् ॥१३०॥
पुत्रमेतं गृहाण त्वं तच्छ्रुत्वा सा च मूढधीः। तं समादाय संतुष्टा स्वगेहं गोपिका गता ॥१३१॥
अहो पुण्यस्य सामग्री लक्ष्यते केन भूतले। यत्प्रसादाद्भवत्युच्चैरचिन्त्यं फलमद्भुतम् ॥१३२॥
तौ समादाय तां पुत्रीमागत्य स्वगृहं शनैः। अर्पयामासतुः शीघ्रं देवक्याः सुभटोत्तमौ ॥१३३॥
तां प्रभाते समालोक्य देवक्यग्रे च पुत्रिकाम्। दुष्टात्मा नासिकाभङ्गं तस्याश्चक्रे स कंसकः ॥१३४॥
वर्द्धमानेऽथ तत्रोच्चैर्वासुदेवे स्वलीलया। कंसो गेहे च नक्षत्रपाताद्युत्पातवीक्षणात् ॥१३५॥
तदा नैमित्तिकं प्राह किमेतदिति कारणम्। ततः शकुनशर्माख्यो जगौ नैमित्तिकाग्रणीः ॥१३६॥
हन्तव्यो येन भो देव त्वं क्षणेन प्रकोपतः। गोकुले वर्द्धमानस्तु सोपि संतिष्ठते भटः ॥१३७॥

को लिए देवी के मन्दिर पहुँची। लड़की को देवी के सामने रखकर वह बोली–देवी, लीजिए अपनी पुत्री को? मुझे इसकी जरूरत नहीं है। यह कहकर यशोदा मन्दिर से चली गई। वसुदेव ने इस मौके को बहुत ही अच्छा समझ पुत्र को देवी के सामने रख दिया। लड़की को आप उठाकर चल दिये। जाते हुए वे यशोदा से कहते गए कि अरी, जिसे तू देवता के पास रख आई है वह लड़की नहीं है किन्तु एक बहुत ही सुन्दर लड़का है। उसे जल्दी से ले आ; नहीं तो और कोई उठा ले जायेगा। यशोदा को पहले तो आश्चर्य सा हुआ। पर फिर वह अपने पर देवी की कृपा समझ झटपट दौड़ी गई और जाकर देखा तो सचमुच ही वह एक सुन्दर बालक है। यशोदा के आनन्द का अब कुछ ठिकाना न रहा। वह पुत्र को गोद में लिए उसे चूमती हुई घर पर आ गई। सच है–पुण्य का कितना वैभव है, इसका कुछ पार नहीं। जिसकी स्वप्न में भी आशा न हो वही पुण्य से सहज मिल जाता है ॥१२५-१३३॥

इधर वसुदेव और बलभद्र ने घर पहुँचकर उस लड़की को देवकी को सौंप दिया। सबेरा होते ही जब लड़की के होने का हाल कंस को मालूम हुआ तो उस पापी ने आकर बेचारी उस लड़की की नाक काट ली ॥१३४॥

यशोदा के यहाँ वह पुत्र सुख से रहकर दिनों-दिन बढ़ने लगा। जैसे-जैसे वह उधर बढ़ता है कंस के यहाँ वैसे ही अनेक प्रकार के अपशकुन होने लगे। कभी आकाश से तारा टूटकर पड़ता, कभी बिजली गिरती, कभी उल्का गिरती और कभी और कोई भयानक उपद्रव होता। यह देख कंस को बड़ी चिन्ता हुई वह बहुत घबराया। उसकी समझ में कुछ न आया कि वह सब क्या होता है? एक दिन विचार कर उसने एक ज्योतिषी को बुलाया और उसे सब हाल कहकर पूछा कि पंडित जी, यह सब उपद्रव क्यों होते हैं? इसका कारण क्या आप मुझे कहेंगे? ज्योतिषी ने निमित्त विचार कर कहा–महाराज, इन उपद्रव का होना आपके लिए बहुत ही बुरा है। आपका शत्रु दिनों-दिन बढ़ रहा है। उसके लिए कुछ प्रयत्न कीजिए और वह कोई बड़ी दूर न होकर यही गोकुल में हैं। कंस बड़ी चिन्ता में पड़ा। वह अपने शत्रु के मारने का क्या यत्न करे, यह उसकी समझ में न आया। उसे चिन्ता करते

तदाकर्ण्य स कंसोपि स्मृत्वा पूर्वभवागताः। सिद्धा विद्याः प्रति प्राह भो देव्यो यत्र मे रिपुः ॥१३८॥
मारणीयः स युष्माभिर्वेगतो दुष्टमानसः। तच्छ्रुत्वा देवतास्ताश्च तं हन्तुं चक्रिरे मनः ॥१३९॥
पूतना प्रथमा विद्या विषदुग्धस्तनी तदा। हन्तुकामा गता तत्र वासुदेवसमीपकम् ॥१४०॥
पीत्वा तत्क्षीरमत्युच्चैर्वासुदेवेन वैरिणा। निर्घाटिता गता देवी प्राणसन्देहमाश्रिता ॥१४१॥
द्वितीया काकदेवी च चञ्चुपक्षप्रलुञ्चनात्। यमलार्जुनदेवी सा बद्धोदूखलकेन च ॥१४२॥
चतुर्थी निर्जिता विद्या निजपादप्रहारतः। शीघ्रं शाकटिका नष्टा मानभंगेन लज्जिता ॥१४३॥
वृषाख्या गलभंगेन पंचमी दमिता तराम्। अश्वदेवी तथा षष्ठी गलस्योन्मोटनेन च ॥१४४॥
मेघदेवी तदा तेन सप्ताहोरात्रिवर्षणैः। निर्जिता सप्तमी देवी वासुदेवेन धीमता ॥१४५॥
शीघ्रं गोवर्द्धनोत्तुङ्ग-पर्वतोद्धारणेन च। काली नामाष्टमी देवी हता पद्महृदे मुदा ॥१४६॥
भग्नास्ता देवताः सर्वाः प्रोक्त्वा कंसं प्रति द्रुतम्। समर्था देव नैवात्र वयं चेति स्वयं गताः ॥१४७॥
ततश्चाणूरमल्लादि-मर्दनेऽसौ रणाङ्गणे। हत्वा कंसं दुरात्मानं वासुदेवः सुनिर्दयम् ॥१४८॥

हुए अपनी पूर्व सिद्ध हुई विद्याओं की याद हो उठी। एकदम चिन्ता मिटकर उसके मुँह पर प्रसन्नता की झलक दीख पड़ी। उसने उन विद्याओं को बुलाकर कहा–उस समय तुमने बड़ा सहारा दिया। आओ, अब पलभर की भी देरी न कर जहाँ मेरा शत्रु हो उसे मारकर मुझे बहुत जल्दी उसकी मौत के शुभ समाचार दो। विद्याएँ श्रीकृष्ण को मारने को तैयार हो गई उनमें पहली पूतना विद्या ने धाय के वेष में जाकर श्रीकृष्ण को दूध की जगह विष पिलाना चाहा। उसने जैसे ही उसके मुँह में स्तन दिया, श्रीकृष्ण ने उसे इतने जोर से काटा कि पूतना के होश गुम हो गए। वह चिल्लाकर भाग खड़ी हुई उसकी यहाँ तक दुर्दशा हुई कि उसे अपने जीने में भी सन्देह होने लगा। दूसरी विद्या कौए के वेश में श्रीकृष्ण की आँखें निकाल लेने के यत्न में लगी, सो उसने चोंच, पंख वगैरह को नोंच-नाचकर उसे भी ठीक कर दिया। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं देवी जुदा-जुदा वेष में श्रीकृष्ण को मारने का यत्न करने लगीं, पर सफलता किसी को भी न हुई। इसके विपरीत देवियों को ही बहुत कष्ट सहना पड़ा। यह देख आठवीं देवी को बड़ा गुस्सा आया। वह तब कालिका का वेष लेकर श्री कृष्ण को मारने के लिए तैयार हुई श्रीकृष्ण ने उसे भी गौवर्द्धन पर्वत उठाकर उसके नीचे दबा दिया। मतलब यह है विद्याओं ने जितनी भी कुछ श्री कृष्ण को मारने की चेष्टा की वह व्यर्थ गईं। वे सब अपना सा मुँह लेकर कंस के पास पहुँची और उससे बोली-देव, आपका शत्रु कोई ऐसा वैसा साधारण मनुष्य नहीं। वह बड़ा बलवान् है। हम उसे किसी तरह नहीं मार सकतीं। देवियाँ इतना कहकर चल दीं। ॥१३५-१४७॥

कंस ने अपने मन को खूब समझा कर श्रीकृष्ण के मारने की एक नई योजना की। उसके यहाँ दो बड़े प्रसिद्ध पहलवान थे। इन दोनों को भी कृष्ण ने शीघ्र नष्ट कर पश्चात् दुष्ट कंस को मारकर उग्रसेन को राज्य में स्थापित किया। इस कृष्ण नारायण ने बाद में प्रतिनारायण जरासंध को भी मार

उग्रसेनं तथा राज्ये धृत्वा प्राज्ये गुणोज्ज्वलम्। जरासन्धं द्विधा कृत्वा त्रिखण्डेशो बभूव च ॥१४९॥
श्रीमन्महापुराणे च कथासौ विस्तरेण वै। ज्ञातव्या श्रीजिनन्द्रोक्तधर्मशास्त्रविचक्षणैः ॥१५०॥
इत्युच्चैर्बहुरागरोषवशतः के के न नष्टा स्वयं लोकेधर्मपराङ्मुखा जडधियो दुष्कर्मजालाश्रिताः।
ज्ञात्वैवं बुधसत्तमैः शुचितमैर्धर्मोजिनेन्द्रोदितः संसेव्यो भवसिन्धुतारणपरः स्वर्गापवर्गप्रदः ॥१५१॥

इति कथाकोशे वसिष्ठमुनेः कथा समाप्ता।

४५. लक्ष्मीमत्या मानकथा

यस्य ज्ञानं जगद्बन्धोर्लोकालोकप्रकाशकम्। श्रेयसे तं जिनं नत्वा वक्ष्ये मानकथानकम् ॥१॥
देशेऽत्र मगधे ख्याते लक्ष्मीग्रामे मनोहरे। सोमदेवद्विजस्यासील्लक्ष्मीमत्यभिधा प्रिया ॥२॥
रूपसौभाग्यसल्लक्ष्मीर्यौवनोन्मत्तमानसा। सदा विप्रत्वगर्वेण मण्डिता मण्डनप्रिया ॥३॥

डाला और अर्धचक्री हो त्रिखण्डाधिपति कहलाए। वासुदेव ने उसी समय कंस के पिता उग्रसेन को लाकर राज्यसिंहासन पर अधिष्ठित किया। इसके बाद श्री कृष्ण ने जरासन्ध पर चढ़ाई करके उसे भी कंस का रास्ता बतलाया और आप फिर अर्धचक्रवर्ती होकर प्रजा का नीति के साथ शासन करने लगा। यह कथा प्रसंगवश यहाँ संक्षेप में लिख दी गई हैं, जिन्हें विस्तार के साथ पढ़ना हो उन्हें हरिवंशपुराण का स्वाध्याय करना चाहिए ॥१४८-१५०॥

जो क्रोधी, मायाचारी, ईर्ष्या करने वाले, द्वेष करने वाले और मानी थे, धर्म के नाम से जिन्हें चिढ़ थी, जो धर्म से उल्टा चलते थे, अत्याचारी थे, जड़बुद्धि थे और खोटे कर्मों की जाल में सदा फँसे रहकर कोई पाप करने से नहीं डरते थे ऐसे कितने मनुष्य अपने ही कर्मों से काल के मुँह में नहीं पड़े? अर्थात् कोई बुरा काम करे या अच्छा, काल के हाथ तो सभी को पड़ना ही पड़ता है। पर दोनों में विशेषता यह होती है कि एक मरे बाद भी जन साधारण की श्रद्धा का पात्र होता है और सुगति लाभ करता है और दूसरा जीते जी भी अनेक तरह की निन्दा, बुराई, तिरस्कार आदि दुर्गुणों का पात्र बनकर अन्त में कुगति में जाता है। इसलिए जो विचारशील है, सुख प्राप्त करना जिनका ध्येय है, उन्हें तो यही उचित है कि वे संसार के दुःखों का नाशकर स्वर्ग या मोक्ष का सुख देने वाले जिनभगवान् का उपदेश किया, पवित्र जिनधर्म का सेवन करें ॥१५१॥

४५. लक्ष्मीमती की कथा

जिन जगद्बन्धु का ज्ञान लोक और अलोक का प्रकाशित करने वाला है जिनके ज्ञान द्वारा सब पदार्थ जाने जा सकते हैं, अपने हित के लिए उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर मान करने के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है। मगधदेश के लक्ष्मी नाम के सुन्दर गाँव में सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्री का नाम लक्ष्मीमती था। लक्ष्मीमती बहुत सुन्दरी थी। अवस्था उसकी जवान थी। उसमें सब गुण थे, पर एक दोष भी था। वह यह कि इसे अपनी जाति का बड़ा अभिमान था और यह सदा अपने को शृंगारने-सजाने में मस्त रहती थी ॥१-३॥

एकदा सोमदेवोसौ ब्राह्मणो धर्मवत्सलः। पक्षमासोपवासादितपोरत्नाकरं मुनिम् ॥४॥
समाधिगुप्तनामानं चर्याकाले समागतम्। भक्त्या संस्थाप्य तं शीघ्रं दानार्थं त्रिजगद्धितम् ॥५॥
हे प्रिये भोजयेत्युच्चैर्मुनीन्द्रं गुणशालिनम्। प्रोक्त्वेति कार्यव्यग्रत्वान्निर्गतो गेहतः स्वयम् ॥६॥
साप्यासने स्थिता मूढा पश्यन्ती दर्पणे मुखम्। स्वगर्वेण मुनेस्तस्य दत्वा दुर्वचनानि च ॥७॥
विचिकित्सां पुनः कृत्वा द्वाःकपाटं पिधाय च। तस्थौ दुष्टाशया कष्टं हा पापं किमतः परम् ॥८॥
मुनीन्द्रोपि जगद्वन्द्यो गतश्चारित्रमण्डितः। युक्तं पापात्मनां याति निधानं च गृहागतम् ॥९॥
तत्पापात्सप्तमे घस्त्रे महोदुम्बरकुष्टिनी। संजाता ब्राह्मणी मानान्मुनेर्निन्दा न शान्तये ॥१०॥
सर्वैस्त्यक्ता जनैः पापात्तत्कष्टं सोढुमक्षमा। अग्निं प्रविश्य सा लक्ष्मीमती मृत्वार्त्तमानसा ॥११॥
तत्रैव रजकस्याभूद्गर्दभी पापकर्मणा। दुग्धपानं विना मृत्वा जाता तत्रैव शूकरी ॥१२॥
शूकरी क्रूरपापेन पुनस्तत्रैव कुक्कुरी। सापि दावाग्निना दग्धा कुक्कुरी प्राणहारिणा ॥१३॥
अहो हालाहलं घोरं वरं जन्मैकदुःखदम्। भक्षितं न पुनर्निन्दा मुनीनां शीलशालिनाम् ॥१४॥
पत्तने भृगुकच्छाख्ये नर्मदारुनदीतटे। काणा नाम्नी सुदुर्गन्धा साभूद्धीवरपुत्रिका ॥१५॥
मानतो ब्राह्मणी जाता क्रमाद्धीवरदेहजा। जातिगर्वो न कर्त्तव्यस्ततः कुत्रापि धीधनैः ॥१६॥

एक दिन पन्द्रह दिन के उपवास किए हुए श्रीसमाधिगुप्त मुनिराज आहार के लिए उसके यहाँ आए। सोमशर्मा ने उन्हें आहार कराने के लिए भक्ति से ऊँचा आसन पर विराजमान कर और अपनी स्त्री को उन्हें आहार करा देने के लिए कहकर आप कहीं बाहर चला गया। उसे किसी काम की जल्दी थी ॥४-६॥

इधर ब्राह्मणी बैठी-बैठी काँच में अपना मुख देख रही थी। उसने अभिमान में आकर मुनि को बहुत सी गालियाँ दीं, उनकी निन्दा की और किवाड़ बन्द कर लिए। हाय! इससे अधिक और क्या पाप होगा? मुनिराज शान्त-स्वभावी थे, तप के समुद्र थे, सबका हित करने वाले थे, अनेक गुणों से युक्त थे और उच्च चारित्र के धारक थे, इसलिए ब्राह्मणी की उस दुष्टता पर कुछ ध्यान न देकर वे लौट गए। सच है, पापियों के यहाँ आई हुई निधि भी चली जाती है। मुनि निन्दा के पाप से लक्ष्मीमती के सातवें दिन कोढ़ निकल आया। उसकी दशा बिगड़ गई। सच है- साधु-सन्तों की निन्दा-बुराई से कभी शान्ति नहीं मिलती। लक्ष्मीमती की बुरी हालत देखकर घर के लोगों ने उसे घर से बाहर कर दिया। यह कष्ट पर कष्ट उससे न सहा गया, सो वह आग में बैठकर जल मरी। उसकी मौत बड़े बुरे भावों से हुई। उसी पाप से वह इसी गाँव में एक धोबी के यहाँ गधी हुई इस दशा में इसे दूध पीने को नहीं मिला। यह मरकर सूअरी हुई। फिर दो बार कुत्ती की पर्याय उसने ग्रहण की। इसी दशा में वह वन में दावाग्नि से जल मरी। अब वह नर्मदा नदी के किनारे पर बसे हुए भृगुकच्छ गाँव में एक मल्लाह के यहाँ काणा नाम की लड़की हुई। शरीर उसका जन्म से ही बड़ा दुर्गन्धित था। किसी की इच्छा उसके पास तक बैठने की नहीं होती थी। देखिये अभिमान का फल कि लक्ष्मीमती ब्राह्मणी थी, पर उसने अपनी जाति का अभिमान कर अब मल्लाह के यहाँ जन्म लिया। इसलिए बुद्धिमानों को कभी जाति का गर्व न करना चाहिए ॥७-१६॥

तत्र नावा जनान्नित्यं सा समुत्तारयत्यलम्। एकदा तं समालोक्य मुनीन्द्रं ज्ञानलोचनम् ॥१७॥
नदीतीरे प्रणम्योच्चैः संजगौ त्वं मया प्रभो। क्वापि दृष्टोसि तच्छ्रुत्वा तेनोक्तं पूर्ववृत्तकम् ॥१८॥
त्वं बालिके पुरा लक्ष्मी-ग्रामे लक्ष्मीमती कुधीः। सोमदेवद्विजस्योच्चैर्भामिनी मानवञ्चिता ॥१९॥
कृत्वा मे निन्हवं मुग्धे महाकष्टेन पीडिता। अग्नौ मृत्वा पुनर्जाता गर्दभी शूकरी क्रमात् ॥२०॥
तत्रैव कुक्कुरी भूत्वा कुक्कुरी च ततो मृता। अत्र जातासि दुर्गन्धा धीवरीकुक्षिसंभवा ॥२१॥
इत्यादिकं समाकर्ण्य सैव धीवरबालिका। ततो जातिस्मरी भूत्वा नत्वा तं मुनिनायकम् ॥२२॥
भो मुने पापकर्माहं संजगादेति दुःखिता। रक्ष रक्षात्र योगीन्द्र मां पतन्तीं कुयोनिषु ॥२३॥
ततः समाधिगुप्तेन मुनीन्द्रेण प्रजल्पितम्। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥२४॥
संजाता क्षुल्लिका तत्र तपः कृत्वा स्वशक्तितः। मृत्वा स्वर्गं समासाद्य तस्मादागत्य भूतले ॥२५॥
कुण्डाख्यनगरे राजा भीष्मो राज्ञी यशस्वती। तयोः पुत्री बभूवासौ रूपिणी रूपमण्डिता ॥२६॥
वासुदेवेन सा कन्या परिणीता गुणोज्ज्वला। पुण्येन सर्वजन्तूनां भवेयुः सम्पदोखिलाः ॥२७॥

सुकुलजन्मयशोवरसम्पदा सकलशास्त्रमतिर्बुधसंगमः।
सुगतिरद्भुतशर्म शिवोद्भवं भवति जैनमतोत्तमसेवनात् ॥२८॥

इति कथाकोशे लक्ष्मीमत्या मानकथा समाप्ता।

एक दिन काणा लोगों को नाव द्वारा नदी पार करा रही थी। उसने नदी किनारे पर तपस्या करते हुए उन्हीं मुनि को देखा, जिनकी कि लक्ष्मीमती की पर्याय में इसने निन्दा की थी। उन ज्ञानी मुनि को नमस्कार कर उनसे पूछा-प्रभो, मुझे याद आता है कि मैंने कहीं आपको देखा है? मुनि ने कहा बच्ची, तू पूर्वजन्म में ब्राह्मणी थी, तेरा नाम लक्ष्मीमती था और सोमशर्मा तेरा भर्त्ता था। तूने अपने जाति के अभिमान में आकर मुनिनिन्दा की। उसके पाप से तेरे कोढ़ निकल आया। तू उस दुःख को न सहकर आग में जल मरी। इस आत्महत्या के पाप से तुझे गधी, सुअरी और दो बार कुत्ती होना पड़ा। कुत्ती के भव से मरकर तू इस मल्लाह के यहाँ पैदा हुई है। अपना पूर्व भव का हाल सुनकर काणा को जातिस्मरण हो गया, पूर्वजन्म की सब बातें उसे याद हो उठीं। वह मुनि को नमस्कार कर बड़े दुःख के साथ बोली-प्रभो! मैं बड़ी पापिनी हूँ। मैंने साधु महात्माओं की बुराई कर बड़ा ही नीच काम किया है। मुनिराज, मेरी पाप से अब रक्षा करो, मुझे कुगतियों में जाने से बचाओ तब मुनि ने उसे धर्म का उपदेश दिया। काणा सुनकर बड़ी सन्तुष्ट हुई उसे बहुत वैराग्य हुआ। वह वहीं मुनि के पास दीक्षा लेकर क्षुल्लिका हो गई। उसने फिर अपनी शक्ति के अनुसार खूब तपस्या की, अन्त में शुभ भावों से मरकर वह स्वर्ग गई। यही काणा फिर स्वर्ग से आकर कुण्ड नगर के राजा भीष्म की महारानी यशस्वती के रूपिणी नाम की बहुत सुन्दर कन्या हुई। रूपिणी का ब्याह वासुदेव के साथ हुआ। सच है, पुण्य के उदय के जीवों को सब धन-दौलत मिलती है ॥१७-२७॥

जैन धर्म सबका हित करने वाला सर्वोच्च धर्म है। जो इसे पालते हैं, वे अच्छे कुल में जन्म लेते हैं, उन्हें यश-सम्पत्ति प्राप्त होती है, वे कुगति में न जाकर उच्च गति में जाते हैं और अन्त में मोक्ष का सर्वोच्च सुख लाभ करते हैं ॥२८॥

४६. मायाविनी-पुष्पदत्तायाः कथा

प्रणम्य त्रिजगन्नाथं श्रीजिनं शर्मकोटिदम्। मायाशल्यकथां माया-विनाशाय गदाम्यहम् ॥१॥
अत्राभूदजितावर्त्तपत्तने सुचिरंतने। पुष्पचूलो महाराजः पुष्पदत्ता प्रियाभवत् ॥२॥
एकदासौ महीनाथो राज्यं कुर्वन्निजेच्छया। अमरादिगुरोः पार्श्वे मुनीन्द्रस्य महाधियः ॥३॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। त्रिधा वैराग्यमासाद्य मुनिर्जातो विचक्षणः ॥४॥
पुष्पदत्ता च सा राज्ञी ब्रह्मिलाख्यार्यिकान्तिके। आर्यिकारूपमादाय कुलैश्वर्यादिगर्विता ॥५॥
अन्यासामार्यिकाणां च धर्मतत्त्वपराङ्मुखा। वन्दनां न करोति स्म धिङ्मूढानां कुचेष्टितम् ॥६॥
तथासौ पुष्पदत्ताख्या मूढात्मा स्वशरीरके। सुगन्धद्रव्यकेनोच्चैः संस्कारं कुरुते स्म च ॥७॥
तदा सा ब्रह्मिला प्राह जैनमार्गे विचक्षणा। आर्यिके पुष्पदत्ते भो तवेदं नैव युज्यते ॥८॥
तच्छ्रुत्वा सापि दुष्टात्मा मायावाक्यं जगाद च। भो कान्तिके स्वभावेन सुगन्धं मे शरीरकम् ॥९॥
यस्य चित्ते स्वयं नास्ति धर्मः श्रीमज्जिनेशिनाम्। बोधितस्यापि दुष्टत्वा-त्तस्य दुष्कर्म पापिनः ॥१०॥
एवं मायामहाशल्यमंडिता पुष्पदत्तिका। मृत्वा पापेन चम्पायां तद्राजश्रेष्ठिनो गृहे ॥११॥

---

४६. पुष्पदत्ता की कथा

अनन्त सुख के देने वाले और तीनों जगत् के स्वामी श्रीजनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर माया का नाश करने के लिए मायाविनी पुष्पदत्ता की कथा लिखी जाती है ॥१॥

प्राचीन समय से प्रसिद्ध अजितावर्त नगर के राजा पुष्पचूल की रानी का नाम पुष्पदत्ता था। राजसुख भोगते हुए पुष्पचूल ने एक दिन अमरगुरु मुनि के पास जिनधर्म का स्वरूप सुना, जो धर्म स्वर्ग और मोक्ष के सुख की प्राप्ति का कारण है। धर्मोपदेश सुनकर पुष्पचूल को संसार, शरीर, भोगादिकों से बड़ा वैराग्य हुआ। वे दीक्षा लेकर मुनि हो गए। उनकी रानी पुष्पदत्ता ने भी उनकी देखा-देखी ब्रह्मिला नाम की आर्यिका के पास आर्यिका की दीक्षा ले ली। दीक्षा ले-लेने पर भी उसे अपने बड़प्पन, राजकुल का अभिमान जैसा का तैसा बना रहा। धार्मिक आचार-व्यवहार से वह विपरीत चलने लगी और ओर आर्यिका को नमस्कार, विनय करना उसे अपने अपमान का कारण जान पड़ने लगा। इसलिए वह किसी को नमस्कारादि नहीं करती थी। इसके सिवा उस योग अवस्था में भी अनेक प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं द्वारा अपने शरीर को सिंगारा करती थी। उसका इस प्रकार बुरा, धर्मविरुद्ध आचार-विचार देखकर एक दिन धर्मात्मा ब्रह्मिला ने उसे समझाया कि इस योगदशा में तुझे ऐसा शरीर का श्रृंगार आदि करना उचित नहीं है। ये बातें धर्मविरुद्ध और पाप की कारण हैं। इसलिए कि इनसे विषयों की इच्छा बढ़ती है। पुष्पदत्ता ने कहा—नहीं जी, मैं कहाँ श्रृंगार-विंगार करती हूँ। मेरा तो शरीर ही जन्म से ऐसी सुगन्ध लिए हैं। सच है—जिनके मन में स्वभाव से धर्म-वासना न हो उन्हें कितना भी समझाया जाये, उन पर उस समझाने का कुछ असर नहीं होता। उनकी प्रवृत्ति और अधिक बुरे कामों की ओर जाती है। पुष्पदत्ता ने यह मायाचार कर

जाता सागरदत्तस्य दासी पूतिमुखी कुधीः। इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं त्याज्यं मायाकुकर्म तत् ॥१२॥
मायासौ पशुयोनिदुःखजननी माया कुलध्वंसिनी माया रूपयशोमहत्वसुगतिश्रीशर्मनिर्नाशिनी।
ज्ञात्वेत्थं जिनधर्मकर्मनिरतैः सत्पंडितैर्दूरतस्त्यक्त्वा तां भवसागरस्य लतिकां धर्मेत्र कार्या मतिः ॥१३॥

इति कथाकोशे मायाविनी पुष्पदत्ता-कथा समाप्ता।

४७. मरीचि-कथा

शर्मशस्याम्बुदं नत्वा श्रीजिनाङ्घ्रिद्वयं मुदा। वक्ष्ये मरीचिवृत्तान्तं पूर्वसूत्रानुसारतः ॥१॥
अयोध्यानगरे पूर्वं चक्रिणो भरतेशिनः। पुत्रो मरीचिनामाभूद्भव्यात्मा भद्रमानसः ॥२॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैश्चर्चितेन निरन्तरम्। श्रीमदादिजिनेनामा सोपि जातो मुनिस्ततः ॥३॥
एकदा तं जिनाधीशं श्रीमत्तीर्थकरं मुदा। समवादिसृतौ नत्वा जगाद भरतेश्वरः ॥४॥
स्वामिन्नग्रे भविष्यन्ति ये त्रयो विंशतिर्जिनाः। तेषां मध्येऽत्र कोप्यस्ति तीर्थेशां भावितीर्थकृत् ॥५॥
तेनोक्तं श्रीजिनेन्द्रेण केवलज्ञानचक्षुषा। भो वत्स ते सुतश्चायं मरीचिर्नैव संशयः ॥६॥

ठीक न किया। इसका फल इसके लिए बुरा हुआ। वह मरकर इस मायाचार के पाप से चम्पापुरी में सागरदत्त सेठ के यहाँ दासी हुई। उसका नाम जैसा पूतिमुखी था, इसके मुँह से भी सदा वैसी दुर्गन्ध निकलती रहती थी। इसलिए बुद्धिमानों को चाहिए कि वे माया को पाप की कारण जानकर उसे दूर से ही छोड़ दें। यही माया पशुपति के दुःखों का कारण है और कुल, सुन्दरता, यश, माहात्म्य, सुगति, धन-दौलत तथा सुख आदि का नाश करने वाली है और संसार के बढ़ाने वाली लता है। यह जानकर माया को छोड़े हुए जैनधर्म के अनुभवी विद्वानों को उचित है कि वे धर्म की ओर अपनी बुद्धि का लगावें ॥२-१३॥

४७. मरीचि की कथा

सुखरूपी धान को हरा-भरा करने के लिए जो मेघ समान हैं, ऐसे जिनभगवान् के चरणों को नमस्कार कर भरत-पुत्र मरीचि की कथा लिखी जाती है, जैसी कि वह और शास्त्रों में लिखी है ॥१॥

अयोध्या में रहने वाले सम्राट् भारतेश्वर भरत के मरीचि नाम का पुत्र हुआ। मरीचि भव्य था और सरल मन था। जब आदिनाथ भगवान्, जो कि इन्द्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी महापुरुषों द्वारा सदा पूजा किए जाते थे, संसार छोड़कर योगी हुए तब उनके साथ कोई चार हजार राजा और भी साधु हो गए। इस कथा का नायक मरीचि भी इन साधुओं में था ॥२-३॥

भरतराज एक दिन भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर का उपदेश सुनने को समवसरण में गए। भगवान् को नमस्कार कर उन्होंने पूछा-भगवन् आपके बाद तेईस तीर्थंकर और होंगे, ऐसा मुझे आपके उपदेश से जान पड़ा। पर इस सभा में भी कोई ऐसा महापुरुष जो तीर्थंकर होने वाला हो? भगवान् बोले-हाँ है। वह यही तेरा पुत्र मरीचि, जो अन्तिम तीर्थंकर महावीर के नाम से प्रख्यात होगा। इसमें कोई

अन्त्यतीर्थकराधीशो भविष्यति गुणोज्ज्वलः। तच्छ्रुत्वा भरताधीशः संजातो हर्षसंकुलः ॥७॥
मरीचिस्तु तदाकर्ण्य मूढबुद्धिप्रभावतः। त्यक्त्वा व्रतं च सम्यक्त्वं मुक्त्वा भूत्वा कुलिंगिभाक् ॥८॥
परिव्राजकरूपादिनाना सांख्यमतादिकम्। संप्रकाश्य स्वयं घोरे संसारे दुःखसागरे ॥९॥
नाना जन्मांतरागाधे संभ्रान्तो भूरिभीतिदे। प्रमादो देहिनां लोके विघ्नकारीति शत्रुवत् ॥१०॥
अज्ञानाद्भव्यजन्तुश्च भवेद्दुःखी प्रमादवान्। तस्माद्भव्यैर्न कर्त्तव्यो धर्मकार्ये प्रमादकः ॥११॥
ततः कालान्तरे कष्टं भ्रमित्वा भूरि संसृतौ। मरीचिर्मोहमाहात्म्यात्पश्चाच्छ्रीजिनधर्मतः ॥१२॥
नन्दाख्यो भूपतिर्भूत्वा गुरुं नत्वाभवन्मुनि। उपार्ज्य तीर्थकृन्नाम षोडशोत्कृष्टकारणैः ॥१३॥
भुक्त्वा स्वर्गसुखं दिव्यं समागत्य महीतले। ख्याते कुण्डपुरेत्रैव श्रीसिद्धार्थमहीपतेः ॥१४॥
पुत्रोऽभूत्प्रियकारिण्यास्तीर्थकृद्भुवनार्चितः। कुमारत्वे समादाय दीक्षां जातो मुनीश्वरः ॥१५॥
घातिकर्मक्षयं कृत्वा केवलज्ञानभास्करः। सर्वदेवेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ॥१६॥
भव्यान्सम्बोध्य सन्मार्गे स्वर्गमोक्षसुखप्रदः। शेषकर्मक्षयं कृत्वा सम्प्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥१७॥

सन्देह नहीं। सुनकर भरत की प्रसन्नता का तो कुछ ठिकाना न रहा और इसी बात से मरीचि की मतिगति उल्टी ही हो गई। उसे अभिमान आ गया कि अब तो मैं तीर्थंकर होऊँगा ही, फिर मुझे नंगे रहना, दुःख सहना, पूरा खाना-पीना नहीं यह सब कष्ट क्यों? किसी दूसरे वेष में रहकर मैं क्यों न सुख आरामपूर्वक रहूँ, बस फिर क्या था जैसे ही विचारों का हृदय में उदय हुआ, उसी समय वह सब व्रत, संयम, आचार-विचार, सम्यक्त्व आदि को छोड़-छाड़ कर तापसी बन गया और सांख्य, परिव्राजक आदि कई मतों को अपनी कल्पना से चलाकर संसार के घोर दुःखों का भोगने वाला हुआ। इसके बाद वह अनेक कुगतियों में घूमा। सच है, प्रमाद, असावधानी या कषाय जीवों के कल्याण-मार्ग में बड़ा ही विघ्न करने वाली है और अज्ञान से अभव्यजन भी प्रमादी बनकर दुःख भोगते हैं। इसलिए ज्ञानियों को धर्मकार्यों में तो कभी भूलकर भी प्रमाद करना ठीक नहीं है। मोह की लीला से मरीचि को चिरकाल तक संसार में घूमना पड़ा। इसके बाद पापकर्म की कुछ शान्ति होने से उसे जैनधर्म का फिर योग मिल गया। उसके प्रसाद से वह नन्द नाम का राजा हुआ। फिर किसी कारण से इसे संसार से वैराग्य हो गया। मुनि होकर इसने सोलहकारण भावना द्वारा तीर्थंकर नाम प्रकृति का बन्ध किया। वहाँ से वह स्वर्ग गया। स्वर्गायु पूरी होने पर इसने कुण्डलपुर में सिद्धार्थ राजा की प्रियकारिणी प्रिया के यहाँ जन्म लिया। वे ही संसार-पूज्य महावीर भगवान् के नाम से प्रख्यात हुए। इन्होंने कुमारपन में ही दीक्षा लेकर तपस्या द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। देव, विद्याधर, चक्रवर्त्तियों द्वारा वे पूज्य हुए। अनेक जीवों को इन्होंने कल्याण के मार्ग पर लगाया। अपने समय में धर्म के नाम पर होने वाली बे-शुमार पशु हिंसा का उन्होंने घोर विरोध कर उसे जड़मूल से उखाड़ कर फेंक दिया। उनके समय में अहिंसा धर्म की पुनः स्थापना हुई। अन्त में वे अघातिया कर्मों का नाश कर परमधाम-मोक्ष चले गए। इसलिए हे

अहो भव्यास्ततो नित्यं भवन्तः सारशर्मणे। चित्ते संभावयन्तूच्चैर्नान्यथा जिनभाषितम् ॥१८॥
स जयतु शुभकर्त्ता वर्द्धमानो जिनेन्द्रः सकलभुवननाथैः पूजितो बोधसांद्रः।
सुरनरखचरेन्द्रोत्कृष्टसौख्यं प्रदत्वा फलति परमलक्ष्मीं शाश्वतीं यस्य भक्तिः ॥१९॥

इति कथाकोशे मरीचि-कथा समाप्ता।

४८. गन्धमित्रस्य कथा।

नत्वानन्तगुणाधीशं श्रीजिनं त्रिजगद्धितम्। घ्राणेन्द्रियकथां गन्ध-मित्रस्य रचयाम्यहम् ॥१॥
अयोध्यापत्तने राजा सुधीर्विजयसेनवाक्। राज्ञी विजयमत्याख्या तयोः पुत्रौ बभूवतुः ॥२॥
ज्येष्ठोसौ जयसेनाख्यो द्वितीयो गन्धमित्रकः। नाना सुगन्धपुष्पादौ लम्पटो मधुलिट् यथा ॥३॥
एकदासौ महीनाथ-स्त्रिधा वैराग्ययोगतः। स्वराज्यं ज्येष्ठपुत्राय दत्वा स्नपनपूर्वकम् ॥४॥
गन्धमित्रं लघुं पुत्रं युवराज्ये विधाय च। मुनेः सागरसेनस्य पादमूले सुभक्तितः ॥५॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो विचक्षणः। धर्मकर्मरतो नित्यं भवेत्प्राणी सुलक्षणः ॥६॥

आत्मसुख के चाहने वालों! तुम्हें सच्चे मोक्ष सुख की यदि चाह है तो तुम सदा हृदय में जिनभगवान् के पवित्र उपदेश को स्थान दो। यही तुम्हारा कल्याण करेगा। विषयों की ओर ले जाने वाले उपदेश, कल्याण-मार्ग की ओर नहीं झुका सकते ॥४-१८॥

वे वर्द्धमान-महावीर भगवान् संसार में सदा जय लाभ करें, उनका पवित्र शासन निरन्तर मिथ्यान्धकार का नाश कर चमकता रहे, जो भगवान् जीवमात्र का हित करने वाले हैं, ज्ञान के समुद्र हैं, राजाओं महाराजाओं द्वारा पूज्यनीय हैं और जिसकी भक्ति स्वर्गादि का उत्तम सुख देकर अन्त में अनन्त, अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी से मिला देती है ॥१९॥

४८. गन्धमित्र की कथा

अनन्त गुण-विराजमान और संसार का हित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर गन्धमित्र राजा की कथा लिखी जाती है, जो घ्राणेन्द्रिय के विषय में फँसकर अपनी जान गँवा बैठा है ॥१॥

अयोध्या के राजा विजय सेन और रानी विजयवती के दो पुत्र थे। इनके नाम थे जयसेन और गन्धमित्र। इनमें गन्धमित्र बड़ा लम्पटी था। भौंरे की तरह नाना प्रकार के फूलों के सूँघने में वह सदा मस्त रहता था ॥२-३॥

उनके पिता विजयसेन एक दिन कोई कारण देखकर संसार में विरक्त हो गए। इन्होंने अपने बड़े लड़के जयसेन को राज्य देकर और गन्धमित्र को युवराज बनाकर सागरसेन मुनिराज से योग ले लिया। सच है, जो अच्छे पुरुष होते हैं उनकी धर्म की ओर स्वभाव ही से रुचि होती है ॥४-५॥

जयसेन के छोटे भाई गन्धमित्र को युवराज पद अच्छा नहीं लगा। इसलिए कि उसकी

गन्धमित्रेण तेनापि महातृष्णातुरेण च। राज्यमुद्दाल्य तत्पुर्या ज्येष्ठो निर्घाटितो हठात् ॥७॥
राज्यलक्ष्मीर्महापापं ज्ञातव्यं प्रायशो भुवि। यत्रासक्तो जनो मूढो हन्ति बन्धूनपि ध्रुवम् ॥८॥
तदासौ जयसेनश्च राज्यभ्रष्टः सुदुःखितः। तस्य संमारणोपायं स्वचित्ते चिन्तयत्यलम् ॥९॥
गन्धमित्रः सदा स्त्रीभिः संयुतः सरयूनदीम्। गत्वा तत्र जलक्रीडां घ्राणासक्तः करोति सः ॥१०॥
तन्मत्वा जयसेनेन ज्येष्ठभ्रात्रा प्रकोपतः। विषवासितपुष्पाणि सुगन्धानि प्रपञ्चतः ॥११॥
तेन मुक्तानि तन्नद्यां तान्यादाय प्रवेगतः। गन्धमित्रस्तु मूढात्मा पुष्पाण्याघ्राय लम्पटः ॥१२॥
मृत्वा घ्राणेन्द्रियासक्तः संप्राप्तो नरकं कुधीः। इन्द्रियाणां वशः प्राणी क्षयं यान्ति क्षितौ विधिः ॥१३॥
एकेनापि वशीकृतोत्र विषयेनोच्चैर्नरेन्द्रात्मजः सम्प्राप्तो नरकं सुदुःखकलितं हा गन्धमित्रः कुधीः।
मूढो यस्तु समस्तभोगनिरतः कष्टं न किं यास्यति सोप्येवं सुविचार्य पंडितजनः श्रीजैनधर्मेस्तु वै ॥१४॥

इति कथाकाशे घ्राणदोषाख्यान गन्धमित्रस्य कथा समाप्ता।

महत्त्वाकांक्षा राजा होने की थी तब उसने राज्य के लोभ में पड़कर अपने बड़े भाई के विरुद्ध षड्यंत्र रचा। कितने ही बड़े-बड़े कर्मचारियों को उसने धन का लोभ देकर उभारा, प्रजा में से बहुतों को उल्टी-सीधी सुझाकर बहकाया। गन्धमित्र को इसमें सफलता प्राप्त हुई। उसने मौका पाकर बड़े भाई जयसेन को सिंहासन से उतार राज्य से बाहर कर दिया और आप राजा बन बैठा। राजवैभव सचमुच ही महापाप का कारण है। देखिए न, इस राजवैभव के लोभ में पड़कर मूर्खजन अपने सगे भाई की जान तक लेने की कोशिश में रहते हैं ॥६-८॥

राज्य-भ्रष्ट जयसेन को अपने भाई के इस अन्याय से बड़ा दुःख हुआ। उसका उसे ठीक बदला मिले, उस उपाय में अब लग गया। प्रतिहिंसा से अपने कर्तव्य को वह भूल बैठा। उस दिन का रास्ता वह बड़ी उत्सुकता से देखने लगा जिस दिन गन्धमित्र को वह लात मारकर अपने हृदय को सन्तुष्ट करे। गन्धमित्र लम्पटी तो था ही, सो रोज-रोज अपनी स्त्रियों को साथ ले जाकर सरयू नदी में उनके साथ जलक्रीड़ा, हँसी, दिल्लगी किया करता था। जयसेन ने इस मौके को अपना बदला चुकाने के लिए बहुत अच्छा समझा। एक दिन उसने जहर के पुट लिये अनेक प्रकार के अच्छे-अच्छे मनोहर फूलों को ऊपर की ओर से नदी में बहा दिया। फूल गन्धमित्र के पास होकर बहे जा रहे थे। गन्धमित्र उन्हें देखते ही उनके लेने के लिए झपटा। कुछ फूलों को हाथ में ले वह सूँघने लगा। फूलों के विष का उस पर बहुत जल्दी असर हुआ और देखते-देखते वह चल बसा। मरकर गन्धमित्र घ्राणेन्द्रिय के विषय की अत्यन्त लालसा से नरक गया। सो ठीक है, इंद्रियों के अधीन हुए लोगों का नाश होता ही है ॥९-१३॥

देखिये, गंधमित्र केवल एक विषय का सेवन कर नरक में गया, जो कि अनन्त दुःखों का स्थान है। तब जो लोग पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन करने वाले हैं, वे क्या नरकों में न जाएँगे? अवश्य जाएँगे। इसलिए जिन बुद्धिमानों को दुःख सहना अच्छा नहीं लगता या वे दुःखों को चाहते नहीं है उन्हें विषयों की ओर से अपने मन को खींचकर जिनधर्म की ओर लगाना चाहिए ॥१४॥

४९. गन्धर्वसेनायाः कथा

सर्वसौख्यप्रदं नत्वा पादद्वैतं जिनेशिनः। वक्ष्ये गन्धर्वसेनायाश्चरित्रं मूढचेतसः ॥१॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये राजा गन्धर्वदत्तकः। राज्ञी गन्धर्वदत्ताभूत्तयोः पुत्री बभूव च ॥२॥
नाम्ना गन्धर्वसेनासौ नाना गान्धर्वशास्त्रवित्। यो जयत्यत्र मां धीरो लसद्गन्धर्वविद्यया ॥३॥
स मे भर्त्ता भवत्येव नान्यथेति प्रगर्विता। प्रतिज्ञां च समादाय क्षत्रियाञ्जयति स्म सा ॥४॥
श्रुत्वा तां वार्त्तिकां धीमान्पोदनाख्यपुरात्स्वयम्। युतः पञ्चशतैश्छात्रैः पांचालस्तत्कलाचणः ॥५॥
उपाध्यायः समागत्य वादार्थी परया मुदा। तत्र पाटलिपुत्रस्य स्थित्वोद्याने मनोहरे ॥६॥
समायात यदा कोपि सूचनीयः स मे ध्रुवम्। इत्युक्त्वाशोकवृक्षाधः सुप्तोसौ छात्रकान्प्रति ॥७॥
पुरं दृष्टुं गतास्तेऽपि छात्रकाः कौतुकात्तदा। तत्र गन्धर्वसेना सा वीक्षितुं तं समागता ॥८॥
पृष्ट्वा छात्रं च तन्नाम दृष्ट्वा तं निद्रयाश्रितम्। वीणासमूहमध्यस्थं लालालिप्तमुखाम्बुजम् ॥९॥

---

४९. गन्धर्वसेना की कथा

सब सुखों के देने वाले जिनभगवान् के चरणों को नमस्कार कर मूर्खिणी गन्धर्वसेना का चरित लिखा जाता है। गन्धर्वसेना भी एक विषय की अत्यासक्ति से मौत के पंजे में फँसी थी ॥१॥

पाटलिपुत्र (पटना) के राजा गन्धर्वदत्त की रानी गन्धर्वदत्त के गन्धर्वसेना नाम की एक कन्या थी। गन्धर्वसेना गानविद्या की बड़ी जानकार थी और इसीलिए उसने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि जो मुझे गाने में जीत लेगा ''वही मेरा स्वामी होगा, उसी की मैं अंकशायिनी बनूँगी।'' गन्धर्वसेना की खूब सूरती की मनोहारी सुगन्ध की लालसा से अनेक क्षत्रियकुमार भौंरे की तरह खिंचे हुए आते थे, पर यहाँ आकर उन सबको निराश-मुँह लौट जाना पड़ता था। गन्धर्व सेना के सामने गाने में कोई नहीं ठहर पाता था ॥२-४॥

एक पांचाल नाम का उपाध्याय गानशास्त्र का बहुत अच्छा अभ्यासी था। उसकी इच्छा भी गन्धर्वसेना को देखने की हुई वह अपने पाँच सौ शिष्यों को साथ लिए पटना आकर एक बगीचे में ठहरा। समय गर्मी का था और बहुत दूर की मंजिल तय करने से पांचाल थक भी गया था। इसलिए वह अपने शिष्यों से यह कहकर, कि कोई यहाँ आए तो मुझे जगा देना, एक वृक्ष की ठंडी छाया में सो गया। इधर वह सोया और उधर इसके बहुत से विद्यार्थी शहर देखने को चल दिये ॥५-८॥

गन्धर्वसेना को जब पांचाल के आने और उसके पाण्डित्य की खबर लगी। वह इसे देखने को आई उसने उसे बहुत-सी वीणाओं को आस-पास रखे सोया देखकर समझा कि वह विद्वान् तो बहुत भारी है, पर जब उसके लार बहते हुए मुँह पर उसकी नजर गई तो उसे पांचाल से बड़ी नफरत हुई उसने फिर उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखा और जिस झाड़के नीचे पांचाल सोया हुआ था। उसकी चन्दन, फूल वगैरह से पूजा कर वह उसी समय अपने महल लौट आई। गन्धर्वसेना के जाने के बाद जब पांचाल की नींद खुली और उसने वृक्ष को गंध-पुष्पादि से पूजा हुआ पाया तो कुछ

तत्रारुचिं विधायोच्चै-र्गन्धपुष्पादिवस्त्रकैः। तं पादपं समभ्यर्च्य गता गेहं नृपात्मजा ॥१०॥
पाञ्चालोशोकवृक्षं च समालोक्य समर्चितम्। श्रुत्वा तद्वृत्तकं सर्वं हंहो जातं विरूपकम् ॥११॥
इत्युक्त्वा तत्पुरं गत्वा नत्वा तं भूपतिं बुधः। तत्कन्यामन्दिराभ्यर्णे स्वस्थानं संगृहीतवान् ॥१२॥
तत्र पश्चिमरात्रौ च वीणायाः सुस्वरं मुदा। गीतं चकार पाञ्चालो जनानां श्रुतिपेशलम् ॥१३॥
श्रुत्वा गन्धर्वसेना सा गीतं चेतोनुरंजनम्। तदासक्ता ततो भूत्वा कुरंगीव प्रवेगतः ॥१४॥
तत्सम्मुखं प्रगच्छन्ती प्रासादाद्भद्रसात्तदा। पपात भ्रान्तितः कष्टं मृत्वा दीर्घभवं गता ॥१५॥
कन्याकर्णरसेन लम्पटमतिर्गंधर्वसेना कुधीः सम्प्राप्ता भवसागरेति विषमे दुष्कर्मणा मज्जनम्।
चित्ते चेति विचार्य दुःखजनकं पञ्चेन्द्रियाणां सुखं सन्तः श्रीजिनधर्मशर्मनिलयं नित्यं श्रयन्तु श्रिये ॥१६॥

इति कथाकोशे कर्णेन्द्रियाख्याने गन्धर्वसेनायाः कथा समाप्ता।

संदेह हुआ। एक विद्यार्थी से इसका कारण पूछा तो उसने एक स्त्री के आने और इस वृक्ष की पूजा कर उसके चले जाने का हाल पांचाल से कहा। पांचाल ने समझ लिया कि गन्धर्वसेना आकर चली गई तब उसने सोचा यह तो ठीक नहीं हुआ। सोने ने सब बना-बनाया खेल बिगाड़ दिया। खैर, जो हुआ, अब लौट जाना भी ठीक नहीं। चलकर प्रयत्न जरूर करना चाहिए। इसके बाद वह राजा के पास गया और प्रार्थना कर अपने रहने को एक स्थान उसने माँगा। स्थान उसकी प्रार्थना के अनुसार गन्धर्वसेना के महल के पास ही मिला। कारण राजा से पांचाल ने कह दिया था कि आपकी राजकुमारी गान में बड़ी होशियार है, ऐसा मैं सुनता हूँ और मैं भी आपकी कृपा से थोड़ी बहुत गाना जानता हूँ, इसलिए मेरी इच्छा राजकुमारी का गाना सुनकर यह बात देखने की है कि इस विषय में उसकी कैसी गति है। यही कारण था कि राजा ने कुमारी के महल के समीप ही उसे रहने की आज्ञा दे दी। अस्तु ॥९-१२॥

एक दिन पांचाल कोई रात के तीन चार बजे के समय वीणा को हाथ में लिए बड़ी मधुरता से गाने लगा। उसके मधुर मनोहर गाने की आवाज शान्त रात्रि में आकाश को भेदती हुई गन्धर्वसेना के कानों से जाकर टकराई गन्धर्वसेना उस समय भर नींद में थी। पर उस मनोमुग्ध करने वाली आवाज को सुनकर वह सहसा चौंक कर उठ बैठी। न केवल उठ बैठने ही से उसे सन्तोष हुआ बल्कि वह उठकर उधर दौड़ी और उधर गई जिधर से आवाज गूँजती हुई आ रहा थी। इस बे-भान अवस्था में दौड़ते हुए उसका पाँव खिसक गया और वह धड़ाम से आकर जमीन पर गिर पड़ी। देखते-देखते उसका आत्माराम उसे छोड़कर चला गया। इस विषयासक्ति से उसे फिर संसार में चिर समय तक रुलना पड़ा। गन्धर्वसेना एक कर्णेन्द्रिय के विषय की लम्पटता से जब अथाह संसार सागर में डूबी, तब जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में सदा काल मस्त रहते हैं, वे यदि डूबे तो इसमें नई बात क्या? इसलिए बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि वे इन दुःखों के कारण विषयभोगों को छोड़कर सुख के सच्चे स्थान जिनधर्म का आश्रय लें ॥१३-१६॥

५०. भीमराज्ञः कथा

नत्वाहं केवलज्ञान-लोचनं श्रीजिनेश्वरम्। वक्ष्ये भीमनृपाख्यानं सतां वैराग्यकारणम् ॥१॥
कांपिल्यनगरे राजा भीमो भीमाशयः कुधीः। सोमश्रीर्भामिनी तस्यां भीमदासः सुतोभवत् ॥२॥
कुलक्रमागतत्त्वाच्च नन्दीश्वरमहाविधौ। जीवघातनिषेधस्य दापिता तेन घोषणा ॥३॥
तत्र तेनैव भीमेन मांसासक्तेन पापिना। सूपकारः स्वयं मांसं याचितो दुष्टचेतसा ॥४॥
सोपि बालं श्मशानाच्च समानीय मृतं तदा। भूपतेस्तस्य संस्कृत्य ददौ भीमस्य पापिनः ॥५॥
तद्भक्षणात्तदा भीमो जिह्वादुस्वादुलम्पटः। सूपकारं प्रति प्राह कस्मान्मृष्टमिदं वद ॥६॥
लब्धाभयेन तेनापि प्रोक्ते तस्मिन्कुकर्मणि। भीमो जगाद मे देहि तदेवं नरजंगलम् ॥७॥
सूपकारस्तदा पापी लड्डुकादिप्रवञ्चनैः। नित्यमेकं कुधीर्बालं जनानां हन्ति तत्कृते ॥८॥
यस्तु पापीजनो लोके संगतिस्तस्य तादृशी। यथा भीमस्य सम्पन्नः सूपकारोतिपापधीः ॥९॥

---

५०. भीमराज की कथा

केवलज्ञानरूपी नेत्रों की अपूर्व शोभा को धारण किए हुए श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर भीमराज की कथा लिखी जाती है, जिसे सुनकर सत्पुरुषों को इस दु:खमय संसार से वैराग्य होगा ॥१॥

कांपिल्य नगर में भीम नाम का एक राजा हो गया है। वह दुर्बुद्धि बड़ा पापी था। उसकी रानी का नाम सोमश्री था। इसके भीमदास नाम का एक लड़का था। भीम ने कुल-क्रम के अनुसार नन्दीश्वर पर्व में मुनादी पिटवाई कि कोई इस पर्व में जीवहिंसा न करें। राजा ने मुनादी तो पिटवा दी, पर स्वयं महा लम्पटी था। मांस खाये बिना उसे एक दिन भी चैन नहीं पड़ता था। उसने इस पर्व में भी अपने रसोइये से मांस पकाने को कहा। पर दुकानें सब बन्द थीं, अतः उसे बड़ी चिन्ता हुई वह मांस लाये कहाँ से? तब उसने एक युक्ति की। वह मसान से एक बच्चे की लाश उठा लाया और उसे पकाकर राजा को खिलाया। राजा को वह मांस बड़ा ही अच्छा लगा। तब उसने रसोइये से कहा—क्यों रे, आज यह मांस और दिनों की अपेक्षा इतना स्वादिष्ट क्यों हैं? रसोइये ने डरकर सच्ची बात राजा से कह दी। राजा ने तब उससे कहा—आज से तू बालकों का ही मांस पकाया करना ॥२-७॥

राजा ने तो झट से कह दिया कि अब से बालकों का ही मांस खाने के लिए पकाया करना पर रसोइये को इसकी बड़ी चिन्ता हुई कि वह रोज-रोज बालकों को लाये कहाँ से? और राजाज्ञा का पालन होना ही चाहिए। तब उसने यह प्रयत्न किया कि रोज शाम के वक्त शहर के मुहल्लों में जाना जहाँ बच्चे खेल रहे हों उन्हें मिठाई का लोभ देकर झट से किसी एक को पकड़ कर उठा लाना। इसी तरह वह रोज-रोज एक बच्चे की जान लेने लगा। सच है—पापी लोगों की संगति दूसरों को भी पापी बना देती है। जैसे भीमराज की संगति से उसका रसोइया भी उसी के सरीखा पापी हो गया ॥८-९॥

ज्ञात्वा जनेन तत्सर्वं तयोः पापप्रचेष्टितम्। प्रोक्तं मंत्रिकुमाराणां ततस्तैर्नीतिवेदिभिः ॥१०॥
भीमदासो विशिष्टात्मा राजपुत्रो महोत्सवैः। राज्ये संस्थापितो भक्त्या प्रजानां हितकारकः ॥११॥
कांपिल्यनगरात्सोपि भीमो दुष्टाशयो द्रुतम्। निर्घाटितः कुधीस्तेन सूपकारेण संयुतः ॥१२॥
पापिनः स्वप्रजापुत्रमित्रमंत्र्यादयो जनाः। सर्वे स्युर्बान्धवाश्चापि शत्रवो नात्र संशयः ॥१३॥
ततस्तेन च भीमेन कानने सूपकारकः। महाक्षुधातुरेणाशु भक्षितः पापकर्मणा ॥१४॥
सोपि भीमः स्वपापेन मेखलाख्यपुरं गतः। मारितो वसुदेवेन संप्राप्तो नरकं ततः ॥१५॥
विगतधर्ममतिर्भवसागरे पतति कर्मकलंकवशीकृतः।
बुधजनाश्च ततो वरशर्मणे शुभकरं जिनधर्म भजन्तु वै ॥१६॥
इति कथाकोशे रसनेन्द्रियलुब्धभीमराज्ञः कथा समाप्ता।

५१. नागदत्तायाः कथा

श्रीजिनं त्रिजगत्स्वामिसमर्चितपदद्वयम्। नत्वाहं नागदत्तायाश्चरित्रं रचयामि च ॥१॥
आभीराख्यमहादेशे नासक्यनगरे वरे। वणिक्सागरदत्तोभून्नागदत्ता च तत्प्रिया ॥२॥

बालकों को प्रतिदिन इस प्रकार एकाएक गायब होने से शहर में बड़ी हलचल मच गई सब इसका पता लगाने की कोशिश में लगे। एक दिन इधर तो रसोइया को चुपके से एक गृहस्थ के बालक को उठाकर चला कि पीछे से उसे किसी ने देख लिया। रसोइया झट-पट पकड़ लिया गया। उससे जब पूछा गया तो उसने सब बातें सच्ची-सच्ची बतला दीं। यह बात मंत्रियों के पास पहुँची। उन्होंने सलाह कर भीमदास को अपना राजा बनाया और भीम को रसोइये के साथ शहर से निकाल बाहर किया। सच है, पापियों का कोई साथ नहीं देता। माता, पुत्र, भाई, बहिन, मित्र, मंत्री, प्रजा आदि सब ही विरुद्ध होकर उसके शत्रु बन जाते हैं ॥१०-१३॥

भीम यहाँ से चलकर अपने रसोइये के साथ एक जंगल में पहुँचा। यहाँ इसे बहुत ही भूख लगी। इसके पास खाने को कुछ नहीं था। तब यह अपने रसोइये को ही मारकर खा गया। यहाँ से घूमता-फिरता यह मेखलपुर पहुँचा और वहाँ वासुदेव के हाथ मारा जाकर नरक गया ॥१४-१५॥

अधर्मी पुरुष अपने ही पापकर्मों से संसार-समुद्र में रुलते हैं। इसलिए सुख की चाह करने वाले बुद्धिमानों को चाहिए कि वे सुख के स्थान जैनधर्म का पालन करें ॥१६॥

५१. नागदत्ता की कथा

देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों और राजाओं, महाराजाओं द्वारा पूजा किए गए भगवान् के चरणों को नमस्कार कर नागदत्ता की कथा लिखी जाती है ॥१॥

आभीर देश नासक्य नगर में सागरदत्त नाम का एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम नागदत्त था। इसके एक लड़का और एक लड़की थी ॥२॥

**श्रीकुमारस्तयोः पुत्रः श्रीषेणा तनुजाजनि। निजेन नन्दगोपेन नागदत्ता रताभवत् ॥३॥
एकदा नागदत्ताया वाक्यतः सोपि गोपकः। व्याधिव्याजेन दुष्टात्मा संस्थितश्च गृहे तदा ॥४॥
स्वयं सागरदत्तस्तु गृहीत्वा गोधनं तदा। गत्वा पश्चिमरात्रौ च सुप्तोटव्यां सुनिश्चलः ॥५॥
तत्र गत्वा स नन्देन मारितः पापकर्मणा। परस्त्रीलम्पटो जीवः किं करोति न निन्दितम् ॥६॥
तदासौ नागदत्ता च नन्दको निन्दितो भुवि। दुराचारं प्रकुर्वन्तौ स्थितौ गेहे दुराशयौ ॥७॥
श्रीकुमारस्तदा मातुः पापकर्मप्रपीडितः। नित्यं चित्ते करोत्येव महाकष्टं सुलज्जितः ॥८॥
रुष्टया च तया नन्दः पापिन्या प्रेरितः पुनः। श्रीकुमारमपि त्वं रे मारयेत्यत्र गोपकः ॥९॥
तथा नन्दः स्थितो गेहे रोगव्याजेन पापधीः। ततो गोधनमादाय गच्छन्स श्रीकुमारकः ॥१०॥
भगिन्या भणितः शीघ्रं बान्धवः श्र्यादिषेणया। नागदत्ताज्ञया धीर यथा ते मारितः पिता ॥११॥**

दोनों के नाम थे श्रीकुमार और श्रीषेणा। नागदत्ता का चाल-चलन अच्छा न था। अपनी गायों को चराने वाले नन्द नाम के ग्वाल के साथ उसकी आशनाई थी। नागदत्ता ने उसे एक दिन कुछ सिखा-सुझा दिया। सो वह बीमारी का बहाना बनाकर गायें चराने को नहीं आया। तब बेचारे सागरदत्त को स्वयं गायें चराने को जाना पड़ा। जंगल में गायों को चरते छोड़कर वह एक झाड़के नीचे सो गया। पीछे से नन्दग्वाल ने आकर उसे मार डाला। बात यह थी कि नागदत्ता ने ही अपने पति को मार डालने के लिए उसे उकसाया था और फिर परस्त्री-लम्पटी पुरुष अपने सुख में आने वाले विघ्न को नष्ट करने के लिए कौन बुरा काम नहीं करता ॥३-६॥

नागदत्ता और पापी नन्द इस प्रकार अनर्थ द्वारा अपने सिर पर एक बड़ा भारी पाप का बोझ लादकर अपनी नीच मनोवृत्तियों को प्रसन्न करने लगे। श्रीकुमार अपनी माता की इस नीचता से बेहद कष्ट पाने लगा। उसे लोगों को मुँह दिखाना तक कठिन हो गया। उसे बड़ी लज्जा आने लगी और इसके लिए उसने अपनी माता को बहुत कुछ कहा सुना भी। पर नागदत्ता के मन पर उसका कुछ असर नहीं हुआ। वह पिचली हुई नागिन की तरह उसी पर दाव खाने लगी। उसने नाराज होकर श्रीकुमार को भी मार डालने के लिए नन्द को उभारा। नन्द फिर बीमारी का बहाना बनाकर गायें चराने को नहीं आया। तब श्रीकुमार स्वयं ही जाने को तैयार हुआ। उसे जाता देखकर उसकी बहिन श्रीषेणा उसे रोककर कहा-भैया, तुम मत जाओ। मुझे माता का इसमें कुछ कपट दिखता है। उसने जैसे नन्द द्वारा अपने पिताजी को मरवा डाला है, वह तुम्हें भी मरवा डालने के लिए दाँत पीस रही है। मुझे जान पड़ता है नन्द इसीलिए बहाना बनाकर आज गायें चराने को नहीं आया। श्रीकुमार बोला-बहिन, तुमने मुझे आज सावधान कर दिया। यह बड़ा ही अच्छा किया। तू मत घबरा। मैं अपनी रक्षा अच्छी तरह कर सकूँगा। अब मुझे रंचमात्र भी डर नहीं रहा और मैं तुम्हारे कहने से नहीं जाता, पर इससे माता को अधिक सन्देह होता और वह फिर कोई दूसरा ही यत्न कर मुझे मरवाने का करती क्योंकि वह चुप तो कभी बैठी ही न रहेगी। आज बहुत ही अच्छा मौका हाथ लगा है। इसीलिए मरा

मार्यसे त्वमपि व्यक्तं नन्दकेनाद्य पापिना। कुरु त्वं यत्नमत्युच्चैस्तच्छ्रुत्वा श्रीकुमारवाक् ॥१२॥
गत्वाटव्यां महाकाष्ठं वस्त्रेणाछाद्य वेगतः। धृत्वा वने स्वयं तत्र तिरो भूत्वा च संस्थितः ॥१३॥
ततो नन्देन गत्वाशु हते खड्गेन दारुके। सेल्लेन श्रीकुमारेण हतो नन्दः सुपृष्ठतः ॥१४॥
प्रभाते गृहमायातो गृहीत्वा गोधनं तदा। दोहनार्थं कुमारोसौ तया पृष्टः सुदुष्टया ॥१५॥
त्वां गवेषयितुं पुत्र प्रेषितो नन्दको मया। कुत्र संतिष्ठते सोपि तच्छ्रुत्वा नन्दनोवदत् ॥१६॥
अयं जानाति सेल्लो मे ततस्तं वीक्ष्य सेल्लकम्। रक्तलिप्तं सुपापिन्या दुष्टया नागदत्तया ॥१७॥
आहत्य मुषलेनैव मारितः श्रीकुमारकः। श्रीषेणयातिकोपेन सा तदा दुष्टमानसा ॥१८॥
मारिता मुशलेनाशु नागदत्ता सुपापिनी। मृत्वा च नरकं प्राप्ता पापी पापेन पच्यते ॥१९॥
धिक्कामं सुदुराचारं येनासक्तो जनः कुधीः। महापापमुपार्ज्यैवं स्वयं यात्येव दुर्गतिम् ॥२०॥
तस्माद्भव्यैर्जिनेन्द्रोक्तं शीलं शर्मशतप्रदम्। पालनीयं जगच्चेतो-रंजनं धर्महेतवे ॥२१॥

जाना ही उचित है। और जहाँ तक मेरा बस चलेगा मैं जड़मूल से उस अंकुर को उखाड़कर फेंक दूँगा, जो हमारी माता के अनर्थ का मूल कारण है। बहिन! तुम किसी तरह की चिन्ता मन में न लाओ। अनाथों का नाथ अपना भी मालिक है ॥७-१२॥

श्रीकुमार बहिन को समझा कर जंगल में गायें चराने को गया। उसने वहाँ एक बड़े लकड़े को वस्त्रों से ढककर इस तरह रख दिया कि वह दूसरों को सोया हुआ मनुष्य जान पड़ने लगा और आप एक ओर छिप गया श्रीषेणा की बात सच निकली। नन्द नंगी तलवार लिए दबे पाँव उस लकड़े के पास आया और तलवार उठाकर उसने उस पर दे मारी। इतने में श्रीकुमार ने आकर उसकी पीठ में इस जोर की एक भाले की जमाई कि भाला आर-पार हो गया और नन्द देखते-देखते तड़फड़ाकर मर गया। इधर श्रीकुमार गायों को लेकर घर लौट आया। आज गायें दोहने के लिए भी श्रीकुमार ही गया। उसे देखकर नागदत्ता ने उससे पूछा-क्यों कुमार, नन्द नहीं आया? मैंने तो तेरे ढूँढ़ने के लिए उसे जंगल में भेजा था। क्या तूने उसे देखा है कि वह कहाँ पर है? श्रीकुमार से तब न रहा गया और गुस्से में आकर उसने कह डाला-माता, मुझे तो मालूम नहीं कि नन्द कहाँ है। पर मेरा यह भाला अवश्य जानता है। नागदत्ता की आँखें जैसे ही उस खून से भरे भाले पर पड़ी तो उसकी छाती धड़क उठी। उसने समझ लिया कि इसने उसे मार डाला है। अब तो क्रोध से वह भर गई उसे सामने एक मूसला रखा था। उस पापिनी ने उसे ही उठाकर श्रीकुमार के सिर पर इस प्रकार जोर से मारा कि सिर फटकर तत्काल वह भी धराशायी हो गया। अपने भाई की इस प्रकार हत्या हुई देखकर श्रीषेणा दौड़ी और नागदत्ता के हाथ से झट से मूसला छुड़ाकर उसने उसके सिर पर एक जोर की मार जमाई, जिससे वह भी अपने किए की योग्य सजा पा गई। नागदत्ता मरकर पाप के फल से नरक गई। सच है-पापी को अपना जीवन पाप में ही बिताना पड़ता है। नागदत्ता इसका उदाहरण है। उस दुराचार को धिक्कार, उस काम को धिक्कार, जिसके वश मनुष्य महा पापकर्म कर और फिर उसके

शीलं श्रीजिनभाषितं शुचितरं देवेन्द्रवृन्दैः स्तुतं शीलं दुःखकलंकपंकसलिलं शीलं जगन्मोहनम्।
ये भव्याः प्रतिपालयन्ति नितरां नित्यं सुशर्मप्रदं भुक्त्वा ते त्रिदशादिसौख्यमतुलं शुद्धं लभन्ते सुखम् ॥२२॥

इति कथाकोशे नागदत्तायाः कथा समाप्ता।

५२. द्वीपायनमुनेः कथा।

प्रणम्य त्रिजगत्पूज्यं श्रीजिनं शर्मकोटिदम्। द्वीपायनस्य संवक्ष्ये चरित्रं मुनिभाषितम् ॥१॥
पुरी द्वारवती ख्याता देशे सौराष्ट्रसंज्ञके। श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य जन्ममायापवित्रिता ॥२॥
तत्र श्रीबलभद्राख्यवासुदेवौ नरेश्वरौ। महाराज्यं प्रकुर्वन्तौ नवमौ हलिकेशवौ ॥३॥
एकदा तौ जगत्पूज्यं श्रीमन्नेमिजिनाधिपम्। ऊर्जयन्तगिरौ नत्वा समवादिसृतौ स्थितम् ॥४॥
अष्टधा सुमहाद्रव्यैः समभ्यर्च्य सुभक्तितः। स्तुत्वा सद्धर्ममाकर्ण्य हृष्टो ज्येष्ठो जगाद च ॥५॥
जगद्बन्धो जिनाधीश केवलज्ञानलोचन। ब्रूहि भो त्रिजगन्नाथ प्रोल्लसत्करुणार्णव ॥६॥
ईदृशी वासुदेवस्य सम्पदा शर्मदायिनी। भविष्यति कियत्कालं लोकालोकप्रकाशक ॥७॥
तदा प्राह जिनाधीशो वासुदेवस्य सम्पदा। स्थित्वा द्वादशवर्षेषु ततो नाशं प्रयास्यति ॥८॥

फल से दुर्गति में जाता है। इसलिए सत्पुरुषों को उचित है कि वे जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किए, सबको प्रसन्न करने वाले और सुख-प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य व्रत का सदा पालन करें ॥१३-२२॥

५२. द्वीपायन मुनि की कथा

संसार के स्वामी और अनन्त सुखों के देने वाले श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर द्वीपायन मुनि का चरित लिखा जाता है, जैसा पूर्वाचार्यों ने उसे लिखा है ॥१॥

सोरठदेश में द्वारका प्रसिद्ध नगरी है। नेमिनाथ भगवान् का जन्म यहीं हुआ है। इससे यह बड़ी पवित्र समझी जाती है। जिस समय की यह कथा लिखी जाती है। उस समय द्वारका का राज्य नवमें बलभद्र और वासुदेव करते थे। एक दिन ये दोनों राज-राजेश्वर गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ भगवान् की पूजा-वन्दना करने को गए। भगवान् की इन्होंने भक्तिपूर्वक पूजा की और उनका उपदेश सुना। उपदेश सुनकर इन्हें बहुत प्रसन्नता हुई इसके बाद बलभद्र ने भगवान् से पूछा-हे संसार के अकारण बन्धो, हे केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारक, हे तीन जगत् के स्वामी! हे करुणा के समुद्र! और हे लोकालोक के प्रकाशक, कृपाकर कहिए कि वासुदेव को पुण्य से जो सम्पत्ति प्राप्त है वह कितने समय तक ठहरेगी? भगवान् बोले-बारह वर्ष पर्यन्त वासुदेव के पास रहकर फिर नष्ट हो जायेगी। इसके सिवा मद्य-पान से यदुवंश का समूल नाश होगा, द्वारका द्वीपायन मुनि के सम्बन्ध से जलकर खाक हो जायेगी, और बलभद्र, तुम्हारी इस छुरी द्वारा जरत्कुमार के हाथों से श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी। भगवान् के द्वारा यदुवंश द्वारका और वासुदेव का भविष्य सुनकर बलभद्र द्वारका आए। उस समय द्वारका में जितनी शराब थी, उसे उन्होंने गिरनार पर्वत के जंगल में डलवा दिया। उधर द्वीपायन अपने

यादवानां क्षयो मद्याद्-भविष्यति निसंशयः। दाहो द्वारवतीपुर्या द्वीपायनकुमारतः ॥९॥
अनया छुरिकया च बलभद्र त्वदीयया। जरत्कुमारहस्तेन वासुदेवक्षयो ध्रुवम् ॥१०॥
तच्छ्रुत्वा वासुदेवेन मद्यं सर्वं प्रवेगतः। ऊर्जयन्तगिरेः कुंजे निक्षिप्तं पापकारणम् ॥११॥
द्वीपायनो मुनिर्भूत्वा पूर्वदेशं गतो द्रुतम्। मूढाः कुर्वन्तु कर्माणि नान्यथा जिनभाषितम् ॥१२॥
छुरिका बलभद्रस्य घृष्टा सूक्ष्मा च सागरे। निक्षिप्ता सा तु मत्स्येन गृहीता कर्मयोगतः ॥१३॥
पारंपर्येण तां प्राप्य विध्वस्तछुरिकां तदा। चक्रे जरत्कुमारोसौ बाणाग्रं पापकर्मणा ॥१४॥
ततो द्वादशवर्षेषु द्वीपायनमुनिर्मुदा। अजानन्नधिकान्मासान्समागत्य निजेच्छया ॥१५॥
ऊर्जयन्तगिरेः पार्श्वे स्थितश्चातापनेन सः। योगेन कर्मणां योगो हन्यते केन भूतले ॥१६॥
तस्मिन्नेव दिने पापकर्मणा प्रेरितैर्भृशम्। यादवानां कुमाराद्यैः क्रीडां कृत्वा च पर्वते ॥१७॥
मार्गे महातृषाक्रान्तैर्भ्रान्त्या मद्याश्रितं जलम्। पीत्वा पुरं प्रगच्छद्भिर्मत्तवन्नष्टचेतनैः ॥१८॥
द्वीपायनमुनेरग्रे रक्षार्थं भक्तितस्तराम्। सार्द्धं श्रीवासुदेवेन बलभद्रेण निर्मिताम् ॥१९॥
पाषाणवृत्तिमालोक्य पाषाणैः स मुनिस्तदा। पूरितस्तैर्महापापं हा कष्टं मद्यचेष्टितम् ॥२०॥

सम्बन्ध से द्वारका का भस्म होना सुन मुनि हो गए और द्वारका को छोड़कर कहीं अन्यत्र चल दिये। मूर्ख लोग न समझ कुछ यत्न करें, पर भगवान् का कहा कभी झूठा नहीं होता। बलभद्र ने शराब को तो फिकवा दिया था। अब एक छुरी और उनके पास रह गई थी, जिसके द्वारा भगवान् ने श्रीकृष्ण की मौत होना बतलाई थी। बलभद्र ने उसे भी खूब घिस-घिसाकर समुद्र में फिकवा दिया। कर्मयोग से उस छुरी को एक मच्छ निगल गया और वही मच्छ फिर एक मल्लाह के जाल में आ फँसा। उसे मारने पर उसके पेट से वह छुरी निकली और धीरे-धीरे वह जरत्कुमार के हाथ तक भी पहुँच गई जरत्कुमार ने उसका बाण के लिए फला बनाकर उसे अपने बाण पर लगा लिया ॥२-१४॥

बारह वर्ष हुए नहीं, पर द्वीपायन को अधिक महीनों का ख्याल न रहने से बारह वर्ष पूरे हुए समझ वे द्वारका की ओर लौट आकर गिरनार पर्वत के पास ही कहीं ठहरे और तपस्या करने लगे। पर तपस्या द्वारा कर्मों का ऐसा योग कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। एक दिन की बात है कि द्वीपायन मुनि आतापन योग द्वारा तपस्या कर रहे थे। इसी समय मानों पापकर्मों द्वारा उभारे हुए यादवों के कुछ लड़के गिरनार पर्वत से खेल-कूद कर लौट रहे थे। रास्ते में इन्हें बहुत जोर की प्यास लगी। यहाँ तक कि वे बेचैन हो गए। उनके लिए घर आना मुश्किल पड़ गया। आते-आते इन्हें पानी से भरा एक गड्ढा दिख पड़ा। पर वह पानी नहीं था किन्तु बलभद्र ने जो शराब ढुलवा दी थी वही बहकर इस गड्ढे में इकट्ठी हो गई थी। उस शराब को उन लड़कों ने पानी समझ पी लिया। शराब पीकर थोड़ी देर हुई होगी कि उसने उन पर अपना रंग जमाना शुरू किया। नशे से वे सुध-बुध भूलकर उन्मत्त की तरह कूदते-फाँदते आने लगे। रास्ते में इन्होंने द्वीपायन मुनि को ध्यान करते देखा। मुनि की रक्षा के लिए बलभद्र ने उनके चारों ओर एक पत्थरों का कोट सा बनवा दिया था। एक ओर उसके

मत्तो मातृभगिन्यादौ कामचेष्टां प्रवाञ्छति। वेत्ति किंचिन्न पापात्मा मद्यपानी सुनिर्दयः ॥२१॥
तां वार्त्तां च समाकर्ण्य बलभद्रेण धीमता। युतेन वासुदेवेन तत्रागत्य प्रभक्तितः ॥२२॥
सोपि कण्ठगतप्राणो द्वीपायनमुनिर्द्रुतम्। सत्क्षमां कारितो मूढो दर्शयामास चांगुली ॥२३॥
ततो मृत्वा क्रुधा भूत्वा सोपि भावनदेवकः। तौ द्वौ मुक्त्वाग्निना पापी सर्वां द्वारवतीं पुरीम् ॥२४॥
भस्मीचक्रेति कोपेन किं करोति न मूढधीः। ततो भव्यैः प्रशान्त्यर्थं कोपः सन्त्यज्यते सदा ॥२५॥
नष्ट्वा तौ भ्रातरौ कष्टं देहमात्रपरिग्रहौ। संप्राप्तौ काननं घोरं पापपाके क्व सम्पदा ॥२६॥
पुण्योदये सुखी प्राणी भवेद्दुःखी स्वपापतः। तस्मात्पापं परित्यज्य पुण्यं कुर्वन्तु धीधनाः ॥२७॥
पुण्यं पात्राश्रितं दानं पुण्यं श्रीजिनपूजनम्। पुण्यं शीलोपवासाद्यैर्भाषितं पूर्वसूरिभिः ॥२८॥
वने जरत्कुमारेण तेन बाणेन कष्टतः। वासुदेवस्तृषाक्रान्तो हतः स्वस्थानकं गतः ॥२९॥

आने-जाने का दरवाजा था। इन शैतान लड़कों ने मजाक में आ उस जगह को पत्थरों से पूर दिया। सच हैं, शराब पीने से सुध-बुध भूलकर बड़ी बुरी हालत हो जाती है। यहाँ तक कि उन्मत्त पुरुष अपनी माता बहिनों के साथ भी बुरी वासनाओं को प्रकट करने में नहीं लजाता है ॥१५-२१॥

शराब पीने वाले पापी लोगों को हित-अहित का कुछ ज्ञान नहीं रहता। इन लड़कों की शैतानी का हाल जब बलभद्र को मालूम हुआ तो वे वासुदेव को लिए दौड़े-दौड़े मुनि के पास आए और उन पत्थरों को निकाल कर उनसे क्षमा की प्रार्थना की। इस क्षमा कराने का मुनि पर कुछ असर नहीं हुआ। उनके प्राण निकलने की तैयारी कर रहे थे। मुनि ने सिर्फ दो उंगलियाँ उन्हें बतलाई और थोड़ी ही देर बाद वे मर गए। क्रोध से मर कर तपस्या के फल से वे व्यन्तर हुए। उन्होंने कुअवधि द्वारा अपने व्यन्तर होने का कारण जाना तो उन्हें उन लड़कों के उपद्रव की सब बातें ज्ञात हो गई यह देखकर व्यन्तर को बड़ा क्रोध आया। उसने उसी समय द्वारका में आकर आग लगा दी। सारी द्वारका धन-जन सहित देखते-देखते खाक हो गई सिर्फ बलभद्र और वासुदेव ही बच पाए, जिनके लिए कि द्वीपायन ने दो उंगलियाँ बतलाई थी। सच है, क्रोध के वश हो मूर्ख पुरुष सब कुछ कर बैठते है। इसलिए भव्यजनों को शान्ति-लाभ के लिए क्रोध को कभी पास भी न फटकने देना चाहिए। उस भयंकर अग्नि लीला को देखकर बलभद्र और वासुदेव का भी जी ठिकाने न रहा। ये अपना शरीर मात्र लेकर भाग निकले। यहाँ से निकल कर वे एक घोर जंगल में पहुँचे। सच है-पाप का उदय आने पर सब धन-दौलत नष्ट होकर जी बचाना तक मुश्किल पड़ जाता है। जो पलभर पहले सुखी रहा हो वह दूसरे ही पल में पाप के उदय से अत्यन्त दुःखी हो जाता है इसलिए जिन लोगों के पास बुद्धिरूपी धन है, उन्हें चाहिए कि वे पाप के कारणों को छोड़कर पुण्य के कार्यों में अपने हाथों को बँटावें। पात्र-दान, जिन-पूजा, परोपकार, विद्या-प्रचार, शील, व्रत, संयम आदि ये सब पुण्य के कारण हैं। बलभद्र और वासुदेव जैसे ही उस जंगल में आए, वासुदेव को यहाँ अत्यन्त प्यास लगी। प्यास के मारे वे गश खाकर गिर पड़े। बलभद्र उन्हें ऐसे ही छोड़कर जल लाने चले

शोकाच्छ्रीबलभद्रस्तु संवहन्मृतकं तदा। पूर्वजन्मप्रमित्रेण देवेन प्रतिबोधितः ॥३०॥
चन्दनाद्यैः सुधीः शीघ्रं कृत्वा तद्दहनक्रियाम्। त्रिधा वैराग्यसम्पन्नो जैनतत्त्वविदांवरः ॥३१॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं तपः कृत्वा सुदुस्सहम्। तुंग्यां सम्प्राप्य माहेन्द्रस्वर्गे देवो बभूव सः ॥३२॥
लसत्किरीटभूषाद्यैर्दिव्यवस्त्रैः सुभूषितः। सेवितः सुरसन्दोहैरप्सरोभिः समन्वितः ॥३३॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानः स्वर्गलोकसमुद्भवान्। मेरुकैलासशैलादौ जिनबिम्बानि पूजयन् ॥३४॥
महाभक्त्या विमानस्थो गत्वा सद्धर्महेतवे। साक्षात्तीर्थङ्करानुच्चैः सद्दृष्टिस्तान्समर्चयन् ॥३५॥
इत्यादिश्रीजिनाधीशमहासेवापरायणः। स देवः पूर्वपुण्येन संस्थितस्तत्र सौख्यतः ॥३६॥
स श्रीमान्बलभद्रदेवसुमुनी रत्नत्रयालङ्कृतः श्रीमज्जैनपदाब्जयुग्ममधुलिट् चारित्रचूडामणिः।
शान्तिं कान्तिमनःप्रसन्नसहितां नित्यं महामङ्गलं दद्यान्मे गुणरत्नरंजितमतिः सद्बोधसिन्धुः सुखम् ॥३७॥

इति कथाकोशे द्वीपायनमुनेः कथा समाप्ता।

गए। इधर जरत्कुमार न जाने कहाँ से इधर ही आ निकला। उसने श्रीकृष्ण को हरिण के भ्रम से बाण द्वारा बेध दिया। पर जब उसने आकर देखा कि वह हरिण नहीं किन्तु श्रीकृष्ण है तब तो उसके दुःख का कोई पार न रहा। पर अब वह कुछ करने-धरने को लाचार था। वह बलभद्र के भय से फिर उसी समय वहाँ से भाग लिया। इधर बलभद्र जब पानी लेकर लौटे और उन्होंने श्रीकृष्ण की यह दशा देखी तब उन्हें जो दुःख हुआ वह लिखकर नहीं बताया जा सकता। यहाँ तक कि वे भ्रातृप्रेम से सिड़ी से हो गए और श्रीकृष्ण को कन्धों पर उठाये महीनों पर्वतों और जंगलों में घूमते फिरे। बलभद्र की यह हालत देख उनके पूर्व जन्म के मित्र एक देव को बहुत खेद हुआ। उसने आकर इन्हें समझा-बुझा कर शान्त किया और उनसे भाई का दहन-संस्कार करवाया। संस्कार कर जैसे ही वे निर्वृत्त हुए, उन्हें संसार की दशा पर बड़ा वैराग्य हुआ। वे उसी समय सब दुःख, शोक, माया-ममता छोड़कर योगी हो गए। उन्होंने फिर पर्वतों पर खूब दुस्सह तप किया ॥२२-३२॥

अन्त में धर्मध्यान सहित मरण कर ये माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुए वहाँ वे प्रतिदिन नित नये और मूल्यवान् सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण पहनते हैं, अनेक देव-देवी उनकी आज्ञा में सदा हाजिर रहते हैं। नाना प्रकार के उत्तम से उत्तम स्वर्गीय भोगों को वे भोगते हैं, विमान द्वारा कैलाश, सम्मेद-शिखर, हिमालय, गिरनार आदि पर्वतों की यात्रा करते हैं और विदेह क्षेत्र में जाकर साक्षात् जिनभगवान् की पूजा-भक्ति करते हैं। मतलब यह है कि पुण्य के उदय से उन्हें सब कुछ सुख प्राप्त हैं और वे आनन्द-उत्सव के साथ अपना समय बिताते हैं ॥३३-३६॥

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप इन तीन महान् रत्नों से भूषित हैं, जो जिन भगवान् के चरणों के सच्चे भक्त हैं, चारित्र धारण करने वालों में जो सबसे ऊँचे हैं, जिनकी परम पवित्र बुद्धि गुणरूपी रत्नों से शोभा को धारण किए हैं और जो ज्ञान के समुद्र हैं, ऐसे बलभद्र मुनिराज मुझे वह सुख, शांति और वह मंगल दें, जिससे मन सदा प्रसन्न रहे ॥३७॥

५३. मद्यदोष कथा

श्रीमत्सर्वज्ञमानम्य वक्ष्ये सम्पद्विधायकम्। जनानां प्रतिबोधाय मद्यदोषकथानकम् ॥१॥
एकचक्रपुरात्पूर्वं गंगां गन्तुं विनिर्गतः। एकपादविधो वेदवेदाङ्गानां सुपारगः ॥२॥
स परिव्राजको विष्णुचरणाम्भोजषट्पदः। मार्गे गच्छन्विधेर्योगात्प्राप्तो विन्ध्याटवीं तदा ॥३॥
तत्राटव्यां वयोन्मत्तैः प्रोन्मत्तैर्मद्यपानतः। मांसासक्तैः कुमातंगैर्मातंगीगीतसङ्गतैः ॥४॥
मार्गं रुद्ध्वा धृतः सोपि भणितश्चेति रे द्विज। मद्यमांसनवस्त्रीणां मध्ये यद्रोचते तराम् ॥५॥
तदेकं क्रियते कर्म त्वया भो नान्यथा ध्रुवम्। जीवता दृश्यते गंगानदी रे मूढमानस ॥६॥
सोपि तत्र स्मृतेर्वाक्यं चिन्तयामास चेतसि। तिलसर्षपमात्राच्च दोषाः स्युर्मांसभक्षणात् ॥७॥

---

५३. शराब पीने वालों की कथा

सब सुखों के देने वाले सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार कर शराब पीकर नुकसान उठाने वाले एक ब्राह्मण की कथा लिखी जाती है। वह इसलिए कि इसे पढ़कर सर्व साधारण लाभ उठावें ॥१॥

वेद और वेदांगों का अच्छा विद्वान् एकपात नाम का एक संन्यासी एक चक्रपुर से चलकर गंगा नदी की यात्रार्थ जा रहा था। रास्ते में जाता हुआ वह दैवयोग से विन्ध्याटवी में पहुँच गया। यहाँ जवानी से मस्त हुए कुछ चाण्डाल लोग दारु पी-पीकर एक अपनी जाति की स्त्री के साथ हँसी मजाक करते हुए नाचकूद रहे थे, गा रहे थे और अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ में मस्त हो रहे थे। अभागा संन्यासी इस टोली के हाथ पड़ गया। उन लोगों ने उसे आगे न जाने देकर कहा–अहा! आप भले आए! आप ही की हम लोगों में कसर थी। आइए, मांस खाइए, दारू पीजिए और जिन्दगी का सुख देने वाली इस खूबसूरत औरत का मजा लूटिए। महाराज जी, आज हमारे लिए बड़ी खुशी का दिन है और ऐसे समय में जब आप स्वयं यहाँ आ गए तब तो हमारा यह सब करना धरना सफल हो गया। आप सरीखे महात्माओं का आना, सहज में थोड़े ही होता है? और फिर ऐसे खुशी के समय में। लीजिए, अब देर न कर हमारी प्रार्थना को पूरी कीजिए उनकी बातें सुनकर बेचारे संन्यासी के तो होश उड़ गए। वह इन शराबियों को कैसे समझाए, क्या कहे, और वह कुछ कहे सुने भी तो वे मानने वाले कब? वह बड़े संकट में फँस गया। तब भी उसने इन लोगों से कहा–बतलाओ मैं मांस, मदिरा कैसे खा पी सकता हूँ? इसलिए तुम मुझे जाने दो। उन चाण्डालों ने कहा–महाराज कुछ भी हो, हम तो आपको बिना कुछ प्रसाद लिए तो जाने नहीं देंगे। आपसे हम यहाँ तक कह देते हैं कि यदि आप अपनी खुशी से खायेंगे तो बहुत अच्छा होगा, नहीं तो फिर जिस तरह बनेगा हम आपको खिलाकर ही छोड़ेंगे। बिना हमारा कहना किए आप जीते जी गंगाजी नहीं देख सकते। अब तो संन्यासी जी घबराये। वे कुछ विचार करने लगे, तभी उन्हें स्मृतियों के कुछ प्रमाण वाक्य याद आ गए– ॥२-७॥

यतः—तिलसर्षपमात्रं च मांसं खादन्ति ये नराः। तिष्ठन्ति नरके ताव-द्यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥
चाण्डालीसंगमे चात्र द्विजानां सुकुलोद्भुवाम्। प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिः काष्ठभक्षणसंज्ञकात्॥
य एवं विधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवतीति निखिलमखमणौ सूत्रामणौ।
धातकीपिष्टपानीयैर्गुडाद्यैर्मद्यसंभवः। तस्माद्धेतोर्न दोषोत्र स्वचित्ते चेति मूढधीः ॥८॥
संविचार्य महापापं मद्यपानं चकार सः। तस्य माहात्म्यतो गाढं संजातो नष्टमानसः ॥९॥
दूरीकृत्य स्वकौपीनं चक्रे चोद्भटनर्त्तनम्। ग्रहग्रस्तो यथा कष्टं कुसङ्गः कुलनाशकः ॥१०॥
ततस्तीव्रक्षुधाक्रान्तो मतिभ्रष्टः स तापसः। पापकर्मोदये शीघ्रं पलं भक्षितवान्पुनः ॥११॥
पूर्णकुक्षिस्ततः सोपि प्रोल्लसत्कामपीडितः। मातंगीं मदनोन्मत्तां कुधीः कामितवांस्तदा ॥१२॥
हेतुशुद्धेः श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलैकपात्। मांसमातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमानसः।
इति ज्ञात्वा बुधैस्त्याज्या हेतुशुद्धेर्मतिर्भुवि। मृष्टतोयात्समुत्पन्नं विषं हन्त्येव देहिनाम् ॥१३॥

''जो मनुष्य तिल या सरसों के बराबर मांस खाता है वह नरकों में तब तक दुःख भोगा करेगा, जब तक पृथ्वी पर सूर्य और चन्द्र रहेंगे अर्थात् अधिक मांस खाने वाला नहीं। ब्राह्मण लोग यदि चाण्डाली के साथ विषय सेवन करें तो उनकी 'काष्ठभक्षण' नाम के प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि हो सकती है। जो आँवले, गुड़ आदि से बनी हुई शराब पीते हैं, वह शराब पीना नहीं कहा जा सकता-आदि।'' इसलिए जैसा ये कहते हैं, उसके करने में शास्त्रों, स्मृतियों से तो कोई दोष नहीं आता। ऐसा विचार कर उस मूर्ख ने शराब पी ली। थोड़ी ही देर बाद उसे नशा चढ़ने लगा। बेचारे को पहले कभी शराब पीने का काम पड़ा नहीं था इसलिए उसका रंग इस पर और अधिकता से चढ़ा। शराब के नशे में चूर होकर यह सब सुध-बुध भूल गया, अपनेपन का इसे कुछ ज्ञान न रहा। लंगोटी आदि फेंक कर वह भी उन लोगों की तरह नाचते-कूदने लगा जैसे कोई भूत-पिशाच के पंजे में पड़ा हुआ उन्मत्त की भाँति नाचने-कूदने लगता है। सच है, कुसंगति कुल, धर्म, पवित्रता आदि सभी का नाश कर देती है। संन्यासी बड़ी देर तक तो इसी तरह नाचता-कूदता रहा पर जब वह थोड़ा थक गया तो उसे जोर की भूख लगी। वहाँ खाने के लिए मांस के सिवा कुछ भी नहीं था। संन्यासी ने तब मांस ही खा लिया। पेट भरने के बाद उसे काम ने सताया। तब उसने यौवन की मस्ती में मत्त उस स्त्री के साथ अपनी नीच वासना पूरी की। मतलब यह कि एक शराब पीने से उसे ये सब नीचकर्म करने पड़े। दूसरे ग्रन्थों में भी इस एकपात संन्यासी के सम्बन्ध में लिखा है कि-मूर्ख एकपात संन्यासी ने स्मृतियों के वचनों को प्रमाण मानकर शराब पी, मांस खाया और चाण्डालिनी के साथ विषय सेवन किया। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे सहसा किसी प्रमाण पर विश्वास न कर बुद्धि से काम लें, क्योंकि मीठे पानी में मिला हुआ विष भी जान लिए बिना नहीं छोड़ता ॥८-१२॥

देखिये, एकपात संन्यासी गंगा-गोदावरी का नहाने वाला था, विष्णु का सच्चा भक्त था, वेदों

नित्यस्नानविधायको हरिपदद्वन्दे सुसेवापरो वेदज्ञोपि किलैकपात्स्मृतिमतिर्मष्टः परिव्राजकः।
अज्ञानादिह हेतुशुद्धिचलितो मुक्त्वा सुशीलं ततो ज्ञात्वैवं बुधसत्तमैर्जिनपतेः संज्ञानमासेव्यताम् ॥१४॥

इति कथाकोशे मद्यदोषाख्याने एकपात्परिव्राजकस्य कथा समाप्ता।

५४. सगरचक्रवर्तिनः कथा

संप्रणम्य जिनाधीशं सुराधीशैः समर्चितम्। श्रीमद्द्वितीयचक्रेश-चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
जम्बूद्वीपेऽत्र विख्याते प्राग्विदेहे मनोहरे। सीतानद्या अवाग्भागे सुदेशो वत्सकावती ॥२॥
तत्रस्थे पृथिवीनाम-पत्तने सुचिरन्तने। जयसेनो महाराजो जयसेनाख्य तत्प्रिया ॥३॥
तयोः पुत्रः समुत्पन्नो रतिषेणो गुणोज्ज्वलः। द्वितीयो धृतिषेणश्च चारुसौभाग्यशोभितः ॥४॥
एकदा रतिषेणाख्यो मृत्युं प्राप्तो विधेर्वशात्। तच्छोकेन महीनाथो जयसेनो विशुद्धधीः ॥५॥
स्वराज्यं धृतिषेणाय दत्वा पुत्राय धीमते। समभ्यर्च्य जिनाधीशान्कार्यसिद्धिविधायिनः ॥६॥
सार्द्धं महारुतेनोच्चैर्मिथुनेन तथा नृपैः। यशोधरगुरोः पार्श्वे दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥७॥
दीर्घकालं तपः कृत्वा संन्यासेन प्रसन्नधीः। मृत्वा महाबलो नाम्ना देवोभूदच्युतो महान् ॥८॥
महारुतोपि तत्रैव मणिकेतुः सुरोभवत्। जिनेन्द्रपदपद्मेषु चञ्चरीकोतिभक्तिमान् ॥९॥

और स्मृतियों का अच्छा विद्वान् था, पर अज्ञान से स्मृतियों के वचनों को हेतु-शुद्ध मानकर अर्थात् ऐसी शराब पीने में पाप नहीं, चाण्डालिनी का सेवन करने पर भी प्रायश्चित्त द्वारा ब्राह्मणों की शुद्धि हो सकती है, थोड़ा मांस खाने में दोष है, न कि ज्यादा खाने में। इस प्रकार मन का समझौता करके उसने मांस खाया, शराब पी और अपने वर्षों के ब्रह्मचर्य को नष्ट कर वह कामी हुआ। इसलिए बुद्धिमानों को उन सच्चे शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए जो पाप से बचाकर कल्याण का रास्ता बतलाने वाले हैं और ऐसे शास्त्र जिनभगवान् ने ही उपदेश किए हैं ॥१३-१४॥

५४. सगर चक्रवर्ती की कथा

देवों द्वारा पूजा किए गए जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर दूसरे चक्रवर्ती सगर का चरित लिखा जाता है ॥१॥

जम्बूद्वीप के प्रसिद्ध और सुन्दर विदेह क्षेत्र की पूरब दिशा में सीता नदी के पश्चिम की ओर वत्सकावती नाम का एक देश है। वत्सकावती की बहुत पुरानी राजधानी पृथ्वीनगर के राजा का नाम जयसेन था। जयसेन की रानी जयसेना थी। इसके दो लड़के हुए। इनके नाम थे रतिषेण और धृतिषेण। दोनों भाई बड़े सुन्दर और गुणवान् थे। काल की कराल गति से रतिषेण अचानक मर गया। जयसेन को इसके मरने का बड़ा दुःख हुआ और इसी दुःख के मारे वे धृतिषेण को राज्य देकर मारुत और मिथुन नाम के राजाओं के साथ यशोधर मुनि के पास दीक्षा ले साधु हो गए। बहुत दिनों तक इन्होंने तपस्या की। फिर संन्यास सहित शरीर छोड़ स्वर्ग में वह महाबल नाम का देव हुआ इनके साथ दीक्षा लेने वाला मारुत भी इसी स्वर्ग में मणिकेतु नामक देव हुआ, जो कि भगवान् के

स्वर्गलक्ष्मीं समासाद्य तयोः सन्तुष्टचेतसोः। आवयोर्यो महीभागे पूर्वं याति नृजन्मताम् ॥१०॥
तस्यान्यो बोधको भूयाज्जैनदीक्षाकृते सुधीः। धर्मानुरागतश्चेति संजाते वचसि स्थिरे ॥११॥
द्वाविंशत्यब्धिभिः पूर्णं भुक्त्वा सौख्यं सुराश्रितम्। च्युत्वासावच्युतः स्वर्गाच्छेषपुण्यप्रभावतः ॥१२॥
सुधीर्महाबलो देवः साकेतनगरे शुभे। समुद्रविजयस्योच्चैर्भूपतेः सुबलापतेः ॥१३॥
पुत्रोभूत्सगराख्योसौ सज्जनानन्ददायकः। पूर्वाणां सप्ततिर्लक्षास्तस्यायुःपरमावधिः ॥१४॥
चतुःशतानि चापानां पञ्चाशदधिकानि च। कनत्काञ्चनसद्वर्णकायोत्सेधोस्य वर्णितः ॥१५॥
रूपलावण्यसंयुक्तः प्राप्तसद्यौवनो गुणी। श्रित्वा राज्यश्रियं धीमान्षट्खण्डाधिपतिर्बभौ ॥१६॥
भुञ्जानस्य महाभोगाञ्जिनभक्तिप्रपूर्वकम्। तस्य षष्ठि सहस्राणि पुत्राणामभवन्सुखम् ॥१७॥
अहो पुण्येन जन्तूनां भवेयुः सारसम्पदः। तस्मात्पुण्यं जिनोद्दिष्टं कुर्वन्तु सुधियो जनाः ॥१८॥
तदा सिद्धवने श्रीमच्चतुर्मुखमहामुनेः। केवलज्ञानसम्प्राप्तौ पूजार्थं परया मुदा ॥१९॥
देवेन्द्राद्यैः समायातैः सहागत्य सुरोत्तमः। ज्ञात्वा तं सगराधीशं मणिकेतुर्मुदावदत् ॥२०॥

चरण कमलों का भौंरा था, अत्यन्त भक्त था। वे दोनों देव स्वर्ग की सम्पत्ति प्राप्त कर बहुत प्रसन्न हुए। एक दिन उन दोनों ने विनोद करते-करते धर्म-प्रेम से एक प्रतिज्ञा की कि जो हम दोनों में पहले मनुष्य-जन्म धारण करे, तब स्वर्ग में रहने वाले देव का कर्तव्य होना चाहिए कि वह मनुष्य-लोक में जाकर उसे समझाये और संसार से उदासीनता उत्पन्न करा कर जिनदीक्षा के सम्मुख करे ॥२-११॥

महाबल की आयु बाईस सागर की थी। तब तक उसने खूब मनमाना स्वर्ग का सुख भोगा। अन्त में आयु पूरी कर बचे हुए पुण्य प्रभाव से वह अयोध्या के राजा समुद्रविजय की रानी सुबला के सगर नाम का पुत्र हुआ। इसकी उम्र सत्तर लाख पूर्व वर्षों की थी। उसके सोने के समान चमकते हुए शरीर की ऊँचाई साढ़े चार सौ धनुष अर्थात् १५७५ हाथों की थी। संसार की सुन्दरता ने इसी में आकर अपना डेरा दिया था, वह बड़ा ही सुन्दर था। जो इसे देखता उसके नेत्र बड़े आनन्दित होते। सगर ने राज्य प्राप्त कर छहों खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त की। अपनी भुजाओं के बल उसने दूसरे चक्रवर्ती का मान प्राप्त किया। सगर चक्रवर्ती हुआ, पर इसके साथ वह अपना धर्म-कर्म भूल गया था। उसके आठ हजार पुत्र हुए। इसे कुटुम्ब, धन-दौलत, शरीर, सम्पत्ति आदि सभी सुख प्राप्त थे। उसका समय खूब ही सुख के साथ बीतता था। सच है, पुण्य से जीवों को सभी उत्तम-उत्तम सम्पदायें प्राप्त होती है। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे जिनभगवान् के उपदेश किए गए पुण्यमार्ग का पालन करें ॥१२-१८॥

इसी अवसर में सिद्धवन में चतुर्मुख महामुनि को केवलज्ञान हुआ। स्वर्ग के देव, विद्याधर राजा-महाराजा उनकी पूजा के लिए आए। सगर भी भगवान् के दर्शन करने को आया था। सगर को

भो प्रभो स्मरसि व्यक्तं यदावाभ्यां पुरोदितम्। अच्युताख्ये महास्वर्गे प्रोल्लसत्प्रीतियोगतः ॥२१॥
नृलोकं याति यः पूर्वं स्वर्गस्थेन महाधिया। शीघ्रं सम्बोधनीयश्च स श्रीजैनतपोविधौ ॥२२॥
त्वया भुक्तं महाराज्यं दीर्घकालं विचक्षणः। किं पुनर्भूरिभिर्भोगैभव्यस्यन्दुःखकारणैः ॥२३॥
अतस्त्वं श्रीजिनेन्द्रोक्तं तपो धृत्वा जगद्धितम्। सावधानस्तरां भूत्वा कुरु प्रीतिं शिवश्रिये ॥२४॥
इति श्रीसगरश्चक्री बोधितोपि सुधाशिना। विरक्तः संसृतेर्नैव पुत्राणां मोहमूर्च्छितः ॥२५॥
ज्ञात्वा तन्मानसं भूरि सम्पदाप्रमदाश्रितम्। स्वस्थानं स सुरः प्राप्तः कुतो लब्ध्या विना शुभम् ॥२६॥
तथैकदा सुरः सोपि तं तपो ग्राहितुं पुनः। मणिकेतुः समागत्य धृत्वा चारणरूपकम् ॥२७॥
भावयन्संयमं जैनं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। सगरस्य जिनागारे जिनबिम्बानि भक्तितः ॥२८॥
वन्दित्वा शर्मदान्युच्चैः संस्थितो दिव्यरूपभाक्। दृष्ट्वा तं विस्मयं प्राप्तो जगाद सगरो नृपः ॥२९॥
किं कारणं तपो लक्ष्म्या भो मुने यौवनोद्यते। तवेत्याकर्ण्य गूढात्मा संजगौ स मुनीश्वरः ॥३०॥

आया देख मणिकेतु ने उससे कहा–क्यों राजराजेश्वर, क्या अच्युत स्वर्ग की बात याद है? जहाँ कि तुमने और मैंने प्रेम के वश हो प्रतिज्ञा की थी। कि जो हम दोनों में से पहले मनुष्य जन्म ले उसे स्वर्ग का देव जाकर समझावें और संसार से उदासीन कर तपस्या के सम्मुख करें अब तो आपने बहुत समय तक राज्य–सुख भोग लिया। अब तो इसके छोड़ने का यत्न कीजिए। क्या आप नहीं जानते कि ये विषय–भोग दुःख के कारण और संसार में घुमाने वाले हैं? राजन्, आप तो स्वयं बुद्धिमान् हैं। आपको मैं क्या अधिक समझा सकता हूँ। मैंने तो सिर्फ अपनी प्रतिज्ञा–पालन के लिए आपसे इतना निवेदन किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इन क्षण–भंगुर विषयों से अपनी लालसा को कम करके जिन भगवान् का परम पवित्र तपोमार्ग ग्रहण करेंगे और बड़ी सावधानी के साथ मुक्ति कामिनी के साथ ब्याह की तैयारी करेंगे। मणिकेतु ने उसे बहुत कुछ समझाया पर पुत्रमोही सगर को संसार से नाममात्र के लिए उदासीनता न हुई। मणिकेतु ने जब देखा कि अभी यह पुत्र, स्त्री, धन–दौलत के मोह में खूब फँस रहा है। अभी इसे संसार से, विषयभोगों से उदासीन बना देना कठिन ही नहीं किन्तु एक प्रकार असंभव को संभव करने का यत्न है। अस्तु, फिर देखा जायेगा। यह विचार कर मणिकेतु अपने स्थान चला गया। सच है, काललब्धि के बिना कल्याण हो भी नहीं सकता ॥१९–२६॥

कुछ समय के बाद मणिकेतु के मन में फिर एक बार तरंग उठी कि अब किसी दूसरे यत्न द्वारा सगर को तपस्या के सम्मुख करना चाहिए। तब वह चारण मुनि का वेष लेकर, जो कि स्वर्ग–मोक्ष के सुख का देने वाला है, सगर के जिन मन्दिर में आया और भगवान् के दर्शन कर वहीं ठहर गया। उसकी नई उमर और सुन्दरता को देखकर सगर को बड़ा अचम्भा हुआ। उसने मुनिरूप धारण करने वाले देव से पूछा, मुनिराज, आपकी इस नई उमर ने, जिसने कि संसार का अभी कुछ सुख नहीं देखा, ऐसे कठिन योग को किसलिए धारण किया? मुझे तो आपको योगी हुए देखकर बड़ा

यौवनं तडिदाभं भो भूपते भाति भूतले। कोयं कायोशुचिर्गाढं भोगा वा भोगिनोऽहिताः ॥३१॥
संसाराब्धिर्महाघोरो दुस्तरो मोहिनां विभो। तीर्यतेऽत्र मया चारुतपोनावा जिनेशिनः ॥३२॥
इत्यादिकैः शुभैर्वाक्यैर्बोधितोपि महीपतिः। जानन्संसारसद्भावं पुत्रपाशं न मुक्तवान् ॥३३॥
वर्त्तते नातितुच्छोस्य संसारश्चेति मानसे। ज्ञात्वा देवः सखेदोसौ मणिकेतुर्दिवं गतः ॥३४॥
अथैकदा सुतास्तेऽपि नृपं सिंहासनस्थितम्। नत्वा भक्त्या जगुः सर्वे श्रूयतां भो नृपाधिप ॥३५॥
ये पुत्राः क्षत्रियाणां च शूरा धीरा धरातले। असाध्यं स्वपितुर्नैव साधयन्ति सुभक्तितः ॥३६॥
तेषां जन्म भटत्वं च निष्फलं वन्ध्यवृक्षवत्। अतोस्माकं कृपां कृत्वा भवद्भिः सुविचक्षणैः ॥३७॥
दीयते प्रेषणं किंचि-द्येन स्यात्सफलं तनुः। तत्समाकर्ण्य चक्रेशो जगाद मधुरं वचः ॥३८॥

ही आश्चर्य हो रहा है तब देव ने कहा–राजन्! तुम कहते हो, वह ठीक है। पर मेरा विश्वास है कि संसार में सुख है ही नहीं। जिधर मैं आँखें खोलकर देखता हूँ मुझे दुःख या अशान्ति ही देख पड़ती है। यह जवानी बिजली की तरह चमक कर पलभर में नाश होने वाली है। यह शरीर, जिसे कि तुम भोगों में लगाने को कहते हो, महा अपवित्र है। ये विषय-भोग, जिन्हें तुम सुखरूप समझते हो, सर्प के समान भयंकर हैं और यह संसाररूपी समुद्र अथाह है, नाना तरह के दुःखरूपी भयंकर जलजीवों से भरा हुआ है और मोह जाल में फँसे हुए जीवों के लिए अत्यन्त दुस्तर है। तब जो पुण्य से यह मनुष्य देह मिली है, इसे इस अथाह समुद्र में बहने देना या जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा बतलाये इस अथाह समुद्र के पार होने के साधन तपरूपी जहाज द्वारा उसके पार पहुँचा देना। मैं तो इसके लिए यही उचित समझता हूँ कि, जब संसार असार है और उसमें सुख नहीं है, तब संसार से पार होने का उपाय करना ही कर्तव्य और दुर्लभ मनुष्य देह के प्राप्त करने का फल है। मैं तो तुम्हें भी यही सलाह दूँगा कि तुम इस नाशवान् माया-ममता को छोड़कर कभी नाश न होने वाली लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए यत्न करो। मणिकेतु ने इसके सिवा और भी बहुत कहने सुनने या समझाने में कोई कसर न की। पर सगर सब कुछ जानता हुआ भी पुत्र-प्रेम के वश हो संसार को न छोड़ सका। मणिकेतु को इससे बड़ा दुःख हुआ कि सगर की दृष्टि में अभी संसार की तुच्छता नजर न आई और वह उल्टा उसी में फँसता जाता है। लाचार हो वह स्वर्ग चला गया ॥२७-३४॥

एक दिन सगर राज सभा में सिंहासन पर बैठे हुए थे इतने में उनके पुत्रों ने आकर उनसे सविनय प्रार्थना की-पूज्य पिताजी, उन वीर क्षत्रिय-पुत्रों का जन्म किसी काम का नहीं, व्यर्थ है, जो कुछ काम न कर पड़े-पड़े खाते-पीते और ऐशोआराम उड़ाया करते हैं। इसलिए आप कृपाकर हमें कोई काम बतलाइए। फिर वह कितना ही कठिन या असाध्य ही क्यों न हो, उसे हम करेंगे। सगर ने उन्हें जवाब दिया-पुत्रों, तुमने कहा-वह ठीक है और तुमसे वीरों को यही उचित भी है पर अभी मुझे कोई कठिन या सीधा ऐसा काम नहीं दीख पड़ता जिसके लिए मैं तुम्हें कष्ट दूँ और न छहों खण्ड पृथ्वी में मेरे लिए कुछ असाध्य ही है। इसलिए मेरी तो तुमसे यही आज्ञा है कि पुण्य से

न मेऽसाध्यमहो पुत्राः षट्खण्डेषु प्रवर्त्तते। तस्मादेष ममादेशो भवद्भिर्भुज्यते धनम् ॥३९॥
तच्छ्रुत्वा भूपतेर्वाक्यमनुल्लंघ्यं च ते सुताः। नत्वा मौनं विधायोच्चैः संस्थिताः शंकिताशयाः ॥४०॥
तथान्येद्युः समासाद्य भूपतिं स्थिरसंस्थितम्। पुनः प्रणम्य सद्भक्त्या प्रोचुस्ते सुभटोत्तमाः ॥४१॥
प्रेषणेन विना देव क्रियते नैव भोजनम्। अस्माभिश्चेति तच्छ्रुत्वा संविचार्य प्रभुर्जगौ ॥४२॥
भो पुत्रा धर्मकार्यं मे वर्त्तते शर्मकारणम्। कैलासे कारिताः श्रीमच्चक्रिणा भरतेशिना ॥४३॥
चतुर्विंशतितीर्थेशां गृहाः काञ्चननिर्मिताः। प्रोल्लसद्रत्ननिर्माणा यत्रार्हत्प्रतिमाः शुभाः ॥४४॥
तेषां यत्नाय कुर्वन्तु भवन्तः परितो गिरिम्। गंगासत्खातिकां शीघ्रं दुस्तरां दुष्टचेतसाम् ॥४५॥
ततस्ते तं नृपं नत्वा परमानन्दनिर्भराः। दण्डरत्नेन तां चक्रुः सत्वरं साहसोद्धताः ॥४६॥
तस्मिन्नेव क्षणे धीमान्सम्बोधाय महीपते। मणिकेतुः सुरः सोपि कुमारान्देवमायया ॥४७॥
क्रूरनागाकृतिं धृत्वा भस्मीचक्रे बुधोत्तमः। क्वचित्सन्तः प्रकुर्वन्ति सद्धिताय हितेतरम् ॥४८॥

जो धन-सम्पत्ति प्राप्त है, इसे तुम भोगो। उस दिन तो वे सब लड़के पिता की बात का कुछ जवाब न देकर चुपचाप इसलिए चले गए कि पिता की आज्ञा तोड़ना ठीक नहीं परन्तु उनका मन इससे अप्रसन्न ही रहा ॥३५-४०॥

कुछ दिन बीतने पर एक दिन वे सब फिर सगर के पास गए और उन्हें नमस्कार कर बोले- पिताजी, आपने जो आज्ञा दी थी, उसे हमने इतने दिनों उठाई, पर अब हम अत्यन्त लाचार हैं। हमारा मन यहाँ बिल्कुल नहीं लगता। इसलिए आप अवश्य कुछ काम में हमें लगाइये। नहीं तो हमें भोजन न करने को भी बाध्य होना पड़ेगा। सगर ने जब इनका अत्यन्त ही आग्रह देखा तो उसने उनसे कहा-मेरी इच्छा नहीं कि तुम किसी कष्ट के उठाने को तैयार हो। पर जब तुम किसी तरह मानने के लिए तैयार ही नहीं हो, तो अस्तु, मैं तुम्हें यह काम बताता हूँ कि श्रीमान् भरत सम्राट् ने कैलाश पर्वत पर चौबीस तीर्थंकरों के चौबीस मन्दिर बनवाएँ हैं। वे सब सोने के हैं। उनमें बे-शुमार धन खर्च किया है। उनमें जो अर्हन्त भगवान् की पवित्र प्रतिमाएँ हैं वे रत्नमयी हैं। उनकी रक्षा करना बहुत जरूरी है। इसलिए तुम जाओ कैलाश के चारों ओर एक गहरी खाई खोदकर उसमें गंगा का प्रवाह लाकर भर दो। जिससे कि फिर दुष्ट लोग मन्दिरों को कुछ हानि न पहुँचा सकें। सगर के सब पुत्र पिताजी की इस आज्ञा से बहुत खुश हुए। वे उन्हें नमस्कार कर आनन्द और उत्साह के साथ अपने काम के लिए चल पड़े। कैलाश पर पहुँच कर कई वर्षों के कठिन परिश्रम द्वारा उन्होंने चक्रवर्ती के दण्डरत्न की सहायता से अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर ली ॥४१-४६॥

अच्छा, अब उस मणिकेतु की बात सुनिए-उसने सगर को संसार से उदासीन कर योगी बनाने के लिए दोबार यत्न किया, पर दोनों बार उसे निराश हो जाना पड़ा। अबकी बार उसने एक बड़ा भयंकर कांड रचा। जिस समय सगर के ये साठ हजार लड़के खाई खोदकर गंगा का प्रवाह लाने को हिमवान् पर्वत पर गए और इन्होंने दण्ड-रत्न द्वारा पर्वत फोड़ने के लिए उस पर एक चोट मारी

ज्ञात्वापि मरणं तेषां मंत्र्याद्यास्तस्य भूपतेः। तद्दुःखमसमर्थस्य सोढुं चक्रुर्न तां कथाम् ॥४९॥
तदा ब्राह्मणरूपेण स देवो मणिकेतुवाक्। समागत्य नृपप्रान्ते शोकाकुलितमानसः ॥५०॥
अहो चक्रेश भूचक्रं रक्षत्युच्चैस्त्वयि प्रभो। अन्तकेन सुतो मेऽत्र गृहीतो दुष्टचेतसा ॥५१॥
तं त्वं प्राणप्रियं पुत्रं समानीय प्रभो द्रुतम्। यावत्प्राणस्थितिर्मेऽत्र तावद्देहि महीपते ॥५२॥
चक्रे पूत्कारकं चेति तन्निशम्य धराधिपः। किंचिद्धास्यं विधायोच्चैस्तस्य सम्बोधनाय च ॥५३॥
जगौ भो विप्र किं मुग्ध-स्त्वं जातोसि महीतले। विना सिद्धैर्निराबाधैर्यमः केनात्र वार्यते ॥५४॥
तं निवारयितुं वाञ्छा वर्त्तते भवतो यदि। दीक्षां जैनीं समादाय कुरु त्वं स्वात्मनो हितम् ॥५५॥

उस समय मणिकेतु ने एक बड़े भारी और महाविषधर सर्प का रूप धर, जिसकी फुंकार मात्र से कोसों के जीव-जन्तु भस्म हो सकते थे, अपनी विषैली हवा छोड़ी। उससे देखते-देखते वे सब ही जलकर खाक हो गए। सच है, अच्छे पुरुष दूसरे का हित करने के लिए कभी-कभी तो उसका अहित कर उसे हित की ओर लगाते हैं। मंत्रियों को उनके मरने की बात मालूम हो गई पर उन्होंने राजा से इसलिए नहीं कहा कि वे ऐसे महान् दुःख को न सह सकेंगे। तब मणिकेतु ब्राह्मण का रूप लेकर सगर के पास पहुँचा और बड़े दुःख के साथ रोता-रोता बोला-राजाधिराज, आप सरीखे न्यायी और प्रजाप्रिय राजा के रहते मुझे अनाथ हो जाना पड़े, मेरी आँखों के एक मात्र तारे को पापी लोग जबरदस्ती मुझसे छुड़ा ले जाए, मेरी सब आशाओं पर पानी फेर कर मुझे द्वार-द्वार का भिखारी बना जाए और मुझे रोता छोड़ जाए तो इससे बढ़कर दुःख की और क्या बात होगी? प्रभो, मुझे आज पापियों ने बे-मौत मार डाला है। मेरी आप रक्षा कीजिए-अशरण-शरण, मुझे बचाइए ॥४७-५२॥

सगर ने उसे इस प्रकार दुःखी देखकर धीरज दिया और कहा-ब्राह्मण देव, घबराइए मत वास्तव में बात क्या है उसे कहिए। मैं तुम्हारे दुःख दूर करने का यत्न करूँगा। ब्राह्मण ने कहा-महाराज क्या कहूँ? कहते छाती फटी जाती है, मुँह से शब्द नहीं निकलता। यह कहकर वह फिर रोने लगा। चक्रवर्ती को इससे बड़ा दुःख हुआ। उसके अत्यन्त आग्रह करने पर मणिकेतु बोला-अच्छा तो महाराज, मेरी दुःख कथा सुनिए-मेरे एक मात्र लड़का था। मेरी सब आशा उसी पर थी। वही मुझे खिलाता-पिलाता था। पर मेरे भाग्य आज फूट गए। उसे एक काल नाम का एक लुटेरा मेरे हाथों से जबरदस्ती छीन भागा। मैं बहुत रोया व कलपा, दया की मैंने उससे भीख माँगी, बहुत आरजू-मिन्नत की, पर पापी चाण्डाल ने मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखा। राजराजेश्वर, आपसे, मेरी हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि आप मेरे पुत्र को उस पापी से छुड़ा ला दीजिए। नहीं तो मेरी जान न बचेगी। सगर को काल-लुटेरे का नाम सुनकर कुछ हँसी आ गई उसने कहा-महाराज, आप बड़े भोले हैं। भला, जिसे काल ले जाता है, जो मर जाता है वह फिर कभी जीता हुआ है क्या? ब्राह्मण देव, काल किसी से नहीं रुक सकता। वह तो अपना काम किए ही चला जाता है। फिर चाहे कोई बूढ़ा हो, या जवान हो, या बालक, सबके प्रति उसके समान भाव हैं। आप तो अभी अपने लड़के

तच्छ्रुत्वा स द्विजः प्राह सत्यमेतन्महीपते। यद्यमं प्रति नैवात्र समर्थोस्ति नरोपि कः ॥५६॥
त्वया भयं न कर्त्तव्यं मया किंचित्प्रकथ्यते। पुत्रास्ते मारिताः सर्वे यमेन प्राणहारिणा ॥५७॥
तत्समाकर्ण्य भूपालो प्रोल्लसच्छोकमूर्च्छितः। महादुःखवचः श्रुत्वा कस्य मूर्च्छा न जायते ॥५८॥
तदा शीतोपचाराद्यैर्गुरोर्वाक्यामृतैरिव। चेतनां स नृपो नीतः सज्जनैश्चित्तरञ्जनैः ॥५९॥
ततस्त्रिविधवैराग्यं समासाद्यैव चक्रभृत्। दत्वा भागीरथायोच्चैः स राज्यं मोहवर्जितः ॥६०॥
दृढधर्मजिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयान्तिके। दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीं भवभ्रमणनाशिनीम् ॥६१॥
तदासौ वेगतो गत्वा कैलासं च सुरोत्तमः। मायामृत्युमपाकृत्य चक्रिपुत्राञ्जगौ पुनः ॥६२॥
अहो पुत्रा भवन्मृत्युं समाकर्ण्यैव दुःखितः। युष्मत्पिता श्रियं त्यक्त्वा तपो धृत्वा वनं श्रितः ॥६३॥

के लिए रोते हैं, पर मैं कहता हूँ कि वह तुम पर भी बहुत जल्दी सवारी करने वाला है। इसलिए यदि आप यह चाहते हों कि मैं उससे रक्षा पा सकूँ, तो इसके लिए ऐसा उपाय कीजिए कि आप दीक्षा लेकर मुनि हो जाएँ और अपना आत्महित करें। इसके सिवा काल पर विजय पाने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। सब कुछ सुन-सुनाकर ब्राह्मण ने कुछ लाचारी बतलाते हुए कहा कि यदि यह बात सच है और वास्तव में काल से कोई मनुष्य विजय नहीं पा सकता तो लाचारी है। अस्तु, हाँ एक बात तो राजाधिराज, मैं आपसे कहना ही भूल गया और वह बड़ी ही जरूरी बात थी। महाराज, इस भूल की मुझ गरीब पर क्षमा कीजिए। बात यह है कि मैं रास्ते में आता-आता सुनता आ रहा हूँ, लोग परस्पर में बातें करते हैं कि हाय! बड़ा बुरा हुआ जो अपने महाराज के लड़के कैलाश पर्वत की रक्षा के लिए खाई खोदने को गए थे, वे सबके सब एक साथ मर गए ॥५३-५७॥

ब्राह्मण का कहना पूरा भी न हुआ था कि सगर एकदम गश खाकर गिर पड़े। सच है, ऐसे भयंकर दुःख समाचार से किसे गश न आयेगा, कौन मूर्च्छित न होगा? उसी समय उपचारों द्वारा सगर होश में लाये गए। इसके बाद मौका पाकर मणिकेतु ने उन्हें संसार की दशा बतलाकर खूब उपदेश किया। अब की बार वह सफल प्रयत्न हो गया। सगर को संसार की इस क्षण-भंगुर दशा पर बड़ा ही वैराग्य हुआ। उन्होंने भागीरथ को राज देकर और सब माया-ममता छुड़ाकर दृढ़धर्म केवली द्वारा दीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि संसार का भटकना मिटाने वाली है ॥५८-६१॥

सगर की दीक्षा लेने के बाद ही मणिकेतु कैलाश पर्वत पर पहुँचा और उन लड़कों को माया-मौत से सचेत कर बोला-सगर सुतो सुनो, जब आपकी मृत्यु का हाल आपके पिता ने सुना तो उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ और इसी दुःख के मारे वे संसार की विनाशीक लक्ष्मी को छोड़कर साधु हो गए। मैं आपके कुल का ब्राह्मण हूँ। महाराज को दीक्षा ले जाने की खबर पाकर आपको ढूँढ़ने को निकला था। अच्छा हुआ जो आप मुझे मिल गए। अब आप राजधानी में जल्दी चलें। ब्राह्मणरूपधारी मणिकेतु द्वारा पिता का अपने लिए दीक्षित हो जाना सुनकर सगरसुतों ने कहा महाराज, आप जायें। हम लोग अब घर नहीं जाएँगे। जिस लिए पिताजी सब राज्यपाठ छोड़कर साधु हो गए तब हम

यस्मादहं समायातो महाचिन्ताहताशयः। युष्मत्कुलद्विजोन्वेष्टुं भवतो नृपदेहजान् ॥६४॥
सर्वे षष्ठि सहस्राणि पुत्रास्ते तद्वचः श्रुतेः। दृढधर्मजिनस्यैव पार्श्वे दीक्षां समाश्रिताः ॥६५॥
श्रीमान्भगीरथश्चापि नत्वा तान्मुनिसत्तमान्। श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्राणां संजातः श्रावकोत्तमः ॥६६॥
तदासौ प्रगटीभूय मणिकेतुसुरः सुधीः। नत्वा श्रीसगरादींश्च मुनीन्सुतपसि दृढान् ॥६७॥
क्षन्तव्यं सेवकेनोच्चैर्निर्मितेऽत्रापराधके। भवद्भिर्जैनतत्वज्ञैर्भक्त्या चेति जगौ गिरम् ॥६८॥
तच्छ्रुत्वा मुनयः प्राहुर्भो सुरेन्द्र बुधोत्तम। कोपराधस्तवास्माकं कार्यसिद्धिर्विधायिनः ॥६९॥
यत्त्वया निर्मितं कार्यं महामित्रेण धीमता। तत्कर्तुं कः क्षमो लोके त्वां विना धर्मवत्सलः ॥७०॥
अतस्त्वमेव भो देव जैनपादाब्जषट्पदः। मुक्तिलक्ष्म्याः परिप्राप्त्यै कारणं शर्मकारणम् ॥७१॥
इत्यादिकं वचः श्रुत्वा स देवो सुखदायकम्। तान्प्रणम्य महाभक्त्या सिद्धकार्यो दिवं गतः ॥७२॥
ते मुनींद्रा जिनेन्द्रोक्तं तपः कृत्वा सुदुस्सहम्। सम्मेदपर्वते मोक्षं शुक्लध्यानेन संययुः ॥७३॥

किस मुँह से उस राज को भोग सकते हैं? हमसे इतनी कृतघ्नता न होगी, जो पिताजी के प्रेम का बदला हम ऐशो आराम भोग कर दें। जिस मार्ग को हमारे पूज्य पिताजी ने उत्तम समझकर ग्रहण किया है वही हमारे लिए भी शरण है। इसलिए कृपा कर आप हमारे इस समाचार को भैया भागीरथ से जाकर कह दीजिए कि वह हमारे लिए कोई चिन्ता न करें। ब्राह्मण से इस प्रकार कहकर वे सब भाई भगवान् के समवसरण में आए और पिता की तरह दीक्षा लेकर साधु बन गए ॥६२-६५॥

भागीरथ को भाइयों का हाल सुनकर बड़ा वैराग्य हुआ। उसकी इच्छा भी योग ले लेने की हुई, पर राज्य-प्रबन्ध उसी पर निर्भर रहने से वह दीक्षा न ले सका परन्तु उसने उन मुनियों द्वारा जिनधर्म का उपदेश सुनकर श्रावकों के व्रत ग्रहण किए। मणिकेतु का सब काम जब अच्छी तरह सफल हो गया तब वह प्रकट हुआ और उन सब मुनियों को नमस्कार कर बोला-भगवन् आपका मैंने बड़ा भारी अपराध जरूर किया है। पर आप जैनधर्म में तत्त्व को यथार्थ जानने वाले हैं। इसलिए सेवक को क्षमा करें। इसके बाद मणिकेतु ने आदि से इति पर्यन्त सब घटना कह सुनाई मणिकेतु के द्वारा सब हाल सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई वे उससे बोले-देवराज, इसमें तुम्हारा अपराध क्या हुआ, जिसके लिए क्षमा की जाए? तुमने तो उल्टा हमारा उपकार किया है। इसलिए हमें तुम्हारा कृतज्ञ होना चाहिए। मित्रपने के नाते से तुमने जो कार्य किया है वैसा करने के लिए तुम्हारे बिना और समर्थ ही कौन था? इसलिए देवराज, तुम ही सच्चे धर्म-प्रेमी हो, जिन भगवान् के भक्त हो और मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति के कारण हो। सगर-सुतों को इस प्रकार सन्तोष-जनक उत्तर पर मणिकेतु बहुत प्रसन्न हुआ। वह फिर उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर स्वर्ग चला गया। यह मुनिसंघ विहार करता हुआ सम्मेदशिखर पर आया और यहीं कठिन तपस्या कर शुक्लध्यान के प्रभाव से इसने निर्वाण लाभ किया ॥६६-७३॥

तेषां निर्वाणसम्प्राप्तिं श्रुत्वा निर्विण्णमानसः। सुधीर्भगीरथश्चापि वरदत्ताय धीमते ॥७४॥
दत्वा राज्यं निजं प्राज्यं जिनस्नपनपूर्वकम्। कैलासाख्यगिरिं गत्वा शिवगुप्तमहामुनेः ॥७५॥
नत्वा पादद्वयं भक्त्या गृहीत्वा सुतपःश्रियम्। भूत्वा महामुनिर्गंगानदीतीरे मनोहरे ॥७६॥
संस्थितः प्रतिमायोगं समादाय बुधोत्तमः। तदा सर्वे सुरेन्द्राद्याः क्षीराब्धेस्तोयसद्घटैः ॥७७॥
श्रीमद्भगीरथस्यास्य भक्त्या पादाब्जयोर्मुदा। चक्रुर्महाभिषेकं च शर्मकोटिविधायकम् ॥७८॥
तत्प्रवाहं समासाद्य सापि गंगा नदी तराम्। तदा प्रभृति तीर्थत्वं जनानां समुपागता ॥७९॥
तस्मिन्गंगातटे चापि भगीरथमुनीश्वरः। कृत्वा तपः शिवं प्राप्तो जरामरणवर्जितम् ॥८०॥
स जयतु सगराख्यः केवलज्ञानचक्षुः सकलसुरसमर्च्यो मुक्तिकान्तासुकान्तः।
विदितपरमतत्त्वास्ते मुनींद्राश्च नित्यं मम विशदसुखश्रीकारणं सन्तु सन्तः ॥८१॥

इति कथाकोशे द्वितीयचक्रवर्त्तिसगरस्य कथा समाप्ता।

५५. मृगध्वजस्य कथा

नत्वा जिनं महाभक्त्या त्रैलोक्यप्रभुपूजितम्। वक्ष्ये मृगध्वजाख्यानं पूर्वाचार्यैः प्रभाषितम् ॥१॥

उधर भागीरथ ने जब अपने भाइयों का मोक्ष प्राप्त करना सुना तो उसे भी संसार से बड़ा वैराग्य हुआ। वह फिर अपने वरदत्त पुत्र को राज्य सौंप आप कैलाश पर शिवगुप्त मुनिराज के पास दीक्षा ग्रहण कर मुनि हो गया। भगीरथ ने मुनि होकर गंगा के सुन्दर किनारों पर कभी प्रतिमायोग से, कभी आतापन योग से और कभी और किसी आसन से खूब तपस्या की। देवता लोग उसकी तपस्या से बहुत खुश हुए और इसीलिए उन्होंने भक्ति के वश हो भगीरथ के चरणों को क्षीर-समुद्र के जल से अभिषेक किया, जो कि अनेक प्रकार के सुखों का देने वाला है। उस अभिषेक के जल का प्रवाह बहता हुआ गंगा में गया। तभी से गंगा तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हुई और लोग उसके स्नान को पुण्य का कारण समझने लगे। भगीरथ ने फिर कहीं अन्यत्र विहार न किया। वह वहीं तपस्या करता रहा और अन्त में कर्मों का नाशकर उसने जन्म, जरा, मरणादि रहित मोक्ष का सुख भी यहीं से प्राप्त किया ॥७४-८०॥

केवलज्ञानरूपी नेत्र द्वारा संसार के पदार्थों को जानने और देखने वाले, देवों द्वारा पूजा किए गए और मुक्तिरूप रमणीरत्न के स्वामी श्रीसगर मुनि तथा जैनतत्त्व के परम विद्वान् वे सगरसुत मुनिराज मुझे वह लक्ष्मी दें, जो कभी नाश होने वाली नहीं है और सर्वोच्च सुख की देने वाली है ॥८१॥

५५. मृगध्वज की कथा

सारे संसार द्वारा भक्ति सहित पूजा किए गए जिन भगवान् को नमस्कार कर प्राचीनाचार्यों के कहे अनुसार मृगध्वज राजकुमार की कथा लिखी जाती है ॥१॥

अयोध्या नगरे रम्ये राजा सीमन्धरोभवत्। तत्प्रिया जिनसेनाख्या तयोः पुत्रो मृगध्वजः ॥२॥
राजकीयोपि तत्रैको महिषो भणितो जनैः। समायाति प्रयात्येव पादयोश्च पतत्यलम् ॥३॥
क्रीडन्तं पुष्करिण्यां तं समालोक्यैकदा पशुम्। मंत्रिश्रेष्ठिकुमाराभ्यां सहायातो मृगध्वजः ॥४॥
राजपुत्रो जगौ तत्र मांसासक्तः स्वसेवकम्। पश्चिमं चरणं चास्य मह्यं देहीति पापधीः ॥५॥
तथा कृते च भृत्येन महिषः सोपि कष्टतः। त्रिभिः पादैर्नृपस्याग्रे गत्वा संपतितस्तदा ॥६॥
राजा सीमन्धरस्तस्मै जिनधर्मधुरन्धरः। सारपञ्चनमस्कारान्ददौ संन्याससंयुतान् ॥७॥
परोपकारिणः केचित्सन्ति सन्तो गुणाकराः। चन्द्रार्ककल्पवृक्षोरुतोयदेभ्योतिसुन्दराः ॥८॥
तत्प्रभावेन सौधर्मस्वर्गे देवो बभूव सः। श्रीमज्जैनेन्द्रसद्धर्मो देहिनां सुहितङ्करः ॥९॥
पुत्रवृत्तान्तमाकर्ण्य ततो रुष्टेन भूभुजा। सिद्धार्थमंत्रिणः प्रोक्तं मारय त्रीनपि द्रुतम् ॥१०॥
तां वार्तां च ततः श्रुत्वा मंत्रिश्रेष्ठिनृपात्मजाः। मुनिदत्तमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां समाश्रिताः ॥११॥
ततो वैराग्यभावेन तपः कृत्वा सुदुस्सहम्। मृगध्वजो मुनिः सोपि जैनतत्त्वविदाम्वरः ॥१२॥

सीमन्धर अयोध्या के राजा थे। उनकी रानी का नाम जिनसेना था। इनके एक मृगध्वज नाम का पुत्र था। वह मांस का बड़ा लोलुपी था। उसे बिना मांस खाये एक दिन भी चैन न पड़ता था। यहाँ एक राजकीय भैंसा था। वह बुलाने से पास चला आता, लौट जाने को कहने से चला जाता और लोगों के पाँवों में लोटने लगता। एक दिन वह भैंसा एक तालाब में क्रीड़ा कर रहा था। इतने में राजकुमार मृगध्वज, मंत्री और सेठ के लड़कों को साथ लिए वहाँ आया। इस भैंसे के पाँवों को देखकर मृगध्वज के मन में न जाने क्या धुन समाई सो उसने अपने नौकर से कहा–देखो, आज इस भैंसे का पिछला पाँव काट कर इसका मांस खाने के लिए पकाना। इतना कहकर मृगध्वज चल दिया। नौकर उसके कहे अनुसार भैंसे का पाँव काट कर ले गया। उसका मांस पका। उसे खाकर राजकुमार और उसके साथी बड़े प्रसन्न हुए। इधर बेचारा भैंसा बड़े दुःख के साथ लंगड़ाता हुआ राजा के सामने जाकर गिर पड़ा। राजा ने देखा कि उसकी मौत आ गई है। इसलिए उस समय उसने विशेष पूछ–पाछ न कर, कि किसने उसकी ऐसी दशा की है, दयाबुद्धि से उसे संन्यास देकर नमस्कार मन्त्र सुनाया। सच है, संसार में बहुत से ऐसे भी गुणवान् परोपकारी हैं, जो चन्द्रमा, सूर्य, कल्पवृक्ष, पानी आदि उपकारक वस्तुओं से भी कहीं बढ़कर हैं। भैंसा मरकर नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में जाकर देव हुआ। सच है, जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश किया पवित्र धर्म जीवों का वास्तव में हित करने वाला है ॥२–९॥

इसके बाद राजा ने इस बात का पता लगाया कि भैंसा की यह दशा किसने की। उन्हें जब यह नीच काम अपने और मंत्री तथा सेठ के पुत्रों का जान पड़ा तब तो उनके गुस्से का कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने उसी समय तीनों को मरवा डालने के लिए मंत्री को आज्ञा की। इस राजाज्ञा की खबर उन तीनों को भी लग गई तब उन्होंने झटपट मुनिदत्त मुनि के पास जाकर उनसे जिन दीक्षा ले ली। इनमें मृगध्वज महामुनि बड़े तपस्वी हुए। उन्होंने कठिन तपस्या कर ध्यानाग्नि द्वारा घातिया कर्मों

क्षयं नीत्वा सुधीर्ध्यानाद् घातिकर्मचतुष्टयम्। केवलज्ञानमुत्पाद्य संजातो भुवनार्चितः ॥१३॥
महापापप्रकर्त्तापि प्राणी श्रीजैनधर्मतः। भवेत्त्रिलोक्यसंपूज्यो धर्मात्किं भो परं शुभम् ॥१४॥
स श्रीकेवललोचनोतिचतुरो भव्यौघनिस्तारको देवेन्द्रादिसमर्चितो हितकरो धीरो मृगादिध्वजः।
नाना शर्मयशःप्रबोधजनकैर्भक्त्या समाराधितो। दद्यान्मे भवतां च निर्वृतिपदं नित्यं महामङ्गलम् ॥१५॥

इति कथाकोशे मृगध्वजमुनेराख्यानं समाप्तम्।

५६. परशुरामस्य कथा

नमस्कृत्य जिनाधीशं संसाराम्भोधितारणम्। श्वेतरामस्य संवच्मि चरित्रं चित्रकारणम् ॥१॥
अयोध्यापत्तने राजा कार्त्तवीर्योतिमूढधीः। पद्मावती महाराज्ञी तस्यासीत्प्राणवल्लभा ॥२॥
अटव्यां तापसावासपल्लिकायां च तापसः। रेणुका कामिनीनाथस्तत्रास्ते यमदग्निवाक् ॥३॥
तयोः पुत्रौ मनःप्रीतौ श्वेतरामस्तु पूर्वकः। महेन्द्ररामनामा च द्वितीयः प्राणवल्लभः ॥४॥
एकदा रेणुकाभ्राता वरदत्तो मुनीश्वरः। तत्पल्लिकासमीपेऽसौ वृक्षमूले सुखस्थितः ॥५॥

का नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर संसार द्वारा वे पूज्य हुए। सच है, जिनधर्म का प्रभाव ही कुछ ऐसा अचिन्त्य है जो महापापी से पापी भी उसे धारण कर त्रिलोक-पूज्य हो जाता है और ठीक भी है, धर्म से और उत्तम है ही क्या? वे मृगध्वज मुनि मुझे और आप भव्य-जनों को महा मंगलमय मोक्ष लक्ष्मी दें, जो भव्य-जनों का उद्धार करने वाले हैं, केवलज्ञानरूपी अपूर्व नेत्र के धारक हैं, देवों, विद्याधरों और बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं से पूज्य हैं, संसार का हित करने वाले हैं, बड़े धीर हैं और अनेक प्रकार का उत्तम से उत्तम सुख देने वाले हैं ॥१०-१५॥

५६. परशुराम की कथा

संसार-समुद्र से पार करने वाले जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर परशुराम का चरित्र लिखा जाता है जिसे सुनकर आश्चर्य होता है ॥१॥

अयोध्या का राजा कार्त्तवीर्य अत्यन्त मूर्ख था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। अयोध्या के जंगल में यमदग्नि नाम के एक तपस्वी का आश्रम था। इस तपस्वी की स्त्री का नाम रेणुका था। इसके दो लड़के थे। इसमें एक का नाम श्वेतराम था और दूसरे का महेन्द्रराम। एक दिन की बात है कि रेणुका के भाई वरदत्त मुनि उस ओर आ निकले। वे एक वृक्ष के नीचे ठहरे। उन्हें देखकर रेणुका बड़े प्रेम से उनसे मिलने को आई और उनके हाथ जोड़कर वहीं बैठ गई। बुद्धिमान् वरदत्त मुनि ने उससे कहा–बहिन, मैं तुझे कुछ धर्म का उपदेश सुनाता हूँ। तू उसे जरा सावधानी से सुन! देख, सब जीव सुख को चाहते हैं, पर सच्चे सुख के प्राप्त करने की कोई बिरला ही खोज करता है और इसीलिए प्रायः लोग दुःखी देखे जाते हैं। सच्चे सुख का कारण पवित्र सम्यग्दर्शन का ग्रहण करना है। जो पुरुष सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं, वे दुर्गतियों में फिर नहीं भटकते। संसार का भ्रमण भी

तत्र तं रेणुका वीक्ष्य भ्रातरं मुनिसत्तमम्। महाप्रीत्या प्रणम्योच्चैः पादमूले च संस्थिता ॥६॥
तेनोक्तं वरदत्ताख्यमुनीन्द्रेण महाधिया। शृणु त्वं भो भगिन्यत्र सावधानेन चेतसा ॥७॥
सम्यक्त्वं त्रिगजत्पूतं दुर्गतिच्छेदकारणम्। स्वर्गमोक्षतरोर्बीजं भवभ्रान्तिनिवारणम् ॥८॥
तच्च देवो जिनाधीशो रागद्वेषादिवर्जितः। केवलज्ञानसाम्राज्यः सुरासुरनमस्कृतः ॥९॥
तद्भाषितो भवेद्धर्मो लोकद्वयसुखप्रदः। इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैः पूजितो दशधा मुदा ॥१०॥
उत्तमादिक्षमादिस्तु प्रसिद्धो भुवनत्रये। भवेद्वाले गुरुश्चापि शीलसंयमतत्परः ॥११॥
ज्ञानध्यानरतो नित्यं भार्यादिग्रन्थवर्जितः। इत्येतच्छर्मदं विद्धि सम्यक्त्वं मुग्धमानसे ॥१२॥
पात्रदानं गुणाधानं जिनार्चा शर्मदायिनी। शीलपर्वोपवासादिधर्मोयं गृहिणां शुभः ॥१३॥
इत्यादिकं समाकर्ण्य रेणुका बान्धवोदितम्। धर्मं श्रीमज्जिनेन्द्राणां सन्तुष्टा मानसे तदा ॥१४॥
सम्यक्त्वरत्नमादाय सा सती भक्तितस्तराम्। स्वात्मनो मण्डनं चक्रे भव्यानां तद्विभूषणम् ॥१५॥
ततो धर्मानुरागेण तस्यै श्रीवरदत्तवाक्। परश्वाख्यां महाविद्यां भगिन्यै मुनिसत्तमः ॥१६॥
कामधेनुसुविद्यां च दत्वा शर्मप्रदायिनीम्। स्वस्थानं प्राप्तवान्धीरो जैनतत्त्वविदाम्वरः ॥१७॥
सम्यक्त्वशालिनी सा च रेणुका स्वगृहे सुखम्। संस्थिता जिनपादाब्जभृङ्गी सद्धर्मवत्सला ॥१८॥

उनका कम हो जाता है। उनमें कितने तो उसी भव से मोक्ष चले जाते हैं। सम्यक्त्व का साधारण स्वरूप यह है कि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र पर विश्वास लाना। सच्चे देव वे हैं, जो भूख और प्यास, राग और द्वेष, क्रोध और लोभ, मान और माया आदि अठारह दोषों से रहित हों, जिनका ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा हो कि उससे संसार का कोई पदार्थ अंजाना न रह गया हो, जिन्हें स्वर्ग के देव, विद्याधर, चक्रवर्ती और बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी पूजते हों और जिनका उपदेश किया पवित्र धर्म, इस लोक और परलोक में सुख का देने वाला हो तथा जिस पवित्र धर्म की इन्द्रादि देव भी पूजा-भक्ति कर अपना जीवन कृतार्थ समझते हों। धर्म का स्वरूप उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव आदि दशलक्षणों द्वारा प्रायः प्रसिद्ध है और सच्चे गुरु वे कहलाते हैं, जो शील और संयम के पालने वाले हों, ज्ञान और ध्यान का साधन ही जिनके जीवन का खास उद्देश्य हो और जिनके पास परिग्रह रत्तीभर भी न हो। इन बातों पर विश्वास करने को सम्यक्त्व कहते हैं। इसके सिवा गृहस्थों के लिए पात्रदान करना, भगवान् की पूजा करना, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत धारण करना, पर्वों में उपवास वगैरह करना आदि बातें भी आवश्यक हैं। यह गृहस्थ-धर्म कहलाता है। तू इसे धारण कर। इससे तुझे सुख प्राप्त होगा। भाई के द्वारा धर्म का उपदेश सुन रेणुका बहुत प्रसन्न हुई। उसने बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ सम्यक्त्व-रत्न द्वारा अपनी आत्मा को विभूषित किया और सच भी है, यही सम्यक्त्व तो भव्यजनों का भूषण है। रेणुका का धर्म-प्रेम देखकर वरदत्त मुनि ने उसे एक 'परशु' और दूसरी 'कामधेनु' ऐसी दो महाविद्याएँ दीं, जो कि नाना प्रकार का सुख देने वाली हैं। रेणुका को विद्या देकर जैनतत्त्व के परम विद्वान् वरदत्तमुनि विहार कर गए। इधर सम्यक्त्वशालिनी रेणुका घर आकर सुख से रहने लगी। रेणुका को धर्म पर अब खूब प्रेम हो गया। वह भगवान् की बड़ी भक्त हो गई ॥२-१८॥

एकदा कार्त्तवीर्योसौ राजा तत्र वने घने। गजस्य बन्धनार्थं च समायातस्तदा मुदा ॥१९॥
कामधेनुमहाविद्या-प्रभावेन मनोहरम्। कारितः षड्रसोपेतं भोजनं यमदग्निना ॥२०॥
स पापी कार्त्तवीर्योपि संभुक्त्वा लोभपूरितः। संग्रामे तापसं हत्वा कुधीस्तं यमदग्निकम् ॥२१॥
कामधेनुं समादाय निर्गतस्तद्वनाज्जवात्। पोषितो दुर्जनः प्राणी सर्पवत्प्राणनाशकः ॥२२॥
तदा तौ रेणुकापुत्रौ गृहीत्वा समिधादिकम्। समागतौ गृहं मातुर्ज्ञात्वा तां कष्टवार्त्तिकाम् ॥२३॥
श्वेतरामस्ततो ज्येष्ठः पुत्रोऽसौ सुभटाग्रणीः। रेणुकायाः समादाय तां विद्यां परशुप्रथाम् ॥२४॥
गत्वा महेन्द्ररामेण संयुतः कौशलां पुरीम्। कार्त्तवीर्यं सुसंग्रामे मारयामास भूपतिम् ॥२५॥
मृत्वासौ निजपापेन कार्त्तवीर्यो नृपः कुधीः। सम्प्राप्तो नरकं घोरं पापिनामीदृशी गतिः ॥२६॥
धिक्तृष्णां-पापिनीं जन्तोर्महादुःखप्रदायिनीम्। यत्रासक्तो जनोऽन्यायं कृत्वा कष्टं प्रयात्यलम् ॥२७॥
अन्यायेन नरेन्द्राद्याः क्षयं गच्छन्ति किं परे। यद्वायुना द्विपा यान्ति तत्र किं शलभादयः ॥२८॥
तदायोध्यापुरे सोपि श्वेतरामः स्वविद्यया। ख्यातः परशुरामेति संजातः सुमहीपतिः ॥२९॥

एक दिन राजा कार्त्तवीर्य हाथी पकड़ने को इसी वन की ओर आ निकला। घूमता हुआ वह रेणुका के आश्रम में आ गया। यमदग्नि तापस ने उसका अच्छा आदर-सत्कार किया और उसे अपने यहीं जिमाया। भोजन कामधेनु नाम की विद्या की सहायता से बहुत उत्तम तैयार किया गया था। राजा भोजन कर बहुत ही प्रसन्न हुआ और क्यों न होता? क्योंकि सारी जिन्दगी में उसे कभी ऐसा भोजन खाने को ही न मिला था। उस कामधेनु को देखकर इस पापी राजा के मन में पाप आया। यह कृतघ्न तब उस बेचारे तापसी को जान से मारकर गौ को ले गया। सच है, दुर्जनों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जो उनका उपकार करते हैं, वे दूध पिलाये सर्प की तरह अपने उन उपकारक की ही जान के लेने वाले हो उठते हैं ॥१९-२२॥

राजा के जाने के थोड़ी देर बाद ही रेणुका के दोनों लड़के जंगल से लकड़ियाँ वगैरह लेकर आ गए। माता को रोती हुई देखकर उन्होंने उसका कारण पूछा। रेणुका ने सब हाल उनसे कह दिया। माता की दुःख भरी बातें सुनकर श्वेतराम के क्रोध का ठिकाना न रहा। वह कार्त्तवीर्य से अपने पिता का बदला लेने के लिए उसी समय माता से 'परशु' नाम की विद्या को लेकर अपने छोटे भाई को साथ लिए चल पड़ा। राजा के नगर में पहुँच कर उसने कार्त्तवीर्य को युद्ध के लिए ललकारा। यद्यपि एक ओर कार्त्तवीर्य की प्रचण्ड सेना थी और दूसरी ओर सिर्फ ये दो ही भाई थे; पर तब भी परशु विद्या के प्रभाव से इन दोनों भाइयों ने कार्त्तवीर्य की सारी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया और अन्त में कार्त्तवीर्य को मारकर अपने पिता का बदला लिया। मरकर पाप के फल से कार्त्तवीर्य नरक गया। सो ठीक ही है, पापियों की ऐसी गति होती ही है। उस तृष्णा को धिक्कार है जिसके वश हो लोग न्याय-अन्याय को कुछ नहीं देखते और फिर अनेक कष्टों को सहते हैं। ऐसे ही अन्यायों द्वारा तो पहले भी अनेक राजाओं-महाराजाओं का नाश हुआ है। और ठीक भी है जिस वायु से बड़े-बड़े

भवति जगति शूरः पण्डितो दिव्यलक्ष्मीपतिरिह सुखयुक्तः पुण्यपण्येन जीवः।
इति मनसि विचारं चारु कृत्वा सुभव्याः कुरुत जिनमतोक्तं सारपुण्यं सुखाय ॥३०॥

इति कथाकोशे परशुरामस्य कथा समाप्ता।

५७. सुकुमालमुनेः कथा

यन्नामस्मृतिमात्रेण प्राप्यते सारसम्पदा। तं प्रणम्य जिनं वक्ष्ये सुकुमालकथां मुदा ॥१॥
कौशाम्बीनगरे ख्याते संजातोऽतिबलो नृपः। पुरोहितोऽभवत्तस्य सोमशर्मा विचक्षणः ॥२॥
काश्यपी कामिनी तस्यां काश्यप्यां संबभूवतुः। अग्निभूतिस्तथा वायुभूतिनामा सुतोपि च ॥३॥
तौ द्वौ पुत्रौ प्रमादेन शास्त्राभ्यासं न चक्रतुः। विना पुण्येन जन्तूनां मुखाब्जे नैव भारती ॥४॥
सोमशर्मण्यतस्तस्मिन्कालव्याघ्रेन भक्षिते। पुरोहितपदं तस्य गृहीतं गोत्रिभिस्तदा ॥५॥
मूर्खत्वान्न तयोर्दत्तं भूभुजातिबलेन तत्। क्व भवेन्मूढजन्तूनां दानमानादिकक्रिया ॥६॥
ततस्तौ मानभङ्गेन गत्वा राजगृहं पुरम्। पितृव्यं सूर्यमित्राख्यं नत्वा वृत्तान्तमूचतुः ॥७॥
कैश्चिद्दिनैस्ततस्तेन सूर्यमित्रेण धीमता। नाना शास्त्राणि तावुच्चैः पाठितौ पोषितावपि ॥८॥

हाथी तक मर जाते हैं तब उसके सामने बेचारे कीट-पतंगादि छोटे-छोटे जीव तो ठहर कैसे सकते हैं। श्वेतराम ने कार्त्तवीर्य को परशु विद्या से मारा था, इसलिए फिर अयोध्या में वह 'परशुराम' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥२३-२९॥

संसार में जो शूरवीर, विद्वान्, सुखी, धनी हुए देखे जाते हैं वह पुण्य की महिमा है। इसलिए जो सुखी, विद्वान्, धनवान्, वीर आदि बनना चाहते हैं, उन्हें जिन भगवान् का उपदेश किया पुण्य-मार्ग ग्रहण करना चाहिए ॥३०॥

५७. सुकुमाल मुनि की कथा

जिनके नाम मात्र का ध्यान करने से हर प्रकार की धन-सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है, उन परम पवित्र जिन भगवान् को नमस्कार कर सुकुमाल मुनि की कथा लिखी जाती है ॥१॥

अतिबल कौशाम्बी के जब राजा थे, तब का यह आख्यान है। यहाँ एक सोमशर्मा पुरोहित रहता था, इसकी स्त्री का नाम काश्यपी था। इसके अग्निभूत और वायुभूति नामक दो लड़के हुए। माँ-बाप के अधिक लाड़ले होने से वे कुछ भी पढ़-लिख न सके और सच है पुण्य के बिना किसी को विद्या आती भी तो नहीं। काल की विचित्र गति से सोमशर्मा की असमय में ही मौत हो गई ये दोनों भाई तब निरे मूर्ख थे। इन्हें मूर्ख देखकर अतिबल ने उनके पिता का पुरोहित पद, जो उन्हें मिलता, किसी और को दे दिया। यह ठीक है कि मूर्खों का कहीं आदर-सत्कार नहीं होता। अपना अपमान हुआ देखकर उन दोनों भाइयों को बड़ा दुःख हुआ। तब उनकी कुछ अकल ठिकाने आई तब उन्हें कुछ लिखने-पढ़ने की सूझी। वे राजगृह में अपने काका सूर्यमित्र के पास गए और अपना

तौ विद्वांसौ ततो भूत्वा समागत्य निजं गृहम्। स्वविद्यां भूपतेस्तस्य दर्शयामासतुस्तराम् ॥९॥
स राजातिबलस्ताभ्यां पुरोहितपदं ददौ। सरस्वत्याः प्रसादेन किं न जायेत भूतले ॥१०॥
अथ राजगृहे तस्य सूर्यमित्रस्य चैकदा। सन्ध्यायां सरसो मध्ये सूर्यार्घं ददतो मुदा ॥११॥
मुद्रिका राजकीया च हस्ताद् ध्वस्ता जलान्विते। पद्मे सम्पतिता तत्र ततो भीतेन तेन तु ॥१२॥
मुनिं सुधर्मनामानं प्रणम्यावधिलोचनम्। प्रोक्तं मे मुद्रिका देव न जाने क्व गता मुने ॥१३॥
ब्रूहे भो करुणासिन्धो सा मया प्राप्यते कथम्। मुनिः प्राह सुधीः सास्ति तडागे कमलोपरि ॥१४॥
पुरोहितः प्रभातेऽसौ सूर्यमित्रश्च मुद्रिकाम्। दृष्ट्वा तस्मात्समादाय सन्तुष्टो मुनिपादयोः ॥१५॥
नत्वा जगाद योगीन्द्र विद्यां मे देहि धीधन। यया प्रश्न सुजानामि भवत्पादप्रसादतः ॥१६॥
तेनोक्तं मुनिना धीर जैनदीक्षां विना भुवि। विद्यैषा न समायाति ततोसौ सूर्यमित्रवाक् ॥१७॥
केवलं लोभतस्तस्य पादमूले मुनेर्मुदा। दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीं सर्वसिद्धिप्रदायिनीम् ॥१८॥

सब हाल उन्होंने उनसे कहा। उनकी पढ़ने की इच्छा देखकर सूर्यमित्र ने स्वयं उन्हें पढ़ाना शुरू किया और कुछ ही वर्षों में उन्हें अच्छा विद्वान् बना दिया। दोनों भाई जब अच्छे विद्वान् हो गए तब ये अपने शहर लौट आए। आकर उन्होंने अतिबल को अपनी विद्या का परिचय कराया। अतिबल उन्हें विद्वान् देखकर बहुत खुश हुआ और उनके पिता का पुरोहित-पद उसने उन्हें दे दिया। सच है सरस्वती की कृपा से संसार में क्या नहीं होता ॥२-१०॥

एक दिन सन्ध्या के समय सूर्यमित्र सूर्य को अर्घ चढ़ा रहा था। उसकी अंगुली में राजकीय एक रत्नजड़ी बहुमूल्य अँगूठी थी। अर्घ चढ़ाते समय वह अँगूठी अंगुली में से निकलकर महल के नीचे तालाब में जा गिरी। भाग्य से वह एक खिले हुए कमल में पड़ी। सूर्य अस्त होने पर कमल मुँद गया। अंगूठी कमल के अन्दर बन्द हो गई। सूर्यमित्र पाठ करके उठा और उसकी नजर उँगली पर पड़ी तब उसे मालूम हुआ कि अँगूठी कहीं पर गिर पड़ी। अब तो उसके डर का कुछ ठिकाना न रहा। राजा जब अँगूठी माँगेगा तब उसे क्या जवाब दूँगा, इसकी उसे बड़ी चिन्ता होने लगी। अँगूठी की शोध के लिए इसने बहुत कुछ यत्न किया, पर इसे उसका कुछ पता न चला। तब किसी के कहने से यह अवधिज्ञानी सुधर्म मुनि के पास गया और हाथ जोड़कर इसने उनसे अँगूठी के बाबत पूछा कि प्रभो, कृपा कर मुझे आप यह बतलावेंगे कि मेरी अँगूठी कहाँ चली गई और हे करुणा के समुद्र, वह कैसे प्राप्त होगी? मुनि ने उत्तर में यह कहा कि सूर्य को अर्घ देते समय तालाब में एक खिले हुए कमल में अँगूठी गिर पड़ी है। वह सबेरे मिल जायेगी। वही हुआ। सूर्योदय होते ही जैसे कमल खिला सूर्यमित्र को उसमें अँगूठी मिली। सूर्यमित्र बड़ा खुश हुआ। उसे इस बात का बड़ा अचम्भा होने लगा कि मुनि ने यह बात कैसे बतलाई? हो न हो, उनसे अपने को भी वह विद्या सीखनी चाहिए। यह विचार कर सूर्यमित्र, मुनिराज के पास गया। उन्हें नमस्कार कर उसने प्रार्थना की कि हे योगिराज, मुझे भी आप अपनी विद्या सिखा दीजिये, जिसमें मैं भी दूसरों के ऐसे प्रश्नों

पुनः पुनश्च तां विद्यां संपृच्छन्भक्तितस्तदा। क्रियागमं जिनन्द्रोक्तं पाठितो गुरुणाखिलम् ॥१९॥
ततोऽसौ गुरुसद्वाक्यप्रदीपोद्योतनेन च। हत्वाज्ञानतमस्तोमं संजातो धर्मतत्त्ववित् ॥२०॥
येन भव्येन सद्भक्त्या गुरुः सन्मार्गदर्शकः। आराधितो जगद्बन्धुः किं न सिद्ध्यति तस्य वै ॥२१॥
ततः श्रीजैनसद्धर्मे भूत्वा यो प्रौढधीर्मुनिः। पृष्ट्वा गुरुसुधर्माख्यमेकाकी विहरन्भुवि ॥२२॥
कौशाम्बीं नगरीं गत्वा चर्यार्थं युक्तितो भ्रमन्। सूर्यमित्रो मुनिर्धीमानग्निभूतिगृहं गतः ॥२३॥
तदाग्निभूतिना तेन महाभक्त्या प्रयुक्तितः। अन्नदानं जगत्सारं तस्मै दत्तं सुखप्रदम् ॥२४॥
वायुभूतिर्लघुभ्राता प्रेरितश्चाप्यनेन तु। स तस्मै वन्दनां नैव चक्रे चक्रे च निन्दनम् ॥२५॥
भाविदुर्गतिभाक्प्राणी सद्धर्मे प्रेरितोपि च। कदाचिन्न रतो मूढ भवेत्पापात्कुकर्मसु ॥२६॥
अग्निभूतः सुपूतात्मा सूर्यमित्रं मुनीश्वरम्। अनुव्रजन्कियन्मार्गं धर्ममाकर्ण्य शर्मदम् ॥२७॥
त्रिधा वैराग्यमापन्नोऽसौ गृहीत्वा तपस्तराम्। मुनिर्जातो लसद्भक्त्या सुधीः स्वपरतारकः ॥२८॥

का उत्तर दे सकूँ। आपकी मुझ पर बड़ी कृपा होगी, यदि आप मुझे अपनी यह विद्या पढ़ा देंगे। तब मुनिराज ने कहा–भाई, मुझे इस विद्या के सिखाने में कोई इंकार नहीं है। पर बात यह है कि बिना जिनदीक्षा लिए यह विद्या आ नहीं सकती। सूर्यमित्र तब केवल विद्या के लोभ से दीक्षा लेकर मुनि हो गया। मुनि होकर उसने गुरु से विद्या सिखाने को कहा। सुधर्म मुनिराज ने तब सूर्यमित्र को मुनियों के आचार–विचार के शास्त्र तथा सिद्धान्त–शास्त्र पढ़ायें। अब तो एकदम सूर्यमित्र की आँखें खुल गई यह गुरु के उपदेश रूपी दिये के द्वारा अपने हृदय के अज्ञानान्धकार को नष्ट कर जैनधर्म का अच्छा विद्वान् हो गया। सच है, जिन भव्य पुरुषों ने सच्चे मार्ग को बतलाने वाले और संसार के अकारण बन्धु गुरुओं की भक्ति सहित सेवा–पूजा की है, उनके सब काम नियम से सिद्ध हुए हैं ॥११–२१॥

जब सूर्यमित्र मुनि अपने मुनिधर्म में खूब कुशल हो गए तब वे गुरु की आज्ञा लेकर अकेले ही विहार करने लगे। एक बार वे विहार करते हुए कौशाम्बी में आए। अग्निभूत ने इन्हें भक्तिपूर्वक दान दिया। उसने अपने छोटे भाई वायुभूति से बहुत प्रेरणा और आग्रह इसलिए किया कि वह सूर्यमित्र मुनि की वन्दना करें, उसे जैनधर्म से कुछ प्रेम हो। कारण वह जैनधर्म से सदा विरुद्ध रहता था पर अग्निभूति के इस आग्रह का परिणाम उल्टा हुआ। वायुभूति ने और खिसियाकर मुनि की अधिक निन्दा की और उन्हें बुरा–भला कहा। सच है–जिन्हें दुर्गतियों में जाना होता है प्रेरणा करने पर भी ऐसे पुरुषों का श्रेष्ठ धर्म की ओर झुकाव नहीं होता किन्तु वह उल्टा पाप कीचड़ में अधिक–अधिक फँसता है। अग्निभूति को अपने भाई की ऐसी दुर्बुद्धि पर बड़ा दुःख हुआ। यही कारण था कि जब मुनिराज आहार कर वन में गए तब अग्निभूति भी उनके साथ–साथ चला गया और वहाँ धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य हो जाने से दीक्षा लेकर वह भी तपस्वी हो गया। अपना और दूसरों का हित करना अग्निभूति के जीवन का उद्देश्य हुआ ॥२२–२८॥

अग्निभूतप्रिया या च सोमदत्ता महासती। श्रुत्वा तां स्वपतेर्वार्तां दुःखतो देवरं जगौ ॥२९॥
वायुभूते त्वया पापान्न कृता मुनिवन्दना। कृतं तन्निन्दनं चापि रे कुधीस्तन्निमित्ततः ॥३०॥
भ्राता ते स मुनिर्जातो महावैराग्यतो ध्रुवम्। तच्छ्रुत्वा कोपतस्तेन पापिना वायुभूतिना ॥३१॥
गच्छ गच्छ त्वकं चापि पार्श्वे नग्नस्य तस्य च। विटलस्याशुचेश्चेति प्रोक्त्वा पादेन सा हता ॥३२॥
सोमदत्ता तदा श्रुत्वा तद्वाक्यं कष्टकोटिदम्। जन्मान्तरे सपुत्राहं पादं ते सुखदायकम् ॥३३॥
भक्षयिष्यामि मूढात्मा निदानं सा करोदिति। धिङ्मूढत्वं यतो मूढा भस्मीकुर्वन्ति सच्छुभम् ॥३४॥
वायुभूतिस्तु पापात्मा मुनिनिन्दाप्रभावतः। उदुम्बरोरुकुष्ठेन पीडितः सप्तभिर्दिनैः ॥३५॥
यो मुनिस्त्रिजगत्पूज्यो धर्ममार्गोपदेशकः। तन्निन्दको महापापी किं कष्टं न प्रयाति सः ॥३६॥
मृत्वा ततः कुधीः सोपि दुष्टकष्टप्रकष्टतः। कौशाम्बीनगरे तत्र नटस्याजनि गर्दभी ॥३७॥
तत्रैव सा पुनर्मृत्वा संजाता शूकरी ततः। चम्पापुर्यां स्वपापेन जाता चाण्डालकुक्करी ॥३८॥

अग्निभूति के मुनि हो जाने की बात जब उसकी स्त्री सती सोमदत्ता को ज्ञात हुई तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ। उसने वायुभूति से जाकर कहा–देखा, तुमने मुनि वन्दना न कर उनकी बुराई की, सुनती हूँ उससे दुःखी होकर तुम्हारे भाई भी मुनि हो गए। यदि वे अब तक मुनि न हुए हों तो चलो उन्हें तुम हम समझा लावें। वायुभूति ने गुस्सा होकर कहा–हाँ तुम्हें गर्ज हो तो तुम भी उस बदमाश नंगे के पास जाओ! मुझे तो कुछ गर्ज नहीं है। यह कहकर वायुभूति अपनी भौजी को एक लात मारकर चलता बना। सोमदत्ता को उसके मर्मभेदी वचनों को सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उसे क्रोध भी अत्यन्त आया। पर अबला होने से वह उस समय कर कुछ नहीं कर सकी। तब उसने निदान किया कि पापी, तूने जो इस समय मेरा मर्म भेदा है और मुझे लातों से ठुकराया है, और इसका बदला स्त्री होने से मैं इस समय न ले सकी तो कुछ चिन्ता नहीं, पर याद रख इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में सही, पर बदला लूँगी अवश्य। तेरे इसी पाँव को, जिससे कि तूने मुझे लात मारी है और मेरे हृदय भेदने वाले तेरे इसी हृदय को मैं खाऊँगी तभी मुझे सन्तोष होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी मूर्खता को धिक्कार है जिसके वश हुए प्राणी अपने पुण्य-कर्म को ऐसे नीच निदानों द्वारा भस्म कर डालते हैं ॥२९-३४॥

''इस हाथ दे उस हाथ ले'' इस कहावत के अनुसार तीव्र पाप का फल प्रायः तुरन्त मिल जाता है। वायुभूति ने मुनिनिन्दा द्वारा जो तीव्र पापकर्म बाँधा, उसका फल उसे बहुत जल्दी मिल गया। पूरे सात दिन भी न हुए होंगे कि वायुभूति के सारे शरीर में कोढ़ निकल आया। सच है–जिनकी सारा संसार पूजा करता है और जो धर्म के सच्चे मार्ग को दिखाने वाले हैं ऐसे महात्माओं की निन्दा करने वाला पापी पुरुष किन महाकष्टों को नहीं सहता। वायुभूति कोढ़ के दुःख से मरकर कौशाम्बी में ही एक नट के यहाँ गधा हुआ। गधा मरकर वह जंगली सूअर हुआ। इस पर्याय से मरकर इसने चम्पापुर में एक चाण्डाल के यहाँ कुत्ती का जन्म धारण किया, कुत्ती मरकर चम्पापुरी में ही एक

चम्पायां च पुनस्तत्र जाता चाण्डालपुत्रिका। दुष्टदुर्गन्धसंयुक्ता चक्षुषान्धा स्वकर्मणा ॥३९॥
जम्बूवृक्षतले कष्टाद्भक्षयन्ती च तत्फलं। दृष्ट्वा चाण्डालपुत्रीं तां कर्मयोगेन धीधनः ॥४०॥
अग्निभूतिमुनिः प्राह सूर्यमित्रं गुरुं प्रति। वराकीयं महाकष्टं हा कथं जीवति क्षितौ ॥४१॥
तच्छ्रुत्वा सूर्यमित्रेण प्रोक्ते संज्ञानचक्षुषा। तवेयं सोमदत्ता तु प्रिया धर्मपराङ्मुखः ॥४२॥
मुनिनिन्दापापतः कुष्ठी मृत्वा भूत्वा च गर्दभी। शूकरी कुक्करी चापि जाता चाण्डालपुत्रिका ॥४३॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण प्रोल्लसत्करुणाधिया। ग्राहिता शर्मदान्युच्चैः सा पंचाणुव्रतानि च ॥४४॥
ततो मृत्वा च चम्पायां नागशर्माभिधस्य सा। पुरोहितस्य संजाता नागश्रीर्नाम कन्यका ॥४५॥
नागोद्याने तदा श्रेष्ठि-मंत्रिकन्यादिभिः सह। एकदा नागपूजार्थं सा गता तत्र पुण्यतः ॥४६॥
सूर्यमित्राग्निभूती तौ समायातौ मुनीश्वरौ। दृष्ट्वा सद्भावतः सा च तयोः पार्श्वे स्थिता तदा ॥४७॥
नागश्रियं समालोक्य तां कन्यां च लघोर्मुनेः। पूर्वजन्मस्वसम्बन्धात्स्नेहोभून्मानसे तराम् ॥४८॥
पृष्टेन सूर्यमित्रेण संप्रोक्ते स्नेहकारणे। ततोग्निभूतिना तस्यै सारसम्यक्त्वपूर्वकम् ॥४९॥
अणुव्रतानि पञ्चैव दत्वा प्रोक्तं च बालिके। व्रतान्येतानि ते तातो यदि त्याजयति त्वया ॥५०॥

दूसरे चाण्डाल के यहाँ लड़की हुई वह जन्म से ही अन्धी थी। उसका सारा शरीर बदबू दे रहा था। इसलिए उसके माता-पिता ने उसे छोड़ दिया। पर भाग्य सभी का बलवान् होता है। इसलिए उसकी भी किसी तरह रक्षा हो गई। वह एक जांबू के झाड़-नीचे पड़ी-पड़ी जांबू खाया करती थी ॥३५-४०॥

सूर्यमित्र मुनि अग्निभूति को साथ लिए हुए भाग्य से इस ओर आ निकले। उस जन्म की दुःखिनी लड़की को देखकर अग्निभूति के हृदय में कुछ मोह, कुछ दुःख हुआ। उन्होंने गुरु से पूछा-प्रभो, इसकी दशा बड़ी कष्ट में है। यह कैसे जी रही हैं? ज्ञानी सूर्यमित्र मुनि ने कहा-तुम्हारा भाई वायुभूति ने धर्म से पराङ्गमुख होकर जो मेरी निन्दा की थी, उसी पाप के फल से उसे कई भव पशुपर्याय में लेना पड़े। अन्त में वह कुत्ती की पर्याय से मरकर यह चाण्डाल कन्या हुई है। पर अब इसकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है। इसलिए जाकर तुम इसे व्रत लिवाकर संन्यास दे आओ। अग्निभूति ने वैसा ही किया। उस चाण्डाल कन्या को पाँच अणुव्रत देकर उन्होंने संन्यास लिवा दिया ॥४१-४४॥

चाण्डाल कन्या मरकर व्रत के प्रभाव से चम्पापुरी में नागशर्मा ब्राह्मण के यहाँ नागश्री नाम की कन्या हुई। एक दिन नागश्री वन में नागपूजा करने को गई थी। पुण्य से सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनि भी विहार करते हुए इस ओर आ गए। उन्हें देखकर नागश्री के मन में उनके प्रति अत्यन्त भक्ति हो गई वह उनके पास गई और हाथ जोड़कर उनके पाँवों के पास बैठ गई। नागश्री को देखकर अग्निभूति मुनि के मन में कुछ प्रेम का उदय हुआ और होना उचित ही था क्योंकि थे तो वह उनके पूर्वजन्म के भाई न? अग्निभूति मुनि ने इसका कारण अपने गुरु से पूछा। उन्होंने प्रेम होने का कारण जो पूर्व जन्म का भातृ-भाव था, वह बता दिया। तब अग्निभूति ने उसे धर्म का उपदेश किया और सम्यक्त्व तथा पाँच अणुव्रत उसे ग्रहण करवाये। नागश्री व्रत ग्रहण कर जब जाने लगी तब उन्होंने उससे कह दिया कि हाँ, देख बच्ची, तुझसे यदि तेरे पिताजी इन व्रतों को लेने के लिए नाराज हों,

अत्रागत्य पुनः पुत्रि दीयन्ते मे गुणोज्ज्वले। भवन्ति मुनयो धीराः सत्यं सन्मार्गदर्शकाः ॥५१॥
ततोऽसौ भक्तिभारेण नत्वा तौ द्वौ मुनीश्वरौ। नागश्रीः स्वगृहं प्राप्ता यावच्चित्ते प्रमोदतः ॥५२॥
अन्याभिर्लोककन्याभिः श्रुत्वा तां वार्त्तिकां तदा। नागशर्मद्विजेनोक्तं भो सुते मुग्धमानसे ॥५३॥
अस्माकं न कुले युक्तं ब्राह्मणानां मुनेर्व्रतम्। कर्तुं पुत्रि ततः शीघ्रं त्यज त्वं व्रतसञ्चयम् ॥५४॥
तत्समाकर्ण्य सावोचत्तर्हि तानि व्रतानि तु। समर्पयामि तस्यैव मुनेश्चैतानि निश्चयात् ॥५५॥
ततस्तां स्वकरे धृत्वा ब्राह्मणः कोपसंयुतः। वने तन्मुनिसान्निध्ये संचचाल प्रवेगतः ॥५६॥
मार्गे तया प्रगच्छन्त्या शूलाभ्यर्णे सुकष्टतः। वाद्यमाने कुवादित्रे जाते कोलाहले स्वरे ॥५७॥
बद्धमेकं नरं दृष्ट्वा पृष्टोसौ कन्यया द्विजः। किमर्थं कष्टतो बद्धस्तातायं ब्रूहि कारणम् ॥५८॥
तेनोक्तं वरसेनाख्यो याचमानो निजं धनम्। मारितोत्र वणिक्पुत्रः पुत्रि चानेन पापिना ॥५९॥
तस्मादयं प्रकष्टेन मार्यते राजकिंकरैः। तन्निशम्य सुता प्राह शृणु त्वं तात मे वचः ॥६०॥
एतद्व्रतं जगत्सारं दत्तं मे मुनिना सुधीः। कथं सन्त्यज्यते धीर महाशर्मविधायकम् ॥६१॥
विप्रः प्राह सुते चैतद्व्रतं तिष्ठतु साम्प्रतम्। पश्चादन्यानि दीयन्ते तस्मै नग्नाय बालिके ॥६२॥

तो तू हमारे व्रत हमें ही आकर सौंप जाना। सच है, मुनि लोग वास्तव में सच्चे मार्ग के दिखाने वाले होते हैं ॥४५-५१॥

इसके बाद नागश्री उन मुनिराजों के भक्ति से हाथ जोड़कर और प्रसन्न होती हुई अपने घर पर आ गई। नागश्री के साथ की और लड़कियों ने उसके व्रत लेने की बात को नागशर्मा से जाकर कह दिया। नागशर्मा तब कुछ क्रोध का भाव दिखाकर नागश्री से बोला–बच्ची, तू बड़ी भोली है, जो झट से हर एक के बहकाने में आ जाती है। भला, तू नहीं जानती कि अपने पवित्र ब्राह्मण-कुल में नंगे मुनियों के दिये व्रत नहीं लिए जाते। वे अच्छे लोग नहीं होते। इसलिए उनके व्रत तू छोड़ दे। तब नागश्री बोली–तो पिताजी, उन मुनियों ने मुझे आते समय यह कह दिया था कि यदि तुझसे तेरे पिताजी इन व्रतों को छोड़ देने के लिए आग्रह करें तो तू हमारे व्रत हमें ही दे जाना। तब आप चलिए मैं उन्हें उनके व्रत दे आती हूँ। सोमशर्मा नागश्री का हाथ पकड़े क्रोध से गुर्राता हुआ मुनियों के पास चला। रास्ते में नागश्री ने एक जगह कुछ गुलगपाड़ा होता सुना। उस जगह बहुत से लोग इकट्ठे हो रहे थे और एक मनुष्य उनके बीच में बँधा हुआ पड़ा था। उसे कुछ निर्दयी लोग बड़ी क्रूरता से मार रहे थे। नागश्री ने उसकी यह दशा देखकर सोमशर्मा से पूछा–पिताजी, बेचारा यह पुरुष इस प्रकार निर्दयता से क्यों मारा जा रहा है? सोमशर्मा बोला–बच्ची, इस पर एक बनिये के लड़के वरसेन का कुछ रुपया लेना था। उसने इससे अपने रुपयों का तकादा किया। इस पापी ने उसे रुपया न देकर जान से मार डाला। इसलिए उस अपराध के बदले अपने राजा साहब ने उसे प्राणदंड की सजा दी है और वह योग्य है क्योंकि एक को ऐसी सजा मिलने से अब दूसरा कोई ऐसा अपराध न करेगा। तब नागश्री ने जरा जोर देकर कहा–तो पिताजी, यही व्रत तो उन मुनियों ने मुझे दिया है, फिर आप उसे क्यों छुड़ाने को कहते हैं? सोमशर्मा लाजबाब होकर बोला–अस्तु पुत्री, तू इस व्रत को न छोड़, चल

ततश्चाग्रे प्रगच्छन्त्या दृष्ट्वा नागश्रिया परम्। बद्धं तथा द्विजः पृष्टः संजगादेति पुत्रिके ॥६३॥
वणिक्नारदनामासौ व्यलीकवचनैः कुधीः। जनानां वञ्चनं पुत्रि करोत्यत्र स्वपापतः ॥६४॥
तद्दोषेण सुते चायं हन्यते पापधीरिह। शेषं वक्तव्यमत्रापि ज्ञातव्यं पूर्ववद्बुधैः ॥६५॥
एवं चोर्यपरस्त्रीकभूरिलोभाश्रिताञ्जनान्। नागशर्मा द्विजः प्रोक्त्वा पुनः प्राह सुतां प्रति ॥६६॥
अहो पुत्रि प्रतिष्ठन्तु व्रतान्येतानि किं तु वै। त्वमागच्छ मुनिः सोपि तर्ज्यते वचनोत्करैः ॥६७॥
येनासौ परबालानां व्रतं नैवं ददात्यतः। दुर्जनो न भवत्येव सर्वथा सुजनैः रतः ॥६८॥
ततो गत्वा सुदूरस्थो द्विजो कोपाग्निपूरितः। जगौ किं रे मुने नग्न वंचिता मत्सुता व्रतैः ॥६९॥
हा कष्टं मूर्खजन्तूनां चेष्टितं पापकर्मणाम्। व्रतैः शीलैः शुभोपेतै-र्वंचितः कोपि किं भुवि ॥७०॥
सूर्यमित्रेण संप्रोक्तं भो विप्रेयं सुता मम। नागश्रीर्न त्वदीया च सर्वथा भणितापि सा ॥७१॥
एहि पुत्रीति मत्पार्श्वे तच्छ्रुत्वा सा च कन्यका। भट्टारकस्य सान्निध्ये गत्वोच्चैः संस्थिता तदा ॥७२॥

बाकी के व्रत तो उनके उन्हें दे आवें। आगे चलकर नागश्री ने एक और पुरुष को बँधा देखकर पूछा–और पिताजी, यह पुरुष क्यों बाँधा गया है? सोमशर्मा ने कहा–पुत्री, यह झूठ बोलकर लोगों को ठगा करता था। इसके फन्दे में फँसकर बहुतों को दर-दर का भिखारी बनना पड़ा है। इसलिए झूठ बोलने के अपराध में इसकी यह दशा की जा रही है ॥५२-६४॥

तब फिर नागश्री ने कहा–तो पिताजी, यही व्रत तो मैंने भी लिया है। अब तो मैं उसे कभी नहीं छोड़ूँगी। इस प्रकार चोरी, परस्त्री, लोभ आदि से दुःख पाते हुए मनुष्यों को देखकर नागश्री ने अपने पिता को लाजबाव कर दिया और व्रतों को नहीं छोड़ा। तब सोमशर्मा ने हार खाकर कहा–अच्छा, यदि तेरी इच्छा इन व्रतों को छोड़ने की नहीं है तो न छोड़, पर तू मेरे साथ उन मुनियों के पास तो चल। मैं उन्हें दो बातें कहूँगा कि तुम्हें क्या अधिकार था जो तुमने मेरी लड़की को बिना मेरे पूछे व्रत दे दिये? फिर वे आगे से किसी को इस प्रकार व्रत न दे सकेंगे। सच है, दुर्जनों को कभी सत्पुरुषों से प्रीति नहीं होती। तब ब्राह्मण देवता अपनी होंश निकालने को मुनियों के पास चले। उसने उन्हें दूर से ही देखकर गुस्से से आकर कहा–क्यों रे नंगे! तुमने मेरी लड़की को व्रत देकर क्यों ठग लिया? बतलाओ, तुम्हें इसका क्या अधिकार था? कवि कहता है कि ऐसे पापियों के विचारों को सुनकर बड़ा ही खेद होता है। भला, जो व्रत, शील, पुण्य के कारण हैं, उनसे क्या कोई ठगाया जा सकता है? नहीं। सोमशर्मा को इस प्रकार गुस्सा हुआ देखकर सूर्यमित्र मुनि बड़ी धीरता और शान्ति के साथ बोले–भाई, जरा धीरज धर, क्यों इतनी जल्दी कर रहा है? मैंने इसे व्रत दिये हैं, पर अपनी लड़की समझकर और सच पूछो तो यह है भी मेरी ही लड़की। तेरा तो इस पर कुछ भी अधिकार नहीं है। तू भले ही यह कह कि यह मेरी लड़की है, पर वास्तव में यह तेरी लड़की नहीं है ॥६५-७१॥

यह कहकर सूर्यमित्र मुनि ने नागश्री को पुकारा। नागश्री झट से आकर उनके पास बैठ गई

अन्यायोन्यायकश्चेति कुर्वन्पूत्कारकं द्विजः। गत्वा चम्पापुरीमध्ये चन्द्रवाहनभूपतिम् ॥७३॥
जगौ देव मुनीन्द्रेण गृहीता मत्सुता हठात्। तच्छ्रुत्वा सर्वलोकानामाश्चर्यं समभूद्हृदि ॥७४॥
ततः सर्वजनैर्युक्तश्चन्द्रवाहनभूपतिः। समागत्य मुनेः पार्श्वे नत्वां तं कौतुकाश्रितः ॥७५॥
मदीयासौ मदीयासौ पुत्रिका मुनिविप्रयोः। विवादे चेति संजाते जगौ भट्टारकस्तदा ॥७६॥
चतुर्दश लसद्विद्या पाठितासौ मया प्रभो। मदीयेयं ततः पुत्री तच्छ्रुत्वा स नृपोवदत् ॥७७॥
यद्येवं भो मुनिस्वामिन्पाठयेमां स्वकन्यकाम्। सूर्यवत्सूर्यमित्रोसौ स्ववाक्यकिरणैस्तदा ॥७८॥
जगच्चित्तस्थमूढत्वप्रौढान्धतिमिरं हरन्। मुनिः प्राहेति भो वायुभूते संपठ्यते त्वया ॥७९॥
तच्छुत्वा प्रोल्लसद्विद्याः पूर्वजन्माश्रितास्तया। नागश्रिया महाश्चर्यं प्रव्यक्तं पठितास्तदा ॥८०॥
विस्मितेन नरेन्द्रेण प्रोक्तं नत्वा मुनीश्वरम्। महामुने स्वसम्बन्धं ब्रूहि भो करुणाकर ॥८१॥
संज्ञानलोचनोवोचत्तदासौ मुनिसत्तमः। वायुभूतिभवादेस्तु साक्षात्पूर्वप्रचेष्टितम् ॥८२॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोक्तं परमाश्चर्य कारणम्। ज्ञात्वा मोहादिकं सर्वं मानसे दुःखकारणम् ॥८३॥

अब तो ब्राह्मण देवता बड़े घबराये। वे 'अन्याय' 'अन्याय' चिल्लाते हुए राजा के पास पहुँचे और हाथ जोड़कर बोले-देव, नंगे साधुओं ने मेरी नागश्री लड़की को जबरदस्ती छुड़ा लिया। वे कहते हैं कि यह तेरी लड़की नहीं किन्तु हमारी लड़की है। राजाधिराज, सारा शहर जानता है कि नागश्री मेरी लड़की है। महाराज, उन पापियों से मेरी लड़की दिलवा दीजिए। सोमशर्मा की बात से सारी राज-सभा बड़े विचार में पड़ गई। राजा की अकल में कुछ न आया। तब वे सबको साथ लिए मुनि के पास आए और उन्हें नमस्कार कर बैठ गए। फिर यही झगड़ा उपस्थित हुआ। सोमशर्मा तो नागश्री को अपनी लड़की बताने लगा और सूर्यमित्र मुनि अपनी। मुनि बोले-अच्छा, यदि यह तेरी लड़की है तो बतला तूने इसे क्या पढ़ाया? और सुन, मैंने इसे सब शास्त्र पढ़ायें है, इसलिए मैं अभिमान से कहता हूँ कि यह मेरी लड़की है। तब राजा बोले-अच्छा प्रभो, यह आपकी ही लड़की सही, पर आपने इसे जो पढ़ाया है उसकी परीक्षा इसके द्वारा दिलवाइए। जिससे कि हमें विश्वास हो। तब सूर्यमित्र मुनि अपने वचनरूपी किरणों द्वारा लोगों के चित्त में ठसे हुए मूर्खतारूप गाढ़े अन्धकार को नाश करते हुए बोले-हे नागश्री, हे पूर्वजन्म में वायुभूति का भव धारण करने वाली, पुत्री, तुझे मैंने जो पूर्वजन्म में कई शास्त्र पढ़ायें हैं, उनकी इस उपस्थित मंडली के सामने तू परीक्षा दे। सूर्यमित्र मुनि का इतना कहना हुआ कि नागश्री ने जन्मान्तर का पढ़ा-पढ़ाया सब विषय सुना दिया। राजा तथा और सब मंडली को इससे बड़ा अचम्भा हुआ। उन्होंने मुनिराज से हाथ जोड़कर कहा-प्रभो, नागश्री की परीक्षा से उत्पन्न हुआ विनोद हृदयभूमि में अठखेलियाँ कर रहा है। इसलिए कृपाकर आप अपने और नागश्री के सम्बन्ध की सब बातें खुलासा करिए। तब अवधिज्ञानी सूर्यमित्र मुनि ने वायुभूति के भव से लगाकर नागश्री के जन्म तक की सब घटना उनसे कह सुनाई सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्हें यह सब मोह की लीला जान पड़ी। मोह ही सब दुःख

चन्द्रवाहनभूपालो महावैराग्ययोगतः। भूरि राजसुतैः सार्द्धं जिनदीक्षां गृहीतवान् ॥८४॥
स विप्रो नागशर्मापि श्रुत्वा धर्मम् जिनेशिनाम्। मुनिर्भूत्वाऽच्युते स्वर्गे देवोभूत्पुण्यपावनः ॥८५॥
नागश्रीश्च जिनेन्द्रोक्तं तपः कृत्वा स्वपुण्यतः। तत्रैवाच्युतकल्पेसौ देवो जातो महर्द्धिकः ॥८६॥
अहो भव्य जगत्सारो गुरुश्चिन्तामणिर्यथा। यत्प्रसादेन जन्तूनां सम्पदा विविधाः सदा ॥८७॥
अग्निमन्दरसच्छैले सूर्यमित्राग्निभूतिकौ। तौ मुनीन्द्रौ जगद्वन्द्यौ घातिकर्मक्षयंकरौ ॥८८॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य भूत्वा त्रैलोक्यपूजितौ। संप्राप्तौ परमानन्द-दायकौ मोक्षमक्षयम् ॥८९॥
तौ द्वौ सत्केवलज्ञानलौचनौ श्रीजिनेश्वरौ। अस्माकं भवतां नित्यं सच्छ्रिये भुवनोत्तमौ ॥९०॥
अथावन्तिलसद्देशे विख्यातोज्जयिनीपुरे। इन्द्रदत्तो महाश्रेष्ठी परमेष्ठीप्रभक्तिमान् ॥९१॥
श्रेष्ठिनी गुणवत्याख्या रूपसौभाग्यमण्डिता। तस्या गर्भे समागत्य स्वर्गादच्युतसंज्ञकात् ॥९२॥
नागशर्मचरो देवः पूर्वपुण्यप्रसादतः। पुत्रः सुरेन्द्रदत्ताख्यः संजातो सुगुणान्वितः ॥९३॥
तत्रैव नगरे श्रीमत्सुभद्रश्रेष्ठिनः सुताम्। यशोभद्रां सुरेन्द्रादिदत्तोसौ परिणीतवान् ॥९४॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानौ तौ स्थितौ पूर्वपुण्यतः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तधर्मकर्मसुतत्परौ ॥९५॥

का मूल कारण समझ कर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ। वे उसी समय और भी बहुत से राजाओं के साथ जिनदीक्षा ग्रहण कर गए। सोमशर्मा भी जैनधर्म का उपदेश सुनकर मुनि हो गया और तपस्या कर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ। इधर नागश्री को अपना पूर्व का हाल सुनकर बड़ा वैराग्य हुआ। वह दीक्षा लेकर आर्यिका हो गई और अन्त में शरीर छोड़कर तपस्या के फल से अच्युत स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुई अहा! संसार में गुरु चिन्तामणि के समान हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं। यही कारण है कि जिनकी कृपा से जीवों को सब सम्पदाएँ प्राप्त हो सकती है ॥७२-८७॥

यहाँ से विहार कर सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज अग्निमन्दिर नाम के पर्वत पर पहुँचे। वहाँ तपस्या द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और त्रिलोकपूज्य हो अन्त में बाकी के कर्मों का भी नाश कर परम सुखमय, अक्षयानन्त मोक्ष लाभ किया। वे दोनों केवलज्ञानी मुनिराज मुझे और आप लोगों को उत्तम सुख की भीख दें ॥८८-९०॥

अवन्ति देश के प्रसिद्ध उज्जैन शहर में एक इन्द्रदत्त नाम का सेठ था। वह बड़ा धर्मात्मा और जिनभगवान् का सच्चा भक्त था। उसकी स्त्री का नाम गुणवती था। वह नाम के अनुसार सचमुच गुणवती और बड़ी सुन्दरी थी। सोमशर्मा का जीव, जो अच्युत स्वर्ग में देव हुआ था वह, वहाँ अपनी आयु पूरी कर पुण्य के उदय से इस गुणवती सेठानी के सुरेन्द्रदत्त नाम का सुशील और गुणी पुत्र हुआ। सुरेन्द्रदत्त का ब्याह उज्जैन में रहने वाले सुभद्र सेठ की लड़की यशोभद्रा के साथ हुआ। उनके घर में किसी बात की कमी नहीं थी। पुण्य के उदय से उन्हें सब कुछ प्राप्त था। इसलिए बड़े सुख के साथ उनके दिन बीतते थे। वे अपनी इस सुख अवस्था में भी धर्म को न भूलकर सदा उसमें सावधान रहा करते थे ॥९१-९५॥

एकदा सा यशोभद्रा प्रणम्यावधिलोचनम्। मुनिं प्राह सुधीर्मेऽत्र पुत्रो भावी न वा मुने ॥९६॥
तेनोक्तं श्रीमुनीन्द्रेण भो सुते संभविष्यति। पुत्रस्ते नैव सन्देहो भव्यानामग्रणीः सुधीः ॥९७॥
भर्त्ता सुरेन्द्रदत्तस्ते दृष्ट्वा तन्मुखपंकजम्। ग्रहीष्यति ध्रुवं जैनीं दीक्षां स्वर्मोक्षदायिनीम् ॥९८॥
सोपि पुत्रि सुतस्ते तु सुधीः सन्मुनिदर्शनात्। त्यक्त्वा भोगान्विशुद्धात्मा तपः शीघ्रं गृहीष्यति ॥९९॥
ततः कैश्चिद्दिनैः सापि यशोभद्रा गुणोज्ज्वलम्। नागश्रीचरदेवं तं संप्राप्ता सुतमुत्तमम् ॥१००॥
महोत्सवशतैस्तत्र बन्धुभिः परमादरात्। सुकुमाल इति व्यक्तं प्रोक्तः शर्मप्रदायकः ॥१०१॥
श्रेष्ठी सुरेन्द्रदत्तस्तु दृष्ट्वा तं तनयं तदा। दत्वा श्रेष्ठिपदं तस्मै मुनिर्जातो जगद्धितः ॥१०२॥
ततोसौ पूर्वपुण्येन श्रेष्ठी श्रीसुकुमालवाक्। नवयौवनमासाद्य परिणीय कुलोत्तमाः ॥१०३॥
द्वात्रिंशत्प्रोल्लसत्कन्या रूपलावण्यमण्डिताः। नित्यं ताभिः प्रभुञ्जानो दिव्यान्भोगान्सुखं स्थितः ॥१०४॥
तन्माता च यशोभद्रा स्वगेहे पुत्रमोहतः। मुनीनामपि तत्रोच्चैः प्रवेशं सा निराकरोत् ॥१०५॥
उज्जयिन्यां समागत्य केनचिच्चैकदा तदा। राज्ञः प्रद्योतनाम्नश्च दर्शितो रत्नकम्बलः ॥१०६॥

एक दिन यशोभद्रा ने एक अवधिज्ञानी मुनिराज से पूछा–क्यों योगिराज, क्या मेरी आशा इस जन्म में सफल होगी? मुनिराज यशोभद्रा का अभिप्राय जानकर कहा–हाँ होगी और अवश्य होगी। तेरे होने वाला पुत्र भव्य मोक्ष में जाने वाला, बुद्धिमान् और अनेक अच्छे-अच्छे गुणों का धारक होगा। पर साथ ही एक चिन्ता की बात यह होगी कि तेरे स्वामी पुत्र का मुख देखकर ही जिनदीक्षा ग्रहण कर जाएँगे, जो दीक्षा स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाली है। अच्छा, और एक बात यह है कि तेरा पुत्र भी जब कभी किसी जैन मुनि को देख पायेगा तो वह भी उसी समय सब विषयभोगों को छोड़-छोड़कर योगी बन जाएगा ॥९६-९९॥

इसके कुछ महीनों बाद यशोभद्रा सेठानी के पुत्र हुआ। नागश्री के जीव ने, जो स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ था, अपनी स्वर्ग की आयु पूरी होने के बाद यशोभद्रा के यहाँ जन्म लिया। भाई-बन्धुओं ने उसके जन्म का बहुत कुछ उत्सव मनाया। उसका नाम सुकुमाल रखा गया। उधर सुरेन्द्र पुत्र के पवित्र दर्शन कर और उसे अपने सेठ-पद का तिलक कर आप मुनि हो गया ॥१००-१०२॥

जब सुकुमाल बड़ा हुआ तब उसकी माँ को यह चिन्ता हुई कि कहीं यह भी कभी किसी मुनि को देखकर मुनि न हो जाए, इसके लिए यशोभद्रा ने अच्छे घराने की कोई बत्तीस सुन्दर कन्याओं के साथ उसका ब्याह कर उन सबके रहने को एक जुदा ही बड़ा भारी महल बनवा दिया और उसमें सब प्रकार की विषय-भोगों की एक से एक उत्तम वस्तु इकट्ठी करवा दी, जिससे कि सुकुमाल का मन सदा विषयों में फँसा रहे। इसके सिवा पुत्र के मोह से उसने अपने घर में जैन मुनियों का आना-जाना भी बन्द करवा दिया ॥१०३-१०५॥

एक दिन किसी बाहर के सौदागर ने आकर राजा प्रद्योतन को एक बहुमूल्य रत्न-कम्बल दिखलाया, इसलिए कि वह उसे खरीद ले। पर उसकी कीमत बहुत ही अधिक होने से राजा ने उसे

भूरि मूल्यभराद्राजा गृहीतुं न क्षमोभवत्। ततस्तं सा यशोभद्रा गृहीत्वा रत्नकम्बलम् ॥१०७॥
खण्डं खण्डं विधायाशु पादत्राणार्थमद्भुतम्। द्वात्रिंशत्स्ववधूभ्यश्च लीलया संददौ सती ॥१०८॥
एकदा सौलिका चैकं पादत्राणं सुरक्तकम्। चञ्च्वादाय क्वचिच्छीघ्रं पातयामास तत्तदा ॥१०९॥
वेश्यया च समादाय राज्ञः संदर्शितं ततः। तत्समालोक्य भूपालो ज्ञात्वा तद्वृत्तकं पुनः ॥११०॥
महाश्चर्येण तद्गेहे सुधीः प्रद्योतवाक् स्वयम्। दृष्टुं श्रीसुकुमालं तं समायातः शुभाशयः ॥१११॥
तज्जनन्या विधायोच्चैरभ्युत्थानादिकं तदा। राज्ञः पुत्रस्य चैकत्र चक्रे स्वारार्त्तिकां मुदा ॥११२॥
तत्तेजसा तथाकण्ठहारसत्तेजसाकुलम्। सुकुमालं समालोक्य तथा सद्भोजनक्षणे ॥११३॥
एकैकं सिक्तकं सारं भुंजानं तं महीपतिः। दृष्ट्वा पृष्ट्वा यशोभद्रां ज्ञात्वा तत्कारणं मुदा ॥११४॥
महाविस्मयमापन्नो भो श्रेष्ठिन्पूर्वपुण्यभाक्। अवन्ति सुकुमालस्त्वं तं जगादेति हर्षतः ॥११५॥

नहीं लिया। रत्न-कम्बल की बात यशोभद्रा सेठानी को मालूम हुई उसने उस सौदागर को बुलवाकर उससे वह कम्बल सुकुमाल के लिए मोल ले लिया। पर वह रत्नों को जड़ाई के कारण अत्यन्त ही कठोर था, इसलिए सुकुमाल ने उसे पसन्द न किया। तब यशोभद्रा ने उसके टुकड़े करवा कर अपनी बहुओं के लिए उसकी जूतियाँ बनवा दीं। एक दिन सुकुमाल की प्रिया जूतियाँ खोलकर पाँव धो रही थी। इतने में एक चील मांस के भ्रम से एक जूती को उठा ले उड़ी। उसकी चोंच से छूटकर वह जूती एक वेश्या के मकान की छत पर गिरी। उस जूती को देखकर वेश्या को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह उसे राजघराने की समझकर राजा के पास ले गई। राजा भी उसे देखकर दंग रह गए कि इतनी कीमती जिसके यहाँ जूतियाँ पहनी जाती हैं तब उसके धन का क्या ठिकाना होगा। मेरे शहर में इतना भारी धनी कौन है? इसका अवश्य पता लगाना चाहिए। राजा ने जब इस विषय की खोज की तो उन्हें सुकुमाल सेठ का समाचार मिला कि इनके पास बहुत धन है और वह जूती उनकी स्त्री की है ॥१०६-११०॥

राजा को सुकुमाल के देखने की बड़ी उत्कंठा हुई वे एक दिन सुकुमाल से मिलने को आए। राजा को अपने घर आए देख सुकुमाल की माँ यशोभद्रा को बड़ी खुशी हुई उसने राजा का खूब अच्छा आदर-सत्कार किया। राजा ने प्रेमवश हो सुकुमाल को भी अपने पास सिंहासन पर बैठा लिया। यशोभद्रा ने उन दोनों की एक साथ आरती उतारी। दिये की तथा हार की ज्योति से मिलकर बढ़े हुए तेज को सुकुमाल की आँखें न सह सकीं, उनमें पानी आ गया। इसका कारण पूछने पर यशोभद्रा ने राजा से कहा-महाराज, आज इसकी इतनी उमर हो गई, कभी इसने रत्नमयी दीये को छोड़कर ऐसे दीये को नहीं देखा। इसलिए इसकी आँखों में पानी आ गया है। यशोभद्रा जब दोनों को भोजन कराने बैठी तब सुकुमाल अपनी थाली में परोसे हुए चावलों में से एक-एक चावल को बीन-बीनकर खाने लगा। देखकर राजा को बड़ा अचम्भा हुआ। उसने यशोभद्रा से इसका भी कारण पूछा। यशोभद्रा ने कहा-राजराजेश्वर, इसे जो चावल खाने को दिये जाते हैं वे खिले हुए

भोजनानन्तरं तत्र क्रीडावाप्यां स भूपतिः। कुर्वन्स्वयं जलक्रीडां पतितां निजमुद्रिकाम् ॥११६॥
तां पश्यन्प्रोल्लसत्कान्ति नानासद्भूषणोत्करम्। समालोक्य जले तत्र महाश्चर्येण चेतसि ॥११७॥
अहो पुण्येन सामग्री कीदृशीति विचारयन्। लज्जित्वा स्वगृहं प्राप्तस्तत्पुण्यं संस्तुवन्मुहुः। ॥११८॥
शृण्वन्तु महाभव्या धनं धान्यं सुसम्पदाः। पुत्रं मित्रं कलत्रं च रूपसौभाग्यमण्डितम् ॥११९॥
सद्बान्धवान्सुखोपेता-न्नानावस्त्रादिभूषणम्। एकद्वित्र्यादिसद्भूमिलसत्प्रासादसञ्चयम् ॥१२०॥
यानजं पानसन्मानयत्सारं भुवनत्रये। लभन्ते श्रीजिनेन्द्रोक्तपुण्यपण्येन देहिनः ॥१२१॥
तस्मात्त्यक्त्वाशु दुर्मार्गं कष्टदं बुधसत्तमैः। स्वर्गमोक्षश्रियो बीजं कार्यं पुण्यं जिनोदितम् ॥१२२॥
तत्सुपुण्यं भवेदत्र भक्त्या श्रीमज्जिनार्चनैः। पात्रदानैस्तथाशीलोपवासादिव्रतोत्तमैः ॥१२३॥
अथैकदा जगत्पूज्यः सुकुमालस्य मातुलः। नाम्ना गणधराचार्यो जैनतत्त्वविदांवरः ॥१२४॥
ज्ञात्वा श्रीसुकुमालस्य स्वल्पायुर्मुनिसत्तमः। तदीयोद्यानमागत्य सुधीर्योगं गृहीतवान् ॥१२५॥

कमलों में रखे जाकर सुगन्धित किये होते हैं। पर आज वे चावल थोड़े होने से मैंने उन्हें दूसरे चावलों के साथ मिलाकर बना लिया। इससे वह एक-एक चावल चुन-चुनकर खाता है। राजा सुनकर बड़े ही खुश हुए। उन्होंने पुण्यात्मा सुकुमाल की बहुत प्रशंसा कर कहा-सेठानी जी, अब तक तो आपके कुँवर साहब केवल आपके ही घर के सुकुमाल थे, पर अब मैं इनका अवन्ति-सुकुमाल नाम रखकर इन्हें सारे देश का सुकुमाल बनाता हूँ। मेरा विश्वास है कि मेरे देशभर में इस सुन्दरता का इस सुकुमारता का यही आदर्श है। इसके बाद राजा सुकुमाल को संग लिए महल के पीछे जलक्रीड़ा करने बावड़ी पर गए। सुकुमाल के साथ उन्होंने बहुत देर तक जलक्रीड़ा की। खेलते समय राजा की उँगली में से अँगूठी निकलकर क्रीड़ा सरोवर में गिर गई राजा उसे ढूँढ़ने लगे। वे जल के भीतर देखते हैं तो उन्हें उसमें हजारों बड़े-बड़े सुन्दर और कीमती भूषण देख पड़े। उन्हें देखकर राजा की अकल चकरा गई। वे सुकुमाल के अनन्त वैभव को देखकर बड़े चकित हुए। वे यह सोचते हुए, कि यह सब पुण्य की लीला है, कुछ शर्मिन्दा से होकर महल लौट आए ॥१११-११८॥

सज्जनों, सुनो-धन-धान्यादि सम्पदा का मिलना, पुत्र, मित्र और सुन्दर स्त्री का प्राप्त होना, बन्धु-बान्धवों का सुखी होना, अच्छे-अच्छे वस्त्र और आभूषणों का होना, दुमंजले, तिमंजले आदि मनोहर महलों में रहने को मिलना, खाने-पीने को अच्छी से अच्छी वस्तुएँ प्राप्त होना, विद्वान् होना, नीरोग होना आदि जितनी सुख-सामग्री हैं, वह सब जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश दिये मार्ग पर चलने से जीवों को मिल सकती है। इसलिए दुःख देने वाले खोटे मार्ग को छोड़कर बुद्धिमानों को सुख का मार्ग और स्वर्ग-मोक्ष के सुख का बीज पुण्यकर्म करना चाहिए। पुण्य जिन भगवान् की पूजा करने से, पात्रों को दान देने से तथा व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य के धारण करने से होता है ॥११९-१२३॥

एक दिन जैनतत्त्व के परम विद्वान् सुकुमाल के मामा गणधराचार्य सुकुमाल की आयु बहुत थोड़ी रही जानकर उसके महल के पीछे से बगीचे में आकर ठहरे और चातुर्मास लग जाने से उन्होंने

यशोभद्रा च तन्माता प्रोच्चैः स्वाध्यायघोषणम्। यावद्योगपरिप्राप्तिर्वारयामास तं मुनिम् ॥१२६॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण योगनिष्ठापनक्रियाम्। कृत्वा पश्चादूर्ध्वलोकप्रज्ञप्तिपठनोच्चकैः ॥१२७॥
अच्युतस्वर्गदेवानामायुरुत्सेधसत्सुखे। व्यावर्णनं तरां कर्त्तुं प्रारब्धं पुण्ययोगतः ॥१२८॥
तच्छ्रुत्वा सुकुमालोसौ स्वामी जातिस्मरोभवत्। गत्वा तस्य मुनेः पार्श्वे नत्वा तं भक्तितः स्थितः ॥१२९॥
मुनिः प्राह सुधीर्वत्स तवायुश्च दिनत्रयम्। यज्जानासि हितं स्वस्य कुरु त्वं तद्धि वेगतः ॥१३०॥
तत्समाकर्ण्य धीरोसौ सुकुमालो गुणोज्ज्वलः। शीघ्रं दीक्षां समादाय जैनीं स्वसौख्यदायिनीम् ॥१३१॥

वहीं योग धारण कर लिया। यशोभद्रा को उनके आने की खबर हुई वह जाकर उनसे कह आई कि प्रभो, जब तक आपका योग पूरा न हो तब तक आप कभी ऊँचे से स्वाध्याय या पठन-पाठन न कीजिएगा। जब उनका योग पूरा हुआ तब उन्होंने अपने योग-सम्बन्धी सब क्रियाओं के अन्त में लोकप्रज्ञप्ति का पाठ करना शुरू किया। उसमें उन्होंने अच्युतस्वर्ग के देवों की आयु, उनके शरीर की ऊँचाई आदि का खूब अच्छी तरह वर्णन किया। उसे सुनकर सुकुमाल को जातिस्मरण हो गया। पूर्व जन्म में पाए दुःखों को याद कर वह काँप उठा। वह उसी समय चुपके से महल से निकल कर मुनिराज के पास आ गया और उन्हें भक्ति से नमस्कार कर उनके पास बैठ गया। तब मुनि ने उससे कहा-बेटा, अब तुम्हारी आयु सिर्फ तीन दिन की रह गई है, इसलिए अब तुम्हें इन विषय-भोगों को छोड़कर अपना आत्महित करना उचित है। ये विषय-भोग पहले कुछ अच्छे से मालूम होते हैं, पर इनका अन्त बड़ा ही दुःखदायी है। जो विषय-भोगों की धुन में ही मस्त रहकर अपने हित की ओर ध्यान नहीं देते, उन्हें कुगतियों के अनन्त दुःख उठाना पड़ते हैं। तुम समझो सियाले में आग बहुत प्यारी लगती है, पर जो उसे छुएगा वह तो जलेगा ही। यही हाल इन ऊपर के स्वरूप से मन को लुभाने वाले विषयों का है ॥१२४-१३०॥

इसलिए ऋषियों ने इन्हें 'भोगा भुजंगभोगाभाः' अर्थात् सर्प के समान भयंकर कहकर उल्लेख किया है। विषयों को भोगकर आज तक कोई सुखी नहीं हुआ, तब फिर ऐसी आशा करना कि इनसे सुख मिलेगा, नितान्त भूल है। मुनिराज का उपदेश सुनकर सुकुमाल को बड़ा वैराग्य हुआ। वह उसी समय सुख देने वाली जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गया। मुनि होकर सुकुमाल वन की ओर चल दिया। उसका यह अन्तिम जीवन बड़ा ही करुणा से भरा हुआ है। कठोर से कठोर चित्त वाले मनुष्यों तक के हृदयों को हिला देने वाला है। सारी जिन्दगी में कभी जिनकी आँखों से आँसू न झरे हों, उन आँखों में भी सुकुमाल का यह जीवन आँसू ला देने वाला है। पाठकों को सुकुमाल की सुकुमारता का हाल मालूम है कि यशोभद्रा ने जब उसकी आरती उतारी थी, तब जो मंगल द्रव्य सरसों उस पर डाली गई थी, उन सरसों के चुभने को भी सुकुमाल न सह सका था। यशोभद्रा ने उसके लिए रत्नों का बहूमूल्य कम्बल खरीदा था, पर उसने उसे कठोर होने से ही ना-पास कर दिया था। उसकी माँ का उस पर इतना प्रेम था, उसने उसे इस प्रकार लाड़-प्यार से पाला था कि सुकुमाल को कभी

त्रिधा वैराग्यतः कृत्वा संन्यासं शल्यवर्जितम्। प्रायोपयानसन्नाम्नि संस्थितो मरणे सुधीः ॥१३२॥
अग्निभूतेस्तु या भार्या सोमदत्ता निदानतः। सा संसारे परिभ्रम्य तत्रैवोज्जयिनीपुरे ॥१३३॥
शृगाली पापतो भूत्वा चतुःपुत्रसमन्विता। पूर्ववैरेण पादाभ्यां समारभ्यैव तं मुनिम् ॥१३४॥
भक्षयामास हा कष्टं निदानं पापराशिदम्। तस्माद्भव्यैर्न कर्त्तव्यं तत्त्रिधा दुःखकारणम् ॥१३५॥

जमीन पर तक पाँव रखने का मौका नहीं आया था। उसी सुकुमार सुकुमाल ने अपने जीवन भर के एक रूप से बहे प्रवाह को कुछ ही मिनटों के उपदेश से बिल्कुल ही उल्टा बहा दिया। जिसने कभी यह नहीं जाना कि घर बाहर क्या है, वह अब अकेला भयंकर जंगल में जा बसा। जिसने स्वप्न में भी कभी दुःख नहीं देखा, वही अब दुःखों का पहाड़ अपने सिर पर उठा लेने को तैयार हो गया। सुकुमाल दीक्षा लेकर वन की ओर चला। कंकरीली जमीन पर चलने से उसके फूलों से कोमल पाँवों में कंकर-पत्थरों के गड़ने से घाव हो गए। उनसे खून की धारा बह चली। पर धन्य सुकुमाल की सहनशीलता जो उसने उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं झाँका। अपने कर्तव्य में वह इतना एकनिष्ठ हो गया, इतना तन्मय हो गया कि उसे इस बात का भान ही न रहा कि मेरे शरीर की क्या दशा हो रही है सुकुमाल की सहनशीलता की इतने में ही समाप्त नहीं हो गई। अभी आगे बढ़िए और देखिये कि वह अपने को इस परीक्षा में कहाँ तक उत्तीर्ण करता है ॥१३१॥

पाँवों से खून बहता जाता है और सुकुमाल मुनि चले जा रहे हैं। चलकर वे एक पहाड़ की गुफा में पहुँचे। वहाँ वे ध्यान लगाकर बारह भावनाओं का विचार करने लगे। उन्होंने प्रायोपगमन संन्यास एक पाँव से खड़े रहने का ले लिया, जिसमें कि किसी से अपनी सेवा-शुश्रूषा भी कराना मना किया है। सुकुमाल मुनि तो इधर आत्म-ध्यान में लीन हुए। अब जरा इनके वायुभूति के जन्म को याद कीजिए ॥१३२॥

जिस समय वायुभूति के बड़े भाई अग्निभूति मुनि हो गए थे, तब इनकी स्त्री ने वायुभूति से कहा था कि देखो, तुम्हारे कारण से ही तुम्हारे भाई मुनि हो गए सुनती हूँ। तुमने अन्याय कर मुझे दुःख के सागर में ढकेल दिया। चलो, जब तक वे दीक्षा न ले उससे पहले उन्हें हम तुम समझा-बुझाकर घर लौटा लावें। इस पर गुस्सा होकर वायुभूति ने अपनी भौजी को बुरी-भली सुना डाली थी और फिर ऊपर से उस पर लात भी जमा दी थी। तब उसने निदान किया था कि पापी, तूने मुझे निर्बल समझ मेरा जो अपमान किया है, मुझे कष्ट पहुँचाया है, यह ठीक है कि मैं इस समय इसका बदला नहीं चुका सकती। पर याद रख कि इस जन्म में नहीं तो परजन्म में सही, पर बदला लूँगी और घोर बदला लूँगी।

इसके बाद वह मरकर अनेक कुयोनियों में भटकी। अन्त में वायुभूति तो यह सुकुमाल हुए और उनकी भौजी सियारनी हुई। जब सुकुमाल मुनि वन की ओर रवाना हुए और उनके पावों में कंकर, पत्थर, काँटे वगैरह लगकर खून बहने लगा, तब यही सियारनी अपने पिल्लों को साथ लिए

सुकुमालमुनिः सोपि मेरुवद्धीरमानसः। शत्रुमित्रसमश्चित्ते सुधीः सारसमाधिना ॥१३६॥
तृतीये दिवसे तं च सहमानः परीषहम्। मृत्वा तदाच्युतस्वर्गे जातो देवो महर्द्धिकः ॥१३७॥
क्व ते भोगा मनोभीष्टास्तपः क्वेदं सुदारुणम्। अहो भव्या सतां वृत्तं परमाश्चर्यकारणम् ॥१३८॥
तत्राच्युते सुधीः स्वर्गे देवोसौ सारसौख्यभाक्। श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसंजातो भक्तिनिर्भरः ॥१३९॥

उस खून को चाटती-चाटती वहीं आ गई जहाँ सुकुमाल मुनि ध्यान में मग्न हो रहे थे। सुकुमाल को देखते ही पूर्वजन्म के संस्कार से सियारनी को अत्यन्त क्रोध आया। वह उनकी ओर घूरती हुई उनके बिल्कुल नजदीक आ गई है। उसका क्रोध भाव उमड़ा। उसने सुकुमाल को खाना शुरू कर दिया। उसे खाते देखकर उसके पिल्ले भी खाने लग गए। जो कभी एक तिनके का चुभ जाना भी नहीं सह सकता था, वह आज ऐसे घोर कष्ट को सहकर भी सुमेरु सा निश्चय बना हुआ था। जिसके शरीर को एक साथ चार हिंसक जीव बड़ी निर्दयता से खा रहे है, तब भी जो रंचमात्र हिलता-डुलता तक नहीं। उस महात्मा की इस अलौकिक सहन-शक्ति का किन शब्दों में उल्लेख किया जाए, यह बुद्धि में नहीं आता। तब भी जो लोग एक ना-कुछ चीज काँटे के लग जाने से तिलमिला उठते हैं, वे अपने हृदय में जरा गंभीरता के साथ विचार कर देखें कि सुकुमाल मुनि की आदर्श सहनशक्ति कहाँ तक बढ़ी चढ़ी थी और उनका हृदय कितना उच्च था! सुकुमाल मुनि की यह सहनशक्ति उन कर्तव्यशील मनुष्यों को अप्रत्यक्ष रूप में शिक्षा कर रही है कि अपने उच्च और पवित्र कामों में आने वाले विघ्नों की परवाह मत करो। विघ्नों को आने दो और खूब आने दो। आत्मा की अनन्त शक्तियों के सामने ये विघ्न कुछ चीज नहीं, किसी गिनती में नहीं। तुम अपने पर विश्वास करो। भरोसा करो। हर एक कामों में आत्मदृढ़ता, आत्मविश्वास, उनके सिद्ध होने का मूलमंत्र है। जहाँ ये बातें नहीं वहाँ मनुष्यता भी नहीं। तब कर्तव्यशीलता तो फिर योजनों की दूरी पर है। सुकुमाल यद्यपि सुखिया जीव थे, पर कर्तव्यशीलता उनके पास थी। इसलिए देखने वालों के भी हृदय को हिला देने वाले कष्ट में भी वे अचल रहे ॥१३३-१३६॥

सुकुमाल मुनि को उस सियारनी ने पूर्व बैर के सम्बन्ध से तीन दिन तक खाया। पर वे मेरु के समान धीर रहे। दुःख की उन्होंने कुछ परवाह न की। यहाँ तक कि अपने को खाने वाली सियारनी पर भी उनके बुरे भाव न हुए। शत्रु और मित्र को समभावों से देखकर उन्होंने अपना कर्तव्यपालन किया। तीसरे दिन सुकुमाल शरीर छोड़कर अच्युतस्वर्ग में महर्द्धिक देव हुए ॥१३७॥

वायुभूति की भौजी ने निदान के वश सियारनी होकर अपने बैर का बदला चुका लिया। सच है, निदान करना अत्यन्त दुःखों का कारण है। इसलिए भव्यजनों को यह पाप का कारण निदान कभी नहीं करना चाहिए। इस पाप के फल से सियारनी मरकर कुगति में गई। कहाँ वे मन को अच्छे लगने वाले भोग और कहाँ यह दारुण तपस्या! सच तो यह है कि महापुरुषों का चरित कुछ

उज्जयिन्यां तदा देवैर्महाकोलाहलः कृतः। महाकालः कुतीर्थोभूज्जन्तूनां तत्र नाशकृत् ॥१४०॥
गन्धतोयलसद्दृष्टिः कृता देवैः सुभक्तितः। तत्र गन्धवती नाम्नी नदी जातेति भूतले ॥१४१॥
स श्रीमान्वरभोगसंगनिरतो ज्ञात्वा मुनेर्वाक्यतः स्वल्पं जीवितमात्मनो हि सकलं त्यक्त्वा कलत्रादिकम्।
धृत्वा चारु तपो जिनेन्द्रकथितं सोढ्वापशूपद्रवं देवोभूत्सुकुमालनिर्मलमुनिर्भूयात्सतां शान्तये ॥१४२॥

इति कथाकोशे श्रीसुकुमालमुनेराख्यानं समाप्तम्।

५८. सुकौशलमुनेः कथा

अर्हन्तं त्रिजगत्पूतं भारतीं भुवनोत्तमाम्। नत्वा गुरुं प्रवक्ष्येहं सुकौशलकथामिमाम् ॥१॥
अयोध्यायां महाराजः प्रजापालो गुणोज्ज्वलः। श्रेष्ठी सिद्धार्थनामाभूद्धनैर्धान्यैः समन्वितः ॥२॥
द्वात्रिंशत्तस्य संजाता भार्याः सद्रूपमण्डिताः। सर्वास्ताः कर्मयोगेन कामिन्यः पुत्रवर्जिताः ॥३॥
अहो पुत्रं विना नारी राजते नैव भूतले। रूपलावण्ययुक्तापि वल्लीव निष्फला भुवि ॥४॥

विलक्षण हुआ करता है। सुकुमाल मुनि अच्युतस्वर्ग में देव होकर अनेक प्रकार के दिव्य सुखों को भोगते हैं और जिनभगवान् की भक्ति में सदा लीन रहते हैं। सुकुमाल मुनि की इस वीर मृत्यु के उपलक्ष्य में स्वर्ग के देवों ने आकर उनका बड़ा उत्सव मनाया। 'जय जय' शब्द द्वारा महाकोलाहल हुआ। इसी दिन से उज्जैन में महाकाल नाम के कुतीर्थ की स्थापना हुई, जिसके कि नाम से अगणित जीव रोज वहाँ मारे जाने लगे और देवों ने जो सुगन्ध जल की वर्षा की थी, उससे वहाँ की नदी गन्धवती नाम से प्रसिद्ध हुई ॥१३८-१४१॥

जिसने दिनरात विषय-भोगों में ही फँसे रहकर अपनी सारी जिन्दगी बिताई, जिसने कभी दुःख का नाम भी न सुना था, उस महापुरुष सुकुमाल ने मुनिराज द्वारा अपनी तीन दिन की आयु सुनकर उसी समय माता, स्त्री, पुत्र आदि स्वजनों को, धन-दौलत को और विषय-भोगों को छोड़-छाड़कर जिनदीक्षा ले ली और अन्त में पशुओं द्वारा दुःसह कष्ट सहकर भी जिसने बड़ी धीरता और शान्ति के साथ मृत्यु को अपनाया। वे सुकुमाल मुनि मुझे कर्तव्य के लिए कष्ट सहने की शक्ति प्रदान करें ॥१४२॥

५८. सुकौशल मुनि की कथा

जगत्पवित्र जिनेन्द्र भगवान् जिनवाणी और गुरुओं को नमस्कार कर सुकौशल मुनि की कथा लिखी जाती है ॥१॥

अयोध्या में प्रजापाल राजा के समय में एक सिद्धार्थ नाम के सेठ हुए हैं। उनके बत्तीस अच्छी-अच्छी सुन्दर स्त्रियाँ थीं। पर खोटे भाग्य से उनकी कोई सन्तान न थी। स्त्री कितनी भी सुन्दर हो, गुणवती हो, पर बिना सन्तान के उसकी शोभा नहीं होती। जैसे बिना फल-फूल के लताओं की शोभा नहीं होती। इन स्त्रियों में जो सेठ की खास प्राणप्रिया थी, जिस पर कि सेठ महाशय का

तासां मध्ये तु या भार्या श्रेष्ठिनः प्राणवल्लभा। पुत्रार्थं यक्षदेवान्सा पूजयन्ती जयावती ॥५॥
प्रोक्ता ज्ञानिमुनीन्द्रेण भो सुते दुःखदायिनीम्। त्यक्त्वा भक्तिं कुदेवानां जैनधर्मे स्थिरा भव ॥६॥
येन ते सप्तवर्षाणां मध्ये स्याद् गर्भसंभवः। तच्छ्रुत्वा सा च संतुष्टा जिनधर्मे दृढाभवत् ॥७॥
यद्वाञ्छा मानसे नित्यं वर्तते सुतरां भुवि। तद्वस्तु प्राप्तिसान्निध्ये भवेद्धर्षो न कस्य वै ॥८॥
ततः कैश्चिद्दिनैस्तस्या जयावत्याः सुधर्मतः। सुकौशलो लसत्कान्तिः पुत्रो जातो मनोहरः ॥९॥
श्रेष्ठी सिद्धार्थनामासौ दृष्ट्वा तन्मुखपंकजम्। नयंधरमुनेः पार्श्वे सुधीर्दीक्षां गृहीतवान् ॥१०॥
मां बालपुत्रसंयुक्तां मुक्त्वा जातो मुनिस्त्विति। जयावती महाकोपं चक्रे सिद्धार्थसन्मुनौ ॥११॥
अहो चास्मै मुनीन्द्रस्य युक्तं दातुं तपः किमु। कोपान्मुनिप्रवेशस्तु निषिद्धः स्वगृहे तया ॥१२॥

अत्यन्त प्रेम था, वह पुत्र प्राप्ति के लिए सदा कुदेवों की पूजा-मानता किया करती थी। एक दिन उसे कुदेवों की पूजा करते एक मुनिराज ने देख लिया। उन्होंने तब उससे कहा-बहिन, जिस आशा से तू इन कुदेवों की पूजा करती है वह आशा ऐसा करने से सफल न होगी। कारण सुख-सम्पत्ति, सन्तान प्राप्ति, नीरोगता, मान-मर्यादा, सद्बुद्धि आदि जितनी अच्छी बातें हैं, उन सबका कारण पुण्य है। इसलिए यदि तू पुण्य-प्राप्ति के लिए कोई उपाय करे तो अच्छा हो। मैं तुझे तेरे हित की बात कहता हूँ कि इन यक्षादिक कुदेवों की पूजा-मानता छोड़कर, जो कि पुण्य-बन्ध का कारण नहीं है, जिनधर्म का विश्वास कर। इससे तू सत्पथ पर आ जायेगी और फिर तेरी आशा भी पूरी होने लगेगी। जयावती को मुनि का उपदेश रुचा और वह अब से जिनधर्म पर श्रद्धा करने लगी। चलते समय उसे ज्ञानी मुनि ने यह भी कह दिया था कि जिसकी तुझे चाह है वह चीज तुझे सात वर्ष के भीतर-भीतर अवश्य प्राप्त होगी। तू चिन्ता छोड़कर धर्म का पालन कर। मुनि का यह अंतिम वाक्य सुनकर जयावती को बड़ी भारी खुशी हुई और क्यों न हो? जिसकी कि वर्षों से उसके हृदय में भावना थी वही भावना तो अब सफल होने को है न! अस्तु! मुनि का कथन सत्य हुआ। जयावती ने धर्म के प्रसाद से पुत्र-रत्न का मुँह देख पाया। उसका नाम रखा गया सुकौशल। सुकौशल खूबसूरत और तेजस्वी था ॥२-९॥

सिद्धार्थ सेठ विषय-भोगों को भोगते-भोगते कंटाल गए थे। उनके हृदय की ज्ञानमयी आँखों ने उन्हें अब संसार का सच्चा स्वरूप बतला कर बहुत डरा दिया था। वे चाहते तो नहीं थे कि एक मिनट भी संसार में रहे, पर अपनी सम्पत्ति को सम्हाल लेने वाला कोई न होने से पुत्र-दर्शन तक, उन्हें लाचारी से घर में रहना पड़ा अब सुकौशल हो गया, इसका उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। वे पुत्र का मुखचन्द्र देखकर और अपने सेठ पद का उसके ललाट पर तिलक कर आप श्री नयंधर मुनिराज के पास दीक्षा ले गए। अभी बालक को जन्मते ही तो देर न हुई कि सिद्धार्थ सेठ घर-बार छोड़कर योगी हो गए। उनकी इस कठोरता पर जयावती को बड़ा गुस्सा आया। न केवल सिद्धार्थ पर ही उसे गुस्सा आया किन्तु नयंधर मुनि पर भी। इसलिए कि उन्हें इस समय सिद्धार्थ को दीक्षा देना उचित न था और

हा कष्टं मोहतो जन्तुः सद्धर्मं त्यजति ध्रुवम्। जन्मान्धको यथा चिन्तामणिं हस्तस्थितं कुधीः ॥१३॥
वृद्धिं प्राप्य ततः सोपि सुकौशलवणिक्पतिः। द्वात्रिंशत्कुलजाः कन्याः परिणीय गुणोज्ज्वलाः ॥१४॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानः संस्थितः पूर्वपुण्यतः। जन्तूनां पूर्वपुण्येन सम्पदो विविधा भवेत् ॥१५॥
एकदा जननीभार्याधात्रिकाभिः समन्वितः। स्वप्रासादोपरिस्थोसौ सुकौशलवणिग्वरः ॥१६॥
पश्यन्पुरस्य सच्छोभां तत्रायातं मुनीश्वरम्। नाना देशान्विहृत्योच्चैर्दृष्ट्वा सिद्धार्थमद्भुतम् ॥१७॥
कोयं मातः सुधीरेवं पृष्टवान् जननीं मुदा। जयावती क्रुधा प्राह रंकोयं याति कोपि भो ॥१८॥
तदा सुकौशलेनोक्तं सावधानेन धीमता। सर्वलक्षणयुक्तत्वा-न्नायं रंको भवत्यहो ॥१९॥
सुनन्दा धात्रिकावोचत्तदा तन्मातरं प्रति। न युक्तं निन्दितं वाक्यं वक्तुं चास्य महामुनेः ॥२०॥

इसी कारण मुनि मात्र पर उसकी अश्रद्धा हो गई। उसने अपने घर में मुनियों का आना-जाना तक बन्द कर दिया। बड़े दुःख की बात है कि यह जीव मोह के वश हो धर्म को भी छोड़ बैठता है। जैसे जन्म का अन्धा हाथ में आए चिन्तामणि को खो बैठता है ॥१०-१३॥

वयः प्राप्त होने पर सुकौशल का अच्छे-अच्छे घराने की कोई बत्तीस कन्या-रत्नों से ब्याह हुआ। सुकौशल के दिन अब बड़े ऐशो आराम के साथ बीतने लगे। माता का उस पर अत्यन्त प्यार होने से नित नई वस्तुएँ उसे प्राप्त होती थीं। सैकड़ों दास-दासियाँ उसकी सेवा में सदा उपस्थित रहा करती थी। वह जो कुछ चाहता वह कार्य उसकी आँखों के इशारे मात्र से होता था। सुकौशल को कभी कोई बात के लिए चिन्ता न करनी पड़ती थी। सच है, जिनके पुण्य का उदय होता है उन्हें सब सुख-सम्पत्ति सहज में प्राप्त हो जाती हैं ॥१४-१५॥

एक दिन सुकौशल, अपनी माँ, अपनी स्त्री और अपनी धाय के साथ महल पर बैठा अयोध्या की शोभा तथा मन को लुभाने वाले प्रकृति की नई-नई सुन्दर छटाओं को देख-देखकर बड़ा खुश हो रहा था। उसकी दृष्टि कुछ दूर तक गई उसने एक मुनिराज को देखा। ये मुनि इसके पिता सिद्धार्थ ही थे। इस समय कई अन्य नगरों और गाँवों में विहार करते हुए ये आ रहे थे। इनके वंदन पर नाममात्र के लिए भी वस्त्र न देखकर सुकौशल बड़ा चकित हुआ। इसलिए कि पहले कभी उसने मुनि को देखा नहीं था। उनका अजीब वेष देखकर सुकौशल ने माँ से पूछा-माँ, यह कौन है? सिद्धार्थ को देखते ही जयावती की आँखों में खून बरस गया। वह कुछ घृणा और कुछ उपेक्षा कर बोली-बेटा, होगा कोई भिखारी, तुझे इससे क्या मतलब परन्तु अपनी माँ के इस उत्तर से सुकौशल को सन्तोष नहीं हुआ। उसने फिर पूछा-माँ, यह तो बड़ा खूबसूरत और तेजस्वी देख पड़ता है। तुम इसे भिखारी कैसे बताती हो? जयावती को अपने स्वामी पर ऐसी घृणा करते देख सुकौशल की धाय सुनन्दा से न रहा गया। वह बोल उठी-अरी ओ, तू इन्हें जानती है कि ये हमारे मालिक है। फिर भी तू इनके सम्बन्ध में ऐसा उल्टा सुझा रही है? तुझे यह योग्य नहीं। क्या हो गया यदि ये मुनि हो गए तो? इसके लिए क्या तुझे इनकी निन्दा करनी चाहिए? इसकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि सुकौशल की माँ

मुग्धे कुलप्रभोस्ते च ततो रुष्टा तु सा जगौ। तिष्ठ मौनेन नेत्राभ्यां वारयामास धात्रिकाम् ॥२१॥
दुष्टस्त्रीमानसे नास्ति धर्मस्नेहः कदाचन। यथा ज्वलन्महावह्नि-मध्यभागो न शीतलः ॥२२॥
मात्राहं वंचितः कष्टं चिन्तयन्निजचेतसि। तदा सुकौशलो धीमान्सूपकारेण भाषितः ॥२३॥
जाता भोजनवेलेति भो स्वामिन्क्रियते कृपा। तथा मातृस्वभार्याभिः प्रेरितो भोजनाय सः ॥२४॥
तेनोक्तं धीमता तत्र मया सत्यस्वरूपकम्। अस्योत्तमपुरुषस्य ज्ञात्वा भोक्तव्यमित्यलम् ॥२५॥
ततः सुनन्दया धात्र्या प्रोक्तं पूर्वं प्रघट्टकम्। सुकौशलः समाकर्ण्य महावैराग्ययोगतः ॥२६॥
गत्वा तस्य मुनेः पार्श्वं नत्वा पादद्वयं मुदा। ज्ञात्वा धर्मस्य सद्भावं जिनेन्द्रैः परिकीर्त्तितम् ॥२७॥
सुभद्रायाः स्वभार्याया गर्भस्थाय सुताय च। दत्वा श्रेष्ठिपदं शीघ्रं त्यक्त्वा मोहादिकं धनम् ॥२८॥
नत्वा सिद्धार्थनामानं पुनस्तं मुनिसत्तमम्। दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो विचक्षणः ॥२९॥
यः सुधीः पूर्वपुण्येन संयुक्तो धर्मवत्सलः। सावधानो हिते नित्यं स केन भुवि वंच्यते ॥३०॥
आर्त्तध्यानेन सा मृत्वा श्रेष्ठिनी तु जयावती। देशे मगधसंज्ञे च गिरौ मौद्गिलनामनि ॥३१॥

ने उसे आँख के इशारे से रोककर कह दिया कि चुप क्यों नहीं रह जाती। तुझसे कौन पूछता है, जो बीच में ही बोल उठी! सच है, दुष्ट स्त्रियों के मन में धर्म-प्रेम कभी नहीं होता। जैसे जलती हुई आग का बीच का भाग ठंडा नहीं होता ॥१६-२२॥

सुकौशल ठीक तो न समझ पाया, पर उसे इतना ज्ञान हो गया कि माँ ने मुझे सच्ची बात नहीं बतलाई। इतने में रसोइया सुकौशल को भोजन कर आने के लिए बुलाने आया। उसने कहा–प्रभो, चलिए। बहुत समय हो गया। सब भोजन ठंडा हुआ जाता है। सुकौशल ने तब भोजन के लिए इंकार कर दिया। माता और स्त्रियों ने भी बहुत आग्रह किया, पर वह भोजन करने को नहीं गया। उसने साफ-साफ कह दिया कि जब तक मैं उस महापुरुष का सच्चा-सच्चा हाल न सुन लूँगा तब तक भोजन नहीं करूँगा। जयावती को सुकौशल के इस आग्रह से कुछ गुस्सा आ गया, सो वह तो वहाँ से चल दी। पीछे सुनन्दा ने सिद्धार्थ मुनि की सब बातें सुकौशल से कह दीं। सुनकर सुकौशल को कुछ दुःख भी हुआ, पर साथ ही वैराग्य ने उसे सावधान कर दिया। वह उसी समय सिद्धार्थ मुनिराज के पास गया और उन्हें नमस्कार कर धर्म का स्वरूप सुनने की उसने इच्छा प्रकट की। सिद्धार्थ ने उसे मुनिधर्म और गृहस्थ-धर्म का खुलासा स्वरूप समझा दिया। सुकौशल को मुनिधर्म बहुत पसन्द पड़ा। वह मुनिधर्म की भावना भाता हुआ घर आया और सुभद्रा की गर्भस्थ सन्तान को अपने सेठ पद का तिलक कर तथा सब माया-ममता, धन-दौलत और स्वजन-परिजन को छोड़कर श्री सिद्धार्थ मुनि के पास ही दीक्षा लेकर योगी बन गया। सच है–जिसे पुण्योदय से धर्म पर प्रेम है और जो अपना हित करने के लिए सदा तैयार रहता है, उस महापुरुष को कौन झूठी-सच्ची सुझाकर अपने कैद में रख सकता है, उसे धोखा दे ठग सकता है? ॥२३-३०॥

एक मात्र पुत्र और वह भी योगी बन गया। इस दुःख की जयावती के हृदय पर बड़ी गहरी

व्याघ्री स्वपापतो जाता त्रिपुत्रा क्रूरमानसा। मुक्त्वा धर्मं जिनन्द्रोक्तं जन्तुर्यात्येव दुर्गतिम् ॥३२॥
तदा तौ कर्मयोगेन मुनीन्द्रौ गुणशालिनौ। मौद्गिलपर्वते योगं गृहीत्वा भुवनोत्तमौ ॥३३॥
चतुर्मासोपवासान्ते पूर्णयोगे जगद्धितौ। चर्यार्थं निर्गतौ तौ च दृष्ट्वा व्याघ्री दुराशया ॥३४॥
संन्यासेन स्थितौ यावत्तया तावक्रमेण च। भक्षितौ मरणं प्राप्य तदा सारसमाधिना ॥३५॥
जातौ सर्वार्थसिद्धौ तौ सिद्धार्थाख्यसुकौशलौ। भाविमुक्तिश्रियः कान्तौ शान्तौ मे भवतां श्रिये ॥३६॥
सा व्याघ्री च समालोक्य खादन्ती तत्पलं तदा। सुकौशलकरे चारु लाञ्छनं भुवनोत्तमम् ॥३७॥
भूत्वा जातिस्मरी शीघ्रं त्यक्त्वा तत्पापकर्मकम्। हा कष्टं दुष्टसंसारे त्यक्तश्रीजैनसद्वृषाः ॥३८॥
भ्रमन्ति प्राणिनो मूढा मादृश्यः पापपंडिताः। पुत्रादीन्भक्षयन्तीति कृत्वा संसारनिन्दनम् ॥३९॥
संन्यासं च समादाय मृत्वा शुद्धाशयेन सा। प्राप्ता सौधर्मसत्स्वर्गं जीवानां शक्तिरद्भुता ॥४०॥

चोट लगी। वह पुत्र दुःख से पगली-सी बन गई। खाना-पीना उसके लिए जहर हो गया। उसकी सारी जिन्दगी ही धूलधानी हो गई वह दुःख और चिन्ता के मारे दिनोंदिन सूखने लगी। जब देखो तब ही उसकी आँखें आँसुओं से भरी रहती। मरते दम तक वह पुत्रशोक को न भूल सकी। इसी चिन्ता, दुःख, आर्त्तध्यान से उसके प्राण निकले। इस प्रकार बुरे भावों से मरकर मगध देश के मौद्गिल नाम के पर्वत पर उसने व्याघ्री का जन्म लिया। इसके तीन बच्चे हुए। यह अपने बच्चों के साथ पर्वत पर ही रहती थी। सच हैं, जो जिनेन्द्र भगवान् के पवित्र धर्म को छोड़ बैठते हैं, उनकी ऐसी ही दुर्गति होती है। विहार करते हुए सिद्धार्थ और सुकौशल मुनि ने भाग्य से इसी पर्वत पर आकर योग धारण कर लिया। योग पूरा हुए बाद जब ये भिक्षा के लिए शहर में जाने के लिए पर्वत पर से नीचे उतर रहे थे उसी समय वह व्याघ्री, जो कि पूर्वजन्म में सिद्धार्थ की स्त्री और सुकौशल की माता थी, इन्हें खाने को दौड़ी और जब तक कि ये संन्यास लेकर बैठते हैं, उसने इन्हें खा लिया। ये पिता-पुत्र समाधि से शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर देव हुए। वहाँ से आकर अब वे निर्वाण लाभ करेंगे। ये दोनों मुनिराज आप भव्यजनों को और मुझे शान्ति प्रदान करें ॥३१-३६॥

जिस समय व्याघ्री ने सुकौशल को खाते-खाते उनका हाथ खाना शुरू किया, उस समय उसकी दृष्टि सुकौशल के हाथों के लाञ्छनों (चिह्नों) पर जा पड़ी। उन्हें देखते ही इसे अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो गया। जिसे वह खा रही है, वह उसी का पुत्र है, जिस पर उसका बेहद प्यार था, उसे ही वह खा रही है यह ज्ञान होते ही उसे जो दुःख, जो आत्म-ग्लानि हुई वह लिखी नहीं जा सकती। वह सोचती है, हाय! मुझसी पापिनी कौन होगी जो अपने ही प्यारे पुत्र को मैं खा रही हूँ! धिक्कार है मुझसी मूर्खिनी को जो पवित्र धर्म को छोड़कर अनन्त संसार को अपना वास बनाती है। उस मोह को, उस संसार को धिक्कार है जिसके वश हो यह जीव अपने हित-अहित को भूल जाता है और फिर कुमार्ग में फँसकर दुर्गतियों में दुःख उठाता है। इस प्रकार अपने किए कर्मों की बहुत कुछ आलोचना कर उस व्याघ्री ने संन्यास ग्रहण कर लिया और अन्त में शुद्ध भावों से मरकर व

अहो श्रीजैनसद्धर्म-प्रभावोभुवनोत्तमः। क्व व्याघ्री पापकर्मासौ क्व स्वर्गे सारसंभवः ॥४१॥
ततः श्रीजैनसद्धर्मो स्वर्गमोक्षसुखप्रदः। आराध्यो भक्तितो नित्यं भव्यैः स्वात्मप्रसिद्धये ॥४२॥
सिद्धश्रीमूलसंघाख्ये प्रोत्तुंगोदयभूधरे। भानुर्भट्टारकः स्वामी जीयान्मे मल्लिभूषणः ॥४३॥
प्रोद्यत्सम्यक्त्वरत्नो जिनकथितमहासप्तभंगीतरङ्गैः निर्द्धूतैकान्तमिथ्यामतमलनिकरः क्रोधनक्रादिदूरः।
श्रीमज्जैनेन्द्रवाक्यामृतविशदरसः श्रीजिनेन्दुप्रवृद्धो।जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ॥४४॥

इति कथाकोशे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्यब्रह्मनेमिदत्तविरचिते
श्रीसुकौशलश्रेष्ठिनः कथा समाप्ता।

५९. गजकुमारमुनेः कथा

प्रसिद्धं स्वगुणैः सिद्धं पूजार्थं जिननायकम्। नत्वा गजकुमारस्य कथयामि कथानकम् ॥१॥
श्रीमद्द्वारवतीपुर्यां प्रसिद्धायां जगत्त्रये। श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य पवित्रायां सुजन्मना ॥२॥

सौधर्मस्वर्ग में देव हुई। सच है–जीवों की शक्ति अद्‌भुत ही हुआ करती है और जैनधर्म का प्रभाव भी संसार में बड़ा ही उत्तम है। नहीं तो कहाँ तो पापिनी व्याघ्री और कहाँ उसे स्वर्ग की प्राप्ति इसलिए जो आत्मसिद्धि ने चाहने वाले हैं, उन भव्य जनों को स्वर्ग–मोक्ष को देने वाले पवित्र जैनधर्म का पालन करना चाहिए ॥३७-४२॥

श्री मूलसंघरूपी अत्यन्त ऊँचे उदयाचल से उदय होने वाले मेरे गुरु श्रीमल्लिभूषणरूपी सूर्य संसार में सदा प्रकाश करते रहें ॥४३॥

वे प्रभाचन्द्राचार्य विजयलाभ करें जो ज्ञान के समुद्र हैं। देखिए, समुद्र में रत्न होते हैं, आचार्य महाराज सम्यग्दर्शन रूपी श्रेष्ठ रत्न को धारण किए हैं। समुद्र में तरंगें होती हैं, ये भी सप्तभंगी रूपी तरंगों से युक्त हैं, स्याद्वाद विद्या के बड़े ही विद्वान् हैं। समुद्र की तरंगें जैसे कूड़ा–करकट निकाल बाहर फेंक देती हैं, इसी तरह ये अपनी सप्तभंगवाणी द्वारा एकान्त मिथ्यात्वरूपी कूड़े–करकट को हटा दूर करते थे, अन्य मतों के बड़े–बड़े विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर विजयलाभ करते थे। समुद्र में मगरमच्छ घड़ियाल आदि अनेक भयानक जीव होते हैं, पर प्रभाचन्द्ररूपी समुद्र में उससे यह विशेषता थी, अपूर्वता थी कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि भयानक मगरमच्छ न थे। समुद्र में अमृत रहता है और इनमें जिनेन्द्र भगवान् का वचनमयी निर्मल अमृत समाया हुआ था और समुद्र में अनेक तरह की बिकने योग्य वस्तुएँ रहती हैं ये भी व्रतों द्वारा उत्पन्न होने वाली पुण्यरूपी विक्रेय–वस्तु को धारण किए थे ॥४४॥

५९. गजकुमार मुनि की कथा

जिन्होंने अपने गुणों से संसार में प्रसिद्ध हुए और सब कामों को करके सिद्धि, कृत्यकृत्यता लाभ की है, उन जिन भगवान् को नमस्कार कर गजकुमार मुनि की कथा लिखी जाती है ॥१॥

वासुदेवोभवद्राजा त्रिखण्डेशो महाबलिः। तस्य गन्धर्वसेनायां राज्ञ्यां गजकुमारवाक् ॥३॥
पूत्रोभूद्भटकोटीनां मध्येसौ सुभटाग्रणीः। यत्प्रतापेन शत्रूणां दग्धा मानलता तता ॥४॥
पोदनादिपुरे राजा तथाभूदपराजितः। स च श्रीवासुदेवस्य नैव सिद्ध्यति दुष्टधीः ॥५॥
ततः श्रीवासुदेवेन घोषणा दापिता पुरे। योपराजितभूपालं समानयति विद्विषम् ॥६॥
तस्मै ददामि सत्प्रीत्या वाञ्छितं वरमुत्तमम्। श्रीमान् गजकुमारोसौ तत्समाकर्ण्य वेगतः ॥७॥
पितुः पादद्वयं नत्वा गत्वा तत्पोदनं पुरम्। युद्धेऽपराजितं जित्वा गृहीत्वा जीवितं द्रुतम् ॥८॥
समानीय त्रिखण्डोरु-स्वामिनस्तं समर्पयत्। दुःसाध्यं साध्यते केन सद्भटेन विना क्षितौ ॥९॥
वरं प्राप्य कुमारोसौ कामचारं सुलम्पटः। हठाद्द्वारवतीस्त्रीणां समूहं सेवते स्म च ॥१०॥
धिग्धिक्कामं दुराचारं महापापस्य कारणम्। यतो लज्जाभयं नैव कामिनां मुग्धचेतसाम् ॥११॥
श्रेष्ठिनः पांसुलस्यापि सुरत्याख्यास्ति कामिनी। प्रोल्लसद्रूपसंयुक्ता तस्यां सोपि रतोभवत् ॥१२॥

नेमिनाथ भगवान् के जन्म से पवित्र हुई प्रसिद्ध द्वारका के अर्धचक्री वासुदेव की रानी गन्धर्वसेना से गजकुमार का जन्म हुआ था। गजकुमार बड़ा वीर था। उसके प्रताप को सुनकर ही शत्रुओं की विस्तृत मानरूपी बेल भस्म हो जाती थी ॥२-३॥

पोदनपुर के राजा अपराजित ने तब बड़ा सिर उठा रखा था। वासुदेव ने उसे अपने काबू में लाने के लिए अनेक यत्न किए, पर वह किसी तरह इनके हाथ न पड़ा। तब इन्होंने शहर में यह डौंडी पिटवाई कि जो मेरे शत्रु अपराजित को पकड़ लाकर मेरे सामने उपस्थित करेगा, उसे उसका, मन चाहा वर मिलेगा। गजकुमार डौंडी सुनकर पिता के पास गया और हाथ जोड़कर उसने स्वयं अपराजित पर चढ़ाई करने की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना मंजूर हुई वह सेना लेकर अपराजित पर जा चढ़ा। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। अन्त में विजयलक्ष्मी ने गजकुमार का साथ दिया। अपराजित को पकड़ लाकर उसने पिता के सामने उपस्थित कर दिया। गजकुमार की इस वीरता को देखकर वासुदेव बहुत खुश हुए उन्होंने उसकी इच्छानुसार वर देकर उसे संतुष्ट किया ॥४-९॥

ऐसे बहुत कम अच्छे पुरुष निकलते हैं जो मनचाहा वर लाभकर सदाचारी और सन्तोषी बने रहें। परन्तु गजकुमार की उल्टी दशा हुई उसने मनचाहा वर पिताजी से लाभ कर अन्याय की ओर कदम बढ़ाया। वह पापी जबरदस्ती अच्छे-अच्छे घरों की सती स्त्रियों की इज्जत लेने लगा। वह ठहरा राजकुमार, उसे कौन रोक सकता था और जो रोकने की कुछ हिम्मत करता तो वह उसकी आँखों को काँटा खटकने लगता और फिर गजकुमार उसे जड़मूल से उखाड़कर फेंकने का यत्न करता। उस काम को, उस दुराचार को धिक्कार है, जिसके वश हो मूर्ख-जनों को लज्जा और भय भी नहीं रहता है ॥१०-११॥

इसी तरह गजकुमार ने अनेक अच्छी-अच्छी कुलीन स्त्रियों की इज्जत ले डाली। पर इसके

अन्तः पांसुलकश्चापि प्रज्वलन्कोपवह्निना। गृहे संतिष्ठते कष्टमक्षमस्तन्निवारणे ॥१३॥
एकदा केवलज्ञान-प्रकाशितजगत्त्रयः। श्रीमन्नेमिजिनः स्वामी सुरेन्द्राद्यैः प्रसेवितः ॥१४॥
भव्यपुण्योदयेनोच्चै-र्द्वारवत्यां समागतः। तत्र श्रीबलभद्रेण वासुदेवान्वितेन च ॥१५॥
अन्यैर्भूपादिभिः सर्वैः परमानन्दनिर्भरैः। तस्य श्रीजिननाथस्य पादपद्मद्वयं मुदा ॥१६॥
समभ्यर्च्य बलाद्यैश्च स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। स्तुत्वा नत्वा महाभक्त्या भावितं चेतसि स्थिरम् ॥१७॥
पुनस्ते धर्ममाकर्ण्य शर्मकोटिविधायकम्। मुनिश्रावकभेदाभ्यां श्रीमन्नेमिजिनोदितम् ॥१८॥
सन्तुष्टा मानसे गाढं स्तुतिं चक्रुर्जिनेशिनाम्। श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्राणां कस्यानन्दो न जायते ॥१९॥
तथा धर्मं समाकर्ण्य भक्त्या गजकुमारवाक्। त्रिधा वैराग्यमासाद्य कृत्वा निन्दां स्वकर्मणः ॥२०॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं भवभ्रमणनाशिनीम्। विहृत्योच्चैर्महीपीठं प्रान्तेऽसौ सत्तपोनिधिः ॥२१॥
ऊर्जयन्तमहोद्याने प्रायोपमरणे दृढः। संन्यासेन स्थितः स्वामी निश्चलो मेरुवत्तराम् ॥२२॥
तं तत्रस्थं कुधीर्ज्ञात्वा पांसुलो वैरतो द्रुतम्। गत्वा तत्र महाकोपात्तं संप्राप्य यतीश्वरम् ॥२३॥
सर्वतो लोहकीलैश्च कीलित्वा च प्रसन्धिषुः। नष्टः पापी समादाय भूरि पापस्य संचयम् ॥२४॥

दबदबे से किसी ने चूँ तक न किया। एक दिन पांसुल सेठ की सुरति नाम की स्त्री पर इसकी नजर पड़ी और उसने उसे खराब भी कर दिया। यह देख पांसुल का हृदय क्रोधाग्नि से जलने लगा। पर वह बेचारा उसका कुछ कर नहीं सकता था। इसलिए उसे भी चुपचाप घर में बैठा रह जाना पड़ा ॥१२-१३॥

एक दिन भगवान् नेमिनाथ भव्य-जनों के पुण्योदय से द्वारका में आए बलभद्र, वासुदेव तथा और बहुत से राजा-महाराजा बड़े आनन्द के साथ भगवान् की पूजा करने को गए। खूब भक्तिभावों से उन्होंने स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाले भगवान् की पूजा-स्तुति की, उनका ध्यान-स्मरण किया। बाद में मुनि और गृहस्थ धर्म का भगवान् के द्वारा उन्होंने उपदेश सुना, जो कि अनेक सुखों का देने वाला है। उपदेश सुनकर सभी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बार-बार भगवान् की स्तुति की। सच है, साक्षात् सर्वज्ञ भगवान् का दिया सर्वोपदेश सुनकर किसे आनन्द या खुशी न होगी। भगवान् के उपदेश का गजकुमार के हृदय पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा। वह अपने किए पापकर्मों पर बहुत पछताया। संसार से उसे बड़ी घृणा हुई। उसने उसी समय भगवान् के पास ही दीक्षा ले ली, जो संसार के भटकने को मिटाने वाली है। दीक्षा लेकर गजकुमार मुनि विहार कर गए। अनेक देशों और नगरों में विहार करते और भव्य-जनों को धर्मोपदेश द्वारा शान्तिलाभ कराते। अन्त में वे गिरनार पर्वत के जंगल में आए। उन्हें अपनी आयु बहुत थोड़ी जान पड़ी। इसलिए वे प्रायोपगमन संन्यास लेकर आत्म-चिंतन करने लगे। तब उनकी ध्यान-मुद्रा बड़ी निश्चल और देखने योग्य थी ॥१४-२२॥

उनके संन्यास का हाल पांसुल सेठ को जान पड़ा, जिसकी स्त्री को गजकुमार ने अपने दुराचारीपने की दशा में खराब किया था। सेठ को अपना बदला चुकाने को बड़ा अच्छा मौका हाथ लग गया। वह क्रोध से भर्राता हुआ गजकुमार मुनि के पास पहुँचा और उनके सब सन्धिस्थानों में

तदा गजकुमारोसौ मुनीन्द्रो जिनतत्त्ववित्। तां वेदनां सुधीश्चित्ते गणयंश्च तृणोपमाम् ॥२५॥
कृत्वा समाधिना कालं स्वर्गलोकं ययौ द्रुतम्। तत्र सौख्यं चिरंकालं भुंजानः सुखतः स्थितः ॥२६॥
अहो सतां महाचित्रं चारित्रं भुवनोत्तमम्। क्व वेदनाभवद्भूरिः क्व समाधिः प्रशर्मदः ॥२७॥
सकलभुवननाथश्रीजिनेन्द्रप्रणीतं विमलमुखनिवासं जैनधर्मं निशम्य।
विशदतरमतीशः संयमी योऽत्र जातो भवतु गजकुमारः शान्तयेऽसौ मुनीन्द्रः ॥२८॥

इति कथाकोशे गजकुमारमुनेः कथा समाप्ता।

६०. पणिकमुनेः कथा

श्रीजिनं शर्मदं नत्वा शान्तये सद्भिरर्चितम्। वक्ष्ये श्रीपणिकाख्यानं संक्षेपेण जगद्धितम् ॥१॥
पुरे पणीश्वरे रम्ये प्रजापालो महीपतिः। श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यः पणिका श्रेष्ठिनी प्रिया ॥२॥
तयोः पुत्रः पवित्रात्मा संजातः पणिकाभिधः। सुधीः सन्मार्गसंसक्तो विरक्तः पापकर्मणि ॥३॥
एकदा पणिको धीमान्वर्द्धमानजिनेशिनः। समवादिसृतिं प्राप्य प्रोल्लसद्रत्नतोरणाम् ॥४॥

लोहे के बड़े-बड़े कीले ठोककर चलता बना। गजकुमार मुनि पर उपद्रव तो बड़ा ही दुःसह हुआ, पर वे जैनतत्त्व के अच्छे अभ्यासी थे, अनुभवी थे, इसलिए उन्होंने इस घोर कष्ट को एक तिनके के चुभने की बराबर भी न गिन बड़ी शान्ति और धीरता के साथ शरीर छोड़ा। यहाँ से ये स्वर्ग में गए। वहाँ अब चिरकाल तक वे सुख भोगेंगे। अहा! महापुरुषों का चरित बड़ा ही अचंभा पैदा करने वाला होता है। देखिये, कहाँ तो गजकुमार मुनि का ऐसा दुःसह कष्ट और कहाँ सुख देने वाली पुण्य-समाधि! इसका कारण सच्चा तत्त्वज्ञान है। इसलिए इस महत्ता को प्राप्त करने के लिए तत्त्वज्ञान का अभ्यास करना सबके लिए आवश्यक है ॥२३-२७॥

सारे संसार के प्रभु कहलाने वाले जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा सुख के कारण धर्म का उपदेश सुनकर जो गजकुमार अपनी दुर्बुद्धि को छोड़कर पवित्र बुद्धि के धारक और बड़े भारी सहनशील योगी हो गए, वे हमें भी सुबुद्धि और शान्ति प्रदान करें, जिससे हम भी कर्तव्य के लिए कष्ट सहने में समर्थ हो सकें ॥२८॥

६०. पणिक मुनि की कथा

सुख के देने वाले और सत्पुरुषों से पूजा किए गए जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर श्री पणिक नाम के मुनि की कथा लिखी जाती है, जो सबका हित करने वाली है ॥१॥

पणीश्वर नामक शहर के राजा प्रजापाल के समय वहाँ सागरदत्त नाम का एक सेठ हो चुका है। उसकी स्त्री का नाम पणिका था। उसका एक लड़का था। उसका नाम पणिक था। पणिक सरल, शान्त और पवित्र हृदय का था। पाप कभी उसे छू भी न गया था। सदा अच्छे रास्ते पर चलना उसका कर्तव्य था। एक दिन वह भगवान् के समवसरण में गया, जो कि रत्नों के तोरणों से बड़ी

मानस्तंभादिसद्भूत्या जगच्चेतोनुरंजनम्। तत्र गंधकुटीमध्ये त्रिपीठेषु निरंजनम् ॥५॥
कनत्काञ्चनसद्रत्नसिंहासनमधिष्ठितम्। पूर्णेन्दुकान्तिविद्वेषिछत्रत्रयविराजितम् ॥६॥
तारहारोज्ज्वलैर्दिव्यैर्वीज्यमानं सुचामरम्। सूर्यकोटिप्रभाभारहारिसत्कान्तिमण्डितम् ॥७॥
सर्वसन्देहविध्वंसिदिव्यध्वनिसमन्वितम्। दुंदुभीनां महाध्वानर्भुवनत्रयशोभितम् ॥८॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्कनरेन्द्राद्यैः समर्चितम्। निर्ग्रन्थादिगुणोपेतं भव्यसन्दोहसंस्तुतम् ॥९॥
चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यै-र्भूषितं भुवनोत्तमम्। सच्चतुष्टयसंयुक्तं व्यक्तलोकत्रयक्रमम् ॥१०॥
दृष्ट्वा श्रीवर्द्धमानाख्यं जिनेन्द्रं मुक्तिसत्प्रियम्। त्रिः परीत्य लसद्भक्त्या समभ्यर्च्य कृतश्रियम् ॥११॥
नत्वा स्तुत्वा सतां स्तुत्यं धर्ममाकर्ण्य शर्मदम्। श्रुत्वास्तोकतरं स्वायुर्दीक्षामादाय निर्मदम् ॥१२॥
एकाकी विहरन्नुच्चैस्ततोऽसौ पणिको मुनि। गंगां नदीं समागत्य नौमध्ये चैकदा स्थितः ॥१३॥
नौर्निमज्जति यावत्सा तावत्सोपि मुनीश्वर। केवलज्ञानमुत्पाद्य सद्ध्यानान्मोक्षमाप्तवान् ॥१४॥

ही सुन्दरता धारण किए हुए था और अपनी मानस्तंभादि शोभा से सबके चित्त को आनन्दित करने वाला था। वहाँ उसने वर्धमान भगवान् को गंधकुटी पर विराजे हुए देखा। भगवान् की इस समय की शोभा अपूर्व और दर्शनीय थी। वे रत्न-जड़े सोने के सिंहासन पर विराजे हुए थे, पूनम के चन्द्रमा को शर्मिन्दा करने वाले तीन छत्र उन पर शोभा दे रहे थे, मोतियों के हार के समान उज्ज्वल और दिव्य चँवर उन पर ढुर रहे थे, एक साथ उदय हुए अनेक सूर्यों के तेज को जिनके शरीर की कान्ति दबाती थी, नाना प्रकार की शंकाओं को मिटाने वाली दिव्यध्वनि द्वारा जो उपदेश कर रहे थे, देवों के बजाये दुन्दुभि नाम के बाजों से आकाश और पृथ्वी मण्डल शब्दमय बन गया था। इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती, विद्याधर और बड़े-बड़े राजा-महाराजा आदि आ-आकर जिनकी पूजा करते थे, अनेक निर्ग्रन्थ मुनिराज उनकी स्तुति कर अपने को कृतार्थ कर रहे थे, चौंतीस प्रकार के अतिशयों से जो शोभित थे, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ऐसे चार अनन्त चतुष्टय आत्म-सम्पत्ति को धारण किये थे, जिन्हें संसार के सर्वोच्च महापुरुष का सम्मान प्राप्त था, तीनों लोकों को स्पष्ट देख-जानकर उसका स्वरूप भव्य-जनों को जो उपदेश कर रहे थे और जिनके लिए मुक्ति-रमणी वरमाला हाथ में लिए उत्सुक हो रही थी। पणिक ने भगवान् का ऐसा दिव्य स्वरूप देखकर उन्हें अपना सिर नवाया, उनकी स्तुति-पूजा की, प्रदक्षिणा दी और बैठकर धर्मोपदेश सुना। अन्त में उसने अपनी आयु के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया। भगवान् के उत्तर से उसे अपनी आयु बहुत थोड़ी जान पड़ी। ऐसी दशा में आत्महित करना बहुत आवश्यक समझ पणिक वहीं दीक्षा ले साधु हो गया। यहाँ से विहार कर अनेक देशों और नगरों में धर्मोपदेश करते हुए पणिक मुनि एक दिन गंगा किनारे आए। नदी पार होने के लिए वे एक नाव में बैठे। मल्लाह नाव खेये जा रहा था कि अचानक एक प्रलय की-सी आँधी ने आकर नाव को खूब डगमग कर दिया, उसमें पानी भर आया, नाव डूबने लगी। जब तक नाव डूबती है पणिक मुनि ने अपने भावों को खूब उन्नत

स श्रीवणिक्सुतो धीमान्मेरुवन्निश्चलाशयः। कर्मसन्दोहशत्रुघ्नो दद्यान्मे शाश्वतीं श्रियम् ॥१५॥
श्रीमत्सागरदत्तनामपणिकासच्छ्रेष्ठिनीनन्दनः पूतात्मा पणिको विलोक्य शिवदं श्रीवर्द्धमानं जिनम्।
ज्ञात्वा स्वल्पतरं निजायुमखिलं त्यक्त्वा च मोहादिकं भूत्वा यस्तु मुनिः स मुक्तिमगमन्नित्यं सुखं मे क्रियात् ॥१६॥

इति कथाकोशे श्रीपणिकमुनेः कथा समाप्ता।

६१. श्रीभद्रबाहुमुनेः कथा

नत्वा जिनं जगद्भद्रं सुरासुरनमस्कृतम्। भद्रबाहोर्मुनीन्द्रस्य चरित्रं कथ्यते हितम् ॥१॥
पुण्ड्रवर्द्धनसद्देशे कोटीसन्नगरे वरे। राजा पद्मरथो धीमान्सोमशर्मा पुरोहितः ॥२॥
श्रीदेवी भामिनी तस्य तयोः पुत्रो बभूव च। भद्रबाहुर्गुणैर्भद्रो भद्रमूर्त्तिर्भवोत्तमः ॥३॥
एकदा प्रौढबालोऽसौ मौंजीबन्धे कृते सति। क्रीडां कुर्वन्पुरीबाह्ये भूरिबालजनैः सह ॥४॥
तत्र क्रीडाविधौ धीमान्गोलकांश्च त्रयोदश। क्रमेणोपरि संचक्रे बुद्ध्या हस्तकलान्वितः ॥५॥

किया। यहाँ तक कि उन्हें उसी समय केवलज्ञान हो गया और तुरन्त ही वे अघातिया कर्मों का नाश कर मोक्ष चले गए। वे सेठ पुत्र पणिक मुनि मुझे भी अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी दें, जिन्होंने मेरु समान स्थिर रहकर कर्म शत्रुओं का नाश किया ॥२-१५॥

सागरदत्त सेठ की स्त्री पणिका सेठानी के पुत्र पवित्रात्मा पणिक मुनि, वर्धमान भगवान् के दर्शन कर, जो कि मोक्ष के देने वाले हैं और उनसे अपनी आयु बहुत थोड़े जानकर संसार की सब माया-ममता छोड़ मुनि हो गए और अन्त में कर्मों का नाश कर मोक्ष गए, वे मुझे भी सुखी करें ॥१६॥

६१. भद्रबाहु मुनिराज की कथा

संसार का कल्याण करने वाले और देवों द्वारा नमस्कार किए गए श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर पंचम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु मुनिराज की कथा लिखी जाती है, जो कथा सबका हित करने वाली है ॥१॥

पुण्ड्रवर्द्धन देश के कोटीपुर नामक नगर के राजा पद्मरथ के समय में वहाँ सोमशर्मा नाम का एक पुरोहित ब्राह्मण था। इसकी स्त्री का नाम श्रीदेवी था। कथा-नायक भद्रबाहु इसी के लड़के थे। भद्रबाहु बचपन से ही शान्त और गम्भीर प्रकृति के थे। उनके भव्य चेहरे को देखने से यह झट से कल्पना होने लगती थी कि ये आगे चलकर कोई बड़े भारी प्रसिद्ध महापुरुष होंगे क्योंकि यह कहावत बिल्कुल सच्ची है कि ''पूत के पग पालने में ही नजर आ जाते हैं।'' अस्तु ॥२-३॥

जब भद्रबाहु आठ वर्ष के हुए और इनका यज्ञोपवीत और मूँजीबंधन हो चुका था तब एक दिन की बात है कि ये अपने साथी बालकों के साथ खेल रहे थे। खेल था गोलियों का। सब अपनी-अपनी होशियारी और हाथों की सफाई से गोलियों को एक पर एक रखकर दिखला रहे थे।

सर्वभव्यार्चिते श्रीमद्वर्धमानजिनेशिनि। मुक्तिं प्राप्ते च पञ्चानां चतुर्दशसुपूर्विणाम् ॥६॥
मध्ये यस्तु चतुर्थस्तु चतुर्दशसुपूर्ववित्। गोवर्द्धनो मुनिः श्रीमदूर्जयन्तगिरौ शुभे ॥७॥
वन्दनार्थं प्रगच्छन्सन्स कोटीपुरमागतः। दृष्ट्वा तद्गोलकक्रीडाविज्ञानं भुवनोत्तमम् ॥८॥
चतुर्दशमहापूर्वधरोयं पञ्चमो ध्रुवम्। भद्रबाहुर्विशुद्धात्मा भाविश्रीश्रुतकेवली ॥९॥
इति ज्ञात्वा ततः प्रोक्त्वा सोमशर्माद्विजस्य च। नीत्वा तं बालकं स्वान्तं सर्वशास्त्राणि सद्गुरुः ॥१०॥
पाठयित्वा जगत्सारशर्मकारीणि देहिनाम्। प्रेषयामास तद्गेहं स्वामी सर्वगुणाकरः ॥११॥
भद्रबाहुस्ततो बालस्त्यक्त्वा गेहादिकं पुनः। गोवर्द्धनमुनेः पार्श्वं समागत्य द्रुतं सुधीः ॥१२॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं स्वर्गमोक्षसुखप्रदाम्। मुनिर्भूत्वाभवत्सोपि चतुर्दशसुपूर्ववित् ॥१३॥
ज्ञाततत्त्वव्रजः प्राणी गृहावासं कुतो भजेत्। आस्वादितामृतस्वादुः कथं पिण्याकमाचरेत् ॥१४॥
गोवर्द्धनगुरौ तस्मिन्स्वर्गलोकं गते सति। संघाधारस्ततो भूत्वा भद्रबाहुः श्रुतेक्षणः ॥१५॥
संघेन महता सार्द्धं भव्यशस्यापि तर्पयन्। स्ववाक्यामृतधाराभिरुज्जयिन्यां समागतः ॥१६॥
चर्यायां स प्रतिष्ठः सन्नुत्संगे संस्थितेन च। अव्यक्तबालकेनोक्तो गच्छ गच्छेति भो मुने ॥१७॥

किसी ने दो, किसी ने चार, किसी ने छह और किसी-किसी ने अपनी होशियारी से आठ गोलियाँ तक ऊपर तले चढ़ा दी। पर हमारे कथानायक भद्रबाहु इन सबसे बढ़कर निकले। इन्होंने एक साथ चौदह गोलियाँ तले ऊपर चढ़ा दीं। सब बालक देखकर दंग रहे गए। इसी समय एक घटना हुई वह यह कि-श्रीवर्धमान भगवान् को निर्वाण लाभ के बाद होने वाले पाँच श्रुतकेवलियों में चौदह महापूर्व के जानने वाले चौथे श्रुतकेवली श्री गोवर्द्धनाचार्य गिरनार की यात्रा को जाते हुए इस ओर आ गए। उन्होंने भद्रबाहु के खेल की इस चकित करने वाली चतुरता को देखकर निमित्तज्ञान से समझ लिया कि पाँचवें होने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु ही हैं। भद्रबाहु से उनका नाम वगैरह जानने पर उन्हें और भी दृढ़ निश्चय हो गया। वे भद्रबाहु को साथ लिए उसके घर पर गये। सोमशर्मा से उन्होंने भद्रबाहु को पढ़ाने के लिए माँगा। सोमशर्मा ने कुछ आनाकानी न कर अपने लड़के को आचार्य महाराज के सुपुर्द कर दिया। आचार्य ने भद्रबाहु को लाकर खूब पढ़ाया और सब विषयों में उसे आदर्श विद्वान् बना दिया। जब आचार्य ने देखा कि भद्रबाहु अच्छा विद्वान् हो गया तब उन्होंने उसे वापस घर लौटा दिया इसीलिए कि कहीं सोमशर्मा यह न समझ ले कि मेरे लड़के को बहका कर इन्होंने साधु बना लिया। भद्रबाहु घर गए सही, पर अब उनका मन घर में न लगा। उन्होंने माता-पिता से अपने साधु होने की प्रार्थना की। माता-पिता को उनकी इस इच्छा से बड़ा दु:ख हुआ। भद्रबाहु ने उन्हें समझा बुझाकर शान्त किया और आप सब माया-मोह छोड़कर गोवर्द्धनाचार्य द्वारा दीक्षा ले योगी हो गए। सच है, जिसने तत्त्वों का स्वरूप समझ लिया वह फिर गृह जंजाल को क्यों अपने सिर पर उठायेगा? जिसने अमृत चख लिया है वह फिर क्यों खारा जल पीयेगा? मुनि होने के बाद भद्रबाहु अपने गुरुमहाराज गोवर्द्धनाचार्य की कृपा से चौदह महापूर्व के भी विद्वान् हो गए।

तत्समाकर्ण्य तत्वज्ञो भद्रबाहुर्मुनीश्वरः। सत्यं द्वादशवर्षेषु दुर्भिक्षं संभविष्यति ॥१८॥
ज्ञात्वेति सोन्तरायं च कृत्वा स्वस्थानमागतः। सन्ध्याकाले तदा सर्वमुनीनामग्रतोऽवदत् ॥१९॥
अत्र द्वादशवर्षाणि भावि दुर्भिक्षकं ध्रुवम्। मया स्वल्पायुषात्रैव स्थीयते भो तपस्विनः ॥२०॥
यूयं दक्षिणदेशं तु संगच्छन्तु कृतोद्यमाः। इत्युक्त्वा दशपूर्वज्ञं विशाखाचार्यसन्मुनिम् ॥२१॥
स्वशिष्यं संघसंयुक्तं सुधीः संज्ञानलोचनः। प्रेषयामास चारित्र-रक्षार्थं दक्षिणापथम् ॥२२॥
तदा ते मुनयः सन्तो गत्वा तत्र सुखं स्थिताः। गुरोर्वाक्यानुगाः शिष्याः संभवन्ति सुखाश्रिताः ॥२३॥
ततश्चोज्जयिनी नाथश्चन्द्रगुप्तो महीपतिः। वियोगाद्यतिनां भद्रबाहुं नत्वाभवन्मुनिः ॥२४॥
तदा श्रीभद्रबाहुश्च मुनीन्द्रः सुतपोनिधिः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सारतत्त्वविदांवरः ॥२५॥
उज्जयिन्यां सुधीर्भद्रः वटवृक्षसमीपके। क्षुत्पिपासादिकं जित्वा संन्यासेन समन्वितः ॥२६॥
स्वामी समाधिना मृत्वा संप्राप्तः स्वर्गमुत्तमम्। सोस्माकं सन्मुनिर्दद्यात्सन्मार्गं शर्मकोटिदम् ॥२७॥

जब संघाधीश गोवर्द्धनाचार्य का स्वर्गवास हो गया तब उनके बाद पट्ट पर भद्रबाहु श्रुतकेवली ही बैठे। जब भद्रबाहु आचार्य अपने संघ को साथ लिए अनेक देशों और नगरों में अपने उपदेशामृत द्वारा भव्यजनरूपी धन को बढ़ाते हुए उज्जैन की ओर आए और सारे संघ को एक पवित्र स्थान में ठहरा कर आप आहार के लिए शहर में गए। जिस घर में इन्होंने पहले ही पाँव दिया वहाँ एक बालक पालने में झूल रहा था और जो अभी स्पष्ट बोलना तक न जानता था; इन्हें घर में पाँव रखते देख वह सहसा बोल उठा कि ''महाराज, जाइए! जाइए! जाइए!! एक अबोध बालक का बोलना देखकर भद्रबाहु आचार्य बड़े चकित हुए। उन्होंने उस पर निमित्तज्ञान से विचार किया तो उन्हें जान पड़ा कि यहाँ बारह वर्ष का भयानक दुर्भिक्ष पड़ेगा और वह इतना भीषणरूप धारण करेगा कि धर्म-कर्म की रक्षा तो दूर रहे, पर मनुष्यों को अपनी जान बचाना भी कठिन हो जाएगा। भद्रबाहु आचार्य उसी समय अन्तराय कर लौट आए। शाम के समय उन्होंने अपने सारे संघ को इकट्ठा कर उनसे कहा-साधुओं, यहाँ बारह वर्ष का बड़ा भारी अकाल पड़ने वाला है, और तब धर्म-कर्म का निर्वाह होना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाएगा। इसलिए आप लोग दक्षिण दिशा की ओर जायें और मेरी आयु बहुत ही थोड़ी रह गई है। इसलिए मैं इधर ही रहूँगा। यह कहकर उन्होंने दसपूर्व के जानने वाले अपने प्रधान शिष्य श्री विशाखाचार्य को चारित्र की रक्षा के लिए सारे संघसहित दक्षिण की ओर रवाना कर दिया। दक्षिण की ओर जाने वाले उधर सुख-शान्ति से रहे। उसका चारित्र निर्विघ्न पला और सच है, गुरु के वचनों का मानने वाले शिष्य सदा सुखी रहते हैं ॥४-२३॥

सारे संघ को चला गया देख उज्जैन के राजा चन्द्रगुप्त को उसके वियोग का बहुत रंज हुआ। उसने भी दीक्षा ले मुनि बन गए और भद्रबाहु आचार्य की सेवा में रहे। आचार्य की आयु थोड़ी रह गई थी, इसलिए उन्होंने उज्जैन में ही किसी एक बड़ के झाड़ के नीचे समाधि ले ली और भूख-प्यास

श्रीसोमशर्मद्विजवंशसन्मणिः श्रीभद्रबाहुर्मुनिसत्तमाग्रणीः।
जिनेन्द्रधर्माब्धिसमग्रचंद्रमाः कुर्यात्सतां सारसुखाश्रिताः शुभाः ॥२८॥

इति कथाकोशे पञ्चमश्रुतकेवलिश्रीभद्रबाहुमुनेराख्यानं समाप्तम्।

६२. द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिपुत्राणां कथा

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्योच्चैर्लोकालोकप्रकाशकम्। द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिपुत्राणां चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
कौशाम्बीनगरे रम्ये द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिनोभवन्। इन्द्रदत्तादयः ख्याता भूरिद्रव्यसमन्विताः ॥२॥
तेषां समुद्रदत्ताद्याः पुत्रा द्वात्रिंशदुत्तमाः। ये जाताः सद्गुणोपेताः सारसम्यक्त्वमण्डिताः ॥३॥
सर्वे ते जिनपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रताः। परस्परं सुमित्रत्वं प्राप्ताः सद्धर्मशालिनः ॥४॥
अहो पुण्यस्य सामग्री सर्वे ते श्रेष्ठिनां सुताः। लक्ष्मीमित्रत्वसद्धर्म-सादृश्यं यत्समागताः ॥५॥
एकदा त्रिजगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम्। श्रीजिनेन्द्रं गुणैः सान्द्रं समभ्यर्च्य प्रभक्तितः ॥६॥
नत्वा स्तुत्वा सुरैः स्तुत्यं धर्ममाकर्ण्य निर्मलम्। सर्वे समुद्रदत्ताद्या महाभव्यमतल्लिका ॥७॥

आदि की परीषह जीतकर अन्त में स्वर्गलाभ किया। वे जैनधर्म के सार तत्त्व को जानने वाले महान् तपस्वी श्रीभद्रबाहु आचार्य हमें सुखमयी सन्मार्ग में लगावें ॥२४-२७॥

सोमशर्मा ब्राह्मण के वंश के एक चमकते हुए रत्न, जिनधर्मरूप समुद्र के बढ़ाने को पूर्ण चन्द्रमा और मुनियों के, योगियों के शिरोमणि श्रीभद्रबाहु पंचम श्रुतकेवली हमें वह लक्ष्मी दें जो सर्वोच्च सुख की देने वाली है, सब धन-दौलत, वैभव-सम्पत्ति में श्रेष्ठ है ॥२८॥

६२. बत्तीस सेठ पुत्रों की कथा

लोक और अलोक के प्रकाश करने वाले-उन्हें देख जानकर उनके स्वरूप को समझाने वाले श्रीसर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार कर बत्तीस सेठ पुत्रों की कथा लिखी जाती है ॥१॥

कौशाम्बी में बत्तीस सेठ थे। उनके नाम थे इन्द्रदत्त, जिनदत्त, सागरदत्त आदि। इनके पुत्र भी बत्तीस ही थे। उनके नाम समुद्रदत्त, वसुमित्र, नागदत्त, जिनदास आदि थे। ये सब ही धर्मात्मा थे, जिनभगवान् के सच्चे भक्त थे, विद्वान् थे, गुणवान् थे और सम्यक्त्वरूपी रत्न से भूषित थे। इन सबकी परस्पर में बड़ी मित्रता थी। वह एक उनके पुण्य का उदय कहना चाहिए जो सब ही धनवान्, सब ही गुणवान्, सब ही धर्मात्मा और सबकी परस्पर में गाड़ी मित्रता। बिना पुण्य के ऐसा योग कभी मिल ही नहीं सकता ॥२-५॥

एक दिन ये सब ही मित्र मिलकर एक केवलज्ञानी योगिराज की पूजा करने को गए। भक्ति से इन्होंने भगवान् की पूजा की और फिर उनसे धर्म का पवित्र उपदेश सुना। भगवान् से पूछने पर इन्हें जान पड़ा कि इनकी उमर अब बहुत थोड़ी रह गई है। तब अन्त समय में आत्म हित साधने के योग को उचित समझ उन सभी ने संसार का भटकना मिटाने वाली जिनदीक्षा ले ली। दीक्षा लेकर तपस्या करते हुए ये यमुना नदी के किनारे पर आए। यहीं इन्होंने प्रायोपगमन संन्यास ले लिया।

ज्ञात्वा स्वल्पतरं स्वायुः स्वयम्भुवदनाम्बुजात्। ततो दीक्षां समादाय भवभ्रमणनाशिनीम् ॥८॥
ते सर्वे मुनयो धीरा जैनतत्त्वविदांवराः। सत्तपश्चरणोपेता विस्तीर्णे यमुनातटे ॥९॥
प्रायोपयानसंज्ञेन मरणेन स्थिरं स्थिताः। महावृष्ट्यां प्रजातायां प्रवाहेन नदीह्रदे ॥१०॥
पातितास्ते तदा सर्वे कालं कृत्वा समाधिना। स्वर्गं प्राप्ताः सतां वृत्तं मेरोः शृङ्गाच्च निश्चलम् ॥११॥
स्वर्गे तत्र लसत्सौख्यं भुंजानस्ते स्वपुण्यतः। श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसंजाता भक्तिनिर्भराः ॥१२॥

स जयतु जिनदेवो यस्य चारित्रमुच्चैः स्थिरतरमतुलं वै दुष्टनानोपसर्गैः।
सकलभुवनसारं दत्तसंसारपारं परमसुखनिवासं ध्वस्तमोहादिपाशाम् ॥१३॥

इति कथाकोशे द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिपुत्राणामाख्यानं समाप्तम्।

भाग्य से इन्हीं दिनों में खूब जोर की वर्षा हुई। नदी, नाले सब पूर आ गए। यमुना भी खूब चढ़ी। एक जोर का ऐसा प्रवाह आया कि ये सभी मुनि उसमें बह गए। अन्त में समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर स्वर्ग गए। सच है–महापुरुषों का चरित्र सुमेरु से कहीं स्थिरशाली होता है। स्वर्ग में दिव्य सुखों को भोगते हुए वे सब जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति में सदा लीन रहते हैं ॥६–१२॥

कर्मों को जीतने वाले जिनेन्द्र भगवान् सदा जय लाभ करें। उनका पवित्र शासन संसार में सदा रहकर जीवों का हित साधन करे। उनका सर्वोच्च चारित्र अनेक प्रकार के दुःसह कष्टों को सहकर भी मेरु सदृश स्थिर रहता है, उसकी तुलना किसी के साथ नहीं की जा सकती, वह संसार में सर्वोत्तम आदर्श है, भव–भ्रमण मिटाने वाला है, परम सुख का स्थान है और मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्म शत्रुओं का नाश करने वाला है, उन्हें जड़ मूल से उखाड़ फेंक देने वाला है। हे भव्यजन! आप भी इस उच्च आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करिये, ताकि आप भी परमसुख–मोक्ष के पात्र बन सकें। जिनेन्द्र भगवान् इसके लिए आप सबको शक्ति प्रदान करें, यही भावना है ॥१३॥

प्रध्वस्तघातिकर्माणः केवलज्ञान भास्कराः।
कुर्वन्तु जगतः शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वराः॥

॥ इति आराधना कथाकोश द्वितीय भाग ॥

तृतीयखण्डम्

६३. श्रीधर्मघोषाख्यानम्

प्रणम्य त्रिजगद्देवं श्रीजिनं धर्मदेशकम्। वक्ष्ये श्रीधर्मघोषाख्यमुनीन्द्रस्य कथानकम् ॥१॥
चम्पायां चैकदा कृत्वा सुधीर्मासोपवासकम्। धर्मघोषो मुनिः पश्चाद्धर्ममूर्त्तिर्गुणाकरः ॥२॥
गोष्ठे तु पारणां कृत्वा संचचाल स्वलीलया। नष्टे मार्गे तदा भूरिहरिताङ्कुरितोपरि ॥३॥
आगच्छन्स तृषाक्रान्तो गंगातीरे मनोहरे। वटवृक्षतले यावद्धि-श्रान्तोसौ मुनीश्वरः ॥४॥
गंगादेवी तदा वीक्ष्य तं मुनिं तपसां निधिम्। प्रासुकं निर्मलं तोयं कुंभे कृत्वा मनोहरम् ॥५॥
समानीय प्रणम्योच्चैः संजगादेति भो मुने। कृपां कृत्वा पिबेदं मे सज्जलं भुवनोत्तमम् ॥६॥
तेनोक्तं श्रीमुनीन्द्रेण नास्माकं कल्पते शुभे। ततोऽसौ देवता गत्वा शीघ्रं पूर्वविदेहकम् ॥७॥
केवलज्ञानिनं नत्वा भक्तितः संजगौ तदा। न पीतं हेतुना केन जलं मे मुनिना विभो ॥८॥
ततः श्रीकेवली प्राह जिनेन्द्रो भुवनार्चितः। मुग्धे देवकराहारो मुनीनां नैव कल्पते ॥९॥
गंगादेवी तदागत्य सुगन्धीकृतदिङ्मुखाम्। समन्तात्तन्मुनेः शीततोयवृष्टिं चकार सा ॥१०॥

---

६३. धर्मघोष मुनि की कथा

सत्य धर्म का उपदेश करने वाले अतएव सारे संसार के स्वामी जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर श्रीधर्मघोष मुनि की कथा लिखी जाती है ॥१॥

एक महीना के उपवास से धर्ममूर्ति श्रीधर्मघोष मुनि एक दिन चम्पापुरी के किसी मुहल्ले में पारणा कर तपोवन की ओर लौट रहे थे। रास्ता भूल जाने से उन्हें बड़ी दूर तक हरी-हरी घास पर चलना पड़ा। चलने में अधिक परिश्रम होने से थकावट के मारे उन्हें प्यास लग आई, वे आकर गंगा के किनारे एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठे गए। उन्हें प्यास से कुछ व्याकुल से देखकर गंगा देवी पवित्र जल का भरा एक लोटा लेकर उनके पास आई वह उनसे बोली-योगिराज, मैं आपके लिए ठंडा पानी लाई हूँ, आप इसे पीकर प्यास शान्त कीजिए। मुनि ने कहा-देवी, तूने अपना कर्तव्य पूरा किया, यह तेरे लिए उचित ही था; पर हमारे लिए देवों द्वारा दिया गया आहार-पानी काम नहीं आता। देवी सुनकर बड़ी चकित हुई वह उसी समय इसका कारण जानने के लिए विदेह क्षेत्र में गई और वहाँ सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार कर उसने पूछा-भगवान्, एक प्यासे मुनि को मैं जल पिलाने गई, पर उन्होंने मेरे हाथ का पानी नहीं पिया; इसका क्या कारण है? तब भगवान् ने इसके उत्तर में कहा-देवों का दिया आहार मुनि लोग नहीं कर सकते। भगवान् का उत्तर सुन देवी निरुपाय हुई तब उसने मुनि को शान्ति प्राप्त हो, इसके लिए उनके चारों ओर सुगन्धित और ठण्डे जल की वर्षा शुरू की। उससे मुनि को शान्ति

तदासौ धर्मघोषाख्यो मुनीन्द्रो धर्मतत्त्ववित्। समाधानं समासाद्य शुक्लध्यानेन धीरधीः ॥११॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य सुरासुरसमर्चितः। मुक्तिं संप्राप्तवान्स्वामी सोस्माकं सत्सुखं क्रियात् ॥१२॥

स श्रीकेवललोचनोतिचतुरो भव्यौघसम्बोधको
लोकालोकविलोकनैकनिपुणो देवेन्द्रवृन्द्रार्चितः।
मिथ्यामोहमहान्धकारतरणिश्चिन्तामणिः प्राणिनां
कुर्यान्मे भवतां च निर्मलसुखं श्रीधर्मघोषो जिनः ॥१३॥

इति कथाकोशे धर्मघोषमुनेराख्यानं समाप्तम्।

६४. श्रीदत्तस्याख्यानम्

केवलज्ञानसल्लक्ष्मीनायकं श्रीजिनेश्वरम्। नत्वा देवकृते कष्टे वक्ष्ये श्रीदत्तवृत्तकम् ॥१॥
इलावर्द्धनसत्पुर्यां राजाभूज्जितशत्रुवाक्। इला राज्ञी तयोः पुत्रः श्रीदत्तः संबभूव च ॥२॥
अयोध्याभूपतेरंशुमतः पुत्रीं स्वयंवरे। सुधीरंशुमतीं पूतां श्रीदत्तः परिणीतवान् ॥३॥
अंशुमत्या सहैकस्तु समायातः शुकस्तदा। स पक्षी तु तयोर्द्यूते स्वगेहे रममाणयोः ॥४॥
श्रीदत्तस्य जये रेखामेकामंशुमतीजये। द्वे रेखे संददात्येव पक्षिणश्चापि वञ्चकाः ॥५॥

प्राप्त हुई। इसके बाद शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। स्वर्ग के देव उनकी पूजा करने को आए। अनेक भव्य-जनों को आत्म-हित के रास्ते पर लगा कर अन्त में उन्होंने निर्वाण लाभ किया ॥२-१२॥

वे धर्मघोष मुनिराज आपको तथा मुझे भी सुखी करें, जो पदार्थों की सूक्ष्म स्थिति देखने के लिए केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारक हैं, भव्य जनों को हितमार्ग में लगाने वाले हैं, लोक तथा अलोक के जानने वाले हैं, देवों द्वारा पूजित हैं और भव्य-जनों के मिथ्यात्व, मोहरूपी गाढ़े अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य हैं ॥१३॥

६४. श्रीदत्त मुनि की कथा

केवलज्ञानरूपी सर्वोच्च लक्ष्मी के जो स्वामी हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर श्रीदत्त मुनि की कथा लिखी जाती हैं, जिन्होंने देवों द्वारा दिये हुए कष्ट को बड़ी शान्ति से सहा ॥१॥

श्रीदत्त इलावर्द्धनपुरी के राजा जितशत्रु की रानी इला के पुत्र थे। अयोध्या के राजा अंशुमान की राजकुमारी अंशुमती से इनका ब्याह हुआ था। अंशुमती ने एक तोते को पाल रखा था। जब ये पति-पत्नी विनोद के लिए चौपड़ वगैरह खेलते तब तोता कौन कितनी बार जीता, इसके लिए अपने पैर के नख से रेखा खींच दिया करता था। पर इसमें यह दुष्टता थी कि जब श्रीदत्त जीतता तब तो यह एक ही रेखा खींचता और जब अपनी मालकिन की जीत होती तब दो रेखाएँ खींच दिया करता था। आश्चर्य है कि पक्षी भी ठगाई कर सकते है। श्रीदत्त तोते की इस चालाकी को कई बार तो सहन कर

श्रीदत्तेन तदा रुष्ट्वा ग्रीवायां चम्पितः शुकः। मृत्वा व्यन्तरदेवोभून्महाकष्टेन दुष्टधीः ॥६॥
श्रीदत्तश्चैकदा सोपि स्वप्रासादोपरि स्थितः। मेघस्य पटलं नष्टं समालोक्य विरक्तवान् ॥७॥
अहो संसारके सर्वं वस्तु विद्युल्लतोपमम्। भोगा भुजंगभोगाभाः कायो मायोपमो मली ॥८॥
तत्र मूढाः प्रकुर्वन्ति प्रीतिं संसारकादिषु। हा कष्टं किमतोन्यच्च मूढत्वेन समं भुवि ॥९॥
इत्यादिकं विचार्योच्चैः स्वचित्ते संसृतेः स्थितिम्। दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं स्वर्गमोक्षप्रदायिनीम् ॥१०॥
एकाकी विहरन्धीमान्भव्यसंघान्प्रबोधयन्। निजं पुरं समागत्य शीतकाले बहिः स्थितः ॥११॥
कायोत्सर्गं स्थितं वीक्ष्य तदा तं मुनिसत्तमम्। शुकव्यन्तरदेवोऽसौ पूर्ववैरेण पापधीः ॥१२॥
घोरवातमहाशीततोयसंसेवनादिभिः। पीडयामास दुष्टात्मा किं कुकार्यमतः परम् ॥१३॥
श्रीदत्तश्च मुनीन्द्रोसौ शत्रुमित्रसमाशयः। महासमाधिना स्वामी सोढ्वाशेषपरीषहम् ॥१४॥
शुक्लध्यानप्रभावेन मेरुवन्निश्चलस्तराम्। केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥१५॥

गया। पर आखिर उसे तोते पर बहुत गुस्सा आया। सो उसने तोते की गरदन पकड़ कर मरोड़ दी। तोता उसी दम मर गया। बड़े कष्ट के साथ मरकर वह व्यन्तरदेव हुआ ॥२-६॥

इधर साँझ को एक दिन श्रीदत्त अपने महल पर बैठा हुआ प्रकृति की सुन्दरता को देख रहा था। इतने में एक बादल का बड़ा भारी टुकड़ा उसकी आँखों के सामने से गुजरा। वह थोड़ी दूर न गया होगा कि देखते देखते छिन्न-भिन्न हो गया। उसकी इस क्षण नश्वरता का श्रीदत्त के चित्त पर बहुत असर पड़ा। संसार की सब वस्तुएँ उसे बिजली की तरह नाशवान् दिखाई पड़ने लगीं। सर्प के समान भयंकर विषय-भोगों से उसे डर लगने लगा। शरीर जिससे कि वह बहुत प्यार करता था सर्व अपवित्रता का स्थान जान पड़ने लगा। उसे ज्ञान हुआ कि ऐसे दुःखमय और देखते-देखते नष्ट होने वाले संसार के साथ जो प्रेम करते हैं, माया-ममता बढ़ाते हैं, वे बड़े बे समझ हैं। वह अपने लिए भी बहुत पछताया कि हाय! मैं कितना मूर्ख हूँ जो अब तक अपने हित को न शोध सका। मतलब यह है कि संसार की दशा से उसे बड़ा वैराग्य हुआ और अन्त में वह सुख के कारण जिनदीक्षा ले ही गया ॥७-१०॥

इसके बाद श्रीदत्त मुनि ने बहुत से देशों और नगरों में भ्रमण कर अनेक भव्य-जनों को सम्बोधा, उन्हें आत्महित की ओर लगाया। घूमते-फिरते वे एक बार अपने शहर की ओर आ गए। समय जाड़े का था। एक दिन श्रीदत्त मुनि शहर के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे, उन्हें ध्यान में खड़ा देख उस तोते के जीव को, जिसे श्रीदत्त ने गर्दन मरोड़ मार डाला था और जो मरकर व्यन्तर हुआ था, अपने बैरी पर बड़ा क्रोध आया। उस बैर का बदला लेने के अभिप्राय से उसने मुनि पर बड़ा उपद्रव किया। एक तो वैसे ही जाड़े का समय, उस पर इसने बड़ी जोर की ठंडी-ठार हवा चलाई, पानी बरसाया, ओले गिराये। मतलब यह कि उसने अपना बदला चुकाने में मुनि को बहुत कष्ट दिया। श्रीदत्त मुनिराज ने इन सब कष्टों को बड़ी शान्ति और धीरज के साथ सहा। व्यन्तर उनका पूरा दुश्मन था, पर तब भी इन्होंने उस पर रंच मात्र भी क्रोध न किया। वे वैरी और हितैषी को सदा समान भाव से देखते थे। अन्त में शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर वे कभी नाश न होने वाले मोक्ष स्थान को चले गए ॥११-१५॥

स श्रीमज्जितशत्रुराजतनुजः श्रीदत्तनामा मुनि-
र्भूत्वा देवकृतप्रकष्टमतुलं सोढ्वा शुभध्यानतः।
हत्वाशेषनिबन्धनानि नितरां प्राप्तः श्रियं शाश्वतीं
स श्रीकेवललोचनो जिनपतिर्दद्यात्स्वभक्तिं मम ॥१६॥

इति कथाकोशे श्रीदत्तमुनेराख्यानं समाप्तम्।

६५. श्रीवृषभसेनस्याख्यानम्

प्रोल्लसत्परमानन्द-जगद्वन्द्यं जिनेश्वरम्। नत्वा वृषभसेनस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
उज्जयिन्यां महाराजः प्रद्योताख्यो गुणोज्ज्वलः। मदोन्मत्तगजारूढो गजार्थमटवीं गतः ॥२॥
नीतो मत्तगजेनासौ सुदूरं भूरिदुःखतः। वृक्षशाखां नृपः प्रोच्चैरवलम्ब्यावतीर्य च ॥३॥
एकाकी तु समागच्छन्खेटग्रामे मनोहरे। स्थितः कूपतटे यावज्जिनपालस्य धीमतः ॥४॥
ग्रामकूटस्य तोयार्थं जिनदत्तागता सुता। तदा तेन नरेन्द्रेण जलं पातुं प्रयाचिता ॥५॥
महान्तं पुरुषं ज्ञात्वा दत्वा तस्मै जलं मुदा। सा ततो गृहमागत्य तां वार्त्तां स्वपितुर्जगौ ॥६॥
ततोसौ जिनपालेन समागत्य प्रभक्तितः। नीत्वा गृहं सुखस्नानं भोजनं कारितो नृपः ॥७॥

जितशत्रु राजा के पुत्र श्रीदत्त मुनि देवकृत कष्टों को बड़ी शान्ति के साथ सहकर अन्त में शुक्लध्यान द्वारा सब कर्मों का नाश कर मोक्ष गए। वे केवलज्ञानी भगवान् मुझे अपनी भक्ति प्रदान करें, जिससे मुझे भी शान्ति प्राप्त हो ॥१६॥

६५. वृषभसेन की कथा

जिन्हें सारा संसार बड़े आनन्द के साथ सिर झुकाता है, उन जिन भगवान् को नमस्कार कर वृषभसेन का चरित लिखा जाता है ॥१॥

उज्जैन के राजा प्रद्योत एक दिन उन्मत्त हाथी पर बैठकर हाथी पकड़ने के लिए स्वयं किसी एक घने जंगल में गए। हाथी इन्हें बड़ी दूर ले भागा और आगे-आगे भागता ही चला जाता था। इन्होंने उसके ठहराने की बड़ी कोशिश की, पर उसमें वे सफल नहीं हुए। भाग्य से हाथी एक झाड़ के नीचे होकर जा रहा था कि इन्हें सुबुद्धि सूझ गई वे उसकी टहनी पकड़ कर लटक गए और फिर धीरे-धीरे नीचे उतर आए। यहाँ से चलकर वे खेट नाम के एक छोटे से पर बहुत सुन्दर गाँव के पास पहुँचे। एक पनघट पर जाकर ये बैठ गये। उन्हें बड़ी प्यास लग रही थी। इन्होंने उसी समय पनघट पर पानी भरने को आई हुई जिनपाल की लड़की जिनदत्ता से जल पिला देने के लिए कहा। उसने इनके चेहरे के रंग-ढंग से इन्हें कोई बड़ा आदमी समझ जल पिला दिया। बाद में अपने घर पर आकर उसने प्रद्योत का हाल अपने पिता से कहा। सुनकर जिनपाल दौड़ा हुआ आकर उन्हें अपने घर लिवा लाया और बड़े आदर सत्कार के साथ उसने उन्हें स्नान-भोजन कराया। प्रद्योत उसकी इस मेहमानी से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने जिनपाल को अपना सब परिचय दिया। जिनपाल ने ऐसे महान् अतिथि द्वारा अपना घर

दानं स्तोकतरं चापि प्रस्तावे शर्मकोटिदम्। प्रावृट्काले यथा चोप्तं बीजं भूरिफलं भवेत् ॥८॥
भृत्यादौ च समायाते स प्रद्योतो महीपतिः। महोत्सवशतैस्तत्र तां कन्यां परिणीय च ॥९॥
चक्रे पट्टमहाराज्ञीं जिनदत्तां गुणोज्ज्वलाम्। नाना भोगान्प्रभुञ्जानः संस्थितो निजलीलया ॥१०॥
कैश्चिद्दिनैस्ततस्तस्याः सुतोत्पत्तिनिशाक्षणे। स्वप्ने राज्ञा समालोक्य वृषभं सुमनोहरम् ॥११॥
पुत्रो वृषभसेनोयं संप्रोक्तः परया मुदा। जिनेन्द्रभवनोत्साहस्नानपूजाप्रदानतः ॥१२॥
एवं सत्कर्मभिर्नित्यं गते संवत्सराष्टके। राजा प्रद्योतनामासौ प्राप्तसौख्यपरम्पराम् ॥१३॥
पुत्रं प्राह सुधी राज्यं त्वं गृहाण सुतोत्तम। मया श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं सत्तपः क्रियतेऽधुना ॥१४॥
सुतेनोक्तमहो तात किं राज्यं कुर्वतोङ्गिनः। परलोकमहासिद्धिर्विद्यते नैव भूतले ॥१५॥
राजा जगाद भो पुत्र नैव मुक्तिस्तपो विना। मुक्तेः संसाधनं जैनं तपः प्रोक्तं यतो बुधैः ॥१६॥

पवित्र होने से अपने को बड़ा भाग्यशाली माना। वे कुछ दिन वहाँ और ठहरे। इतने में उनके सब नौकर-चाकर भी उन्हें लिवाने को आ गए। प्रद्योत अपने शहर जाने को तैयार हुए। इसके पहले एक बात कह देने की है कि जिनदत्ता को जबसे प्रद्योत ने देखा तब ही से उनका उस पर अत्यन्त प्रेम हो गया था और इसी से जिनपाल की सम्मति पा उन्होंने उसके साथ ब्याह भी कर लिया था। दोनों नव दम्पत्ति सुख के साथ अपने राज्य में आ गए। जिनदत्ता को तब प्रद्योत ने अपनी पट्टरानी का सम्मान दिया। सच है, समय पर दिया हुआ थोड़ा भी दान बहुत ही सुखों का देने वाला होता है। जैसे वर्षाकाल में बोया हुआ बीज बहुत फलता है। जिनदत्ता के उस जलदान से, जो उसने प्रद्योत को किया था, जिनदत्ता को एक राजरानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे नये दम्पत्ति सुख से समय बिताने लगे, प्रतिदिन नये-नये सुखों का स्वाद लेने में इनके दिन कटने लगे ॥२-१०॥

कुछ दिनों बाद इनके एक पुत्र हुआ। जिस दिन पुत्र होने वाला था, उसी रात को राजा प्रद्योत ने सपने में एक सफेद बैल को देखा था। इसलिए पुत्र का नाम भी उन्होंने वृषभसेन रख दिया। पुत्र-लाभ होने के बाद राजा की प्रवृत्ति धर्म-कार्यों की ओर अधिक झुक गई वे प्रतिदिन पूजा, प्रभावना, अभिषेक, दान आदि पवित्र कार्यों को बड़ी भक्ति-श्रद्धा के साथ करने लगे। इसी तरह सुख के साथ कोई आठ बरस बीत गए। जब वृषभसेन कुछ होशियार हुआ तब एक दिन राजा ने उससे कहा-बेटा, अब तुम अपने इस राज्य के कार्य-भार को सम्भालो। मैं अब जिन भगवान् के उपदेश किए पवित्र तप को ग्रहण करता हूँ। वही शान्ति प्राप्ति का कारण है। वृषभसेन ने तब कहा-पिताजी, आप तप क्यों ग्रहण करते हैं, क्या परलोक-सिद्धि, मोक्ष-प्राप्ति राज्य करते हुए नहीं हो सकती है? राजा ने कहा-बेटा हाँ, जिसे सच्ची सिद्धि या मोक्ष कहते हैं, वह बिना तप किए नहीं होती। जिन भगवान् ने मोक्ष का कारण एक मात्र तप बताया है। इसलिए आत्महित करने वालों को उसका ग्रहण करना अत्यन्त ही आवश्यक है। राजपुत्र वृषभसेन ने तब कहा-पिताजी, यदि यह बात है तो फिर मैं इस दुःख के कारण राज्य को लेकर क्या करूँगा? कृपाकर यह भार मुझ पर न रखिए। राजा ने वृषभसेन को

यद्यैवं निश्चयस्तात दुःखदे राज्यकर्मणि। निर्वृत्तिर्ममाप्यस्ति भवत्पादप्रसादतः ॥१७॥
पुत्रवाक्यं समाकर्ण्य भ्रातृव्याय महोत्सवैः। दत्वा राज्यं स्वपुत्रेण सार्द्धं जातो मुनिर्नृपः ॥१८॥
स श्रीवृषभसेनाख्यो मुनिः श्रीजिनभाषितम्। तपः कुर्वंस्तदैकाकी विहरन्भुवतोत्तमः ॥१९॥
कौशाम्बीपत्तनाभ्यर्णे पर्वतोरुशिलातले। ज्येष्ठमासे सुधीर्योगं ददात्यातापनं सदा ॥२०॥
तत्प्रभावं समालोक्य सर्वे भव्यजनास्तदा। श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे संजाताः सुतरां रताः ॥२१॥
एकदासौ मुनिर्धीरश्चारुचारित्रमंडितः। निर्गतो देहयात्रार्थं जैनतत्त्वविदांवरः ॥२२॥
तदा चेर्ष्यापरः पापी बुद्धदासः कुवन्दकः। तां शिलां पावकेनोच्चैरग्निवर्णां चकार सः ॥२३॥
साधूनां सुप्रभावस्तु सह्यते नैव दुर्जनैः। यथा भानुप्रभावश्च घूकानां न सुखायते ॥२४॥
चर्यां कृत्वा समागत्य शिलामालोक्य तादृशीम्। सत्प्रतिज्ञापरः स्वामी स श्रीवृषभसेनवाक् ॥२५॥
सारसंन्याससमादाय निश्चलो मुनिसत्तमः। स्थितो यावच्छिलापीठे तावत्त्रैलोक्यपूजितम् ॥२६॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य निर्वाणं प्राप्तवान्सुधीः। अहो मेरोरपि व्यक्तं चारित्रं निश्चलं सताम् ॥२७॥

बहुत समझाया, पर उसके ध्यान में तप छोड़कर राज्यग्रहण करने की बात बिल्कुल न आयी। लाचार हो राजा राज्यभार अपने भतीजे को सौंपकर आप पुत्र के साथ जिनदीक्षा ले ली ॥११-१८॥

यहाँ से वृषभसेन मुनि तपस्या करते हुए अकेले ही देश, विदेशों में धर्मोपदेशार्थ घूमते-फिरते एक दिन कौशाम्बी के पास आ एक छोटी-सी पहाड़ी पर ठहरे। समय गर्मी का था। बड़ी तेज धूप पड़ती थी। मुनिराज एक पवित्र शिला पर कभी बैठे और कभी खड़े इस कड़ी धूप में योग साधा करते थे। उनकी इस कड़ी तपस्या और आत्मतेज से दिपते हुए उनके शारीरिक सौन्दर्य को देख लोगों की उन पर बड़ी श्रद्धा हो गई जैनधर्म पर उनका विश्वास खूब दृढ़ जम गया ॥१९-२१॥

एक दिन चारित्रचूड़ामणि श्रीवृषभसेन मुनि आहार के लिए शहर में गए हुए थे कि पीछे से किसी जैनधर्म के प्रभाव को न सहने वाले बुद्धदास नाम के बुद्धधर्मी ने मुनिराज के ध्यान करने की शिला को आग से तपाकर लाल सुर्ख कर दिया। सच है, साधु-महात्माओं का प्रभाव दुर्जनों से नहीं सहा जाता। जैसे सूरज के तेज को उल्लू नहीं सह सकता। जब मुनिराज आहार कर लौटे और उन्होंने शिला को अग्नि की तपी हुई देखा, यदि वे चाहते और भौतिक शरीर से उन्हें मोह होता तो बिना शक वे अपनी रक्षा कर सकते थे। पर उनमें यह बात न थी; वे कर्तव्यशील थे, अपनी प्रतिज्ञाओं का पालना वे सर्वोच्च समझते थे। यही कारण था कि वे संन्यास की शरण ले उस आग से धधकती शिला पर बैठ गए। उस समय उनके परिणाम इतने ऊँचे चढ़े कि उन्हें शिला पर बैठते ही केवलज्ञान हो गया और उसी समय अघातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने निर्वाण-लाभ किया। सच है, महापुरुषों का चारित्र मेरु से भी कहीं अधिक स्थिर होता है ॥२२-२७॥

यच्चित्तोन्नतपर्वतस्य पुरतः प्रोत्तुङ्गभूभृद्गणोऽ-
णुत्वं याति सरित्पतिस्तु नितरां दर्भाग्रबिन्दूपमाम्।
स श्रीमान्वृषभादिसेनजिनपः प्रध्वस्तकर्मा विभु-
र्दद्यात्स्वस्य गुणश्रियं गुणनिधिर्मे सर्वसिद्धिप्रदाम् ॥२८॥

इति कथाकोशे श्रीवृषभसेनमुनेराख्यानं समाप्तम्।

६६. कार्तिकेयमुनेराख्यानम्

केवलज्ञानसन्नेत्रं पवित्रं शर्मकारणम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि कार्त्तिकेयकथानकम् ॥१॥
कार्तिकाख्यपुरे राजा संजातोग्न्यभिधानकः। राज्ञी वीरमती पुत्री कृत्तिका रूपमण्डिता ॥२॥
साथ नन्दीश्वराष्टम्यामुपवासं विधाय च। कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां शेषां पित्रे सुता ददौ ॥३॥
तदा तद्रूपमालोक्य दिव्यं राजाग्निवाक् कुधीः। सर्वलिङ्गीन्द्विजादींश्च दुष्टात्मा कामुकोऽवदत् ॥४॥
उत्पन्नं मद्गृहे रत्नं कस्य भो भवति ध्रुवम्। ब्रूत यूयं तदाकर्ण्य जगुस्ते मुग्धमानसाः ॥५॥
भो नरेन्द्र तवैव स्या-त्ततः प्राहुर्मुनीश्वराः। कन्यारत्नं विना देव सर्वं ते नात्र संशयः ॥६॥

जिसके चित्तरूपी अत्यन्त ऊँचे पर्वत की तुलना में बड़े-बड़े पर्वत एक ना कुछ चीज परमाणु की तरह दीखने लगते हैं, समुद्र दूबा की अणी पर ठहरे जल कण सा प्रतीत होता है, वे गुणों के समुद्र और कर्मों को नाश करने वाले वृषभसेन जिन मुझे अपने गुण प्रदान करें, जो सब मनचाही सिद्धियों के देने वाले हैं॥२८॥

६६. कार्तिकेय मुनि की कथा

संसार के सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों को देखने जानने के लिए केवलज्ञान जिनका सर्वोत्तम नेत्र है और जो पवित्रता की प्रतिमा और सब सुखों के दाता हैं, उन जिन भगवान् को नमस्कार कर कार्तिकेय मुनि की कथा लिखी जाती है ॥१॥

कार्तिकपुर के राजा अग्निदत्त की रानी वीरवती के कृतिका नाम की एक लड़की थी। एक बार अठाई के दिनों में उसने आठ दिन के उपवास किए। अन्त के दिन वह भगवान् की पूजा कर शेषा को-भगवान् के लिए चढ़ाई फूलमाला को लाई। उसे उसने अपने पिता को दिया। उस समय उसकी दिव्य रूपराशि को देखकर उसके पिता अग्निदत्त की नियत ठिकाने न रही। काम के वश हो उस पापी ने बहुत से अन्य धर्मी और कुछ जैन साधुओं को इकट्ठा कर उनसे पूछा-योगी-महात्माओं, आप कृपा कर मुझे बतलावें कि मेरे घर में पैदा हुए रत्न का मालिक मैं ही हो सकता हूँ या कोई और? राजा का प्रश्न पूरा होता है कि सब ओर से एक ही आवाज आई कि महाराज, उस रत्न के तो आप ही मालिक हो सकते हैं, न कि दूसरा। पर जैन साधुओं ने राजा के प्रश्न पर कुछ गहरा विचार कर इस रूप में राजा के प्रश्न का उत्तर दिया-राजन्, यह बात ठीक है कि अपने यहाँ उत्पन्न हुए रत्न के मालिक आप हैं, पर एक कन्या-रत्न को छोड़कर। उसकी मालिकी पिता के नाते से ही आप कर सकते हैं और रूप

तद्वाक्यं त्रिजगत्पूज्यं तच्चित्ते कष्टकोटिदम्। संजातं पापिनां युक्तं कथं पथ्यायते वचः ॥७॥
ततस्तेन सुरुष्टेन देशान्निर्घाट्य तान्मुनीन्। स्वपुत्री कृत्तिका नाम्नी परिणीता स्वयं हठात् ॥८॥
पापिनां कामिनां लोके भाविदुर्गतिदुःखिनाम्। क्व धर्मः क्व च लज्जासौ क्व नीतिः क्व च सन्मतिः ॥९॥
कैश्चिद्दिनैस्ततस्तस्यां कार्त्तिकेयो सुतोऽभवत्। पुत्री वीरमती जाता रूपलावण्यमण्डिता ॥१०॥
रोहेडनगरे सा तु पुत्री क्रौंचमहीभुजे। दत्ता भोगान्प्रभुञ्जाना संस्थिता सुखतः सती ॥११॥
चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु निजलीलया। कार्त्तिकेयः सुधीः क्रीडां कुर्वन्नेकदिने ततः ॥१२॥
नमिप्रभृतितद्राजकुमाराणां मनोहरम्। मातामहात्समायातं दृष्ट्वा वस्त्रादिकं शुभम् ॥१३॥
जगाद मातरं चेति भो मातस्ते पिता मम। किं कारणं कदा किंचिन्नैव प्रेषयते स्फुटम् ॥१४॥
अश्रुपातं विधायोच्चैः कृत्तिका प्राह भो सुत। किं कथ्यते स महापापमेको मे ते पिता कुधीः ॥१५॥

में नहीं। जैन साधुओं का यह हित भरा उत्तर राजा को बड़ा बुरा लगा और लगना ही चाहिए क्योंकि पापियों को हित की बात कब सुहाती है? राजा ने गुस्सा होकर उन मुनियों को देश बाहर कर दिया और अपनी लड़की के साथ स्वयं ब्याह कर लिया। सच है, जो पापी हैं, कामी हैं जिन्हें आगामी दुर्गतियों में दुःख उठाना है, उसमें कहाँ धर्म, कहाँ लाज, कहाँ नीति-सदाचार और कहाँ सुबुद्धि? ॥२-९॥

कुछ दिनों बाद कृतिका के दो सन्तान हुई एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र का नाम रखा कार्तिकेय और पुत्री का नाम वीरमती। वीरमती बड़ी खूबसूरत थी। उसका ब्याह रोहेड़ नगर के राजा क्रोंच के साथ हुआ। वीरमती वहाँ रहकर सुख के साथ दिन बिताने लगी ॥१०-११॥

इधर कार्तिकेय भी बड़ा हुआ। अब उसकी उम्र कोई १४ वर्ष की हो गई थी। एक दिन वह अपने साथी राजकुमारों के साथ खेल रहा था। वे सब अपने नाना के यहाँ से आए हुए अच्छे-अच्छे कपड़े और आभूषण पहने हुए थे। पूछने पर कार्तिकेय को ज्ञात हुआ कि वे वस्त्राभरण उन सब राजकुमारों के नाना-मामा के यहाँ से आए हैं। तब उसने अपनी माँ से जाकर पूछा-क्यों माँ! मेरे साथी राजपुत्रों के लिए तो उनके नाना-मामा अच्छे-अच्छे वस्त्राभरण भेजते हैं, भला फिर मेरे नाना-मामा मेरे लिए क्यों नहीं भेजते हैं? अपने प्यारे पुत्र की ऐसी भोली बात सुनकर कृतिका का हृदय भर आया। आँखों से आँसू बह चले। अब वह उसे क्या कहकर समझायें और कहने को जगह ही कौन सी बच रही थी परन्तु अबोध पुत्र के आग्रह से उसे सच्ची हालत कहने को बाध्य होना पड़ा। वह रोती हुई बोली-बेटा, मैं इस महापाप की बात तुझसे क्या कहूँ। कहते हुए छाती फटती है। जो बात कभी नहीं हुई, वही बात मेरे तेरे सम्बन्ध में है। वह केवल यही कि जो मेरे पिता हैं वे ही तेरे भी पिता हैं। मेरे पिता ने मुझसे बलात् ब्याह कर मेरी जिन्दगी कलंकित की। उसकी करनी का तू फल है। कार्तिकेय को काटो तो खून नहीं। उसे अपनी माँ का हाल सुनकर बेहद दुःख हुआ। लज्जा और आत्मग्लानि से उसका हृदय तिलमिला उठा। इसके लिए वह लाइलाज था। उसने फिर अपनी माँ से पूछा-तो क्यों माँ! उस समय मेरे पिता को ऐसा अनर्थ करते किसी ने रोका नहीं, सब कानों में तेल डाले पड़े रहे? उसने कहा-बेटा!

तद्वृत्तकं समाकर्ण्य कार्त्तिकेयोवदत्पुनः। भो मातः किं पिता मेऽयं निषिद्धो नैव केनचित् ॥१६॥
तयोक्तं मुनिभिः पुत्र निषिद्धो बहुशो बुधैः। दुष्टो निर्घाटयामास स्वदेशात्तान्मुनीश्वरान् ॥१७॥
कीदृशास्ते सुतः प्राह मुनीन्द्रा गुणशालिनः। सा जगौ जैनतत्त्वज्ञा निर्ग्रन्था धर्मनायकाः ॥१८॥
मयूरकोमलोत्कृष्टपिच्छहस्ता दयान्विताः। कमण्डलुकरा दूरे ते तिष्ठन्ति दिगम्बराः ॥१९॥
जनन्या वचनं श्रुत्वा कार्त्तिकेयो विरक्तवान्। गृहान्निर्गत्य पूतात्मा गत्वा स्थानं मुनीशिनाम् ॥२०॥
नत्वा मुनीन्महाभक्त्या दीक्षामादाय शर्मदाम्। मुनिर्जातो जिनेन्द्रोक्त-सप्ततत्त्वविचक्षणः ॥२१॥
कृत्तिका जननी मृत्वा तदार्त्तेन स्वकर्मणा। जाता व्यन्तरदेवी सा प्रोल्लसद्रूपसम्पदा ॥२२॥
कार्त्तिकेयो मुनिर्धीमान्विहरन्स तपोनिधिः। रोहेडनगरं प्राप्तो ज्येष्ठमासे गुणोज्ज्वलः ॥२३॥
अमावास्यादिने स्वामी चर्यायां संप्रविष्टवान्। प्रासादोपरिभूमिस्था दृष्ट्वा वीरमती च तम् ॥२४॥
भ्राता ममेति संज्ञात्वा पत्युः स्वोत्संगतः शिरः। परित्यज्य तदा शीघ्रं समागत्य प्रभक्तितः ॥२५॥

रोका क्यों नहीं? जैन मुनियों ने उन्हें रोका था, पर उनकी कोई बात नहीं सुनी गई, उल्टे वे ही देश से निकाल दिये गए ॥१२-१७॥

कार्तिकेय ने तब पूछा-माँ वे गुणवान् मुनि कैसे होते हैं? कृतिका बोली बेटा! वे कभी कपड़े नहीं पहनते, उनका वस्त्र केवल यह आकाश है। वे बड़े दयावान् होते हैं, कभी किसी जीव को जरा भी नहीं सताते! इसी दया को पूरी तौर से पालने के लिए वे अपने पास सदा मोर के अत्यन्त कोमल पंखों की एक पीछी रखते हैं और जहाँ उठते-बैठते हैं, वहाँ की जमीन को पहले उस पीछी से झाड़-पोंछकर साफ कर लेते हैं। उनके हाथ में लकड़ी का एक कमण्डलु होता है, जिसमें वे शौच वगैरह के लिए प्रासुक (जीवरहित) पानी रखते हैं। अपनी माता द्वारा जैन साधुओं की तारीफ सुनकर कार्तिकेय की उन पर बड़ी श्रद्धा हो गई उसे अपने पिता के कार्य से वैराग्य तो पहले ही हो चुका था, घर से निकल गया और मुनियों के स्थान तपोवन में जा पहुँचा। मुनियों का संघ देख उसे बड़ी प्रसन्नता हुई उसने बड़ी भक्ति से उन सब साधुओं को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और दीक्षा के लिए उनसे प्रार्थना की। संघ के आचार्य ने उसे होनहार जान दीक्षा दे मुनि बना लिया। कुछ दिनों में ही कार्तिकेय मुनि, आचार्य के पास शास्त्राभ्यास कर बड़े विद्वान् हो गए। कार्तिकेय की जुदाई का दुःख सहना उसकी माँ के लिए बड़ा कठिन हो गया। दिनों-दिन उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा और आखिर वह पुत्र शोक से मृत्यु को प्राप्त हुई। मरते समय भी वह पुत्र के आर्तध्यान से मरी, अतः मरकर व्यन्तर देवी हुई। उधर कार्तिकेय मुनि घूमते-फिरते एक बार रोहेड़ नगरी की ओर आ गए, जहाँ इनकी बहिन ब्याही थी। ज्येष्ठ का महीना था। खूब गर्मी थी। अमावस्या के दिन कार्तिकेय मुनि शहर में आहार के लिए गए। राजमहल के नीचे होकर वे जा रहे थे कि ऊपर महल पर बैठी हुई उनकी बहिन वीरमती की नजर पड़ गई वह उसी समय अपनी गोद में सिर रखकर लेटे हुए पति के सिर को नीचे रखकर दौड़ी हुई भाई के पास आई और बड़ी भक्ति से उसने भाई को हाथ जोड़कर

तुभ्यं नमोस्तु वीरेति लग्ना तत्पादपद्मयोः। बन्धुत्वाच्च मुनित्वाच्च कस्य प्रीतिर्न जायते ॥२६॥
तदा क्रौंचनृपः पापी दृष्ट्वा तां कामिनीं तथा। मारयामास तं क्रोधा-त्स्वशक्त्या मुनिनायकम् ॥२७॥
पापी मिथ्यारतः प्राणी जैनधर्मपराङ्मुखः। किं करोति न दुष्कर्म जन्मकोटिप्रकष्टदम् ॥२८॥
तदा शीघ्रं समागत्य व्यन्तरी जननीचरी। सा मयूरस्य रूपेण मूर्च्छितं मुनिसत्तमम् ॥२९॥
दृष्ट्वा शीतलनाथस्य मन्दिरे सुमनोहरे। नीत्वा यत्नेन सद्भक्त्या स्थापयामास देवता ॥३०॥
तत्रासौ कार्त्तिकेयस्तु मुनीन्द्रो जैनतत्त्ववित्। कृत्वा समाधिना कालं सम्प्राप्तः स्वर्गमुत्तमम् ॥३१॥
देवैस्तत्र समागत्य कृता पूजा सुभक्तितः। स्वामी श्रीकार्त्तिकेयाख्यं ततोभूच्चेति तीर्थकम् ॥३२॥
वीरमत्यास्तु सम्बन्धाद्भ्रातृकादिद्वितीयकम्। लौकिकं पर्वसंजातं तदा प्रभृति भूतले ॥३३॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं शास्त्रं सन्देहनाशकम्। संभजन्तु बुधा नित्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥३४॥

सकलतत्त्वविलोकनदीपिका यदुदितां भुवनोत्तमभारती।
स मम देवनिकायसमर्चितो दिशतु शाश्वतशर्म जिनाधिपः ॥३५॥

इति कथाकोशे श्रीकार्त्तिकेयमुनेराख्यानं समाप्तम्।

नमस्कार किया। प्रेम के वशीभूत हो वह उसके पाँवों में गिर पड़ी और ठीक है-भाई होकर फिर मुनि हो तब किसका प्रेम उन पर न हो? क्रौंचराज ने जब एक नंगे भिखारी के पाँव पड़ते अपनी रानी को देखा तब उसके क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने आकर मुनि को खूब मार लगाई यहाँ तक कि मुनि मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। सच है, पापी, मिथ्यात्वी और जैनधर्म से द्वेष करने वाले लोग ऐसा कौन सा नीच कर्म नहीं कर गुजरते जो जन्म-जन्म में अनन्त दुःखों का देने वाला न हो ॥१८-२८॥

कार्तिकेय को अचेत पड़े देखकर उनकी पूर्वजन्म की माँ, जो इस जन्म में व्यन्तर देवी हो गई थीं, मोरनी का रूप ले उनके पास आई और उन्हें उठा लाकर बड़े यत्न से शीतलनाथ भगवान् के मन्दिर में एक निरापद जगह में रख दिया। कार्तिकेय मुनि की हालत बहुत खराब हो चुकी थी। उनके अच्छे होने की कोई सूरत न थी। इसलिए ज्योंही मुनि को मूर्च्छा से चेत हुआ उन्होंने समाधि ले ली। उसी दशा में शरीर छोड़कर वे स्वर्गधाम सिधारे। तब देवों ने आकर उनकी भक्ति से बड़ी पूजा की। उसी दिन से वह स्थान भी कीर्तिकेय तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ और बे वीरमती के भाई थे इसलिए 'भाई दूज' के नाम से दूसरा लौकिक पर्व प्रचलित हुआ ॥२९-३३॥

आप लोग जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट ज्ञान का अभ्यास करें। वह सब सन्देहों का नाश करने वाला और स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख प्रदान करने वाला है। जिनका ऐसा उच्च ज्ञान संसार के पदार्थों का स्वरूप दिखाने के लिए दिये की तरह सहायता करने वाला है वे देवों द्वारा पूजे जाने वाले, जिनेन्द्र भगवान् मुझे भी कभी नाश न होने वाला सुख देकर अविनाशी बनावें ॥३४-३५॥

६७. अभयघोषमुनेराख्यानम्।

संप्रणम्य जिनाधीशं सुराधीशैः समर्चितम्। मुनेरभयघोषस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
काकन्दीनगरे राजा संजातोभयघोषवाक्। राज्ञी चाभयमत्याख्या तस्याभूत्प्राणवल्लभा ॥२॥
एकदाभयघोषेण पुरबाह्यं गतेन च। चतुष्पादेषु संबध्वा जीवन्तं कच्छपं दृढम् ॥३॥
स्कन्धे यष्ट्यां विधायैव समागच्छंश्च धीवरः। दृष्टो राज्ञा स्वचक्रेण पापतोऽज्ञानभावतः ॥४॥
चत्वारः कच्छपस्याशु छिन्नाः पादाः प्रमादिना। हन्ति पापीजनो जन्तून्विना न्यानेन दुष्टधीः ॥५॥
कच्छपोसौ महाकष्टं मृत्वा तस्यैव भूपतेः। चण्डवेगः सुतो जातः कृत्वाकामप्रनिर्जराम् ॥६॥
एकदासौ महीनाथः सुधीरभयघोषवाक्। चन्द्रग्रहणमालोक्य जातो वैराग्यमण्डितः ॥७॥
अहो पापी दुरात्माहं जैनतत्त्वपराङ्मुखः। मोहान्धतमसाक्रान्तो महान्धे लोचने सति ॥८॥
हिताहितं न पश्यामि मूढोहं पापमण्डितः। कथं संसारवार्राशेः पारं यास्यामि निर्मलम् ॥९॥

---

६७. अभयघोष मुनि की कथा

देवों द्वारा पूजा भक्ति किए गए जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर अभयघोष मुनि का चरित्र लिखा जाता है ॥१॥

अभयघोष काकन्दी के राजा थे उनकी रानी का नाम अभयमती था। दोनों में परस्पर बहुत प्यार था। एक दिन अभयघोष घूमने को जंगल में गए हुए थे। इस समय एक मल्लाह एक बहुत बड़े और जीवित कछुए के चारों पाँव बाँध कर उसे लकड़ी में लटकाये हुए लिए जा रहा था। पापी अभयघोष की उस पर नजर पड़ गई उन्होंने मूर्खता के वश हो अपनी तलवार से उसके चारों पाँवों को काट दिया। बड़े दुःख की बात है कि पापी लोग बेचारे ऐसे निर्दोष जीवों को निर्दयता के साथ मार डालते हैं और न्याय-अन्याय का कुछ विचार नहीं करते! कछुआ उसी समय तड़फड़ा कर गत प्राण हो गया। मरकर वह अकाम-निर्जरा के फल से इन्हीं अभयघोष के यहाँ चंडवेग नाम का पुत्र हुआ ॥२-६॥

एक दिन राजा को चन्द्र-ग्रहण देखकर वैराग्य हुआ। उन्होंने विचार किया जो एक महान् तेजस्वी ग्रह है, जिसकी तुलना कोई नहीं कर सकता और जिसकी गणना देवों में है, वह भी जब दूसरों से हार खा जाता है तब मनुष्यों की तो बात ही क्या? जिनके सिर पर काल सदा चक्कर लगाता रहता है। हाय, मैं बड़ा ही मूर्ख हूँ जो आज तक विषयों में फँसा रहा और कभी अपने हित की ओर मैंने ध्यान नहीं दिया। मोह रूपी गाढ़े अँधेरे ने मेरी दोनों आँखों को ऐसा अन्धा बना डाला, जिससे मुझे अपने कल्याण का रास्ता देखने या उस पर सावधानी के साथ चलने को सूझ ही न पड़ा। इसी मोह के पापमय जाल में फँस कर मैंने जैनधर्म से विमुख होकर अनेक पाप किए। हाय, मैं अब इस संसाररूपी अथाह समुद्र को पार कर सुखमय किनारे को कैसे प्राप्त कर सकूँगा? प्रभो, मुझे

अतः परं महाघोरं तपः कृत्वा जिनोदितम्। अनादिकालसंलग्नाञ्जित्वा कर्ममहारिपून् ॥१०॥
मुक्तिकान्ताकरस्पर्शं संकरोमि सुखप्रदम्। इत्यादिकं विचार्योच्चैः स्वचित्ते चतुरोत्तमः ॥११॥
दत्वा राज्यं स्वपुत्राय चण्डवेगाय वेगतः। दीक्षामादाय जैनेन्द्रीमिन्द्रियाणां प्रदण्डिनीम् ॥१२॥
गुरुं नत्वा मुनिर्भूत्वा संसाराम्भोधितारणम्। जन्ममृत्युजरातंक-कुपङ्कक्षयकारिणम् ॥१३॥
एकाकी सुतपः कुर्वन्विहरंश्च महीतले। काकन्दीनगरोद्याने स्थितो वीरासनेन सः ॥१४॥
पूर्ववैरेण पापात्मा चण्डवेगश्च पुत्रकः। तत्रायातस्तदा तस्य मुनीन्द्रस्य महाधियः ॥१५॥
छिनत्ति स्म स्वचक्रेण हस्तौ पादौ च मूढधीः। अज्ञानी धर्महीनस्तु किं पापं यत्करोति न ॥१६॥
मुनीन्द्रोभयघोषस्तु तत्क्षणे ध्यानतत्परः। केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥१७॥
अहो जीवस्य सच्छक्तिर्महाश्चर्यं प्रवर्त्तते। क्व कष्टं दारुणं दिव्यं क्व च ध्यानं शिवप्रदम् ॥१८॥

शक्ति प्रदान कीजिए, जिससे मैं आत्मिक सच्चा सुख पा सकूँ। इस विचार के बाद उन्होंने निश्चित किया कि जो हुआ सो हुआ। अब भी मुझे अपने कर्तव्य के लिए बहुत समय है। जिस प्रकार मैंने संसार में रहकर विषय सुख भोगा, शरीर और इन्द्रियों को खूब सन्तुष्ट किया, उसी तरह अब मुझे अपने आत्महित के लिए कड़ी से कड़ी तपस्या कर अनादि काल से पीछा किए हुए इन आत्मशत्रुरूपी कर्मों का नाश करना उचित हैं, यही मेरे पहले किए कर्मों का पूर्ण प्रायश्चित्त है और ऐसा करने से ही मैं शिवरमणी के हाथों का सुख-स्पर्श कर सकूँगा। इस प्रकार स्थिर विचार कर अभयघोष ने सब राजभार अपने कुँवर चण्डवेग को सौंप जिन दीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर उन्हें आत्मशक्ति के बढ़ाने को सहायक बनाती है। इसके बाद अभयघोष मुनि संसार-समुद्र से पार करने वाले और जन्म-जरा-मृत्यु को नष्ट करने वाले अपने गुरु महाराज को नमस्कार कर और उनकी आज्ञा ले देश विदेशों में धर्मोपदेशार्थ अकेले ही विचार कर गए। इसके कितने वर्षों बाद वे घूमते-फिरते फिर एक बार अपनी राजधानी काकन्दी की ओर आ निकले। एक दिन वे वीरासन से तपस्या कर रहे थे। इसी समय उनका पुत्र चण्डवेग इस ओर आ निकला। पाठकों को याद होगा कि चण्डवेग की और इसके पिता अभयघोष की शत्रुता है। कारण चण्डवेग पूर्व जन्म में कछुआ था और उसके पाँव अभयघोष न काट डाले थे। चण्डवेग की जैसे ही इन पर नजर पड़ी उसे अपने पूर्व की घटना याद आ गई उसने क्रोध से अन्धे होकर उनके भी हाथ पाँवों को काट डाला। सच है धर्महीन अज्ञानी जन कौन पाप नहीं कर डालते ॥७-१६॥

अभयघोष मुनि पर महान् उपसर्ग हुआ, पर वे तब भी मेरु के समान अपने कर्तव्य में दृढ़ बने रहे। अपने आत्मध्यान से वे रत्तीभर भी न डिगे। इसी ध्यान बल से केवलज्ञान प्राप्त कर अन्त में उन्होंने अक्षयान्त मोक्ष लाभ किया। सच है, आत्मशक्ति बड़ी गहन है, आश्चर्य पैदा करने वाली है। देखिए कहाँ तो अभयघोष मुनि पर दु:सह कष्ट का आना और कहाँ मोक्ष प्राप्ति का कारण दिव्य आत्मध्यान ॥१७-१८॥

जित्वाशेषपरीषहान्दृढतरान्हत्वा च मोहादिकान्नाना जन्मशतोरुकष्टजनकान्क्षिप्त्वाशु कर्मारिकान्।
संप्राप्तोक्षयमोक्षसौख्यमतुलं स श्रीजिनः शं क्रियात्संपूज्योभयघोषनामकलितो नित्यं सतां सेवितः ॥१९॥

इति कथाकाशे श्रीमदभयघोषमुनेराख्यानं समाप्तम्।

६८. श्रीविद्युच्चरमुनेराख्यानम्

सर्वसौख्यप्रदं नत्वा जिनेन्द्रं भुवनोत्तमम्। वक्ष्ये विद्युच्चराख्यानं विख्यातं मुनिभाषितम् ॥१॥
मिथिलाख्यपुरे राजा सुधीर्वामरथोभवत्। तल्गारो यमदण्डोभूच्चोरो विद्युच्चरो महान् ॥२॥
नाना विज्ञानसम्पन्नो निष्पन्नश्चोरकर्मणि। दिनेऽसौ कुष्ठिरूपेण चोरो मायायुतस्तदा ॥३॥
क्वचिद्देवकुले शून्ये रंको भूत्वा च तिष्ठति। रात्रौ दिव्यनरो भूत्वा चोरो भोगान्करोति च ॥४॥
एकदा तस्य भूपस्य रात्रौ हारं गृहीतवान्। प्रभाते यमदण्डाख्यं राजा वामरथोवदत् ॥५॥
चोरेण दिव्यरूपेण मोहयित्वा च मां पुनः। हारो मे संहृतः शीघ्रं यमदण्ड समानय ॥६॥
तं हारं सप्त रात्रिभिर् नान्यथा निग्रहं तव। करिष्यामीति तच्छ्रुत्वा तल्गारः स विचक्षणः ॥७॥

सत्पुरुषों द्वारा सेवा किए गए वे अभयघोष मुनि मुझे भी मोक्ष का सुख दें, जिन्होंने दुःसह परीषह को जीता, आत्मशत्रु राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को नष्ट किया और जन्म-जन्म में दारुण दुःखों के देने वाले कर्मों का क्षय कर मोक्ष का सर्वोच्च सुख, जिस सुख की कोई तुलना नहीं कर सकता, प्राप्त किया ॥१९॥

६८. विद्युच्चर मुनि की कथा

सब सुखों के देने वाले और संसार में सर्वोच्च गिने जाने वाले जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर शास्त्रों के अनुसार विद्युच्चर मुनि की कथा लिखी जाती है ॥१॥

मिथिलापुर के राजा वामरथ के राज्य में इनके समय कोतवाल के ओहदे पर एक यमदण्ड नाम का मनुष्य नियुक्त था। वहीं एक विद्युच्चर नाम का चोर रहता था। यह अपने चोरी के फन में बड़ा चलता हुआ था। सो यह क्या करता कि दिन में तो एक कोढ़ी के वेष में किसी सुनसान मन्दिर में रहता और ज्यों ही रात होती कि एक सुन्दर मनुष्य का वेष धारण कर खूब मजा-मौज मारता। यही ढंग इसका बहुत दिनों से चला आता था। पर इसे कोई पहचान न सकता था। एक दिन विद्युच्चर राजा के देखते-देखते खास उन्हीं के हार को चुरा लाया। पर राजा से तब कुछ भी न बन पड़ा। सुबह उठकर राजा ने कोतवाल को बुलाकर कहा-देखो, कोई चोर अपनी सुन्दर वेषभूषा से मुझे मुग्ध बनाकर मेरा रत्न-हार उठा ले गया है। इसलिए तुम्हें हिदायत की जाती है कि सात दिन के भीतर उस हार को या उसके चुरा ले जाने वाले को मेरे सामने उपस्थित करो, नहीं तो तुम्हें इसकी पूरी सजा भोगनी पड़ेगी। जान पड़ता है तुम अपने कर्तव्य पालन में बहुत त्रुटि करते हों। नहीं तो राजमहल में से चोरी हो जाना कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है। ''हुक्म हुजूर का'' कहकर कोतवाल चोर के ढूँढ़ने को

नत्वा नृपं पुरादौ च तं गवेषयितुं गतः। दृष्ट्वा सर्वत्र यत्नेन ततः सप्तमवासरे ॥८॥
शून्यालये समालोक्य तं नीत्वा च नृपान्तिकम्। सुधीः प्राह नरेन्द्रायं तस्करो दुष्टमानसः ॥९॥
तेनोक्तं नैव चोरोहं कोटपालः पुनर्जगौ। अयं देव भवत्येव तस्करो नात्र संशयः ॥१०॥
तदा राज्ञो जनैः प्रोक्तं देवासौ तलरक्षकः। चोराभावे महारंकं मारयत्येव साम्प्रतम् ॥११॥
ततस्तेन तल्गारेण नीत्वा तं निजमन्दिरम्। माघमासे महाशीत-तोयसेचनकादिभिः ॥१२॥
तापताडनबन्धोरुद्वात्रिंशद्दुष्कदर्थनैः। पीडितोपि वदत्येष नाहं चोर इति स्फुटम् ॥१३॥
प्रभाते भूपतेरग्रं नीत्वा तं तलरक्षकः। संजगाद नरेन्द्रासौ सर्वचोरशिरोमणिः ॥१४॥
स च प्राह महादस्युर्नाहं चोरो भवाम्यहो। चोराणां साहसो गूढो वर्ण्यते केन भूतले ॥१५॥

निकला। उसने सारे शहर की गली-कूँची, घर-बार आदि एक-एक करके छान डाला, पर उसे चोर का पता कहीं न चला। ऐसे उसे छह दिन बीत गए। सातवें दिन वह फिर घर से बाहर हुआ। चलते-चलते उसकी नजर एक सुनसान मन्दिर पर पड़ी। वह उसके भीतर घुस गया। वहाँ उसने एक कोढ़ी को पड़ा पाया। उस कोढ़ी का रंग ढंग देखकर कोतवाल को कुछ सन्देह हुआ। उसने उससे कुछ बातचीत इस ढंग से की कि जिससे कोतवाल उसके हृदय का कुछ पता पा सके। यद्यपि उस बातचीत से कोतवाल को जैसी चाहिए थी वैसी सफलता न हुई, पर तब भी उसके पहले शक को सहारा अवश्य मिला। कोतवाल उस कोढ़ी को राजा के पास ले गया और बोला—महाराज, यही आपके हार का चोर है। राजा के पूछने पर उस कोढ़ी ने साफ इनकार कर दिया कि मैं चोर नहीं हूँ। मुझे ये जबरदस्ती पकड़ लाये है। राजा ने कोतवाल की ओर नजर की। कोतवाल ने फिर भी दृढ़ता के साथ कहा कि महाराज, यही चोर है। इसमें कोई सन्देह नहीं। कोतवाल को बिना कुछ सबूत के इस प्रकार जोर देकर कहते देखकर कुछ लोगों के मन में यह विश्वास जम गया कि यह अपनी रक्षा के लिए जबरन इस बेचारे गरीब भिखारी को चोर बताकर सजा दिलवाना चाहता है। उसकी रक्षा हो जाए, इस आशय से उन लोगों ने राजा से प्रार्थना की कि महाराज, कहीं ऐसा न हो कि बिना ही अपराध के इस गरीब भिखारी को कोतवाल साहब की मार खाकर बेमौत मर जाना पड़े और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये इसे मारेंगे अवश्य। तब कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे अपना हार भी मिल जाए और बेचारे गरीब की जान भी न जाए। जो हो, राजा ने उन लोगों की प्रार्थना पर ध्यान दिया या नहीं, पर यह स्पष्ट है कि कोतवाल साहब उस गरीब कोढ़ी को अपने घर लिवा ले गए और जहाँ तक उनसे बन पड़ा। उन्होंने उसके मारने पीटने, सजा देने, बाँधने आदि में कोई कसर न की। वह कोढ़ी इतने दुःसह कष्ट दिये जाने पर भी हर बार यही कहता रहा कि मैं हर्गिज चोर नहीं हूँ। दूसरे दिन कोतवाल ने फिर उसे राजा के सामने खड़ा करके कहा—महाराज, यही पक्का चोर है। कोढ़ी ने फिर भी यही कहा कि महाराज मैं हर्गिज चोर नहीं हूँ। सच है, चोर बड़े ही कट्टर साहसी होते हैं ॥२-१५॥

दत्वाभयप्रदानं च तं राज्ञो भणितस्तदा। सत्यं ब्रूहि महाधीर किं त्वं चोरो न वेति च ॥१६॥
तेनोक्तं तस्करेणैवं ततो निर्भयचेतसा। अहो नरेन्द्र चोरोहं सत्यस्ते तलरक्षकः ॥१७॥
ततो वामरथो राजा महाविस्मयतो जगौ। द्वात्रिंशद्दण्डनैः कष्टं कथं रे निर्जितं त्वया ॥१८॥
चोराग्रणीस्तदावोचद्-भूपाल मया श्रुतम्। मुनेः पार्श्वे महादुःखं यत्क्रूरं नरकोद्भवम् ॥१९॥
तस्मात्कोटिप्रभागं तु नैतद्दुःखं भवेत्परम्। संचिन्त्येति स्वचित्तेहं संजातस्तत्क्षमः प्रभो ॥२०॥
हृष्टो राजा जगादैवं वरं प्रार्थय भो भट। तेनोक्तं भो नराधीश दीयते भवता द्रुतम् ॥२१॥
दानं मेऽस्मै सुमित्राय तल्गराय सुनिर्भयम्। तच्छ्रुत्वा स महीनाथो महाश्चर्यपरोवदत् ॥२२॥
कथं भो कोट्टपालोयं मित्रं तेऽत्र प्रवर्तते। स पुनस्तस्करो प्राह श्रूयतां भो महीपते ॥२३॥
दक्षिणाख्यपथेऽभीरदेशे वेनानदीतटे। पुरेवेनातटे ख्याते जितशत्रुर्महीपतिः ॥२४॥
राज्ञी जयावती तस्याः पुत्रो विद्युच्चरोस्म्यहम्। श्रूयतां च तथा देव तत्रैव नगरे शुभे ॥२५॥
तल्गरो यमपाशोभूत्तद्भार्या यमुना सती। तयोश्च यमदण्डोसौ पुत्रो जातो गुणोज्ज्वलः ॥२६॥

तब राजा ने उससे कहा–अच्छा, मैं तेरा सब अपराध क्षमा कर तुझे अभय देता हूँ, तू सच्चा-सच्चा हाल कर दे कि तू चोर है या नहीं? राजा से जीवनदान पाकर उस कोढ़ी या विद्युच्चर ने कहा–यदि ऐसा है तो लीजिए कृपानाथ, मैं सब सच्ची बात आपके सामने प्रकट करे देता हूँ। यह कहकर वह बोला–राजाधिराज, अपराध क्षमा हो। वास्तव में मैं ही चोर हूँ। आपके कोतवाल साहब का कहना सत्य है। सुनकर राजा चकित हो गए। उन्होंने तब विद्युच्चर से पूछा–जब तू चोर था तब फिर तूने इतनी मारपीट कैसे सह ली रे? विद्युच्चर बोला–महाराज, इसका तो कारण यह है कि मैंने एक मुनिराज द्वारा नरकों के दुःखों का हाल सुन रखा था। तब मैंने विचारा कि नरकों के दुःखों में और इन दुःखों में तो पर्वत और राई का सा अन्तर है और जब मैंने अनन्त बार नरकों के भयंकर दुःख, जिनके कि सुनने मात्र से ही छाती दहल उठती है, सहे है तब इन तुच्छ, ना कुछ चीज दुःखों का सह लेना कौन बड़ी बात है! यही विचार कर मैंने सब कुछ सहकर चूँ तक भी नहीं की। विद्युच्चर से उसकी सच्ची घटना सुनकर राजा ने खुश होकर उसे वर दिया कि तुझे 'जो कुछ माँगना हो माँग'। मुझे तेरी बातें सुनने से बड़ी प्रसन्नता हुई तब विद्युच्चर ने कहा–महाराज, आपकी इस कृपा का मैं अत्यन्त उपकृत हूँ। इस कृपा के लिए आप जो कुछ मुझे देना चाहते हैं वह मेरे मित्र इन कोतवाल साहब को दीजिए। राजा सुनकर और भी अधिक अचम्भे में पड़ गए। उन्होंने विद्युच्चर से कहा–क्यों यह तेरा मित्र कैसे है? विद्युच्चर ने तब कहा–सुनिए महाराज, मैं सब आपको खुलासा सुनाता हूँ। यहाँ से दक्षिण की ओर आभीर प्रान्त में बहने वाली वेना नदी के किनारे पर बेनातट नाम का एक शहर बसा हुआ है। उसके राजा जितशत्रु और उनकी रानी जयावती ये मेरे माता-पिता हैं। मेरा नाम विद्युच्चर है। मेरे शहर में एक यमपाश नाम के कोतवाल थे। उनकी स्त्री यमुना थी। ये आपके कोतवाल यमदण्ड साहब उन्हीं के पुत्र है। हम दोनों एक ही गुरु के पास पढ़े हुए है। इसलिए तभी

एकोपाध्यायसान्निध्ये मया चोरागमः सुधीः। अनेन कोट्टपालस्य शास्त्रं संपठितं विभो ॥२७॥
द्वाभ्यां कृत्वा प्रतिज्ञेति मयोक्तं तत्र गर्वतः। यत्र रे यमदंड त्वं तल्गारस्तत्पुरे मया ॥२८॥
कर्त्तव्या चोरिकावश्यं तच्छ्रुत्वानेन जल्पितम्। यत्र त्वं तस्करस्तत्र मया रक्षा विधीयते ॥२९॥
एकदा मे पिता देव जितशत्रुर्गुणाकरः। दत्वा राज्यं च मे प्राज्यं जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥३०॥
यमपाशस्तल्गरस्तु समर्प्यास्मै निजं पदम्। सोपि जातो मुनिर्धीमान्यमदण्डः प्रभीतवान् ॥३१॥
मदीयभयतो राजं-स्त्वदीयमिथिलापुरम्। समागत्य तल्गरोयं संजातो यमदण्डकः ॥३२॥
तत्प्रतिज्ञावशाद्देव समागत्यात्र पत्तने। संगवेषयितुं चामुं चोरो जातोहमद्भुतम् ॥३३॥
इत्युक्त्वा हारपर्यन्तं कथयित्वा च वृत्तकम्। गृहीत्वा यमदण्डं स्वं पुरं विद्युच्चरो गतः ॥३४॥
तत्र वैराग्यभावेन संप्रविश्य स्वमन्दिरम्। सुधीर्विद्युच्चरः सोपि जैनतत्त्वविदाम्वरः ॥३५॥
राज्यं दत्वा स्वपुत्राय जिनस्नपनपूर्वकम्। भूरिराजसुतैः सार्द्धं मुनिर्भूत्वा विचक्षणः ॥३६॥
कुर्वंस्तपो जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। भव्यान्सम्बोधयन्नुच्चैर्विहरंश्च महीतले ॥३७॥

से मेरी इनके साथ मित्रता है। विशेषता यह है कि इन्होंने तो कोतवाली सम्बन्धी शास्त्राभ्यास किया था और मैंने चौर्यशास्त्र का। यद्यपि मैंने यह विद्या केवल विनोद के लिए पढ़ी थी, तथापि एक दिन हम दोनों अपनी-अपनी चतुरता की तारीफ कर रहे थे; तब मैंने जरा घमण्ड के साथ कहा-भाई, मैं अपने फन में कितना होशियार हूँ, इसकी परीक्षा मैं इसी से कराऊँगा कि जहाँ तुम कोतवाली के ओहदे पर नियुक्त होगे, वहीं मैं आकर चोरी करूँगा। तब इन महाशय ने कहा-अच्छी बात है, मैं भी उसी जगह रहूँगा जहाँ तुम चोरी करोगे और मैं तुमसे शहर की अच्छी तरह रक्षा करूँगा। तुम्हारे द्वारा मैं उसे कोई तरह की हानि न पहुँचने दूँगा ॥१६-२९॥

इसके कुछ दिनों बाद मेरे पिता जितशत्रु मुझे सब राजभार दे जिनदीक्षा ले गए। मैं तब राजा हुआ और इनके पिता यमपाश भी तभी जिनदीक्षा लेकर साधु बन गए। इनके पिता की जगह तब इन्हें मिली। पर ये मेरे डर के मारे मेरे शहर में न रहकर यहाँ कोतवाली के ओहदे पर नियुक्त हुए। मैं अपनी प्रतिज्ञा के वश चोर बनकर इन्हें ढूंढ़ने को यहाँ आया। यह कहकर फिर विद्युच्चर ने उनके हार के चुराने के सब बातें कह सुनाई और फिर यमदण्ड को साथ लिए वह अपने शहर में आ गया ॥३०-३४॥

विद्युच्चर को इस घटना से बड़ा वैराग्य हुआ। उसने राजमहल में पहुँचते ही अपने पुत्र को बुलाया और उसके साथ जिनेन्द्र भगवान् का पूजा-अभिषेक किया। इसके बाद वह सब राजभार पुत्र को सौंपकर आप बहुत से राजकुमारों के साथ जिनदीक्षा ले मुनि बन गया ॥३५-३६॥

यहाँ से विहार कर विद्युच्चर मुनि अपने सारे संघ को साथ लिए देश विदेशों में बहुत घूमे-फिरे। बहुत से बे-समझ या मोह-माया में फँसे हुए जनों को इन्होंने आत्महित के मार्ग पर लगाया

मुनिपंचशतैर्युक्तो विरक्तो मदनादिषु। ताम्रलिप्तपुरीं प्राप्तो न लिप्तो मोहकर्द्दमैः ॥३८॥
पुरप्रवेशे तत्रासौ प्रोक्तश्चामुण्डया मुनिः। भो मुने मम पूजाद्या यावत्कालं समाप्यते ॥३९॥
तावत्त्वया न कर्त्तव्यः प्रवेशस्ताम्रलिप्तके। देव्यापि वारितः शिष्यैः प्रेरितो मुनिसत्तमः ॥४०॥
तदा पुरं प्रविश्योच्चैः पुरः पश्चिमभागके। प्रकारस्य समीपे तु शिष्यवर्गैः समन्वितः ॥४१॥
रात्रौ सत्प्रतिमायोगे संस्थितो निश्चलाशयः। चामुण्डया तदा शीघ्रं प्रचण्डक्रोधचेतसा ॥४२॥
कपोतकप्रमाणोरुदंशकैर्मशकैस्तया। उपसर्गो महांश्चक्रे तदा विद्युच्चरो मुनिः ॥४३॥
महावैराग्यसंयुक्तः सोढ्वाशेषपरीषहम्। शुक्लध्यानप्रभावेन हत्वा कर्मारिसंचयम् ॥४४॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोक्षमक्षयम्। सोस्माकं पूजितो नित्यं प्रकुर्याच्छाश्वतीं श्रियम् ॥४५॥

इन्द्रैश्चारुनरेन्द्रखेचरतरैर्नागेन्द्रयक्षेश्वरैः
प्रोद्यत्पञ्चविधप्ररत्नमुकुटप्रव्यक्तभाभासुरैः ।
नित्यं यस्तु विशुद्धभक्तिभरतः संपूज्य चाराधितः
स श्रीमान्मम मङ्गलं शिवपतिर्दद्याच्च विद्युच्चरः ॥४६॥

इति कथाकोशे विद्युच्चरमुनेराख्यानं समाप्तम्।

और स्वयं भी काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेषादि आत्मशत्रुओं का प्रभुत्व नष्ट कर उन पर विजय लाभ किया। आत्मोन्नति के मार्ग में दिन ब दिन बेरोक-टोक ये बढ़ने लगे। एक दिन घूमते-फिरते ये ताम्रलिप्तपुरी की ओर आए। अपने संघ के साथ वे पुरी में प्रवेश करने को ही थे कि इतने में वहाँ की चामुण्डा देवी ने आकर भीतर घुसने से इन्हें रोका और कहा-योगिराज, जरा ठहरिए, अभी मेरी पूजाविधि हो रही है। इसलिए जब तक वह पूरी न हो जाये तब तक आप यहीं ठहरें, भीतर न जायें। देवी के इस प्रकार मना करने पर भी अपने शिष्यों के आग्रह से वे न रुककर भीतर चले गए और पुरी के पश्चिम तरफ के परकोटे के पास कोई पवित्र जगह देखकर वहीं सारे संघ ने ध्यान करना शुरू कर दिया। अब तो देवी के क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा। उसने अपनी माया से कोई कबूतर के बराबर डाँस तथा मच्छर आदि खून पीने वाले जीवों की सृष्टि रचकर मुनि पर घोर उपद्रव किया। विद्युच्चर मुनि ने इस कष्ट को बड़ी शान्ति से सह कर बारह भावनाओं के चिन्तन से अपने आत्मा को वैराग्य की ओर खूब दृढ़ किया और अन्त में शुक्ल-ध्यान के बल से कर्मों का नाश कर अक्षय और अनन्त मोक्ष के सुख को अपनाया ॥३७-४५॥

उन देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों तथा राजाओं-महाराजाओं द्वारा, जो अपने मुकुटों में जड़े हुए बहुमूल्य दिव्य रत्नों की कान्ति से चमक रहे हैं, बड़ी भक्ति से पूजा किए गए और केवलज्ञान से विराजमान वे विद्युच्चर मुनि मुझे और आप भव्य-जनों को मंगल-मोक्ष सुख दें, जिससे संसार का भटकना छूटकर शान्ति मिले ॥४६॥

६९. श्रीगुरुदत्तमुनेराख्यानम्

नत्वा पंच गुरून्भक्त्या प्रोल्लसत्केवलाश्रिये। गुरुदत्तमुनेर्वच्मि चरित्रं भुवनोत्तमम् ॥१॥
हस्तिनागपुरे धीमान् जिनधर्मधुरन्धरः। राजा विजयदत्ताख्यो विजया प्राणवल्लभा ॥२॥
तयोः पुत्रोतिगंभीरो धीरोभूद्गुरुदत्तवाक्। पूर्वपुण्येन सम्पूर्णो रूपलावण्यमण्डितः ॥३॥
तस्मै विजयदत्तोसौ राजा राज्यश्रियं निजाम्। दत्वा स्वयं मुनिर्जातो गुरुं नत्वा दिगम्बरम् ॥४॥
लाटदेशेऽथ विख्याते द्रोणीमत्पर्वतान्तिके। सुधीश्चन्द्रपुरीपुर्यां चन्द्रकीर्तिर्महीपतिः ॥५॥
चन्द्रलेखा महाराज्ञी सुताभयमती सती। तेन श्रीगुरुदत्तेन परिणेतुं प्रयाचिता ॥६॥
न दत्ता चन्द्रकीर्त्याख्यभूभुजा निजदेहजा। ततः कोपात्समागत्य स सैन्यो गुरुदत्तकः ॥७॥

---

६९. गुरुदत्त मुनि की कथा

जिनकी कृपा से केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी प्राप्त हो सकती है, उन पंच परमेष्ठी-अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार कर गुरुदत्त मुनि का पवित्र चरित लिखा जाता है ॥१॥

गुरुदत्त हस्तिनापुर के धर्मात्मा राजा विजयदत्त की रानी विजया के पुत्र थे। बचपन से ही इनकी प्रकृति में गम्भीरता, धीरता, सरलता तथा सौजन्यता थी। सौन्दर्य में भी वे अद्वितीय थे। अस्तु, पुण्य की महिमा अपरम्पार है ॥२-३॥

विजयदत्त अपना राज्य गुरुदत्त को सौंपकर स्वयं मुनि हो गए और आत्महित करने लगे। राज्य की बागडोर गुरुदत्त ने अपने हाथ में लेकर बड़ी सावधानी और नीति के साथ शासन आरम्भ किया। प्रजा उनसे बहुत खुश हुई वह अपने नये राजा को हजार-हजार साधुवाद देने लगी। दुःख किसे कहते हैं, यह बात गुरुदत्त की प्रजा जानती ही न थी। कारण-किसी को कुछ, थोड़ा भी कष्ट होता था तो गुरुदत्त फौरन ही उसकी सहायता करता। तन से, मन से और धन से वह सभी के काम आता था ॥४॥

लाट देश में द्रोणीमान पर्वत के पास चन्द्रपुरी नाम की एक सुन्दर नगरी बसी हुई थी। उसके राजा थे चन्द्रकीर्ति। उनकी रानी का नाम चन्द्रलेखा था। उनके अभयमती नाम की एक पुत्री थी। गुरुदत्त ने चन्द्रकीर्ति से अभयमती के लिए प्रार्थना की कि वे अपनी कुमारी का ब्याह उसके साथ कर दें परन्तु चन्द्रकीर्ति ने उनकी इस बात से साफ इनकार कर दिया, वे गुरुदत्त के साथ अभयमती का ब्याह करने को राजी न हुए। गुरुदत्त ने इससे कुछ अपना अपमान हुआ समझा। चन्द्रकीर्ति पर उसे गुस्सा आया। उसने उसी समय चन्द्रपुरी पर चढ़ाई कर दी और उसे चारों ओर से घेर लिया। कुमारी अभयमती गुरुदत्त पर पहले ही से मुग्ध थी और जब उसने उसके द्वारा चन्द्रपुरी का घेरा जाना सुना तो वह अपने पिता के पास आकर बोली-पिताजी! अपने सम्बन्ध में मैं आपसे कुछ कहना उचित नहीं समझती, पर मेरे संसार को सुखमय होने में कोई बाधा या विघ्न न आए। इसलिए कहना या प्रार्थना करना उचित जान पड़ता है क्योंकि मुझे दुःख में देखना तो आप सपने में भी पसन्द नहीं

समन्ताद्वेष्टयामास शीघ्रं चन्द्रपुरीं महान्। तच्छ्रुत्वाभयमत्याख्या तदासक्ता सुता जगौ ॥८॥
तातं प्रति प्रभो देहि गुरुदत्ताय मां सुधीः। ततस्तेन नरेन्द्रेण तस्मै दत्ता सुतोत्सवैः ॥९॥
तदा श्रीगुरुदत्तस्य प्रोक्तं सर्वजनैरिति। अस्मिन्द्रोणीमति ख्याते पर्वते भो नरेश्वर ॥१०॥
व्याघ्रः संतिष्ठते देव पापी प्राणिभयंकरः। तेनायं भो महाधीर देशश्चोत्त्रासितोखिलः ॥११॥
तच्छ्रुत्वा स्वजनैः सार्द्धं गत्वा तेन प्रवेगतः। व्याघ्रः संवेष्टितः सोपि गुहां नष्ट्वा प्रविष्टवान् ॥१२॥
गुहामध्ये तदा क्षिप्त्वा तेन काष्ठानि भूरिशः। तद्द्वारे च तथा तीव्रो वह्नि प्रज्वालितो महान् ॥१३॥
ततो व्याघ्रो महाकष्टान्मृत्वा चन्द्रपुरीपुरे। विप्रस्य भरताख्यस्य विश्वदेव्याः स्त्रियोभवत् ॥१४॥
पुत्रोसौ कपिलो नाम महाक्रूराशयः पुनः। पूर्वाभ्यासाश्रिता जन्तोः प्रायशो भवति क्रिया ॥१५॥
तयोस्तदा महाभोगान्नित्य भुञ्जानयोर्मुदा। संजातो गुरुदत्ताख्याऽभयमत्याः सुतोत्तमः ॥१६॥
सुधीः सुवर्णभद्राख्यं स्वगुणैस्तर्पिताखिलः। रूपसौभाग्यसद्भाग्य-मंडितो विमलाशयः ॥१७॥

करेंगे। वह प्रार्थना यह है कि आप गुरुदत्त जी के साथ ही मेरा ब्याह कर दें, इसी में मुझे सुख होगा। उदार-हृदय चन्द्रकीर्ति ने अपनी पुत्री की बात मान ली। इसके बाद अच्छा दिन देख खूब आनन्दोत्सव के साथ उन्होंने अभयमती का ब्याह गुरुदत्त के साथ कर दिया। इस सम्बन्ध से कुमार और कुमारी दोनों ही सुखी हुए। दोनों की मनचाही बात पूरी हुई ॥५-९॥

ऊपर जिस द्रोणीमान पर्वत का उल्लेख हुआ है, उसमें एक बड़ा भयंकर सिंह रहता था। उसने सारे शहर को बहुत ही आतंकित कर रखा था। सबके प्राण सदा मुट्ठी में रहा करते थे। कौन जाने कब आकर सिंह खा ले, इस चिन्ता से सब हर समय घबराए हुए से रहते थे। इस समय कुछ लोगों ने गुरुदत्त से जाकर प्रार्थना की कि राजाधिराज, इस पर्वत पर एक बड़ा भारी हिंसक सिंह रहता है। उससे हमें बड़ा कष्ट है इसलिए आप कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे हम लोगों का कष्ट दूर हो ॥१०-११॥

गुरुदत्त उन लोगों को धीरज बँधाकर आप अपने कुछ वीरों को साथ लिए पर्वत पर पहुँचा। सिंह को उसने सब ओर से घेर लिया। पर मौका पाकर वह भाग निकला और जाकर एक अँधेरी गुफा में घुसकर छिप गया। गुरुदत्त ने तब इस मौके को अपने लिए और भी अच्छा समझा। उसने उसी समय बहुत से लकड़े गुफा में भरवाकर सिंह के निकलने का रास्ता बन्द कर दिया और बाहर गुफा के मुँह पर भी एक लकड़ों का ढेर लगवा कर उसमें आग लगवा दी। लकड़ों की खाक के साथ-साथ उस सिंह की भी देखते-देखते खाक हो गयी। सिंह बड़े कष्ट के साथ मरकर इसी चन्द्रपुरी में भरत नाम के ब्राह्मण की विश्वदेवी स्त्री के कपिल नाम का लड़का हुआ। वह जन्म से ही बड़ा क्रूर हुआ और यह ठीक भी है कि पहले जैसा संस्कार होता है, वह दूसरे जन्म में भी आता है ॥१२-१५॥

इसके बाद गुरुद्रत अपनी प्रिया को लिए राजधानी में लौट आया। दोनों नव दम्पत्ति बड़े सुख से रहने लगे। कुछ दिनों बाद अभयमती के एक पुत्र ने जन्म लिया। इसका नाम रखा गया सुवर्णभद्र। यह सुन्दर था, सरलता और पवित्रता की प्रतिमा था और बुद्धिमान् था। इसीलिए सब

दत्वा तस्मै निजं राज्यं स राजा गुरुदत्तवाक्। जिनेन्द्रचरणाम्भोज-सेवनैकमधुव्रतः ॥१८॥
त्रिधा वैराग्यसंयुक्तो मुनिर्भूत्वा निरंजनः। एकाकी विहरन्स्वामी जिनतत्त्वविदाम्वरः ॥१९॥
कपिलक्षेत्रमागत्य कायोत्सर्गेण संस्थितः। तदाऽसत्कर्मयोगेन ब्राह्मणः कपिलः कुधीः ॥२०॥
भोजनं मे गृहीत्वा त्वं समागच्छेर्द्रुतं प्रिये। इत्युक्त्वा कपिलो भार्यां स्वक्षेत्रं गतवांस्तदा ॥२१॥
तत्क्षेत्रं कर्षणायोग्यं मत्वा भट्टारकं प्रति। ब्राह्मण्याः कथयेस्त्वं मे भर्त्ता ते गतवान्ध्रुवम् ॥२२॥
अन्यत्क्षेत्रमितिव्यक्तं प्रोक्त्वा मूढाशयो गतः। अहो प्राणी न जानाति मूढो मार्गं महामुनेः ॥२३॥
ब्राह्मण्या च समागत्य पृष्टोसौ मुनिसत्तमः। स्वामी मौनेन संयुक्तः संस्थितः सा गृहं गता ॥२४॥
तदा महाक्षुधाक्रान्तो विप्रो वेलाव्यतिक्रमे। गृहमागत्य कोपेन स्वकान्तां कटुकं जगौ ॥२५॥
रे रे रंडे मृतोद्याहं क्षुधापीडितविग्रहः। पृष्ट्वा तं नग्नकं शीघ्रं समायातासि किं न हि ॥२६॥
तयोक्तं भीतितो देव मया पृष्टोपि निस्पृहः। किंचिन्नैव मुनिः प्राह ततोहं गृहमागता ॥२७॥

उसे बहुत प्यार करते थे। जब उसकी उमर योग्य हो गई और सब कामों में वह होशियार हो गया तब जिनेन्द्र भगवान् के सच्चे भक्त उसके पिता गुरुदत्त ने अपना राज्यभार इसे देकर आप वैरागी बन मुनि हो गए। इसके कुछ वर्षों बाद अनेक देशों, नगरों और गाँवों में धर्मोपदेश करते, भव्य-जनों को सुलटाते एक बार चन्द्रपुरी की ओर आए ॥१६-१९॥

एक दिन गुरुदत्त मुनि कपिल ब्राह्मण के खेत पर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। उसी समय कपिल घर पर अपनी स्त्री से यह कह कर, कि प्रिये, मैं खेत पर जाता हूँ, तुम वहाँ भोजन लेकर जल्दी आना, खेत पर आ गया। जिस खेत पर गुरुदत्त मुनि ध्यान कर रहे थे, उसे तब जोतने योग्य न समझ वह दूसरे खेत पर जाने लगा। जाते समय मुनि से वह यह कहता गया कि मेरी स्त्री यहाँ भोजन लिए हुए आवेगी सो उसे आप कह दीजियेगा कि कपिल दूसरे खेत पर गया है। तू भोजन वहीं ले जा, सच है, मूर्ख लोग महामुनि के मार्ग को न समझ कर कभी-कभी बड़ा ही अनर्थ कर बैठते हैं। इसके बाद जब कपिल की स्त्री भोजन लेकर खेत पर आई और उसने अपने स्वामी को खेत पर न पाया तब मुनि से पूछा-क्यों साधु महाराज, मेरे स्वामी यहाँ से कहाँ गए हैं? मुनि चुप रहे, कुछ बोले नहीं। उनसे कुछ उत्तर न पाकर वह घर पर लौट आयी। इधर समय पर समय बीतने लगा ब्राह्मण देवता भूख के मारे छटपटाने लगे पर ब्राह्मणी का अभी तक पता नहीं; यह देख उन्हें बड़ा गुस्सा आया। वे क्रोध से गुर्राते हुए घर आये और लगे बेचारी ब्राह्मणी पर गालियों की बौछार करने। राँड, मैं तो भूख के मारे मरा जाता हूँ और तेरा अभी तक आने का ठिकाना ही नहीं। उस नंगे को पूछकर खेत पर चली आती। बेचारी ब्राह्मणी घबराती हुई बोली-अजी तो इसमें मेरा क्या अपराध था। मैंने उस साधु से तुम्हारा ठिकाना पूछा। उसने कुछ न बताया तब मैं वापस घर पर आ गई। ब्राह्मण ने दाँत पीसकर कहा-हाँ, उस नंगे ने तुझे मेरा ठिकाना नहीं बताया और मैं तो उससे कह गया था। अच्छा, मैं अभी जाकर उसे उसका मजा चखता हूँ। पाठकों को याद होगा कि कपिल पहले जन्म में सिंह था और उसे इन्हीं गुरुदत्त मुनि ने राज अवस्था में जलाकर मार डाला था तब इस हिसाब से कपिल के वे शत्रु हुए। यदि

तदा तेन प्ररुष्टेन पापिना कपिलेन च। तत्रागत्य मुनिं वेष्टयित्वा शाल्मलितूलकैः ॥२८॥
अग्निः प्रज्वालितस्तीव्रं तदासौ च मुनीश्वरः। शुक्लध्यानाग्निना शीघ्रं घातिकर्मेन्धनोत्करम् ॥२९॥
भस्मीकृत्वा जगत्पूज्यं केवलज्ञानमाप्तवान्। तदा देवागमे जाते पुष्पवृष्टिं प्रकुर्वति ॥३०॥
ब्राह्मणोसौ महाश्चर्यं सम्प्राप्तः कपिलस्ततः। नत्वा तं केवलज्ञानि-गुरुदत्तं जिनेश्वरम् ॥३१॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरासुरसमर्चितम्। कृत्वात्मनिन्दनं तत्र मुनिर्भक्त्या बभूव सः ॥३२॥
अहो भव्याः सतां नित्यं संगतिः शर्मदायिनी। क्वासौ विप्रो महातीव्रः क्व जातस्तु मुनिस्तराम् ॥३३॥
ततो भव्यैः प्रकर्त्तव्यं साधुसंगैर्निजं कुलम्। पवित्रं परमानन्दो जायते येन शर्मदः ॥३४॥
स जयतु जिनदेवः सर्वदेवेन्द्रवन्द्यस्त्रिभुवनसुखकर्त्ता विश्वसन्देहहर्त्ता।
स्थिरतरगुरुदत्तः प्राप्तनित्यस्वभावो मम दिशतु सुखानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥३५॥

इति कथाकोशे श्रीगुरुदत्तमुनेराख्यानं समाप्तम्।

कपिल को किसी तरह यह जान पड़ता कि ये मेरे शत्रु हैं, तो उस शत्रुता का बदला उसने कभी का ले लिया होता पर उसे इसके जानने का न तो कोई जरिया मिला और न था ही। तब उस शत्रुता को जाग्रत करने के लिए कपिल की स्त्री को कपिल के दूसरे खेत पर जाने का हाल जो मुनि ने न बताया, यह घटना सहायक हो गई। कपिल गुस्से से लाल होता हुआ मुनि के पास पहुँचा। वहाँ बहुत सी सेमल की रुई पड़ी हुई थी। कपिल ने उस रुई से मुनि को लपेट कर उसमें आग लगा दी। मुनि पर बड़ा उपसर्ग हुआ। पर उसे उन्होंने बड़ी धीरता से सहा। उस समय शुक्लध्यान के बल से घातिया कर्मों का नाश होकर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवों ने आकर उन पर फूलों की वर्षा की, आनन्द मनाया। कपिल ब्राह्मण यह सब देखकर चकित हो गया। उसे तब जान पड़ा कि जिन साधु को मैंने अत्यन्त निर्दयता से जला डाला उनका कितना माहात्म्य था। उसे अपनी इस नीचता पर बड़ा ही पछतावा हुआ। उसने बड़ी भक्ति से भगवान् को हाथ जोड़कर अपने अपराध की उनसे क्षमा माँगी। भगवान् के उपदेश को उसने बड़े चाव से सुना। उसे वह बहुत रुचा भी। वैराग्यपूर्ण भगवान् के उपदेश ने उसके हृदय पर गहरा असर किया। वह उसी समय सब छोड़ कर अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिये मुनि हो गया। सच है, सत्पुरुषों-महात्माओं की संगति सुख देने वाली होती है। यही तो कारण था कि एक महाक्रोधी ब्राह्मण पल भर में सब छोड़कर योगी बन गया। इसलिये भव्य-जनों को सत्पुरुषों की संगति से अपने को, अपनी सन्तान को और अपने कुल को सदा पवित्र करने का यत्न करते रहना चाहिए। यह सत्संग परम सुख का कारण है ॥२०-३४॥

वे कर्मों के जीतने वाले जिनेन्द्र भगवान् सदा संसार में रहें, उनका शासन चिरकाल तक जय लाभ करे जो सारे संसार को सुख देने वाले हैं, सब सन्देहों के नाश करने वाले हैं और देवों द्वारा जो पूजा स्तुति किये जाते हैं तथा दुःसह उपसर्ग आने पर भी जो मेरु की तरह स्थिर रहे और जिन्होंने अपना आत्मस्वभाव प्राप्त किया ऐसे गुरुदत्त मुनि तथा मेरे परम गुरु श्रीप्रभाचन्द्राचार्य, ये मुझे आत्मीक सुख प्रदान करें ॥३५॥

७०. चिलातपुत्रस्याख्यानम्

चञ्चत्सत्केवलज्ञानलोचनं श्रीजिनेश्वरम्। नत्वा चिलातपुत्रस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
पुरे राजगृहे राजाभवत्प्रश्रेणिको महान्। एकदा पुरबाह्योऽसौ निर्गतो निजलीलया ॥२॥
दुष्टाश्वेन ततो नीतो महाटव्यां प्रवेगतः। तत्रस्थयमदण्डस्य महाटव्या महीपतेः ॥३॥
तिलकादिवतीं कन्यां दृष्ट्वा सद्रूपशालिनीम्। तदा कन्दर्पबाणेन विद्धोसौ भूपतिस्तराम् ॥४॥
प्रोक्तं च यमदण्डेन हे नरेन्द्र विचक्षण। अस्याः पुत्राय चेद्राज्यं दीयते भवता ध्रुवम् ॥५॥
तदा तुभ्यं ददाम्येतां स्वपुत्रीं तिलकावतीम्। तच्छ्रुत्वेवं करिष्यामि प्रोक्त्वा चेति महीपतिः ॥६॥
तां कन्यां परिणीयोच्चैस्ततः प्रश्रेणिकः सुधीः। प्राप्तो .राजगृहाख्यं च स्वपुरं प्रमदान्वितः ॥७॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानो यावत्संतिष्ठते प्रभुः। पुत्रं चिलातपुत्राख्यं प्रसूता तिलकावती ॥८॥
एकदा च नरेन्द्रेण पृष्टो नैमित्तिको महान्। अहो मे बहुपुत्राणां मध्ये को भाविभूपतिः ॥९॥

---

७०. चिलात-पुत्र की कथा

केवलज्ञान जिनका प्रकाशमान नेत्र हैं, उन जिन भगवान् को नमस्कार कर चिलातपुत्र की कथा लिखी जाती है ॥१॥

राजगृह के राजा उपश्रेणिक एक बार हवाखोरी के लिए शहर से बाहर गए। वे जिस घोड़े पर सवार थे, वह बड़ा दुष्ट था। सो उसने उन्हें एक भयानक वन में जा छोड़ा। उस वन का मालिक एक यमदण्ड नाम का भील था। उसके एक लड़की थी। उसका नाम तिलकवती था। वह बड़ी सुन्दरी थी। उपश्रेणिक उसे देखकर काम के बाणों से अत्यन्त बींधे गये। उनकी यह दशा देखकर यमदण्ड ने उनसे कहा-राजाधिराज, यदि आप इससे उत्पन्न होने वाले पुत्र को राज्य का मालिक बनाना मंजूर करें तो मैं इसे आपके साथ ब्याह सकता हूँ। उपश्रेणिक ने यमदण्ड की शर्त मंजूर कर ली। यमदण्ड ने तब तिलकवती का ब्याह उनके साथ कर दिया। वे प्रसन्न होकर उसे साथ लिये राजगृह लौट आये ॥२-७॥

बहुत दिनों तक उन्होंने तिलकवती के साथ सुख भोगा, आनन्द मनाया। तिलकवती के एक पुत्र हुआ। इसका नाम चिलातपुत्र रखा गया। उपश्रेणिक के पहली रानियों से उत्पन्न हुए और भी कई पुत्र थे। यद्यपि राज्य वे तिलकवती के पुत्र को देने का संकल्प कर चुके थे, तो भी उनके मन में यह खटका सदा बना रहता था कि कहीं इसके हाथ में राज्य जाकर धूलधानी न हो जाये। जो हो, पर वे अपनी प्रतिज्ञा के न तोड़ने को लाचार थे। एक दिन उन्होंने एक अच्छे विद्वान् ज्योतिषी को बुलाकर उससे पूछा-पंडित जी, अपने निमित्तज्ञान को लगाकर मुझे आप यह समझाइए कि मेरे इन पुत्रों में राज्य का मालिक कौन होगा? ज्योतिषी जी बहुत कुछ सोच-विचार के बाद राजा से बोले-सुनिये महाराज, मैं आपको इसका खुलासा कहता हूँ। आपके सब पुत्र खीर का भोजन करने को एक जगह बिठाएँ जायें और उस समय उन पर कुत्तों का एक झुंड छोड़ा जाये। तब उन सबमें जो

तत्समाकर्ण्य स प्राह सुधीर्नैमित्तिकाग्रणीः। सिंहासनसमारूढो भेरीं सन्ताडयन्मुदा ॥१०॥
क्षैरेयीं कुक्कुराणां च ददतो निजबुद्धितः। भुङ्क्ते तथाग्निदाहे च हस्तिसिंहासनादिकम् ॥११॥
छत्रं निःसारयत्येव यस्तु स स्यान्महीपतिः। तन्निशम्य ततो राजा परीक्षार्थं शुभे दिने ॥१२॥
भेरीसिंहासनाभ्यर्णे दत्वा क्षैरेयिकाशनम्। सर्वराजकुमाराणां मुक्ताः पञ्चशतश्वकाः ॥१३॥
तदा नष्टाः कुमारास्ते सर्वे कुक्कुरभीवशाः। श्रेणिकस्तु महाधीमान्सर्वपुत्रशिरोमणिः ॥१४॥
क्षैरेयीभाजनान्युच्चैर्धृत्वा स्वस्य समीपके। एकैकं कुक्कुराणां च मुञ्चंस्तद्भाजनं पुनः ॥१५॥
स्वसिंहासनमारुह्य भेरीं संताडयंस्तथा। भुङ्क्ते स्म प्रौढधीः सार-क्षैरेयीमग्निदाहके ॥१६॥
तथा सिंहासनं छत्रं हस्तिचामरयुग्मकम्। शीघ्रं निस्सारयामास भावितीर्थंकरः प्रभुः ॥१७॥
ज्ञात्वा प्रश्रेणिकेनायं महाराजो भविष्यति। तदा शत्रुभयाच्छीघ्रं दत्वा दोषं प्रपञ्चतः ॥१८॥

निडर होकर वहीं रखे हुए सिंहासन पर बैठे नगारा बजाता जाये और भोजन भी करता जाये और दूसरे कुत्तों को भी डालकर खिलाता जाये, उसमें राजा होने की योग्यता है। मतलब यह कि अपनी बुद्धिमानी से कुत्तों के स्पर्श से अछूता रहकर आप भोजन कर ले ॥८-१०॥

दूसरा निमित्त यह होगा कि आग लगने पर जो सिंहासन, छत्र, चाँवर आदि राज्यचिह्नों को निकाल सके, वह राजा हो सकेगा इत्यादि और कई बातें है, पर उनके विशेष कहने की जरूरत नहीं ॥११-१२॥

कुछ दिन बीतने पर उपश्रेणिक ने ज्योतिषी जी के बताये निमित्त की जाँच करने का उद्योग किया। उन्होंने सिंहासन के पास ही एक नगारा रखवाकर वहीं अपने सब पुत्रों को खीर खाने को बैठाया। वे जीमने लगे कि दूसरी ओर से कोई पाँच सौ कुत्तों का झुण्ड दौड़कर उन पर लपका। उन कुत्तों को देखकर राजकुमारों के तो होश गायब हो गए। वे सब चीख मारकर भाग खड़े हुए। पर हाँ एक श्रेणिक जो इन सबसे वीर और बुद्धिमान् था, उन कुत्तों से डरा नहीं और बड़ी फुरती से उठकर उसने खीर परोसी हुई बहुत-सी पत्तलों को एक ऊँची जगह रख कर आप पास ही रखे हुए सिंहासन पर बैठ गया और आनन्द से खीर खाने लगा। साथ में वह उन कुत्तों को भी थोड़ी-थोड़ी देर बाद एक एक पत्तल उठा-उठा डालता गया और नगारा बजाता गया, जिससे कि कुत्ते उपद्रव न करें ॥१३-१६॥

इसके कुछ दिनों बाद उपश्रेणिक ने दूसरे निमित्त की भी जाँच की। अब की बार उन्होंने कहीं कुछ थोड़ी-सी आग लगवा लोगों द्वारा शोरगुल करवा दिया कि राजमहल में आग लग गई। श्रेणिक ने जैसे ही आग लगने की बात सुनी वह दौड़ा गया और झटपट राजमहल से सिंहासन, चँवर आदि राज्यचिह्नों को निकाल बाहर हो गया। यही श्रेणिक आगे तीर्थंकर होगा ॥१७॥

श्रेणिक की वीरता और बुद्धिमानी देखकर उपश्रेणिक को निश्चय हो गया कि राजा यही होगा। इसी के यह योग्य भी है। श्रेणिक के राजा होने की बात तब तक कोई न जान पाए जब तक

कुक्कुरोच्छिष्टकादिं च देशान्निर्घाटितः स च। अहो पुण्यवतां पुंसां को वा यत्नं करोति न ॥१९॥
तदा गत्वा कुमारोसौ श्रेणिकः सुभटाग्रणीः। पुर्यां द्राविडदेशस्थ-काञ्च्यां सौख्येन संस्थितः ॥२०॥
प्रश्रेणिकस्तु भूनाथो भुक्त्वा भोगान्सुधार्मिकः। तस्मै चिलातपुत्राय दत्वा राज्यं महोत्सवैः ॥२१॥
स्वयं वैराग्यतः स्वामी दीक्षां जैनेश्वरीं शुभाम्। समादाय मुनिर्जातो जगत्प्राणिहितंकरः ॥२२॥
ततश्चिलातपुत्रश्च स्थित्वा राज्येऽपि मूढधीः। अन्यायेषु रतो गाढं हा कष्टं किमतः परम् ॥२३॥

वह अपना अधिकार स्वयं अपनी भुजाओं द्वारा प्राप्त न कर ले। इसके लिए उन्हें उसके रक्षा की चिन्ता हुई। कारण उपश्रेणिक राज्य का अधिकारी तिलकवती के पुत्र चिलात को बना चुके थे और इस हाल में किसी दुश्मन को या चिलात के पक्षपातियों को यह पता लग जाता कि इस राज्य का राजा तो श्रेणिक ही होगा, तब यह असम्भव नहीं था कि वे उसे राजा होने देने के पहले ही मार डालते। इसलिए उपश्रेणिक को यह चिन्ता करना वाजिब था, समयोचित और दूरदर्शिता का था। इसके लिए उन्हें एक अच्छी युक्ति सूझ गई और बहुत जल्दी उन्होंने उसे कार्य में भी परिणत कर दिया। उन्होंने श्रेणिक के सिर पर यह अपराध मढ़ा कि उसने कुत्तों का झूठा खाया, इसलिए वह भ्रष्ट है। अब वह न तो राजघराने में ही रहने योग्य रहा और न देश में ही। इसलिए मैं उसे आज्ञा देता हूँ कि वह बहुत जल्दी राजगृह से बाहर हो जाये। सच है पुण्यवानों की सभी रक्षा करते हैं ॥१८-१९॥

श्रेणिक अपने पिता की आज्ञा पाते ही राजगृह से उसी समय निकल गया। वह फिर पलभर के लिए भी वहाँ न ठहरा। वहाँ से चलकर वह द्राविड़ देश की प्रधान नगरी काँची में पहुँचा। उसने अपनी बुद्धिमानी से वहाँ कोई ऐसा वसीला लगा लिया जिससे उसके दिन बड़े सुख से कटने लगे ॥२०॥

इधर उपश्रेणिक कुछ दिनों तक तो और राजकाज चलाते रहे। इसके बाद कोई ऐसा कारण उन्हें देख पड़ा जिससे संसार और विषयभोगों से वे बहुत उदासीन हो गए। अब उन्हें संसार का वास एक बहुत ही पेचीला जाल जान पड़ने लगा। उन्होंने तब अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चिलातपुत्र को राजा बनाकर सब जीवों का कल्याण करने वाला मुनिपद ग्रहण कर लिया ॥२१-२२॥

चिलात-पुत्र राजा हो गया, पर उसका जाति-स्वभाव न गया और ठीक भी है कौए को मोर के पांख भले ही लगा दिये जायें, पर वह मोर न बनकर रहेगा कौआ का कौआ ही। यही दशा चिलातपुत्र की हुई। वह राजा बना भी दिया गया तो क्या हुआ, उसमें अगत के तो कुछ गुण नहीं थे, तब वह राजा होकर भी क्या बड़ा कहला सका? नहीं। अपने जाति स्वभाव के अनुसार प्रजा को कष्ट देना, उस पर जबरन जोर-जुल्म करना उसने शुरू किया। यह एक साधारण बात है कि अन्यायी का कोई साथ नहीं देता और यही कारण हुआ कि मगध की प्रजा की श्रद्धा उस पर से बिल्कुल ही उठ गई। सारी प्रजा उससे हृदय से नफरत करने लगी। प्रजा का पालक होकर जो राजा उसी पर अन्याय करे तब उससे बढ़कर और दुःख की बात क्या हो सकती है? ॥२३॥

श्रेणिकस्तु समागत्य तदा राजगृहं पुरम्। देशान्निर्घाट्य तं शीघ्रं स्वयं राज्ये सुखं स्थितः ॥२४॥
अहो राजाभवत्युच्चै-र्यः प्रजाप्रतिपालकः। नान्यो लोकद्वये स्वस्य कीर्त्तिलक्ष्मीविनाशकः ॥२५॥
गत्वा चिलातपुत्रश्च महाटव्यां बलान्वितः। दुर्गं कृत्वा तथा देशकरं गृह्णाति निर्भयः ॥२६॥
अथास्य विद्यते कोपि भर्तृमित्राख्यसत्सखा। तस्यापि भर्तृमित्रस्य मातुलो रुद्रदत्तवाक् ॥२७॥
सुभद्रां स्वसुतां तस्मै भर्तृमित्राय याचिताम्। न ददाति ततश्चापि भर्तृमित्रस्य वाक्यतः ॥२८॥
युक्तश्चिलातपुत्रोसौ भटैः पञ्चशतैर्द्रुतम्। गत्वा राजगृहं कोपा-द्विवाहस्नानकालके ॥२९॥
तां छलेन समादाय निर्गतः क्रूरमानसः। तच्छ्रुत्वा श्रेणिको राजा ससैन्यः पृष्टतोगमत् ॥३०॥
पलायितुमशक्तेन तेन दुष्कर्मकारिणा। सुभद्रा मारिता कन्या संजाता व्यन्तरी तदा ॥३१॥
शीघ्रं चिलातपुत्रेण नश्यता च स्वकर्मतः। वैभारपर्वते रम्ये मुनिपञ्चशताश्रितम् ॥३२॥
मुनीन्द्रं मुनिदत्ताख्यं दृष्ट्वा नत्वा सुभक्तितः। प्रोक्तं स्वामिंस्तपो देहि साधयामि निजं हितम् ॥३३॥

परन्तु इसके साथ यह भी बात है कि प्रकृति अन्याय को नहीं सहती। अन्यायी को अपने अन्याय का फल तुरन्त मिलता है। चिलातपुत्र के अन्याय की डुगडुगी चारों ओर पिट गई। श्रेणिक को जब यह बात सुन पड़ी तब उससे चिलातपुत्र का प्रजा पर जुल्म करना न सहा गया। वह उसी समय मगध की ओर रवाना हुआ। जैसे ही प्रजा को श्रेणिक के राजगृह आने की खबर लगी उसने उसका एकमत होकर साथ दिया। प्रजा की इस सहायता से श्रेणिक ने चिलात को राज्य से बाहर निकाल आप मगध का सम्राट् बना। सच है, राजा होने के योग्य वही पुरुष है जो प्रजा का पालन करने वाला हो। जिसमें यह योग्यता नहीं वह राजा नहीं किन्तु इस लोक में तथा परलोक में अपनी कीर्ति का नाश करने वाला है ॥२४-२५॥

चिलात पुत्र मगध से भागकर एक वन में जाकर बसा। वहाँ उसने एक छोटा-मोटा किला बनवा लिया और आसपास के छोटे-छोटे गाँवों से जबरदस्ती कर वसूल कर आप उनका मालिक बन बैठा। इसका भर्तृमित्र नाम का एक मित्र था। भर्तृमित्र के मामा रुद्रदत्त के एक लड़की थी। सो भर्तृमित्र ने अपने मामा से प्रार्थना की-वह अपनी लड़की का ब्याह चिलातपुत्र के साथ कर दे। उसकी बात पर कुछ ध्यान न देकर रुद्रदत्त चिलातपुत्र को लड़की देने से साफ मुकर गया। चिलातपुत्र से अपना वह अपमान न सहा गया। वह छुपा हुआ राजगृह में पहुँचा और विवाहित स्नान करती हुई सुभद्रा को उठा चलता बना। जैसे ही यह बात श्रेणिक के कानों में पहुँची वह सेना लेकर उसके पीछे दौड़ा। चिलातपुत्र ने जब देखा कि अब श्रेणिक के हाथ से बचना कठिन है, तब उस दुष्ट निर्दयी ने बेचारी सुभद्रा को जान से मार डाला और आप जान बचाकर भागा। वह वैभारपर्वत पर से जा रहा था कि उसे वहाँ एक मुनियों का संघ देख पड़ा। चिलातपुत्र दौड़ा हुआ संघाचार्य श्री मुनिदत्त मुनिराज के पास पहुँचा और उन्हें हाथ जोड़ सिर नवा उसने प्रार्थना की कि प्रभो, मुझे तप दीजिए, जिससे मैं अपना हित कर सकूँ। आचार्य ने तब उससे कहा-प्रिय, तूने बड़ा अच्छा सोचा जो तू तप लेना चाहता है। तेरी आयु अब सिर्फ आठ दिन की रह गई है। ऐसे समय जिनदीक्षा लेकर

स च प्राह मुनिर्ज्ञानी जैनतत्त्वविदाम्वर:। सुधी: शीघ्रं समादाय जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ॥३४॥
साधय त्वं निजं कार्यं तवायुर्दिवसाष्टकम्। ततश्चिलातपुत्रोसौ श्रुत्वा वाक्यं महामुने: ॥३५॥
गृहीत्वा सुतपो जैनं संसाराम्भोधितारणम्। स्थित: प्रायोपयानाख्य-मरणे धीरमानस: ॥३६॥
श्रेणिकस्तु महाराजस्तं विलोक्य तथास्थितम्। नत्वा प्रशस्य सद्भक्त्या पश्चात्प्राप्तो निजं पुरम् ॥३७॥
सुभद्रा व्यन्तरी सा च पूर्ववैरेण पापिनी। सोलिकारूपमादाय स्थित्वा तन्मस्तके तदा ॥३८॥
चञ्च्वा तल्लोचनद्वंद्वं सन्निष्काश्य प्रकष्टत:। पश्चादष्टदिनेषूच्चैर्विकृत्य मधुमक्षिका ॥३९॥
चक्रे पीडां सुधी: सोपि नि:स्पृहो निजविग्रहे। मृत्वा समाधिना स्वामी प्राप्त: सर्वार्थसिद्धिकाम् ॥४०॥
स श्रीमान्सुभटाग्रणीर्गुणनिधिर्जित्वोपसर्गं दृढं श्रीमज्जैनपदाब्जचिन्तनपरो देवेन्द्रवृन्दै: स्तुत:।
संप्राप्तो निजपुण्यसंबलयुत: सर्वार्थसिद्धिं शुभां दद्याच्चारुचिलातपुत्रसुमुनिर्भव्योत्र मे मङ्गलम् ॥४१॥

इति कथाकोशे महामण्डलेश्वर-श्रीश्रेणिक-सुत-चिलातपुत्रस्याख्यानं समाप्तम्।

७१. श्रीधन्यमुनेराख्यानम्

नमस्कृत्य जिनाधीशं सारधर्मोपदेशकम्। धन्यनाममुनेर्वच्मि चरित्रं शर्मदायकम् ॥१॥

तुझे अपना हित करना उचित ही है। मुनिराज से अपनी जिन्दगी इतनी थोड़ी सुन उनसे उसी समय तप ले लिया जो संसार-समुद्र से पार करने वाला है। चिलातपुत्र तप लेने के साथ ही प्रायोपगमन संन्यास ले धीरता से आत्मभावना भाने लगा। इधर उसके पकड़ने को पीछे आने वाले श्रेणिक ने वैभारपर्वत पर आकर उसे इस अवस्था में जब देखा तब उसे चिलातपुत्र की इस धीरता पर बड़ा चकित होना पड़ा। श्रेणिक ने तब उसके इस साहस की बड़ी तारीफ की। इसे बाद वह उसे नमस्कार कर राजगृह लौट आया। चिलातपुत्र ने जिस सुभद्रा को मार डाला था, वह मरकर व्यन्तर देवी हुई। उसे जान पड़ा कि मैं चिलातपुत्र द्वारा बड़ी निर्दयता से मारी गई हूँ। मुझे भी तब अपने बैर का बदला लेना ही चाहिए। यह सोचकर वह चील का रूप ले चिलात मुनि के सिर पर आकर बैठ गई उसने मुनि को कष्ट देना शुरू किया। पहले उसने चोंच से उनकी दोनों आँखें निकाल लीं और बाद मधुमक्खी बनकर वह उन्हें काटने लगी। आठ दिन तक उन्हें उसने बेहद कष्ट पहुँचाया। चिलातमुनि ने विचलित न हो इस कष्ट को बड़े शान्ति से सहा। अन्त में समाधि से मरकर उसने सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की ॥२६-४०॥

जिस वीरों के वीर और गुणों की खान चिलात मुनि ने ऐसा दु:सह उपसर्ग सहकर भी अपना धैर्य नहीं छोड़ा और जिनेन्द्र भगवान् के चरणों का, जो कि देवों द्वारा भी पूज्य हैं, खूब मन लगाकर ध्यान करते रहे और अन्त में जिन्होंने अपने पुण्यबल से सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की वे मुझे भी मंगल दें ॥२६-४१॥

७१. धन्य मुनि की कथा

सर्वोच्च धर्म का उपदेश करने वाले श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर धन्य नाम के मुनि की कथा लिखी जाती है, जो पढ़ने या सुनने से सुख प्रदान करने वाली है ॥१॥

जम्बूद्वीप पूर्व की ओर बसे हुए विदेह क्षेत्र की प्रसिद्ध राजधानी वीतशोकपुर का राजा अशोक

जम्बूद्वीपक्षेत्रविख्याते पूते पूर्वविदेहके। वीतशोकपुरे राजा संजातोशोकनामभाक् ॥२॥
धान्यगाहनवेलायां स राजा भूरिलोभतः। बन्धनं कारयत्येव बलीवर्दमुखेषु च ॥३॥
तथा महानसे पाकं कुर्वतीनां च योषिताम्। कारयित्वा स्तनेषूच्चैर्बन्धनं कर्मबन्धनम् ॥४॥
तद्बालानां स्तनं पातुं न ददात्येव मूढधीः। अहो लोभेन मूढात्मा किं करोति न पातकम् ॥५॥
एकदा तस्य भूभर्त्तुर्मुखे शिरसि चाभवत्। महारोगस्ततस्तस्य विनाशार्थं महौषधम् ॥६॥
पाचयित्वा समादाय भाजने भोजनाय च। यावत्संतिष्ठते राजाऽशोकस्तावच्छुभोदयात् ॥७॥
महारोगग्रहग्रस्तो मुनीन्द्रो भुवनोत्तमः। चर्याकाले समायातः पवित्रीकृतभूतलः॥८॥
दृष्ट्वा तं सुतपोयुक्तं मुनिं परमनिस्पृहम्। यो मे रोगो मुनेरस्य स एव भवति ध्रुवम् ॥९॥
इति ज्ञात्वा महाभक्त्या नवपुण्यैः समन्वितम्। तस्मै तदौषधं दिव्यं पथ्यं चापि ददौ नृपः ॥१०॥
ततो द्वादशवर्षोत्थरोगस्तस्य महामुनेः। शीघ्रं नष्टो यथा मिथ्यादृष्टिः सद्दृष्टिवाक्यतः ॥११॥
तत्पुण्येन नृपः सोपि क्षेत्रेऽत्र भरते शुभे। पुरे चामलकण्ठाख्ये निष्ठसेनो महीपतिः ॥१२॥
नन्दिमत्यभिधा राज्ञी तयोः पुत्रोभवत्सुधीः। रूपलावण्यसत्पुण्यमण्डितो धन्यनामकः ॥१३॥
एकदा स्वगुणैः सार्द्धं वृद्धिं प्राप्य स धन्यकः। अरिष्टनेमितीर्थस्य पादमूले जगद्धिते ॥१४॥

बड़ा ही लोभी राजा हो चुका है। जब फसल काटकर खेतों पर खले किए जाते थे तब वह बेचारे बैलों का मुँह बँधवा दिया करता और रसोई घर में रसोई बनाने वाली स्त्रियों के स्तन बँधवा कर उनके बच्चे को दूध न पीने देता था, सच है, लोभी मनुष्य कौन सा पाप नहीं करते? ॥२-५॥

एक दिन अशोक के मुँह में कोई ऐसी बीमारी हो गई जिससे उसका असर उसके सिर में आ गया। सिर में हजारों फोड़े-फुंसी हो गए। उससे उसे बड़ा कष्ट होने लगा। उसने उस रोग की औषधि बनवाई वह उसे पीने को ही था कि इतने में अपने चरणों से पृथ्वी को पवित्र करते हुए मुनि आहार के लिए इसी ओर आ निकले। भाग्य से यह मुनि भी राजा की तरह इसी माह रोग से पीड़ित हो रहे थे। इन तपस्वी मुनि की यह कष्टमय दशा देखकर राजा ने सोचा कि जिस रोग से मैं कष्ट पा रहा हूँ, जान पड़ता है उसी रोग से ये तपोनिधि भी दु:खी है। यह सोचकर या दया से प्रेरित होकर राजा जिस दवा को स्वयं पीने वाला था, उसे उसने मुनिराज को पिला दिया और वैसा ही उन्हें पथ्य भी दिया। दवा ने बहुत लाभ किया। बारह वर्ष का यह मुनि का महारोग थोड़े ही समय में मिट गया, मुनि भले चंगे हो गए ॥६-११॥

अशोक जब मरा तो इस पुण्य के फल से वह अमलकण्ठपुर के राजा निष्ठसेन की रानी नन्दमती के धन्य नाम का सुन्दर गुणवान् पुत्र हुआ। धन्य को एक दिन श्रीनेमिनाथ भगवान् के पास धर्म का उपदेश सुनने को मौका मिला। वह भगवान् के द्वारा अपनी उम्र बहुत थोड़ी जानकर उसी समय सब माया-ममता छोड़ मुनि बन गया। एक दिन वह शहर में आहार के लिए गया, पर पूर्वजन्म के पाप कर्म के उदय से उसे आहार नहीं मिला। वह वैसे ही तपोवन में लौट आया। यहाँ

धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम्। ज्ञात्वा स्वल्पतरं स्वायुर्मुनिर्जातो विचक्षणः ॥१५॥
पूर्वकर्मोदयाद्भिक्षामप्राप्तो धीरमानसः। उग्रोग्रं सुतपः कुर्वन्विहरंश्च महीतले ॥१६॥
सौरीपुरीं समागत्य यमुनापूर्वसत्तटे। आतापनाख्ययोगेन संस्थितो मुनिनायकः ॥१७॥
तदा पापर्द्धिकां गत्वा यमुनाचक्रं भूभुजा। पुनर्व्याघुटितेनैव पापिनाशकुनास्थया ॥१८॥
स्वबाणैः पूरितः साधु-स्तदासौ धन्यनामभाक्। शुक्लध्यानप्रभावेन सिद्धिं प्राप्तो निरंजनः ॥१९॥
अहो धीरत्वमत्युच्चैः सतां केनात्र वर्ण्यते। येनो घोरोपसर्गेपि शीघ्रं मुक्तिः समाप्यते ॥२०॥
धन्यो धन्यमुनीश्वरो भयहरो भव्यात्मनां तारको देवेन्द्रादिसमर्चितो हितकरः श्रीमुक्तिकान्तावरः।
आधिव्याधिसमस्तदोषनिकरं हत्वा सुखं शाश्वतं कुर्यान्मे वरबोधसिन्धुरतुलश्चारित्रचूडामणिः ॥२१॥

इति कथाकोशे धन्यमुनेराख्यानं समाप्तम्।

७२. पञ्चशतमुनीनामाख्यानम्।

पादपद्मद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभश्रिये। मुनिपञ्चशतानां तु चरित्रं श्रेयसे ब्रुवे ॥१॥
दक्षिणाख्यपथे ख्याते देशे च भरताभिधे। कुंभकारकटे पूर्वं पत्तने सुचिरंतने ॥२॥
राजाभूद्दण्डको राज्ञी सुव्रता रूपमण्डिता। बालकाख्योभवन्मंत्री पापी धर्मपराङ्मुखः ॥३॥

से विहार कर वह तपस्या करता तथा धर्मोपदेश देता हुआ शौरीपुर आकर यमुना के किनारे आतापन योग द्वारा ध्यान करने लगा। इसी ओर यहाँ का राजा शिकार के लिए आया हुआ था, पर आज उसे शिकार न मिला। वह वापस अपने महल की ओर आ रहा था कि इसी समय इसकी नजर मुनि पर पड़ी। इसने समझ लिया कि बस, शिकार न मिलने का कारण इस नंगे का दीख पड़ना है, उसने यह अपशकुन किया है। यह धारणा कर इस पापी राजा ने मुनि को बाणों से खूब वेध दिया। मुनि ने तब शुक्लध्यान की शक्ति से कर्मों का नाश कर सिद्ध गति प्राप्त की। सच है, महापुरुषों की धीरता बड़ी ही चकित करने वाली होती है। जिससे महान् कष्ट के समय में भी मोक्ष प्राप्ति हो जाता है ॥१२-२०॥

वे धन्य मुनि रोग, शोक, चिन्ता आदि दोषों को नष्ट कर मुझे शाश्वत, कभी नाश न होने वाला सुख दें, जो भव्यजनों का भय मिटाने वाले हैं, संसार समुद्र से पार करने वाले हैं, देवों द्वारा पूजा किए जाते हैं, मोक्ष-महिला के स्वामी हैं, ज्ञान का समुद्र हैं और चारित्र-चूड़ामणि हैं ॥२१॥

७२. पाँच सौ मुनियों की कथा

जिनेन्द्र भगवान् के चरणों को नमस्कार कर पाँच सौ मुनियों पर एक साथ बीतने वाली घटना का हाल लिखा जाता है, जो कि कल्याण का कारण है ॥१॥

भरत के दक्षिण की ओर बसे हुए कुम्भकारकट नाम के पुराने शहर के राजा का नाम दण्डक और उनकी रानी का नाम सुव्रता था। सुव्रता रूपवती ओर विदुषी थी। राजमंत्री का नाम बालक था। यह पापी जैनधर्म से बड़ा द्वेष रखा करता था। एक दिन इस शहर में पाँच सौ मुनियों का संघ

तत्रैकदा पुरे पञ्चशतोत्कृष्टमुनीश्वराः। नाम्नाभिनन्दनाद्यास्ते समायाताश्च लीलया ॥४॥
खण्डकाख्यमुनीन्द्रेण स मंत्री बालकः कुधीः। स्याद्वादवाग्भरैर्वादे निर्जितो धर्मवर्जितः ॥५॥
ततस्तेन प्ररुष्टेन भंडको मुनिरूपभाक्। मंत्रिणा बालकेनोच्चैः प्रेषितः सुव्रतान्तिके ॥६॥
तया सार्द्धं ततश्चेष्टां स कुर्वन्पापमण्डितः। राज्ञः संदर्शितः पश्चात्पश्यतां भो महामते ॥७॥
एतेषां भक्तियुक्तस्त्वं मन्येहं तव कामिनीम्। दातुं समिच्छसि व्यक्तं किं करोत्येष ते मुनिः ॥८॥
इत्याकर्ण्य ततो राजा दण्डको मूढमानसः। यंत्रे संपीडयामास मुनीन्द्रान्दुष्टकोपतः ॥९॥
दुष्टात्मा दुर्गतेर्गामी जन्तुर्मिथ्यात्वमोहितः। किं पापं कुरुते नैव जन्मकोटिप्रकष्टदम् ॥१०॥
तदा ते मुनयो धीरा जैनतत्त्वविदाम्वराः। शुक्लध्यानप्रभावेन सिद्धिं प्रापुर्जगद्धिताम् ॥११॥

आया। बालक मंत्री को अपनी पंडिताई पर बड़ा अभिमान था। सो वह शास्त्रार्थ करने को मुनिसंघ के आचार्य के पास जा रहा था। रास्ते में इसे एक खण्डक नाम के मुनि मिल गए। सो उन्हीं से आप झगड़ा करने को बैठ गया और लगा अन्ट-सन्ट बकने। तब मुनि ने उसकी युक्तियों का अच्छी तरह खण्डन कर स्याद्वाद-सिद्धान्त का इस शैली से प्रतिपादन किया कि बालक मंत्री का मुँह बन्द हो गया, उनके सामने फिर उससे कुछ बोलते न बना। तब उसे लज्जित हो घर लौट आना पड़ा। इस अपमान की आग उसके हृदय में खूब धधकी। उसने तब इसका बदला चुकाने की ठानी। इसके लिए उसने यह युक्ति की कि एक भाँड को छल से मुनि बनाकर सुव्रता रानी के महल में भेजा। यह भाँड रानी के पास जाकर उससे भला-बुरा हँसी-मजाक करने लगा। इधर उसने यह सब लीला राजा को भी बतला दी और कहा—महाराज, आप इन लोगों की इतनी भक्ति करते हैं, सदा इनकी सेवा में लगे रहते हैं, तो क्या यह सब इसी दिन के लिए है? जरा आँखें खोलकर देखिए कि सामने क्या हो रहा है? उस भाँड की लीला देखकर मूर्खराज दण्डक के क्रोध का कुछ पार न रहा। क्रोध से अन्धे होकर उसने उसी समय हुक्म दिया कि जितने मुनि इस समय मेरे शहर में मौजूद हों, उन सबको घानी में पेल दो। पापी मंत्री तो इसी पर मुँह धोये बैठा था। सो राजाज्ञा होते ही उसने पलभर का भी विलम्ब करना उचित न समझ मुनियों के पेले जाने की सब व्यवस्था फौरन जुटा दी। देखते-देखते वे सब मुनि घानी में पेल दिये गए। बदला लेकर बालक मंत्री की आत्मा सन्तुष्ट हुई। सच है—जो पापी होते हैं, जिन्हें दुर्गतियों में दुःख भोगना है, वे मिथ्यात्वी लोग भयंकर पाप करने में जरा भी नहीं हिचकते। चाहे फिर उस पाप के फल से उन्हें जन्म-जन्म में क्यों न कष्ट सहना पड़े। जो हो, मुनिसंघ पर इस समय बड़ा ही घोर और दुःसह उपद्रव हुआ। पर वे साहसी धन्य हैं, जिन्होंने जबान से चूँ तक न निकाल कर सब कुछ बड़े साहस के साथ सह लिया। जीवन की इस अन्तिम कसौटी पर वे खूब तेजस्वी उतरे। उन मुनियों ने शुक्लध्यानरूपी अपनी महान् आत्मशक्ति से कर्मों का, जो कि आत्मा के पक्के दुश्मन हैं, नाश कर मोक्ष लाभ किया ॥२-११॥

चञ्चत्सुवर्णगिरिराजसुनिश्चलास्ते प्रध्वस्तकर्ममलसंगतयो मुनीन्द्राः।
देवेन्द्रदानवनरेन्द्रसमर्चनीया नित्यं भवन्तु भवशान्तिविधायिनो मे ॥१२॥

इति कथाकोशे पञ्चशतमुनीनामाख्यानं समाप्तम्।

७३. चाणक्याख्यानम्

नत्वा नमत्सुराधीशैः समर्चितपदद्वयम्। श्रीजिनेन्द्रं प्रवक्ष्यामि चाणक्यस्य कथानकम् ॥१॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये नन्दो राजा बभूव च। मंत्रिणोस्य त्रयः काविः सुबन्धुः शकटालवाक् ॥२॥
पुरोधा कपिलस्तस्य देविला प्राणवल्लभा। तयोश्चाणक्यनामाभूत्पुत्रो वेदविचक्षणः ॥३॥
एकदा काविमंत्री च नन्दं प्राह महीपते। प्रत्यन्तवासिनो भूपाः समायातास्तवोपरि ॥४॥
राजा जगाद भो मंत्रिन्द्रव्यं दत्वा मदोद्धतान्। शत्रून्निवारय प्रौढां-स्तच्छ्रुत्वा तेन मंत्रिणा ॥५॥
द्रव्यं दत्वा यथायोग्यं शत्रवस्ते निवारिताः। विना मंत्रिजनैर्नैव राज्ञो राज्यस्थितिर्भवेत् ॥६॥
पृष्टे राज्ञैकदा भाण्डा-गारिको धनहेतवे। स च प्राह प्रभो सर्वं शत्रूणां काविराददौ ॥७॥
ततो रुष्टेन नन्देन स काविः सकुटुम्बकः। अन्धकूपे विनिक्षिप्तः संकटद्वारके तथा ॥८॥

दिपते हुए सुमेरु के समान स्थिर, कर्मरूपी मैल को, जो कि आत्मा को मलिन करने वाला हैं, नाश करने वाले और देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों, राजाओं और महाराजाओं द्वारा पूजा किए गए जिन मुनिराजों ने संसार का नाश कर मोक्ष लाभ किया वे मेरा भी संसार-भ्रमण मिटावें ॥१२॥

७३. चाणक्य की कथा

देवों द्वारा पूजा किए जाने वाले जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर चाणक्य की कथा लिखी जाती है ॥१॥

पाटलिपुत्र या पटना के राजा नन्द के तीन मंत्री थे। कावी, सुबन्धु और शकटाल ये उनके नाम थे। यहीं एक कपिल नाम का पुरोहित रहता था। कपिल की स्त्री का नाम देविला था। चाणक्य इन्हीं का पुत्र था। यह बड़ा बुद्धिमान् और वेदों का ज्ञाता था ॥२-३॥

एक बार आस-पास छोटे-मोटे राजाओं ने मिलकर पटना पर चढ़ाई कर दी। कावी मंत्री ने इस चढ़ाई का हाल नन्द से कहा। नन्द ने घबरा कर मंत्री से कह दिया कि जाओ जैसे बने उन अभिमानियों को समझा-बुझाकर वापस लौटा दो। धन देना पड़े तो वह भी दो। राजाज्ञा पा मंत्री ने उन्हें धन वगैरह देकर लौटा दिया। सच है, बिना मंत्री के राज्य स्थिर हो ही नहीं सकता ॥४-६॥

एक दिन नन्द को स्वयं कुछ धन की जरूरत पड़ीं। उसने खजांची से खजाने में कितना धन मौजूद है, इसके लिए पूछा। खजांची ने कहा-महाराज, धन तो सब मंत्री महाशय ने दुश्मनों को दे डाला। खजाने में तो अब नाम मात्र के लिए थोड़ा-बहुत धन बचा होगा। यद्यपि दुश्मनों को धन स्वयं राजा ने दिलवाया था और इसलिए गलती उसी की थी, पर उस समय अपनी यह भूल उसे न दीख

तत्रैकैकं तदा भक्तसरावं दिवसं प्रति। दीयते स्तोकपानीयं हा मित्रं कस्य भूपतिः ॥९॥
कुटुम्बं कविना प्रोक्तं सकुटुम्बस्य भूभुजः। यो मारणे क्षमः सोत्र गृह्णात्वेतच्च भोजनम् ॥१०॥
परिवारस्तदा प्राह त्वमेवं सुभटस्तराम्। स काविस्तुः ततः कूपे बिलं कृत्वा निजोचितम् ॥११॥
कुर्वाणो भोजनं तत्र त्रीणि वर्षाणि संस्थितः। कुटुम्बं च मृतं सर्वं कूपस्थं पापकर्मणा ॥१२॥
प्रत्यन्तवासिनां क्षोभे स्मृत्वा नन्देन कूपतः। काविमंत्री स निस्सार्य पुनर्मंत्रिपदे धृतः ॥१३॥
ततोसौ नन्दभूभर्त्तुर्वंशनाशाय वह्निवत्। नरं गवेषयन्नित्यं काविर्मंत्री दुराशयः ॥१४॥
अटव्यामेकदा वीक्ष्य खनन्तं दर्भसूचिकाम्। तं चाणक्यं प्रति प्राह किमर्थं खन्यते त्वया ॥१५॥
चाणक्येन ततः प्रोक्तं विद्धोहमनयेति च। काविस्तु पूर्यतेऽवोचत्क्षमां कुरु महामते ॥१६॥

पड़ी और दूसरे के उकसाने में आकर उसने बेचारे निर्दोष मंत्री को और साथ में उसके सारे कुटुम्ब को एक अन्धे कुँए में डलवा दिया। मंत्री तथा उसका कुटुम्ब वहाँ बड़ा कष्ट पाने लगा। उनके खाने-पीने के लिए बहुत थोड़ा भोजन और थोड़ा सा पानी दिया जाता था। वह इतना थोड़ा था कि एक मनुष्य भी उससे अच्छी तरह पेट न भर सकता था। सच है, राजा किसी का मित्र नहीं होता। राजा के इस अन्याय ने कावी के मन में प्रतिहिंसा की आग धधका दी। इस आग ने बड़ा भयंकर रूप धारण किया। कावी ने तब अपने कुटुम्ब के लोगों से कहा–जो भोजन इस समय हमें मिलता है उसे यदि हम इसी तरह थोड़ा थोड़ा सब मिलकर खाया करेंगे तब तो हम धीरे-धीरे सब ही मर मिटेंगे और ऐसी दशा में कोई राजा से उसके इस अन्याय का बदला लेने वाला न रहेगा। पर मुझे यह सह्य नहीं। इसलिए मैं चाहता हूँ कि मेरा कोई कुटुम्ब का मनुष्य राजा से बदला ले। तब ही मुझे शान्ति मिलेगी। इसलिए इस भोजन को वही मनुष्य अपने में से खाये जो बदला लेने की हिम्मत रखता हो। तब उसके कुटुंबियों ने कहा–इसका बदला लेने में आप ही समर्थ देख पड़ते हैं। इसलिए हम खुशी के साथ कहते हैं कि इस भार को आप ही अपने सर पर लें। उस दिन से उसका सारा कुटुम्ब भूखा रहने लगा और धीरे-धीरे सबका सब मर मिटा। इधर कावी अपने रहने योग्य एक छोटा सा गड्ढा उस कुँए में बनाकर दिन काटने लगा। ऐसे रहते उसे कोई तीन वर्ष बीत गए ॥७-१२॥

जब यह खबर आस-पास के राजाओं के पास पहुँची तब उन्होंने उस समय राज्य को अव्यवस्थित देख फिर चढ़ाई कर दी। अब तो नन्द के कुछ होश ढीले पड़े, अकल ठिकाने आई अब उसे न सूझ पड़ा कि वह क्या करे? तब उसे अपने मंत्री कावी की याद आयी। उसने नौकरों को आज्ञा दो कुँए से मंत्री को निकलवाया और मंत्री की जगह नियत किया। मंत्री ने भी इस समय तो उन राजाओं से सुलह कर नन्द की रक्षा कर ली। पर अब उसे अपना वैर निकालने की चिन्ता हुई वह किसी ऐसे मनुष्य को खोज करने लगा, जिससे उसे सहायता मिल सके। एक दिन कावी किसी वन में हवाखोरी के लिए गया हुआ था। इसने वहाँ एक मनुष्य को देखा कि जो काँटों के समान चुभने वाली दूबा को जड़-मूल से उखाड़-उखाड़ कर फेंक रहा था, उसे एक निकम्मा काम करते देखकर कावी ने चकित

किमत्र खननेनोच्चैर्यदा मूलं तथा स्थितम्। किं शत्रोर्मारणेनात्र गृहीतं चेन्न मस्तकम् ॥१७॥
तद्वाक्यं काविना श्रुत्वा स्वचित्ते चेति चिन्तितम्। अयं नन्दकुलोच्छेदे योग्यो भाति न संशयः ॥१८॥
चाणक्यस्य प्रिया प्राह यशस्वत्यभिधा ततः। नन्दो राजा ददात्येव कपिलां गोमतल्लिकाम् ॥१९॥
तां त्वं गृहाण भो नाथ गृह्णाम्येवं च सोवदत्। तं सम्बन्धं समाकर्ण्य स काविस्तु नृपं जगौ ॥२०॥
दीयते भो नराधीश कपिलानां सहस्रकम्। ब्राह्मणेभ्यो भवद्भिस्तु भूरिवित्तसमन्वितैः ॥२१॥
अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन भूतले। चित्तं चान्यद्वचश्चान्यत्कायो मायामयो यतः ॥२२॥
नन्दराजेन संप्रोक्तं ब्राह्मणानानय द्रुतम्। ददामि कपिलास्तेभ्यस्ततोसौ मंत्रिशत्रुकः ॥२३॥

होकर पूछा–ब्रह्मदेव, इसे खोदने से तुम्हारा क्या मतलब है? क्यों बे–फायदा इतनी तकलीफ उठा रहे हो? इस मनुष्य का नाम चाणक्य था। इसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। चाणक्य ने तब कहा–वाह महाशय! इसे आप बे–फायदा बतलाते हैं। आप जानते हैं कि इसका क्या अपराध है? सुनिये! इसने मेरा पाँव छेद डाला और मुझे महा कष्ट दिया, तब मैं क्यों इसे छोड़ने चला? मैं तो इसका जड़मूल से नाश कर ही दम लूँगा। यही मेरा संकल्प है। तब कावी ने उसके हृदय की थाह लेने के लिए कि इसकी प्रतिहिंसा की आग कहाँ जाकर ठण्डी पड़ती है, कहा–तो महाशय! अब इस बेचारी को क्षमा कीजिए, बहुत हो चुका। उत्तर में चाणक्य ने कहा–नहीं, तब तक इसके खोदने से लाभ ही क्या जब तक कि इसकी जड़े बाकी रह जायें। उस शत्रु के मारने से क्या लाभ जब कि उसका सिर न काट लिया जाये? चाणक्य की यह ओजस्विता देखकर कावी को बहुत संतोष हुआ। उसे निश्चय हो गया कि इसके द्वारा नन्दकुल का जड़–मूल से नाश हो सकेगा। इससे अपने को बहुत सहायता मिलेगी। अब सूर्य और राहु का योग मिला देना अपना काम है। किसी तरह नन्द के सम्बन्ध में इसका मनमुटाव करा देना ही अपने कार्य का श्रीगणेश हो जाएगा। कावी मंत्री इस तरह का विचार कर ही रहा था कि प्यासे की जल की आशा होने की तरह एक योग मिल ही गया। इसी समय चाणक्य की स्त्री यशस्वती ने आकर चाणक्य से कहा–सुनती हूँ, राजा नन्द ब्राह्मणों को गौ दान किया करते हैं तब आप भी जाकर उनसे गौ लाइये न। चाणक्य ने कहा–अच्छी बात है, मैं अपने महाराज के पास जाकर जरूर गौ लाऊँगा। यशस्वती के मुँह से यह सुनकर कि नन्द गौओं का दान किया करता है, कावी मंत्री खुश होता हुआ राजदरबार में गया और राजा से बोला–महाराज! क्या आज आप गौएँ दान करेंगे? ब्राह्मणों को इकट्ठा करने की योजना की जाए? महाराज, आपको तो यह पुण्यकार्य करना ही चाहिए। धन का ऐसी जगह सदुपयोग होता है। मंत्री ने अपना चक्र चलाया और वह राजा पर चल भी गया। सच है, जिनके मन में कुछ और होता है, जो वचनों से कुछ और बोलते हैं तथा शरीर जिनका माया से सदा लिपटा रहता हैं, उन दुष्टों की दुष्टता का पता किसी को नहीं लग पाता। कावी की सत् सम्मति सुनकर नन्द ने कहा–अच्छा ब्राह्मणों को आप बुलवाइये, मैं उन्हें गौएँ दान करूँगा। मंत्री जैसा चाहता था, वही हो गया। वह झटपट जाकर

चाणक्यं तं समानीय पुरोहितसुतं मुदा। अग्रासने शुभे काविः स्थापयामास दुष्टधीः ॥२४॥
चाणक्येन तदा तेन स्वकुंडीभिर्बहूनि च। स्वीकृतान्यासनान्युच्चैर्महातृष्णातुरेण च ॥२५॥
तं तथास्थितमालोक्य काविः प्राह प्रपञ्चतः। अहो भट्ट नृपो वक्ति भूरिविप्राः समागताः ॥२६॥
मुञ्चैकमासनं देव मुक्तं तेनैकमासनम्। एवं सर्वासनान्युच्चै-र्मोचयित्वा च मंत्रिणा ॥२७॥
पुनः प्रोक्तं महाभट्ट किं करोम्यहमल्पकः। नन्दो विवेकशून्यात्मा भणत्येवं महीपतिः ॥२८॥
अग्रासनं त्यज त्वं न दत्तमन्यस्य वर्त्तते। गच्छ त्वं स इति प्रोक्त्वा गले धृत्वा बहिः कृतः ॥२९॥
चाणक्योसौ ततः कोपान्नन्दवंशक्षयेच्छया। यो राज्यं नन्दभूपस्य समिच्छति महाभटः ॥३०॥
गृहीतुं स समायातु भणित्वेति विनिर्गतः। एकस्तत्पृष्टतो लग्नस्तं गृहीत्वा प्रवेगतः ॥३१॥
प्रत्यन्तवासिनां राज्ञां मिलित्वा क्रूरमानसः। घातुकेन समागत्य हत्वा नन्दं महीपतिम् ॥३२॥
तद्राज्यं च समादाय स्वयं राजा बभूव च। अहो मंत्रिप्रकोपेन भूपाः के न क्षयं गताः ॥३३॥
दीर्घकालं ततो राज्यं कृत्वा चाणक्यभूपतिः। महीधरमुनेः पार्श्वे धर्ममाकर्ण्य शर्मदम् ॥३४॥

चाणक्य को ले आया और उसे सबसे आगे रखे आसन पर बैठा दिया। लोभी चाणक्य ने तब अपने आस-पास रखे हुए बहुत से आसनों को घर ले जाने की इच्छा से इकट्ठा कर अपने पास रख लिए। उसे इस प्रकार लोभी देखकर कावी ने कपट से कहा-पुरोहित महाराज! राजा साहस कहते हैं और बहुत से ब्राह्मण विद्वान् आए हैं, आप उनके लिए आसन दीजिये। चाणक्य ने तब एक आसन निकाल कर दे दिया। इसी तरह धीरे-धीरे मंत्री ने उससे सब आसन रखवाकर अन्त में कहा-महाराज, क्षमा कीजिए! मेरा कोई अपराध नहीं है। मैं तो पराया नौकर हूँ। इसलिए जैसा मालिक कहते हैं उनका हुक्म बजाता हूँ पर जान पड़ता है कि राजा बड़ा अविचारी है जो आप सरीखे महा ब्राह्मण का अपमान करना चाहता है। महाराज, राजा का कहना है कि आप जिस अग्रासन पर बैठे हैं उसे छोड़कर चले जाइए। यह आसन दूसरे विद्वान् के लिए पहले ही से दिया जा चुका है। यह कहकर ही कावी ने गर्दन पकड़ चाणक्य को निकाल बाहर कर दिया। चाणक्य एक तो वैसे ही महाक्रोधी और अब उसका ऐसा अपमान किया गया और वह भी भरी राजसभा में! तब तो अब चाणक्य के क्रोध का पूछना ही क्या? वह नन्दवंश को जड़मूल से उखाड़ फेंकने का दृढ़ संकल्प कर जाता-जाता बोला कि जिसे नन्द का राज्य चाहना हो, वह मेरे पीछे-पीछे चला आवे। यह कहकर वह चलता बना। चाणक्य की इस प्रतिज्ञा के साथ ही कोई एक मनुष्य उसके पीछे हो गया। चाणक्य उसे लेकर उन आस-पास के राजाओं से मिल गया और फिर मौका देख एक घातक मनुष्य को साथ ले वह पटना आया और नन्द को मरवा कर आप उस राज्य का मालिक बन बैठा। सच है, मंत्री के क्रोध से कितने राजाओं का नाम इस पृथ्वी से उठ गया होगा ॥१३-३३॥

इसके बाद चाणक्य ने बहुत दिनों तक राज्य किया। एक दिन उसे श्रीमहीधर मुनि द्वारा जैनधर्म का उपदेश सुनने का मौका मिला। उस उपदेश का उसके चित्त पर खूब असर पड़ा। वह उसी समय सब राज-काज छोड़कर मुनि बन गया। चाणक्य बुद्धिमान् और बड़ा तेजस्वी था।

मुनिर्भूत्वा सुधीः पञ्चशतैः शिष्यैः समन्वितः। कुर्वन्विहारमत्युच्चैर्भव्यान्सम्बोधयन्मुदा ॥३५॥
दक्षिणापथमागत्य जैनतत्त्वविचक्षणः। वनवासमहादेशे क्रौंचनामपुरे सुधीः ॥३६॥
तत्र पश्चिमभागस्थे गोष्ठे संन्यासपूर्वकम्। प्रायोपयानमरणे संस्थितो मुनिभिर्युतः ॥३७॥
यो नन्दस्य सुबन्ध्वाख्यो मंत्री पापपरायणः। नन्दे मृते महाक्रोधं कुधीश्चाणक्यके वहन् ॥३८॥
सोपि क्रौंचपुरीं प्राप्तः सुमित्राख्यमहीपतेः। पार्श्वे स्थितस्तदा राजा सुमित्रो जिनधर्मभाक् ॥३९॥
भक्त्या गोष्ठं समागत्य नत्वा तान्मुनिसत्तमान्। अष्टधा सुमहत्पूजां कृत्वा श्रुत्वा गृहं गतः ॥४०॥
पापी सुबन्धुनामा च मंत्री मिथ्यात्वदूषितः। समीपे तन्मुनीन्द्राणां कारीषाग्निं कुधीर्ददौ ॥४१॥
तदा ते मुनयो धीराः शुक्लध्यानेन संस्थिताः। हत्वा कर्माणि निःशेषं प्राप्ताः सिद्धिं जगद्धिताम् ॥४२॥
यत्रानन्तसुखं समस्तजगतां पूज्यं व्यथावर्जितं । रागद्वेषमदप्रमादरहितं संप्राप्य सिद्धालयम् ॥
सर्वे ते मुनयो विशुद्धचरणास्तिष्ठन्ति ये नित्यशः। कुर्युमेऽपि सुखं विमुक्तिजनितं बोधाब्धयो निर्मलम् ॥४३॥

इति कथाकोशे चाणक्यमुनेराख्यानं समाप्तम्।

इसलिए थोड़े ही दिनों बाद उसे आचार्य पद मिल गया। वहाँ से कोई पाँच सौ शिष्यों को साथ लिए उसने बिहार किया। रास्ते में पड़ने वाले देशों, नगरों और गाँवों में धर्मोपदेश करता और अनेक भव्य-जनों को हितमार्ग में लगाता वह दक्षिण की ओर बसे हुए वनवास देश के क्रौंचपुर में आया। इस पुर के पश्चिम किनारे कोई अच्छी जगह देख इसने संघ ठहरा दिया। चाणक्य को यहाँ यह मालूम हो गया कि उसकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है। इसलिए उसने वहीं प्रायोगपगमन संन्यास ले लिया ॥३४-३७॥

नन्द का दूसरा मंत्री सुबन्धु था। चाणक्य ने जब नन्द को मरवा डाला तब उसके क्रोध का पार नहीं रहा। प्रतिहिंसा की आग उसके हृदय में दिन-रात जलने लगी। पर उस समय उसके पास कोई साधन बदला लेने का न था। इसलिए वह लाचार चुप रहा। नन्द की मृत्यु के बाद वह इसी क्रौंचपुर में आकर यहाँ के राजा सुमित्र का मंत्री हो गया। राजा ने जब मुनिसंघ के आने का समाचार सुना तो वह उसकी वन्दना-पूजा के लिए आया, बड़ी भक्ति से उसने सब मुनियों की पूजा कर उनसे धर्मोपदेश सुना और बाद उनकी स्तुति कर वह अपने महल में लौट आया। मिथ्यात्वी सुबन्धु को चाणक्य से बदला लेने का अब अच्छा मौका मिल गया। उसने उस मुनिसंघ के चारों ओर खूब घास इकट्ठा करवा कर उसमें आग लगवा दी। मुनि संघ पर हृदय को हिला देने वाला बड़ा ही भयंकर दुःसह उपसर्ग हुआ सही, पर उसने उसे बड़ी सहन-शीलता के साथ सह लिया और अन्त में अपनी शुक्लध्यानरूपी आत्मशक्ति से कर्मों का नाश कर सिद्धगति लाभ की। जहाँ राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, दुःख, चिन्ता आदि दोष नहीं हैं और सारा संसार जिसे सबसे श्रेष्ठ समझता है ॥३८-४२॥

चाणक्य आदि निर्मल चारित्र के धारक ये सब मुनि अब सिद्धगति में ही सदा रहेंगे। ज्ञान के समुद्र ये मुनिराज मुझे भी सिद्धगति का सुख दें ॥४३॥

७४. वृषभसेनस्याख्यानम्

श्रीजिनं भारतीं नत्वा श्रुताब्धिं मुनिसत्तमम्। वक्ष्ये वृषभसेनस्य चरित्रं भुवनोत्तमम् ॥१॥
दक्षिणादिपथे ख्याते कुणालनगरे वरे। राजा वैश्रवणो धीमान्सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥२॥
रिष्टामात्योभवन्मंत्री पापी मिथ्यात्वमोहितः। युक्तं चन्दनवृक्षस्य पार्श्वे दुष्टोहिको भवेत् ॥३॥
एकदा भूरिसंघेन मण्डितो मुनिनायकः। सुधीर्वृषभसेनाख्यस्तत्रायातो जगद्धितः ॥४॥
श्रुत्वा वैश्रवणो भूपो मुनीनामागमं शुभम्। लसद्विभूतिसंयुक्तो भक्तिमाञ्छुद्धमानसः ॥५॥
सार्द्धं सद्भव्यसन्दोहैः समागत्य मुनीश्वरान्। त्रिः परीत्य महाप्रीत्या नमस्कृत्य पुनः पुनः ॥६॥
समभ्यर्च्य जलाद्यैश्च स्तुत्वा स्तोत्रैः सुखप्रदैः। धर्मं श्रुत्वा जिनेन्द्रोक्तं प्रीतो राजा जगद्धितम् ॥७॥
जैनधर्मं जगत्सारं सम्पदाशर्मदायकम्। समाकर्ण्य सुखी न स्यात्को वा चेद्भाविसद्गतिः ॥८॥
रिष्टामात्यस्तदा मंत्री वादं कृत्वा मदोद्धतः। मानभङ्गं तरां प्राप्तो मुनीन्द्रवचनोत्करैः ॥९॥
ततो रात्रौ समागत्य प्रच्छन्नं मानभङ्गतः। पापी प्रज्वालयामास वह्निना वसतिं सताम् ॥१०॥

---

७४. वृषभसेन की कथा

जिनेन्द्र भगवान्, जिनवाणी और ज्ञान के समुद्र साधुओं को नमस्कार कर वृषभसेन की उत्तम कथा लिखी जाती है ॥१॥

दक्षिण दिशा की ओर बसे हुए कुण्डल नगर के राजा वैश्रवण बड़े धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे और रिष्टामात्य नाम का इनका मंत्री इनसे बिल्कुल उल्टा-मिथ्यात्वी और जैनधर्म का बड़ा द्वेषी था। सो ठीक ही है, चन्दन के वृक्षों के आसपास सर्प रहा ही करते हैं ॥२-३॥

एक दिन श्रीवृषभसेन मुनि अपने संघ को साथ लिए कुण्डल नगर की ओर आए। वैश्रवण उनके आने के समाचार सुन बड़ी विभूति के साथ भव्यजनों को संग लिए उनकी वन्दना को गया। भक्ति से उसने उनकी प्रदक्षिणा की, स्तुति की, वन्दना की और पवित्र द्रव्यों से पूजा की तथा उनसे जैनधर्म का उपदेश सुना। उपदेश सुनकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। सच है, इस सर्वोच्च और सब सुखों के देने वाले जैनधर्म का उपदेश सुनकर कौन सद्गति-का पात्र सुखी न होगा? ॥४-८॥

राजमंत्री भी मुनिसंघ के पास आया। पर वह इसलिए नहीं कि वह उनकी पूजा-स्तुति करे किन्तु उनसे वाद-शास्त्रार्थ कर उनका मान भंग करने, लोगों की श्रद्धा उन पर से उठा देने। पर यह उसकी भूल थी। कारण, जो दूसरों के लिए कुँआ खोदते हैं उनमें पहले उन्हें ही गिरना पड़ता है। यही हुआ भी। मंत्री ने मुनियों का अपमान करने की गर्ज से उनसे शास्त्रार्थ किया, पर अपमान भी उसी का हुआ। मुनियों के साथ उसे हार जाना पड़ा। उस अपमान की उसके हृदय पर गहरी चोट लगी। इसका बदला चुकाना निश्चित कर वह शाम को छुपा हुआ मुनिसंघ के पास आया और जिस स्थान में वह ठहरा था उसमें उस पापी ने आग लगा दी। बड़े दुःख की बात है कि दुर्जनों का स्वभाव एक विलक्षण ही तरह का होता है। वे स्वयं तो पहले दूसरों के साथ छेड़-छाड़ करते हैं और जब उन्हें

स्वयं चापल्यमाधत्ते स्वयं कुप्यति साधुषु। स्वयं पापं करोत्येव दुर्जनस्येति चेष्टितम् ॥११॥
तदा ते मुनयः सर्वे शुक्लध्यानेन धीधनाः। अनुभूयोपसर्गं तं प्राप्ताः स्वर्गापवर्गकम् ॥१२॥
विघ्नं करोतु दुष्टात्मा पापी दुर्गतिकारणम्। सन्तः सद्धर्मसेवाभिर्लभन्ते सौख्यमद्‌भुतम् ॥१३॥
सन्तस्ते मुनिसत्तमाः शुचितराः सद्ध्यानशैलाश्रिताः । श्रीमत्सारजिनेन्द्रतत्त्वचतुरा जित्वोपसर्गं दृढम् ॥
संप्राप्ताः स्वविशुद्धभावभरतः स्वर्गापवर्गं शुभं। देवेन्द्रादिसमर्चिताः शुभकराः कुर्युः सतां मंगलम् ॥१४॥

इति कथाकोशे श्रीवृषभसेनमुनेराख्यानं समाप्तम्।

७५. शालिसिक्थमत्स्यस्य मनोदोषाख्यानम्

स्वयंभुवं नमस्कृत्य जिनेन्द्रं केवलेक्षणम्। संबोधाय सतां वच्मि मनोदोषस्य लक्षणम् ॥१॥
स्वयंभूरमणे ख्याते समुद्रे प्रान्तवर्त्तिनि। सहस्रयोजनैर्दीर्घो विस्तारे च तदर्द्धकः ॥२॥

अपने कृत का फल मिलता है तब वे यह समझ कर, कि मेरा इसने बुरा किया, दूसरे निर्दोष सत्पुरुषों पर क्रोध करते हैं और फिर उनसे बदला लेने के लिए उन्हें नाना प्रकार के कष्ट देते हैं ॥९-११॥

जो हो, मंत्री ने अपनी दुष्टता में कोई कसर न की। मुनिसंघ पर उसने बड़ा ही भयंकर उपसर्ग किया। पर उन तत्त्वज्ञानी-वस्तु स्थिति को जानने वाले मुनियों ने इस कष्ट की कुछ परवाह न कर बड़ी सहन-शीलता के साथ सब कुछ सह लिया और अन्त में अपने-अपने भावों की पवित्रता के अनुसार उनमें से कितने ही मोक्ष गए और कितने ही स्वर्ग में ॥१२॥

दुष्ट पुरुष सत्पुरुषों को कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचावे उससे खराबी उन्हीं की है उन्हें ही दुर्गति में दुःख भोगना पड़ेंगे और सत्पुरुष तो ऐसे कष्ट के समय में भी अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहकर अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य पालन कर सर्वोच्च सुख लाभ करेंगे। जैसा कि उक्त मुनिराजों ने किया ॥१३॥

वे मुनिराज आप लोगों को भी सुख दें, जिन्होंने ध्यानरूपी पर्वत का आश्रय ले बड़ा दुःसह उपसर्ग जीता, अपने कर्तव्य से सर्वश्रेष्ठ कहलाने का सम्मान लाभ किया और अन्त में अपने उच्च भावों से मोक्ष सुख प्राप्त कर देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों आदि द्वारा पूजा को प्राप्त हुए और संसार में सबसे पवित्र गिने जाने लगे ॥१४॥

७५. शालिसिक्थ मच्छ के भावों की कथा

केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारक और स्वयंभू श्री आदिनाथ भगवान् को नमस्कार कर सत्पुरुषों को इस बात का ज्ञान हो कि केवल मन की भावना से ही मन में विचार करने मात्र से ही कितना दोष या कर्मबन्ध होता है, इसकी एक कथा लिखी जाती है ॥१॥

सबसे अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र में एक बड़ी भारी दीर्घकाय मच्छ है। वह लम्बाई में एक हजार योजन, चौड़ाई में पाँच सौ योजन और ऊँचाई में ढाई सौ योजन का है। (एक योजन चार या

सार्द्धद्वयशतोत्सेधो महामत्स्यः प्रवर्त्तते। तस्य कर्णे तथा शालिसिक्थमात्रो लघुः कुधीः ॥३॥
शालिसिक्थाख्यमत्स्योस्ति तत्कर्णे मलभक्षकः। महामत्स्यस्य तस्यैव भुक्त्वा जन्तूननेकशः ॥४॥
मुखच्छिद्रं प्रसार्योच्चैर्निद्रां षण्मासससंश्रिताम्। कुर्वाणस्य तदा सोपि लघुमत्स्यो दुराशयः ॥५॥
दृष्ट्वा मुखोरुदंष्ट्रान्तः संप्रविश्य प्रगच्छतः। मत्स्यकच्छपकादींश्च योजनादिप्रदीर्घकान् ॥६॥
स्वचित्ते चिन्तयत्येवं दिनं प्रति सुपापधीः। मूर्खोयं स्वमुखायातां-स्त्यजत्येतांश्च जन्तुकान् ॥७॥
शक्तिर्यदीदृशी मेऽस्ति तदैको न प्रगच्छति। हा कष्टं दुष्टचित्तस्य चेष्टितं पापकारणम् ॥८॥
स मृत्वा चेतसः स्वस्य महापापोदयात्ततः। कालेन सप्तमं नरकं प्राप्तः स कष्टराशिदम् ॥९॥
अहो पुण्यस्य पापस्य कारणं प्रायशो मनः। तस्मान्नित्यं सतां कार्यं चित्तं पूतं जिनश्रुतेः ॥१०॥
शास्त्रं विना न जानाति प्राणी किञ्चिच्छुभाशुभम्। ततः सद्भिः सदा कार्यं सारजैनश्रुतिश्रुतम् ॥११॥
श्रीमज्जैनवचः प्रदीपनिकरं मिथ्यातमोनाशकं देवेन्द्रादिसमस्तभव्यनिवहैर्भक्त्या समभ्यर्चितम् ।
भो भव्या भवभूरिदुःखदलनं स्वर्मोक्षमार्गप्रदं नित्यं चेतसि चिन्तयन्तु नितरां शान्त्यै भवन्तः श्रियै ॥१२॥

इति कथाकोशे शालिसिक्थमत्स्यस्य मनोदोषाख्यानं समाप्तम्।

दो हजार कोस का होता है) यहीं एक और शालिसिक्थ नाम का मच्छ इस बड़े मच्छ के कानों के पास रहता है। पर यह बहुत ही छोटा है और इस बड़े मच्छ के कानों का मैल खाया करता है। जब यह बड़ा मच्छ सैकड़ों छोटे-मोटे जल-जीवों को खाकर और मुँह फाड़े छह मास की गहरी नींद के खुर्राटे में मग्न हो जाता उस समय कोई एक-एक दो-दो योजन के लंबे-चौड़े कछुए, मछलियाँ, घड़ियाल, मगर आदि जल जन्तु, बड़े निर्भीक होकर इसके विकराल डाढों वाले मुँह में घुसते और बाहर निकलते रहते हैं तब यह छोटा सिक्थ-मच्छ रोज-रोज सोचा करता है कि यह बड़ा मच्छ कितना मूर्ख है जो अपने मुख में आसानी से आए हुए जीवों को व्यर्थ ही जाने देता है! यदि कहीं मुझे वह सामर्थ्य प्राप्त हुई होती तो मैं कभी एक भी जीव को न जाने देता। बड़े दुःख की बात है कि पापी लोग अपने आप ही ऐसे बुरे भावों द्वारा महान् पाप का बन्धकर दुर्गतियों में जाते हैं और वहाँ अनेक कष्ट सहते हैं। सिक्थ-मच्छ की भी यह दशा हुई वह इस प्रकार बुरे भावों से तीव्र कर्मों का बन्ध कर सातवें नरक गया क्योंकि मन के भाव ही तो पुण्य या पाप के कारण होते हैं। इसलिए सत्पुरुषों को जैन शास्त्रों के अभ्यास या पढ़ने-पढ़ाने से मन को सदा पवित्र बनाये रखना चाहिए, जिससे उसमें बुरे विचारों का प्रवेश ही न हो पाये और शास्त्रों के अभ्यास के बिना अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिए शास्त्राभ्यास पवित्रता का प्रधान कारण है ॥२-११॥

यही जिनवाणी मिथ्यात्वरूपी अंधेरे को नष्ट करने के लिए दीपक है, संसार के दुःखों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाली है, स्वर्ग-मोक्ष के सुख की कारण है और देव, विद्याधर आदि सभी महापुरुषों के आदर की पात्र है। सभी जिनवाणी की उपासना बड़ी भक्ति से करते हैं। आप लोग भी इस पवित्र जिनवाणी का शांति और सुख के लिए सदा अभ्यास मनन-चिन्तन करें ॥१२॥

७६. सुभौमचक्रवर्त्तिन आख्यानम्।

इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क्क-समर्चितपदद्वयम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्येऽहं सुभौमेशस्य वृत्तकम् ॥१॥
ईर्ष्यावति पुरे राजा कार्त्तवीर्यो गुणोज्ज्वलः। रेवती कामिनी तस्य तयोः पुत्रः सुभौमवाक् ॥२॥
अष्टमश्चक्रवर्त्ती च तस्य पाकविधायकः। जातो विजयसेनाख्यो नाना भोजनयुक्तिवित् ॥३॥
एकदा तेन भूपाय तस्मै सत्यायसाशनम्। दत्तमुष्णं प्रभोक्तुं च दग्धोसौ तेन चक्रभृत् ॥४॥
तत्पायसं प्रकोपेन ततस्तेनैव चक्रिणा। क्षिप्त्वा तन्मस्तके शीघ्रं मारितः सूपकारकः ॥५॥
मृत्वा विजयसेनोसौ भूत्वा क्षारसमुद्रके। ततो व्यन्तरदेवश्च ज्ञात्वा पूर्वप्रघट्टकम् ॥६॥
कोपात्तापसरूपेण सुभौमस्यास्य चक्रिणः। नाना मृष्टफलान्युच्चैः समानीय प्रदत्तवान् ॥७॥
तत्फलास्वादनात्तेन सम्प्रोक्तं चक्रवर्त्तिना। कुत्र सन्ति फलानीति महामृष्टानि तापस ॥८॥
ततस्तेन प्रपंचेन नीत्वा तं फललम्पटम्। समुद्रे प्रकटीभूय प्रोक्तमित्थं च शत्रुणा ॥९॥
रे रे दुष्ट ममप्राण-नाशकस्त्वं मदोद्धतः। क्व यासि त्वमिदानीं च हन्यतेऽत्र मया ध्रुवम् ॥१०॥

---

७६. सुभौम चक्रवर्ती की कथा

चारों प्रकार के देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर आठवें चक्रवर्ती सुभौम की कथा लिखी जाती है ॥१॥

सुभौम ईर्ष्यावान् शहर के राजा कार्त्तवीर्य की रानी रेवती के पुत्र थे। चक्रवर्ती का एक विजयसेन नाम का रसोइया था। एक दिन चक्रवर्ती जब भोजन करने को बैठे तब रसोइये ने उन्हें गरम-गरम खीर परोस दी। उसके खाने से चक्रवर्ती का मुँह जल गया। इससे उन्हें रसोइये पर बड़ा गुस्सा आया। गुस्से से उन्होंने खीर रखे गरम बरतन को ही उसके सिर पर दे मारा। उससे उसका सारा सिर जल गया। इसकी घोर वेदना से मरकर वह लवणसमुद्र में व्यन्तर देव हुआ। कु-अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव की बात जानकर सुभौम चक्रवर्ती पर उसके गुस्से का पार न रहा। प्रतिहिंसा से उसका जी बे-चैन हो उठा। तब वह एक तापसी बनकर अच्छे-अच्छे सुन्दर फलों को अपने हाथ में लिए चक्रवर्ती के पास पहुँचा। फलों को उसने चक्रवर्ती को भेंट किया। चक्रवर्ती उन फलों को खाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस तापस से कहा-महाराज, ये फल तो बड़े ही मीठे हैं। आप ये फल कहाँ से लाये? और ये कहाँ मिलेंगे? तब उस व्यन्तर ने धोखा देकर चक्रवर्ती से कहा-समुद्र के बीच में एक छोटा सा टापू है। वहीं मेरा घर है। आप मुझ गरीब पर कृपा कर मेरे घर को पवित्र करें तो मैं आपको बहुत से ऐसे-ऐसे उत्तम और मीठे फल भेंट करूँगा। कारण वहाँ ऐसे फलों के बहुत बगीचे हैं। चक्रवर्ती लोभ में फँसकर व्यन्तर के फाँसे में आ गए और उसके साथ चल दिये। जब व्यन्तर उन्हें साथ लिए बीच समुद्र में पहुँचा तब अपने सच्चे स्वरूप में आ उसने बड़े गुस्से से चक्रवर्ती को कहा-पापी, जानता है कि मैं तुझे यहाँ क्यों लाया हूँ? यदि न जानता हो तो सुन-मैं तेरा जयसेन नाम का रसोइया था, तब तूने मुझे निर्दयता के साथ जलाकर मार डाला था। अब उसी का बदला लेने को मैं तुझे यहाँ लाया हूँ। बतला अब कहाँ जाएगा? जैसा किया उसका

यदा पञ्चनमस्काराँल्लिखित्वात्र जले द्रुतम्। पादेन स्पृशसि व्यक्तं तदा त्वं मुच्यते मया ॥११॥
तदासौ चक्रवर्ती च कृत्वा तत्कर्मनिन्दितम्। कुधीः प्राणक्षयाच्छीघ्रं सप्तमं नरकं गतः ॥१२॥
धिङ्मूढत्वमहो लोके लंपटत्वं हि धिक्तराम्। अष्टमश्चक्रभृच्चापि यतोसौ कुगतिं ययौ ॥१३॥
विश्वासेन विहीनोसौ धर्मे श्रीमज्जिनेशिनाम्। भवेद्दुर्गतिभाक्प्राणी यथासौ चक्रवर्त्तिकः ॥१४॥
धन्यास्ते जगतां पूज्या येषां चित्ते जिनेशिनः। नित्यं वाक्यामृतानि स्युः शर्मकारीणि देहिनाम् ॥१५॥
सम्यक्त्वं त्रिजगद्धितं भवहरं शक्रादिभिः पूजितं नाना शर्मविधायकं गुणकरं स्वर्गापवर्गप्रदम्।
तद्भक्त्याष्टविधं जिनेन्द्रकथितं श्रित्वा च मुक्तिश्रिये चित्ते भव्यमतल्लिका गतभयं संभावयन्तु प्रियम् ॥१६॥

इति कथाकोशे सुभौमचक्रवर्त्तिन आख्यानं समाप्तम्।

फल भोगने को तैयार हो जा। तुझसे पापियों की ऐसी गति होनी ही चाहिए। पर सुन, अब भी एक उपाय है, जिससे तू बच सकता है और वह यह कि यदि तू पानी में पंच नमस्कार मन्त्र लिखकर उसे अपने पाँवों से मिटा दे तो तुझे मैं जीता छोड़ सकता हूँ। अपनी जान बचाने के लिए कौन किस काम को नहीं कर डालता? ॥२-११॥

वह भला है या बुरा इसके विचार करने की तो उसे जरूरत ही नहीं रहती। उसे तब पड़ी रहती है अपनी जान की। यही दशा चक्रवर्ती महाशय की हुई उन्होंने तब नहीं सोच पाया कि इस अनर्थ से मेरी क्या दुर्दशा होगी? उन्होंने उस व्यन्तर के कहे अनुसार झटपट जल में मंत्र लिख कर पाँव से उसे मिटा डाला। उनका मन्त्र मिटाना था कि व्यन्तर ने उन्हें मारकर समुद्र में फेंक दिया। इसका कारण यह हो सकता है कि मंत्र को पाँव से मिटाने के पहले व्यन्तर की हिम्मत चक्रवर्ती को मारने की इसलिए न पड़ी होगी कि जगत्पूज्य जिनेन्द्र भगवान् के भक्त को वह कैसे मारे या यह भी संभव था कि उस समय कोई जिनशासन का भक्त अन्य देव उसे इस अन्याय से रोककर चक्रवर्ती की रक्षा कर लेता और अब मंत्र को पाँवों से मिटा देने से चक्रवर्ती जिनधर्म का द्वेषी समझा गया और इसलिए व्यन्तर ने उसे मार डाला। मरकर इस पाप के फल से चक्रवर्ती सातवें नरक गया। उस मूर्खता को, उस लम्पटता को धिक्कार है जिससे चक्रवर्ती सारी पृथ्वी का सम्राट् दुर्गति में गया। जिसका जिन भगवान् के धर्म पर विश्वास नहीं होता उसे चक्रवर्ती की तरह कुगति में जाना पड़े तो इसमें आश्चर्य क्या? वे पुरुष धन्य है और वे ही सबके आदर पात्र हैं, जिनके हृदय में सुख देने वाले जिन वचन रूप अमृत का सदा स्रोत बहता रहता है। इन्हीं वचनों पर विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन जीवमात्र का हित करने वाला है, संसार भय मिटाने वाला है, नाना प्रकार के सुखों का देने वाला है, और मोक्ष प्राप्ति का मुख्य कारण है। देव, विद्याधर आदि सभी बड़े-बड़े पुरुष सम्यग्दर्शन की या उसके धारण करने वाले की पूजा करते हैं। यह गुणों का खजाना है। सम्यग्दृष्टि को किसी प्रकार की भय-बाधा नहीं होती। वह बड़ी सुख-शान्ति से रहता है। इसलिए जो सच्चे सुख की आशा रखते हैं उन्हें आठ अंग सहित इस पवित्र सम्यग्दर्शन का विश्वास के साथ पालन करना चाहिए ॥१२-१६॥

७७. शुभनृपतेराख्यानम्

प्रणम्य परमानन्दं श्रीजिनेन्द्रजगद्धितम्। शुभाख्यभूपतेर्वच्मि चरित्रं विरतिप्रदम् ॥१॥
मिथिलानगरे राजा शुभो राज्ञी मनोरमा। तयोर्देवरतिः पुत्रः संजातः सुगुणाकरः ॥२॥
एकदा नगरे तत्र मुनीन्द्रो ज्ञानसंयुतः। नाम्ना देवगुरुर्धीमान्समायातः सुसंघभाक् ॥३॥
तदा महीपतिः सोपि शुभो भव्यजनैः सह। नत्वा मुनिं जगत्पूज्यं धर्ममाकर्ण्य पृष्टवान् ॥४॥
अहो मुने क्व मे जन्म भविष्यति विचक्षण। तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सुधीर्देवगुरुः स्फुटम् ॥५॥
निजवर्चो गृहे राजंस्त्वं भविष्यसि पापतः। महाकृमिर्मुनीन्द्राणां मानसे न भयं क्वचित् ॥६॥
नगर्याश्च प्रवेशे ते विट्प्रवेशो मुखे ध्रुवम्। छत्रभंगस्तथा विद्धि साभिज्ञानमिति स्फुटम् ॥७॥
सप्तमे च दिने भूप विद्युत्पातेन ते क्षयः। भविष्यति भवेदत्र प्राणिनां पापतो न किम् ॥८॥
पुरं प्रविशतश्चापि ततस्तस्य महीपतेः। रथाश्वचरणोद्घातान्मुखे गूथः प्रविष्टवान् ॥९॥
महावायुप्रवेगेन छत्रभंगोभवत्तदा। दुष्टपापोदये जन्तोः किं किं न स्याद्विरूपकम् ॥१०॥

---

७७. शुभ राजा की कथा

संसार का हित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् को प्रसन्नता पूर्वक नमस्कार कर शुभ नाम के राजा की कथा लिखी जाती है। मिथिला नगर के राजा शुभ की रानी मनोरमा के देवरति नाम का एक पुत्र था। देवरति गुणवान् और बुद्धिमान् था। किसी प्रकार का दोष या व्यसन उसे छू तक न गया था ॥१-२॥

एक दिन देवगुरु नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज अपने संघ को साथ लिए मिथिला आए। शुभ राजा तब बहुत से भव्यजनों के साथ मुनि-पूजा के लिए गया। मुनिसंघ की सेवा-पूजा कर उसने धर्मोपदेश सुना। अन्त में उसने अपने भविष्य के सम्बन्ध का मुनिराज से प्रश्न किया-योगिराज, कृपाकर बतलाइए कि आगे मेरा जन्म कहाँ होगा? उत्तर में मुनिराज ने कहा-राजन् सुनिए-पाप कर्मों के उदय से तुम्हें आगे के जन्म में तुम्हारे ही पाखाने में एक बड़े कीड़े की देह प्राप्त होगी, शहर में घुसते समय तुम्हारे मुँह में विष्टा प्रवेश करेगा, तुम्हारा छत्रभंग होगा और आज के सातवें दिन बिजली गिरने से तुम्हारी मौत होगी। सच है-जीवों के पाप के उदय से सभी कुछ होता है। मुनिराज ने ये सब बातें राजा से बड़े निडर होकर कहीं और यह ठीक भी है कि योगियों के मन में किसी प्रकार का भय नहीं रहता। मुनि का शुभ के सम्बन्ध का भविष्य-कथन सच होने लगा। एक दिन बाहर से लौट कर जब वे शहर में घुसने लगे तब घोड़े के पाँवों की ठोकर से उड़े हुए थोड़े से विष्टा का अंश उनके मुँह में आ गिरा और यहाँ से वे थोड़े ही आगे बढ़े होंगे कि एक जोर की आँधी ने उनके छत्र को तोड़ डाला। सच है, पाप कर्मों के उदय से क्या नहीं होता। उन्होंने तब अपने पुत्र देवरति को बुलाकर कहा-बेटा, मेरे कोई ऐसा पापकर्म का उदय आएगा उससे मैं मरकर अपने पाखाने में पाँच रंग का कीड़ा होऊँगा, सो तुम उस समय मुझे मार डालना। इसलिए कि फिर मैं कोई अच्छी गति प्राप्त कर सकूँ। उक्त घटना को देखकर शुभ को यद्यपि यह एक तरह निश्चय-सा हो

सुतं प्राह ततो भूपः पुत्र वर्चोगृहेऽहकम्। पञ्चवर्णः कृमिः पापाद्-भविष्यामि तदा त्वया ॥११॥
स हन्तव्य इति प्रोक्त्वा भीत्वा विद्युत्प्रपाततः। कारयित्वा महालोहमंजूषां तां प्रविश्य च ॥१२॥
तस्थौ गंगाह्लदे यावत्तावत्सप्तमवासरे। सा मंजूषा स्वपापेन मत्स्येनोच्छादिता द्रुतम् ॥१३॥
तस्मिन्नेव क्षणे कष्टं विद्युत्पातेन स प्रभुः। मृत्वा वर्चोगृहे जातः कृमिजन्तुः स्वपापतः ॥१४॥
स देवरतिपुत्रेण मार्यमाणोऽपि विट्चयम्। प्रणश्य गतवानित्थं भुंक्ते जन्तुः स्वकर्मकम् ॥१५॥
तदा देवरतेर्वाक्याच्छ्रुत्वा तद्वृत्तकं जनाः। भीत्वा संसारचेष्टाया जिनधर्मे तरां रताः ॥१६॥
सोपि देवरतिर्धीमान्महावैराग्यभावतः। विधाय संसृतेर्निन्दां मुनिर्जातो विचक्षणः ॥१७॥

गया था कि मुनिराज की कहीं बातें सच्ची हैं और वे अवश्य होंगी पर तब भी उनके मन में कुछ-कुछ सन्देह बना रहा और इसी कारण बिजली गिरने के भय से डरकर उन्होंने एक लोहे की बड़ी मजबूत सन्दूक मँगवाई और उसमें बैठकर गंगा के गहरे जल में उसे रख आने को नौकरों को आज्ञा की। इसलिए कि जल में बिजली का असर नहीं होता। उन्हें आशा थी कि मैं इस उपाय से रक्षा पा जाऊँगा। पर उनकी ये बे-समझी थी। कारण प्रत्यक्ष-ज्ञानियों की कोई बात कभी झूठी नहीं होती। जो हो, सातवाँ दिन आया। आकाश में बिजलियाँ चमकने लगीं। इसी समय भाग्य से एक बड़े मच्छ ने राजा की उस सन्दूक को एक ऐसा जोर का उथेला दिया कि सन्दूक जल के बाहर दो हाथ ऊँचे तक उछल आयी सन्दूक का बाहर होना था कि इतने में बड़े जोर से कड़क कर उस पर बिजली आ गिरी। खेद है कि उस बिजली के गिरने से राजा अपने यत्न में कामयाब न हुए और आखिर वे मौत के मुँह में पड़ ही गए। मरकर वह मुनिराज के कहे अनुसार पाखाने में कीड़ा हुए। पिता के कहे अनुसार जब देवरति ने जाकर देखा तो सचमुच एक पाँच रंग का कीड़ा उसे देख पड़ा और तब उसने उसे मार डालना चाहा। पर जैसे ही देवरति ने हाथ का हथियार उसके मारने को उठाया, वह कीड़ा उस विष्टा के ढेर में घुस गया। देवरति को इससे बड़ा अचम्भा हुआ। उसने जिन-जिन से इस घटना का हाल कहा, उन सब को संसार की इस भयंकर लीला को सुन बड़ा डर मालूम हुआ। उन्होंने तब संसार का बन्धन काट देने के लिए जैनधर्म का आश्रय लिया, कितनों ने सब माया-ममता तोड़ जिनदीक्षा ग्रहण की और कितनों ने अभ्यास बढ़ाने को पहले श्रावकों के व्रत ही लिए ॥३-१६॥

देवरति को इन घटना से बड़ा अचम्भा हो ही रहा था, सो एक दिन उसने ज्ञानी मुनिराज से इसका कारण पूछा-भगवन्! क्यों तो मेरे पिता ने मुझसे कहा कि मैं विष्टा में कीड़ा होऊँगा सो मुझे तू मार डालना और जब मैं उस कीड़े को मारने जाता हूँ तब वह भीतर ही भीतर घुसने लगता है। मुनि ने उसके उत्तर में देवरति से कहा-भाई, जीव गति सुखी होता है फिर चाहे वे कितनी ही बुरी से बुरी जगह भी क्यों न पैदा हो। वह उसी में अपने को सुखी मानेगा, वहाँ से कभी मरना पसन्द न करेगा। यही कारण है कि जब तक तुम्हारे पिता जीते थे तब तक उन्हें मनुष्य जीवन से प्रेम था, उन्होंने न मरने के लिए यत्न भी किया, पर उन्हें सफलता न मिली और ऐसी उच्च मनुष्य गति से

सकलभुवनसारं दत्तसंसारपारं दुरितशतनिवारं यस्य वाक्यं सुतारम्।
स सृजतु जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो निजचरणसुसेवां मुक्तिपर्यन्तमुच्चैः ॥१८॥
इति कथाकोशे शुभनृपस्याख्यानं समाप्तम्।

७८. सुदृष्टेराख्यानम्

नत्वा जगत्त्रयाधीशैः पूजितं श्रीजिनेश्वरम्। वक्ष्ये सुदृष्टिसन्नामरत्नविज्ञानिवृत्तकम् ॥१॥
उज्जयिन्यां महाराजः प्रजापालः प्रजाहितः। श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ॥२॥
राज्ञी च सुप्रभा तस्य सती सद्रूपमण्डिता। तदेव भुवने भाति रूपं यच्छीलसंयुतम् ॥३॥
तत्रैव पत्तने जातो रत्नविज्ञानिको महान्। सुदृष्टिर्नामतस्तस्य भार्याभूद्विमला कुधीः ॥४॥

वे मरकर कीड़ा होंगे, सो भी विष्टा में। उसका उन्हें खेद था और इसलिए उन्होंने तुमसे उस अवस्था में मार डालने को कहा था। पर अब उन्हें वही जगह अत्यन्त प्यारी हैं, वे मरना पसन्द नहीं करते। इसलिए जब तुम उस कीड़ा को मारने जाते हो तब वह भीतर घुस जाता है। इसमें आश्चर्य और खेद करने की कोई बात नहीं। संसार की स्थिति ही ऐसी है। मुनिराज द्वारा यह मार्मिक उपदेश सुनकर देवरति को बड़ा वैराग्य हुआ। वह संसार छोड़कर, इसलिए कि उसमें सार कुछ नहीं है, मुनिपद स्वीकार कर आत्महित साधक योगी हो गया। जिनके वचन पापों के नाश करने वाले हैं, सर्वोत्तम हैं और संसार का भ्रमण मिटाने वाले हैं, वे देवों द्वारा, पूजे जाने वाले जिन भगवान् मुझे तब तक अपने चरणों को सेवा का अधिकार दें जब तक कि मैं कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त न कर लूँ ॥१७-१८॥

७८. सुदृष्टि सुनार की कथा

देवों, विद्याधरों, राजाओं और महाराजाओं द्वारा पूजा किए जाने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर सुदृष्टि नामक सुनार की, जो रत्नों के काम में बड़ा होशियार था, कथा लिखी जाती है ॥१॥

उज्जैन के राजा प्रजापाल बड़े प्रजाहितैषी, धर्मात्मा और भगवान् के सच्चे भक्त थे। उनकी रानी का नाम सुप्रभा था। सुप्रभा बड़ी सुन्दरी और सती थी। सच है-संसार में वही रूप और वही सौन्दर्य प्रशंसा के लायक होता है जो शील से भूषित हो ॥२-३॥

यहाँ एक सुदृष्टि नाम का सुनार रहता था। जवाहरात के काम में यह बड़ा चतुर था तथा सदाचारी और सरल-स्वभावी था। इसकी स्त्री का नाम विमला था, विमला दुराचारिणी थी। अपने घर में रहने वाले एक वक्र नाम के विद्यार्थी से, जिसे कि सुदृष्टि अपने खर्च से लिखाता-पढ़ाता था, विमला का अनुचित सम्बन्ध था। विमला अपने स्वामी से बहुत नाखुश थी। इसलिए उसने अपने प्रेमी वक्र को उस्का कर, उसे कुछ भली-बुरी सुझाकर सुदृष्टि का खून करवा दिया। खून उस समय किया गया जब कि सुदृष्टि विषय-सेवन में मग्न था। सो यह मरकर विमला के ही गर्भ में

वक्राख्यो दुष्टधीस्तस्या गृहे छात्रः प्रवर्त्तते। तेन सार्द्धं दुराचारं सा करोति स्म पापिना ॥५॥
एकदा विमलायाश्च वाक्यतः सोपि वक्रकः। सुदृष्टिं मारयामास कुर्वन्तं कामसेवनम् ॥६॥
स्ववीर्येण समं तत्र सुदृष्टिः कर्मयोगतः। मृत्वासौ विमलागर्भे पुत्रोभूत्कतिचिद्दिनैः ॥७॥
अहो संसारिणो जीवाः स्वकर्मवशवर्त्तिनः। नाना रूपं प्रयान्त्युच्चैर्नटाचार्यो यथा भुवि ॥८॥
अथैकदा महोद्याने चैत्रमासे मनोहरे। सुप्रभाया महाराज्ञ्याः क्रीडन्त्या भूभुजा समम् ॥९॥
कण्ठस्थितो महाहारो नाम्ना क्रीडाविलासकः। त्रुटितः प्रोल्लसत्कान्तिमण्डितो रचनान्वितः ॥१०॥
केनापि स्वर्णकारेण न हारो रचितस्तथा। सारपुण्यं विना केन सद्विज्ञानं हि लभ्यते ॥११॥
तं हारं च समालोक्य तदा स विमलासुतः। भूत्वा जातिस्मरो धीमानरचयामास पूर्ववत् ॥१२॥
ज्ञानविज्ञानसद्दानं पूजनं श्रीजिनेशिनाम्। पूर्वाभ्यासेन जन्तूनां समायाति स्वपुण्यतः ॥१३॥
प्रजापालो नृपः प्राह तदा सन्तुष्टमानसः। सुदृष्टेर्निर्मितो हारः कथं भो रचितस्त्वया ॥१४॥
तच्छ्रुत्वा स जगादेवं भो नरेन्द्र महामते। अहमेव भवाम्यत्र सुदृष्टिः परमार्थतः ॥१५॥
पूर्ववृत्तान्तमाकर्ण्य स राजा जैनतत्त्ववित्। ज्ञात्वा संसारवैचित्र्यं मुनिर्जातो गुणोज्ज्वलः ॥१६॥

आया। विमला ने कुछ दिनों बाद पुत्र प्रसव किया। आचार्य कहते हैं कि संसार की स्थिति बड़ी ही विचित्र है जो पल भर में कर्मों की पराधीनता से जीवों का अजब परिवर्तन हो जाता है। वे नट की तरह क्षणक्षण में रूप बदला ही करते हैं ॥४-८॥

चैत का महीना था वसन्त शोभा ने सब ओर अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा था। वन उपवनों की शोभा मन को मोह लेती थी। इसी सुन्दर समय में एक दिन महारानी सुप्रभा अपने खास बगीचे में प्राणनाथ के साथ हँसी विनोद कर रही थी। इसी हँसी-विनोद में उसका क्रीड़ा-विलास नाम का सुन्दर बहुमूल्य हार टूट पड़ा। उसके सब रत्न बिखर गए। राजा ने उसे फिर वैसा ही बनवाने का बहुत यत्न किया, जगह-जगह से अच्छे सुनार बुलवाए पर हार पहले सा किसी से नहीं बना। सच है-बिना पुण्य के कोई उत्तम कला या ज्ञान नहीं होता। इसी टूटे हुए हार को विमला के लड़के ने अर्थात् पूर्वभव के उसके पति सुदृष्टि ने देखा। देखते ही उसे जातिस्मरण पूर्व जन्म का ज्ञान हो गया। उससे उसने इस हार को पहले-जैसा ही बना दिया। इसका कारण यह था कि इस हार को पहले भी सुदृष्टि ने ही बनाया था और यह बात सच है कि इस जीव को पूर्व जन्म के संस्कार पुण्य से ही कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान दान-पूजा आदि सभी बातें प्राप्त हुआ करती है। प्रजापाल उसकी ऐसी होशियारी देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उससे पूछा भी कि भाई, यह हार जैसा सुदृष्टि का बनाया था वैसा ही तुमने कैसे बना दिया? तब वह विमला का लड़का मुँह नीचा कर बोला-राजाधिराज, मैं अपनी कथा आपसे क्या कहूँ। आप यह समझें कि वास्तव में मैं ही सुदृष्टि हूँ। इसके बाद उसने बीती हुई सब घटना राजा से कह सुनाई। वे संसार की इस विचित्रता को सुनकर विषय-भोगों से बड़े विरक्त हुए। उन्होंने उसी समय सब माया-जाल छोड़कर आत्महित का पथ जिनदीक्षा ग्रहण कर ली ॥९-१६॥

त्रिधा वैराग्यमासाद्य सोपि श्रीविमलासुतः। दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं स्वर्गमोक्षसुखप्रदाम् ॥१७॥
मुनिर्भूत्वा विशुद्धात्मा तपः कुर्वन्मनोहरम्। भव्यान्सम्बोधयन्नुच्चैर्विहरंश्च महीतले ॥१८॥
सौरीपुरोत्तरे भागे यमुनाया लसत्तटे। शुक्लध्यानेन कर्मारि-लोकालोकप्रकाशकम् ॥१९॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य भूत्वा त्रैलोक्यपूजितः। मुक्तिं संप्राप्तवान्स्वामी सोस्माकं शान्तयेस्तु वै ॥२०॥
स श्रीमान्भवसिन्धुतारणपरः सत्केवलज्ञानभाक् कर्मारातिविनाशकृच्छिवपतिर्देवेन्द्रवृन्दार्चितः ।
लोकालोकविलोकनैकचतुरः स्वर्गापवर्गप्रदो भूयान्मे भवतां च पूजितपदः सच्छ्रेयसे श्रीजिनः ॥२१॥

इति कथाकोशे सुदृष्टेराख्यानं समाप्तम्।

७९. धर्मसिंहमुनेराख्यानम्

सर्वदेवेन्द्रचन्द्राद्यै-र्वन्दितं श्रजिनेशिनम्। नत्वा श्रुताब्धिमाप्तं च धर्मसिंहकथां ब्रुवे ॥१॥
दक्षिणादिपथे ख्याते कौशलादिगिरौ पुरे। वीरसेनो महीनाथो राज्ञी वीरमती सती ॥२॥
चन्द्रभूतिस्तयोः पुत्रश्चन्द्रश्रीश्च सुताभवत्। रूपलावण्यसौभाग्यमण्डिता यौवनाश्रिता ॥३॥
कौशलाख्ये तथा देशे पुरे कौशलनामनि। धर्मसिंहो महाराजस्तां कन्यां परिणीतवान् ॥४॥

इधर विमला के लड़के को भी अत्यन्त वैराग्य हुआ। वह स्वर्ग-मोक्ष के सुखों को देने वाली जिनदीक्षा लेकर योगी बन गया। यहाँ से फिर यह विशुद्धात्मा धर्मोपदेश के लिए अनेक शहरों में घूम-फिर कर तपस्या करता हुआ और अनेक भव्यजनों को आत्महित के मार्ग पर लगाता हुआ शौरीपुर के उत्तर भाग में यमुना के पवित्र किनारे पर आकर ठहरा। यहाँ शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का नाश कर इसने लोकालोक का ज्ञान कराने वाला केवलज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर अन्त में मुक्ति लाभ किया। वे विमला-सुत मुनि मुझे शान्ति दें ॥१७-२०॥

वे जिन भगवान् आप भव्यजनों को और मुझे मोक्ष का सुख दें, जो संसार-सिन्धु में डूबते हुए, असहाय-निराधार जीवों को पार करने वाले हैं, कर्म-शत्रुओं का नाश करने वाले है।, संसार के सब पदार्थों को देखने वाले केवलज्ञान से युक्त हैं, सर्वज्ञ हैं, स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख देने वाले हैं और देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों आदि प्रायः सभी महापुरुषों से पूजा किए जाते हैं ॥२१॥

७९. धर्मसिंह मुनि की कथा

इस प्रकार के देवों द्वारा जो पूजा-स्तुति किए जाते हैं और ज्ञान के समुद्र हैं, उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर धर्मसिंह मुनि की कथा लिखी जाती है ॥१॥

दक्षिण देश के कौशलगिर नगर के राजा वीरसेन की रानी वीरमती के दो सन्तान थीं। एक पुत्र और एक कन्या थी। पुत्र का नाम चन्द्रभूति और कन्या का चन्द्रश्री था। चन्द्रश्री बड़ी सुन्दर थी। उसकी सुन्दरता देखते ही बनती थी। कौशल देश और कौशल ही शहर के राजा धर्मसिंह के साथ चन्द्रश्री का विवाह हुआ था। दोनों दम्पति सुख से रहते थे। नाना प्रकार की भोगोपभोग वस्तुएँ सदा

तया सार्द्धं महाभोगान्स भुञ्जानः स्वपुण्यतः। दानपूजादिसत्कर्मतत्परः सुचिरं स्थितः ॥५॥
एकदा स महीनाथो धर्मसिंहो विशुद्धधीः। नत्वा दमधराचार्य मुनीन्द्रं सत्तपोनिधिम् ॥६॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम्। त्रिधा वैराग्यमासाद्य मुनिर्जातो गुणोज्ज्वलः ॥७॥
चन्द्रश्रीभगिनीं वीक्ष्य दुःखितां चन्द्रभूतिना। हठादसौ समानीय तस्याश्चैव समर्पितः ॥८॥
गत्वा सोपि पुनर्दीक्षां समादाय प्रवेगतः। मुनिर्भूत्वा महाघोरं करोति स्म सुधीस्तपः ॥९॥
तथैकदा समालोक्य चन्द्रभूतिं दुराशयम्। आगच्छन्तं मुनीन्द्रोसौ धर्मसिंहो गुणाकरः ॥१०॥
पुनर्मेऽसौ तपोभङ्गं कारयिष्यति मानसे। संविचार्य तदा शीघ्रं व्रतरक्षणहेतवे ॥११॥
संप्रविश्य विशुद्धात्मा मृतहस्तिकलेवरम्। संन्यासेन ततो मृत्वा स्वर्गलोकं सुधीर्ययौ ॥१२॥
अहो भव्यैः प्रकर्त्तव्यं कष्टेऽपि व्रतरक्षणम्। येन सौख्यं भवेदुच्चैः स्वर्गमोक्षादिसंभवम् ॥१३॥
श्रीमज्जैनविशुद्धधर्मरसिकः श्रीधर्मसिंहो मुनिः कृत्वा सारतपो जिनेन्द्रगदितं स्वर्गापवर्गप्रदम्।
प्राप्तः स्वर्गसुखं प्रसिद्धमहिमा तत्पुण्यतो निर्मलं स श्रीमान्गुणरत्नरंजितमतिः कुर्याच्च मे मंगलम् ॥१४॥

इति कथाकोशे धर्मसिंहमुनेराख्यानं समाप्तम्।

उनके लिए मौजूद रहती थी। इतना होने पर भी राजा का धर्म पर पूर्ण विश्वास था, अगाध श्रद्धा थी। वे सदा दान, पूजा, व्रतादि धर्म कार्य करते थे ॥२-५॥

एक दिन धर्मसिंह तपस्वी दमधर मुनि के दर्शनार्थ गए। उनकी भक्ति से पूजा-स्तुति कर उन्होंने उनसे धर्म का पवित्र उपदेश सुना, जो धर्म देवों द्वारा भी बड़ी भक्ति के साथ पूजा जाता है। धर्मोपदेश का धर्मसिंह के चित्त पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उससे वे संसार और विषय-भोगों से विरक्त हो गए और मुनि दीक्षा ले ली। उनकी रानी चन्द्रश्री को उन्हें जवानी में दीक्षा ले जाने से बड़ा कष्ट हुआ। पर बेचारी लाचार थी। उसके दुःख की बात जब उसके भाई चन्द्रभूति को मालूम हुई तो उसे भी अत्यन्त दुःख हुआ। उससे अपनी बहिन की यह हालत न देखी गई। उसने तब जबरदस्ती अपने बहनोई धर्मसिंह को उठा लाकर चन्द्रश्री के पास ला रखा। धर्मसिंह फिर भी न ठहरे और जाकर उन्होंने पुनः दीक्षा ले ली और महा तप तपने लगे ॥६-९॥

एक दिन इसी तरह वे तपस्या कर रहे थे। तब उन्होंने चन्द्रभूति को अपनी ओर आता हुआ देखा। उन्होंने समझ लिया कि यह फिर मेरी तपस्या बिगाड़ेगा। सो तप की रक्षा के लिए पास ही पड़े हुए मृत हाथी के शरीर में घुसकर उन्होंने समाधि ले ली और अन्त में शरीर छोड़कर वे स्वर्ग में गए। इसलिए भव्यजनों को कष्ट के समय भी अपने व्रत की रक्षा करनी चाहिए। जिससे स्वर्ग या मोक्ष का सर्वोच्च सुख प्राप्त होता है ॥१०-१३॥

निर्मल जैनधर्म के प्रेमी श्रीधर्मसिंह मुनि ने जिन भगवान् के उपदेश किए और स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले तप मार्ग का आश्रय ले उसके पुण्य से स्वर्ग-सुख लाभ किया। वे संसार प्रसिद्ध महात्मा और अपने गुणों से सबकी बुद्धि पर प्रकाश डालने वाले मुझे भी मंगल-सुख दान करें ॥१४॥

८०. वृषभसेनस्याख्यानम्

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। वक्ष्ये वृषभसेनस्य सच्चरित्रं सतामिदम् ॥१॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये श्रेष्ठी वृषभदत्तवाक्। धनैर्धान्यैश्च सम्पूर्णः पूर्वपुण्येन शुद्धधीः ॥२॥
भार्याभूद्वृषभश्रीश्च पुत्रो वृषभसेनकः। श्रीजिनेन्द्र पदाम्भोजमहासेवाविधायकः ॥३॥
तन्मातुलो धनपतिः श्रीकान्ताकामिनीपतिः। तयोः सद्रूपसंयुक्ता धनश्रीश्चारुकन्यका ॥४॥
तां श्रीवृषभसेनोसौ परिणीय महोत्सवैः। भुञ्जानो विविधान्भोगान्सुधीः सौख्येन संस्थितः ॥५॥
एकदा दमधरस्य मुनेः पार्श्वे सुभक्तितः। श्रुत्वा धर्मं जिनन्द्रोक्तं मुनिः शीघ्रं बभूव च ॥६॥
धनश्री रोदनं चक्रे ततोसौ मातुलेन च। गृहमानीय कष्टेन कारितो व्रतखण्डनम् ॥७॥
अहो मोहयुतो जन्तु कार्याकार्यं न पश्यति। मत्तवत्कुरुते कर्मभूरिपापविधायकम् ॥८॥
स श्रीवृषभसेनस्तु कारागारे यथा नरः। गृहे स्थित्वा कियत्कालं संजातश्च मुनिः सुधीः ॥९॥

---

८०. वृषभसेन की कथा

स्वर्ग और मोक्ष का सुख देने वाले तथा सारे संसार के द्वारा पूज्य-माने जाने वाले श्री भगवान् को नमस्कार कर वृषभसेन की कथा लिखी जाती है ॥१॥

पाटलिपुत्र (पटना) में वृषभदत्त नाम का एक सेठ रहता था। पूर्व पुण्य के प्रभाव से इसके पास धन सम्पत्ति खूब थी। उसकी स्त्री का नाम वृषभदत्ता था। उसके वृषभसेन नाम का सर्वगुण-सम्पन्न एक पुत्र था। वृषभसेन बड़ा धर्मात्मा और सदा दान-पूजादिक पुण्यकर्मों का करने वाला था ॥२-३॥

वृषभसेन के मामा सेठ धनपति की स्त्री श्रीकान्ता के एक लड़की थी। उसका नाम धनश्री था। धनश्री सुन्दरी थी, चतुर थी और लिखी-पढ़ी थी। धनश्री का ब्याह वृषभसेन के साथ हुआ था। दोनों दम्पत्ति सुख से रहते थे। नाना प्रकार के विषय-भोगों की वस्तुएँ उनके लिए सदा हाजिर रहती थी ॥४-५॥

एक दिन वृषभसेन दमधर मुनिराज के दर्शनों के लिए गया। भक्ति सहित उनकी पूजा-वन्दना कर उसने उनसे धर्म का पवित्र उपदेश सुना। उपदेश उसे बहुत रुचा और उसका प्रभाव भी उस पर बहुत पड़ा। वह उसी समय संसार और भ्रम से सुख जान पड़ने वाले विषय-भोगों से उदासीन हो मुनिराज के पास आत्महित की साधक जिनदीक्षा ले गया। उसे युवावस्था में ही दीक्षा ले जाने से धनश्री को बड़ा दुःख हुआ। उसे दिन-रात रोने के सिवा कुछ न सूझता था। धनश्री का यह दुःख उसके पिता धनपति से न सहा गया। वह तपोवन में जाकर वृषभसेन को उठा लाया और जबरदस्ती उसकी दीक्षा वगैरह खण्डित कर दी, उसे गृहस्थ बना दिया। सच है, मोही पुरुष करने और न करने योग्य कर्मों का विचार न कर उन्मत्त की तरह हर एक काम करने लग जाता है, जिससे कि पापकर्मों का उसके तीव्र बन्ध होता है ॥६-८॥

जैसे मनुष्य को कैद में जबरदस्ती रहना पड़ता है उसी समय वृषभसेन को भी कुछ समय तक

पुनस्तं च समानीय प्रपंचेन स मातुलः। गृहे शृंखलया पापी स्थापयामास कष्टतः ॥१०॥
पुनर्मां व्रतसच्छैलात्पातयिष्यति मानसे। संविचार्येति संन्यासं गृहीत्वा मुनिसत्तमः ॥११॥
मृत्वा समाधिना स्वर्गं संप्राप्तो निजपुण्यतः। दुर्जनैः पीडितश्चापि सज्जनो नाशुभे रतः ॥१२॥
भवतु दुर्जनको विपदाप्रदो विशदबुद्धिरसौ सुजनः पुनः।
जिनपतेः पदपद्मसुसेवनाद्भवति शर्मपतिर्निजपुण्यतः ॥१३॥

इति कथाकोशे श्रीवृषभसेनाख्यानं समाप्तम्।

८१. जयसेननृपस्याख्यानम्

सारलक्ष्मीप्रदं नत्वा जिनेन्द्रं मुक्तिनायकम्। वक्ष्ये श्रीजयसेनस्य भूपतेः सत्कथानकम् ॥१॥
श्रावस्तीपत्तने राजा जयसेनोभवत्पुरा। वीरसेना महाराज्ञी वीरसेनः सुतस्तयोः ॥२॥
वन्दकः शिवगुप्ताख्यो निन्दकः पललम्पटः। सोपि राज्ञो गुरुर्जातो धिङ्मिथ्यात्वमशर्मकम् ॥३॥
एकदा नगरे तत्र मुनिवृन्दसमन्वितः। समायातो मुनीन्द्रस्तु यत्यादिवृषभः सुधीः ॥४॥

और घर में रहना पड़ा। उसके बाद वह फिर मुनि हो गया। उसका फिर मुनि हो जाना जब धनपति को मालूम हुआ तो किसी बहाने से घर पर लाकर अब की बार उसे उसने लोहे की साँकल से बाँध दिया। मुनि ने यह सोचकर, कि यह मुझे अब की बार फिर व्रतरूपी पर्वत से गिरा देगा, मेरा व्रत भंग कर देगा, संन्यास ले लिया और इसी अवस्था में शरीर छोड़कर वह पुण्य के उदय से स्वर्ग में देव हुआ। दुर्जनों द्वारा सत्पुरुषों को कितने ही कष्ट क्यों न पहुँचाये जायें पर वे कभी पापबन्ध के कारण कामों में नहीं फँसते ॥९-१२॥

दुर्जन पुरुष चाहे कितनी ही तकलीफ क्यों न दें, पर पवित्र बुद्धि के धारी सज्जन महात्मा पुरुष तो जिन भगवान् के चरणों की सेवा-पूजा से होने वाले पुण्य से सुख ही प्राप्त करेंगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥१३॥

८१. जयसेन राजा की कथा

स्वर्गादि सुखों को देने वाले और मोक्षरूपी रमणी के स्वामी श्रीजिन भगवान् को नमस्कार कर जयसेन राजा की सुन्दर कथा लिखी जाती है ॥१॥

श्रावस्ती के राजा जयसेन की रानी वीरसेना के एक पुत्र था। इसका नाम वीरसेन था। वीरसेन बुद्धिमान् और सच्चे हृदय का था, मायाचार-कपट उसे छू तक न गया था ॥२॥

यहाँ एक शिवगुप्त नाम का बुद्ध भिक्षुक रहता था। यह मांसभक्षी और निर्दयी था। ईर्ष्या और द्वेष इसके रोम-रोम में ठसा था मानों वह इनका पुतला था। यह शिवगुप्त राजगुरु था। ऐसे मिथ्यात्व को धिक्कार है जिसके वश हो ऐसे मायावी और द्वेषी भी गुरु हो जाते हैं ॥३॥

एक दिन यतिवृषभ मुनिराज अपने सारे संघ को साथ लिए श्रावस्ती में आए। राजा यद्यपि

तत्पार्श्वे पुण्ययोगेन भव्यैः संघैः प्रमण्डितः। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं भूपोभूच्छ्रावकोत्तमः ॥५॥
ततस्तेन महाभक्त्या जयसेनेन भूभुजा। जिनेन्द्रभवनैः सर्वं मण्डितं निजमण्डलम् ॥६॥
तदा स दुर्जनः पापी बुद्धकः शिवगुप्तकः। तद्भूपमारणोपायं चिन्तयंश्चेतसि क्रुधा ॥७॥
पुरीं च पृथिवीं गत्वा राजानं बौद्धधार्मिकम्। सुमत्याख्यं जगौ सर्वं जयसेनप्रचेष्टितम् ॥८॥
ततोसौ सुमतिर्लेखं प्रेषयामास तं प्रति। विरूपकं त्वया चक्रे बुद्धधर्मं गृहाण च ॥९॥
तेनोक्तं जयसेनेन जैनधर्मो जगद्धितः। निश्चयान्निश्चलो मेऽस्ति किमन्यैः पापकारणैः ॥१०॥
ज्ञातश्रीजैनसद्धर्मः प्राणी किं केन मुह्यति। वायुना महता चापि चाल्यते किं सुराचलः ॥११॥
रुष्टेन प्रेषितौ तेन सुमत्याख्येन दुर्भटौ। मारणार्थं समागत्य सावस्त्यां तौ च वेगतः ॥१२॥
स्थित्वा दुष्टौ कियत्कालमवकाशं विना ततः। पश्चादागत्य तं भूपमूचतुर्निजवृत्तकम् ॥१३॥
सुमतिश्च ततः प्राह पापात्मा सेवकान्प्रति। अस्ति कोपि भटो यस्तु जयसेनं प्रहन्ति च ॥१४॥

बुद्धधर्म का मानने वाला था, तथापि वह और लोगों को मुनिदर्शन के लिए जाते देख आप भी गया। उसने मुनिराज द्वारा धर्म का पवित्र उपदेश चित्त लगाकर सुना। उपदेश उसे बहुत पसन्द आया। उसने मुनिराज से प्रार्थना कर श्रावक के व्रत लिए। जैनधर्म पर अब उसकी दिनों-दिन श्रद्धा बढ़ती ही गई उसने अपने सारे राज्यभर में कोई ऐसा स्थान न रहने दिया जहाँ जिनमन्दिर न हो। प्रत्येक शहर, प्रत्येक गाँव में उसने जिनमन्दिर बनवा दिया। जिनधर्म के लिए राजा का यह प्रयत्न देख शिवगुप्त ईर्ष्या और द्वेष के मारे जल कर खाक हो गया। वह अब राजा को किसी प्रकार मार डालने के प्रयत्न में लगा। और एक दिन खास इसी काम के लिए वह पृथ्वीपुरी गया और वहाँ के बुद्धधर्म के अनुयायी राजा सुमति को उसने जयसेन के जैनधर्म धारण करने और जगह-जगह जिनमन्दिरों के बनवाने आदि का सब हाल कह सुनाया। यह सुन सुमति ने जयसेन को एक पत्र लिखा कि ''तुमने बुद्धधर्म छोड़कर जो जैनधर्म ग्रहण किया, यह बहुत बुरा किया है। तुम्हें उचित है कि तुम फिर से बुद्धधर्म स्वीकार कर लो।'' इसके उत्तर में जयसेन ने लिख भेजा कि-''मेरा विश्वास है, निश्चय है कि जैनधर्म ही संसार में एक ऐसा सर्वोच्च धर्म है जो जीवमात्र का हित करने वाला है। जिस धर्म में जीवों का मांस खाया जाता है या जिनमें धर्म के नाम पर हिंसा वगैरह महापाप बड़ी खुशी के साथ किए जाते हैं वे धर्म नहीं हो सकते। धर्म का अर्थ है जो संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में रक्खें, सो यह बात सिवा जैनधर्म के और धर्मों में नहीं है। इसलिए इसे छोड़कर और सब अशुभ बन्ध के कारण है।'' सच है, जिसने जैनधर्म का सच्चा स्वरूप जान लिया वह क्या फिर किसी से डिगाया जा सकता है? नहीं। प्रचण्ड हवा भी क्यों न चले पर क्या वह मेरु को हिला देगी? नहीं। जयसेन के इस प्रकार विश्वास को देख सुमति को बड़ा गुस्सा आया। तब उसने दो आदमियों को इसलिए श्रावस्ती में भेजा कि वे जयसेन की हत्या कर आवें। वे दोनों आकर कुछ समय तक श्रावस्ती में ठहरे और जयसेन के मार डालने की खोज में लगे रहे, पर उन्हें ऐसा मौका ही न मिल

तन्निशम्य हिमाराख्यो राजपुत्रो दुराशयः। अहं तं मारयाम्युच्चै-रित्युक्त्वा पापपण्डितः ॥१५॥
सावस्तीनगरीं गत्वा यत्यादिवृषभस्य सः। मुनेः पार्श्वे प्रपंचेन मुनि-र्भूत्वा कुधीः स्थितः ॥१६॥
एकदा जयसेनोसौ राजा सद्धर्मवत्सलः। जिनालये मुनिं नत्वा धृत्वा लोकं बहिः पुनः ॥१७॥
पादमूले मुनेः स्थित्वा कृत्वा किंचित्प्रजल्पनम्। यावत्सुधीर्नमस्कारं गमनाय करोति च ॥१८॥
बौद्धो हिमारकः सोपि हत्वा तं जयसेनकम्। नष्टः शीघ्रं महानिन्द्यो लोके बुद्धाश्रितो जनः ॥१९॥
तमालोक्य मुनिः सोपि यत्यादिवृषभः सुधीः। दर्शनोडाहनाशाय लिखित्वा भित्तिभागके ॥२०॥
नृपो हिमारकेणैव मारितः पापकर्मणा। इति स्वयं विदार्योच्चैरसिधेनुकयोदरम् ॥२१॥
संन्यासं च समादाय निश्चलो मेरुवत्तराम्। मृत्वा स्वर्गालयं प्राप्य देवो जातो गुणोज्ज्वलः ॥२२॥
वीरसेनकुमारो यो जयसेनसुतस्तदा। दृष्ट्वा तौ मरणं प्राप्तौ भित्तौ वीक्ष्याक्षराणि च ॥२३॥

पाया जो वे जयसेन को मार सकें। तब लाचार हो वे वापस पृथ्वीपुरी लौट आए और सब हाल उन्होंने राजा से कह सुनाया। इससे सुमति का क्रोध और भी बढ़ गया। उसने तब अपने सब नौकरों को इकट्ठा कर कहा–क्या कोई मेरे आदमियों में ऐसा भी हिम्मत बहादुर है जो श्रावस्ती जाकर किसी तरह जयसेन को मार आवे। उनमें से एक हिमारक नाम के दुष्ट ने कहा–हाँ महाराज, मैं इस काम को कर सकता हूँ। आप मुझे आज्ञा दें। इसके बाद ही वह राजाज्ञा पाकर श्रावस्ती आया और यतिवृषभ मुनिराज के पास मायाचार से जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गया ॥४-१६॥

एक दिन जयसेन मुनिराज के दर्शन करने को आया और अपने नौकर-चाकरों को मन्दिर के बाहर ठहरा कर आप मन्दिर में गया। मुनि को नमस्कार कर वह कुछ धर्म-सम्बन्धी बातचीत की। इसके बाद जब वह चलने के पहले मुनिराज को ढोक देने के लिए झुका कि इतने में वह दुष्ट हिमारक जयसेन को मार कर भाग गया। सच है–बुद्ध लोग बड़े ही दुष्ट हुआ करते हैं। यह देख मुनि यतिवृषभ को बड़ी चिन्ता हुई उन्होंने सोचा–कहीं सारे संघ पर विपत्ति न आए, इसलिए पास ही की भीत पर उन्होंने यह लिखकर कि ''दर्शन या धर्म की डाह के वश होकर ऐसा काम किया गया है।'' छुरी से अपना पेट चीर लिया और स्थिरता से संन्यास द्वारा मृत्यु प्राप्त कर वे स्वर्ग गए ॥१७-२२॥

वीरसेन को जब अपने पिता की मृत्यु का हाल मालूम हुआ तो वह उसी समय दौड़ा हुआ मन्दिर आया। उसे इस प्रकार दिन-दहाड़े किसी साधारण आदमी की नहीं किन्तु खास राजा साहब की हत्या हो जाने और हत्याकारी का कुछ पता न चलने का बड़ा ही आश्चर्य हुआ और जब उसने अपने पिता के पास मुनि को भी मरा पाया तब तो उसके आश्चर्य का कुछ ठिकाना ही न रहा। वह बड़े विचार में पड़ गया। वे हत्याएँ क्यों हुई? और कैसे हुई? इसका कारण कुछ भी उसकी समझ में न आया। उसे यह भी सन्देह हुआ कि कहीं इन मुनि ने तो यह काम न किया हो? पर दूसरे ही क्षण में उसने सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता। इनका और पिताजी का कोई वैर-विरोध नहीं, लेना-

प्रशंसां सुतरां कृत्वा मुनीन्द्रस्य विचक्षणः। धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते संजातो तीव्रनिश्चलः ॥२४॥
दुष्टात्मा कुरुते दोषं धर्मे श्रीमज्जिनेशिनाम्। स स्वभावेन निर्दोषो निरभ्रो भास्करो यथा ॥२५॥
यः श्रीदेवनिकायभूपतिशतैर्नागेन्द्रसत्खेचरैः पूज्यो भक्तिभरेण शर्मनिलयो धर्मो जिनेन्द्रोदितः।
नाना दुःखविनाशको भवहरः स्वर्गापवर्गप्रदः स श्रीमान्भवतां जगत्त्रयहितो दद्याच्छुभं मङ्गलम् ॥२६॥

इति कथाकोशे जयसेननृपस्याख्यानं समाप्तम्।

८२. शकटालमुनेराख्यानम्

नत्वा पादद्वयं जैनं शर्मदं त्रिजगद्धितम्। ब्रुवेऽहं शकटालस्य मुनेर्वृत्तं बुधैर्मतम् ॥१॥
पुरे पाटलिपुत्रेऽभूद्राजा नन्दोतिभद्रधीः। मंत्री श्रीशकटालाख्यो जैनधर्मरतस्तराम् ॥२॥

देना नहीं, फिर वे क्यों ऐसा करने चले? और पिताजी तो इनके इतने बड़े भक्त थे और न केवल यही बात थी कि पिताजी ही इनके भक्त हों, ये साधु भी तो उनसे बड़ा प्रेम करते थे; घण्टों तक उनके साथ इनकी धर्मचर्चा हुआ करती थी। फिर इस सन्देह को जगह नहीं रहती कि एक निस्पृह और शान्त योगी यह अनर्थ किया जा सके। तब हुआ क्या? बेचारा वीरसेन बड़ी कठिन समस्या में फँसा। वह इस प्रकार चिन्तातुर हो कुछ सोच-विचार कर ही रहा था कि उसकी नजर सामने की भीत पर जा पड़ी। उस पर यह लिखा हुआ, कि ''दर्शन या धर्म की डाह के वश होकर ऐसा हुआ है'' देखते ही उसकी समझ में उस समय सब बातें बराबर आ गई उसके मन को अब रहा-सहा सन्देह भी दूर हो गया। उसकी अब मुनिराज पर अत्यन्त श्रद्धा हो गई। उसने मुनिराज के धैर्य और सहनपने की बड़ी प्रशंसा की। जैनधर्म के विषय में उसका पूरा-पूरा विश्वास हो गया। जिनका दुष्ट स्वभाव है, जिनसे दूसरों के धर्म का अभ्युदय-उन्नति नहीं सही जाती ऐसे लोग जिनधर्म सरीखे पवित्र धर्म पर चाहे कितना ही दोष क्यों न लगावें, पर जिनधर्म तो बादलों से न ढके हुए सूरज की तरह सदा ही निर्दोष रहता है ॥२३-२५॥

जिस धर्म को चारों प्रकार के देव, विद्याधर, चक्रवर्ती, राजा-महाराजा आदि सभी महापुरुष भक्ति से पूजते-मानते हैं, जो संसार के दुःखों का नाश कर स्वर्ग या मोक्ष का देने वाला हैं, सुख का स्थान है, संसार के जीव मात्र का हित करने वाला है और जिसका उपदेश सर्वज्ञ भगवान् ने किया है और इसीलिए सबसे अधिक प्रमाण या विश्वास करने योग्य है, वह धर्म-वह आत्मा की एक खास शक्ति मुझे प्राप्त होकर मोक्ष का सुख दे ॥२६॥

८२. शकटाल मुनि की कथा

सुख के देने वाले संसार का हित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् के चरणों को नमस्कार कर शकटाल मुनि की कथा लिखी जाती है ॥१॥

पाटलिपुत्र (पटना) के राजा नन्द के दो मंत्री थे। एक शकटाल और दूसरा वररुचि। शकटाल

द्वितीयस्तु कुधीर्मंत्री वरादिरुचिनामभाक्। तौ परस्परमत्यन्तं वैरिणौ भवत स्म च ॥३॥
एकदा मुनिभिर्युक्तो महापद्मो मुनीश्वरः। तत्रायातो जगत्पूज्यो जिनतत्त्वविदांवरः ॥४॥
तत्पार्श्वे श्रीजिनन्द्रोक्तं धर्मं शर्माकरं द्विधा। समाकर्ण्य सुधीर्मंत्री शकटालो गुणोज्ज्वलः ॥५॥
मुनिर्भूत्वा लसद्भक्त्या ज्ञात्वा शास्त्रार्थमुत्तमम्। आचार्यत्वं समासाद्य गुरोः पादप्रसादतः ॥६॥
कुर्वन्विहारमत्युच्चैर्भव्यान्सम्बोधयन्सुखम्। कुर्वन्धर्मोद्यमं पूतं दुर्गतिच्छेदकारणम् ॥७॥
पुनः पाटलिपुत्राख्यं पुरमागत्य शुद्धधीः। नन्दस्यान्तःपुरे चर्यां कृत्वा स्वस्थानकं गतः ॥८॥
पूर्ववैरेण पापात्मा वरादिरुचिकस्तदा। नन्दं भूपं प्रति प्राह भो नरेन्द्र विचक्षण ॥९॥
भिक्षामिषेण ते गेहं संप्रविश्य प्रवेगतः। तवान्तःपुरके कष्टं शकटालः सुधूर्त्तकः ॥१०॥
अन्यायं च विधायैव स्वस्थानं गतवानिति। पापी दुर्गतिभाक् प्राणी किं करोति न पातकम् ॥११॥

जैनी था, इसलिए सुतरां उसकी जैनधर्म पर अचल श्रद्धा या प्रीति थी और वररुचि जैनी नहीं था, इसलिए सुतरां उसे जैनधर्म से, जैनधर्म के पालने वालों से द्वेष करती थी और इसलिए शकटाल और वररुचि की कभी न बनती थी, एक से एक अत्यन्त विरुद्ध थे ॥२-३॥

एक दिन जैनधर्म के परम विद्वान् महापद्म मुनिराज अपने संघ को साथ लिए पटना में आए। शकटाल उनके दर्शन करने को गया। बड़ी भक्ति के साथ उसने उनकी पूजा-वन्दना की और उनके पास बैठकर मुनि और गृहस्थ धर्म का उनसे पवित्र उपदेश सुना। उपदेश का शकटाल के धार्मिक अतएव कोमल हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह उसी समय संसार का सब मायाजाल तोड़कर दीक्षा ले मुनि हो गया। इसके बाद उसने अपने गुरु द्वारा सिद्धान्तशास्त्र का अच्छा अभ्यास किया। थोड़े ही दिनों में शकटाल मुनि ने कई विषयों में बहुत अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। गुरु इनकी बुद्धि, विद्वत्ता, तर्कणाशक्ति और सर्वोपरि स्वाभाविक प्रतिभा देखकर बहुत ही खुश हुए। उन्होंने अपना आचार्य पद अब इन्हें ही दे दिया। यहाँ से ये धर्मोपदेश और धर्मप्रचार के लिए अनेक देशों, शहरों और गाँवों में घूमे-फिरे। इन्होंने बहुतों को आत्महित साधक पवित्र मार्ग पर लगाया और दुर्गति के दुःखों का नाश करने वाले पवित्र जैनधर्म का सब ओर प्रकाश फैलाया। इस प्रकार धर्म प्रभावना करते हुए ये एक बार फिर पटना में आए ॥४-७॥

एक दिन की बात है कि शकटाल मुनि राजा के अन्तःपुर में आहार कर तपोवन की ओर जा रहे थे। मंत्री वररुचि ने इन्हें देख लिया। सो उस पापी ने पुराने बैर का बदला लेने का अच्छा मौका देखकर नन्द से कहा-महाराज, आपको कुछ खबर है कि इस समय अपना पुराना मंत्री पापी शकटाल भीख के बहाने आपके अन्तःपुर में, रनवास में घुसकर न जाने क्या अनर्थ कर गया है। मुझे तो उसके चले जाने के बाद ये समाचार मिले, नहीं तो मैंने उसे कभी का पकड़वा कर पाप की सजा दिलवा दी होती। अस्तु, आपको ऐसे धूर्तों के लिए चुप बैठना उचित नहीं। सच है, दुर्गति में जाने वाले ऐसे

ततो नन्देन भूभर्त्ता महाकोपेन तत्क्षणे। प्रेषितः शकटालस्य घातको मारणेच्छया ॥१२॥
अहो मूढमतिर्जीवः प्रेरितो दुर्जनेन च। कार्याकार्यं न वेत्त्येव करोत्येव कुकर्म सः ॥१३॥
शकटालो मुनीन्द्रोसौ दृष्ट्वा तं घातकं खरम्। ज्ञात्वा तन्मंत्रिणो दुष्टचेष्टितं पापकारणम् ॥१४॥
संन्यासेन सुधीर्मृत्वा स्वर्लोकं च गतः सुखम्। दुष्टः करोतु दुष्टत्वं भवेन्नित्यं सतां शुभम् ॥१५॥
सुनन्दोपि तदा राजा कृत्वा सर्वपरीक्षणम्। ज्ञात्वा मुनिं सुनिर्दोषं त्यक्त्वा कोपं प्रवेगतः ॥१६॥
महापद्ममुनेः पाद-मूले सद्भक्तिनिर्भरः। श्रुत्वा धर्मं जिनैः प्रोक्तं सारसम्पद्विधायकम् ॥१७॥
निन्दां गर्हां निजां कृत्वा दानपूजाव्रतान्विते। धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्राणां संजातः सुतरां रतः ॥१८॥
भवेज्जन्तुः कुसंगेन महापापस्य भाजनम्। स एव सद्गुरुं प्राप्य संभवेत्पुण्यभाजनम् ॥१९॥
तस्माद्भव्यैः प्रकर्त्तव्यं सद्गुरोः सेवनं सदा। प्राप्यते येन सत्सौख्यं स्वर्गमोक्षभवं मुदा ॥२०॥

पापी लोग बुरा से बुरा कोई काम करते नहीं चूकते। नन्द ने अपने मंत्री के बहकावे में आकर गुस्से से उसी समय एक नौकर को आज्ञा दी कि वह जाकर शकटाल को जान से मार आवें। सच है, मूर्ख पुरुष दुर्जनों द्वारा उकसाने पर, करने और न करने योग्य भले-बुरे कार्य का कुछ विचार न कर, अन्याय कर डालते हैं। शकटाल मुनि ने जब उस घातक मनुष्य को अपनी ओर आते देखा तब उन्हें विश्वास हो गया कि वह मेरे को ही मारने को आ रहा है और यह सब कर्म मन्त्री वररुचि का है। अस्तु, जब तक वह घातक शकटाल मुनि के पास पहुँचता है उसके पहले ही उन्होंने सावधान होकर संन्यास ले लिया। घातक अपना काम पूरा कर वापस लौट गया। इधर शकटाल मुनि ने समाधि से शरीर त्याग कर स्वर्ग लाभ किया। सच है, दुष्ट पुरुष अपनी ओर से कितनी ही दुष्टता क्यों न करे, पर उससे सत्पुरुषों को कुछ नुकसान न पहुँच कर लाभ ही होता है ॥८-१५॥

परन्तु जब नन्द को यह सब सच्चा हाल ज्ञात हुआ और उसने सब बातों की गहरी छान-बीन की तब उसे मालूम हो गया कि शकटाल मुनि का कोई दोष न था, वे सर्वथा निरपराध थे। इसके पहले जैन मुनियों के सम्बन्ध में जो उसकी मिथ्या धारण हो गई थी और उन पर जो उसका बे-हद क्रोध हो रहा था उस सबको हृदय से दूर कर वह अब बड़ा ही पछताया। अपने पाप कर्मों की उसने बहुत निन्दा की। इसके बाद वह श्रीमहापद्म मुनि के पास गया। बड़ी भक्ति से उसने उनकी पूजा-वन्दना की और सुख के कारण पवित्र जैनधर्म का उनके द्वारा उपदेश सुना। धर्मोपदेश का उसके चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने श्रावकों के व्रत धारण किए। जैनधर्म पर अब इसकी अचल श्रद्धा हो गई ॥१६-१८॥

इस जीव को जब कोई बुरी संगति मिल जाती है तब तो वह बुरे से बुरे पापकर्म करने लग जाता है और जब अच्छे महात्मा पुरुषों की संगति मिलती है तब यही पुण्य-पवित्र कर्म करने लगता है। इसलिए भव्यजनों को सदा ऐसे महापुरुषों की संगति करना चाहिए जो संसार के आदर्श हैं और जिनकी सत्संगति से स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त हो सकता है ॥१९-२०॥

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तसुतपोरत्नोत्कराराधनामाला श्रीजिनसारसूत्रसहिता पूर्वं बुधैर्निर्मिता। सद्बोधाम्बुधिभिर्जगत्त्रयहितैः सा शर्मणे श्रीप्रभाचन्द्राद्यैस्तदनुग्रहेण सुधिया चक्रे मयापि श्रिये ॥२१॥

इति कथाकोशे शकटालमुनेराख्यानं समाप्तम्।

८३. श्रद्धाख्यानम्

विशुद्धकेवलज्ञान-प्रकाशितजगत्त्रयम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि श्रद्धाख्यानं सतां प्रियम् ॥१॥
कुरुजांगलसद्देशे हस्तिनागपुरे शुभे। विनयंधरभूपालो विनयादिवती प्रिया ॥२॥
श्रेष्ठी वृषभसेनाख्यस्तन्नाम्नी श्रेष्ठिनी मता। तयोः पुत्रस्तु संजातो जिनदासो गुणोज्ज्वलः ॥३॥
एकदा तस्य भूभर्त्तुः कामासक्तस्य कर्मतः। महाव्याधिः समुत्पन्नो भूरिकामो न शान्तये ॥४॥
वैद्या न शक्नुवन्ति स्म तं व्याधिं संचिकित्सितुम्। पीडितस्तेन भूनाथो दुर्जनेन च पापिना ॥५॥
ततः सिद्धार्थसन्नाम्ना शुद्धश्रावकमंत्रिणा। पादौषधमुनेः पादप्रक्षालनजलं शुभम् ॥६॥
दत्तं तस्मै नरेन्द्राय सर्वव्याधिविनाशकम्। श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोजचंचरीकेण निर्मलम् ॥७॥

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूप रत्नों की सुन्दर माला को प्रभाचन्द्र आदि पूर्वाचार्यों ने शास्त्रों का सार लेकर बनाया है, जो ज्ञान के समुद्र और सारे संसार के जीव मात्र का हित करने वाले थे। उन्हीं की कृपा से मैंने इस आराधनारूपी माला को अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार बनाया है। यह माला भव्यजनों को और मुझे सुख दे ॥२१॥

८३. श्रद्धायुक्त मनुष्य की कथा

निर्मल केवलज्ञान द्वारा सारे संसार के पदार्थों को प्रकाशित करने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर श्रद्धागुण के धारी विनयंधर राजा की कथा लिखी जाती है जो कथा सत्पुरुषों को प्रिय है ॥१॥

कुरुजांगल देश की राजधानी हस्तिनापुर का राजा विनयंधर था। उसकी रानी का नाम विनयवती था। यहाँ वृषभसेन नाम का एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम वृषभसेना था। उसके जिनदास नाम का एक बुद्धिमान् पुत्र था ॥२-३॥

विनयंधर बड़ा कामी था। सो एक बार इसके कोई महारोग हो गया। सच है, ज्यादा मर्यादा से बाहर विषय सेवन भी उल्टा दुःख का ही कारण होता है। राजा ने बड़े-बड़े वैद्यों से इलाज करवाया पर उसका रोग किसी तरह न मिटा। राजा इस रोग से बड़ा दुःखी हुआ। उसे दिन-रात चैन न पड़ने लगा ॥४-५॥

राजा का एक सिद्धार्थ नाम का मंत्री था। यह जैनी था। शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक था। सो एक दिन उसने पादौषधिऋद्धि के धारक मुनिराज के पाँव प्रक्षालन का जल लाकर, जो कि सब रोगों का नाश करने वाला होता है, राजा को दिया। जिन भगवान् के सच्चे भक्त उस राजा ने बड़ी श्रद्धा के साथ उस जल को पी लिया उसे पीने से उसका सब रोग जाता रहा। जैसे सूरज के उगने

श्रद्धादिगुणसंयुक्तो विनयंधरभूपतिः। पीत्वा तज्जलमत्युच्चैः संजातो रोगवर्जितः ॥८॥
तज्जलास्वादनादेव गतो व्याधिः प्रवेगतः। भास्करस्योदये शीघ्रं प्रयात्येव यथा तमः ॥९॥
प्रभावः श्रीमुनीन्द्राणां तपसः केन वर्ण्यते। यत्पादक्षालनं तोयं सर्वव्याधिक्षयप्रदम् ॥१०॥
यथा सिद्धार्थमंत्री च सत्तोयं भूभुजे ददौ। तथा भव्यैः प्रदातव्यं धर्मपानीयमङ्गिनाम् ॥११॥
स श्रीपादौषधः स्वामी मुनीन्द्रो गुणसागरः। अस्तु मे शर्मणे नित्यं जैनतत्त्वविदांवरः ॥१२॥
श्रद्धा श्रीजिनधर्मकर्मणि सतां दुःखौघविध्वंसिनी। देवेन्द्रादिनरेन्दचक्रिपदवीशर्मप्रदास्तोकतः ॥
बाहुल्येन करोति या शुभतरा सत्केवलद्योतनं। व्यक्तानन्तचतुष्टयं शिवकरं सा शर्मणे वास्तु वै ॥१३॥

इति कथाकोशे श्रद्धाख्यानं समाप्तम्।

८४. स्वात्मनिन्दाफलाख्यानम्

सर्वदेवेन्द्रचन्द्राद्यैः पूजितं श्रीजिनेश्वरम्। संप्रणम्य प्रवक्ष्येहं स्वात्मनिन्दाफलोत्करम् ॥१॥
काशीदेशे सुविख्याते पूते वाराणसी पुरे। राजा विशाखदत्तोभूत्तद्राज्ञी कनकप्रभा ॥२॥
चित्रकारो विचित्राख्यो नानाचित्रविधायकः। विचित्रादिपताकाख्या तस्य भार्या बभूव च ॥३॥
तयोर्बुद्धिमती पुत्री संजाता सुविचक्षणा। एकदा तस्य भूपस्य मन्दिरे वातिसुन्दरे ॥४॥

से अन्धकार जाता रहता है। सच है, महात्माओं के तप के प्रभाव को कौन कह सकता है, जिनके कि पाँव धोने के पानी से ही सब रोगों की शान्ति हो जाती है। जिस प्रकार सिद्धार्थ मन्त्री ने मुनि के पाँव प्रक्षालन का पवित्र जल राजा को दिया, उसी प्रकार अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे धर्मरूपी जल सर्व-साधारण को देकर उनका संसार ताप शान्त करें। जैनतत्त्व के परम विद्वान् वे पादौषधिऋद्धि के धारक मुनिराज मुझे शान्ति-सुख दें ॥६-१२॥

जैनधर्म में या जैनधर्म के अनुसार किए जाने वाले दान, पूजा, व्रत, उपवास आदि पवित्र कार्यों में की हुई श्रद्धा, किया हुआ विश्वास दुःखों का नाश करने वाला है। इस श्रद्धा का आनुषङ्गिक फल है-इन्द्र, चक्रवर्ती, विद्याधर आदि की सम्पदा का लाभ और वास्तविक फल है मोक्ष का कारण केवलज्ञान, जिसमें कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय-आत्मा की खास शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। वह श्रद्धा आप भव्यजनों का कल्याण करे ॥१३॥

८४. आत्मनिन्दा करने वाली की कथा

चारों प्रकार के देवों द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर उस स्त्री की कथा लिखी जाती है कि जिसने अपने किए पापकर्मों की आलोचना कर अच्छा फल प्राप्त किया है ॥१॥

बनारस के राजा विशाखदत्त थे। उनकी रानी का नाम कनकप्रभा था। इनके यहाँ एक चितेरा रहता था। इसका नाम विचित्र था। वह चित्रकला का बड़ा अच्छा जानकार था। चितेरे की स्त्री का नाम विचित्रपताका था। उसके बुद्धिमती नाम की एक लड़की थी। बुद्धिमती बड़ी सुन्दरी और चतुर थी ॥२-४॥

विचित्रचित्रकारस्य चित्रं चित्रयतः पितुः। बुद्धिमत्या समादाय भोजनं गतया तया ॥५॥
लीलया लिखितं तत्र भूपतेर्मणिकुट्टिमे। स्वच्छं मयूरपिच्छं तद्-गृह्णन् राजाल्पधीर्मतः ॥६॥
तथान्यदिवसे राज्ञो दर्शयंश्चित्रमद्भुतम्। भणितः पितरम् चेति तया पुत्र्या सुधूर्त्तया ॥७॥
शीघ्रमागच्छ भो तात मा कुरु त्वं विलम्बलनम्। यौवनं साम्प्रतं याति भोजनस्य विचक्षण ॥८॥
तद्वचस्तु समाकर्ण्य भूपतिश्चित्रिताशयः। मुखं पश्यन्प्रमूर्खोऽसौ भणितश्च तया पुनः ॥९॥
तथान्यदा तया चापि कुड्यप्रच्छादने शुभे। अपनीते द्वितीये च कुड्ये चित्रावलोकने ॥१०॥
स राजा भणितो मूर्ख-स्ततः सोपि महीपतिः। पृष्ट्वा तत्कारणं सर्वं तुष्टस्तां परिणीय च ॥११॥
सर्वस्वान्तःपुरे चक्रे सुप्रधाना सुवल्लभा। गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं पुण्यतो भव्यदेहिनाम् ॥१२॥

एक दिन विचित्र चितेरा राजा के खास महल में, जो कि बड़ा सुन्दर था, चित्रकारी कर रहा था। उसकी लड़की बुद्धिमती उसके लिए भोजन लेकर आयी। उसने विनोद वश हो भीत पर मोर की पीछी का एक चित्र बनाया वह चित्र इतना सुन्दर बना कि सहसा कोई न जान पाता कि वह चित्र है। जो उसे देखता वह यही कहता कि यह मोर की पीछी है। इसी समय महाराज विशाखदत्त इस ओर आ गए। वे उस चित्र को मोर की पीछी समझ उठाने को उसकी ओर बढ़े। यह देख बुद्धिमती ने समझा कि महाराज बे-समझ है। नहीं तो इन्हें इतना भ्रम नहीं होता ॥५-६॥

दूसरे दिन बुद्धिमती ने एक और अद्भुत चित्र राजा को बतलाते हुए अपने पिता को पुकारा- पिताजी, जल्दी आइए, भोजन की जवानी का समय बीत रहा है। बुद्धिमती के इन शब्दों को सुनकर राजा बड़े अचम्भे में पड़ गया। वह उसके कहने का कुछ भाव न समझ कर एक टक की लगाये उसके मुँह की ओर देखता रह गया। राजा को अपना भाव न समझा देख बुद्धिमती को उसके मूर्ख होने का और दृढ़ विश्वास हो गया ॥७-९॥

अब की बार बुद्धिमती ने एक और चाल चली। एक भींत पर दो परदे लगा दिये और राजा को चित्र बतलाने के बहाने उसने एक परदा उठाया। उसमें चित्र न था। तब राजा उस दूसरे परदे की ओर चित्र की आशा से आँखें फाड़कर देखने लगा। बुद्धिमती ने दूसरा परदा भी उठा दिया। भीत पर चित्र को न देखकर राजा बड़ा शर्मिंदा हुआ। उसकी इन चेष्टाओं से उसे पूरा मूर्ख समझ बुद्धिमती ने जरा हँस दिया। राजा और भी अचम्भे में पड़ गया। वह बुद्धिमती का कुछ भी अभिप्राय न समझ सका। उसने तब व्यग्र हो बुद्धिमती से ऐसा करने का कारण पूछा। बुद्धिमती के उत्तर से उसे जान पड़ा कि वह उसे चाहती है और इसलिए पिता को भोजन के लिए पुकारते समय व्यंग से राजा पर उसने अपना भाव प्रकट किया था। राजा उसकी सुन्दरता पर पहले ही से मुग्ध था, सो वह बुद्धिमती की बातों से बड़ा खुश हुआ। उसने फिर बुद्धिमती के साथ ब्याह भी कर लिया। धीरे-धीरे राजा का उस पर इतना अधिक प्रेम बढ़ गया कि अपनी सब रानियों में पट्टरानी उसने उसे ही बना दिया। सच बात यह है कि प्राणियों की उन्नति के लिए उनके गुण ही उनका दूतपना करते हैं, उन्हें उन्नति पर पहुँचा देते हैं ॥१०-१२॥

तस्याः सेवागतं सर्वं दुष्टमन्तःपुरं तदा। मस्तके टोल्लकाद्दत्वा गच्छति स्म दिनं प्रति ॥१३॥
ततो बुद्धिमती सा च संजाता दुर्बला सती। जिनालयं प्रविश्योच्चैः पापस्य विलयप्रदम् ॥१४॥
जिनेन्द्रप्रतिमाग्रे च कार्यसिद्धिविधायिनि। आत्मनिन्दां करोति स्म भक्तिभारेण मण्डिता ॥१५॥
श्रीजिनेन्द्रजगद्वन्द्य स्वर्गमोक्षप्रदायक। अहं दीनकुलोत्पन्ना कस्य दोषोत्र दीयते ॥१६॥
त्वमेव शरणं तात दुःखदावाग्निवारिद। किमन्यैर्बहुभिर्देवैः कामक्रोधादिदूषितैः ॥१७॥
एकान्ते निन्दनं चेति कुर्वती स्वगृहे स्थिता। पृष्टापि भूभुजा वक्ति नैव दौर्बल्यकारणम् ॥१८॥
अथैकस्मिन्दिने श्रीमज्जिनेन्द्रभवनं शुभम्। पूर्वं प्राप्तेन तद्राज्ञा श्रुत्वा तद्दुःखकारणम् ॥१९॥
अन्तःपुरं सुनिर्भर्त्स्य कृत्वा सेवापरं तराम्। सती बुद्धिमती सा च सुप्रधाना कृता मुदा ॥२०॥
एवमन्यैर्बुधैश्चापि श्रीजिनाग्रे सुभक्तितः। क्षुल्लकाद्यैः प्रकर्त्तव्या स्वात्मनिन्दा शुभश्रिये ॥२१॥

राजा ने बुद्धिमती को सारे रनवास की स्वामिनी बना तो दिया, पर उसमें सब रानियाँ उस बेचारी की शत्रु बन गईं, उससे डाह, ईर्ष्या करने लगीं। आते-जाते वे बुद्धिमती के सिर पर मारती और उसे बुरी-भली सुनाकर बेहद कष्ट पहुँचातीं। बेचारी बुद्धिमती सीधी-साधी थी, सो न तो वह उनसे कुछ कहती और न महाराज से ही कभी उनकी शिकायत करती। इस कष्ट और चिन्ता से मन ही मन घुलकर वह सूख सी गई। वह जब जिन मन्दिर दर्शन करने जाती तब सब सिद्धियों के देने वाले भगवान् के सामने खड़े हो अपने पूर्व कर्मों की निन्दा करती और प्रार्थना करती कि हे संसार पूज्य, हे स्वर्ग-मोक्ष के सुख देने वाले, हे दुःखरूपी दावानल के बुझाने वाले मेघ, और हे दयासागर, मैं एक छोटे कुल में पैदा हुई हूँ, इसीलिए मुझे ये सब कष्ट हो रहे हैं। पर नाथ, इसमें दोष किसी का नहीं। मेरे पूर्व जन्म के पापों का उदय है। प्रभो, जो हो, पर मुझे विश्वास है कि जीवों को चाहे कितने ही कष्ट क्यों न सता रहे हों, पर जो आपको हृदय से चाहता है, आपका सच्चा सेवक है, उसके सब कष्ट बहुत जल्दी नष्ट हो जाते हैं और इसीलिए हे नाथ, कामी, क्रोधी, मानी, मायावी देवों को छोड़कर मैंने आपकी शरण ली है। आप मेरा कष्ट दूर करेंगे ही। बुद्धिमती न मन्दिर में ही किन्तु महल पर भी अपने कर्मों की आलोचना किया करती। वह सदा एकान्त में रहती और न किसी से विशेष बोलती-चालती। राजा ने उसके दुर्बल होने का कारण पूछा-बार-बार आग्रह किया, पर बुद्धिमती ने उससे कुछ भी न कहा ॥१३-१८॥

बुद्धिमती क्यों दिनों-दिन दुर्बल होती जाती है, इसका शोध लगाने के लिए एक दिन राजा उसके पहले जिनमन्दिर आ गया। बुद्धिमती ने प्रतिदिन की तरह आज भी भगवान् के सामने खड़ी होकर आलोचना की। राजा ने वह सब सुन लिया। सुनकर वह सीधा महल पर आया। अपनी सब रानियों को उसने खूब ही फटकारा, धिक्कारा और बुद्धिमती को ही उनकी मालकिन-पट्टरानी बनाकर उन सबको उसकी सेवा करने के लिए बाध्य किया ॥१९-२०॥

जिस प्रकार बुद्धिमती ने अपनी आत्म-निन्दा की, उसी तरह अन्य बुद्धिमानों और क्षुल्लक

शुभकुलोत्तमशर्मविधायिनी जिनपतेः पदभक्तिरसौ सदा।
भवतु दुर्गतिदुःखविनाशिनी शिवपदं मम देव यतो मुदा ॥२२॥

इति कथाकोशे आत्मनिंदाप्राप्तफलदृष्टान्ताख्यानं समाप्तम्।

८५. आत्मनिन्दाख्यानम्

सर्वदोषप्रहर्त्तारं कर्त्तारं शर्मणः सताम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं स्त्रीकथां गर्हणाश्रिताम् ॥१॥
अयोध्यानगरे राजा दुर्योधन इतीरितः। श्रीदेवीकामिनीनाथः संजातो न्यायमण्डितः ॥२॥
बभूव ब्राह्मणस्तत्र सर्वोपाध्यायनामभाक्। ब्राह्मणी तस्य वीराख्या यौवनोन्मत्तमानसा ॥३॥
सार्द्धं छात्रेण संसक्ता पापिनी साग्निभूतिना। हत्वा पतिं निजं वृद्धं सर्वोपाध्यायकं तदा ॥४॥
छत्रिकायां समारोप्य कृष्णरात्रौ श्मशाने तं। निक्षेप्तुं च गता तत्र कोपाद्व्यन्तरदेवता ॥५॥
छत्रिकां कीलयामास मस्तके संजगाद च। प्रभाते पुरनारीणा-मग्रतस्तु गृहे गृहे ॥६॥

आदि को भी जिन भगवान् के सामने भक्तिपूर्वक आत्मनिन्दा-पूर्वक कर्मों की आलोचना करना उचित है। उत्तम कुल और उत्तम सुखों की देन वाली तथा दुर्गति के दुःखों की नाश करने वाली जिन भगवान् की भक्ति मुझे भी मोक्ष का सुख दें ॥२१-२२॥

८५. आत्मनिन्दा की कथा

सब दोषों के नाश करने वाले और सुख के देने वाले ऐसे जिन भगवान् को नमस्कार कर अपने बुरे कर्मों की निन्दा-आलोचना करने वाली बीरा ब्राह्मणी की कथा लिखी जाती है ॥१॥

दुर्योधन जब अयोध्या का राजा था तब की यह कथा है। यह राजा बड़ा न्यायी और बुद्धिमान् हुआ है। इसकी रानी का नाम श्रीदेवी था। श्रीदेवी बड़ी सुन्दरी और सच्ची पतिव्रता थी। यहाँ एक सर्वोपाध्याय नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम वीरा था। उसका चाल-चलन अच्छा न था। जवानी के जोर में वह मस्त रहा करती थी। उपाध्याय के घर पर एक विद्यार्थी पढ़ा करता था। उसका नाम अग्निभूति था। वीरा ब्राह्मणी के साथ इसकी अनुचित प्रीति थी। ब्राह्मणी इसे बहुत चाहती थी। पर उपाध्याय इन दोनों के सुख का काँटा था। इसलिए ये मनमाना ऐशोआराम न कर पाते थे। ब्राह्मणी को यह बहुत खटका करता था। सो एक दिन मौका पाकर ब्राह्मणी ने अपने पति को मार डाला और उसे श्मशान में फेंक आने को छत्री में छुपाकर अन्धेरी रात में वह घर से निकली। श्मशान में जैसे ही उपाध्याय के मुर्दे को फेंकने को तैयार हुई कि एक व्यन्तरदेवी ने उसके ऐसे नीच कर्म पर गुस्सा होकर छत्री को कील दिया और कहा-''सबेरा होने पर जब तू सारे शहर की स्त्रियों के घर-घर पर जाकर अपना यह नीच कर्म प्रकट करेगी, अपने कर्म पर पछतायेगी तब तेरे सिर पर से यह छत्री गिरेगी।'' देवी के कहे अनुसार ब्राह्मणी ने वैसा ही किया। तब कहीं उसका पीछा छूटा, छत्री सिर से अलग हो सकी। इस आत्म-निन्दा से ब्राह्मणी का पापकर्म बहुत हल्का हो गया, वह

दुराचारंस्त्वया स्वस्य कथ्यते गर्हणोत्करैः। तदा ते पतति व्यक्तं मस्तकाच्छत्रिका द्रुतम् ॥७॥
तया तथा कृते शीघ्रं छत्रिका पतिता क्षितौ। सा लोके च विशुद्धाभूद्-ब्राह्मणी निजगर्हणात् ॥८॥
तथान्यैस्तु बुधैः कार्यं गर्हणं स्वस्य शुद्धये। गुरूणामग्रतो भक्त्या दोषके पापभीरुभिः ॥९॥
शल्येनैव यथा प्रपीडिततनुर्निष्काश्य शल्यं भटः संप्राप्नोति सुखं तथा च सुधियः श्रीजैनसूत्रान्वितान्।
श्रित्वा श्रीमुनिनायकाञ्छुभतरान्भूत्वा च शल्योज्झिताः स्वात्मोत्पन्नकुदोषगर्हणभरैर्नित्यं भजन्तु श्रियम् ॥१०॥

इति कथाकोशे आत्मगर्हणाख्यानं समाप्तम्।

८६. सोमशर्ममुनेराख्यानम्

सम्प्रणम्य जिनाधीशं सारधर्मोपदेशकम्।
सोमशर्ममुनेर्वच्मि शर्मदं सुकथानकम् ॥१॥
आलोचनैर्गर्हणनिन्दनैश्च व्रतोपवासैः स्तुतिसत्कथाभिः।
एभिस्तु योगैः क्षपणं करोमि विषप्रतीघातमिवाप्रमत्तः ॥२॥
अथात्र भरते क्षेत्रे पुण्ड्राख्यविषये शुभे। देवीकोट्टपुरे जातो ब्राह्मणः सोमशर्मवाक् ॥३॥
वेदवेदाङ्गपारज्ञः सोमिल्याब्राह्मणीपतिः। संजातौ चाग्निभूत्याख्यवायुभूती तयोः सुतौ ॥४॥

शुद्ध हुई। इसी तरह अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे प्रतिदिन होने वाले बुरे कर्मों की गुरुओं के पास आलोचना किया करें। उससे उनका पाप नष्ट होगा और अपने आत्मा को वे शुद्ध बना सकेंगे। किसी पुरुष के शरीर में काँटा लग गया और वह उससे बहुत कष्ट पा रहा है। पर जब तक वह काँटा उसके शरीर से नहीं निकलेगा तब तक वह सुखी नहीं हो सकता। इसलिए उस काँटे को निकाल फेंककर जैसे वह पुरुष सुखी होता है, उसी तरह जो आत्म-हितैषी जैनधर्म के बताये सिद्धान्त पर चलने वाले वीतरागी साधुओं की शरण ले अपने आत्मा को कष्ट पहुँचाने वाले पापकर्म रूपी काँटे की कृत कर्मों की आलोचना द्वारा निकाल फेंकते हैं वे फिर कभी नाश न होने वाली आत्मीक लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं ॥२-१०॥

८६. सोमशर्म मुनि की कथा

सर्वोत्तम धर्म का उपदेश करने वाले जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर सोमशर्म मुनि की कथा लिखी जाती है ॥१॥

आलोचना, गर्हा, आत्मनिन्दा, व्रत उपवास, स्तुति और कथाएँ तथा इनके द्वारा प्रमाद को, असावधानी को नाश करना चाहिए। जैसे मंत्र, औषधि आदि से विष का वेग नाश किया जाता है। इसी सम्बन्ध की यह कथा है ॥२॥

भारत के किसी हिस्से में बसे हुए पुण्ड्रक देश के प्रधान शहर देवी-कोटपुर में सोमशर्म नाम का ब्राह्मण हो चुका है। सोमशर्म वेद और वेदांग, व्याकरण, निरुरक्त, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा और कला का अच्छा विद्वान् था। इसकी स्त्री का नाम सोमिल्या था। इसके अग्निभूति और वायुभूति दो लड़के थे ॥३-४॥

तत्रैव नगरे विष्णुदत्तनामा द्विजोपरः। विष्णुश्रीकामिनीनाथो भूरिवित्तसमन्वितः ॥५॥
ऋणं श्रीविष्णुदृत्तात् तु गृहीत्वा सोमशर्मकः। एकदा धर्ममाकर्ण्य मुनेः पार्श्वे जिनेशिनाम् ॥६॥
दीक्षामादाय सद्भक्त्या मुनिर्भूत्वा विचक्षणः। कृत्वा विहारमत्युच्चैः प्राप्तः कोट्टपुरं पुनः ॥७॥
दृष्ट्वासौ विष्णुदत्तेन धृत्वा द्रव्यं प्रयाचितः। सोमशर्ममुनेः पुत्रौ निर्धनौ तौ तु साम्प्रतम् ॥८॥
द्रव्यं मे देहि भो धीर नो चेद्धर्मं सुशर्मदम्। तच्छ्रुत्वा वक्ति स्वाचार्यं विकल्पं ॥९॥
वीरभद्रमहाचार्यवाक्यतस्तु श्मशानके। धर्मं विक्रीणयन्तं च प्रत्यक्षीभूय देवता ॥१०॥
संजगाद मुने स्वामिन्धर्मस्ते कीदृशो भुवि। ततः प्राह मुनिः सोपि सोमशर्मा गुणोज्ज्वलः ॥११॥
मूलोत्तरैर्गुणैर्युक्तो दशलाक्षणिको महान्। धर्मो देवि मम श्रीमज्जिनेन्द्रैर्भाषितः शुभः ॥१२॥
तत्समाकर्ण्य सा देवी सन्तुष्टा भक्तिभारतः। नत्वा मुनिं जगद्वन्द्यं संजगौ व्यक्तभाषया ॥१३॥
धम्मो जयवसियरणं धम्मो चिंतामणी अणग्घेओ। धम्मो सुहवसुधारा धम्मो कामदुहा धेणू ॥
किं जंपिएण बहुणा जं जं दीसइ सम्मतियलोए। इंदियमणोहिरामं तं तं धम्मफलं सव्वं ॥
सर्वलोकोत्तमस्यास्य नास्ति मूल्यं सुधर्मणः। किं तु सर्वोपसर्गस्य विनाशार्थं महामुनेः ॥१४॥

यहाँ विष्णुदत्त नाम का एक और ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम विष्णुश्री था। विष्णुदत्त अच्छा धनी था। पर स्वभाव का अच्छा आदमी न था। किसी दिन कोई खास जरूरत पड़ने पर सोमशर्म ने विष्णुदत्त से कुछ रुपया कर्ज लिया था। उसका कर्ज अदा न कर पाया था कि एक दिन सोमशर्म के किसी जैनमुनि के धर्मोपदेश से वैराग्य हो जाने से मुनि हो गया। वहाँ से विहार कर वह कहीं अन्यत्र चला गया और दूसरे नगरों और गाँवों में धर्म का उपदेश करता हुआ एक बार फिर वह कोटपुर में आया। विष्णुदत्त ने तब उसे देखकर पकड़ लिया और कहा–साधुजी, आपके दोनों लड़के तो इस समय महा दरिद्र दशा में हैं। उनके पास एक फूटी कौड़ी तक नहीं हैं वे मेरा रुपया नहीं दे सकते। इसलिए या तो आप मेरा रुपया दे दीजिये या अपना धर्म बेच दीजिये। सोमशर्म मुनि के सामने बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई, वे क्या करें, इसकी उन्हें कुछ सूझ न पड़ी। तब उनके गुरु वीरभद्राचार्य ने उनसे कहा–अच्छा तुम जाओ और धर्म बेचो! उनकी आज्ञा पाकर सोमशर्म मुनि मसान में जाकर धर्म बेचने लगे। इस समय एक देवी ने आकर उनसे पूछा–मुनिराज, जिस धर्म को आप बेच रहे हैं, भला कहिए तो वह कैसा है? उत्तर में मुनि ने कहा–मेरा धर्म अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुणों से युक्त है तथा उत्तम–क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन और ब्रह्मचर्य इन दस भेद रूप है। धर्म का यह स्वरूप श्री जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। मुनि द्वारा अपने बेचे जाने वाले धर्म की इस प्रकार व्याख्या सुनकर वह देवी बहुत प्रसन्न हुई उसने मुनि को नमस्कार कर धर्म की प्रशंसा में कहा–मुनिराज, आपने जो कहा वह बहुत ठीक है। यही धर्म संसार को वश करने के लिए एक वशीकरण मंत्र है, अमूल्य चिन्तामणि है, सुखरूप अमृत की धारा है और मनचाही वस्तुओं के दुहने–देने के लिए कामधेनु हैं। अधिक क्या किन्तु यह समझना चाहिए कि संसार में जो–

एकवारं त्रिमुष्ट्या च समुत्पाटितकेशजम्। मूल्यलेशं ददामीमं श्रीमतां शर्मकारिणाम् ॥१५॥
इत्युक्त्वासौ लसत्कान्तिप्रद्योतितककुब्मुखम्। रत्नराशिं विधायोच्चैर्देवता स्वगृहं गता ॥१६॥
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मप्रभावः केन वर्ण्यते। यो धर्मः शर्मदो नित्यं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितः ॥१७॥
प्रभाते तत्तपोलक्ष्मी-सत्प्रभावप्रवीक्षणात्। विष्णुदत्तो द्विजश्चापि नत्वा तं मुनिनायकम् ॥१८॥
संजगाद मुने धीर धन्यस्त्वं जैनतत्त्ववित्। दुर्धरोरुतपोयुक्तो विरक्तो मोहकर्मणि ॥१९॥
अहं दुष्कर्मयोगेन वंचितो धनतस्करैः। अतः परं भवत्पादपद्मयुग्माश्रयं भजे ॥२०॥
इत्यादिकैः शुभैर्वाक्यैः स्तुत्वा तं भक्तिनिर्भरः। पादमूले मुनेस्तस्य दीक्षामादाय निर्मदः ॥२१॥
मुनिर्भूत्वा गुरोर्भक्त्या स्वर्मोक्षसुखभागभूत्। अहो धर्माश्रितो जन्तुः को वा न स्यान्महासुखी ॥२२॥
सर्वभव्यजनाश्चान्ये धर्मे श्रीमज्जिनेशिनाम्। तं प्रभावं समालोक्य संजाता भक्तिनिर्भराः ॥२३॥
तद्धनैः श्रावकैश्चापि कोटितीर्थाभिधानकः। चैत्यालयो जिनेन्द्राणां कारितः शर्मदायकः ॥२४॥

जो मनोहरता देख पड़ती है वह सब एक धर्महीन का फल है। धर्म एक सर्वोत्तम अमोल वस्तु है। उसका मोल हो ही नहीं सकता। पर मुनिराज, आपको उस ब्राह्मण का कर्ज चुकाना है। आपका यह उपसर्ग दूर हो, इसलिए दीक्षा समय-केशलोंच किए आपके बालों को उस कर्ज के बदले दिये देती हूँ। यह कहकर देवी उन बालों को अपनी दैवी-माया से चमकते हुए बहुमूल्य रत्न बनाकर आप अपने स्थान पर चल दी। सच है, जैनधर्म का प्रभाव कौन वर्णन कर सकता है, जो कि सदा ही सुख देने वाला और देवों द्वारा पूजा किया जाता है ॥५-१७॥

सबेरा होने पर विष्णुदत्त, सोमशर्म मुनि के तप का प्रभाव देखकर चकित रह गया। उसकी मुनि पर तब बड़ी श्रद्धा हो गई उसने नमस्कार कर उनकी प्रशंसा में कहा-योगिराज, सचमुच आप बड़े ही भाग्यशाली है। आपके सरीखा विद्वान् और धीर मैंने किसी को नहीं देखा। यह आपही से महात्माओं का काम है जो मोहपाश को तोड़-तुड़ाकर इस प्रकार दुःसह तपस्या कर रहे हैं। महाराज, आपकी मैं किन शब्दों में तारीफ करूँ, यह मुझे नहीं जान पड़ता। आपने तो अपने जीवन को सफल बना लिया। पर हाय! मैं पापी पापकर्म के उदय से धनरूपी चोरों द्वारा ठगा गया। मैं अब इनके पैंचीले जाल से कैसे छूट सकूँगा? दयासागर! मुझे बचाइये। नाथ, अब तो मैं आप ही के चरणों की सेवा करूँगा। आपकी सेवा को ही अपना ध्येय बनाऊँगा। तब ही कहीं मेरा भला होगा। इस प्रकार बड़ी देर तक विष्णुदत्त ने सोमशर्म मुनि की स्तुति की। अन्त में प्रार्थना कर उनसे दीक्षा ले वह मुनि हो गया। जो विष्णुदत्त एक ही दिन पहले मुनि की इज्जत, प्रतिष्ठा बिगाड़ने को हाथ धोकर उनके पीछा पड़ा था और मुनि को उपसर्ग कर जिसने पाप बाँधा था वही गुरुभक्ति से स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र हो गया। सच है, धर्म की शरण ग्रहण कर सभी सुखी होती हैं। विष्णुदत्त के सिवा और भी बहुतेरे भव्यजन जैनधर्म का ऐसा प्रभाव देखकर जैनधर्म के प्रेमी हो गए और उस धन से, जिसे देवी ने मुनि के बालों को रत्नों के रूप में बनाया था, कोटितीर्थ नाम का एक बड़ा ही सुन्दर जिनमन्दिर बनवा दिया, जिसमें धर्मसाधन कर भव्यजन सुख-शान्ति लाभ-करते थे ॥१८-२४॥

श्रीमत्सारजिनेन्द्रदेवगदितं त्रैलोक्यसंपूजितं नाना शर्मविधायकं भवहरं स्वर्मोक्षदं सत्तपः।
आराध्यैव विशुद्धभक्तिभरतो ये साधवो धीधनाः प्राप्ता मुक्तिसुखं विनाशरहितं कुर्युस्तु ते मे श्रियम् ॥२५॥

इति कथाकोशे श्रीसोमशर्ममुनेराख्यानं समाप्तम्।

८७. कालाध्ययनाख्यानम्

यस्य ज्ञानं जगत्सारसंसाराम्भोधिपारदम्। तं प्रणम्य जिनं वक्ष्ये कालाध्ययनवृत्तकम् ॥१॥
वीरभद्रो जगद्भद्रो मुनीन्द्रो जैनतत्त्ववित्। एकदासौ महाटव्यां महोरात्रं पठेच्छ्रुतम् ॥२॥
श्रुतदेव्या तया दृष्टस्ततः सम्बोधनाय च। धृत्वा गोकुलिकारूपं समागत्य निशि स्फुटम् ॥३॥
सुगन्धिमधुरं तक्रं गृहीस्वेति स्व लीलया। सा जल्पन्ती मुनेः पार्श्वे चक्रे पर्यटनं तदा ॥४॥
वीरभद्रो मुनिः प्राह शास्त्राभ्यासैकमानसः। मुग्धे किं गृहिलासीति तक्रं गृह्णाति कोधुना ॥५॥
निशायां निर्जने देशे तच्छ्रुत्वा देवतावदत्। त्वमेव गृहीलोऽकाले पठस्यत्रागमं यतः ॥६॥
ततोसौ मुनिरालोक्य नक्षत्राणि नभस्तले। प्रबुद्धो गुरुसान्निध्यं गत्वालोच्य निजक्रियाम् ॥७॥

जो बुद्धिरूपी धन के मालिक, बड़े विचारशील साधु-सन्त जिन भगवान् के द्वारा उपदेश किए, सारे संसार में पूजे-माने जाने वाले, स्वर्ग-मोक्ष के या और सब प्रकार सांसारिक सुख के कारण, संसार का भय मिटाने वाले ऐसे परम पवित्र तप को भक्ति से ग्रहण करते हैं वे कभी नाश न होने वाले मोक्ष सुख का लाभ करते हैं। ऐसे महात्मा योगीराज मुझे भी आत्मीक सच्चा सुख दें ॥२५॥

८७. कालाध्ययन की कथा

जिनका ज्ञान सबसे श्रेष्ठ है और संसारसमुद्र से पार करने वाला है, उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर उचित काल में शास्त्राध्ययन कर जिसने फल प्राप्त किया उसकी कथा लिखी जाती है ॥१॥

जैनतत्त्व के विद्वान् वीरभद्र मुनि एक दिन सारी रात शास्त्राभ्यास करते रहे। उन्हें इस हालत में देखकर श्रुतदेवी एक अहीरनी का वेष लेकर उनके पास आई इसलिए कि मुनि को इस बात का ज्ञान हो जाए कि यह समय शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने का नहीं है। देवी अपने सिर पर छाछ की मटकी रखकर और यह कहती हुई, कि लो, मेरे पास बहुत ही मीठी छाछ है, मुनि के चारों ओर घूमने लगी। मुनि ने तब उसकी और देखकर कहा-अरी, तू बड़ी बेसमझ जान पड़ती है, कहीं पगली तो नहीं हो गई है बतला तो ऐसे एकान्त स्थान में ओर रात में कौन तेरी छाछ खरीदेगा? उत्तर में देवी ने कहा-महाराज क्षमा कीजिए। मैं तो पगली नहीं हूँ किन्तु मुझे आप ही पागल देख पड़ते हैं। नहीं तो ऐसे असमय में, जिसमें पठन-पाठन की मना है, आप क्यों शास्त्राभ्यास करते? देवी का उत्तर सुनकर मुनिजी की आँखें खुलीं। उन्होंने आकाश की ओर नजर उठाकर देखा तो उन्हें तारे चमकते हुए देख पड़े उन्हें मालूम हुआ कि अभी बहुत रात है। तब वे पढ़ना छोड़कर सो गए ॥२-७॥

शास्त्रं संपठति स्मोच्चैः काले काले तथान्यदा। तं पठन्तं जिनैः प्रोक्तं स्वागमं मुनिसत्तमम् ॥८॥
दृष्ट्वासौ देवता तुष्टा विशुद्धाष्टविधार्चनैः। पूजयामास सद्भक्त्या सद्गुणैः को न पूजितः ॥९॥
ततोसौ वीरभद्रस्तु मुनीन्द्रो ज्ञानमण्डितः। दर्शनज्ञानचारित्रैः परलोकं सुधीर्गतः ॥१०॥

तस्माच्छ्रीजिनभाषितं शुभतरं ज्ञानं जगन्मोहनं
नित्यं सारविभूतिशर्मजनकं स्वर्गापवर्गप्रदम्।
युक्ता भक्तिभरेण निर्मलधियो विश्वप्रदीपं हितं
श्रित्वा शोककलंकपङ्कहरणं कुर्वन्तु सन्तः सुखम् ॥११॥

इति कथाकोशे कालाध्ययनाख्यानं समाप्तम्।

८८. अकालाध्ययनाख्यानम्

नत्वा जिनं जगद्वन्द्यं केवलज्ञानलोचनम्। अकालाख्यानकं वक्ष्ये सतां सम्बोधहेतवे ॥१॥
शिवनन्दी मुनिः कश्चिदेकदा गुरुवाक्यतः। श्रीमच्छ्रवणनक्षत्रोदये स्वाध्यायकालकः ॥२॥

सबेरा होने पर वे अपने गुरु महाराज के पास गए और अपनी इस क्रिया की आलोचना कर उनसे उन्होंने प्रायश्चित्त लिया। तब से वे शास्त्राभ्यास का जो काल है उसी में पठन-पाठन करने लगे। उन्हें अपनी गलती का सुधार किए देखकर देवी उनसे बहुत खुश हुई। बड़ी भक्ति से उसने उनकी पूजा की। सच है, गुणवानों की सभी पूजा करते हैं ॥७-९॥

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र का यथार्थ पालन कर वीरभद्र मुनिराज अन्त समय में धर्म-ध्यान से मृत्यु लाभ कर स्वर्गधाम सिधारे ॥१०॥

भव्यजनों को भी उचित है कि वे जिन भगवान् के उपदेश किए, संसार को अपनी महत्ता से मुग्ध करने वाले, स्वर्ग या मोक्ष की सर्वोच्च सम्पदा को देने वाले, दुःख, शोक, कलंक आदि आत्मा पर लगे हुए कीचड़ को धो-देने वाले, संसार के पदार्थों का ज्ञान कराने में दीये की तरह काम देने वाले और सब प्रकार के सांसारिक सुख के आनुषंगिक कारण ऐसे पवित्र ज्ञान को भक्ति से प्राप्त कर मोक्ष का अविनाशी सुख लाभ करें ॥११॥

८८. अकाल में शास्त्राभ्यास करने वाले की कथा

संसार द्वारा पूजे जाने वाले और केवलज्ञान जिनका प्रकाशमान नेत्र है, ऐसे जिन भगवान् को नमस्कार कर असमय में जो शास्त्राभ्यास के लिए योग्य नहीं है, शास्त्राभ्यास करने से जिन्हें उसका बुरा फल भोगना पड़ा, उनकी कथा लिखी जाती है। इसलिए कि विचारशीलों को इस बात का ज्ञान हो कि असमय में शास्त्राभ्यास करना अच्छा नहीं है, उसका बुरा फल होता है ॥१॥

शिवनन्दी मुनि ने अपने गुरु द्वारा यद्यपि यह ज्ञान रखा था कि स्वाध्याय का समय-काल श्रवण नक्षत्र का उदय होने के बाद माना गया है, तथापि कर्मों के तीव्र उदय से वे अकाल में ही

भवत्येवं परिज्ञात्वा तथापि प्रौढकर्मतः। अकाले संपठन्मिथ्या-समाधिमरणेन सः ॥३॥
गंगानद्यां महामस्त्यः संजातः पापकर्मणा। जिनाज्ञालोपनेनैवं प्राणी दुर्गतिभाग्भवेत् ॥४॥
ततश्चैकदिने सोपि मत्स्यस्तु पुलिने शुभे। साधुपाठं समाकर्ण्य भूत्वा जातिस्मरोभवत् ॥५॥
अहो पठितमूर्खोहं जैनवाक्यपराङ्मुखः। संजातः पापतो मत्स्यो दुष्टकर्मविधायकः ॥६॥
इत्यात्मनिन्दनं कृत्वा गृहीत्वा त्रिजगद्धितम्। सम्यक्त्वं भक्तिभारेण संयुक्तः सदणुव्रतैः ॥७॥
समाराध्य जिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयं मुदा। स्वर्गे महर्धिको जातो देवः सत्पुण्यसम्बलः ॥८॥
धर्मस्याराधकः स्वर्गी भवेत्पापी विराधकः। पूर्वोसौ सत्सुखोपेतः परो दुःखाश्रितो जनः ॥९॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं धर्मः श्रीजिनभाषितः। आराध्यो भक्तितो नित्यं शक्त्या शर्मशतप्रदः ॥१०॥
विमलतरविभूतिः प्राणिनां शुद्धकीर्ति र्भवति विशदमूर्तिर्ज्ञानतश्चारुशान्तिः।
असुरसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः प्रपूज्यं जिनपतिवरबोधं संभजन्तु प्रभव्याः ॥११॥

इति कथाकोशे अकालाध्ययनाख्यानं समाप्तम्।

शास्त्राभ्यास किया करते थे। फल इसका यह हुआ कि मिथ्या समाधिमरण द्वारा मरकर उन्होंने गंगा में एक बड़े भारी मच्छ की पर्याय धारण की। सो ठीक ही है जिन भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने से इस जीव को दुर्गति के दुःख भोगने ही पड़ते हैं ॥२-४॥

एक दिन नदी किनारे पर एक मुनि शास्त्राभ्यास कर रहे थे। इस मच्छ ने उनके पाठ को सुन लिया। उससे उसे जातिस्मरण हो गया। तब उसने इस बात का बहुत पछतावा किया कि हाय! मैं पढ़कर भी मूर्ख बना रहा, जो जैनधर्म से विमुख होकर मैंने पापकर्म बाँधा। उसी का यह फल हैं, जो मुझे मच्छ-शरीर लेना पड़ा। इस प्रकार अपनी निन्दा और अपने पापकर्म की आलोचना कर उसने भक्ति से सम्यक्त्व ग्रहण किया, जो कि सब जीवों का हित करने वाला है। इसके बाद वह जिन भगवान् की आराधना कर पुण्य के उदय से स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। सच है, मनुष्य धर्म की आराधना कर स्वर्ग जाता है और पापी धर्म से उल्टा चलकर दुर्गति में जाता है। पहला सुख भोगता है और दूसरा दुःख उठाता है। यह जानकर बुद्धिमानों को उचित है, उनका कर्तव्य है कि वे जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किए धर्म की भक्ति से अपनी शक्ति के अनुसार आराधना करें, जो कि सब सुखों का देने वाला है ॥५-१०॥

सम्यग्ज्ञान जिसने प्राप्त कर लिया उसकी सारे संसार में कीर्ति होती है, सब प्रकार की उत्तम-उत्तम सम्पदाएँ उसे प्राप्त होती है, शान्ति मिलती है और वह पवित्रता की साक्षात्प्रतिमा बन जाता है। इसलिए भव्यजनों को उचित है कि वे जिन भगवान् के पवित्र ज्ञान को, जो कि देवों और विद्याधरों द्वारा पूजा-माना जाता है, प्राप्त करने का यत्न करें ॥११॥

८९. विनयाख्यानम्

सर्व-देवेन्द्रनागेन्द्र-नरेन्द्राद्यैः समर्चितम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं विनयाख्यानकं शुभम् ॥१॥
वत्सदेशे सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने शुभे। राजाभूद्धनसेनाख्यो विष्णुभक्तो विमुग्धधीः ॥२॥
धनश्रीः श्रीरिवात्यन्तसुन्दरा तस्य कामिनी। श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोजसद्भृङ्गी श्राविकोत्तमा ॥३॥
सुप्रतिष्ठाभिधस्तत्र पुरे भागवतस्तथा। तद्राजाग्रासने भुङ्क्ते भोजनं कुतपोव्रतः ॥४॥
स जलस्तंभिनीविद्या-सामर्थ्येन प्रपंचतः। यमुनाख्यामहानद्यामध्ये जापं करोति च ॥५॥
तत्प्रभावं समालोक्य सर्वे मूढजनास्तदा। संप्राप्ता विस्मयं युक्तं मूढा मूढक्रियारतः ॥६॥
अथ श्रीविजयार्धस्य दक्षिणश्रेणिसंस्थिते। रथनूपुरचक्रादिबालाख्ये पत्तनेऽभवत् ॥७॥
राजा विद्युत्प्रभः ख्यातः श्रावकव्रतमण्डितः। विद्युद्वेगा महाराज्ञी विष्णुभक्ता बभूव च ॥८॥
एकदा तौ विनोदेन कौशाम्बीमागतौ पुरीम्। माघमासे जलस्नानं नद्यां जापं जलोपरि ॥९॥
कुर्वन्तं सुप्रतिष्ठन्तं मिथ्यात्वविषदूषितम्। विद्युद्वेगा विलोक्योच्चै-स्तत्प्रशंसां चकार सा ॥१०॥

---

८९. विनयी पुरुष की कथा

इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर विनयधर्म के पालने वाले मनुष्य की पवित्र कथा लिखी जाती है ॥१॥

वत्सदेश में सुप्रसिद्ध कौशाम्बी के राजा धनसेन वैष्णव धर्म के मानने वाले थे। उनकी रानी धनश्री, जो बहुत सुन्दरी और विदुषी थी, जिनधर्म पालती थी। उसने श्रावकों के व्रत ले रक्खे थे। यहाँ सुप्रतिष्ठ नाम का एक वैष्णव साधु रहता था। राजा इसका बड़ा आदर-सत्कार कराते थे और यही कारण था कि राजा इसे स्वयं ऊँचे आसन पर बैठाकर भोजन कराते थे। इसके पास एक जलस्तंभिनी नाम की विद्या थी। उससे यह बीच यमुना में खड़ा रहकर ईश्वराराधना किया करता था, पर डूबता न था। इसके ऐसे प्रभाव को देखकर मूढ़ लोग बड़े चकित होते थे। सो ठीक ही है मूर्खों को ऐसी मूर्खता की क्रियाएँ पसन्द हुआ ही करती है ॥२-६॥

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में बसे हुए रथनूपुर के राजा विद्युत्प्रभ जैनी थे, श्रावकों के व्रतों के पालने वाले थे और उनकी रानी विद्युद्वेगा वैष्णव धर्म की मानने वाली थी। सो एक दिन ये राजा-रानी प्रकृति की सुन्दरता देखते और अपने मन को बहलाते कौशाम्बी की ओर नदी-किनारे आ गए। वहाँ पहुँच कर देखा कि एक साधु यमुना में खड़ा रहकर तपस्या कर रहा है। विद्युत्प्रभ ने सुप्रतिष्ठ को जल में खड़ा देख उसने जान लिया कि यह मिथ्यादृष्टि है। पर उनकी रानी विद्युद्वेगा ने उस साधु की बहुत प्रशंसा की। विद्युत्प्रभ ने रानी से कहा यह कोई मिथ्यादृष्टि है जो लोगों को ठग रहा है। रानी ने कहा नहीं है एक बड़ा साधु है तब विद्युत्प्रभ ने रानी से कहा-अच्छी बात है, प्रिये, आओ तो मैं तुम्हें जरा इसकी मूर्खता बतलाता हूँ। इसके बाद ये दोनों चाण्डाल का

ततो विद्युत्प्रभः प्राह सुधीर्विद्याधराधिपः। आगच्छतो प्रिये चास्य मूढत्वं दर्शयामि ते ॥११॥
तदा चांडालरूपेण ताभ्यां द्वाभ्यां प्रपञ्चतः। यमुनोपरि गत्वाशु दुष्टकर्मोत्करस्य च ॥१२॥
प्रक्षालनेन तत्सर्वं जलं संदूषितं महत्। ततो रुष्टेन तेनापि प्रोक्त्वा कष्टमिति स्फुटम् ॥१३॥
नद्याश्चोपरि गत्वाशु तथा स्नानादिकं पुनः। प्रारब्धं मूढभावेन किं न कुर्वन्ति देहिनः ॥१४॥
पुनस्ताभ्यां परीक्षार्थं तज्जलं चातिदूषितम्। ततः सोपि प्रकोपेन दूरं गत्वा तथा स्थितः ॥१५॥
एवं ताभ्यां बहून्वारांस्तज्जले दूषिते तराम्। स्नानजापादिकं त्यक्त्वा मोहं प्राप्तः स मूढधीः ॥१६॥
ततस्ताभ्यां वनक्रीडाप्रासादादोलनादिकम्। विद्यया दर्शितं तस्य नभोयानादिकं तथा ॥१७॥
तद्दृष्ट्वा सुप्रतिष्ठोसौ विष्णुभक्तः सुविस्मयात्। अहो विद्याधराणां च देवानामपि नेदृशी ॥१८॥
विद्या संविद्यते यादृक्चाण्डालानां मनोहरा। एषा चेद्वर्त्तते मे च विद्या सर्वप्रवञ्चनम् ॥१९॥
करोमीति हृदि ध्यात्वा समागत्य तदन्तिकम्। संजगादेति भो ब्रूत यूयं कस्मात्समागताः ॥२०॥
महाश्चर्यं प्रकुर्वन्ति भवन्तः कथमीदृशम्। आनन्दो वर्त्तते मेऽत्र भवत्क्रीडासमीक्षणात् ॥२१॥
तच्छ्रुत्वा सोपि मातंगो जगौ भो विष्णुभाक्तिक। नैवं जानासि किं चात्र मातंगोहमिति स्फुटम् ॥२२॥
नमस्कर्त्तुं समायातो गुरोः पादद्वयं मुदा। तुष्टेन गुरुणा मह्यं दत्ता विद्या सुखप्रदा ॥२३॥
तस्याः प्रभावतः सर्वं मयेदं क्रियते ध्रुवम्। तत्समाकर्ण्य तेनोक्तं तदा भागवतेन च ॥२४॥

वेष बना ऊपर किनारे की ओर गए और मरे ढोरों का चमड़ा नदी में धोने लगे। अपने इस निन्द्यकर्म द्वारा इन्होंने जल को अपवित्र कर दिया। उस साधु को यह बहुत बुरा लगा। सो वह इन्हें कुछ कह सुनकर ऊपर की ओर चला गया। वहाँ उसने फिर नहाया धोया। सच है–मूर्खता के वश लोग कौन काम नहीं करते। साधु की यह मूर्खता देखकर ये भी फिर आगे जाकर चमड़ा धोने लगे। इनकी बार–बार यह शैतानी देखकर साधु को बड़ा गुस्सा आया। तब वह और आगे चला गया। इसके पीछे हो ये दोनों भी जाकर फिर अपना काम करने लगे। गर्ज यह कि इन्होंने उस साधु को बहुत ही कष्ट दिया। तब हार खाकर बेचारे को अपना जप–तप, नाम–ध्यान ही छोड़ देना पड़ा। इसके बाद उस साधु को इन्होंने अपनी विद्या के बल से वन में एक बड़ा भारी महल खड़ा कर देना, झूला बनाकर उस पर झूलना आदि अनेक अचम्भे डालने वाली बातें बतलाई उन्हें देखकर सुप्रतिष्ठ साधु बड़ा चकित हुआ। वह मन में सोचने लगा कि जैसी विद्या इन चाण्डालों के पास है ऐसी तो अच्छे–अच्छे विद्याधरों या देवों के पास भी न होगी। यदि यही विद्या मेरे पास भी होती तो मैं भी इनकी तरह बड़ी मौज मारता। अस्तु, देखें, इनके पास जाकर मैं कहूँ कि ये अपनी विद्या मुझे भी दे दें। इसके बाद वह उनके पास आया और उनसे बोला–आप लोग कहाँ से आ रहे हैं? आपके पास तो लोगों को चकित करने वाली बड़ी–बड़ी करामातें हैं। आपका यह विनोद देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उत्तर में विद्युत्प्रभ विद्याधर ने कहा–योगी जी, आप मुझे नहीं जानते कि मैं चाण्डाल हूँ। मैं तो अपने गुरु महाराज के दर्शन के लिए यहाँ आया हुआ था। गुरुजी ने खुश होकर मुझे जो विद्या दी है, उसी के प्रभाव से यह सब कुछ मैं करता हूँ। अब तो साधुजी के मुँह में भी विद्यालाभ के लिए पानी आ

अहो कृपां विधायोच्चैर्मह्यमेषा प्रदीयते। विद्या यया करोम्यत्र सद्विनोदमहं पुनः ॥२५॥
स चाण्डालस्तदा प्राह त्वमुत्तमकुलोद्भवः। वेदवेदाङ्गपारज्ञो न विद्या विनयैर्विना ॥२६॥
विद्युद्वेगस्त्वकं चापि यत्र मां पश्यसि स्फुटम्। तत्राष्टाङ्गनमस्कारं कृत्वा सद्भक्तिनिर्भरः ॥२७॥
भवत्पादप्रसादेन जीवामीति प्रजल्पसि। तदा विद्याप्रसिद्धिस्ते न चेत्सिद्धापि याति सा ॥२८॥
सर्वं करोमि तेनोक्तं यद्भवद्भिः प्रजल्पितम्। ततस्तस्मै निजां विद्यां दत्वासौ स्वगृहं गतः ॥२९॥
सोपि विद्याप्रभावेन कृत्वा चारुविकुर्वणाम्। सिद्धा विद्येति संज्ञात्वा सुप्रतिष्ठाख्यो विष्णुभाक् ॥३०॥
तद्वेलातिक्रमे प्राप्तो भोजनार्थं नृपान्तिकम्। राज्ञा पृष्टः कथं वेलातिक्रमो भगवन्नभूत् ॥३१॥
प्रोक्तं तेन मृषा वाक्यं लम्पटेन कुवादिना। भो नरेन्द्र चिरं चारुतपोमाहात्म्यतोद्य मे ॥३२॥
सर्वे हरिहरब्रह्मा-सुराद्या भक्तिनिर्भराः। मां समभ्यर्च्य योगीन्द्रं स्वस्थानं संययुर्मुदा ॥३३॥
तेन राजन्बृहद्वेला संजातेति तथापरम्। अभूत्प्रभो नभोभागे गमनागमनं च मे ॥३४॥
ततः श्रीधनसेनोसौ भूपतिः प्राह भो द्विज। त्वं प्रभाते महाश्चर्यं सर्वं मे दर्शय ध्रुवम् ॥३५॥
दर्शयिष्यामि चेत्युक्त्वा स कृत्वा भोजनं गतः। प्रभाते मठिकायां च राजादीनां मनोहरम् ॥३६॥

गया। उन्होंने तब उस चाण्डाल रूपधारी विद्याधर से कहा–तो क्या कृपा करके आप मुझे भी यह विद्या दे सकते हैं, जिससे कि मैं भी फिर आपकी तरह खुशी मनाया करूँ। उत्तर में विद्याधर ने कहा–भाई, विद्या के देने में तो मुझे कोई हर्ज मालूम नहीं होता, पर बात यह है कि मैं ठहरा चाण्डाल और आप वेद–वेदांग के पढ़े हुए एक उत्तम कुल के मनुष्य, तब आपका मेरा गुरु–शिष्य भाव नहीं बना सकता और ऐसी हालत में आपसे मेरा विनय भी न हो सकेगा और बिना विनय के विद्या आ नहीं सकती। हाँ यदि आप यह स्वीकार करें कि जहाँ मुझे देख पावें वहाँ मेरे पाँवों में पड़कर बड़ी भक्ति के साथ यह कहें कि प्रभो, आप ही की चरणकृपा से मैं जीता हूँ तब तो मैं आपको विद्या दे सकता हूँ और तभी विद्या सिद्ध हो सकती है। बिना ऐसा किए सिद्ध हुई विद्या भी नष्ट हो जाती है। उसने यह सब बातें स्वीकार कर लीं। तब विद्युत्प्रभ विद्याधर इसे विद्या देकर अपने घर चला गया ॥७–२९॥

इधर सुप्रतिष्ठ साधु को जैसे ही विद्या सिद्ध हुई, उसने उन सब लीलाओं को करना शुरू किया जिन्हें कि विद्याधर ने किया था। सब बातें वैसी ही हुई देखकर सुप्रतिष्ठ बड़ा खुश हुआ। उसे विश्वास हो गया कि अब मुझे विद्या सिद्ध हो गई। इसके बाद वह भोजन के लिए राजमहल आया। उसे देर से आया हुआ देखकर राजा ने पूछा–भगवन् आज आपको बड़ी देर लगी? मैं बड़ी देर से आपका रास्ता देख रहा हूँ। उत्तर में सुप्रतिष्ठ ने मायाचारी से झूठ–मूठ ही कह दिया कि राजन्, आज मेरी तपस्या के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सब देव आए थे। ये बड़ी भक्ति से मेरी पूजा करके अभी गए हैं। यही कारण मुझे देरी लगी और राजन् एक बात नई यह हुई कि मैं अब आकाश में ही चलने–फिरने लग गया। सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही में यह सब कौतुक देखने की उसकी मंशा हुई। उसने तब सुप्रतिष्ठ से कहा–अच्छा तो महाराज, अब आप आइए और भोजन कीजिए क्योंकि बहुत देर हो चुकी है। आप वह सब कौतुक मुझे बतलाइएगा। सुप्रतिष्ठ 'अच्छी बात

दर्शयत्येव ब्रह्मादिरूपं यावत्कृतोद्यमः। तावच्चण्डालरूपेण तत्रायातौ च तौ पुनः ॥३७॥
तदा दृष्ट्वा वदत्सोपि मातंगौ दुष्टचेष्टितौ। कस्मादिमौ समायातौ नष्टा विद्येति जल्पनात् ॥३८॥
किं कारणं नृपः प्राह भगवन्ब्रूहि मे स्फुटम्। प्रोक्तं तेन यथार्थं च श्रुत्वा सोपि महीपतिः ॥३९॥
तौ प्रणम्य लसद्भक्त्या चण्डालौ पूर्वयुक्तितः। ततो विद्यां समादाय तां परीक्ष्य प्रहर्षतः ॥४०॥
सम्प्राप्तः स्वगृहं शीघ्रं विद्यालाभो हि शर्मदः। येन जन्तुर्भवत्येव नित्यं सत्सौख्यभाजनम् ॥४१॥
अन्यदा स्वसभामध्ये विष्टरस्थो महीपतिः। तं चाण्डालं समायातं दृष्ट्वा भक्तिनिर्भरः ॥४२॥
सम्प्रणम्य जगादोच्चैर्भो स्वामिंस्त्वत्प्रसादतः। जीवामीति ततः सोपि विद्युत्प्रभखगाधिपः ॥४३॥
विलोक्य विनयं तस्य सुधीः संतुष्टमानसः। स्वरूपं प्रकटीकृत्य तस्मै भूपाय शर्मदाम् ॥४४॥
दत्वा विद्यां तथान्यां च सम्प्राप्तो निजमन्दिरम्। गुरूणां विनयेनोच्चैः किं न जायेत सुन्दरम् ॥४५॥

है' कहकर भोजन के लिए चला आया ॥३०-३६॥

दूसरे दिन सबेरा होते ही राजा और उसके अमीर-उमराव वगैरह सभी सुप्रतिष्ठ साधु के मठ में उपस्थित हुए। दर्शकों का भी ठाठ लग गया। सबकी आँखें और मन साधु की ओर जा लगे कि वह अपना नया चमत्कार बतलावें। सुप्रतिष्ठ साधु भी अपनी करामात बतलाने को आरंभ करने वाला ही था कि इतने में वह विद्युत्प्रभ विद्याधर और उसकी स्त्री उसी चाण्डाल वेष में वहीं आ धमके। सुप्रतिष्ठ के देवता उन्हें देखते ही कूँच कर गए। ऐसे समय उनके आ जाने से इसे उन पर बड़ी घृणा हुई उसने मन ही मन घृणा के साथ कहा-ये दुष्ट इस समय क्यों चले आये। उसका यह कहना था कि उसकी विद्या नष्ट हो गई। वह राजा वगैरह को अब कुछ भी चमत्कार न बतला सका और बड़ा शर्मिन्दा हुआ। तब राजा ने ''ऐसा एक साथ क्यों हुआ'', इसका सब कारण सुप्रतिष्ठ से पूछा। झक मारकर फिर उसे सब बातें राजा से कह देनी पड़ीं ॥३७-३९॥

सुनकर राजा ने उन चाण्डालों को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया। राजा की यह भक्ति देखकर उन्होंने वह विद्या राजा को दे दी। राजा उसकी परीक्षा कर बड़ी प्रसन्नता से अपने महल लौट गया। सो ठीक ही है विद्या का लाभ सभी को सुख देने वाला होता है ॥४०-४१॥

राजा की भी परीक्षा का समय आया। विद्या प्राप्ति के कुछ दिनों बाद एक दिन राजा राज-दरबार में सिंहासन पर बैठा हुआ था। राजसभा सब अमीरों-उमरावों से ठसा-ठस भरी हुई थी। इसी समय राजगुरु चाण्डाल वहाँ आया, जिसने कि राजा को विद्या दी थी। राजा उसे देखते ही बड़ी भक्ति से सिंहासन पर से उठा और उसके सत्कार के लिए कुछ आगे बढ़कर उसने उसे नमस्कार किया और कहा-प्रभो, आप ही के चरणों की कृपा से मैं जीता हूँ। राजा की ऐसी भक्ति और विनयशीलता देखकर विद्युत्प्रभ बड़ा खुश हुआ। उसने तब अपना खास रूप प्रकट किया और राजा को और भी कई विद्याएँ देकर वह अपने घर चला गया। सच है, गुरुओं के विनय से लोगों को सभी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त होती है। इस आश्चर्य को देखकर धनसेन, विद्युद्वेगा तथा और भी बहुत

तदाश्चर्यं समालोक्य स राजा धनसेनवाक्। विद्युद्वेगा तथान्ये च संजाताः श्रावकोत्तमाः ॥४६॥
अन्यैश्चापि महाभव्यैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदः। गुरूणां विनयः कार्यो विशुद्धपरिणामतः ॥४७॥
सर्वकार्यप्रसिद्धिं च या करोति क्षणार्द्धतः। अस्तु सा सद्गुरोर्भक्तिः क्रियासन्दोहभूषणम् ॥४८॥
वन्द्यते स गुरुनित्यं यः संसारमहार्णवम्। स्वयं तरति पूतात्मा भव्यानां तारणक्षमः ॥४९॥

यस्य श्रीजिनपादपद्मयुगले देवेन्द्रचन्द्रार्चिते
शास्त्रे सद्विनयस्तथा मुनिजने जैने सदा तिष्ठति।
तस्य श्रीजयकीर्तिकान्तविलसद्बोधादयः सद्गुणाः
प्रीत्यां पार्श्वनिवासिनोतिनितरां तिष्ठन्ति शर्मप्रदाः ॥५०॥

इति कथाकोशे विनयाख्यानं समाप्तम्।

९०. अवग्रहाख्यानम्

पादपद्मद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभप्रदम्। उपधानकथा वक्ष्ये यतः सौख्यं भजाम्यहम् ॥१॥
अहिच्छत्रपुरे राजा वसुपालो विचक्षणः। श्रीमज्जैनमते भक्तो वसुमत्याभिधा प्रिया ॥२॥

से लोगों ने श्रावक-व्रत स्वीकार किए। विनय का इस प्रकार फल देखकर अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे गुरुओं का विनय, भक्ति निर्मल भावों से करें ॥४२-४७॥

जो गुरुभक्ति क्षण मात्र में कठिन से कठिन काम को पूरा कर देती है वही भक्ति मेरी सब क्रियाओं की भूषण बने। मैं उन गुरुओं को नमस्कार करता हूँ कि जो संसार-समुद्र से स्वयं तैरकर पार होते हैं और साथ ही और भव्यजनों को पार करते हैं ॥४८-४९॥

जिनके चरणों की पूजा देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े महापुरुष करते है उन जिन भगवान् का, उनके रचे पवित्र शास्त्रों का और उनके बताये मार्ग पर चलने वाले मुनिराजों का जो हृदय से विनय करते हैं, उनकी भक्ति करते है उनके पास कीर्ति, सुन्दरता, उदारता, सुख-सम्पत्ति और ज्ञान-आदि पवित्र गुण अत्यन्त पड़ोसी होकर रहते हैं अर्थात् विनय के फल से उन्हें सब गुण होते हैं ॥५०॥

९०. अवग्रह-नियम लेने वाले की कथा

पुण्य के कारण जिन भगवान् के चरणों को नमस्कार कर उपधान अवग्रह की अर्थात् वह काम जब तक न होगा तब तक मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ, इस प्रकार का नियम कर जिसने फल प्राप्त किया, उसकी कथा लिखी जाती है, जो सुख को देने वाली है ॥१॥

अहिच्छत्रपुर के राजा वसुपाल बड़े बुद्धिमान् थे। जैनधर्म पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। उनकी रानी का नाम वसुमती था। वसुमती भी अपने स्वामी के अनुरूप बुद्धिमती और धर्म पर प्रेम करने वाली थी। वसुपाल ने एक बड़ा ही विशाल और सुन्दर 'सहस्त्रकूट' नाम का जिनमन्दिर बनवाया।

तेन श्रीवसुपालेन कारिते भुवनोत्तमे। लसत्सहस्त्रकूटे श्री-जिनेन्द्रभवने शुभे ॥३॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य प्रतिमा पापनाशिनी। तत्रास्ते चैकदा तस्यां भूपतेर्वचनेन च ॥४॥
दिने लेपं ददात्युच्चैर्लेपकाराः कलान्विताः। मांसादिसेविनस्ते तु ततो रात्रौ स लेपकः ॥५॥
पतत्येव क्षितौ शीघ्रं कदर्थ्यन्ते च तेखिलाः। एवं च कतिचिद्वारैः खेदक्षुण्णे नृपादिके ॥६॥
तदैकेन परिज्ञात्वा लेपकारेण धीमता। देवताधिष्ठितां दिव्यां जिनेन्द्रप्रतिमां हिताम् ॥७॥
कार्यसिद्धिर्भवेद्यावत्तावत्कालं सुनिश्चितम्। अवग्रहं समादाय मांसादेर्मुनिपार्श्वतः॥८॥
तस्यां लेपः कृतस्तेन स लेपः संस्थितस्तदा। कार्यसिद्धिर्भवत्येवं प्राणिनां व्रतशालिनाम्॥९॥
तदासौ वसुपालेन भूभुजा परया मुदा। नानावस्त्रसुवर्णाद्यैः पूजितो लेपकारकः ॥१०॥
तथा कार्यप्रसिद्ध्यर्थं भक्त्या ज्ञानादिकर्मणि। अवग्रहः प्रकर्त्तव्यो मुन्यादिबुधसत्तमैः ॥११॥

जिनपतिकथितोसौ बोधसिन्धुः प्रयुक्त्या विशदतरमुनीन्द्रैः सेवितः शर्महेतुः।
सुरनरखचरेन्द्रैः पूजितो भक्तिसांद्रैः स भवतु मम नित्यं केवलज्ञानकर्त्ता ॥१२॥

इति कथाकोशे अवग्रहाख्यानं समाप्तम्।

उसमें उन्होंने श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा विराजमान की। राजा ने प्रतिमा पर लेप चढ़ाने को एक अच्छे होशियार लेपकार को बुलाया और प्रतिमा पर लेप चढ़ाने को उससे कहा। राजाज्ञा पाकर लेपकार ने प्रतिमा पर बहुत सुन्दरता से लेप चढ़ाया। पर रात होने पर वह लेप प्रतिमा पर से गिर पड़ा। दूसरे दिन फिर ऐसा ही किया गया। रात में वह लेप भी गिर पड़ा। गर्ज यह कि वह दिन में लेप लगाता और रात में वह लेप गिर पड़ता। इस तरह उसे कई दिन बीत गए। ऐसा क्यों होता है, इसका उसे कुछ भी कारण न जान पड़ा। उससे वह तथा राजा वगैरह बड़े दुःखी हुए। बात असल में यह थी कि वह लेपकार मांस खाने वाला था। इसलिए उसकी अपवित्रता से प्रतिमा पर लेप न ठहरता था। तब उस लेपकार को एक मुनि द्वारा ज्ञान हुआ कि प्रतिमा अतिशय वाली है, कोई शासनदेवी या देव उसकी रक्षा में सदा नियुक्त रहते हैं। इसलिए जब तक यह कार्य पूरा हो तब तक मुझे मांस के न खाने का व्रत लेना चाहिए। लेपकार ने वैसा ही किया, मुनिराज के पास उसने मांस न खाने का नियम ले लिया। इसके बाद जब उसने दूसरे दिन लेप किया तो अब की बार वह ठहर गया। सच है, व्रती पुरुषों के कार्य की सिद्धि होती ही है। तब राजा ने अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण देकर लेपकार का बड़ा आदर-सत्कार किया। जिस तरह इस लेपकार ने अपने कार्य की सिद्धि के लिए नियम किया उसी प्रकार और लोगों को तथा मुनियों को भी ज्ञान प्रचार, शासन-प्रभावना आदि कामों में अवग्रह या प्रतिज्ञा करना चाहिए ॥२-११॥

वह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश किया ज्ञानरूपी समुद्र मुझे भी केवलज्ञानी-सर्वज्ञ बनावें, जो अत्यन्त पवित्र साधुओं द्वारा आत्म-सुख की प्राप्ति के लिए सेवन किया जाता है और देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े महापुरुष जिसे भक्ति से पूजते हैं ॥१२॥

९१. अभिमानस्याख्यानम्

विशुद्धकेवलज्ञानं नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरम्। बहुमानकथां वच्मि सारशर्मप्रदायिनीं ॥१॥
काशीदेशे सुविख्याते जातो वाराणसीपुरे। राजा वृषध्वजो धीमान्स्वप्रजाप्रतिपालकः ॥२॥
वसुमत्यभिधा तस्य महादेवी बभूव च। रूपलावण्यसौभाग्यमण्डिता पूर्वपुण्यतः ॥३॥
तथा गंगानदीतीरे पलासग्रामवासकः। नाम्नाशोकोभवद्धीमान्महागोकुलिकस्तदा ॥४॥
ददात्यसौ नरेन्द्राय तस्मै संवत्सरं प्रति। सद्घृतैः पूर्णकुंभानां सहस्रं करमुत्तमम् ॥५॥
तस्य भार्याभवन्नन्दा सती वन्ध्या स्वकर्मतः। साशोकाय सुधीर्भार्या रोचते नैव मानसे ॥६॥
रूपशीलादियुक्तापि कामिनी पुत्रवर्जिता। पुंसश्चित्ते समायाति नैव वल्लीव निष्फला ॥७॥
अशोकस्तु तदा सोपि सुधीर्गोकुलिको महान्। पुत्रार्थं कामिनीमन्यां सुनन्दां परिणीतवान् ॥८॥
तयोश्च कलहे जाते स्त्रियोस्तेन च धीमता। अर्द्धमर्द्धं विधायोच्चैर्दत्तं सर्वं गृहादिकम् ॥९॥
नन्दा नित्यं विशुद्ध्यादि-भाजनादिप्रयत्नकम्। दानमानादिसत्पूजां गोपालानां विधाय च ॥१०॥

---

९१. अभिमान करने वाली की कथा

निर्मल केवलज्ञान धारी जिन भगवान् को नमस्कार का मान करने से बुरा फल प्राप्त करने वाले की कथा लिखी जाती है। इस कथा को सुनकर जो लोग मान के छोड़ने का यत्न करेंगे वे सुख लाभ करेंगे ॥१॥

बनारस के राजा वृषध्वज प्रजा का हित चाहने वाले और बड़े बुद्धिमान् थे। इनकी रानी का नाम वसुमती था। वसुमती बड़ी सुन्दर थी। राजा का उस पर अत्यन्त प्रेम था ॥२-३॥

गंगा के किनारे पर पलास नाम का एक गाँव बसा हुआ था। उसमें अशोक नाम का एक ग्वाला रहता था। वह ग्वाला राजा को गाँव के लगान में कोई एक हजार घी के भरे घड़े दिया करता था। उसकी स्त्री नन्दा पर इसका प्रेम न था। इसलिए कि वह बाँझ थी और यह सच है, सुन्दर या गुणवान् स्त्री भी बिना पुत्र के शोभा नहीं पाती है और न उस पर पति का पूरा प्रेम होता है। वह फल रहित लता की तरह निष्फल समझी जाती है। अपनी पहली स्त्री को निःसन्तान देखकर अशोक ग्वाले ने एक और ब्याह कर लिया। इस नई स्त्री का नाम सुनन्दा था। कुछ दिनों तक तो इन दोनों सौतों में लोक-लाज से पटती रही, पर जब बहुत ही लड़ाई-झगड़ा होने लगा तब अशोक ने इनसे तंग आकर अपनी जितनी धन-सम्पत्ति थी उसे दोनों के लिए आधी-आधी बाँट दिया। नन्दा को अलग घर में रहना पड़ा और सुनन्दा अशोक के पास ही रही। नन्दा में एक बात बड़ी अच्छी थीं वह एक तो समझदार थी। दूसरे वह अपने दूध दुहने के लिए बरतन वगैरह को बड़ा साफ रखती। उसे सफाई बड़ी पसन्द थी। इसके सिवा वह अपने नौकर ग्वाले पर बड़ा प्रेम करती। उन्हें अपना नौकर न समझ अपने कुटुम्ब की तरह मानती। वह उनका बड़ा आदर-सत्कार करती। उन्हें हर एक त्यौहारों के मौकों पर दान-मानादि से बड़ा

घृतकुंभसहस्त्रार्द्धं कृत्वा संवत्सरं प्रति। ददाति स्म स्वनाथाय राजदेयं गुणोज्ज्वला ॥११॥
सुनन्दा च स्वरूपादि-महागर्वेण दूषिता। गोपालानां कुधीः पूजां नैव यत्नं करोति च ॥१२॥
तस्या गोपालकाः सर्वे स्वयं दुग्धं पिबन्ति च। तस्मात्तस्य घृतं जातं प्रमादादतितुच्छकम् ॥१३॥
नन्दयान्यघृतं चापि दत्तं गोकुलिकेन तु। निर्घाटिता सुनन्दा सा सौभाग्येन प्रगर्विता ॥१४॥
नन्दा नन्दप्रदा सा च स्वपुण्येन तदा सती। स्वगेहे सर्ववित्तादौ सुप्रधानाभवच्छुभा ॥१५॥
एवं मुन्यादिभिर्जैनधर्मकर्मणि शर्मदम्। पूजादानादिकं कार्यं नित्यं सद्बोधसिद्धये ॥१६॥
श्रीमज्जैनपदाम्बुजेऽत्र नितरां स्वर्मोक्षसौख्यप्रदे शास्त्रे श्रीजिनभाषिते शुभतरे धर्मे गुरौ सज्जने।
ये यच्छन्ति विशुद्धभक्तिभरतः सद्भूरिमानादिकं तेषां सारयशः सुबोधविलसच्छ्रीशर्म नित्यं भवेत् ॥१७॥
इति कथाकोशे बहुमानाख्यानं समाप्तम्।

खुश रखती। इसलिए वे ग्वाले लोग भी उसे बहुत चाहते थे और उनके कामों को अपना ही समझ कर किया करते थे। जब वर्ष पूरा होता तो नन्दा राज लगान के हजार घी के घड़ों से अपना आधा हिस्सा पाँच सौ घड़े अपने स्वामी को प्रतिवर्ष दे दिया करती थी। पर सुनन्दा में ये सब बातें न थीं। उसे अपनी सुन्दरता का बड़ा अभिमान था। इसके सिवा यह बड़ी शौकीन थी। साज-सिंगार में ही उसका सब समय चला जाता था। वह अपने हाथों से कोई काम करना पसन्द न करती थी। सब नौकर-चाकरों द्वारा ही होता था। इस पर भी उसका अपने नौकरों के साथ अच्छा बरताव न था। सदा उनके साथ वह माथा-फोड़ी किया करती थी। किसी का अपमान करती, किसी को गालियाँ देती और किसी को भला-बुरा कहकर झिटकारती। न वह उन्हें कभी त्यौहारों पर कुछ देकर प्रसन्न करती। गर्ज यह कि सब नौकर-चाकर उससे प्रसन्न न थे। जहाँ तक उनका बस चलता वे भी सुनन्दा को हानि पहुँचाने का यत्न करते थे। यहाँ तक कि वे जो गायों को चराने जंगल में ले जाते, वहाँ उनका दूध दुह कर पी लिया करते थे। इससे सुनन्दा के यहाँ पहले वर्ष में ही घी बहुत थोड़ा हुआ। वह राज लगान का अपना आधा हिस्सा भी न दे सकी। उसके इस आधे हिस्से को भी बेचारी नन्दा ने ही चुकाया। सुनन्दा की यह दशा देख कर अशोक ने घर से निकाल बाहर की। नन्दा को अपना गया अधिकार प्राप्त हुआ। पुण्य से वह अशोक की प्रेमपात्र हुई। घर बार, धन-दौलत की वह मालकिन हुई जिस प्रकार नन्दा अपने घर गृहस्थी के कामों को अच्छी तरह चलाने के लिए सदा दान-मानादि किया करती उसी प्रकार अपने पारमार्थिक कामों के लिए भव्यजनों को भी अभिमान रहित होकर जैनधर्म की उन्नति के कार्यों में दान-मानादि करते रहना चाहिए। उससे वे सुखी होंगे और सम्यग्ज्ञान लाभ करेंगे। जो स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाले जिन भगवान् को बड़ी भक्ति से पूजा-प्रभावना करते हैं, भगवान् के उपदेश किए शास्त्रों के अनुसार चल उनका सत्कार करते हैं, पवित्र जैनधर्म पर श्रद्धा-विश्वास करते हैं और सज्जन धर्मात्माओं का आदर सत्कार करते हैं वे संसार में सर्वोच्च यश लाभ करते हैं और अन्त में कर्मों का नाश कर परम पवित्र केवलज्ञान-कभी नाश न होने वाला सुख प्राप्त करते हैं ॥४-१७॥

९२. अनिह्नवाख्यानम्

यस्य सत्केवलज्ञाने भाति विश्वमणूपमम्। तं जिनेन्द्रं प्रणम्योच्चै-रनिह्नवकथां ब्रुवे ॥१॥
अवन्तिविषये श्रीमानुज्जयिन्यां विचक्षणः। राजाभूद्धृतिषेणाख्यस्तद्राज्ञी मलयावती ॥२॥
चण्डप्रद्योतनः पुत्रस्तयोर्जातो गुणोज्ज्वलः। रूपलावण्यसौभाग्यमण्डितः पूर्वपुण्यतः ॥३॥
दक्षिणादिपथे वेनातटाख्ये नगरे तथा। ब्राह्मणः सोमशर्माभूत्सोमाख्या ब्राह्मणी तयोः ॥४॥
सुपुत्रः कालसंदीवः सर्वविद्याविराजितः। उज्जयिन्यां समागत्य स श्रीसोमसुतो महान् ॥५॥
चण्डप्रद्योतनं चारुलिपीश्चाष्टादशोत्तमाः। पाठयामास पूतात्मा कालसंदीववाक् सुधीः ॥६॥
एकां म्लेच्छलिपिं तेन तं सुपाठयता तथा। कूटं पठन्प्रभोः पुत्रो हतः पादेन सोवदत् ॥७॥
यदाहं संभविष्यामि भूपतिस्तु तदा तव। पादं संखण्डयिष्यामि युक्तं स्वल्पमतिः शिशुः ॥८॥
ततस्तं पाठयित्वासौ कालसंदीवको द्विजः। गत्वा दक्षिणदेशं च मुनिर्जातो गुणोज्ज्वलः ॥९॥

---

९२. निह्नव-असल बात को छुपाने वाले की कथा

जिनके सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान में यह सारा संसार परमाणु के समान देख पड़ता है, उन सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार कर निह्नव-जिस प्रकार जो बात हो उसे उसी प्रकार न कहना, उसे छुपाना, इस सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है ॥१-२॥

उज्जैन के राजा धृतिषेण की रानी मलयावती के चण्डप्रद्योत नाम का एक पुत्र था। वह जैसा सुन्दर था वैसा ही गुणवान् भी था। पुण्य के उदय से उसे सभी सुख सामग्री प्राप्त थी ॥३॥

एक बार दक्षिण देश के वेनातट नगर में रहने वाले सोमशर्मा ब्राह्मण का कालसंदीव नाम का विद्वान् पुत्र उज्जैन में आया। वह कई भाषाओं का जानने वाला था। इसलिए धृतिषेण ने चण्डप्रद्योत को पढ़ाने के लिए उसे रख लिया। कालसंदीव ने चण्डप्रद्योत को कई भाषाओं का ज्ञान कराने के बाद एक म्लेच्छ-अनार्यभाषा को पढ़ाना शुरू किया। इस भाषा का उच्चारण बड़ा ही कठिन था। राजकुमार को उसके पढ़ने में बहुत दिक्कत पड़ा करती थी। एक दिन कोई ऐसा ही पाठ आया, जिसका उच्चारण बहुत क्लिष्ट था। राजकुमार से उसका ठीक-ठीक उच्चारण न बन सका। कालसन्दीव ने उसे शुद्ध उच्चारण कराने की बहुत कोशिश की, पर उसे सफलता प्राप्त न हुई इससे कालसन्दीव को कुछ गुस्सा आ गया। गुस्से में आकर उसने राजकुमार के एक लात मार दी। चण्डप्रद्योत था तो राजकुमार ही सो उसका भी कुछ मिजाज बिगड़ गया। उसने अपने गुरु महाराज से तब कहा-अच्छा महाराज, आपने जो मुझे मारा हैं, मैं भी इसका बदला लिए बिना न छोड़ूँगा। मुझे आप राजा होने दीजिये, फिर देखिएगा कि मैं भी आपके इसी पाँव को काटकर ही रहूँगा। सच है, बालक कम-बुद्धि हुआ ही करते हैं। कालसन्दीव कुछ दिनों तक और यहाँ रहा, फिर वह यहाँ से दक्षिण की ओर चला गया। उधर कालसन्दीव को एक दिन किसी मुनि का उपदेश सुनने का मौका मिला। उपदेश सुनकर उसे बड़ा वैराग्य हुआ। वह मुनि हो गया ॥४-९॥

सोपि श्रीधृतिषेणाख्यो राजा श्रीजिनभक्तिभाक्। चण्डप्रद्योतनायोच्चैर्दत्वा राज्यं तपोगृहीत् ॥१०॥
एकदा तस्य भूपस्य चण्डप्रद्योतनस्य हि। लेखः संप्रेषितो म्लेच्छराजनोच्चैः स्वकार्यतः ॥११॥
केनापि वाचितो नैव स लेखस्तु ततो नृपः। स्वयं वाचयति स्मोच्चैस्तं लेखं तुष्टमानसः ॥१२॥
स्मृत्वासौ सद्गुरुं चित्ते तं समानीय भक्तितः। पूजयामास शुद्धात्मा तत्पदाम्बुजमद्भुतम् ॥१३॥
भवन्ति सद्गुरोर्वाचो भव्यानां शर्मदायकाः। यथा चौषधयोजन्तोर्भवेयुश्चारुसौख्यदाः ॥१४॥
सोपि श्रीकालसंदीवो मुनिः श्रीजिनसूत्रवित्। कस्मैचिच्छ्वेतसंदीवनाम्ने दीक्षां जिनोदिताम् ॥१५॥
दत्वा कुर्वन्विहारं च भव्यान्सम्बोधयन्सुधीः। श्रीमद्वीरजिनेन्द्रस्य विपुलाख्यगिरौ स्थिताम् ॥१६॥
समवादिसृतिं प्राप्तो महाशर्मविधायिनीम्। कृत्वा तद्वन्दनां भक्त्या संस्थितो विमलाशयः ॥१७॥
श्वेतसंदीवकश्चापि नूतनो मुनिसत्तमः। समवादिसृतेर्बाह्ये योगे स्वातापने स्थितः ॥१८॥
निर्गच्छता तदा श्रीमच्छ्रेणिकेन महीभुजा। दृष्टः कस्ते गुरुश्चेति संपृष्टोसौ सुभक्तितः ॥१९॥

इधर धृतिषेण राजा भी चण्डप्रद्योत को सब राज-काज सौंपकर साधु बन गया। राज्य की बागडोर चण्डप्रद्योत के हाथ में आयी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चण्डप्रद्योत ने भी राज्य शासन बड़ी नीति के साथ चलाया। प्रजा के हित के लिए उसने कोई बात उठा न रखी ॥१०॥

एक दिन चण्डप्रद्योत पर एक यवनराज का पत्र आया। भाषा उसकी अनार्य थी। उस पत्र को कोई राजकर्मचारी न बाँच सका। तब राजा ने उसे देखा तो वह उससे बच गया। पत्र पढ़कर राजा की अपने गुरु कालसन्दीव पर बड़ी भक्ति हो गई। उसने बचपन की अपनी प्रतिज्ञा को उसी समय भुला दिया। इसके बाद राजा ने कालसन्दीव का पता-लगाकर उन्हें अपने शहर बुलाया और बड़ी भक्ति से उनके चरणों की पूजा की। सच है, गुरुओं के वचन भव्यजनों को उसी तरह सुख देने वाले होते हैं जैसे रोगी को औषधि ॥११-१४॥

कालसन्दीव मुनि यहाँ श्वेतसन्दीव नाम के किसी एक भव्य को दीक्षा देकर फिर बिहार कर गए। मार्ग में पड़ने वाले शहरों और गाँवों में उपदेश करते हुए वे विपुलाचल पर महावीर भगवान् के समवसरण में गए, जो कि बड़ी शान्ति देने वाला था। भगवान् के दर्शन कर उन्हें बहुत शान्ति मिली। वन्दना कर भगवान् का उपदेश सुनने के लिए वे वहीं बैठ गए ॥१५-१७॥

श्वेतसन्दीव मुनि भी इन्हीं के साथ थे। वे आकर समवसरण के बाहर आतापन योग द्वारा तप करने लगे। भगवान् के दर्शन कर जब महामण्डलेश्वर श्रेणिक जाने लगे तब उन्होंने श्वेतसन्दीव मुनि को देखकर पूछा-आपके गुरु कौन है; किनसे आपने यह दीक्षा ग्रहण की? उत्तर में श्वेतसंदीव मुनि ने कहा-राजन्, मेरे गुरु श्रीवर्धमान भगवान् है। इतना कहना था कि उनका सारा शरीर काला पड़ गया। यह देख श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने जाकर गणधर भगवान् से इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा-श्वेतसन्दीव के असल गुरु हैं कालसंदीव, जो कि यहीं बैठे हुए हैं। उनका इन्होंने निह्नव किया-सच्ची बात न बतलाई इसलिए उनका शरीर काला पड़ गया है। तब श्रेणिक ने श्वेतसंदीव को समझा कर उनकी गलती उन्हें सुझाई और कहा-महाराज, आपकी अवस्था के

स च प्राह मुनिः श्रीमद्वर्द्धमानो गुरुर्मम। इत्युक्ते पाण्डुरं तस्य शरीरं कृष्णतामितम् ॥२०॥
ततो व्याघुटितः श्रीमाञ्छ्रेणिको गौतमं मुनिम्। तच्छरीरस्य कृष्णत्वकारणं पृष्टवान्नृपः ॥२१॥
तेनोक्तं ज्ञानिना भूप स्वगुरोर्निह्नवाद्ध्रुवम्। तत्कायः कृष्णवर्णोभूत्तत्समाकर्ण्य धीमता ॥२२॥
शीघ्रं पश्चात्समागत्य तत्समीपं महीभुजा। श्रेणिकेन शुभैर्वाक्यैर्भक्त्या सम्बोधितः स च ॥२३॥
ततोऽसौ श्वेतसंदीवो मुनिः कृत्वा स्वनिन्दनम्। शुक्लध्यानेन संहत्वा घातिकर्मचतुष्टयम् ॥२४॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य लोकालोकप्रकाशकम्। पूजितस्त्रिजगद्भव्यैः संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥२५॥
ततो भव्यैर्न कर्त्तव्यो निह्नवः स्वगुरोः कदा। समाराध्यो गुरुर्यस्मात्स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ॥२६॥
स श्रीकेवललोचनोतिचतुरो भव्यौघसम्बोधको देवेन्द्रादिनरेन्द्रखेचरशतैर्भक्त्या सदाभ्यर्चितः।
व्यक्तानन्तचतुष्टयो गुणनिधिः श्रीश्वेतसंदीववाक् कुर्यान्मे भवशान्तिमक्षयसुखं शीघ्रं जिनः शर्मदम् ॥२७॥

इति कथाकोशे निह्नवाख्यानं समाप्तम्।

९३. व्यञ्जनहीनाख्यानम्

नत्वा श्रीमज्जिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयं मुदा। वक्ष्ये व्यंजनहीनस्य कथां सम्बोधहेतवे ॥१॥
देशे मगधसंज्ञेऽभूत्पुरे राजगृहे सुधीः। वीरसेनो महाराजो वीरसेना प्रिया तयोः ॥२॥

योग्य ऐसी बातें नहीं हैं ऐसी बातों से पाप बन्ध होता है इसलिए आगे से आप कभी ऐसा न करेंगे, यह मेरी आपसे प्रार्थना है। श्रेणिक की इस शिक्षा का श्वेतसंदीव मुनि के चित्त पर बड़ा गहरा असर पड़ा। वे अपनी भूल पर बहुत पछताये। इस आलोचना से उनके परिणाम बहुत उन्नत हुए। यहाँ तक कि उसी समय शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का नाश कर लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया। वे सारे संसार द्वारा अब पूजे जाने लगे। अन्त में अघातिया कर्मों को नष्ट कर उन्होंने मोक्ष का अनन्त सुख लाभ किया। श्वेतसंदीव मुनि के इस वृत्तान्त से भव्यजनों को शिक्षा लेनी चाहिए कि वे अपने गुरु आदि का निह्नव न करें क्योंकि गुरु स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले हैं, इसलिए सेवा करने योग्य हैं ॥१८-२६॥

वे श्रीश्वेतसंदीव मुनि मेरे बढ़ते हुए संसार की-भव-भ्रमण की शान्ति कर-मेरा संसार का भटकना मिटाकर मुझे कभी नाश न होने वाला और अन्त मोक्ष-सुख दें, जो केवलज्ञानरूपी अपूर्व नेत्र के धारक हैं, भव्यजनों को हित की ओर लगाने वाले हैं, देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों द्वारा पूज्य है और अनन्तचतुष्टय-अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त हैं तथा और भी अनन्त गुणों के समुद्र हैं ॥२७॥

९३. अक्षरहीन अर्थ की कथा

जिन भगवान् के चरणों को नमस्कार कर अक्षरहीन अर्थ की कथा लिखी जाती है। मगधदेश की राजधानी राजगृह के राजा जब वीरसेन थे, उसी समय की यह कथा है। वीरसेन की रानी का नाम वीरसेना था। इनके एक पुत्र हुआ, उसका नाम रखा गया सिंह। सिंह को पढ़ाने के लिए वीरसेन

सिंहनामा सुतो जातस्तस्योपाध्यायकोभवत्। सोमशर्मा सुधीः सर्वशास्त्रव्याख्याविचक्षणः ॥३॥
सुरम्यविषये ख्याते पोदनादिपुरे तथा। राजा सिंहरथस्तस्योपरि प्राप्तेन वैरिणा ॥४॥
वीरसेनेन भूभर्त्ता पोदनाख्यपुरात्तदा। सिंहोध्यापयितव्योसौ सुलेखः प्रेषितो गृहम् ॥५॥
सिंहोध्यापयितव्यः स शब्दस्यैव विचारणे। 'ध्यै' स्मृतीति प्रचिन्ताया-मस्यधातोः प्रयोगकम् ॥६॥
ज्ञात्वा कारयितव्यस्तु चिन्तां राज्यादिके सुतः। सिंहो पाठयितव्यो न जगौ चेति कुवाचकः ॥७॥
इत्याकारे प्रलुप्ते च व्याख्याते भ्रान्तितस्तदा। पाठितो नैव सिंहोसौ हा कष्टं मूढचेष्टितम् ॥८॥
आगतेन ततो राज्ञा वीरसेनेन धीमता। ज्ञात्वा तत्कारणं कष्टं वाचको दण्डितः क्रुधा ॥९॥
तस्मादेवं न कर्त्तव्यः प्रमादः साधुभिः क्वचित्। येन कार्यस्य हानिः स्यादर्थसन्दोहनाशिनी ॥१०॥
यथौषधं हीनगुणत्वमाश्रितं निहन्ति नैवात्र शरीरखेदनाम्। तथाक्षरैर्हीनगुणाश्रितं श्रुतं हितं न तत्तच्च शुभं सुधीः पठेत् ॥११॥

इति कथाकोशे व्यंजनहीनाख्यानं समाप्तम्।

महाराज ने सोमशर्मा ब्राह्मण को रखा। सोमशर्मा सब विषयों का अच्छा विद्वान् था ॥१-३॥

पोदनपुर के राजा सिंहरथ के साथ वीरसेन की बहुत दिनों से शत्रुता चली आती थी। सो मौका पाकर वीरसेन ने उस पर चढ़ाई कर दी। वहाँ से वीरसेन ने अपने यहाँ एक राज्य-व्यवस्था की बाबत पत्र लिखा और समाचारों के सिवा पत्र में वीरसेन ने एक यह भी समाचार लिख दिया था कि राजकुमार सिंह के पठन-पाठन की व्यवस्था अच्छी तरह करना। इसके लिए उन्होंने यह वाक्य लिखा था कि ''सिंहो ध्यापयितव्यः''। जब यह पत्र पहुँचा तो इसे एक अर्धदग्ध ने बाँचकर सोचा-'ध्यै' धातु का अर्थ है स्मृति या चिन्ता करना इसलिए अर्थ हुआ कि 'राजकुमार पर अब राज्य-चिन्ता का भार डाला जाये' उसे अब पढ़ाना उचित नहीं। बात यह थी कि उक्त वाक्य के पृथक् पद करने से-''सिंहः अध्यापयितव्यः'' ऐसे पद होते हैं और इनका अर्थ होता है-सिंह को पढ़ाना, पर उस बाँचने वाले अर्धदग्ध ने इस वाक्य के-''सिंहः ध्यापयितव्य'' ऐसे पद समझकर इसके सन्धिस्थ अकार पर ध्यान न दिया और केवल 'ध्यै' धातु से बने हुए 'ध्यापयितव्यः' का चिन्ता अर्थ करके राजकुमार का लिखना-पढ़ना छुड़ा दिया। व्याकरण के अनुसार तो उक्त वाक्य के दोनों ही तरह पद होते है और दोनों ही शुद्ध हैं, पर यहाँ केवल व्याकरण की ही दरकार न थी। कुछ अनुभव भी होना चाहिए था। पत्र बाँचने वाले में इस अनुभव की कमी होने से उसने राजकुमार का पठन-पाठन छुड़ा दिया। इसका फल यह हुआ कि जब राजा आए और अपने कुमार का पठन-पाठन छूटा हुआ देखा तो उन्होंने उसके कारण की तलाश की। यथार्थ बात मालूम हो जाने पर उन्हें उस अर्धदग्ध-मूर्ख पत्र बाँचने वाले पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने इस मूर्खता की उसे बड़ी कड़ी सजा दी। इस कथा से भव्यजनों को यह शिक्षा लेनी चाहिए कि वे कभी ऐसा प्रमाद न करें, जिससे कि अपने कार्य को किसी भी तरह की हानि पहुँचे। जिस प्रकार गुणहीन औषधि से कोई लाभ नहीं होता, वह शरीर के किसी रोग को नहीं मिटा सकती, उसी तरह अक्षर रहित शास्त्र या मन्त्र वगैरह भी लाभ नहीं पहुँचा सकते। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे सदा शुद्ध रीति से शास्त्राभ्यास करें- उसमें किसी तरह का प्रमाद न करें, जिससे कि हानि होने की संभावना है ॥४-११॥

९४. अर्थहीनाख्यानम्

सर्वकल्याणकेषूच्चै-श्चर्चितांस्त्रिदशादिभिः। नत्वा जिनेश्वरान्वक्ष्ये अर्थहीनकथानकम् ॥१॥
विनीतविषये रम्ये पुरेऽयोध्याभिधानके। राजाऽभूद्वसुपालाख्यो वसुमत्यभिधा प्रिया ॥२॥
तयोः पुत्रः समुत्पन्नो वसुमित्रो विचक्षणः। तस्योपाध्यायको जातो गर्गनामा गुणोज्ज्वलः ॥३॥
अवन्तिविषये पुर्यामुज्जयिन्यां तथाभवत्। वीरदत्तो महान्राजा वीरदत्ता सुवल्लभा ॥४॥
अयं श्रीवीरदत्ताख्यो वसुपालस्य भूभुजः। मानभङ्गं करोत्युच्चैस्ततः स वसुपालकः ॥५॥
उज्जयिन्यां समागत्य तस्योपरि महाक्रुधा। गतेषु दिवसेषूच्चैर्वसुमत्यादिकान्प्रति ॥६॥
पुत्रोध्यापयितव्योसौ वसुमित्रोतिसादरम्। शालिभक्तं मसिस्पृक्तं सर्पिर्युक्तं दिनं प्रति ॥७॥

---

९४. अर्थहीन वाक्य की कथा

गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ऐसे पाँच कल्याणों में स्वर्ग के देवों ने आकर जिनकी बड़ी भक्ति से पूजा की, उन जिन भगवान् को नमस्कार कर अर्थहीन अर्थात् उल्टा अर्थ करने के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है ॥१॥

वसुपाल अयोध्या के राजा थे। उनकी रानी का नाम वसुमती था। इनके वसुमित्र नाम का एक बुद्धिमान् पुत्र था। वसुपाल ने अपने पुत्र के लिखने-पढ़ने का भार एक गर्ग नाम के विद्वान् पंडित को सौंपकर उज्जैन के राजा वीरदत्त पर चढ़ाई कर दी। कारण वीरदत्त हर समय वसुपाल का मानभंग किया करता था और उनकी प्रजा को भी कष्ट दिया करता था। वसुपाल उज्जैन आकर कुछ दिनों तक शहर का घेरा डाले रहे। इस समय उन्होंने अपनी राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध का एक पत्र अयोध्या भेजा। उसी में अपने पुत्र के बाबत उन्होंने लिखा- ॥२-६॥

''वसुमित्र के पढ़ाने-लिखाने का प्रबन्ध अच्छा करना, कोई त्रुटि न करना और उसके पढ़ाने वाले पंडित जी को खाने-पीने की कोई तकलीफ न हो-उन्हें घी, चावल, दूध-भात वगैरह खाने को दिया करना। पत्र पहुँचा। बाँचने वाले ने उसे ऐसा ही बाँचा। पर श्लोक में [1]मससिप्पृक्तं एक शब्द

---

१. श्लोक में 'मसिस्पृक्तं' शब्द है : उससे ग्रन्थकार का क्या मतलब है यह समझ में नहीं आता। पर वह ऐसी जगह प्रयोग किया गया है कि उसे 'शालिभक्तं' का विशेषण न किए गति ही नहीं है। आराधना कथाकोश की छन्दोबन्ध भाषा बनाने वाले पंडित बख्तावरमल उक्त श्लोकों की भाषा यों करते हैं-

''सुत वसुमित्र पढ़ाइयो नित्त, गर्गनाम पाठक जो पवित्त।
ताको भोजन तंदुल घीव, लिखन हेत मसि देव सदीव॥''

पंडित बख्तावरमलजी ने 'मसिस्पृक्तं' शब्द का अर्थ किया है-उपाध्याय को लिखने को स्याही देना। यह उन्होंने कैसे ही किया हो, पर उस शब्द में ऐसी कोई शक्ति नहीं जिससे कि यह अर्थ किया जा सके और यदि ग्रन्थकार का भी इसी अर्थ से मतलब हो तो कहना पड़ेगा कि उनकी रचना शक्ति बड़ी ही शिथिल थी। हमारा यह विश्वास केवल इसी डेढ़ श्लोक से ही ऐसा ही हुआ किन्तु इतने बड़े ग्रन्थ में जगह-जगह, श्लोक-श्लोक में

गर्गोपाध्यायकस्योच्चैर्दीयते भोजनाय च। लेखं संप्रेषयामास भूपश्चेति निजं गृहम् ॥८॥
विनीतानगरीं प्राप्तः स लेखस्तु प्रमादतः। वाचितो वाचकेनैव महामुग्धेन कर्मतः ॥९॥
सुतोध्यापयितव्योसौ तथा गर्गाय धीमते। मसिर्घृतं सुभक्तं च दीयते भोजनक्षणे ॥१०॥
चूर्णीकृत्य ततोङ्गारं घृतभक्तेन मिश्रितम्। दत्तं तस्मै तकैर्मूढैरुपाध्यायाय सेवकैः ॥११॥
आगतेन ततो राज्ञा समाधानं सुभक्तितः। उपाध्यायश्च पृष्टोसौ संजगाविति भो नृप ॥१२॥
अस्ति मे कुशलं देव भवत्पुण्यप्रसादतः। किन्तु तेऽत्र कुलाचारैर्मसिं भोक्तुं क्षमोस्मि न ॥१३॥

है। इसका अर्थ करने में वह गलती कर गया। उसने इसे 'शालिभक्तं' का विशेषण समझ यह अर्थ किया कि घी, दूध और मसि[२] मिले चावल पंडित जी को खाने को देना ऐसा ही हुआ।''॥७-८॥

स्याही काली होती है और कोयला भी काला, शायद इसी रंग की समानता से ग्रन्थकार ने कोयले की जगह मसि का प्रयोग कर दिया होगा? पर है आश्चर्य! ग्रन्थकार ने इस श्लोक में मसि शब्द को अलग लिखा है, पर ऊपर के श्लोक में आए हुए 'मसिस्पृक्तं' शब्द का ऐसा जुदा अर्थ किसी तरह नहीं किया जा सकता। ग्रन्थकार की कमजोरी की हद है, जो उनकी रचना इतनी शिथिल दीख पड़ती है।

जब बेचारे पंडित जी भोजन करने को बैठते तब चावलों में घी वगैरह के साथ थोड़ा कोयला भी पीसकर मिला दिया जाया करता था। जब राजा विजय प्राप्त कर लौटे तब उन्होंने पंडित जी से कुशल समाचार उत्तर में पूछा। उत्तर में पंडित जी ने कहा–राजाधिराज, आपके पुण्य प्रसाद से मैं हूँ तो अच्छी तरह, पर खेद है कि आपके कुल परम्परा की रीति के अनुसार मुझसे मसि–कोयला नहीं खाया जा सकता। इसलिए अब क्षमा कर आज्ञा दें तो बड़ी कृपा हो। राजा को पंडित जी की बात का बड़ा अचम्भा हुआ। उनकी समझ में न आया कि बात क्या है। उन्होंने फिर उसका खुलासा पूछा। जब सब बातें उन्हें ज्ञान पड़ी तब उन्होंने रानी से पूछा–मैंने तो अपने पत्र में ऐसी कोई बात न लिखी थी, फिर पंडित जी को ऐसा खाने को दिया जाकर क्यों तंग किया जाता था? रानी ने राजा

ऐसी ही शिथिलता देख पड़ती है। हाँ यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने इतना बड़ा ग्रन्थ बना जरूर लिया, पर हमारे विश्वास के अनुसार उन्हें ग्रन्थ की साहित्य सुन्दरता, रचना सुन्दरता आदि बातों में बहुत थोड़ी भी सफलता शायद ही प्राप्त हुई हो! इस विषय का एक पृथक् लेख लिखकर हम पाठकों की सेवा में उपस्थित करेंगे, जिससे वे हमारे कथन में कितना तथ्य है, इसका ठीक-ठीक पता पा सकेंगे।

२. 'मसि' का अर्थ स्याही प्रसिद्ध है। पं० बख्तावरमलजी ने भी स्याही अर्थ किया है। पर ग्रंथकार इसका अर्थ करते हैं–'कोयला'।

देखिए–

मसिर्घृतं सुभक्तं च दीयते भोजनक्षणे।

चूर्णीकृत्य ततोङ्गारं घृतभक्तेन मिश्रितम्॥ दत्तं तस्मै इति।

तदा श्रीवसुपालेन पृष्टा राज्ञी च कारणम्। तं लेखं दर्शयामास सा सती गुणमण्डिता ॥१४॥
ततस्तेन नरेन्द्रेण वाचकस्य महाक्रुधा। मुण्डनादिखरारोहैः कृतो दण्डस्तु कष्टदः ॥१५॥
एवमन्यैर्न कर्त्तव्यं साधुभिस्तु प्रमादतः। सदर्थस्याप्यनर्थत्वं सर्वशास्त्रविचक्षणैः ॥१६॥
तस्माच्छ्रीजिनभाषितं शुभतरं कीर्तिप्रमोदप्रदं ज्ञानं ज्ञानघनैर्विशुद्धचरणैः सद्भिः सदा सेवितम्।
युक्त्या भक्तिभरेण निर्मलधियो भव्या भजन्त्यत्र ये तेषां सारसुखं प्रबोधविलसच्छ्रीसंभवं संभवेत् ॥१७॥

इत कथाकोशे अर्थहीनाख्यानं समाप्तम्।

९५. व्यंजनार्थहीनस्याख्यानम्

विशुद्धकेवलज्ञानं नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरम्। व्यंजनार्थप्रहीनस्य प्रवक्ष्येहं कथानकम् ॥१॥
कुरुजांगलसद्देशे हस्तिनागपुरे परे। महापद्मोभवद्राजा जिनपादाब्जषट्पदः ॥२॥
तस्य राज्ञी महासाध्वी पद्मश्री रूपशालिनी। श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म-कर्मसन्दोहभाविनी ॥३॥
तथा सुरम्यदेशे च पोदनाख्यमहापुरे। सिंहनादो महीनाथ-स्तस्योपरि महाक्रुधा ॥४॥
स श्रीमांश्च महापद्मः पोदनादिपुरं गतः। तत्र श्रीमज्जिनेन्द्राणां महास्तंभसहस्रकम् ॥५॥

के हाथ में उनका लिखा हुआ पत्र देकर कहा—आपके बाँचने वाले ने हमें यही मतलब समझाया था। इसलिए यह समझकर, कि ऐसा करने से राजा साहब का कोई विशेष मतलब होगा मैंने ऐसी व्यवस्था की थी। सुनकर को बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने पत्र बाँचने वाले को उसी समय देश निकाले की सजा देकर उसे अपने शहर बाहर करवा दिया। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे लिखने-बाँचने में ऐसा प्रमाद का अर्थ कर अनर्थ न करें ॥९-१६॥

यह विचार कर जो पवित्र आचरण के धारी और ज्ञान जिनका धन है ऐसे सत्पुरुष भगवान् के उपदेश किए हुए, पुण्य के कारण और यश तथा आनन्द को देने वाले ज्ञान-सम्यग्ज्ञान के प्राप्त करने का भक्तिपूर्वक यत्न करेंगे वे अनन्तज्ञानरूपी लक्ष्मी का सर्वोच्च सुख लाभ करेंगे ॥१७॥

९५. व्यंजनहीन अर्थ की कथा

निर्मल केवलज्ञान के धारक श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर व्यंजनहीन अर्थ करने वाले की कथा लिखी जाती है ॥१॥

कुरुजांगल देश की राजधानी हस्तिनापुर के राजा महापद्म थे। ये बड़े धर्मात्मा और जिन भगवान् के सच्चे भक्त थे। इनकी रानी का नाम पद्मश्री था। पद्मश्री सरल स्वभाववाली थी, सुन्दरी थी और कर्मों के नाश करने वाले जिनपूजा, दान, व्रत उपवास आदि पुण्यकर्म निरन्तर किया करती थी। मतलब यह कि जिनधर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी ॥२-३॥

सुरम्य देश के पोदनपुर का राजा सिंहनाद और महापद्म में कई दिनों की शत्रुता चली आ रही थी। इसलिए मौका पाकर महापद्म ने उस पर चढ़ाई कर दी। पोदनपुर में महापद्म ने एक 'सहस्रकूट'

सहस्रकूटसन्नाम मन्दिरं शर्ममन्दिरम्। दृष्ट्वा सन्तुष्टचेतस्को लसद्धर्मानुरागतः ॥६॥
ईदृशं श्रीजिनागारं मत्पुरे सौख्यकारणम्। कारयामि जगत्सारं संविचार्येति मानसे ॥७॥
महास्तंभसहस्रस्य कर्त्तव्यः संग्रहो ध्रुवम्। इत्युच्चैः प्रेषयामास पत्रकं स्वपुरं प्रति ॥८॥
वाचितं वाचकेनाशु भ्रान्त्या स्तंभसहस्रकम्। ग्राह्यं चेति तदाकर्ण्य तत्रस्थैर्वेगतो जनैः ॥९॥
गृहीत्वा स्तंभशब्देन महाच्छागसहस्रकम्। पोषितं बहुयत्नेन हा कष्टं मूढचेष्टितम् ॥१०॥
ततो राज्ञा समागत्य महापद्मेन धीमता। प्रोक्तं भो यन्मयादिष्टं तन्मे दर्शयथ ध्रुवम् ॥११॥
दर्शिताश्च जनैश्छागा-स्ततो रुष्टेन भूभुजा। आज्ञाता मारणे लोकास्ततस्तैरिति जल्पितम् ॥१२॥
किं कुर्मो भो महीनाथ वयं प्रेषणकारिणा। वाचकेन यदादिष्टं तदस्माभिर्विनिर्मितम् ॥१३॥
तदा तेन प्रकोपेन महापद्मेन भूभुजा। वाचको दण्डितो गाढं प्रमादो न सुखायते ॥१४॥
एवमन्यैर्न कर्त्तव्यः प्रमादः साधुभिर्जनैः। ज्ञानध्यानादिसत्कार्ये जैनतत्त्वविचक्षणैः ॥१५॥

नाम से प्रसिद्ध जिनमन्दिर देखा। मन्दिर की हजार खम्भों वाली भव्य और विशाल इमारत देखकर महापद्म बड़े खुश हुए। उनके हृदय में भी धर्मप्रेम का प्रवाह बहा। अपने शहर में भी एक ऐसे ही सुन्दर मन्दिर के बनवाने की इनकी इच्छा हुई तब उसी समय इन्होंने अपनी राजधानी में पत्र लिखा। उसमें इन्होंने लिखा– ॥४–७॥

''बहुत जल्दी बड़े-बड़े एक हजार खम्भे इकट्ठे करना। पत्र बाँचने वाले ने इस भ्रम से पड़ा– ''**महास्तभसहस्रस्य कर्तव्यः संग्रहो ध्रुवम्**'' 'स्तंभ' शब्द को 'स्तभ' समझकर उसने खम्भे की जगह एक हजार बकरों को इकट्ठा करने को कहा। ऐसा ही किया गया। तत्काल एक हजार बकरे मँगवाये जाकर वे अच्छे खाने पिला ने द्वारा पाले जाने लगे ॥८–१०॥

जब महाराज लौटकर वापस आए तो उन्होंने अपने कर्मचारियों से पूछा कि मैंने जो आज्ञा की थी, उसकी तामील की गई? उत्तर में उन्होंने 'जी हाँ' कहकर उन बकरों को महाराजा को दिखलाया। महापद्म देखकर सिर से पैर तक जल उठे। उन्होंने गुस्सा होकर कहा–मैंने तो तुम्हें एक हजार खम्भों को इकट्ठा करने को लिखा था, तुमने वह क्या किया? तुम्हारे इस अविचार की सजा मैं तुम्हें जीवनदण्ड देता हूँ ॥११–१२॥

महापद्म की ऐसी कठोर सजा सुनकर वे बेचारे बड़े घबराये! उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि महाराज, इसमें हमारा तो कुछ दोष नहीं हैं। हमें तो जैसा पत्र बाँचने वाले ने कहा, वैसा ही हमने किया। महाराज ने तब उसी समय पत्र बाँचने वाले को बुलाकर उसके इस गुरुत्तर अपराध को जैसी चाहिए वैसी सजा की। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे ज्ञान, ध्यान आदि कामों में कभी ऐसा प्रमाद न करें क्योंकि प्रमाद कभी सुख के लिए नहीं होता ॥१३–१५॥

जो सत्पुरुष भगवान् के उपदेश किए पवित्र और पुण्यमय ज्ञान का अभ्यास करेंगे वे फिर

इत्थं श्रीजिनभाषितं शुभतरं ज्ञात्वा सुशास्त्रं बुधैस्त्यक्त्वा मोहविधायकं भयकरं त्रेधा प्रमादं सदा।
धर्म्ये कर्मणि शर्मकोटिजनके संज्ञातदानादिके भक्त्या श्रीजिनपूजने शुभतरे कार्या मतिः श्रेयसे ॥१६॥

इति कथाकोशे व्यंजनार्थहीनाख्यानं समाप्तम्।

९६. हीनाधिकाक्षराख्यानम्

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम्। हीनाधिकाक्षराख्यानं प्रवक्ष्ये भव्यरञ्जनम् ॥१॥
सुराष्ट्रविषये श्रीमदूर्जयन्तमहागिरौ। श्रीमच्चन्द्रगुहामध्ये जैनतत्त्वाब्धिचन्द्रमाः ॥२॥
धरसेनो महाचार्यो ज्ञात्वा स्तोकं स्वजीवितम्। अविच्छित्तिनिमित्तं च शास्त्रस्योच्चैर्विचक्षणः ॥३॥
आन्ध्रदेशे सुविख्याते वेनातटपुरे परे। जिनयात्रासमायातमहाचार्यान्प्रति द्रुतम् ॥४॥
प्राज्ञौ कृतार्थतां प्राप्तौ नूतनौ द्वौ स्थिरौ मुनी। सिद्धान्तोद्धरणे योग्यौ प्रेषणीयौ मदन्तिके ॥५॥
दत्वा लेखमिति व्यक्तं स्वकीयं ब्रह्मचारिणम्। प्रेषयामास पूतात्मा जैनधर्मधुरन्धरः ॥६॥
तं लेखं तैः समालोक्य मुनीन्द्रैस्तुष्टमानसैः। तथाभूतौ मुनी भक्तौ प्रोल्लसद्धर्मरागिणौ ॥७॥
पुष्पदन्ताख्यभूतादिबलिसंज्ञौ गुणोज्ज्वलौ। प्रेषितौ परया भक्त्या सिद्धान्तोद्धरणे क्षमौ ॥८॥

मोह उत्पन्न करने वाले प्रमाद को न कर सुख देने वाले जिनपूजा, दान, व्रत, उपवासादि धार्मिक कामों में अपनी बुद्धि को लगाकर केवलज्ञान का अनन्तसुख प्राप्त करेंगे ॥१६॥

९६. हीनाधिक अक्षर की कथा

उन जिन भगवान् को नमस्कार कर, जिनका कि केवलज्ञान एक सर्वोच्च नेत्र की उपमा धारण करने वाला है, न्यूनाधिक अक्षरों से सम्बन्ध रखने वाली धरसेनाचार्य की कथा लिखी जाती है ॥१-२॥

गिरनार पर्वत की एक गुफा में श्रीधरसेनाचार्य, जो कि जैनधर्मरूप समुद्र के लिए चन्द्रमा की उपमा धारण करने वाले हैं, निवास करते थे। उन्हें निमित्तज्ञान से जान पड़ा कि उनकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है। तब उन्हें दो ऐसे विद्यार्थियों की आवश्यकता पड़ी कि जिन्हें वे शास्त्रज्ञान की रक्षा के लिए कुछ अंगादि का ज्ञान करा दें। आचार्य ने तब तीर्थयात्रा के लिए आन्ध्रदेश के वेनातट नगर में आए हुए संघाधिपति महासेनाचार्य को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने लिखा– ॥३-४॥

''भगवान् महावीर का शासन अचल रहे, उसका सब देशों में प्रचार हो। लिखने का कारण यह है कि कलियुग में अंगादि का ज्ञान यद्यपि न रहेगा तथापि शास्त्रज्ञान की रक्षा हो, इसलिए कृपाकर आप दो ऐसे बुद्धिमान् विद्यार्थियों को मेरे पास भेजिये, जो बुद्धि के बड़े तीक्ष्ण हों, स्थिर हों, सहनशील हों और जैनसिद्धान्त का उद्धार कर सकें ॥५-६॥

आचार्य ने पत्र देकर एक ब्रह्मचारी को महासेनाचार्य के पास भेजा। महासेनाचार्य उस पत्र को पढ़कर बहुत खुश हुए। उन्होंने तब अपने संघ में से पुष्पदन्त और भूतबलि ऐसे दो धर्मप्रेमी और सिद्धान्त के उद्धार करने में समर्थ मुनियों को बड़े प्रेम के साथ धरसेनाचार्य के पास भेजा। ये दोनों

तयोरागमने पूर्वं सूरिः पश्चिमसन्निशि। स्वप्ने शुभ्रतरौ दिव्यौ नूतनौ वृषभोत्तमौ ॥९॥
पतन्तौ पादयोः स्वस्य दृष्ट्वा सद्भक्तिनिर्भरौ। धरसेनो महाचार्यः प्रोल्लसत्प्रमदान्वितः ॥१०॥
सर्वसंदेहसन्दोहध्वंसिनी श्रुतदेवता। जयत्वत्र सतां नित्यं वदन्नित्थं समुत्थितः ॥११॥
प्रभाते तौ समायातौ द्वौ मुनी भक्तिपूर्वकम्। नत्वा तत्पादपद्मं च संस्तुतिं चक्रतुर्मुदा ॥१२॥
दिनत्रयं गुरुः सोपि तयोः कृत्वा यथोचितम्। हीनाधिकाक्षरे पूर्वं विद्ये साधयितुं तदा ॥१३॥
परीक्षार्थं सुधीस्ताभ्यां ददाति स्म विचक्षणः। तौ समादाय तौ मन्त्रौ गिरौ रैवतके शुभे ॥१४॥
श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य शुभे सिद्धशिलातले। मुनी साधयितुं धीरौ प्रवृत्तौ शुद्धमानसौ ॥१५॥
हीनाक्षरेण संयुक्तां विद्यां साधयतो मुनेः। काणादेवी समायाता परस्योद्दन्तुरा मुनेः ॥१६॥
देवतानां विरूपत्वं नेदृशं भवति ध्रुवम्। मनसीत्थं विचार्येति मन्त्रव्याकरणेन च ॥१७॥
न्यूनाधिकाक्षरं ज्ञात्वा कृत्वा मन्त्रविशुद्धिताम्। तयोः साधयतो युक्त्या विद्यादेव्यौ समागतौ ॥१८॥
ततस्तौ द्वौ समागत्य गुरोः पार्श्वे सुभक्तितः। देवतादर्शनस्योच्चैः प्रोचतुश्चारुवृत्तकम् ॥१९॥

मुनि जिस दिन आचार्य के पास पहुँचने वाले थे। उसकी पिछली रात को धरसेनाचार्य को एक स्वप्न देख पड़ा। स्वप्न में उन्होंने दो हृष्टपुष्ट, सुडौल और सफेद बैलों को बड़ी भक्ति से अपने पाँवों में पड़ते देखा। इस उत्तम स्वप्न को देखकर आचार्य को जो प्रसन्नता हुई वह लिखी नहीं जा सकती। वे ऐसा कहते हुए, कि सब सन्देहों के नाश करने वाली श्रुतदेवी-जिनवाणी सदा काल इस संसार में जल लाभ करे, उठ बैठे। स्वप्न का फल उनके विचार अनुसार ठीक निकला। सबेरा होते ही दो मुनियों ने जिनकी कि उन्हें चाह थी, आकर आचार्य के पाँवों में बड़ी भक्ति के साथ अपना सिर झुकाया और आचार्य की स्तुति की। आचार्य ने तब उन्हें आशीर्वाद दिया-तुम चिरकाल जीकर महावीर भगवान् के पवित्र शासन की सेवा करो। अज्ञान और विषयों के दास बने संसारी जीवों को ज्ञान देकर उन्हें कर्तव्य की ओर लगाओ। उन्हें सुझाओ कि अपने धर्म और अपने भाइयों के प्रति जो उनका कर्तव्य है उसे पूरा करें ॥७-१२॥

इसके बाद आचार्य ने उन दोनों मुनियों को दो-तीन दिन तक अपने पास रखा और उनकी बुद्धि, शक्ति, सहनशीलता, कर्तव्य बुद्धि का परिचय प्राप्त कर दोनों को दो विद्याएँ सिद्ध करने को दीं। आचार्य ने उनकी परीक्षा के लिए विद्या साधने के मन्त्रों के अक्षरों को कुछ न्यूनाधिक कर दिया था। आचार्य की आज्ञानुसार ये दोनों गिरनार पर्वत के एक पवित्र और एकान्त भाग में भगवान् नेमिनाथ की निर्वाण शिला पर पवित्र मन से विद्या सिद्ध करने को बैठे। मंत्र साधन की अवधि जब पूरी होने को आई तब दो देवियाँ उनके पास आयी। उन देवियों में एक देवी तो आँखों से अन्धी थी और दूसरी के दाँत बड़े और बाहर निकले हुए थे। देवियों के ऐसे रूप को देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। इन्होंने सोचा देवों का तो ऐसा रूप होता नहीं, फिर यह क्यों? तब उन्होंने मंत्रों की जाँच की, मंत्रों को व्याकरण से उन्होंने मिलाया कि कहीं उनमें तो गलती न रह गई हो? इनका अनुमान सच हुआ। मंत्रों की गलती उन्हें भास गई फिर उन्होंने उन्हें शुद्ध कर जपा। अब की बार

तत्समाकर्ण्य योगीन्द्रो धरसेनो गुणोज्ज्वलः। तुष्टस्तौ पाठयामास जैनसिद्धान्तसञ्चयम् ॥२०॥
पठित्वा च मुनीन्द्रौ तौ गुरोः सेवाविधायिनौ। जातौ सिद्धान्तकर्त्तारौ जैनधर्मधुरन्धरौ ॥२१॥
एतैर्यथा मुनीन्द्रैस्तु शास्त्रोद्धारो कृतो भुवि। तथा ह्यन्यैर्महाभव्यैः कार्योसौ धर्मवत्सलैः ॥२२॥
स श्रीमान्धरसेननामसुगुरुः श्रीजैनसिद्धान्त-सद्वार्द्धीदुर्धरपुष्पदन्तसुमुनिः श्रीभूतपूर्वो बलिः। एते सन्मुनयो जगत्त्रयहिताः स्वर्गामरैरर्चिताः कुर्युर्मे जिनधर्मकर्मणि मतिः स्वर्गापवर्गप्रदे ॥२३॥

इति महामुनीनामाख्यानं समाप्तम्।

९७. सुव्रतमुनेराख्यानम्

श्रीजिनं सर्वदेवेन्द्रसमर्चितपदद्वयम्। नत्वा सुव्रतयोगीन्द्रवृत्तं वक्ष्ये हतामयम् ॥१॥
सुराष्ट्रविषये रम्ये द्वारावत्यां महापुरि। हरिवंशे समुत्पन्नः कृष्णनामान्तिमो हरिः ॥२॥
सत्यभामादिसद्राज्ञीसमूहे प्राणवल्लभः। त्रिखण्डेशो महीनाथ-सहस्रैः परिसेवितः ॥३॥
एकदासौ महाराजः श्रीमन्नेमिजिनेशिनः। समवादिसृतिं गच्छन्वन्दनार्थं सुखप्रदाम् ॥४॥

दो देवियाँ सुन्दर वेष में उन्हें दीख पड़ी। गुरु के पास आकर तब उन्होंने अपना सब हाल कहा। धरसेनाचार्य उनका वृत्तान्त सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। आचार्य ने उन्हें सब तरह योग्य पा फिर खूब शास्त्राभ्यास कराया। आगे चलकर यही दो मुनिराज गुरुसेवा के प्रसाद से जैनधर्म के धुरन्धर विद्वान् बनकर सिद्धान्त के उद्धारकर्ता हुए। जिस प्रकार उन मुनियों ने शास्त्रों का उद्धार किया उसी प्रकार अन्य धर्मप्रेमियों को भी शास्त्रोद्धार या शास्त्रप्रचार करना उचित है ॥१३-२२॥

श्रीमान् धरसेनाचार्य और जैनसिद्धान्त के समुद्र श्री पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य मेरी बुद्धि को स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाले पवित्र जैनधर्म में लगावें; जो जीव मात्र का हित करने वाले और देवों द्वारा पूजा किए जाते हैं ॥२३॥

९७. सुव्रत मुनिराज की कथा

देवों द्वारा जिनके पाँव पूजे जाते हैं, उन जिन भगवान् को नमस्कार कर सुव्रत मुनिराज की कथा लिखी जाती है ॥१॥

सौराष्ट्र देश की सुन्दर नगरी द्वारका में अन्तिम नारायण श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। श्रीकृष्ण की कई स्त्रियाँ थीं, पर उन सबमें सत्यभामा बड़ी भाग्यवती थी। श्रीकृष्ण का सबसे अधिक प्रेम उसी पर था। श्रीकृष्ण अर्धचक्री थे, तीन खण्ड के मालिक थे। हजारों राजा-महाराजा उनकी सेवा में सदा उपस्थित रहा करते थे ॥२-३॥

एक दिन श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान् के दर्शनार्थ समवसरण में जा रहे थे। रास्ते में इन्होंने तपस्वी श्रीसुव्रत मुनिराज को सरोग दशा में देखा। सारा शरीर उनका रोग से कष्ट पा रहा था। उनकी यह दशा श्रीकृष्ण से न देखी गई धर्म प्रेम से उनका हृदय अस्थिर हो गया। उन्होंने उसी समय एक जीवक नाम

मार्गे सुव्रतनामानं मुनीन्द्रं सुतपोनिधिम्। व्याधिक्षीणाङ्गमालोक्य सुधीर्धर्मानुरागतः ॥५॥
जीवकाख्यमहावैद्य-प्रोक्तशुद्धौषधान्वितान्। भक्त्या सर्वगृहेषूच्चैः कारयामास मोदकान् ॥६॥
तन्मोदकशुभाहारैः सर्वत्र स मुनीश्वरः। संजातो विगतव्याधिश्चारुचारित्रमण्डितः ॥७॥
तेन श्रीवासुदेवेन लसदौषधिदानतः। श्रीमत्तीर्थकरस्योच्चैः पूतं गोत्रमुपार्जितम् ॥८॥
महापात्रप्रदानेन देहिनां शर्मकारिणा। सतां सद्भक्तियुक्तानां किं न जायेत भूतले ॥९॥
तथैकदा मुनि सोपि निर्व्याधिभूभुजा मुदा। दृष्टः पृष्टो मुने स्वामिन्नस्ति देहे समाधिता ॥१०॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह निस्पृहः स्वशरीरके। कायोशुचिर्भवेद्भूप क्षणान्नानाप्रकारभाक् ॥११॥
तत्समाकर्ण्य चक्रेशो मुनेर्वाक्यं सुनिर्मलम्। नत्वा तं त्रिजगत्पूज्यं चक्रे चित्ते प्रशंसनम् ॥१२॥
जीवाख्यः स वैद्योपि तन्निशम्य स्वमानसे। अहो मे मुनिनानेन गुणो नैव प्रवर्णितः ॥१३॥
निन्दां चेति चकारासौ मृत्वार्तध्यानयोगतः। नर्मदा सुनदीतीरे महान्मर्कटकोभवत् ॥१४॥
मूढप्राणी न जानाति मुनीनां वृत्तलक्षणम्। कृत्वा निन्दां जगद्वन्द्यं स्वयं याति कुयोनिताम् ॥१५॥

के प्रसिद्ध वैद्य को बुलाया और मुनि को दिखलाकर औषधि के लिए पूछा। वैद्य के कहे अनुसार सब श्रावकों के घरों में उन्होंने औषधि-मिश्रित लड्डूओं के बनवाने की सूचना करवा दी। थोड़े ही दिनों में इस व्यवस्था से मुनि को आराम हो गया, सारा शरीर फिर पहले सा सुन्दर हो गया। इस औषधिदान के प्रभाव से श्रीकृष्ण के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ। सच है-सुख के कारण सुपात्रदान से संसार में सत्पुरुषों को सभी कुछ प्राप्त होता है ॥४-८॥

निरोग अवस्था में सुव्रत मुनिराज को एक दिन देखकर श्रीकृष्ण बड़े खुश हुए। इसलिए कि उन्हें अपने काम में सफलता प्राप्त हुई। उनसे उन्होंने पूछा-भगवान्, अब अच्छे तो हैं? उत्तर में मुनिराज ने कहा-राजन्, शरीर स्वभाव से अपवित्र, नाश होने वाला और क्षण-क्षण में अनेक अवस्थाओं को बदलने वाला है, इसमें अच्छा और बुरापन क्या है? पदार्थों का जैसा परिवर्तन स्वभाव है उसी प्रकार यह कभी निरोग और कभी सरोग हो जाया करता है। मुझे इसके रोगी होने में न खेद है और न निरोग होने से हर्ष! मुझे तो अपने आत्मा से काम, जिसे कि मैं प्राप्त करने में लगा हुआ हूँ और जो मेरा परम कर्तव्य है। सुव्रत योगिराज की शरीर से इस प्रकार निस्पृहता देखकर श्रीकृष्ण को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने मुनि को नमस्कार कर उनकी बड़ी प्रशंसा की ॥९-१२॥

पर जब मुनि की यह निस्पृहता जीवक वैद्य के कानों में पहुँची तो उन्हें इस बात का बड़ा दुःख हुआ, बल्कि मुनि पर उन्हें अत्यन्त घृणा हुई कि मुनि का मैंने इतना उपकार किया तब भी उन्होंने मेरे सम्बन्ध में तारीफ का एक शब्द भी न कहा! इससे उन्होंने मुनि को बड़ा कृतघ्न समझ उनकी बहुत निन्दा की-बुराई की। इस मुनि निन्दा से उन्हें बहुत पाप का बन्ध हुआ। अन्त में जब उनकी मृत्यु हुई तब वे इस पाप के फल से नर्मदा के किनारे पर एक बन्दर हुए। सच है-अज्ञानियों को साधुओं के अचार-विचार, व्रत-नियमादि का कुछ ज्ञान तो होता नहीं है। व्यर्थ उनकी निन्दा-बुराई कर वे पापकर्म बाँध लेते हैं। इससे उन्हें दुःख उठाना पड़ता है ॥१३-१५॥

एकदा वानरः सोपि तत्र वृक्षतले मुनिम्। पर्यंकस्थं पतच्छाखाभिन्नोरस्कं सुनिश्चलम् ॥१६॥
समालोक्य स्वपुण्येन भूत्वा जातिस्मरो द्रुतम्। क्रोधभावं परित्यज्य भूरिशाखामृगैः सह ॥१७॥
अन्यशाखाप्रवल्लीभिस्तां समाकृष्य यत्नतः। शाखां दूरे विधायोच्चैः पूर्वसंस्कारतो मुदा ॥१८॥
महौषधं समानीय व्रणे तस्य महामुनेः। ददौ धर्मानुरागेण सारपुण्यं गृहीतवान् ॥१९॥
जन्म जन्म यदभ्यस्तं प्राणिना शर्मकारणम्। तेनाभ्यासेन तेनोच्चैस्तदेव क्रियते पुनः ॥२०॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण स्वावधिज्ञानचक्षुषा। प्रोक्त्वा तत्पूर्ववृत्तान्तं शीघ्रं सम्बोधितो हि सः ॥२१॥
तदासौ मर्कटो धीमान्मुनेर्वाक्यप्रसादतः। श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥२२॥
सम्यक्त्वाणुव्रतान्युच्चैर्गृहीत्वा भूरिभक्तितः। प्रतिपाल्य सुधीः सप्तदिनैः संन्यासपूर्वकम् ॥२३॥
मृत्वा सौधर्मकल्पे च देवो जातो महर्द्धिकः। जैनधर्मरतो जन्तुः किं न प्राप्नोति सत्सुखम् ॥२४॥
मर्कटोपि सुरो जातो जैनधर्मप्रसादतः। तस्माद्धर्माद् गुरोश्चापि किं परं शर्मकारणम् ॥२५॥

एक दिन की बात है कि यह जीवक वैद्य का जीव बन्दर जिस वृक्ष पर बैठा हुआ था, उससे नीचे यही सुव्रत मुनिराज ध्यान कर रहे थे। इस समय उस वृक्ष की एक टहनी टूट कर मुनि पर गिरी। उसकी तीखी नोंक जाकर मुनि के पेट में घुस गई पेट का कुछ हिस्सा चिरकर उससे खून बहने लगा। मुनि पर जैसे ही उस बन्दर की नजर पड़ी उसे जातिस्मरण हो गया। वह पूर्व जन्म की शत्रुता भूलकर उसी समय दौड़ा और थोड़ी ही देर में बहुत से बन्दरों को बुला लाया। उन सबने मिलकर उस डाली को बड़ी सावधानी से खींचकर निकाल लिया और वैद्य के जीव ने पूर्व जन्म के संस्कार से जंगल से जड़ी-बूटी लाकर उसका रस उन मुनि के घाव पर निचोड़ दिया। उससे मुनि को शान्ति मिली। उस बन्दर ने भी उस धर्मप्रेम से बहुत पुण्यबंध किया। सच है, पूर्व जन्मों में जैसा अभ्यास किया जाता है, जैसा पूर्व जन्म का संस्कार होता है दूसरे जन्मों में भी उसका संस्कार बना रहता है और प्रायः जीव वैसा ही कार्य करने लगता है। बन्दर में-एक पशु में इस प्रकार दयाशीलता देखकर मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा तो उन्हें वैद्य के जीव के जन्म का सब हाल ज्ञात हो गया। उन्होंने तब उसे भव्य समझकर उसके पूर्वजन्म की सब कथा उसे सुनाई और धर्म का उपदेश किया। मुनि की कृपा से धर्म का पवित्र उपदेश सुनकर धर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा हो गई उसने भक्ति से सम्यक्त्व-व्रत पूर्वक अणुव्रतों को ग्रहण किया। उन्हें उसने बड़ी अच्छी तरह पाला भी। अन्त में वह सात दिन का संन्यास ले मरा। इस धर्म के प्रभाव से वह सौधर्म स्वर्ग में जाकर देव हुआ। सच है, जैनधर्म से प्रेम करने वालों को क्या प्राप्त नहीं होता। देखिए, यह धर्म का ही तो प्रभाव था जिससे कि एक बन्दर-पशु देव हो गया इसलिए धर्म या गुरु से बढ़कर संसार में कोई सुख का कारण नहीं है ॥१६-२५॥

स जयतु जिनधर्मो यत्प्रसादाज्जनोयं भवति सुरनरेन्द्रश्रीशिवश्रीपतिश्च।
तदिह विदिततत्त्वैः श्रीजिनेन्द्रोक्तधर्मे परमपदसुखाप्त्यै सारयत्नो विधेयः ॥२६॥

इति कथाकोशे श्रीसुव्रतमुनेराख्यानं समाप्तम्।

९८. हरिषेणाख्यानम्

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या केवलज्ञानलोचनम्। कथ्यते हरिषेणस्य कथाशयवशाश्रिता ॥१॥
अङ्गदेशे सुविख्याते कांपिल्यनगरे वरे। राजा सिंहध्वजस्तस्य राज्ञी वप्रा गुणोज्ज्वला ॥२॥
तस्याः श्रीहरिषेणाख्योभवत्पुत्रो विचक्षणः। भटाग्रणीः सतां मान्यो दाता भोक्ता सुलक्षणः ॥३॥
सा वप्रा श्राविका श्रीमज्जिनपादाब्जषट्पदी। नन्दीश्वरमहापूजां कारयत्येव भक्तितः ॥४॥
तथा प्रभोर्द्वितीया च राज्ञी लक्ष्मीमती प्रिया। सैकदा भूपतिं प्राह कुदृष्टिः स्वमदोद्धता ॥५॥
भो प्रभो पत्तने पूर्वं मदीयो ब्रह्मणो रथः। भ्रमत्वद्य तदाकर्ण्य राज्ञा प्रोक्तं भवत्विति ॥६॥
तच्छ्रुत्वा सा सती वप्रा राज्ञी सद्धर्मवत्सला। पूर्वं मे रथयात्रायां जातायां दत्तसम्पदि ॥७॥
भोजनादौ प्रवृत्तिर्मे प्रतिज्ञामिति मानसे। करोति स्म सतां नित्यं शरणं धर्म एव हि ॥८॥

वह जैनधर्म जय लाभ करे, संसार में निरन्तर चमकता रहे, जिसके प्रसाद से एक तुच्छ प्राणी भी देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों की सम्पत्ति लाभ कर-उसका सुख भोगकर अन्त में मोक्षश्री का अनन्त, अविनाशी सुख प्राप्त करता है। इसलिए आत्महित चाहने वाले बुद्धिमानों को उचित है, उनका कर्तव्य है कि वे मोक्षसुख के लिए परम पवित्र जैनधर्म के प्राप्त करने का और प्राप्त कर उसके पालने का सदा यत्न करें ॥२६॥

९८. हरिषेण चक्रवर्ती की कथा

केवलज्ञान जिनका नेत्र है ऐसे जिन भगवान् को नमस्कार कर हरिषेण चक्रवर्ती की कथा लिखी जाती है ॥१॥

अंगदेश के सुप्रसिद्ध कांपिल्य नगर के राजा सिंहध्वज थे। इनकी रानी का नाम प्रिया था। कथानायक हरिषेण इन्हीं का पुत्र था। हरिषेण बुद्धिमान् था, शूरवीर था, सुन्दर था, दानी था और बड़ा तेजस्वी था। सब उसका बड़ा मान-आदर करते थे ॥२-३॥

हरिषेण की माता धर्मात्मा थी। भगवान् पर उसकी अचल भक्ति थी। यही कारण था कि वह अठाई के पर्व में सदा जिन भगवान् का रथ निकलवाया करती और उत्सव मनाती। सिंहध्वज की दूसरी रानी लक्ष्मीमती को जैनधर्म पर विश्वास न था। वह सदा उसकी निन्दा करती थी। एक बार उसने अपने स्वामी से कहा-आज पहले मेरा भगवान् का रथ शहर में घूमे ऐसी आप आज्ञा दीजिए, सिंहध्वज ने इसका परिणाम क्या होगा, इस पर कुछ विचार न कर लक्ष्मीमती का कहा मान लिया। पर जब धर्मवत्सल वप्रा रानी को इस बात की खबर मिली तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने उसी समय प्रतिज्ञा की कि मैं खाना-पीना तभी करूँगी जब कि मेरा रथ पहले निकलेगा। सच है-सत्पुरुषों को धर्म ही शरण होता है, उनकी धर्म तक ही दौड़ होती है ॥४-८॥

भोजनार्थं समागत्य हरिषेणः सुतोत्तमः। दृष्ट्वा तां मातरं पृष्ट्वा कारणं निर्गतो गृहात् ॥९॥
विद्युच्चौरस्य संप्राप्तः पल्लिकामतिनिर्भयः। तं विलोक्य शुकः प्राह दुष्टात्मा तस्करान्प्रति ॥१०॥
अहो राजसुतो याति युष्माभिर्ध्रियते ध्रुवम्। दुष्टानां संगतिं प्राप्तः प्राणी वक्ति कुतो हितम् ॥११॥
ततो निर्गत्य वेगेन हरिषेणो विचक्षणः। संप्राप्तस्तापसस्याशु शतमन्योश्च पल्लिकाम् ॥१२॥
तत्रापि तं समालोक्य शुकश्चान्यः शुभाशयः। यत्राकृतिर्गुणास्तत्र संवसन्ति स्वमानसे ॥१३॥
इत्याकलय्य संप्राह राजपुत्रोयमद्भुतः। यात्युच्चैर्गौरवं यूयं शीघ्रं संकुरुतास्य भो ॥१४॥
तच्छ्रुत्वा हरिषेणेन प्रोक्त्वा पूर्वकोदितम्। पृष्टः कीरो द्वितीयस्तु कथं भो गौरवं मम ॥१५॥
भवान्कारयतीहोच्चैस्तदाकर्ण्य शुको जगौ। शृणु त्वं राजपुत्राद्य वक्ष्येहं कारणं तव ॥१६॥
माताप्येका पिताप्येको मम तस्य च पक्षिणः। अहं मुनीभिरानीतः स च नीतो गवाशनैः ॥१७॥
गवाशनानां स गिरः शृणोति अहं च राजन्मुनिपुङ्गवानाम्। प्रत्यक्षमेतद्भवता हि दृष्टं संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥१८॥

हरिषेण इतने में भोजन करने को आया। उसने सदा की भाँति आज अपनी माता को हँस-मुख न देखकर उदास मन देखा। इससे उसे बड़ा खेद हुआ। माता क्यों दुःखी हैं, इसका कारण जब उसे जान पड़ा तब वह एक पलभर भी फिर वहाँ न ठहर कर घर से निकल पड़ा। यहाँ से चलकर वह एक चोरों के गाँव में पहुँचा। इसे देखकर एक तोता अपने मालिकों से बोला-जो कि चोरों का सिखाया-पढ़ाया था, देखिये, यह राजकुमार जा रहा है, इसे पकड़ो। तुम्हें लाभ होगा। तोते के इस प्रकार कहने पर किसी चोर का ध्यान न गया। इसलिए हरिषेण बिना किसी आफत के आए यहाँ से निकल गया। सच है, दुष्टों की संगति पाकर दुष्टता आती ही है। फिर ऐसे जीवों से कभी किसी का हित नहीं होता ॥९-११॥

यहाँ से निकल कर हरिषेण फिर एक शतमन्यु नाम के तापसी के आश्रम में पहुँचा। वहाँ भी एक तोता था परन्तु यह पहले तोते सा दुष्ट न था। इसलिए उसने हरिषेण को देखकर मन में सोचा कि जिसके मुँह पर तेजस्विता और सुन्दरता होती है उसमें गुण अवश्य ही होते हैं। यह जाने वाला भी कोई ऐसा ही पुरुष होना चाहिए। इसके बाद ही उसने अपने मालिक तापसियों से कहा-वह राजकुमार जा रहा है। इसका आप लोग आदर करें। राजकुमार को बड़ा अचम्भा हुआ। उसने पहले का हाल कह कर इस तोते से पूछा-क्यों भाई, तेरे भाई ने तो अपने मालिकों से मेरे पकड़ने को कहा था और तू अपने मालिक से मेरा मान-आदर करने को कह रहा है, इसका कारण क्या है? तोता बोला-अच्छा राजकुमार, सुनो मैं तुम्हें इसका कारण बतलाता हूँ। उस तोते की और मेरी माता एक ही है, हम दोनों भाई-भाई हैं। इस हालत में मुझमें और उसमें विशेषता होने का कारण यह है कि मैं इन तपस्वियों के हाथ पड़ा और वह चोरों के। मैं रोज-रोज इन महात्माओं की अच्छी-अच्छी बातें सुना करता हूँ और वह उन चोरों की बुरी-बुरी बातें सुनता है। इसलिए मुझमें और उसमें इतना अन्तर है। सो आपने अपनी आँखों से देख ही लिया कि दोष और गुण ये संगति के फल हैं। अच्छों की संगति से गुण प्राप्त होते हैं और बुरों की संगति से दुर्गुण ॥१२-१८॥

अथासौ तापसः पूर्वं शतमन्युश्च वर्तते। चम्पायां भूपती राज्ञी नागवत्यभिधा सती ॥१९॥
जनादिमेजयः पुत्रः पुत्री च मदनावली। तस्या निमित्तिकेनोक्तश्चोदशः शर्मकारणम् ॥२०॥
षट्खण्डाधिपतेरेषा भावि स्त्रीरत्नमुत्तमम्। काले कल्पशते चापि नान्यथा ज्ञानिनो वचः ॥२१॥
अथोड्रविषये राजा कलादिकलनामकः। तमादेशं समाकर्ण्य याचयामास तां सतीम् ॥२२॥
अलब्ध्वा च समागत्य महाकोपेन वेगतः। चम्पां वेष्टितवान्गाढं कामान्धः कुरुते न किम् ॥२३॥
नित्यं युद्धे सति क्रूरे गृहीत्वा मदनावलीम्। सुरंगद्वारतो नागवती नष्ट्वा प्रवेगतः ॥२४॥
पल्लिकायां समागत्य शतमन्योश्च वृत्तकम्। प्रोक्त्वा तत्र स्थिता यावत्तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥२५॥
पूर्वं च हरिषेणस्य तस्यां रागः प्रवर्तते। कन्यायां नितरां तस्मात्तापसैर्मुग्धमानसैः ॥२६॥
निर्घाटितेन तेनोक्तं हरिषेणेन धीमता। यदीमां कन्यकां पूतां विवाहविधिना ध्रुवम् ॥२७॥
अहं परिणयिष्यामि तदा सद्भक्तिपूर्वकम्। स्वदेशे कारयिष्यामि योजने योजने शुभान् ॥२८॥

इस आश्रम के स्वामी तापसी शतमन्यु पहले चम्पापुरी के राजा थे। उनकी रानी का नाम नागवती है। इनके जनमेजय नाम का एक पुत्र और मदनावती नाम की एक कन्या है। शतमन्यु अपने पुत्र को राज्य देकर तापसी हो गए। राज्य अब जनमेजय करने लगा। एक दिन जनमेजय से मदनावती के सम्बन्ध में एक ज्योतिषी ने कहा कि यह कन्या चक्रवर्ती का सर्वोच्च स्त्रीरत्न होगी और यह सच है कि ज्ञानियों का कहा कभी झूठा नहीं होता ॥१९-२१॥

जब मदनावती की इस भविष्यवाणी की सब ओर खबर पहुँची तो अनेकों राजा लोग उसे चाहने लगे। उन्हीं में उड्रदेश का राजा कलकल भी था। उसने मदनावती के लिए उसके भाई से मँगनी की। उसकी यह मँगनी जनमेजय ने नहीं स्वीकारी। इससे कलकल को बड़ा ना-गवार गुजरा। उसने रुष्ट होकर जनमेजय पर चढ़ाई कर दी और चम्पापुरी के चारों ओर घेरा डाल दिया। सच है—काम से अन्धे हुए मनुष्य कौन काम नहीं कर डालते। जनमेजय भी ऐसा डरपोक राजा न था। उसने फौरन ही युद्धस्थल में आ-डटने की अपनी सेना को आज्ञा दी। दोनों ओर के वीर योद्धाओं की मुठभेड़ हो गई खूब घमासान युद्ध आरम्भ हुआ। इधर युद्ध छिड़ा और इधर नागवती अपनी लड़की मदनावती को साथ ले सुरंग के रास्ते से निकल भागी। वह इसी शतमन्यु के आश्रम में आयी। पाठकों को याद होगा कि यही शतमन्यु नागवती का पति है। उसने युद्ध का सब हाल शतमन्यु को कह सुनाया। शतमन्यु ने नागवती और मदनावती को अपने आश्रम में ही रख लिया ॥२२-२५॥

हरिषेण राजकुमार का ऊपर जिकर आया है। उसका मदनावती पर पहले से ही प्रेम था। हरिषेण उसे बहुत चाहता था। यह बात आश्रमवासी तापसियों को मालूम पड़ जाने से उन्होंने हरिषेण को आश्रम से निकाल बाहर कर दिया। हरिषेण को इससे बुरा लगा, पर वह कुछ कर-धर नहीं सकता था। इसलिए लाचार होकर उसे चला जाना पड़ा। उसने चलते समय प्रतिज्ञा की कि यदि मेरा इस पवित्र राजकुमारी के साथ ब्याह होगा तो मैं अपने सारे देश में चार-चार कोस दूरी पर

श्रीमज्जिनालयान्पूतान्पवित्रीकृतभूतलान्। स्वर्मोक्षगामिनां चित्ते जैनभक्तिर्निरन्तरम् ॥२९॥
सिन्धुदेशेऽथ विख्याते नाम्ना सिन्धुतटे पुरे। राजा सिन्धुनदो राज्ञी सिन्धुमत्यभिधा तयोः ॥३०॥
सिन्धुदेव्यादिपुत्रीणां शतं रूपगुणान्वितम्। नैमित्तिकेन चादिष्टं चक्रिणस्तदपि ध्रुवम् ॥३१॥
सिन्धुनद्यां तथा सर्वकन्यास्नानं निरूपितम्। सहैव हरिषेणेन रागोत्पत्तिश्च जल्पिता ॥३२॥
तत्रासौ हरिषेणश्च जित्वा देशमहागजम्। ताः कन्याः परिणीयोच्चैश्चित्रशालां सुखस्थितः ॥३३॥
तदा वेगवतीनाम्ना विद्याधर्य्या निशि द्रुतम्। सुप्तो नीतस्ततस्तेन प्रोत्थितेन नभस्तले ॥३४॥
दृष्ट्वा तारावलीं कोपात्तां हन्तुं खेचरीं स्वयम्। बद्धामुष्टिस्तदा कृत्वा प्राञ्जलिं सापि संजगौ ॥३५॥
शृणु स्वामिन्खगाद्रौ हि सूर्योदरमहापुरे। राजा श्रीन्द्रधनुर्धीमान् राज्ञी बुद्धिमती तयोः ॥३६॥
सुपुत्री जयचन्द्राख्या पुरुषद्वेषकारिणी। आदेशश्चेति संजातस्तस्याः कन्याशतप्रियः ॥३७॥
भावी प्राणप्रियस्तस्मान्मया ते रूपपट्टकम्। तस्याः संदर्शितं सापि त्वय्यासक्ता बभूव च ॥३८॥

अच्छे-अच्छे सुन्दर और विशाल जिनमन्दिर बनवाऊँगा, जो पृथ्वी को पवित्र करने वाले कहलायेंगे। सच है, उन लोगों के हृदय में जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति सदा रहा करती है जो स्वर्ग या मोक्ष का सुख प्राप्त करने वाले होते हैं ॥२६-२९॥

प्रसिद्ध सिन्धुदेश के सिन्धुतट शहर के राजा सिन्धुनद और रानी सिन्धुमती के कोई सौ लड़कियाँ थी। ये सब बड़ी सुन्दर थीं। उन लड़कियों के सम्बन्ध में नैमित्तिक ने कहा था कि-ये सब राजकुमारियाँ चक्रवर्ती हरिषेण की स्त्रियाँ होंगी। ये सिन्धुनदी पर स्नान करने के लिए जायेंगीं। उसी समय हरिषेण भी यहीं आ जाएगा। तब परस्पर की चार आँखें होते ही दोनों ओर से प्रेम का बीज अंकुरित हो उठेगा ॥३०-३२॥

नैमित्तिक का कहना ठीक हुआ। हरिषेण दूसरे राजाओं पर विजय करता हुआ उसी सिन्धुनदी के किनारे पर आकर ठहरा। उसी समय सिन्धुनद की कुमारियाँ भी यहाँ स्नान करने के लिए आई हुई थीं। प्रथम ही दर्शन में दोनों के हृदय में प्रेम का अंकुर फूटा और फिर वह क्रम से बढ़ता ही गया। सिन्धुनद से यह बात छिपी न रही। उसने प्रसन्न होकर हरिषेण के साथ अपनी लड़कियों का ब्याह कर दिया ॥३३-३४॥

रात को हरिषेण चित्रशाला नाम के एक खास महल में सोया हुआ था। इसी समय एक वेगवती नाम की विद्याधरी आकर हरिषेण को सोता हुआ ही उठा ले चली। रास्ते में हरिषेण जग उठा। अपने को एक स्त्री कहीं लिए जा रही है, इस बात का मालूम होते ही उसे बड़ा गुस्सा आया। उसने तब उसे विद्याधरी को मारने के लिए घूँसा उठाया। उसे गुस्सा हुआ देख विद्याधरी डरी और हाथ जोड़ कर बोली-महाराज, क्षमा कीजिए। मेरी एक प्रार्थना सुनिए। विजयार्द्ध पर्वत पर बसे हुए सूर्योदर शहर के राजा इन्द्रधनु और रानी बुद्धिमती की एक कन्या है। उसका नाम जयचन्द्रा है। वह

तत्समीपं ततो देव नीयते त्वं सुपुण्यभाक्। इत्याकर्ण्य प्रहर्षेण प्राप्तोसौ खेचराचलम् ॥३९॥
तद्विवाहे परिप्राप्ते गंगाधरमहीधरौ। कन्यामैथुनिकौ युद्धं कर्त्तुकामौ समागतौ ॥४०॥
तत्संग्रामे सुरत्नानि संनिधानानि सद्भटः। लब्ध्वा श्रीहरिषेणोसौ भूत्वा षट्खण्डनायकः ॥४१॥
मदनादिवलीं भूत्या परिणीय निजं गृहम्। गत्वा मनुस्तथा जैनरथयात्रां विधाय च ॥४२॥
सुधीः संकारयामास श्रीमज्जैनालयांस्तथा। अहो पुण्यवतां पुंसां किं शुभं यन्न जायते ॥४३॥
स जयतु जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो यदुदितवरधर्मे शर्मभागी जनः स्यात्।
गुणगणमणिखानिः स्वर्गमोक्षप्रयोनिः सकलभुवनचन्द्रः केवलज्ञानसान्द्रः ॥४४॥

इति कथाकोशे हरिषेणचक्रवर्त्तिन आख्यानं समाप्तम्।

सुन्दर है, बुद्धिमती है और बड़ी चतुर है। पर उसमें एक दुर्गुण है और वह महा दुर्गुण है। वह यह कि उसे पुरुषों से बड़ा द्वेष है, पुरुषों को वह आँखों से देखना तक पसन्द नहीं करती। नैमित्तिक ने उसके सम्बन्ध में कहा है कि जो सिन्धुनद की सौ राजकुमारियों का पति होगा, वही इसका भी होगा। तब मैंने आपका चित्र ले जाकर उसे बतलाया। वह उसे देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसका सब कुछ आप पर न्यौछावर हो चुका है। वह आपके सम्बन्ध की तरह-तरह की बातें पूछा करती है और बड़ी चाव से उन्हें सुनती है। आप का जिकर छिड़ते ही वह बड़े ध्यान से उसे सुनने लगती है। उसकी इन सब चेष्टाओं से जान पड़ता है कि उसका आप पर अत्यन्त प्रेम है। यही कारण है कि मैं उसी की आज्ञा से आपको उसके पास लिए जा रही हूँ। सुनकर हरिषेण बहुत खुश हुआ और फिर वह कुछ भी न बोलकर जहाँ उसे विद्याधरी लिवा गई, चला गया। वेगवती ने हरिषेण को इन्द्रधनु के महल पर ला रखा। हरिषेण के रूप और गुणों को देख कर सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई जयचन्द्रा के माता-पिता ने उसके ब्याह का भी दिन निश्चित कर दिया। जो दिन ब्याह का था उस दिन राजकुमारी जयचन्द्रा के मामा के लड़के गंगाधर और महीधर ये दोनों हरिषेण पर चढ़ आए। इसलिए कि वह जयचन्द्रा को स्वयं ब्याहना चाहते थे। हरिषेण ने इनके साथ बड़ी वीरता से युद्ध कर उन्हें हराया। उस युद्ध में हरिषेण के हाथ जवाहरात और बहुत धन-दौलत लगी। वह चक्रवर्ती होकर अपने घर लौटा। रास्ते में उसने अपनी प्रेमिणी मदनावती से भी ब्याह किया। घर आकर फिर उसने अपनी माता की इच्छा पूरी की। पहले उसी का रथ चला। इसके बाद हरिषेण ने अपने देशभर में जिन मन्दिर बनवा कर अपनी प्रतिज्ञा को भी निबाहा। सच है-पुण्यवानों के लिए कोई काम कठिन नहीं ॥३५-४३॥

वे जिनेन्द्र भगवान् सदा जय लाभ करें, जो देवादिकों द्वारा पूजा किए जाते हैं, गुणरूपी रत्नों की खान हैं, स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले है, संसार के प्रकाशित करने वाले निर्मल चन्द्रमा हैं केवलज्ञानी, सर्वज्ञ है और जिनके पवित्र धर्म का पालन कर भव्यजन सुख लाभ करते हैं ॥४४॥

९९. परगुणग्रहणाख्यानम्

नमस्कृत्य जिनं देवं सुरासुरसमर्चितम्। वक्ष्येहं परजन्तूनां गुणग्रहणसत्कथाम् ॥१॥
धर्मानुरागतः स्वर्गे सौधर्मेण च धीमता। प्रोक्तं स्वस्य सभामध्ये कुर्वता गुणिनां कथाम् ॥२॥
यस्त्यक्त्वा परदोषौघान्स्वल्पं चान्यगुणं मुदा। सुधीर्विस्तारयत्युच्चैरुत्तमः स जगत्त्रये ॥३॥
तत्समाकर्ण्य चैकेन पृष्टः स तु सुधाशिना। किं कोपि विद्यते देव तथाभूतस्तु भूतले ॥४॥
सौधर्मेन्द्रस्ततः प्राह द्वारावत्यां गुणोज्ज्वलः। वासुदेवोन्तिमोप्यस्ति कृष्णनामा महाप्रभुः ॥५॥
ततः स वेगतो देवः समागत्य महीतलम्। श्रीमन्नेमिजिनाधीशवन्दनार्थं प्रगच्छतः ॥६॥
तस्य त्रिखण्डभूपस्य परीक्षार्थं स्वमायया। मार्गे दुर्गन्धताक्रान्तं मृतकुक्कुररूपकम् ॥७॥
धृत्वा स्थितस्तदङ्गोत्थमहादुर्गन्धतो द्रुतम्। सर्वसेनाजनो नष्टस्तदा सोपि सुरः पुनः ॥८॥
द्वितीयविप्ररूपेण समागत्य प्रपञ्चतः। वासुदेवाग्रतश्चक्रे कुक्कुरस्थप्रदूषणम् ॥९॥
तदा श्रीवासुदेवेन प्रोक्तं भो कुक्कुरानने। कीदृशी स्फटिकाकारा दृश्यते दन्तसन्ततिः ॥१०॥

---

९९. दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा

जिन्हें स्वर्ग के देव पूजते हैं उन जिन भगवान् को नमस्कार कर दूसरों के दोषों को न देखकर गुण ग्रहण करने वाले की कथा लिखी जाती है ॥१॥

एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र धर्म-प्रेम के वश हो गुणवान् पुरुषों की अपने सभा में प्रशंसा कर रहा था। उस समय उसने कहा–जिस पुरुष का जिस महात्मा का हृदय इतना उदार है कि वह दूसरों के बहुत से औगुणों पर बिल्कुल ध्यान न देकर उसमें रहने वाले गुणों के थोड़े भी हिस्से को खूब बढ़ाने का यत्न करता है, जिसका ध्यान सिर्फ गुणों के ग्रहण करने की ओर है वह पुरुष, वह महात्मा संसार में सबसे श्रेष्ठ है, उसी का जन्म भी सफल है। इन्द्र के मुँह से इस प्रकार दूसरों की प्रशंसा सुन एक मौजी ले देव ने उससे पूछा–देवराज, जैसा इस समय आपने गुणग्राहक पुरुष की प्रशंसा की है, क्या ऐसा कोई बड़भागी पृथ्वी पर है। इन्द्र ने उत्तर में कहा–हाँ हैं और वे अन्तिम वासुदेव द्वारका के स्वामी श्रीकृष्ण। सुनकर वह देव उसी समय पृथ्वी पर आया। इस समय श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान् के दर्शनार्थ जा रहे थे। उनकी परीक्षा के लिए यह मरे कुत्ते का रूप ले रास्ते में पड़ गया। उसके शरीर से बड़ी ही दुर्गन्ध भभक रही थी। आने-जाने वालों के लिए इधर-उधर होकर आना-जाना मुश्किल हो गया था। उसकी उस असह दुर्गन्ध के मारे श्रीकृष्ण के साथी सब भाग खड़े हुए। उसी समय वह देव एक दूसरे ब्राह्मण का रूप लेकर श्रीकृष्ण के पास आया और उस कुत्ते की बुराई करने लगा, उसके दोष दिखाने लगा। श्रीकृष्ण ने उसकी सब बातें सुन-सुनाकर कहा–अहा! देखिये, इस कुत्ते के दाँतों की श्रेणी स्फटिक के समान कितनी निर्मल और सुन्दर है। श्रीकृष्ण ने कुत्ते के और दोषों पर उसकी दुर्गन्ध आदि पर कुछ ध्यान न देकर उसके दाँतों की, उसमें रहने वाले थोड़े से भी अच्छे भाग की उल्टी प्रशंसा ही की। श्रीकृष्ण की पशु के लिए

तच्छ्रुत्वा मानसे तुष्टो भूत्वासौ प्रकटः सुरः। प्रोक्त्वा सर्वं तमभ्यर्च्य त्रिखण्डेशं दिवं गतः ॥११॥

एवं सुभव्यैर्जिनभक्तियुक्तैस्त्यक्त्वात्र दोषान्परलोकजातान्।
नित्यं तु साधुप्रगुणो हि भक्त्या ग्राह्यो गुणज्ञैर्वरशर्मसिद्ध्यै ॥१२॥

इति कथाकोशे परगुणग्रहणाख्यानं समाप्तम्।

१००. दुर्लभमानवपर्यायदृष्टान्ताः

विशुद्धं केवलज्ञानं नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरम्। दृष्टान्तैर्दशभिर्वच्मि मनुष्यत्वं सुदुर्लभम् ॥१॥
यथा—

चोल्लय पासय धण्णं जूवा रदणाणि सुमिण चक्कं वा। कुम्मं जुग परमाणु दस दिट्ठंता मणुयलभे॥
पूर्वं चोल्लकदृष्टान्तं शृण्वन्तु सुधियो जनाः। श्रीमन्नेमिजिनाधीशे मुक्तिप्राप्ते जगद्धिते ॥२॥
विनीतविषयेऽयोध्यां नगर्यां ब्रह्मदत्तवाक्। षट्खण्डाधिपतिर्जाताश्चक्रिणामन्तिमो महान् ॥३॥
सहस्रभटनामाभूत्तत्सामन्तो गुणोज्ज्वलः। तस्य कान्ता सुमित्राख्या वसुदेवस्तयोः सुतः ॥४॥
मृते तस्मिन्सहस्रादिभटे सामन्तके ततः। वसुदेवः सुतः सोपि मूर्खः सेवादिकर्मसु ॥५॥

इतनी उदार बुद्धि देखकर वह देव बहुत खुश हुआ। उसने फिर प्रत्यक्ष होकर सब हाल श्रीकृष्ण से कहा—और उचित आदर मान करके आप अपने स्थान चला गया ॥२-११॥

इसी तरह अन्य जिन भगवान् के भक्त भव्यजनों को भी उचित है कि वे दूसरों के दोषों को छोड़कर सुख की प्राप्ति के लिए प्रेम के साथ उनके गुणों को ग्रहण करने का यत्न करें। इसी से वे गुणज्ञ और प्रशंसा के पात्र कहे जा सकेंगे ॥१२॥

१००. मनुष्य-जन्म की दुर्लभता के दस दृष्टान्त

अतिशय निर्मल केवलज्ञान के धारक जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर मनुष्य जन्म का मिलना कितना कठिन है, इस बात को दस दृष्टान्तों-उदाहरणों द्वारा खुलासा समझाया जाता है ॥१॥

१. चोल्लक, २. पासा, ३. धान्य, ४. जुआ, ५. रत्न, ६. स्वप्न, ७. चक्र, ८. कछुआ, ९. युग और १०. परमाणु।

अब पहले ही चोल्लक दृष्टान्त लिखा जाता है, उसे आप ध्यान से सुनें।

१. चोल्लक

संसार के हितकर्ता नेमिनाथ भगवान् को निर्वाण गए बाद अयोध्या में ब्रह्मदत्त बारहवें चक्रवर्ती हुए। उनके एक वीर सामन्त का नाम सहस्रभट था। सहस्रभट की स्त्री सुमित्रा के सन्तान में एक लड़का था। उसका नाम वसुदेव था। वसुदेव न तो कुछ पढ़ा-लिखा था और न राज-सेवा वगैरह की उसमें योग्यता थी। इसलिए अपने पिता की मृत्यु के बाद उनकी जगह इसे न मिल सकी, जो कि एक अच्छी प्रतिष्ठित जगह थी और यह सच है कि बिना कुछ योग्यता प्राप्त किए राज-सेवा

प्राप्तो नैव पितुः स्थानं निधानं भूरिसम्पदाम्। विना सेवादिभिः कस्मान्प्राप्यते राजमानिता ॥६॥
तदा सुमित्रया सोपि स्थित्वा जीर्णे कुटीरके। जनन्या पोषितो यत्नाद्वसुदेवो निजाशया ॥७॥
कट्यां बध्वा शुभं भारं ताम्बूलादिकमोदकम्। शीघ्रं च गमनेनोच्चैः स श्रमं कारितस्तया ॥८॥
इत्यसौ शिक्षतस्तस्य चक्रेशस्य कुलेशिनः। अङ्गरक्षणसेवायां संस्थितो नवयौवनः ॥९॥
एकदा चक्रवर्त्ती च महाटव्यां प्रवेगतः। दुष्टाश्वेन समानीतः क्षुत्पिपासादिपीडितः ॥१०॥
तत्रासौ वसुदेवेन तेन संशीघ्रगामिना। दत्वा भक्ष्यादिकं वस्तु चक्रवर्ती सुखीकृतः ॥११॥
प्रस्तावे स्तोकमप्युच्चैर्दत्तं शर्मप्रदं भवेत्। क्षीयमाने यथा दीपे तैलं संवर्द्धते शिखा ॥१२॥
ततो हृष्टेन तैनेव कस्त्वं पृष्टो जगौ च सः। सहस्त्रभटपुत्रोहं तत्समाकर्ण्य चक्रिणा ॥१३॥
तस्मै व्याघुटितो दत्वा स्वकीयं रत्नकंकणम्। अयोध्यायां समागत्य भणितस्तलरक्षकः ॥१४॥

आदि में आदर-मान की जगह मिल भी नहीं सकती। उसकी इस दशा पर माता को बड़ा दुःख हुआ। पर बेचारी कुछ करने-धरने को लाचार थी। वह अपनी गरीबी के कारण एक पुरानी गिरी-पड़ी झोपड़ी में रहने लगी और जिस किसी प्रकार अपना गुजारा चलाने लगी। उसने भावी आशा से वसुदेव से कुछ काम लेना शुरू किया। वह लड्डू, पेड़ा, पान आदि वस्तुएँ एक खोमचे में रखकर उसे आस-पास के गाँवों में भेजने लगी, इसलिए कि वसुदेव को कुछ परिश्रम करना आ जाए, वह कुछ होशियार हो जाए। ऐसा करने से सुमित्रा को सफलता प्राप्त हुई और वसुदेव कुछ सीख भी गया। उसे पहले की तरह अब निकम्मा बैठे रहना अच्छा न लगने लगा। सुमित्रा ने तब कुछ वसीला लगाकर वसुदेव को राजा का अंगरक्षक नियत करा दिया ॥२-९॥

एक दिन चक्रवर्ती हवा-खोरी के लिए घोड़े पर सवार हो शहर बाहर हुए। जिस घोड़े पर वे बैठे थे वह बड़े दुष्ट स्वभाव को लिए था। सो जरा ही पाँव की एड़ी लगाने पर वह चक्रवर्ती को लेकर हवा हो गया। बड़ी दूर जाकर उसने उन्हें एक बड़ी भयावनी वन में ला गिराया। इस समय चक्रवर्ती बड़े कष्ट में थे। भूख-प्यास से उनके प्राण छटपटा रहे थे। पाठकों को स्मरण है कि इनके अंगरक्षक वासुदेव को उसकी माँ ने चलने-फिरने और दौड़ने-दुड़ाने के काम में अच्छा होशियार कर दिया था। यही कारण था कि जिस समय चक्रवर्ती को घोड़ा लेकर भागा, उस समय वसुदेव भी कुछ खाने-पीने की वस्तुएँ लेकर उनके पीछे-पीछे बेतहाशा भागा गया। चक्रवर्ती को आध-पौन घंटा वन में बैठे हुआ होगा कि इतने में वसुदेव भी उनके पास जा पहुँचा। खाने-पीने की वस्तुएँ उसने महाराज को भेंट की। चक्रवर्ती उससे बहुत सन्तुष्ट हुए। सच है, योग्य समय में थोड़ा भी दिया हुआ सुख का कारण होता है। जैसे बुझते हुए दीप में थोड़ा भी तेल डालने से वह झट से तेज हो उठता है। चक्रवर्ती ने खुश होकर उससे पूछा तू कौन है? उत्तर में वसुदेव ने कहा-महाराज, सहस्त्रभट सामन्त का मैं पुत्र हूँ, चक्रवर्ती फिर विशेष कुछ पूछताछ करके चलते समय उसे एक रत्नमयी कंकण देते गए ॥१०-१४॥

मदीयं कंकणं नष्टं त्वं गवेषय वेगतः। तच्छ्रुत्वा कोट्टपालश्च द्रुतं शालास्थितं तदा ॥१५॥
कंकणस्य मुदा वार्त्तां प्रकुर्वन्तं विलोक्य तम्। वसुदेवं समानीय दर्शयामास चक्रिणः ॥१६॥
तं दृष्ट्वा चक्रभृत्प्राह याचय त्वं स्ववाञ्छितम्। तेनोक्तं देव जानाति माता मे च ततो गृहम् ॥१७॥
गत्वा तां मातरं पृष्ट्वा सुमित्रां गुणशालिनीम्। पुनश्चागत्य भूपालो वसुदेवेन याचितः ॥१८॥
दीयते भो महीनाथ युष्माभिः सुविचक्षणैः। प्रमोदजनकं चारु मह्यं चोल्लकभोजनम् ॥१९॥
ब्रह्मदत्तो नृपः प्राह कीदृशं तच्च भोजनम्। तच्छ्रुत्वा वसुदेवोपि जगाद शृणु भूपते ॥२०॥
पूर्वं भवद्गृहे देव प्रोल्लसद्गौरवेण च। स्नानभोजनसद्भूषा-मनोवाञ्छितसद्धनम् ॥२१॥
लब्ध्वा पश्चात्तवप्राण-वल्लभान्तःपुरे तथा। महामुकुटबद्धादि-परिवारगृहेषु च ॥२२॥
क्रमादेवं परिप्राप्य पुनस्तेन क्रमेण वै। सर्वं सम्प्राप्यते भूप मया श्रीमत्सुवाक्यतः ॥२३॥
तदाश्चर्यं न भो भव्याः कदाचित्प्राप्यतेऽखिलम्। मनुष्यत्वं पुनर्नष्टं प्राप्यते नैव भूतले ॥२४॥
संज्ञात्वेति बुधैस्त्यक्त्वा दुर्मार्गं दुःखकारणम्। श्रीमज्जिनेन्द्रसद्भक्तिर्विधेया शर्मकारणम् ॥२५॥

अयोध्या में पहुँचा कर ही उन्होंने कोतवाल से कहा–मेरा कड़ा खो गया है, उसे ढूँढ़कर पता लगाइए। राजाज्ञा पाकर कोतवाल उसे ढूँढ़ने को निकला। रास्ते में एक जगह इसने वसुदेव को कुछ लोगों के साथ कड़े के सम्बन्ध की ही बात-चीत करते पाया। कोतवाल तब उसे पकड़ कर राजा के पास लिवा ले गया। चक्रवर्ती उसे देखकर बोले–मैं तुझ पर बहुत खुश हूँ। तुझे जो चाहिए वही माँग ले। वसुदेव बोला–महाराज, इस विषय में मैं कुछ नहीं जानता कि मैं आपसे क्या माँगूं। यदि आप आज्ञा करें तो मेरी माँ से पूछ आऊँ। चक्रवर्ती के कहने से वह अपनी माँ के पास गया और उसे पूछ आकर चक्रवर्ती से उसने प्रार्थना की महाराज, आप मुझे चोल्लक भोजन कराइए। उससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। तब चक्रवर्ती ने उनसे पूछा–भाई, चोल्लक भोजन किसे कहते हैं? हमने तो उसका नाम भी आज तक नहीं सुना। वसुदेव ने कहा–सुनिए महाराज, पहले तो बड़े आदर के साथ आपके महल में मुझे भोजन कराया जाए और खूब अच्छे-अच्छे सुन्दर कपड़े, गहने-दागीने दिये जायें। इसके बाद उसकी तरह आपकी रानियों के महलों में क्रम-क्रम से मेरा भोजन हो। फिर आपके परिवार तथा मण्डलेश्वर राजाओं के यहाँ मुझे इसी प्रकार भोजन कराया जाए। इतना सब हो चुकने पर क्रम-क्रम से फिर आप ही के यहाँ मेरा अन्तिम भोजन हो। महाराज, मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपकी आज्ञा से मुझे यह सब प्राप्त हो सकेगा ॥१५-२३॥

भव्यजनों! इस उदाहरण से यह शिक्षा लेने की है कि यह चोल्लक भोजन वसुदेव सरीखे कंगाल को शायद प्राप्त हो भी जाए तो भी इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं, पर एक बार प्रमाद से खो-दिया गया मनुष्य जन्म बेशक अत्यन्त दुर्लभ है। फिर लाख प्रयत्न करने पर भी वह सहसा नहीं मिल सकता। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे दुःख के कारण खोटे मार्ग को छोड़कर जैनधर्म का शरण लें, जो कि मनुष्य जन्म की प्राप्ति और मोक्ष का प्रधान कारण है ॥२४-२५॥

१-इति चोल्लकदृष्टान्तः।

अथ पाशक दृष्टान्तः कथ्यते मगधाभिधे। देशे पुरे शतद्वारे शतद्वाराख्यभूपतिः ॥२६॥
तेन द्वारशतं राज्ञा कारितं स्वपुरे परे। एकादश सहस्राणि स्तंभानां द्वारकं प्रति ॥२७॥
स्तंभे स्तंभे श्रयः प्रोक्तास्तथा षण्णवतिर्बुधैः। एकैकस्यां तथा श्र्यां च द्यूतकारकदम्बकाः ॥२८॥
पाशकाभ्यां च ते सर्वे रमन्ते द्यूतकारकाः। एकदा शिवशर्माख्यब्राह्मणेन प्रयाचिताः ॥२९॥
सर्वत्रैको यदा दावः पतत्येव तदा ध्रुवम्। जितं द्रव्यं प्रदातव्यं युष्माभिर्मह्यमित्यलम् ॥३०॥
एवमस्त्विति तैः प्रोक्ते तस्मिन्नेव दिने तदा। एकदा यश्च सर्वत्र संपपात विधेर्वशात् ॥३१॥
तत्सर्वं विप्रकः सोपि मुदा द्रव्यं गृहीतवान्। पुनः सोपि तथा द्रव्यं सर्वं प्राप्नोति कर्मतः ॥३२॥
नैव शीघ्रं मनुष्यत्वं नष्टं सम्प्राप्यते क्षितौ। ज्ञात्वा चित्ते कथाभावं सद्भिः कार्या शुभे मतिः ॥३३॥
तत्र पुण्यं जिनेन्द्राणां भक्त्या पादद्वयार्चनैः। पात्रदानै र्व्रतैः शीलैः सोपवासैर्मतं बुधैः ॥३४॥

२-इति पाशकदृष्टान्तः।

धान्यदृष्टान्तकं वक्ष्ये संक्षेपेण सतां हितम्। जम्बूद्वीपप्रमाणं च योजनैकं सहस्रतः ॥३५॥

---

२. पाशे का दृष्टान्त

मगध देश में शतद्वार नाम का एक अच्छा शहर था उसके राजा का नाम शतद्वार था। शतद्वार ने अपने शहर में एक ऐसा देखने योग्य दरवाजा बनवाया, कि जिसमें ग्यारह हजार खंभे थे। उन एक-एक खम्भे में छियानवे ऐसे स्थान बने हुए थे जिनमें जुआरी लोग पाशे द्वारा सदा जुआ खेला करते थे। एक शिवशर्मा नाम के ब्राह्मण ने उन जुआरियों से प्रार्थना की-भाइयों, मैं बहुत ही गरीब हूँ, इसलिए यदि आप मेरा इतना उपकार करें, कि आप सब खेलने वालों का दाव यदि किसी समय एक ही सा पड़ जाए और वह सब धन-माल आप मुझे दे दें, तो बहुत अच्छा हो। जुआरियों ने शिवशर्मा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। इसलिए कि उन्हें विश्वास था कि ऐसा होना नितान्त ही कठिन है, बल्कि असंभव है। पर दैवयोग ऐसा हुआ कि एक बार सबका दाव एक ही सा पड़ गया और उन्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सब धन शिवशर्मा को दे देना पड़ा। वह उस धन को पाकर बहुत खुश हुए। इस दृष्टान्त से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जैसा योग शिवशर्मा को मिला था, वैसा योग मिलकर और कर्मयोग से इतना धन भी प्राप्त हो जाए तो कोई बात नहीं, परन्तु जो मनुष्य-जन्म एक बार प्रमाद वश हो नष्ट कर दिया जाए तो वह फिर सहज में नहीं मिल सकता। इसलिए सत्पुरुषों को निरन्तर ऐसे पवित्र कार्य करते रहना चाहिए, जो मनुष्य-जन्म या स्वर्ग-मोक्ष के प्राप्त कराने वाले हैं ऐसे कर्म हैं-जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करना, दान देना, परोपकार करना, व्रतों का पालना, ब्रह्मचर्य से रहना और उपवास करना आदि ॥२६-३४॥

३. धान्य दृष्टान्त

जम्बूद्वीप के बराबर चौड़ा और एक हजार योजन अर्थात् दो हजार कोस या चार कोस गहरा

गंभीरा सर्षपैर्गर्त्ता पूरिता सा दिने दिने। एकैकसर्षपेणोच्चैः क्षीयते कालयोगतः ॥३६॥
नष्टं नैव मनुष्यत्वं प्राप्यते चाल्पपुण्यकैः। तस्मात्पुण्यं जिनेन्द्रोक्तं संश्रयन्तु बुधोत्तमाः ॥३७॥
तथान्यो धान्यदृष्टान्तो विनीतविषये शुभे। अयोध्यापत्तने राजा प्रजापालाभिधानभाक् ॥३८॥
राजगृहात्तथा शत्रुर्जितशत्रुर्महीपतिः। अयोध्यापुरमुद्दिश्य गृहीतुं संचचाल च ॥३९॥
तत्समाकर्ण्य भूपालः प्रजापालः प्रजां प्रतिः। जगौ सर्वजनैः सर्वधान्यमेकत्र मिश्रितम् ॥४०॥
संख्यां कृत्वा समानीय कोष्ठागारे मम द्रुतम्। रक्षणीयं प्रयत्नेन तैर्जनैस्तु तथा कृतम् ॥४१॥
ततस्तस्मिन्समागत्य जितशत्रौ मदोद्धते। असमर्थत्वमासाद्य पश्चाद्व्याघुटिते सति ॥४२॥
प्रजालोकैर्निजं धान्यं याचितः स महीपतिः। प्रजापालस्ततः प्राह परिज्ञाय निजं निजम् ॥४३॥
युष्माभिर्गृह्यते धान्यं राजानो विकटाशया। क्वचित्तत्संभवत्येव केनोपायेन पुण्यतः ॥४४॥
न नष्टं प्राप्यते शीघ्रं मनुष्यत्वं सुदुर्लभम्। मत्वेति परमप्रीत्या सन्तः कुर्वन्तु सच्छुभम् ॥४५॥

३-इति धान्यदृष्टान्तः।

एक बड़ा भारी गड्ढा खोदा जाकर वह सरसों से भर दिया जाये ॥३५॥

उसमें से फिर रोज-रोज एक-एक सरसों निकाली जाया करे। ऐसा निरन्तर करते रहने से एक दिन ऐसा भी आयेगा कि जिस दिन वह कुण्ड सरसों से खाली हो जायेगा। पर यदि प्रमाद से यह जन्म नष्ट हो गया तो वह समय फिर आना एक तरह असम्भव ही हो जायेगा, जिनमें कि मनुष्य-जन्म मिल सके। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे प्राप्त हुए मनुष्य जन्म को निष्फल न खोकर जिनपूजा, व्रत, दान, परोपकारादि पवित्र कामों में लगावें, क्योंकि ये सब परम्परा मोक्ष के साधन हैं ॥३६-३७॥

धान्य का दूसरा दृष्टान्त

अयोध्या के राजा प्रजापाल पर राजगृह के जितशत्रु राजा ने एक बार चढ़ाई की और सारी अयोध्या को सब ओर से घेर लिया। तब राजा ने अपनी प्रजा से कहा-जिसके यहाँ धान के जितने बोरे हों, उन सब बोरों को लाकर और गिनती करके मेरे कोठों में सुरक्षित रख दें। मेरी इच्छा है कि शत्रु को एक अन्न का दाना भी यहाँ से प्राप्त न हो। ऐसी हालत में उसे झखमार कर लौट जाना पड़ेगा। सारी प्रजा ने राजा की आज्ञानुसार ऐसा ही किया। जब अभिमानी शत्रु को अयोध्या से अन्न न मिला तब थोड़े ही दिनों में उसकी अकल ठिकाने पर आ गई। उसकी सेना भूख के मारे मरने लगी। आखिर जितशत्रु को लौट जाना ही पड़ा। जब शत्रु अयोध्या का घेरा उठा चल दिया तब प्रजा ने राजा से अपने-अपने धान के ले-जाने की प्रार्थना की। राजा ने कह दिया कि हाँ अपना-अपना धान पहचान कर सब लोग ले जायें। कभी कर्मयोग से ऐसा हो जाना भी सम्भव है, पर यदि मनुष्य जन्म एक बार व्यर्थ नष्ट हो गया तो उसका पुनः मिलना अत्यन्त ही कठिन है। इसलिए इसे व्यर्थ खोना उचित नहीं। इसे तो सदा शुभ कामों में ही लगाये रहना चाहिए ॥३८-४५॥

द्यूतदृष्टान्तमावच्मि शतद्वारपुरे तथा। द्वाराः पञ्चशतान्येव द्वारे द्वारे मनोहरे ॥४६॥
शालाः पञ्चशतान्युच्चैः शालां शालां प्रति ध्रुवम्। द्यूतकारसहस्त्रार्द्धं सम्प्रोक्त सुविचक्षणैः ॥४७॥
एकस्तत्र चयीनामा द्यूतकारः प्रवर्तते। द्यूतकाराश्च ते सर्वे जित्वा सर्वकपर्दकान् ॥४८॥
गताः सर्वदिशास्वाशु स्वेच्छया स चयी पुनः। तेषां च द्यूतकाराणां कदाचित्कर्मयोगतः ॥४९॥
मेलापकं करोत्येव न पुनर्नष्टतामितम्। प्राप्यते सुमनुष्यत्वं जन्तुभिस्तुच्छपुण्यकैः ॥५०॥
अन्यस्मिन्द्यूतदृष्टान्ते तस्मिन्नेव पुरेऽभवत्। नाम्ना निर्लक्षणो द्यूतकारः स्वप्नेपि पापतः ॥५१॥
संप्राप्नोति जयं नैव कदाचिच्छुभयोगतः। जित्वा कपर्दकान्सर्वान्ददौ कार्पटिकादिषु ॥५२॥
ते सर्वे तान्समादाय प्राप्ताः सर्वदिशासुखम्। कदाचित्कर्मयोगेन सर्वे कार्पटिकादयः ॥५३॥
भवन्त्येकत्र नैवात्र नृत्वं सम्प्राप्यते गतम्। कर्त्तव्या च ततो भव्यैर्धर्मसेवा शुभश्रिये ॥५४॥

४-इति द्यूतदृष्टान्तः।

रत्नदृष्टान्तमावच्मि सतां सम्बोधहेतवे। श्रीमद्भरतचक्रेशो द्वितीयः सगरो महान् ॥५५॥
तृतीयो मघवा चक्री तुर्यः सनत्कुमारवाक्। शान्तिनाथस्तथा कुन्थुररश्चक्री च सप्तमः ॥५६॥
सुभौमाख्यो महापद्मो हरिषेणो गुणोज्ज्वलः। चक्री श्रीजयसेनाख्यो ब्रह्मदत्तोन्तिमो मतः ॥५७॥

---

४. जुआ का दृष्टान्त

शतद्वारपुर में पाँच सौ सुन्दर दरवाजे हैं। उन एक-एक दरवाजों में जुआ खेलने के पाँच-पाँच सौ अड्डे हैं, उन एक-एक अड्डों में पाँच-पाँच सौ जुआरी लोग जुआ खेलते हैं। उनमें एक चयी नाम का जुआरी है। ये सब जुआरी कौड़ियाँ जीत-जीत कर अपने-अपने गाँवों में चले गए। चयी वहीं रहा। भाग्य से इन सब जुआरियों का और इस चयी का फिर भी कभी मुकाबला होना सम्भव है, पर नष्ट हुए मनुष्य-जन्म का पुण्यहीन पुरुषों को फिर सहसा मिलना दरअसल कठिन है ॥४६-५०॥

जुआ का दूसरा दृष्टान्त

इसी शतद्वारपुर में निर्लक्षण नाम का एक जुआरी था। उसके इतना भारी पापकर्म का उदय था कि वह स्वप्न में भी कभी जीत नहीं पाता था। एक दिन कर्मयोग से वह भी खूब धन जीता। जीतकर उस धन को उसने याचकों को बाँट दिया। वे सब धन लेकर चारों दिशाओं में जिसे जिधर जाना था उधर चले गए। वे सब लोग दैवयोग से फिर भी कभी इकट्ठे हो सकते हैं, पर गया जन्म फिर हाथ आना दुष्कर है। इसलिए जब तक मोक्ष न मिले तब तक यह मनुष्य-जन्म प्राप्त होता रहे, इसके लिए धर्म की शरण सदा लिए रहना चाहिए ॥५१-५४॥

५. रत्न-दृष्टान्त

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभौम, महापद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्ती इनके मुकुटों में जड़े हुए मणि, जिन्हें स्वर्गों के देव ले गए हैं और वे चौदह रत्न, नौ निधि तथा सब देव, ये सब कभी इकट्ठे नहीं हो सकते; इसी तरह खोया

एतेषां चक्रिणां चारु-चूडामणिसमूहकः। देवैः सर्वो गृहीतस्तु यथा ते चक्रवर्त्तिनः ॥५८॥
प्रोल्लसन्मणयस्तेऽपि पृथ्वीकायाश्च ते क्षितौ। तेऽपि देवा कदाप्यत्र मिलन्त्येकत्र नैव च ॥५९॥
तथा नष्टं मनुष्यत्वं विपुण्यैः प्राप्यते न हि। संविचार्य बुधैस्तस्माद्विधेयो जैनसद्वृषः ॥६०॥
५-इति रत्नदृष्टान्तः।

तथा स्वप्नप्रदृष्टान्तो-वन्तिदेशे मनोहरे। उज्जयिन्यां महापुर्यां हल्लाख्यः काचवाहकः ॥६१॥
तदा काष्ठान्यटव्यास्तु समानयति सोन्यदा। उद्याने काष्ठभारं च धृत्वा भूरिश्रमाश्रितः ॥६२॥
सुप्तः स्वप्नेऽभवत्सर्वभूमिचक्राधिपो महान्। भार्ययोत्थापितः पश्चाद्वाहति स्म स्वभारकम् ॥६३॥
यथा स्वप्नोत्थितः सोपि नैव चक्री कदाचन। तथा नष्टं मनुष्यत्वं प्राप्यते न विपुण्यकैः ॥६४॥
६-इति स्वप्नदृष्टान्तः।

वक्ष्येहं चक्रदृष्टान्तं दृढाः स्तंभा द्वाविंशति। स्तंभे स्तंभेभवच्चक्रं चक्रे चक्रे बुधैर्मतम् ॥६५॥
आराणां च सहस्त्रं स्यादारे चारे प्ररन्ध्रकम्। चक्राणां विपरीतत्वाद्भ्रमणे सुभटैस्तदा ॥६६॥

हुआ मनुष्य जीवन पुण्यहीन पुरुष कभी प्राप्त नहीं कर सकते। यह जानकर बुद्धिमानों को उचित है, उनका कर्तव्य है कि वे मनुष्य जीवन प्राप्त करने के कारण जैनधर्म को ग्रहण करें ॥५५-६०॥

६. स्वप्न-दृष्टान्त

उज्जैन में एक लकड़हारा रहता था। वह जंगल में से लकड़ी काट कर लाता और बाजार में बेच दिया करता था। उसी से उसका गुजारा चलता था। एक दिन वह लकड़ी का गट्ठा सिर पर लादे आ रहा था। ऊपर से बहुत गरमी पड़ रही थी। सो वह एक वृक्ष की छाया में सिर पर का गट्ठा उतार कर वहीं सो गया। ठंडी हवा बह रही थी। सो उसे नींद आ गई। उसने एक सपना देखा कि वह सारी पृथ्वी का मालिक चक्रवर्ती हो गया। हजारों नौकर-चाकर उसके सामने हाथ जोड़े खड़े हैं। जो वह आज्ञा-हुक्म करता है वह सब उसी समय बजाया जाता है। यह सब कुछ हो रहा था इतने में उसकी स्त्री ने आकर उसे उठा दिया। बेचारे की सब सपने की सम्पत्ति आँख खोलते ही नष्ट हो गई उसे फिर वही लकड़ी का गट्ठा सिर पर लादना पड़ा। जिस तरह वह लकड़हारा स्वप्न में चक्रवर्ती बन गया, पर जगने पर रहा लकड़हारा का लकड़हारा ही। उसके हाथ कुछ भी धन-दौलत न लगी। ठीक इसी तरह जिसने एक बार मनुष्य जन्म प्राप्त कर व्यर्थ गँवा दिया उस पुण्यहीन मनुष्य के लिए फिर वह मनुष्य-जन्म जागृतदशा में लकड़हारे को न मिलने वाली चक्रवर्ती की सम्पत्ति की तरह असम्भव है ॥६१-६४॥

७. चक्र-दृष्टान्त

अब चक्र-दृष्टान्त कहा जाता है। बाईस मजबूत खम्भे हैं। एक-एक खम्भे पर एक-एक चक्र लगा हुआ है, एक-एक चक्र में हजार-हजार आरे हैं उन आरों में एक-एक छेद है। चक्र सब उल्टे घूम रहे हैं। पर जो वीर पुरुष हैं वे ऐसी हालत में भी उन खम्भों पर की राधा को वेध देते हैं। काकन्दी के राजा द्रुपद की कुमारी का नाम द्रौपदी था। वह बड़ी सुन्दरी थी। उसके स्वयंवर में अर्जुन ने ऐसी

स्तंभानामुपरिस्था च राधा संविध्यते शुभात्। काकन्दीपत्तने राजाभवद्द्रुपदनामक: ॥६७॥
तत्पुत्रीं द्रौपदीनाम्नीं रूपसौभाग्यशालिनीम्। अर्जुनेन महीभर्त्रा स्वयंवरविधौ मुदा ॥६८॥
राधावेधं विधायोच्चैर्गृहीता द्रौपदी सती। पुण्योदयेन जन्तूनां किं न स्याच्छर्मनिर्मलम् ॥६९॥
तदुच्चैर्घटते सर्वं नैव नष्टा नृजन्मता। विना प्रव्यक्तपुण्येन तस्मात्तत्क्रियते बुधै: ॥७०॥

७-इति चक्रदृष्टान्त:।

कूर्मदृष्टान्तकं प्राहुर्भव्यानां पूर्वसूरय:। स्वयंभूरमणे ख्याते समुद्रे सुमहत्यपि ॥७१॥
छादिते चर्मणा तस्मिन्कूर्मो जन्तुर्महानभूत्। परिभ्रमञ्जले तत्र सोपि वर्षसहस्त्रकम् ॥७२॥
सूक्ष्मचर्मप्ररन्ध्रेण सूर्यं दृष्ट्वा कदाचन। पश्चादागत्य तं सूर्यं तस्मिन्नैव प्ररन्ध्रके ॥७३॥
दर्शयन्स्वकुटुम्बस्य स्वयं पश्यति भास्करम्। प्राप्यते न मनुष्यत्वं यत्प्रमादेन हारितम् ॥७४॥

८-इति कूर्मदृष्टान्त:।

शृण्वन्तु युगदृष्टान्तं सज्जनाश्चारुचेतस:। प्रमाणं योजनानां हि लक्षद्वयसमायते ॥७५॥
पूर्वक्षारसमुद्रे च युगच्छिद्राद्विनिर्गता। कदाचित्समिला तत्र पतिता काष्ठनिर्मिता ॥७६॥
तथा पश्चिमवार्राशौ युगं भ्रमति नित्यश:। तस्मिन्नेव युगच्छिद्रे कथंचित्कालयोगत: ॥७७॥
याति सा समिला चापि नैव नष्टं नृजन्म वै। प्राप्यते वेगतो भव्या-स्तत: कुर्वन्तु सच्छुभम् ॥७८॥

ही राधा वेध कर द्रौपदी को ब्याहा था। सो ठीक ही है पुण्य के उदय से प्राणियों को सब कुछ प्राप्त हो सकता है। यह सब योग कठिन होने पर भी मिल सकता है, पर यदि प्रमाद से मनुष्य जन्म एक बार नष्ट कर दिया जाए तो उसका मिलना बेशक कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। वह प्राप्त होता है पुण्य से, इसलिए पुण्य के प्राप्त करने का यत्न करना अत्यन्त आवश्यक है ॥६५-७०॥

८. कछुए का दृष्टान्त

सबसे बड़े स्वयंभूरमण समुद्र को एक बड़े भारी चमड़े में छोटा-सा छेद करके उससे ढक दीजिए। समुद्र में घूमते हुए एक कछुए ने कोई एक हजार वर्ष बाद उस चमड़े के छोटे से छेद में से सूर्य को देखा। वह छेद उससे फिर छूट गया। भाग्य से यदि फिर कभी ऐसा ही योग मिल जाए कि वह उस छिद्र पर फिर भी आ पहुँचे और सूर्य को देख ले, पर यदि मनुष्य-जन्म इसी तरह प्रमाद से नष्ट हो गया तो सचमुच ही उसका मिलना बहुत कठिन है ॥७१-७४॥

९. युग का दृष्टान्त

दो लाख योजन चौड़े पूर्व के लवणसमुद्र में युग (धुरा) के छेद से गिरी हुई समिलाका पश्चिम समुद्र में बहते हुए युग (धुरा) के छेद में समय पाकर प्रवेश कर जाना सम्भव है, पर प्रमाद या विषयभोगों द्वारा गँवाया हुआ मनुष्य जीवन पुण्यहीन पुरुषों के लिए फिर सहसा मिलना असम्भव है। इसलिए जिन्हें दु:खों से छूटकर मोक्ष सुख प्राप्त करना है उन्हें तब तक ऐसे पुण्यकर्म करते रहना चाहिए कि जिनसे मोक्ष होने तक बराबर मनुष्य जीवन मिलता रहे ॥७५-७८॥

९-इति युगदृष्टान्तः।

परमाणुप्रदृष्टान्तः कथ्यते दशमो मया। सर्व-चक्रेशिनां दण्डरत्नं हस्तचतुष्टयम् ॥७९॥
काले तस्य प्रदण्डस्य सर्वत्र परमाणवः। रूपान्तरं परिप्राप्य कदाचिच्च पुनस्तथा ॥८०॥
दण्डरत्नत्वमायान्ति नृत्वं न प्राप्यते गतम्। ज्ञात्वेति पण्डितैः कार्यं शर्मकोटि प्रदं शुभम् ॥८१॥

१०-इति परमाणुदृष्टान्तः।

भयशतैरिह दुर्लभतामितं परमसार नृजन्म जगद्धितम्।
बुधजनाः सुविचार्य शुभश्रिये जिनवृषं प्रभजन्तु जगद्धितम् ॥८२॥

इति कथाकोशे मनुष्यभवदुर्लभत्ववर्णने दश दृष्टान्ताः समाप्ताः।

१०१. भावानुरागरक्ताख्यानम्

जिनपादद्वयं नत्वा सर्वसौख्यप्रदायकम्। भावानुरागरक्तस्य प्रवक्ष्येहं कथानकम् ॥१॥
अवन्तिविषये चारूज्जयिन्यां भूपतिर्महान्। धर्मपालः प्रिया तस्य धर्मश्रीर्धर्मवत्सल ॥२॥
श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यः सुभद्रा श्रेष्ठिनी तयोः। नागदत्तोभवत्पुत्रो जिनपादाब्जषट्पदः ॥३॥
तथा समुद्रदत्तस्य श्रेष्ठिनो रूपमण्डिता। पुत्री समुद्रदत्तायां प्रियंगुश्रीर्बभूव हि ॥४॥

---

१०. परमाणु दृष्टान्त

चार हाथ लम्बे चक्रवर्ती के दण्डरत्न के परमाणु बिखर कर दूसरी अवस्था को प्राप्त कर लें और फिर वे ही परमाणु दैवयोग से फिर कभी दण्डरत्न के रूप में आ जाएँ तो असम्भव नहीं, पर मनुष्य पर्याय यदि एक बार दुष्कर्मों द्वारा व्यर्थ खो दिया तो इसका फिर उन अभागे जीवों को प्राप्त हो जाना जरूर असम्भव है। इसलिए पण्डितों को मनुष्य पर्याय की प्राप्ति के लिए पुण्यकर्म करना कर्तव्य है ॥७९-८१॥

इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ मनुष्य जीवन को अत्यन्त दुर्लभ समझ कर बुद्धिमानों को उचित है कि वे मोक्ष सुख के लिए संसार के जीवमात्र के हित करने वाले पवित्र जैनधर्म को ग्रहण करें ॥८२॥

१०१. भावानुराग-कथा

सब प्रकार सुख के देने वाले जिनभगवान् को नमस्कार कर धर्म में प्रेम करने वाले नागदत्त की कथा लिखी जाती है ॥१॥

उज्जैन के राजा धर्मपाल थे। उनकी रानी का नाम धर्मश्री था। धर्मश्री धर्मात्मा और बड़ी उदार प्रकृति की स्त्री थी। यहाँ एक सागरदत्त नाम का सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था। सुभद्रा के नागदत्त नाम का एक लड़का था। नागदत्त भी अपनी माता की तरह धर्मप्रेमी था। धर्म पर उसकी अचल श्रद्धा थी। इसका ब्याह समुद्रदत्त सेठ की सुन्दर कन्या प्रियंगुश्री के साथ बड़े ठाटबाट से हुआ। ब्याह में खूब दान दिया गया। पूजा उत्सव किया गया। दीन-दुःखियों की अच्छी सहायता की गई।

तेन श्रीनागदत्तेन सा सती सुमहोत्सवैः। दानपूजाकुलाचारैः परिणीता गुणोज्ज्वला ॥५॥
तस्या मैथुनिकः कोपि नागसेनो दुराशयः। तदा वैरं वहंश्चित्ते संस्थितः स्वगृहे कुधीः ॥६॥
एकदोपोषितः स श्रीनागदत्तो विचक्षणः। धर्मानुरागसंयुक्तः श्रीमज्जैनालये मुदा ॥७॥
कायोत्सर्गे स्थितो धीमांस्तं विलोक्य कुचेतसा। नागसेनेन हारं स्वं धृत्वा तत्पादयोस्तले ॥८॥
अयं चौरो भवेदित्थं पूत्कारः पापिना कृतः। दुष्टात्मा निन्दितं कर्म किं करोति न कोपतः ॥९॥
तत्समाकर्ण्य दृष्ट्वा च तल्गरेण प्रवेगतः। राज्ञः प्रोक्तं क्रुधा तेन मार्यतामति जल्पितम् ॥१०॥
नीतोसौ मारणार्थं च नागदत्तस्तलारकैः। यः खड्गस्तद्गले मुक्तस्तदा तत्पुण्ययोगतः ॥११॥
संजातः प्रोल्लसत्कान्तिर्हारो वा द्युमणिद्युतिः। देववृन्दैर्नभोभागात्पुष्पवृष्टिः कृता स्तुतिः ॥१२॥
अहो धर्मानुरागेण साधूनां साधुकारिताम्। के के भव्या न कुर्वन्ति येऽत्र सद्दृष्टयो भुवि ॥१३॥
तद्दर्शनान्महास्फीतौ जैनधर्मस्थशर्मिणः। धर्मपालमहीनाथनागदत्तौ सुभक्तितः ॥१४॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनी जातौ विचक्षणौ। अन्ये चापि महाभव्या जैनधर्मे रतास्तराम् ॥१५॥

प्रियंगुश्री को उसके मामा का लड़का नागसेन चाहता था और सागरदत्त ने उसका ब्याह कर दिया नागदत्त के साथ। इससे नागसेन को बड़ा ना-गवार मालूम हुआ। सो उसने बेचारे नागदत्त के साथ शत्रुता बाँध ली और उसे कष्ट देने का मौका ढूँढ़ने लगा ॥२-६॥

एक दिन उपासा नागदत्त धर्मप्रेम से जिन मन्दिर में कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। उसे नागसेन ने देख लिया। सो इस दुष्ट ने अपनी शत्रुता का बदला लेने के लिए एक षड्यन्त्र रचा। गले में से अपना हार निकाल कर उसने नागदत्त के पाँवों के पास रख दिया और हल्ला कर दिया कि मेरा हार चुराकर लिए जा रहा था, सो मैंने इसके पीछे दौड़कर इसे पकड़ लिया। अब ढोंग बनाकर ध्यान करने लग गया, जिससे यह पकड़ा न जाये। नागसेन का हल्ला सुनकर आसपास के बहुत से लोग इकट्ठे हो गए और सिपाही भी आ गए। नागदत्त पकड़ा गया उसे ले जाकर राजदरबार में उपस्थित किया गया। राजा ने नागदत्त की ओर से कोई प्रमाण न पाकर उसे मारने का हुक्म दे दिया। नागदत्त उसी समय बध्य-भूमि में ले जाया गया। उसका सिर काटने के लिए तलवार का जो वार उस पर किया गया, क्या आश्चर्य कि वह वार उसे ऐसा जान पड़ा मानों किसी ने उस पर फूलों की माला फेंकी हो। उसे जरा भी चोट न पहुँची और उसी समय आकाश से उस पर फूलों की वर्षा हुई जय जय, धन्य धन्य, शब्दों से आकाश गूँज उठा। यह आश्चर्य देखकर सब लोग दंग रह गए। सच है- धर्मानुराग से सत्पुरुषों का, सहनशील महात्माओं का कौन उपकार नहीं करता। इस प्रकार जैनधर्म का सुखमय प्रभाव देखकर नागदत्त और धर्मपाल राजा बहुत प्रसन्न हुए। वे अब मोक्षसुख की इच्छा से संसार की सब माया-ममता को छोड़कर जिनदीक्षा ले साधु हो गए और बहुत से लोगों ने-जो जैन नहीं थे, जैनधर्म को ग्रहण किया ॥७-१५॥

सकलभुवनभव्यैः सेवितः श्रीजिनेन्द्रस्तदुदितवरधर्मो निर्मलः शर्महेतुः।
विशदतरसुखश्रीः प्राप्यते यत्प्रसादात्स भवतु मम शान्त्यै कर्मणां शान्तिकर्ता ॥१६॥

इति कथाकोशे भावानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम्।

१०२. प्रेमानुरागरक्ताख्यानम्

संप्रणम्य जिनाधीशं प्रोल्लसद्धर्मनायकम्। प्रेमानुरागरक्तस्य रचयामि कथानकम् ॥१॥
विनीतविषये रम्ये साकेतापत्तनेऽभवत्। राजा सुवर्णवर्माख्यः सुवर्णश्रीप्रिय प्रियः ॥२॥
श्रेष्ठी सुमित्रनामा च सम्पदासारसंभृतः। प्रेमानुरागरक्तोसौ जैनधर्मे विचक्षणः ॥३॥
एकदा पूर्वरात्रौ च स्वगृहे शुद्धमानसः। कायोत्सर्गेण मेरुर्वा संस्थितो निश्चलस्तराम् ॥४॥
देवेनैकेन चागत्य भार्यावित्तादिकं तदा। हृत्वा परीक्षितः सोपि चलितो न स्वयोगतः ॥५॥
ततो देवः समालोक्य स्थिरत्वं श्रेष्ठिनो महत्। कृत्वा तस्य सुमित्रस्य स्तुतिं शर्मशतप्रदाम् ॥६॥
स्वयं च प्रकटीभूय विद्यां गगनगामिनीम्। दत्त्वासौ शांकरीं भक्त्या स्वर्गलोकं ययौ मुदा ॥७॥
तं प्रभावं विलोक्योच्चैः सर्वे भव्यजनास्तदा। श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे संजाता भक्तिनिर्भराः ॥८॥
केचिच्च मुनयः केचिच्छ्रावकव्रतमण्डिताः। केचित्सम्यक्त्वरत्नेन राजिता धर्मवत्सलाः ॥९॥

संसार के बड़े-बड़े महापुरुषों से पूजे जाने वाले, जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश किया पवित्र धर्म, स्वर्ग-मोक्ष के सुख का कारण है इसी के द्वारा भव्यजन उत्तम से उत्तम सुख प्राप्त करते हैं। यही पवित्र धर्म कर्मों का नाश कर मुझे आत्मिक सच्चा सुख प्रदान करें ॥१६॥

१०२. प्रेमानुराग-कथा

जो जिनधर्म के प्रवर्तक हैं, उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर धर्म से प्रेम करने वाले सुमित्र सेठ की कथा लिखी जाती है ॥१॥

अयोध्या के राजा सुवर्णवर्मा और उनकी रानी सुवर्णश्री के समय अयोध्या में सुमित्र नाम के एक प्रसिद्ध सेठ हो गए हैं। सेठ का जैनधर्म पर अत्यन्त प्रेम था। एक दिन सुमित्र सेठ रात के समय अपने घर में कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। उनकी ध्यान-समय की स्थिरता और भावों की दृढ़ता देखकर किसी एक देव ने सशंकित हो उनकी परीक्षा करनी चाही कि कहीं यह सेठ का कोरा ढोंग तो नहीं है। परीक्षा में उस देव ने सेठ की सारी सम्पत्ति, स्त्री, बाल-बच्चे आदि को अपने अधिकार में कर लिया। सेठ के पास इस बात की पुकार पहुँची। स्त्री, बाल-बच्चे रो-रोकर उसके पाँवों में जा गिरे और छुड़ाओं, छुड़ाओं की हृदय भेदने वाली दीन प्रार्थना करने लगे। जो न होने का था वह सब हुआ परन्तु सेठजी ने अपने ध्यान को अधूरा नहीं छोड़ा, वे वैसे ही निश्चल बने रहे। उनकी यह अलौकिक स्थिरता देखकर उस देव को बड़ी प्रसन्नता हुई उसने सेठ की शतमुख से भूरी-भूरी प्रशंसा की। अन्त में अपने निज स्वरूप में आ और सेठ को एक साँकरी नाम की आकाशगामिनी विद्या भेंट कर आप स्वर्ग चला गया। सेठ के इस प्रभाव को देखकर बहुतेरे भाइयों ने जैनधर्म को ग्रहण किया, कितनों ने मुनिव्रत, कितनों ने श्रावकव्रत और कितनों ने केवल सम्यग्दर्शन ही लिया ॥२-९॥

जिनपतेः पदपद्मयुगं मुदा परमसौख्यकरं भवतारणम्।
यजनसंस्तवनैर्जपनादिकैरिह भजन्तु ततः सुजनाः श्रिये ॥१०॥

इति कथाकोशे प्रेमानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम्।

१०३. मज्जनुरागाख्यानम्

सर्वदेवेन्द्रनागेन्द्र-समर्चितपदद्वयम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं वृत्तमज्जनरागजम् ॥१॥
उज्जयिन्यां महीनाथः सुधीः सागरदत्तवाक्। जिनदत्तवसुमित्रौ सार्थवाहौ गुणोज्ज्वलौ ॥२॥
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे महामज्जनरागिणौ। दानपूजाव्रताद्यैश्च मण्डितौ श्रावकोत्तमौ ॥३॥
उत्तरापथमुद्दिश्य वाणिज्यार्थं विनिर्गतौ। अवसीरमहाभूध्रमालादिवरभूध्रयोः ॥४॥
मध्येऽटव्यां गृहीते च सर्वसार्थे कुतस्करैः। ततोटवीं प्रविष्टौ तौ दिग्विमूढौ बभूवतुः ॥५॥
अपश्यन्तौ नरं कश्चिचारुमार्गोपदेशकम्। मज्जनरागरक्तौ द्वौ जैनधर्मे विचक्षणौ ॥६॥
संन्यासेन स्थितौ जैनं स्मरन्तौ चरणद्वयम्। अहो भव्या भवन्त्युच्चैः सौख्ये दुःखे च सद्धियः ॥७॥
तथान्यः सोमशर्माख्यो ब्राह्मणः कोऽपि तद्वने। दिग्विमूढो भ्रमन्कष्टं तयोः पार्श्वे समागतः ॥८॥

जिन भगवान् के चरण-कमल परम सुख के देने वाले हैं और संसारसमुद्र से पार करने वाले हैं, इसलिए भव्यजनों को उचित है कि वे सुख प्राप्ति के लिए उनकी पूजा करें, स्तुति करें, ध्यान करें, स्मरण करें ॥१०॥

१०३. जिनाभिषेक से प्रेम करने वाले की कथा

इन्द्रादिकों द्वारा जिनके पाँव पूजे जाते हैं, ऐसे जिन भगवान् को नमस्कार कर जिनाभिषेक से अनुराग करने वाले जिनदत्त और वसुमित्र की कथा लिखी जाती है। उज्जैन के राजा सागरदत्त के समय उनकी राजधानी में जिनदत्त और वसुमित्र नाम के दो प्रसिद्ध और बड़े गुणवान् सेठ हो गए हैं। जिनधर्म और जिनाभिषेक पर उनका बड़ा ही अनुराग था। ऐसा कोई दिन उनका खाली न जाता था जिस दिन वे भगवान् का अभिषेक न करते हों, पूजा प्रभावना न करते हों, दान-व्रत न करते हों। एक दिन ये दोनों सेठ व्यापार के लिए उज्जैन से उत्तर की ओर रवाना हुए। मंजिल दर मंजिल चलते हुए एक ऐसी घनी अटवी में पहुँच गए, जो दोनों बाजू आकाश से बातें करने वाले अवसीर और माला पर्वत नाम के पर्वतों से घिरी थी और जिसमें डाकू लोगों का अड्डा था। डाकू लोग इनका सब माल असबाब छीनकर हवा हो गए। अब ये दोनों उस अटवी मैं इधर-उधर घूमने लगे। इसलिए कि इन्हें उससे बाहर होने का रास्ता मिल जाये। पर इनका सब प्रयत्न निष्फल गया। न तो ये स्वयं रास्ते का पता लगा सके और न कोई रास्ता बताने वाला ही मिला। अपने अटवी के बाहर होने का कोई उपाय न देखकर अन्त में इन जिनपूजा और जिनाभिषेक से अनुराग करने वाले महानुभावों ने संन्यास ले लिया और जिन भगवान् का ये स्मरण-चिन्तन करने लगे। सच है, सत्पुरुष सुख और दुःख में सदा समान भाव रखते हैं, विचारशील रहते हैं ॥१-७॥

एक और अभागा भूला भटका सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण अटवी में आ फँसा। घूमता-फिरता

देवोर्हन्दोषनिर्मुक्तः केवलज्ञानलोचनः। तत्प्रणीतो भवेद्धर्मो दशलाक्षणिकः सुधीः ॥९॥
गुरुर्मायादिदुर्गन्धिवर्जितः शीलसंयुतः। ज्ञानध्यानतपोलक्ष्म्या मण्डितो भवतारकः ॥१०॥

वह इन्हीं के पास आ गया। अपनी-जैसी इस बेचारे ब्राह्मण की दशा देखकर ये बड़े दिलगीर हुए। सोमशर्मा से उन्होंने सब हाल कहा और यह भी कहा-यहाँ से निकलने का कोई मार्ग प्रयत्न करने पर भी जब हमें न मिला तो हमने अन्त में धर्म का शरण लिया इसलिए कि यहाँ हमारी मरने के सिवा कोई गति ही नहीं है और जब हमें मृत्यु के सामने होना ही है तब कायरता और बुरे भावों से क्यों उसका सामना करना, जिससे कि दुर्गति में जाना पड़े। दुःखों का नाश कर सुखों का देने वाला है, इसलिए उसी धर्म का ऐसे समय में आश्रय लेना परम हितकारी है। हम तुम्हें भी सलाह देते है कि तुम भी सुगति की प्राप्ति के लिए धर्म का आश्रय ग्रहण करो। इसके बाद उन्होंने सोमशर्मा को धर्म का सामान्य स्वरूप समझाया देखो, जो अठारह दोषों से रहित और सबके देखने वाले सर्वज्ञ हैं, वे देव कहाते हैं और ऐसे निर्दोष भगवान् द्वारा बताये दयामय मार्ग को धर्म कहते हैं। धर्म का वैसे सामान्य लक्षण है-जो दुःखों से छुड़ाकर सुख प्राप्त करावे। ऐसे धर्म को आचार्यों ने दस भागों में बाँटा है अर्थात् सुख प्राप्त करने के दस उपाय है। वे यह हैं-उत्तम क्षमा, मार्दव-हृदय का कोमल होना, आर्जव-हृदय का सरल होना, सच बोलना, शौच-निर्लोभी या संतोषी होना, संयम-इन्द्रियों को वश में करना, तप-व्रत उपवासादि करना, त्याग-पुण्य से प्राप्त हुए धन को सुकृत के काम जैसे दान, परोपकार आदि में लगाना, आकिंचन-परिग्रह अर्थात् धन-धान्य, चाँदी-सोना, दास-दासी आदि दस प्रकार के परिग्रह की लालसा कम करके आत्मा को शान्ति के मार्ग पर ले जाना और ब्रह्मचर्य का पालना ॥८॥

गुरु वे कहलाते हैं जो माया, मोह-ममता से रहित हों, विषयों की वासना जिन्हें छू तक न गई हो, जो पक्के ब्रह्मचारी हों, तपस्वी हों और संसार के दुःखी जीवों को हित का रास्ता बतला कर उन्हें सुख प्राप्त कराने वाले हों। इन तीनों पर अर्थात् देव, धर्म, गुरु पर विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन सुख-स्थान पर पहुँचने की सबसे पहली सीढ़ी है। इसलिए तुम इसे ग्रहण करो। इस विश्वास को जैन शासन या जैनधर्म भी कहते हैं। जैनधर्म में जीव को, जिसे कि आत्मा भी कहते हैं, अनादि माना है। न केवल माना ही है किन्तु वह अनादि ही है। नास्तिकों की तरह वह पंचभूत-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बना हुआ नहीं है क्योंकि ये सब पदार्थ जड़ है। ये देख-जान नहीं सकते और जीव का देखना-जानना ही खास गुण है। इसी गुण से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। जीव को जैनधर्म दो भागों में बाँट देता है। **एक भव्य**—अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का, जिन्होंने कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अनादि से ढाँक रखा है नाश कर मोक्ष जाने वाले और **दूसरा अभव्य**—जिसमें कर्मों के नाश करने की शक्ति न हो। इनमें कर्मयुक्त जीव को संसारी कहते हैं और कर्म रहित को मुक्त। जीव के सिवा संसार में एक और द्रव्य है उसे अजीव या पुद्गल कहते हैं। इसमें जानने देखने की शक्ति नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा जा

जीवोप्यनादिसंसिद्धो भव्याभव्यप्रभेदभाक्। कर्माश्रितस्तु संसारी तन्मुक्तो मुक्तिनायकः ॥११॥
इत्यादिधर्मसद्भावं श्रुत्वा पार्श्वे तयोर्द्विजः। त्यक्त्वा मिथ्यात्वदुर्मार्गं श्रित्वा श्रीजैनशासनम् ॥१२॥
संन्यासेन सुधीः सोपि स्थित्वा चित्ते जिनं स्मरन्। इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैर्भक्त्या नित्यं समर्चितम् ॥१३॥
जित्वोपसर्गकं भूरि कीटकाद्यैर्विनिर्मितम्। भूत्वा महर्द्धिको देवः कल्पे सौधर्मसंज्ञके ॥१४॥
अत्र श्रीश्रेणिकस्योच्चैर्भूपतेस्तनुजोभवत्। अभयाख्यो महाधीरो मुक्तिगामी जगद्धितः ॥१५॥
जिनदत्तवसुमित्रौ मृत्वा तौ द्वौ समाधिना। देवौ तत्रैव सौधर्मे संजातौ सुमहर्द्धिकौ ॥१६॥
यद्धर्मं त्रिजगद्धितं शुभकरं श्रित्वा सुकष्टेप्यलं भव्या भूरि सुखं प्रकष्टविमुखं संप्राप्नुवन्ति स्वयम्।
स श्रीमान्सुरेन्द्रचक्रिखचराधीशैः सदाभ्यर्चितं दद्यान्मे भवतां च निर्मलसुखं सत्केवली श्रीजिनः ॥१७॥

इति कथाकोशे मज्जनरागरक्ताख्यानं समाप्तम्।

चुका है। अजीव को जैनधर्म पाँच भागों में बाँटता है, जैसे पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन पाँचों की दो श्रेणियाँ की गई हैं। एक मूर्तिक और दूसरी अमूर्तिक। मूर्तिक उसे कहते हैं जो छुई जा सके, जिसमें कुछ न कुछ स्वाद हो, गन्ध और वर्ण रूप-रंग हो अर्थात् जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये बातें पाई जाये वह मूर्तिक है और जिसमें ये न हों वह अमूर्तिक है। उक्त पाँच द्रव्यों में सिर्फ पुद्‌गल तो मूर्तिक है अर्थात् इसमें उक्त चारों बातें सदा से हैं और रहेंगी-कभी उससे जुदा न होंगी। इसके सिवा धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्तिक हैं। इन सब विषयों का विशेष खुलासा अन्य जैन ग्रन्थों में किया है। प्रकरणवश तुम्हें यह सामान्य स्वरूप कहा। विश्वास है अपने हित के लिए इसे ग्रहण करने का यत्न करोगे ॥९-११॥

सोमशर्मा को यह उपदेश बहुत पसन्द पड़ा। उसने मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को स्वीकार कर लिया। इसके बाद जिनदत्त-वसुमित्र की तरह वह भी संन्यास ले भगवान् का ध्यान करने लगा। सोमशर्मा को भूख-प्यास, डाँस-मच्छर आदि की बहुत बाधा सहनी पड़ी। उसे उसने बड़ी धीरता के साथ सहा। अन्त में समाधि से मृत्यु प्राप्त कर वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से श्रेणिक महाराज का अभयकुमार नाम का पुत्र हुआ। अभयकुमार बड़ा ही धीर-वीर और पराक्रमी था, परोपकारी था। अन्त में वह कर्मों का नाश कर मोक्ष गया ॥१२-१५॥

सोमशर्मा की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद जिनदत्त और वसुमित्र की भी समाधि से मृत्यु हुई वे दोनों भी इसी सौधर्म स्वर्ग में, जहाँ कि सोमशर्मा देव हुआ था, देव हुए ॥१६॥

संसार का उपकार करने वाले और पुण्य के कारण जिनके उपदेश किए धर्म को कष्ट समय में भी धारण कर भव्यजन उस कठिन से कठिन सुख को, जिसके कि प्राप्त करने की उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं होती, प्राप्त कर लेते हैं, वे सर्वज्ञ भगवान् मुझे वह निर्मल सुख दें, जिस सुख की इन्द्र, चक्री और विद्याधर राजा पूजा करते हैं ॥१७॥

१०४. धर्मानुरागाख्यानम्

विशुद्धकेवलज्ञानलोकालोकप्रकाशकम्। नमस्कृत्य जिनं वच्मि कथां धर्मानुरागजाम् ॥१॥
अवन्तिविषये ख्याते प्रोज्जयिन्यां महापुरि। राजाभूद्धनवर्माख्यो धनश्रीकामिनीपतिः ॥२॥
तयोः पुत्रः समुत्पन्नो लकुचो भूरिगर्ववान्। शत्रुसन्दोहमानाग्नि-शमनैकघनाघनः ॥३॥
एकदा कालमेघाख्यम्लेच्छराजेन पीडिते। तद्देशेऽसौ कुमारश्च लकुचो बहुकोपतः ॥४॥
गत्वा स्वयं रणे धृत्वा तं रिपुं कालमेघकम्। समानीय द्रुतं दत्वा स्वपित्रे धनवर्मणे ॥५॥
कामचारं वरं प्राप्य ततः स्वपुरयोषिताम्। शीलभंगं चकारोच्चैः कामिनां सुमतिः कुतः ॥६॥
श्रेष्ठिनः पुङ्गलस्यापि नागधर्मास्ति कामिनी। भूरिरूपश्रिया युक्ता तस्यामासक्तकोभवत् ॥७॥
पुङ्गलोपि तदा श्रेष्ठी प्रज्वलन्कोपवह्निना। तं हन्तुमसमर्थः सन्तिष्ठते स्वगृहे ततः ॥८॥

---

१०४. धर्मानुराग-कथा

जो निर्मल केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोक के जानने देखने वाले हैं, सर्वज्ञ हैं, उन जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर धर्म से अनुराग करने वाले राजकुमार लकुच की कथा लिखी जाती है ॥१॥

उज्जैन के राजा धनवर्मा और उनकी रानी धनश्री लकुच नाम का एक पुत्र था। लकुच बड़ा अभिमानी था, पर साथ में वीर भी था। उसे लोग मेघ की उपमा देते थे, इसलिए कि वह शत्रुओं की मानरूपी अग्नि को बुझा देता था, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना उसके बायें हाथ का खेल था ॥२-३॥

काल-मेघ नाम के म्लेच्छ राजा ने एक बार उज्जैन पर चढ़ाई की थी। अवन्ति देश की प्रजा को तब जन-धन की बहुत हानि उठानी पड़ी थी। लकुच ने इसका बदला चुकाने के लिए कालमेघ के देश पर भी चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने पर विजयलक्ष्मी लकुच की गोद में आकर लेटी। लकुच ने तब कालमेघ को बाँध कर पिता के सामने रख दिया। धनवर्मा अपने पुत्र की इस वीरता को देखकर बड़े खुश हुए। इस खुशी में धनवर्मा ने लकुच को कुछ वर देने की इच्छा जाहिर की। पर उसकी प्रार्थना से वर को उपयोग में लाने का भार उन्होंने उसी की इच्छा पर छोड़ दिया। अपनी इच्छा के माफिक करने की पिता की आज्ञा पा लकुच की आँखें फिर गई उसने अपनी इच्छा का दुरुपयोग करना शुरू किया। व्यभिचार की ओर उसकी दृष्टि गई तब अच्छे-अच्छे घराने की सुशील स्त्रियाँ उसकी शिकार बनने लगीं। उनका धर्म भ्रष्ट किया जाने लगा। अनेक सतियों ने इस पापी से अपने धर्म की रक्षा के लिए आत्महत्याएँ तक कर डालीं। प्रजा के लोग तंग आ गए। वे महाराज से राजकुमार की शिकायत तक नहीं कर पाते। कारण राजकुमार के जासूस उज्जैन के कोने-कोने में फैल रहे थे इसलिए जिसने कुछ राजकुमार के विरुद्ध जबान हिलाई या विचार भी किया कि वह बेचारा फौरन ही मौत के मुँह में फेंक दिया जाता था ॥४-७॥

यहाँ एक पुंगल नाम का सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम नागदत्ता था। नागदत्ता बड़ी खूबसूरत थी। एक दिन पापी लकुच की इस पर आँखें चली गई बस, फिर क्या देर थी? उसने उसी

उद्याने क्रीडितुं गत्वा कदाचिल्लकुचो मुदा। पूर्वपुण्यप्रयोगेन दृष्ट्वा तत्र मुनीश्वरम् ॥९॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं शीघ्रं वैराग्यमाश्रितः। पुंगलेन तदा ज्ञात्वा गत्वा तत्र प्रकोपतः ॥१०॥
वैराल्लोहशलाकाभिः सन्धिस्थानेषु कीलितम्। तच्छरीरं तदा सोपि जैनधर्मानुरागभाक् ॥११॥
जित्वोपसर्गकं स्वामी परलोकं गतो ध्रुवम्। विचित्रं भव्यजीवानां चारित्रं भुवनोत्तमम् ॥१२॥
स जयतु मुनिनाथो भूरिकष्टं सुजित्वा सपदि लकुचनामा प्राप्तवाञ्छर्मसारम्।
गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुः प्रसान्द्रो जिनपतिहिमरश्मिः प्रोल्लसद्रश्मियोगात् ॥१३॥

इति कथाकोशे धर्मानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम्।

१०५. दर्शनाऽपतिताख्यानम्

संप्रणम्य जिनाधीशं सर्वदोषविवर्जितम्। दर्शनाच्च्यवनाख्यानं प्रवक्ष्ये जगद्दर्शितम् ॥१॥
पाटलीपुत्रसन्नाम्नि पत्तने सुचिरन्तने। जिनदत्तोभवच्छ्रेष्ठी परमेष्ठिपदे रतः ॥२॥

समय उसे प्राप्त कर अपनी नीच मनोवृत्ति की तृप्ति की। पुंगल उसकी इस नीचता से सिर से पाँव तक जल उठा। क्रोध की आग उसके रोम-रोम में फैल गई वह राजकुमार के दबदबे से कुछ करने-धरने को लाचार था। पर उस दिन की बाट वह बड़ी आशा से जोह रहा था, जिस दिन कि वह लकुच से उसके कर्मों का भरपूर बदला चुका कर अपनी छाती ठण्डी करे ॥८-९॥

एक दिन लकुच वन क्रीड़ा के लिए गया हुआ था। भाग्य से वहाँ उसे मुनिराज के दर्शन हो गए। उसने उनसे धर्म का उपदेश सुना। उपदेश का प्रभाव उस पर खूब पड़ा। इसलिए वह वहीं उनसे दीक्षा ले मुनि हो गया। उधर पुंगल ऐसे मौके की आशा लगाये बैठा ही था, सो जैसे ही उसे लकुच का मुनि होना जान पड़ा वह लोहे के बड़े-बड़े तीखे कीलों को लेकर लकुच मुनि के ध्यान करने की जगह पर आया। इस समय लकुच मुनि ध्यान में थे। पुंगल तब उन कीलों को मुनि के शरीर में ठोक कर चलता बना। लकुच मुनि ने इस दुःसह उपसर्ग को बड़ी शान्ति, स्थिरता और धर्मानुराग से सह कर स्वर्ग लोक प्राप्त किया। सच है, महात्माओं का चरित्र विचित्र ही हुआ करता है। वह अपने जीवन की गति को मिनट भर में कुछ को कुछ बदल डालते हैं ॥१०-१२॥

वे लकुच मुनि जय लाभ करें, कर्मों को जीतें, जिन्होंने असह्य कष्ट सहकर जिनेन्द्र भगवान् रूपी चन्द्रमा की उपदेशरूपी अमृतमयी किरणों से स्वर्ग का उत्तम सुख प्राप्त किया, गुणरूपी रत्नों के जो पर्वत हुए और ज्ञान के गहरे समुद्र कहलाये ॥१३॥

१०५. सम्यग्दर्शन पर दृढ़ रहने वाले की कथा

सब प्रकार के दोषों रहित जिन भगवान् को नमस्कार कर सम्यग्दर्शन को खूब दृढ़ता के साथ पालन करने वाले जिनदास सेठ की पवित्र कथा लिखी जाती है ॥१॥

प्राचीन काल से प्रसिद्ध पाटलिपुत्र (पटना) में जिनदास नाम का एक प्रसिद्ध और जिनभक्त

तद्भार्या जिनदासी च तयोः पुत्रो गुणोज्ज्वलः। जिनदासो विशुद्धात्मा जिनभक्तिसुतत्परः ॥३॥
एकदा जिनदासोऽसौ सुवर्णद्वीपतो महान्। सद्धनं समुपार्ज्योच्चैरागच्छति यदाम्बुधौ ॥४॥
शतयोजनविस्तारयानपात्रस्थितेन च। दुष्टचित्तेन कालाख्यदेवेनेत्थं प्रजल्पितम् ॥५॥
जिनदास त्वया शीघ्रं कथ्यते चेदिदं वचः। नास्ति देवो जिनश्चापि नैव जैनं मतं भुवि ॥६॥
त्वं मया मुच्यते शीघ्रं मार्यते नान्यथा ध्रुवम्। तत्समाकर्ण्य तैः सर्वैर्जिनदासादिभिर्द्रुतम् ॥७॥
मस्तकन्यस्तलसद्धस्तैर्वर्द्धमानजिनेश्वरम्। नमस्कृत्य महाभक्त्या संप्रोक्तं रे दुराशय ॥८॥
अस्ति श्रीमज्जिनाधीशः केवलज्ञानभास्करः। सर्वोत्तमं मतं तस्य वर्द्धते भुवनार्चितम् ॥९॥
तथा श्रीजिनदासोऽसौ सर्वेषामग्रतस्तदा। ब्रह्मदत्तेशिनः पञ्चनमस्कारकथां जगौ ॥१०॥
तदोत्तरकुरुस्थेन निजासनसुकम्पनात्। अनावृत्ताख्ययक्षेण समागत्य प्रवेगतः ॥११॥
कोपाच्चक्रेण पापात्मा ताडितो मुकुटे कुधीः। कालदेवः कुदेवोसौ पातितो वडवानले ॥१२॥
लक्ष्मीदेव्या तदागत्य सर्वे ते जैनधर्मिणः। अर्घं दत्वा महाभक्त्या पूजिताः परमादरात् ॥१३॥

सेठ हो चुका है। जिनदास सेठ की स्त्री का नाम जिनदासी था। जिनदास, जिसकी कि यह कथा है, इसी का पुत्र था। अपनी माता के अनुसार जिनदास भी ईश्वर प्रेमी, पवित्र हृदयी और अनेक गुणों का धारक था ॥२-३॥

एक बार जिनदास सुवर्ण द्वीप से धन कमाकर अपने नगर की ओर आ रहा था। किसी काल नाम के देव की जिनदास के साथ कोई पूर्व जन्म की शत्रुता होगी इसलिए वह देव इसे मारना चाहता होगा। यही कारण था कि उसने कोई सौ योजन चौड़े जहाज पर बैठे-बैठे ही जिनदास से कहा- जिनदास, यदि तू यह कह दे कि जिनेन्द्र भगवान् कोई चीज नहीं, जैनधर्म कोई चीज नहीं, तो तुझे मैं जीता छोड़ सकता हूँ, नहीं तो मार डालूँगा। उस देव का वह डराना सुन जिनदास वगैरह ने हाथ जोड़कर श्रीमहावीर भगवान् को बड़ी भक्ति से नमस्कार किया और निडर होकर वे उससे बोले-पापी, यह हम कभी नहीं कह सकते कि जिनभगवान् और उनका धर्म कोई चीज नहीं; बल्कि हम यह दृढ़ता के साथ कहते हैं कि केवलज्ञान द्वारा सूर्य से अधिक तेजस्वी जिनेन्द्र भगवान् और संसार द्वारा पूजा जाने वाला उनका मत सबसे श्रेष्ठ है। उनकी समानता करने वाला कोई देव और कोई धर्म संसार में है ही नहीं। इतना कह कर ही जिनदास ने सबके सामने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कथा, जो कि पहले कहानी संख्या १८ पर लिखी जा चुकी है, कह सुनाई उस कथा को सुनकर सबका विश्वास और भी दृढ़ हो गया। इन धर्मात्माओं पर इस विपत्ति के आने से उत्तरकुरु में रहने वाले अनाव्रत नाम के यक्ष का आसन कंपा। उसने उसी समय आकर क्रोध से कालदेव के सिर पर चक्र की बड़ी जोर की मार जमाई और उसे उठाकर बड़वानल में डाल दिया ॥४-१२॥

जहाज के लोगों की इस अचल भक्ति से लक्ष्मी देवी बड़ी प्रसन्न हुई उसने आकर इन धर्मात्माओं का बड़ा आदर-सत्कार किया और इनके लिए भक्ति से अर्घ चढ़ाया। सच है, जो भव्यजन

ये भव्याः सारसम्यक्त्वं पालयन्ति विचक्षणाः। तेषां पादार्चनं भक्त्या के न कुर्वन्ति भूतले ॥१४॥
ततस्ते जिनदासाद्या जिनभक्तिपरायणाः। समागत्य निजं गेहं संस्थिताः पुण्ययोगतः ॥१५॥
जिनदासेन पृष्टश्च सावधिज्ञानलोचनः। मुनिः प्राह विशुद्धात्मा सर्वं तद्वैरकारणम् ॥१६॥
त्रिभुवनैकहितं शिवकारणं शुचितरं प्रभजन्तु सुदर्शनम्।
परमसौख्यकृते सुबुधोत्तमः किमिह चान्यमहाश्रमकारणैः ॥१७॥
इति कथाकोशे दर्शनाऽपतिताख्यानं समाप्तम्।

१०६. अत्यक्तसम्यक्त्वाख्यानम्

नमस्कृत्य जिनं देवं देवदेवेन्द्रवन्दितम्। सम्यक्त्वामुक्तकाख्यानं द्वितीयं रचयाम्यहम् ॥१॥
लाटदेशे सुविख्याते गलगोद्रहपत्तने। श्रेष्ठी श्रीजिनदत्तोभूज्जिनदत्तास्य कामिनी ॥२॥
तयोर्जिनमतिः पुत्री रूपसौभाग्यशालिनी। संजाता पूर्वपुण्येन भवेद्रूपादिसम्पदा ॥३॥
द्वितीयस्तु तथा श्रेष्ठी नागदत्तो विधर्मकः। नागदत्ताभवत्कान्ता रुद्रदत्तः सुतस्तयोः ॥४॥

सम्यग्दर्शन का पालन करते हैं, संसार में उनका आदर, मान कौन नहीं करता। इसके बाद जिनदास वगैरह सब लोग कुशलता से अपने घर आ गए। भक्ति से उत्पन्न हुए पुण्य ने इनकी सहायता की। एक दिन मौका पाकर जिनदास ने अवधिज्ञानी मुनि से कालदेव ने ऐसा क्यों किया इस बाबत का खुलासा पूछा। मुनिराज ने इस बैर का सब कारण जिनदास से कहा। जिनदास को सुनकर सन्तोष हुआ ॥१३-१६॥

जो बुद्धिमान् हैं, उन्हें उचित है या उनका कर्तव्य है कि वे परम सुख के लिए संसार का हित करने वाले और मोक्ष के कारण पवित्र सम्यग्दर्शन को ग्रहण करें। इसे छोड़कर उन्हें और बातों के लिए कष्ट उठाना उचित नहीं, कारण वे मोक्ष के कारण नहीं है ॥१७॥

१०६. सम्यक्त्व को न छोड़ने वाले की कथा

जिन्हें स्वर्ग के देव नमस्कार करते हैं, उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर सम्यक्त्व को न छोड़ने वाली जिनमती की कथा लिखी जाती है ॥१॥

लाटदेश के सुप्रसिद्ध गलगोद्रह नाम के शहर में जिनदत्त नाम का एक सेठ हो चुका है। उसकी स्त्री का नाम जिनदत्ता था। उसके जिनमती नाम की एक लड़की थी। जिनमती बहुत सुन्दरी थी। उसकी भुवनमोहिनी सुन्दरता देखकर स्वर्ग की अप्सराएँ भी लजा जाती थी। पुण्य से सुन्दरता प्राप्त होती है ॥२-३॥

यहीं पर एक दूसरा सेठ रहता था। उसका नाम नागदत्त था। नागदत्त की स्त्री नागदत्ता के रुद्रदत्त नाम का एक लड़का था। नागदत्त ने बहुतेरा चाहा कि जिनदत्त जिनमती का ब्याह उसके पुत्र रुद्रदत्त से कर दे। पर उसको विधर्मी होने से जिनदत्त ने उसे अपनी पुत्री न ब्याही। जिनदत्त का यह

याचिता नागदत्तेन रुद्रदत्ताय सा सती। न दत्ता जिनदत्तेन तस्मै मिथ्यादृशे सुता ॥५॥
ततस्तौ नागदत्ताख्यरुद्रदत्तौ प्रपञ्चतः। मुनेः समाधिगुप्तस्य पार्श्वे भूत्वान्हिकौ तदा ॥६॥
परिणीय लसद्रूपां जिनमत्यभिधां च ताम्। पुनर्माहेश्वरौ जातौ दुर्दृशां सुमतिः कुतः ॥७॥
रुद्रदत्तस्ततो वक्ति भो प्रिये त्वमपि द्रुतम्। धर्मं माहेश्वरं सारं मदीयं च गृहाण वै ॥८॥
जिनेन्द्रचरणाम्भोज-षट्पदी वदति प्रिया। जिनमत्यभिधा सापि न युक्तं त्रिजगद्धितम् ॥९॥
त्यक्तुं मे जैनसद्धर्मं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम्। तं शर्मदं गृहाण त्वं त्यक्त्वा मिथ्यामतं प्रभो ॥१०॥
स्वस्वधर्मप्रवादेन तयोर्नित्यं प्रवर्त्तते। कलहस्तु गृहे युक्तं कुतः सौख्यं विधर्मतः ॥११॥
धर्मं निजं निजं व्यक्तं कुर्वतोश्च तयोस्ततः। काले यात्येकदा तत्र पत्तने कर्मयोगतः ॥१२॥

हठ नागदत्त को पसन्द न आया। उसने तब एक दूसरी युक्ति की। वह यह कि नागदत्त और रुद्रदत्त समाधिगुप्त मुनि से कुछ व्रत, नियम लेकर श्रावक बन गए और श्रावक सरीखी सब क्रियाएँ करने लगे। जिनदत्त को इससे बड़ी खुशी हुई और उसे इस बात पर पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि वे सचमुच ही जैनी हो गए हैं तब उसने बड़ी खुशी के साथ जिनमती का ब्याह रुद्रदत्त से कर दिया। जहाँ ब्याह हुआ कि इन दोनों पिता-पुत्रों ने जैनधर्म छोड़कर पीछा अपना धर्म ग्रहण कर लिया ॥४-७॥

रुद्रदत्त अब जिनमती से रोज-रोज आग्रह करने लगा कि प्रिये, तुम भी अब क्यों न मेरा ही धर्म ग्रहण कर लेती हो। वह बड़ा उत्तम धर्म है। जिनमती की जिनधर्म पर गाढ़ श्रद्धा थी। वह जिनेन्द्र भगवान् की सच्ची सेविका थी। ऐसी हालत में उसे जिनधर्म के सिवा अन्य धर्म कैसे रुच सकता था। उसने तब अपने विचार, बड़ी स्वतन्त्रता के साथ अपने स्वामी पर प्रकट किए। वह बोली-प्राणनाथ, आपका जैसा विश्वास हो, उस पर मुझे कुछ कहना-सुनना नहीं। पर मैं अपने विश्वास के अनुसार यह कहूँगी कि संसार में जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जो सर्वोच्च होने का दावा कर सकता है। इसलिए कि जीवमात्र का उपकार करने की उसमें योग्यता है और बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं, स्वर्ग के देव, विद्याधर और चक्रवर्ती आदि उसे पूजते-मानते है फिर मैं ऐसी कोई बेजा बात उसमें नहीं पाती कि जिससे मुझे उसके छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़े। बल्कि मैं आपको भी सलाह दूँगी कि आप इसी सच्चे और जीव मात्र का हित करने वाले जैनधर्म को ग्रहण कर लें तो बड़ा अच्छा हो। इसी प्रकार इन दोनों पति-पत्नी की परस्पर बात-चीत हुआ करती थी। अपने-अपने धर्म की दोनों ही तारीफ किया करते थे। रुद्रदत्त जरा अधिक हठी था। इसलिए कभी-कभी जिनमती पर वह जरा गुस्सा भी हो जाता था। पर जिनमती बुद्धिमती और चतुर थी, इसलिए वह उसकी नाराजगी पर कभी अप्रसन्नता जाहिर न करती। बल्कि उसकी नाराजगी को हँसी का रूप दे झट से रुद्रदत्त को शान्त कर देती थी। जो हो, पर ये रोज-रोज की विवाद भरी बातें सुख का कारण नहीं होती ॥८-१२॥

भिल्लैः प्रज्वालिते क्रुद्धै-रग्निना दुष्टमानसैः। जाते कोलाहले कष्टं प्राणिनां प्राणसंकटे ॥१३॥
तदा श्रीजिनमत्या च भणितो रुद्रदत्तकः। यस्य देवः करोत्युच्चैः सर्वशान्तिं क्षणादिह ॥१४॥
तस्यावाभ्यां प्रकर्त्तव्यो धर्मः शर्मकरो ध्रुवम्। एवमस्त्विति संप्रोक्त्वा जनान्कृत्वा च साक्षिणः ॥१५॥
ततोर्घं रुद्रदत्तोसौ ददौ रुद्राय मूढधीः। नैव कश्चिद्विशेषोभू-द्वह्निज्वालाविजृंभिते ॥१६॥
ब्रह्मादिभ्योपि दत्तार्घे नैव जातो विशेषकः। दुर्दृग्भ्यो दुष्टचित्तेभ्यो नैव शान्तिः कदाचन ॥१७॥
जिनमत्यभिधा सापि ततः सद्धर्मवत्सला। दत्वार्हदादिपञ्चानामर्घं श्रीपरमेष्ठिनाम् ॥१८॥
पादपद्मद्वयेभ्यश्च प्रोल्लसद्भक्तिनिर्भरा। पतिपुत्रवधूवर्गं धृत्वा स्वान्ते सुनिश्चला ॥१९॥
कायोत्सर्गे स्थिता चित्ते कृत्वा पञ्च नमस्कृतिम्। तत्क्षणादेव संजाता वह्निशान्तिः जगद्धिता ॥२०॥
तं दृष्ट्वातिशयं सर्वे रुद्रदत्तादयो मुदा। नत्वा श्रीमज्जिनं देवं संजाताः श्रावकोत्तमाः ॥२१॥
अहो श्रीजिनधर्मस्य महिमा भुवनोत्तमः। वर्ण्यते केन भूलोके स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ॥२२॥

इस तरह बहुत समय बीत गया। एक दिन ऐसा मौका आया कि दुष्ट भीलों ने शहर के किसी हिस्से में आग लगा दी। चारों ओर आग बुझाने के लिए दौड़ा-दौड़ पड़ गई। उस भयंकर आग को देखकर लोगों को अपनी जान का भी सन्देह होने लगा। इस समय को योग्य अवसर देख जिनमती ने अपने स्वामी रुद्रदत्त से कहा—प्राणनाथ, मेरी बात सुनिए। रोज-रोज का जो अपने में वाद-विवाद होता है, मैं उसे अच्छा नहीं समझती। मेरी इच्छा है कि यह झगड़ा रफा हो जाए ॥१३॥

इसके लिए मेरा यह कहना है कि आज अपने शहर में आग लगी है उस आग को जिसका देव बुझा दे, समझना चाहिए कि वही देव सच्चा है और फिर उसी को हमें परस्पर में स्वीकार कर लेना चाहिए। रुद्रदत्त ने जिनमती की यह बात मान ली। उसने तब कुछ लोगों को इस बात का गवाह कर अपने इष्ट आदि देवों के लिए अर्घ दिया, बड़ी भक्ति से उनकी पूजा-स्तुति कर उसने अग्नि शान्ति के लिए प्रार्थना की। पर उसकी इस प्रार्थना का कुछ उपयोग न हुआ। अग्नि जिस भयंकरता के साथ जल रही थी। वह उसी तरह जलती रही। सच है, ऐसे देवों से कभी उपद्रवों की शान्ति नहीं होती, जिनका हृदय दुष्ट है, जो मिथ्यात्वी है ॥१४-१७॥

अब धर्मवत्सला जिनमती की बारी आई उसने बड़ी भक्ति से पंच परमेष्ठियों के चरण-कमलों को अपने हृदय में विराजमान कर उनके लिए अर्घ चढ़ाया। इसके बाद वह अपने पति, पुत्र आदि कुटुम्ब वर्ग को अपने पास बैठाकर आप कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा पंच-नमस्कार मन्त्र का चिन्तन करने लगी। इसकी इस अचल श्रद्धा और भक्ति को देखकर शासन देवी बड़ी प्रसन्न हुई उसने तब उसी समय आकर उस भयंकर आग को देखते-देखते बुझा दिया। इस अतिशय को देखकर रुद्रदत्त वगैरह बड़े चकित हुए। उन्हें विश्वास हुआ कि जैनधर्म ही सच्चा धर्म है। उन्होंने फिर सच्चे मन से जैनधर्म की दीक्षा ले श्रावकों के व्रत ग्रहण किए। जैनधर्म की खूब प्रभावना हुई। सच है-संसार में श्रेष्ठ जैनधर्म की महिमा को कौन कह सकता है जो कि स्वर्ग-मोक्ष का देने वाला है।

यथा श्रीजिनमत्याख्या चक्रे सम्यक्त्वरक्षणम्। तथान्यैर्भव्यमुख्यैश्च तत्कार्यं सच्छुभश्रिये ॥२३॥
श्रीमज्जैनपदाम्बुजेषु नितरां भृङ्गी पवित्राशयासद्दृष्टिर्जिनशब्दपूर्वकमतिः शर्मप्रदा सा सती।
नानावस्त्रसुवर्णरत्ननिकरैर्देवादिभिः पूजितासद्दृष्टिर्जिनभक्तिनिश्चलमतिः कैः कैर्न संपूज्यते ॥२४॥

इति कथाकोशे अत्यक्तदर्शनाख्यानं समाप्तम्।

१०७. सम्यक्त्वप्रभावाख्यानम्

श्रीजिनं त्रिजगद्देवं नमस्कृत्य सुरार्चितम्। ब्रुवे सम्यक्त्वमाहात्म्यं चेलिनीश्रेणिकाश्रितम् ॥१॥
देशेऽत्र मगधे ख्याते पुरे राजगृहे शुभे। राजा प्रश्रेणिको राज्ञी सुप्रभा गुणमण्डिता ॥२॥
पुत्रः श्रीश्रेणिको जातस्तयोः पुत्रशिरोमणिः। धीरो वीरोतिगंभीरो दाता भोक्ता भटाग्रणीः ॥३॥
एकदा नागधर्मेण राज्ञा प्रत्यन्तवासिना। दुष्टाश्वः प्रेषितः पूर्व-वैरिणा तस्य भूपतेः ॥४॥
दुष्टस्तुरंगमः सोपि प्रेरितो नैव गच्छति। खञ्चितो याति वेगेन दुष्टानामीदृशी गतिः ॥५॥
बाह्यालीं निर्गतो राजा तेनाश्वेनैकदा मुदा। प्रश्रेणिको महाटव्यां नीतो दुष्टेन कष्टतः ॥६॥

जिस प्रकार जिनमती ने अपने सम्यक्त्व की रक्षा की, उसी तरह अन्य भव्यजनों को सुख प्राप्ति के लिए पवित्र सम्यग्दर्शन की सदा सुरक्षा करते रहना चाहिए ॥१८-२३॥

जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में जिनमती की अचल भक्ति, उसके हृदय की पवित्रता और उसका दृढ़ विश्वास देखकर स्वर्ग के देवों ने दिव्य वस्त्राभूषणों से उसका खूब आदर-मान किया और सच भी है-सच्चे जिनभक्त सम्यग्दृष्टि की कौन पूजा नहीं करते ॥२४॥

१०७. सम्यग्दर्शन के प्रभाव की कथा

जो सारे संसार के देवाधिदेव हैं और स्वर्ग के देव जिनकी भक्ति से पूजा किया करते हैं उन जिन भगवान् को प्रणाम कर महारानी चेलना और श्रेणिक के द्वारा होने वाली सम्यक्त्व के प्रभाव की कथा लिखी जाती है ॥१॥

उपश्रेणिक मगध के राजा थे राजगृह मगध की राजधानी थी। उपश्रेणिक की रानी का नाम सुप्रभा था। श्रेणिक इसी के पुत्र थे। श्रेणिक जैसे सुन्दर थे, वैसे ही उनमें अनेक गुण भी थे। वे बुद्धिमान् थे, बड़े गम्भीर प्रकृति के थे, शूरवीर थे, दानी थे और अत्यन्त तेजस्वी थे ॥२-३॥

मगध राज्य की सीमा से लगते ही एक नागधर्म नाम के राजा का राज्य था। नागदत्त की और उपश्रेणिक की पुरानी शत्रुता चली आती थी। नागदत्त उसका बदला लेने का मौका तो सदा ही देखता रहता था, पर उस समय उपश्रेणिक के साथ कोई भारी मनमुटाव न था। वह कपट से उपश्रेणिक का मित्र बना रहता था। यही कारण था कि उसने एक बार उपश्रेणिक के लिए एक दुष्ट घोड़ा भेंट में भेजा। घोड़ा इतना दुष्ट था कि वैसे तो वह चलता ही न था और उसे जरा ही ऐड़ लगाई या लगाम खींची कि बस यह फिर हवा से बातें करने लगता था। दुष्टों की ऐसी गति ही होती है,

तत्र पल्लीपतिख्यातो यमदण्डो यमाकृतिः। विद्युन्मतिः प्रिया तस्य पुत्री च तिलकावती ॥७॥
तां विलोक्य जगच्चेतोरंजितां तिलकावतीम्। प्रश्रेणिकस्तदासक्तो नृपो याचितवांस्तदा ॥८॥
पुत्राय तिलकावत्याः स्वराज्यं भो महीपते। दातव्यं च त्वया प्रोक्त्वा यमदण्डेन तेन वै ॥९॥
तस्मै तां स्वसुतां दत्वा तिलकादिवतीं सतीम्। यत्नेन प्रेषितो भूपः पश्चाद्राजगृहं पुरम् ॥१०॥
ततः कैश्चिद्दिनैः सौख्यं भुञ्जानस्य महीपतेः। पुत्रश्चिलातपुत्राख्यस्तस्यां जातो महाभटः ॥११॥
एकदा च नरेन्द्रेण संविचार्येति मानसे। राजा मद्भूरिपुत्राणां मध्ये कोऽत्र भविष्यति ॥१२॥
पृष्टो नैमित्तिको प्राह शृणु त्वं भो नरेश्वर। यः सिंहासनमासीनो भेरीं सन्ताडयन्मुदा ॥१३॥
पायसं कुक्कुराणां च ददत्संभोक्ष्यते स्वयम्। अग्निदाहो तथा हस्तिच्छत्रसिंहासनं शुभम् ॥१४॥
शीघ्रं निस्सारयत्येव स ते राज्यश्रियः सुखम्। भोक्ता भविष्यति व्यक्तं सन्देहो न महामते ॥१५॥

इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उपश्रेणिक एक दिन इसी घोड़े पर सवार हो हवा खोरी के लिए निकले। इन्होंने बैठने पर जैसे ही उसकी लगाम तानी कि वह हवा हो गया। बड़ी देर बाद वह एक अटवी में जाकर ठहरा। उस अटवी का मालिक एक यमदण्ड नाम का भील था, जो देखने में सचमुच ही यम सा भयानक था। उसके तिलकावती नाम की एक लड़की थी। तिलकावती बड़ी सुन्दरी थी। उसे देख यह कहना अनुचित न होगा कि कोयले की खान में हीरा निकला। कहाँ काला भुसंड यमदण्ड और कहाँ स्वर्ग के अप्सराओं को लजाने वाली इसकी लड़की चन्द्रवदनी तिलकावती अस्तु, उस भुवन-सुन्दर रूपराशि को देखकर उपश्रेणिक उस पर मोहित हो गए। उन्होंने तिलकावती के लिए यमदण्ड से मँगनी की। उत्तर में यमदण्ड ने कहा-राज-राजेश्वर, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ। जब कि एक पृथ्वी के सम्राट् मेरे जमाई बनते हैं और इसके लिए मुझे बेहद खुशी है। मैं अपनी पुत्री का आप के साथ ब्याह करूँ, इसके पहले आपको एक शर्त करनी होगी और वह कि आप राज्य तिलकावती से होने वाली सन्तान को देंगे। उपश्रेणिक ने यमदण्ड की इस बात को स्वीकार कर लिया। यमदण्ड ने भी तब अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसका ब्याह उपश्रेणिक से कर दिया। उपश्रेणिक फिर तिलकावती को साथ ले राजगृह आ गए ॥४-१०॥

कुछ समय सुखपूर्वक बीतने पर तिलकावती के एक पुत्र हुआ। उसका नाम रखा गया चिलात पुत्र एक दिन उपश्रेणिक ने विचार कर कि मेरे इन पुत्रों में राजयोग किसको है, एक निमित्तज्ञानी को बुलाया और उससे पूछा-पंडित जी, अपना निमित्तज्ञान देखकर बतलाइये कि मेरे इतने पुत्रों में राज्य सुख कौन भोग सकेगा? निमित्तज्ञानी ने कहा-महाराज, जो सिंहासन पर बैठा हुआ नगाड़ा बजाता रहा और दूर ही से कुत्तों को खीर खिलाता हुआ आप भी खाता रहे और आग लगने पर सिंहासन, छत्र, चँवर आदि राज्य चिह्नों को निकाल ले भागे, वह राज्य-लक्ष्मी का सुख भोग करेगा। इसमें आप किसी तरह का सन्देह न समझें। उपश्रेणिक ने एक दिन इस बात की परीक्षा करने के लिए अपने सब पुत्रों को खीर खाने के लिए बैठाया। उनके पास ही सिंहासन और एक नगाड़ा भी रखवा दिया। पर यह

तच्छ्रुत्वा तत्परीक्षार्थं प्रश्रेणिकमहीभुजा। भोजनं सर्वपुत्रेभ्यो दत्वा मुक्ताश्च कुक्कुराः ॥१६॥
तदा सर्वे कुमारास्ते नष्टाः शीघ्रं भयाकुलाः। श्रेणिकस्तु सुधीश्चारु सिंहासनमधिष्ठितः ॥१७॥
निजान्ते भाजनान्युच्चैर्धृत्वा सर्वाणि दूरतः। एकैकं भाजनं दत्वा कुक्कुराणां स्वयं पुनः ॥१८॥
भुङ्क्ते स्म पायसं भेरीं ताडयंश्च भटोत्तमः। वह्निदाहे तथा हस्तिच्छत्रसिहासनं द्रुतम् ॥१९॥
सुधीर्निस्सारयामास बुद्धिः कर्मानुसारिणी। संभविष्यति राजायं ततः प्रश्रेणिकः प्रभुः ॥२०॥
ज्ञात्वा चित्ते प्रयत्नार्थं प्रपञ्चेन विचक्षणः। कुक्कुरोच्छिष्टकं दोषं दत्वा तं तनयं शुभम् ॥२१॥
पुरान्निस्सारयामास श्रेणिकं दोषवर्जितम्। भवन्ति भूतले नित्यं भूपाला गूढमंत्रकाः ॥२२॥
ततः श्रीश्रेणिको धीमान्प्राप्तो मध्याह्निकेऽहनि। नन्दग्रामं तथा विप्रैराज्यमान्यैर्मदोद्धतैः ॥२३॥

किसी को पता न पड़ने दिया कि ऐसा क्यों किया गया। सब कुमार भोजन करने को बैठे और खाना उन्होंने आरम्भ किया, कि इतने में एक ओर से सैकड़ों कुत्तों का झुण्ड का झुण्ड उन पर आ टूटा। तब वे सब डर के मारे उठ-उठकर भागने लगे। श्रेणिक उन कुत्तों से न डरा, वह जल्दी से उठकर खीर की पत्तलों को एक ऊँचे स्थान पर धरने लगा। थोड़ी ही देर में उसने बहुत-सी पत्तले इकट्ठी कर ली। इसके बाद वह स्वयं उस ऊँचा स्थान पर रखे हुए सिंहासन पर बैठकर नगाड़ा बजाने लगा, जिससे कुत्ते उसके पास न आ पावें और इकट्ठी की हुई पत्तलों में से एक-एक पत्तल उठा-उठा कर दूर-दूर फेंकता गया। इस प्रकार अपनी बुद्धि से व्यवस्था कर उसने बड़ी निर्भयता के साथ भोजन किया। इसी प्रकार आग लगने पर श्रेणिक ने सिंहासन, छत्र, चँवर आदि राज्य चिह्नों की रक्षा कर ली ॥११-१९॥

उपश्रेणिक को तब निश्चय हो गया कि इन सब पुत्रों में श्रेणिक ही एक ऐसा भाग्यशाली है जो मेरे राज्य को अच्छी तरह चलायेगा। उपश्रेणिक ने तब उसकी रक्षा के लिए उसे वहाँ से कहीं भेज देना उचित समझा। उन्हें इस बात का खटका था कि मैं राज्य का मालिक तिलकावती के पुत्र को बना चुका हूँ और ऐसी दशा में श्रेणिक यहाँ रहा तो कोई असंभव नहीं कि इसकी तेजस्विता, इसकी बुद्धिमानी, इसकी कार्यक्षमता को देखकर किसी को डाह उपज जाए और उस हालत में इसका कुछ अनिष्ट हो जाए। इसलिए जब तक यह अच्छा होशियार न हो जाये तब तक उसका कहीं बाहर रहना ही उत्तम हैं फिर यदि इसमें बल होगा तो यह स्वयं राज्य को हस्तगत कर सकेगा। इसके लिए उपश्रेणिक ने श्रेणिक के सिर पर यह अपराध मढ़ा कि उसने कुत्तों का झूठा खाया है, इसलिए अब यह राजघराने में रहने योग्य नहीं रहा। मैं उसे आज्ञा करता हूँ कि यह मेरे राज्य से निकल जाये। सच है, राजा लोग बड़े विचार के साथ काम करते हैं। निरपराध श्रेणिक पिता की आज्ञा पा उसी समय राजगृह से निकल गया। फिर एक मिनट के लिए भी वह वहाँ न ठहरा ॥२०-२२॥

श्रेणिक वहाँ से चलकर कोई दोपहर के समय नन्द नामक गाँव में पहुँचा। वहाँ के लोगों को श्रेणिक के निकाले जाने का हाल मालूम हो गया था, इसलिए राजद्रोह के भय से उन्होंने श्रेणिक को अपने गाँव में न रहने दिया। श्रेणिक ने तब लाचार हो आगे का रास्ता लिया। रास्ते में उसे एक

तस्मान्निर्घाटितश्चापि परिव्राजकसन्मठे। कृत्वा तद्भोजनं तस्य गृहीत्वा विष्णुधर्मकम् ॥२४॥
दक्षिणाभिमुखं पश्चाच्चचालाथ कथान्तरम्। काञ्चीपुरे महाराजो वसुपालो विचक्षणः ॥२५॥
वसुमत्यभिधा राज्ञी तयोः पुत्री बभूव च। सद्रूपयौवनोपेता वसुमित्रा गुणोज्ज्वला ॥२६॥
सोमशर्मा द्विजो मंत्री सोमश्रीब्राह्मणीप्रियः। तयोरभयमत्याख्या पुत्री चातिविचक्षणा ॥२७॥
स मंत्री सोमशर्मा च गत्वा गंगादितीर्थकम्। पश्चाद्गेहं समागच्छन्मार्गे तेनैव वीक्षितः ॥२८॥
प्रोक्तं च श्रेणिकेनेति विप्ररूपप्रधारिणा। अहो माम तव स्कन्धमारोहामि गुणोज्ज्वल ॥२९॥
मम स्कन्धं समारोह त्वकं चापि द्रुतं यतः। गम्यते तच्छ्रुतेस्तेन चिन्तितं ग्रहिलोस्त्ययम् ॥३०॥
तथा मार्गे बृहद्ग्रामः श्रेणिकेन ह्रसो मतः। लघुग्रामो महानुक्तो यत्र भुक्तं सुभोजनम् ॥३१॥
धृतं वृक्षतले छत्रं मार्गे तत्संवृतं पुनः। पादत्राणं जले पादे धृतं हस्ते महापथि ॥३२॥
बद्धा नारी विमुक्ता वा कुट्यते चेति जल्पितम्। मृतोयं मृतकश्चापि जीवितो गच्छतीति वा ॥३३॥

संन्यासियों का आश्रम मिला। उसने कुछ दिनों यहीं अपना डेरा जमा दिया। मठ में वह रहता और संन्यासियों का उपदेश सुनता। मठ का प्रधान संन्यासी बड़ा विद्वान् था। श्रेणिक पर उसका बहुत असर पड़ा। उसने तब वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। श्रेणिक और कुछ दिनों तक यहाँ ठहरा। उसके बाद वह वहाँ से रवाना होकर दक्षिण दिशा की ओर बढ़ा ॥२३-२५॥

इसी समय दक्षिण की राजधानी काँची के राजा वसुपाल थे। उनकी रानी का नाम वसुमती था। इनके वसुमित्रा नाम की एक सुन्दर और गुणवती पुत्री थी। वहाँ एक सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था, सोमशर्मा की स्त्री का नाम सोमश्री था। उसके भी एक पुत्री थी। इसका नाम अभयमती था। अभयमती बड़ी बुद्धिमती थी ॥२५-२७॥

एक बार सोमशर्मा तीर्थयात्रा करके लौट रहा था। रास्ते में उसे श्रेणिक ने देखा। कुछ मेल-मुलाकात और बोल-चाल हुए बाद में जब ये दोनों चलने को तैयार हुए तब श्रेणिक ने सोमशर्मा से कहा–मामाजी, आप भी बड़ी दूर से आते हैं और मैं भी बड़ी दूर से चला आ रहा हूँ, इसलिए हम दोनों ही थक चुके हैं। अच्छा हो यदि आप मुझे अपने कन्धे पर बैठा लें और आप मेरे कन्धे पर बैठकर चलें तो। श्रेणिक की यह बे-सिर पैर की बात सुनकर सोमशर्मा बड़ा चकित हुआ। उसने समझा कि यह पागल हो गया जान पड़ता है। उसने तब श्रेणिक की बात का कुछ जवाब न दिया। थोड़ी देर चुपचाप आगे बढ़ने पर श्रेणिक ने दो गाँवों को देखा। उसने तब जो छोटा गाँव था उसे तो बड़ा बताया और जो बड़ा था उसे छोटा बताया। रास्ते में श्रेणिक जहाँ सिर पर कड़ी धूप पड़ती वहाँ तो छत्री उतार लेता और जहाँ वृक्षों की ठंडी छाया आती वहाँ तो छत्री चढ़ा लेता। इसी तरह जहाँ कोई नदी-नाला पड़ता तब तो वह जूतियों को पाँवों में पहर लेता और रास्ते में उन्हें हाथ में लेकर नंगे पैरों चलता। आगे चलकर उसने एक स्त्री को पति द्वारा मार खाती देखकर सोमशर्मा से कहा– क्यों मामाजी, यह जो स्त्री पिट रही है वह बँधी है या खुली? आगे एक मरे पुरुष को देखकर उसने

शालिक्षेत्रं समालोक्य कुटुम्बिजनकेन च। एतत्किं भक्षितं किं वा भक्ष्यते भो वद द्विज ॥३४॥
इत्यादिचेष्टितं मार्गे तं प्रकुर्वन्तमद्भुतम्। श्रेणिकं स द्विजो धृत्वा काञ्चीपुरबहिस्तदा ॥३५॥
स्वयं स्वगृहमायातो-भयमत्या प्रजल्पितः। पुत्र्या भो तात चैकाकी गतस्त्वं च समागतः ॥३६॥
तच्छ्रुत्वा सोमशर्मासौ जगौ भो पुत्रि मे पथि। आगच्छतो बटुश्चैको रूपवान्ग्रहिलो महान् ॥३७॥
मिलितः पुरबाह्ये स तिष्ठत्यत्र महामते। तत्समाकर्ण्य सा पुत्री संजगाद विचक्षणा ॥३८॥
कीदृशो ग्रहिलो सोपि भो पितश्च तदा द्विजः। सोमशर्मा जगौ सर्वं स्कन्धारोहणादिकम् ॥३९॥

पूछा कि यह जीता है या मर गया? थोड़ी दूर चलकर उसने एक धान के पके हुए खेत को देखकर कहा–इसे इसके मालिकों ने खा लिया है या वे अब खायेंगे? इसी तरह सारे रास्ते में एक से एक असंगत और बे–मतलब के प्रश्न सुनकर बेचारा सोमशर्मा ऊब गया। राम–राम करते वह घर पर आया। श्रेणिक को वह शहर के बाहर ही एक जगह बैठाकर यह कह आया कि मैं अपनी लड़की से पूछकर अभी आता हूँ, तब तक तुम यहीं बैठना ॥२८–३५॥

अभयमती अपने पिता को आया देखकर खुश हुई। उन्हें कुछ खिला–पिला कर उसने पूछा–पिताजी, आप अकेले गए थे और अकेले ही आए है क्या? सोमशर्मा ने कहा–बेटा, मेरे साथ एक बड़ा ही सुन्दर लड़का आया है। पर बड़े दुःख की बात है कि वह बेचारा पागल हो गया जान पड़ता है। उसकी देवकुमार सी सुन्दर जिन्दगी धूलधानी हो गई। कर्मों की लीला बड़ी ही विचित्र है। मुझे तो उसकी यह स्वर्गीय सुन्दरता और साथ ही उसका वह पागलपन देखकर उस पर बड़ी दया आती है। मैं उसे शहर के बाहर एक स्थान पर बैठा आया हूँ। अपने पिता की बातें सुनकर अभयमती को बड़ा कौतुक हुआ। उसने सोमशर्मा से पूछा–हाँ तो पिताजी उसमें किस तरह का पागलपन है? मुझे उसके सुनने की बड़ी उत्कण्ठा हो गई है। आप बतलावें। सोमशर्मा ने तब अभयमती से श्रेणिक की वे सब चेष्टाएँ–कन्धे पर चढ़ना–चढ़ाना, छोटे गाँव को बड़ा और बड़े को छोटा कहना, वृक्ष के नीचे छत्री चढ़ा लेना और धूप में उतार देना, पानी में चलते समय जूते पहर लेना और रास्ते में चलते उन्हें हाथ में ले लेना आदि कह सुनाई। अभयमती ने उन सब को सुनकर अपने पिता से कहा–पिताजी, जिस पुरुष ने ऐसी बातें की हैं, उसे आप पागल या साधारण पुरुष न समझें। वह तो बड़ा ही बुद्धिमान् है। मुझे मालूम होता है उसकी बातों के रहस्य पर आपने ध्यान से विचार न किया। इसी से आपको उसकी बातें बे–सिर पैर की जान पड़ी। पर ऐसा नहीं है। उन सबमें कुछ न कुछ रहस्य जरूर है। अच्छा, वह सब मैं आपको समझाती हूँ–पहले उसने जो यह कहा कि आप मुझे अपने कन्धे पर चढ़ा लीजिए और आप मेरे कन्धों पर चढ़ जाइए, इससे उसका मतलब था, आप हम दोनों एक ही रास्ते से चलें क्योंकि स्कन्ध शब्द का अर्थ रास्ता भी होता है और यह उसका कहना ठीक था। इसलिए कि दो जने साथ रहने से हर तरह बड़ी सहायता मिलती रहती है ॥३६–३९॥

श्रुत्वा तच्चेष्टितं कन्या तद्व्याख्यानं विधाय च। स्तोकं तैलं खलं तस्य प्रेषयामास मज्जने ॥४०॥

दूसरे उसने दो ग्रामों को देखकर बड़े को तो छोटा और छोटे को बड़ा कहा था। इसमें उसका अभिप्राय यह है कि छोटे गाँव के लोग सज्जन है, धर्मात्मा हैं, दयालु हैं, परोपकारी हैं और हर एक की सहायता करने वाले हैं। इसलिए यद्यपि वह गाँव छोटा था, पर तब भी उसे बड़ा ही कहना चाहिए क्योंकि बड़प्पन गुणों और कर्तव्य पालन से कहलाता है। केवल बाहरी चमक दमक से नहीं और बड़े गाँव को उसने तब छोटा कहा, इससे उसका मतलब स्पष्ट है कि उसके रहवासी अच्छे लोग नहीं हैं, उनमें बड़प्पन के जो गुण होना चाहिए वे नहीं है।

तीसरे उसने वृक्ष के नीचे छत्री को चढ़ा लिया था और रास्ते में उसे उतार लिया था। ऐसा करने से उसकी मंशा यह थी। रास्ते में छत्री को न लगाया जाये तो भी कुछ नुकसान नहीं और वृक्ष के नीचे न लगाने से उस पर बैठे हुए पक्षियों के बीट वगैरह के करने का डर बना रहता है। इसलिए वहाँ छत्री का लगाना आवश्यक है।

चौथे उसने पानी में चलते समय तो जूतों को पहर लिया और रास्ते में चलते समय उन्हें हाथ में ले लिया था। इससे वह यह बतलाना चाहता है-पानी में चलते समय यह नहीं दीख पड़ता है कि कहाँ क्या पड़ा है। काँटे, कीलें और कंकर-पत्थरों के लग जाने का भय रहता है, जल जन्तुओं के काटने का भय रहता है। अतएव पानी में उसने जूतों को पहर कर बुद्धिमानों का ही काम किया। रास्ते में अच्छी तरह देखभाल कर चल सकते हैं, इसलिए यदि वहाँ जूते न पहने जायें तो उतनी हानि की संभावना नहीं।

पाँचवें उसने एक स्त्री को मार खाते देखकर पूछा था कि यह स्त्री बँधी है या खुली? इस प्रश्न से मतलब था-उस स्त्री का ब्याह हो गया है या नहीं?

छठे-उसने एक मुर्दे को देखकर पूछा था-यह मर गया है या जीता है? पिताजी, उसका यह पूछना बड़ा मार्के का था। इससे वह यह जानना चाहता था कि यदि यह संसार का कुछ काम करके मरा है, यदि इसने स्वार्थ त्याग अपने धर्म, अपने देश और अपने देश के भाई-बन्धुओं के हित में जीवन का कुछ हिस्सा लगाकर मनुष्य जीवन का कुछ कर्तव्य पालन किया है, तब तो वह मरा हुआ भी जीता ही है। क्योंकि उसकी यह प्राप्त की हुई कीर्ति मौजूद है, सारा संसार उसे स्मरण करता है, उसे ही अपना पथ प्रदर्शक बनाता है। फिर ऐसी हालत में उसे मरा कैसे कहा जाये? और इससे उल्टा जो जीता रह कर भी संसार का कुछ काम नहीं करता, जिसे सदा अपने स्वार्थ की ही पड़ी रहती है और जो अपनी भलाई के सामने दूसरों के होने वाले अहित या नुकसान को नहीं देखता; बल्कि दूसरों का बुरा करने की कोशिश करता है ऐसे पृथ्वी के बोझ को कौन जीता कहेगा? उससे जब किसी को लाभ नहीं तब उसे मरा हुआ ही समझना चाहिए।

याचिते भाजने चापि तदासौ कर्दमे सुधीः। गर्त्ताद्वयं विधायोच्चै-र्धृत्वा ते भाजने ददौ ॥४१॥
ततस्तया समाहूतः सोपि कर्दममार्गके। परीक्षार्थं जलं स्तोकं दत्तं तस्मै विदेशिने ॥४२॥

सातवें उसने पूछा कि यह धान को खेत मालिकों द्वारा खा-लिया गया है या खाया जाएगा? इस प्रश्न से उसका यह मतलब था कि इसके मालिकों ने कर्ज लेकर इस खेत को बोया है या इसके लिए उन्हें कर्ज लेने की जरूरत न पड़ी अर्थात् अपना ही पैसा उन्होंने इसमें लगाया है? यदि कर्ज लेकर उन्होंने इसे तैयार किया तब तो समझना चाहिए कि यह खेत पहले ही खा लिया गया और यदि कर्ज नहीं लिया गया तो अब वे इसे खायेंगे-अपने उपयोग में लगावेंगे।

इस प्रकार श्रेणिक के सब प्रश्नों का उत्तर अभयमती ने अपने पिता को समझाया। सुनकर सोमशर्मा को बड़ा ही आनन्द हुआ। सोमशर्मा तब अभयमती से कहा-तो बेटी, ऐसे गुणवान् और रूपवान् लड़के को तो अपने घर लाना चाहिए और अभयमती, वह जब पहले ही मिला तब उसने मुझे मामाजी कह कर पुकारा था। इसलिए उसका कोई अपने साथ सम्बन्ध भी होगा। अच्छा तो मैं उसे बुलाये लाता हूँ।

अभयमती बोली-पिताजी, आपको तकलीफ उठाने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं अपनी दासी को भेजकर, उसे अभी बुलवा लेती हूँ। मुझे अभी एक दो बातों द्वारा और उसकी जाँच करना है। इसके लिए मैं निपुणमती को भेजती हूँ। अभयमती ने इसके बाद निपुणमती को कुछ थोड़ा सा उबटन चूर्ण देकर भेजा और कहा तू उस नये आगन्तुक से कहना कि मेरी मालकिन ने आपकी मालिश के लिए यह तैल और उबटन चूर्ण भेजा है, सो आप अच्छी तरह मालिश तथा स्नान करके फलाँ रास्ते से घर पर आवें। निपुणमती ने श्रेणिक के पास पहुँच कर सब हाल कहा और तेल तथा उबटन रखने को उससे बर्तन माँगा। श्रेणिक उस थोड़े से तेल और उबटन को देखकर, जिससे कि एक हाथ की भी मालिश होना असंभव था, दंग रह गया। उसने तब जान लिया कि सोमशर्मा से मैंने जो-जो प्रश्न किए थे उसने अपनी लड़की से अवश्य कहा है और इसी से उसकी लड़की ने मेरी परीक्षा के लिए यह उपाय रचा है। अस्तु, कुछ परवाह नहीं। यह विचार कर श्रेणिक ने तेल और उबटन चूर्ण के रखने को अपने पाँव के अँगूठे से दो गढ़े बनाकर निपुणमती से कहा-आप तेल और चूर्ण के लिए बरतन चाहती हैं। अच्छी बात है, ये (गढ़े की और इशारा करके) बरतन हैं। आप इनमें तेल और चूर्ण रख दीजिए। मैं थोड़ी ही देर बाद स्नान करके आपकी मालकिन की आज्ञा का पालन करूँगा। निपुणमती श्रेणिक की इस बुद्धिमानी को देखकर दंग रह गई। वह फिर श्रेणिक के कहे अनुसार तेल और चूर्ण रखकर चली गई ॥४०-४१॥

अभयमती ने श्रेणिक को जिस रास्ते से बुलाया था, उसमें उसने कोई घुटने-घुटने तक कीचड़ करवा दिया था और कीचड़ बाहर होने के स्थान पर बाँस की एक छोटी सी पतली छोई (कमची)

तेन तज्जलमादाय कर्दमं वंशकंछया। दूरीकृत्य सुधूर्त्तेन पादौ प्रक्षालितौ सुखम् ॥४३॥
तथा चक्रप्रवाले च प्रोतं सूत्रं स्वबुद्धितः। तच्चातुरीं समालोक्य ततोऽभयमती मुदा ॥४४॥
तं वरं श्रेणिकं चारु-विवाहविधिना द्रुतम्। स्वीचक्रे कृतपुण्यानां मांगल्यं च पदे पदे ॥४५॥
अथ कश्चिद् द्विजो धीमान्महाटव्यां दिगुप्सितः। जिनदत्ताभिधानस्य पार्श्वे श्रुत्वा जिनेशिनाम् ॥४६॥
धर्मं शर्माकरं योन्यः सोमशर्माभिधानकः। संन्यासेन मृतः प्राप्य स्वर्गं सौधर्मसंज्ञकम् ॥४७॥
तस्मादागत्य पुण्येन तत्र कांचीपुरे शुभे। श्रेणिकाभयमत्योश्च पुत्रोभयकुमारवाक् ॥४८॥

और बहुत ही थोड़ा सा जल रख दिया था। इसलिए कि श्रेणिक अपने पाँवों को साफ कर भीतर आए ॥४२-४३॥

श्रेणिक ने घर पहुँच कर देखा तो भीतर जाने के रास्ते में बहुत कीचड़ हो रहा है। वह कीचड़ में होकर यदि जाये तो उसके पाँव भरते हैं और दूसरी ओर से भीतर जाने का रास्ता उसे मालूम नहीं है। यदि वह मालूम भी करें तो उससे कुछ लाभ नहीं। अभयमती ने उसे इसी रास्ते बुलाया है। यह फिर कीचड़ में ही होकर गया। बाहर होते ही उसे पाँव धोने के लिए थोड़ा जल रखा हुआ मिला। वह बड़े आश्चर्य में आ गया कि कीचड़ से ऐसे लथपथ भरे पाँवों को मैं इसे थोड़े से पानी से कैसे धो सकूँगा। पर इसके सिवा उसके पास और कुछ उपाय भी न था। तब उसने पानी के पास ही रखी हुई उस छाई को उठाकर पहले उससे पाँवों का कीचड़ साफ कर लिया और फिर उस थोड़े से जल से धोकर एक कपड़े से उन्हें पोंछ लिया। इन सब परीक्षाओं में पास होकर जब श्रेणिक अभयमती के सामने आया तब अभयमती ने उसके सामने एक ऐसा मूंग का दाना रखा कि जिसमें हजारों बांके-सीधे छेद थे। यह पता नहीं पड़ पाता था कि किस छेद में सूत का धागा पिरोने से उसमें पिरोया जा सकेगा और साधारण लोगों के लिए यह बड़ा कठिन भी था। पर श्रेणिक ने अपनी बुद्धि की चतुरता से उस मूंग में बहुत जल्दी धागा पिरो दिया। श्रेणिक की इस बुद्धिमानी को देखकर अभयमती दंग रह गई उसने तब मन ही मन संकल्प किया कि मैं अपना ब्याह इसी के साथ करूँगी। इसके बाद उसने श्रेणिक का बड़ी अच्छी तरह आदर-सत्कार किया, खूब आनन्द के साथ उसे अपने ही घर पर जिमाया और कुछ दिनों के लिए उसे वहीं ठहरा भी लिया। अभयमती की मंशा उसकी सखी द्वारा जानकर उसके माता-पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई। घर बैठे उन्हें ऐसा योग्य जँवाई मिल गया, इससे बढ़कर और प्रसन्नता की बात उनके लिए हो भी क्या सकती थी। कुछ दिनों बाद श्रेणिक के साथ अभयमती का ब्याह भी हो गया। दोनों ने नए जीवन में प्रवेश किया। श्रेणिक के कष्ट भी बहुत कम हो गए। वह अब अपनी प्रिया के साथ सुख से दिन बिताने लगा ॥४४-४५॥

सोमशर्मा नाम का एक ब्राह्मण एक अटवी में जिनदत्त मुनि के पास दीक्षा लेकर संन्यास मरण हुआ था। उसका उल्लेख अभिषेक विधि से प्रेम करने वाले जिनदत्त और वसुमित्र की १०३ वीं कथा में आ चुका है। वह सोमशर्मा यहाँ से मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। जब इसकी स्वर्गायु

संजातः सुगुणोपेतश्चरमाङ्गो महाभटः। भाविमुक्तिवधूकान्तो वर्ण्यते केन भूतले ॥४९॥
अथ काञ्चीपुराधीशो वसुपालो गुणोज्ज्वलः। गत्वा विजययात्रार्थं दृष्ट्वा तत्रैकमद्‌भुतम् ॥५०॥
एकस्तंभसमुत्पन्नं प्रासादं श्रीजिनेशिनाम्। काञ्च्यां सम्प्रेषयामास लेखं श्रीसोमशर्मणः ॥५१॥
एकस्तंभोत्थितं चारु शर्मदं जिनमन्दिरम्। कार्यं त्वया प्रवेगेन तदासौ सोमशर्मवाक् ॥५२॥
तद्विज्ञानमजानंश्च चित्तेऽभूद्व्याकुलो महान्। पृष्ट्वा तत्कारणं तेन श्रेणिकेन महाधिया ॥५३॥
प्रासादः श्रीजिनेन्द्राणां कारितः सुमनोहरः। सद्विज्ञानं विना पुण्यैः प्राप्यते नैव भूतले ॥५४॥

पूरी हुई तब यह कांचीपुर में हमारे इस कथानायक श्रेणिक के अभयकुमार नाम का पुत्र हुआ। अभयकुमार बड़ा वीर और गुणवान् था और सच भी है जो कर्मों का नाशकर मोक्ष जाने वाला है, उसकी वीरता का क्या पूछना? ॥४६-४९॥

कांची के राजा वसुपाल एक बार दिग्विजय करने को निकले। एक जगह उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर और भव्य जिनमन्दिर देखा। उसमें विशेषता यह थी कि वह एक ही खम्भे के ऊपर बनाया गया था-उसका आधार एक ही खम्भा था। वसुपाल उसे देखकर बहुत खुश हुए। उनकी इच्छा हुई कि ऐसा मन्दिर कांची में भी बनवाया जाए। उन्होंने उसी समय अपने पुरोहित सोमशर्मा को एक पत्र लिखा। उसमें लिखा कि-अपने यहाँ एक ऐसा सुन्दर जिनमंदिर तैयार करवाना जिसकी इमारत भव्य और बड़ी मनोहर हो। सिवा इसके उसमें यह विशेषता भी हो कि मंदिर की सारी इमारत एक ही खम्भे पर खड़ी हो जाए। मैं जब तक आऊँ तब तक मंदिर तैयार हो जाना चाहिए। सोमशर्मा पत्र पढ़कर बड़ी चिन्ता में पड़ गया। वह इस विषय में कुछ जानता न था, इसलिए वह क्या करे? कैसा मंदिर बनवाएँ? इसकी उसे कुछ सूझ न पड़ती थी। चिन्ता उसके मुँह पर सदा छाई रहती थी। उसे इस प्रकार उदास देखकर श्रेणिक ने उससे उसकी उदासी का कारण पूछा। सोमशर्मा ने तब वह पत्र श्रेणिक के हाथ में देकर कहा-यही पत्र मेरी चिन्ता का मुख्य कारण है। मुझे इस विषय का किंचित् भी ज्ञान नहीं तब मैं मन्दिर बनवाऊँ भी तो कैसा? इसी से मैं चिन्तामग्न रहता हूँ! श्रेणिक ने सोमशर्मा से कहा-आप इस विषय की चिन्ता छोड़कर इसका सारा भार मुझे दे दीजिए। फिर देखिए, मैं थोड़े ही समय में महाराज के लिखे अनुसार मंदिर बनवाये देता हूँ। सोमशर्मा को श्रेणिक के इस साहस पर आश्चर्य तो अवश्य हुआ, पर उसे श्रेणिक की बुद्धिमानी का परिचय पहले ही मिल चुका था; इसलिए उसे कुछ सोच-विचार न कर सब काम श्रेणिक के हाथ सौंप दिया। श्रेणिक ने पहले मन्दिर का एक नक्शा तैयार किया। जब नक्शा उसके मन के माफिक बन गया तब उसने हजारों अच्छे-अच्छे कारीगारों को लगाकर थोड़े ही समय में मन्दिर की विशाल और भव्य इमारत तैयार करवा ली। श्रेणिक की इस बुद्धिमानी को जो देखता वही उसकी शतमुख से तारीफ करता और वास्तव में श्रेणिक ने यह कार्य प्रशंसा के लायक किया भी था। सच है, उत्तम ज्ञान, कला-चतुराई ये सब बातें बिना पुण्य के प्राप्त नहीं होती ॥५०-५४॥

आगतेन ततो राज्ञा दृष्ट्वा तं श्रीजिनालयम्। सन्तुष्टेन निजा पुत्री वसुमित्रा महोत्सवैः ॥५५॥
दत्ता श्रीवसुपालेन श्रेणिकाय गुणोज्ज्वला। अतो राजगृहे जातं वक्ष्ये चान्यत्कथानकम् ॥५६॥
प्रश्रेणिको महाराजः सुधीर्वैराग्यमाश्रितः। दत्वा चिलातपुत्राय राज्यं जातो मुनीश्वरः ॥५७॥
ततश्चिलातपुत्रे च सर्वान्यायरते द्रुतम्। प्रधानैः श्रेणिकस्योच्चैर्लेखः संप्रेषितस्तदा ॥५८॥
तं दृष्ट्वा श्रेणिकश्चापि प्रोक्त्वा भार्याद्वयं प्रति। पुरे राजगृहे ख्याते चारुपाण्डुकुटीं मुदा ॥५९॥
आगच्छेस्त्वमिति व्यक्तं स्वयं चागत्य वेगतः। पुराच्चिलातपुत्रं तं तस्मान्निर्घाट्य कण्टकम् ॥६०॥

जब वसुपाल लौटकर कांची आए और उन्होंने मन्दिर की उस भव्य इमारत को देखा तो वे बड़े खुश हुए। श्रेणिक पर उनकी अत्यन्त प्रीति हो गई उन्होंने तब अपनी कुमारी वसुमित्रा का उसके साथ ब्याह भी कर दिया। श्रेणिक राजजमाई बनकर सुख के साथ रहने लगा ॥५५-५६॥

अब राजगृह की कथा लिखी जाती है—

उपश्रेणिक ने श्रेणिक को, उसकी रक्षा हो इसके लिए, देश बाहर कर दिया। इसके बाद कुछ दिनों तक उन्होंने और राज्य किया। फिर कोई कारण मिल जाने से उन्हें संसार-विषय-भोगादि से बड़ा वैराग्य हो गया। इसलिए वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, चिलातपुत्र को सब राज्यभार सौंपकर दीक्षा ले, योगी हो गए। राज्यसिंहासन को अब चिलातपुत्र ने अलंकृत किया। प्रायः यह देखा जाता है कि एक छोटी जाति के या विषयों के कीड़े, स्वार्थी, अभिमानी, मनुष्य को कोई बड़ा अधिकार या खूब मनमानी दौलत मिल जाती है तो फिर उसका सिर आसमान में चढ़ जाता है, आँखें उसकी अभिमान के कारण नीची देखती ही नहीं। ऐसा मनुष्य संसार में फिर सब कुछ अपने को ही समझने लगता है। दूसरों की इज्जत-आबरू की वह कुछ भी परवाह न कर उनका कौड़ी के भाव भी मोल नहीं समझता। चिलातपुत्र भी ऐसे ही मनुष्यों में था। बिना परिश्रम या बिना हाथ-पाँव हिलाये उसे एक विशाल राज्य मिल गया और मजा यह कि अच्छे शूरवीर और गुणवान् भाइयों के बैठे रहते। तब उसे क्यों न राजलक्ष्मी का अभिमान हो? क्यों न वह गरीब प्रजा को पैरों नीचे कुचलकर इस अभिमान का उपयोग करे? उसकी माँ भील की लड़की, जिसका कि काम दिन-रात लूट-खसोट करने और लोगों को मारने-काटने का रहा, उसके विचार गन्दे, उसकी वासनाएँ नीचातिनीच; तब वह अपनी जाति, अपने विचार और अपनी वासना के अनुसार यदि काम करे तो इसमें नई बात क्या? कुछ लोग ऐसा कहें कि यह सब कुछ होने पर भी अब वह राजा है, प्रजा का प्रतिपालक है, तब उसे तो अच्छा होना ही चाहिए। इसका यह उत्तर है कि ऐसा होना आवश्यक है और एक ऐसे मनुष्य को, जिसका कि अधिकार बहुत बड़ा है-हजारों लाखों अच्छे-अच्छे इज्जत-आबरूदार, धनी, गरीब, दीन, दुःखी जिसकी कृपा की चाह करते हैं, विशेष कर शिष्ट और सबका हितैषी होना ही चाहिए। हाँ ये सब बातें उसमें हो सकती हैं जिसमें दयालुता, परोपकारता, कुलीनता, निरभिमानता, सरलता, सज्जनता आदि गुण कुल-परम्परा से चले आते हों और जहाँ इनका मूल में ही कुछ ठिकाना नहीं वहाँ इन गुणों का होना असम्भव नहीं

तत्र राज्ये महाप्राज्ये संस्थितो निजलीलया। भवेद्राज्यं समर्थस्य भूपतेर्नैव दुर्मतेः ॥६१॥
अथाभयकुमारेण पृष्टा माता क्व मे पिता। तच्छ्रुत्वाभयमत्याख्या जगौ पुत्र शृणु त्वकम् ॥६२॥
देशेत्र मगधे राज-गृहे पाण्डुकुटीतले। महाराज्यं प्रकुर्वाणः पिता ते तिष्ठति ध्रुवम् ॥६३॥
एतदाकर्ण्य पुत्रोसौ ततोभयकुमारवाक्। एकाकी कौतुकाच्छीघ्रं नन्दग्रामं समागतः ॥६४॥
नन्दग्रामे तदा पूर्वनिष्कासनमहाक्रुधा। निग्रहं कर्त्तुकामेन श्रेणिकेन महीभुजा ॥६५॥

तो दुःसाध्य अवश्य है। आप एक कौए को मोर के पंखों से खूब सजाकर सुन्दर बना दीजिए, पर रहेगा वह कौआ का कौआ ही। ठीक इसी तरह चिलातपुत्र आज एक विशाल राज्य का मालिक जरूर बन गया, पर उसमें जो भील-जाति का अंश है वह अपने चिर संस्कार के कारण इसमें पवित्र गुणों की दाल गलने नहीं देता और यही कारण हुआ कि राज्याधिकार प्राप्त होते ही उसकी प्रवृत्ति अच्छी न होकर अन्याय की ओर हुई। प्रजा को उसने हर तरह तंग करना शुरू किया। कोई दुर्व्यसन, कोई कुकर्म उससे न छूट पाया। अच्छे-अच्छे घराने की कुलशील सतियों की इज्जत ली जाने लगी। लोगों का धन-माल जबरन लूटा-जाने लगा। उसकी कुछ पुकार नहीं, सुनवाई नहीं, जिसे रक्षक जानकर नियम किया वही जब भक्षक बन बैठा तब उसकी पुकार, की भी कहाँ जाये? प्रजा अपनी आँखों से घोर से घोर अन्याय देखती, पर कुछ करने-धरने को समर्थ न होकर वह मन मसोस कर रह जाती। जब चिलात बहुत ही अन्याय करने लगा तब उसकी खबर बड़ी-बड़ी दूर तक बात सुनाई पड़ने लगी। श्रेणिक को भी प्रजा द्वारा यह हाल मालूम हुआ। उसे अपने पिता की निरीह प्रजा पर चिलात का यह अन्याय सहन नहीं हुआ। उसने तब अपने श्वसुर वसुपाल से कुछ सहायता लेकर चिलात पर चढ़ाई कर दी। प्रजा को जब श्रेणिक की चढ़ाई का हाल मालूम हुआ तो उसने बड़ी खुशी मनाई और हृदय से उसका स्वागत किया। श्रेणिक ने प्रजा की सहायता से चिलात को सिंहासन से उतारकर देश बाहर किया और प्रजा की अनुमति से फिर आप ही सिंहासन पर बैठा। सच है, राज्यशासन वहीं कर सकता है और वही पात्र भी है जो बुद्धिमान् हो, समर्थ हो और न्यायप्रिय हो। दुर्बुद्धि, दुराचारी, कायर और अकर्मण्य पुरुष उसके योग्य नहीं ॥५७-६१॥

इधर कई दिनों से अपने पिता को न देखकर अभयकुमार ने अपनी माता से एक दिन पूछा-माँ, बहुत दिनों से पिताजी दीख नहीं पड़ते, सो वे कहाँ है। अभयमती ने उत्तर में कहा-बेटा, वे जाते समय कह गए थे कि राजगृह में 'पाण्डुकुटि' नाम का महल है। प्रायः मैं वहीं रहता हूँ। सो मैं जब समाचार दूँ तब वहीं आ जाना। तब से अभी तक उनका कोई पत्र न आया। जान पड़ता है राज्य के कामों से उन्हें स्मरण न रहा। माता द्वारा पिता का पता पा अभयकुमार अकेला ही राजगृह को रवाना हुआ। कुछ दिनों में वह नन्दगाँव में पहुँचा ॥६२-६४॥

पाठकों को स्मरण होगा कि जब श्रेणिक को उसके पिता उपश्रेणिक ने देश बाहर हो जाने की आज्ञा दी थी और श्रेणिक उसके अनुसार राजगृह से निकल गया था तब उसे सबसे पहले रास्ते में यही

आदेशः प्रेषितश्चेति यथा भो ब्राह्मणोत्तमाः। मृष्टतोयभृतं यूयं वटकूपं मनोहरम् ॥६६॥
शीघ्रं प्रेषयथात्रैव युष्माकं निग्रहोन्यथा। अस्माभिः क्रियते व्यक्तं तत्समाकर्ण्य ते द्विजाः ॥६७॥
संजाता व्याकुलाश्चित्ते ततोभयकुमारवाक्। पृष्ट्वा तत्कारणं सर्वं तेषां बुद्धिं ददौ सुधीः ॥६८॥
ततस्तद्वचनादेव ब्राह्मणैस्तुष्टमानसैः। श्रेणिकस्य महीभर्त्तुर्विज्ञप्तिः प्रेषिता द्रुतम् ॥६९॥
अस्माभिर्भणितश्चापि कूपो नागच्छति ध्रुवम्। रुष्ट्वा पुरस्य बाह्येऽसौ संस्थितो भो महीपतेः ॥७०॥
पुरुषस्य भवेत्स्त्री च-वशीकरणमुत्तमम्। तस्माद्देव भवद्ग्रामस्थितोदुंबरकूपिका ॥७१॥
भवद्भिः प्रेष्यते चात्र यतस्तस्यास्तु पृष्ठतः। समागच्छति कूपोसौ तच्छ्रुत्वा श्रेणिक प्रभुः ॥७२॥

नन्दगाँव पड़ा था। पर यहाँ के लोगों ने राजद्रोह के भय से श्रेणिक को गाँवों में आने नहीं दिया था। श्रेणिक इससे उन लोगों पर बड़ा नाराज हुआ था। इस समय उन्हें उनकी असहानुभूति की सजा देने के अभिप्राय से श्रेणिक ने उन पर एक हुक्मनामा भेजा और उसमें लिखा कि–''आप के गाँव में एक मीठे पानी का कुँआ है। उसे बहुत जल्दी मेरे यहाँ भेजो, अन्यथा इस आज्ञा का पालन न होने से तुम्हें सजा दी जायेगी।'' बेचारे गाँव के रहने वाले स्वभाव से डरपोक ब्राह्मण राजा के इस विलक्षण हुक्मनामे को सुनकर बड़े घबराये। जो ले जाने की चीज होती है वही ले-जाई जाती है, पर कुँआ एक स्थान से अन्य स्थान पर कैसे-ले जाया जाए? वह कोई ऐसी छोटी-मोटी वस्तु नहीं जो यहाँ से उठाकर वहाँ रख दी जाए। तब वे बड़ी चिन्ता में पड़े। क्या करें, और क्या न करें, यह उन्हें बिल्कुल न सूझ पड़ा, न वे राजा के पास ही जाकर कह सकते हैं कि–महाराज, यह असम्भव बात कैसे हो सकती है। कारण गाँव के लोगों में इतनी हिम्मत कहाँ? सारे गाँव में यही एक चर्चा होने लगी। सबके मुँह पर मुर्दनी छा गई और बात भी ऐसी ही थी। राजाज्ञा न पालने पर उन्हें दण्ड भोगना चाहिए। यह चर्चा घरों घर हो रही थी कि इसी समय अभयकुमार यहाँ आ पहुँचा, जिसका कि जिकर ऊपर आ चुका है। उसने इस चर्चा का आदि अन्त मालूम कर गाँव के सब लोगों को इकट्ठा कर कहा–इस साधारण बात के लिए आप लोग ऐसा चिन्ता में पड़ गए। घबराने की कोई बात नहीं। मैं जैसा कहूँ वैसा कीजिए। आपका राजा उससे खुश होगा। तब उन लोगों ने अभयकुमार की सलाह से श्रेणिक की सेवा में एक पत्र लिखा। उसमें लिखा कि–''राजराजेश्वर, आपकी आज्ञा को सिर पर चढ़ाकर हमने कुँए से बहुत-बहुत प्रार्थनाएँ कर कहा कि–महाराज तुझ पर प्रसन्न है। इसलिए वे तुझे अपने शहर में बुलाते हैं, तू राजगृह जा! पर महाराज, उसने हमारी एक भी प्रार्थना न सुनी और उल्टा रूठकर गाँव में बाहर चल दिया। सो हमारे कहने सुनने से तो वह आता नहीं दीख पड़ता। पर हाँ उसके ले जाने का एक उपाय है और उसे यदि आप करें तो संभव है वह रास्ते पर आ जाये। वह उपाय यह है कि पुरुष स्त्रियों का गुलाम होता है, स्त्रियों द्वारा वह जल्दी वश हो जाता है। इसलिए आप अपने शहर की उदुम्बर नाम की कुई को इसे लेने को भेजें तो अच्छा हो। बहुत विश्वास है कि उसे देखते ही हमारा कुँआ उसके पीछे-पीछे हो जायेगा। श्रेणिक पत्र पढ़कर चुप रह गए। उनसे उसका कुछ उत्तर न बन पड़ा। सच है–

मौनं कृत्वा स्थितो युक्तं न धूर्तो गृह्यते सुखम्। तथान्यदा गजो राज्ञा संख्यार्थं प्रेषितस्ततः ॥७३॥
जले नावा स पाषाणै-स्तोलितो तेन धीमता। आदेशस्तु पुनस्तस्य समायातो महीपतेः ॥७४॥
कूपः पूर्वदिशिस्थोसौ कार्यो पश्चिमदिक्तटे। ग्रामस्तेन कृतः पूर्वदिशिस्थो धूर्त्तचेतसा ॥७५॥
मेषको प्रेषितश्चापि दुर्बलो न महान्न च। यथा तथा प्रयत्नेन रक्षणीयो मम ध्रुवम् ॥७६॥
तदा तद्वचनेनोच्चैर्ब्राह्मणैः सोपि मेषकः। चारयित्वा तृणं भूरि स्थापितो वृकसंन्निधौ ॥७७॥
याचितं गर्गरीसंस्थं कूष्माण्डं श्रेणिकेन च। संवर्द्ध्य गर्गरीमध्ये प्रेषितं तैश्च तद्द्रुतम् ॥७८॥
याचितायां रजोरज्वां प्रतिच्छन्दं प्रयाचितम्। इत्यादिके कृते राजा महाश्चर्यं गतस्ततः ॥७९॥

जब जैसे को तैसा मिलता है तब अकल ठिकाने पर आती है और धूर्तों को सहज में काबू में ले लेना कोई हँसी खेल थोड़े ही है? ॥६५-७३॥

कुछ दिनों बाद श्रेणिक ने उनके पास एक हाथी भेजा और लिखा कि इसका ठीक-ठीक तोल कर जल्दी खबर दो कि यह वजन में कितना है? अभयकुमार उन्हें बुद्धि सुझाने वाला था ही, सो उसके कहे अनुसार उन लोगों ने नाव में एक ओर तो हाथी को चढ़ा दिया और दूसरी ओर खूब पत्थर रखना शुरू किया। जब देखा कि दोनों ओर का वजन समतोल हो गया तब उन्होंने उन सब पत्थरों को अलग तोलकर श्रेणिक को लिख भेजा कि हाथी का तोल इतना है। श्रेणिक को अब भी चुप रह जाना पड़ा ॥७४॥

तीसरी बार तब श्रेणिक ने लिख भेजा कि "आपका कुँआ गाँव के पूर्व में है, उसे पश्चिम की ओर कर देना। मैं बहुत जल्द उसे देखने को आऊँगा।" इसके लिए अभयकुमार ने उन्हें युक्ति सुझाकर गाँव को ही पूर्व की ओर बसा दिया। इससे कुँआ सुतरां पश्चिम में हो गया ॥७५॥

चौथी बार श्रेणिक ने एक मेढ़ा भेजा कि "यह मेढ़ा न दुर्बल हो, न बढ़ जाए और न इसके खाने पिलाने में किसी तरह की असावधानी न की जाए। मतलब यह कि जिस स्थिति में यह अब है इसी स्थिति में बना रहे। मैं कुछ दिनों बाद इसे वापस मंगा लूँगा।" इसके लिए अभयकुमार ने उन्हें यह युक्ति बताई कि मेंढ़े को खूब खिला-पिला कर घण्टा दो घण्टा के लिए उसे सिंह के सामने बाँध दिया करिए, ऐसा करने से न यह बढ़ेगा और न घटेगा ही। वैसा ही किया गया। मेंढ़ा जैसा था वैसा ही रहा। श्रेणिक को इस युक्ति में भी सफलता प्राप्त न हुई ॥७६-७७॥

पाँचवी बार श्रेणिक ने उनसे घड़े में रखा एक कोला (कद्दू) मँगाया। इसके लिए अभयकुमार ने बेल पर लगे हुए एक छोटे कोले को घड़े में रखकर बढ़ाना शुरू किया और जब उससे घड़ा भर गया तब उसे घड़े को श्रेणिक के पास पहुँचा दिया ॥७८॥

छठी बार श्रेणिक ने उन्हें लिख भेजा कि "मुझे बालू-रेत की रस्सी की दरकार है, सो तुम जल्दी बनाकर भेजो।" अभयकुमार ने इसके उत्तर में यह लिखवा भेजा कि "महाराज, जैसी रस्सी आप तैयार करवाना चाहते हैं कृपा कर उसका नमूना भिजवा दीजिये। हम वैसी ही रस्सी फिर तैयार

लेखं सम्प्रेषयमास श्रेणिकस्तुष्टमानसः। सोपि वैदेशिकश्चात्र प्रेषणीयो मदन्तिके ॥८०॥
न रात्रौ न दिने नैव मार्गे चोन्मार्गके न च। श्रुत्वेत्यामंत्रणं सोपि तदाभयकुमारवाक् ॥८१॥
सन्ध्यायां शकटैकस्मिन्भागे स्थित्वाविचक्षणः। समागत्य पुरं राजगृहं भूपसभावनौ ॥८२॥
सिंहासने प्रपञ्चेन स्थितं त्यक्त्वा नरं द्रुतम्। अंगरक्षकमध्यस्थं जनानंदप्रवीक्षणैः ॥८३॥
ज्ञात्वा श्रीश्रेणिकं भूपं ननाम विनयान्वितः। तदा श्रीश्रेणिकेनोच्चैः परमानन्दनिर्भरात् ॥८४॥
समालिंग्य प्रवेगेन स पुत्रः कुलदीपकः। महोत्सवशतैश्चापि पत्तने प्रकटाकृतः ॥८५॥

कर सेवा में भेज देंगे।'' इत्यादि कई बातें श्रेणिक ने उनसे करवायी सब का उतर उन्हें बराबर मिला। उत्तर ही न मिला किन्तु श्रेणिक को हतप्रभ भी होना पड़ा। इसलिए कि वे उन ब्राह्मणों को इस बात की सजा देना चाहते थे कि उन्होंने मेरे साथ सहानुभूति क्यों न बतलाई? पर वे सजा दे नहीं पाये। श्रेणिक को जब यह मालूम हुआ कि कोई एक विदेशी गाँव के लोगों को यह सब बातें सुझाया करता है। उन्हें उस विदेशी की बुद्धि देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और सन्तोष भी हुआ। श्रेणिक की उत्कण्ठा तब उसके देखने के लिए बढ़ी। उन्होंने एक पत्र लिखा। उसमें लिखा कि ''आपके यहाँ जो एक विदेशी आकर रहा है, उसे मेरे पास भेजिये। पर साथ में उसे इतना और समझा देना कि वह न तो रात में आये और न दिन में, न सीधे रास्ते से आये और न टेढ़े-मेढ़े रास्ते से ॥७९-८१॥

अभयकुमार को पहले तो कुछ जरा विचार में पड़ना पड़ा, फिर उसे इसके लिए भी युक्ति सूझ गई और अच्छी सूझी। वह शाम के वक्त गाड़ी के एक कोने में बैठकर श्रेणिक के दरबार में पहुँचा। वहाँ वह देखता है तो सिंहासन पर एक साधारण पुरुष बैठा है। उस पर श्रेणिक नहीं है वह बड़ा आश्चर्य में पड़ गया। उसे ज्ञात हो गया कि यहाँ भी कुछ न कुछ चाल खेली गई है। बात यह थी कि श्रेणिक अंगरक्षक पुरुषों के साथ बैठ गए थे। उनकी इच्छा थी कि अभयकुमार मुझे न पहचान कर लज्जित हो। इसके बाद ही अभयकुमार ने एक बार अपनी दृष्टि राजसभा पर डाली। उसे कुछ गहरी निगाह से देखने पर जान पड़ा कि राजसभा में बैठे हुए लोगों की नजर बार-बार एक पुरुष पर पड़ रही है और वह लोगों की अपेक्षा सुन्दर और तेजस्वी है। पर आश्चर्य यह कि वह राजा अंगरक्षक लोगों में बैठा है। अभयकुमार को उसी पर कुछ सन्देह गया। तब उसके कुछ चिह्नों को देखकर उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि यही मेरे पूज्य पिता श्रेणिक है। तब उसने जाकर उनके पाँवों में अपना सिर रख लिया। श्रेणिक ने उठाकर झट उसे छाती से लगा लिया। वर्षों बाद पिता पुत्र का मिलाप हुआ। दोनों को ही बड़ा आनन्द हुआ। इसके बाद श्रेणिक ने पुत्र प्रवेश के उपलक्ष्य में प्रजा को उत्सव मानने की आज्ञा की। खूब आनन्द-उत्सव मनाया गया। दुःखी, अनाथों को दान किया गया। पूजा-प्रभावना की गई। सच है-कुलदीपक पुत्र के लिए कौन ख़ुशी नहीं मनाता? इसके बाद ही श्रेणिक ने अपने कुछ आदमियों को भेजकर कांची से अभयमती और वसुमित्रा इन दोनों प्रियाओं को भी बुलवा लिया। इस प्रकार प्रिया-पुत्र सहित श्रेणिक सुख से राज्य करने लगे। अब इसके आगे की

ततः काञ्चीपुरात्तेन राज्ञाहूता स्वमन्दिरम्। अभयादिमती सापि वसुमित्रा च कामिनी ॥८६॥
एवं पुत्रादिसंयुक्तः श्रेणिकोसौ महीपतिः। यावत्संतिष्ठति सौख्यं तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥८७॥
सिन्धुदेशे सुविख्याते विशालापत्तने शुभे। राजाभूच्चेटको धीमान्सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥८८॥
तस्य राज्ञी सुभद्राख्या सती सद्रूपमण्डिता। तयोः सारगुणोपेता बभूवुः सप्त पुत्रिकाः ॥८९॥
तासामाद्याभवत्पुत्री पवित्रा प्रियकारिणी। तत्पुण्यं वर्ण्यते केन यत्पुत्रस्तीर्थकृद्गुणी ॥९०॥
मृगावती द्वितीया च तृतीया सुप्रभा मता। प्रभावती चतुर्थी च चेलिनी पंचमी सुता ॥९१॥
ज्येष्ठा षष्ठी तथाऽवद्या चन्दना सप्तमी सती। यस्या नानोपसर्गेपि स्वशीले निश्चला मतिः ॥९२॥
स चेटको महाराजो पुत्रीस्नेहेन वीक्षितुम्। रूपाणि सर्वपुत्रीणां कारयामास पट्टके ॥९३॥
तस्मिन्निर्मापिते पट्टे चित्रकारेण धीमता। पश्यन् रूपाणि भूपोसौ चेलिन्या रूपकोरुके ॥९४॥
दृष्ट्वा बिन्दुं तदा चित्रकाराय कुपितो महान्। ततो नत्वा नृपं प्राह चित्रकारो विचक्षणः ॥९५॥
देव द्वित्रिचतुर्वारान्सप्त वारान्मयापि च। प्रमृष्टोयं पतत्येव बिन्दुरस्मिंश्च रूपके ॥९६॥
ईदृशं लाञ्छनं तत्र संभविष्यति मानसे। संविचार्येति भो भूप ततोसौ स्फेटितो न हि ॥९७॥
तच्छ्रुत्वा चेटको भूपः परमानन्दनिर्भरः। ददौ तस्मिन्महादानं सतां हर्षो न निष्फलः ॥९८॥

कहानी लिखी जाती है– ॥८२-८७॥

सिन्धु देश की विशाला नगरी के राजा चेटक थे। वे बड़े बुद्धिमान्, धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे। जिन भगवान् पर उनकी बड़ी भक्ति थी। उनकी रानी का नाम सुभद्रा था। सुभद्रा बड़ी पतिव्रता और सुन्दरी थी इसके सात लड़कियाँ थीं। इनमें पहली लड़की प्रियकारिणी थी। इसके पुण्य का क्या कहना, जो इसका पुत्र संसार का महान् नेता तीर्थंकर हुआ। दूसरी मृगावती, तीसरी सुप्रभा, चौथी प्रभावती, पाँचवीं चेलना, छठी ज्येष्ठा और सातवीं चन्दना थी। इनमें अन्त में चन्दना को बड़ा उपसर्ग सहना पड़ा। उस समय इसने बड़ी वीरता से अपनी सतीधर्म की रक्षा की ॥८८-९२॥

चेटक महाराज का अपनी इन पुत्रियों पर बड़ा प्रेम था। इससे उन्होंने इन सबकी एक साथ तस्वीर बनवाई। चित्रकार बड़ा होशियार था, सो उसने उन सबका बड़ा ही सुन्दर चित्र बनाया। चित्रपट को चेटक महाराज बड़ी बारीकी के साथ देख रहे थे। देखते हुए उनकी नजर चेलना की जाँघ पर पड़ी, चेलना की जाँघ पर जैसा तिल का चिह्न था, चित्रकार ने चित्र में भी वैसा ही तिल का चिह्न बना दिया था सो चेटक महाराज ने ज्यों ही उस तिल को देखा उन्हें चित्रकार पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने उसी समय उसे बुलाकर पूछा कि–तुझे इस तिल का हाल कैसे जान पड़ा। महाराज की क्रोध भरी आँखें देखकर वह बड़ा घबराया। उसने हाथ जोड़कर कहा–राजाधिराज इस तिल को मैंने कोई छह सात बार मिटाया, पर मैं ज्यों ही चित्र के पास लिखने को कलम ले जाता त्यों ही उसमें से रंग की बूँद इसी जगह पड़ जाती। तब मेरे मन में दृढ़ विश्वास हो गया कि ऐसा चिह्न राजकुमारी चेलना के होना ही चाहिए और यही कारण हैं कि मैंने फिर उसे न मिटाया। यह

तदासौ नृपतिः श्रीमान्प्रीत्या देवार्चनक्षणे। तत्पट्टकं प्रसार्योच्चैर्जिनबिम्बप्रसन्निधौ ॥९९॥
पूजां श्रीमज्जिनेन्द्राणां सर्वकल्याणदायिनीम्। करोत्येव महाभक्त्या भव्यचेतोनुरंजिनीम् ॥१००॥
एकदा चेटकः सोपि केनचित्कारणेन च। स्वसैन्येन समागत्य राजा राजगृहं पुरम् ॥१०१॥
बाह्योद्याने स्थितः स्नानधौतवस्त्रपुरस्सरम्। श्रीमज्जिनान्समभ्यर्च्य तत्र स्थापितपट्टके ॥१०२॥
क्षिप्तवान्कुसुमादिं च तद्दृष्ट्वा श्रेणिकः प्रभुः। तत्पार्श्ववर्त्तिनः प्राह किमेतदिति ते जगुः ॥१०३॥
राज्ञोस्य पुत्रिकाःसप्त लिखिताश्चात्र पट्टके। तासु पुत्रीषु चतस्त्राः परिणीता गुणोज्ज्वलाः ॥१०४॥
द्वे कन्ये चेलिनी ज्येष्ठे संजाते नवयौवने। चन्दना सप्तमी बाला तिस्त्रः सन्ति गृहे पितुः ॥१०५॥
तच्छ्रुत्वा श्रेणिको राजा तयोरासक्तमानसः। भूत्वा स्वमंत्रिणो वार्त्तां जगौ कन्याद्वयेच्छया ॥१०६॥
ततस्ते मंत्रिणश्चापि नत्वाभयकुमारकम्। प्राहश्चेटकभूपस्य कन्यायुग्मं मनोहरम् ॥१०७॥

सुनकर चेटक महाराज बड़े खुश हुए। उन्होंने फिर चित्रकार को बहुत पारितोषिक दिया। सच है बड़े पुरुषों का खुश होना निष्फल नहीं जाता ॥९३-९८॥

अब से चेटक महाराज भगवान् की पूजन करते समय पहले इस चित्रपट को खोलकर भगवान् की प्रतिमा के पास ही रख लेते हैं और फिर बड़ी भक्ति के साथ जिनपूजा करते रहते हैं। जिन पूजा सब सुखों की देने वाली और भव्यजनों के मन को आनन्दित करने वाली है ॥९९-१००॥

एक बार चेटक महाराज किसी खास कारण वश अपनी सेना को साथ लिए राजगृह आए। वे शहर बाहर बगीचे में ठहरे। प्रातःकाल शौच, मुख मार्जनादि आवश्यक क्रियाओं से निपट उन्होंने स्नान किया और निर्मल वस्त्र पहनकर भगवान् की विधिपूर्वक पूजा की। रोज के माफिक आज भी चेटक महाराज ने अपनी राजकुमारियों के उस चित्रपट को पूजन करते समय अपने पास रख लिया था और पूजन के अन्त में उस पर फूल वगैरह डाल दिये थे ॥१०१-१०३॥

इसी समय श्रेणिक महाराज भगवान् के दर्शन करने को आए। उन्होंने इस चित्रपट को देखकर पास खड़े हुए लोगों से पूछा—यह किनका चित्रपट है? उन लोगों ने उत्तर दिया—राजराजेश्वर, ये जो विशाला के चेटक महाराज आये हैं, उनकी लड़कियों का यह चित्रपट है। इनमें चार लड़कियों का तो ब्याह हो चुका है और चेलना तथा ज्येष्ठा ये दो लड़कियाँ ब्याह योग्य हैं। सातवीं चन्दना अभी बिल्कुल बालिका है। ये तीनों ही इस समय विशाला में है यह सुन श्रेणिक महाराज चेलना और ज्येष्ठ पर मोहित हो गये। इन्होंने महल पर आकर अपने मन की बात मंत्रियों से कही। मंत्रियों ने अभयकुमार से कहा—आपके पिताजी ने चेटक महाराज से इनकी दो सुन्दर लड़कियों के लिए मँगनी की थी, पर उन्होंने अपने महाराज की अधिक उम्र देख उन्हें अपनी राजकुमारियों के देने से इंकार कर दिया। अब तुम बतलाओ कि क्या उपाय किया जाये जिससे काम पूरा पड़ ही जाये ॥१०४-१०५॥

बुद्धिमान् अभयकुमार मंत्रियों के वचन सुनकर बोला—आप इस विषय की चिन्ता न करें जब तक कि सब कामों को करने वाला मैं मौजूद हूँ। यह कहकर अभयकुमार ने अपने पिता का एक बहुत

पित्रा ते याचितः सोपि न दत्ते गतयौवनात्। ध्रुवं कार्यमिदं चापि कर्त्तव्यं क्रियतेऽत्र किम् ॥१०८॥
श्रुत्वाभयकुमारोसौ मंत्रिवाक्यं विचक्षणः। नैव चिन्तासमर्थोहं सर्वकार्यविधायकः ॥१०९॥
इत्युक्त्वा स्वपितुर्दिव्यं रूपमालिख्य पट्टके। स्वयं वणिग्वरो भूत्वा वाणिज्येन प्रवेगतः ॥११०॥
विशालाख्यां पुरीं गत्वा महोपायेन पट्टकम्। कन्ययोः सम्प्रदर्श्योच्चैस्तच्चित्तं श्रेणिकोपरि ॥१११॥
कृत्वा सुरंगिकां मार्गे गृहीत्वा ते सुकन्यके। संचचाल तदा सा च चेलिनी धूर्त्तमानसा ॥११२॥
त्यक्त्वाभरणव्याजेन ज्येष्ठां सद्रूपशालिनीम्। स्वयं तेन समं प्राप्य पुरं राजगृहं मुदा ॥११३॥
श्रेणिकस्य महीभर्त्तुर्महोत्सवशतैर्द्रुतम्। राज्ञी शिरोमणिर्जाता स्वपुण्यात्प्राणवल्लभा ॥११४॥
अथासौ श्रेणिको राजा विष्णुभक्तोतिमुग्धधीः। चेलिनी श्रीजिनेन्द्रोक्तसारधर्मे रता सती ॥११५॥
ततस्तयोर्द्वयोर्नित्यं स्वस्वधर्मप्रशंसने। विवादः संभवत्येव तथान्यदिवसे प्रभुः ॥११६॥
श्रेणिकश्चेलिनीं प्राह भो प्रिये कुलयोषिताम्। पतिरेव भवेद्देवस्ततो मे वचनाद्ध्रुवम् ॥११७॥
भोजनं विष्णुभक्तानां सद्गुरूणां प्रदीयते। त्वया सद्विनयेनेति तच्छ्रुत्वा चेलिनी सती ॥११८॥
ददामि भोजनं तेषामित्युक्त्वाहूय मण्डपे। गौरवात्स्थापयामास सर्वान्भागवतान्मुदा ॥११९॥

सुन्दर चित्र तैयार किया और उसे लेकर साहूकार के वेष में आप विशाला पहुँचा। किसी उपाय से उसने वह चित्रपट दोनों राजकुमारियों को दिखलाया। वह इतना बढ़िया बना था कि उसे यदि एक बार देवांगनाएँ देख पाती तो उनसे भी अपने आपे में न रहा जाता तब ये दोनों कुमारियाँ उसे देखकर मुग्ध हो जाए, इसमें आश्चर्य क्या? उन दोनों का श्रेणिक महाराज पर मुग्ध देख अभयकुमार उन्हें सुरंग के रास्ते से राजगृह ले जाने लगा। चेलना बड़ी धूर्त थी। उसे स्वयं तो जाना पसन्द था, पर वह ज्येष्ठा को ले जाना न चाहती थी। सो जब ये थोड़ी ही दूर आई होंगी कि चेलना ने ज्येष्ठा से कहा–हाँ, बहिन मैं तो अपने सब गहने–दागी महल में ही छोड़ आई हूँ, तू जाकर उन्हें ले–आ न? तब तक मैं यही खड़ी हूँ बेचारी भोली–भाली ज्येष्ठा इसके झाँसे में आकर चली गई वह आँखों की ओट हुई होगी कि चेलना ने वहाँ से रवाना होकर अभयकुमार के साथ राजगृह आ गई। फिर बड़े उत्सव के साथ यहाँ इसका श्रेणिक महाराज के साथ ब्याह हो गया। पुण्य के उदय से श्रेणिक की सब रानियों में चेलिनी के ही भाग्य का सितारा चमका–पट्टरानी यही हुई। यह बात ऊपर लिखी जा चुकी है–श्रेणिक एक संन्यासी के उपदेश से वैष्णवधर्मी हो गए थे और तब से वे इसी धर्म को पालते थे। महारानी चेलना जैनी थी। जिनधर्म पर जन्म से ही उसकी श्रद्धा थी। इन दो धर्मों को पालने वाले पति–पत्नी का अपने–अपने धर्म की उच्चता बाबत रोज–रोज थोड़ा बहुत वार्तालाप हुआ करता था। पर वह बड़ी शान्ति से। एक दिन श्रेणिक ने चेलना से कहा–प्रिये, उच्च घराने की सुशील स्त्रियों का देव तो पति है तब तुम्हें मैं जो कहूँ वह करना चाहिए। मेरी इच्छा है कि एक बार तुम इन विष्णुभक्त सच्चे गुरुओं को भोजन दो। सुनकर महारानी चेलना ने बड़ी नम्रता के साथ कहा–अच्छा नाथ, दूँगी ॥१०६–११८॥

इसके कुछ दिनों बाद चेलना ने कुछ भागवत् साधुओं का निमंत्रण किया और बड़े गौरव के साथ

तत्र ते कपटोपेताः शठा ध्यानेन संस्थिताः। पृष्टास्तया भवन्तस्तु प्रकुर्वन्ति किमत्र भो ॥१२०॥
तदाकर्ण्य जगुस्तेपि त्यक्त्वा देहं मलैर्भृतम्। जीवं विष्णुपदं नीत्वा तिष्ठामो देवि सौख्यतः ॥१२१॥
ततस्तया महादेव्या चेलिन्या सोपि मण्डपः। प्रज्वालितोग्निना नष्टा शीघ्रं ते वायसा यथा ॥१२२॥
राज्ञा रुष्टेन सा प्रोक्ता भक्तिर्नास्ति यदि ध्रुवम्। किं ते मारयितुं युक्तं कष्टादेतांस्तपस्विनः ॥१२३॥
तयोक्तं देव भो त्यक्त्वा कुत्सितं स्ववपुर्द्रुतम्। एते विष्णुपदं प्राप्ताः सारसौख्यसमन्वितम् ॥१२४॥
नित्यं तत्रैव तिष्ठन्ति किमत्रागमनेन च। इति ज्ञात्वोपकाराय मयेदं निर्मितं प्रभो ॥१२५॥
अस्यैव मम वाक्यस्य निश्चयार्थं महीपते। सद्दृष्टान्तकथां वक्ष्ये श्रूयताम् परमादरात् ॥१२६॥
वत्सदेशे सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने प्रभुः। प्रजापालो महाराज्यं करोति स्म स्वलीलया ॥१२७॥
श्रेष्ठीसागरदत्ताख्यो वसुमत्यास्त्रिया युतः। तत्रैव च समुद्रादिदत्तश्रेष्ठी परोभवत् ॥१२८॥

उन्हें अपने यहाँ बुलाया। आकर वे लोग अपना ढोंग दिखलाने के लिए कपट, मायाचारी से ईश्वराराधन करने को बैठे। उस समय चेलना ने उनसे पूछा–आप लोग क्या करते हैं? उत्तर में उन्होंने कहा–देवी, हम लोग मलमूत्रादि अपवित्र वस्तुओं से भरे इस शरीर को छोड़कर हम अपनी आत्मा को विष्णु अवस्था में प्राप्त कर स्वानुभव का सुख भोगते हैं ॥११९-१२१॥

सुनकर चेलना ने उस मंडप में, जिसमें कि सब साधु ध्यान करने को बैठे थे, आग लगवा दी। आग लगते ही वे सब भाग खड़े हुए। यह देख श्रेणिक ने बड़े क्रोध के साथ चेलना से कहा–आज तुमने साधुओं के साथ अनर्थ किया। यदि तुम्हारी उन पर भक्ति नहीं थी, तो क्या उसका यह अर्थ है कि उन्हें जान से मार डालना? बताओ उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया जिससे तुम उनके जीवन की ही प्यासी हो उठी? ॥१२२-१२३॥

रानी बोली–नाथ, मैंने तो कोई बुरा काम नहीं किया और जो किया वह उन्हीं के कहे अनुसार उनके लिए सुख का कारण था। मैंने तो केवल परोपकार बुद्धि से ऐसा किया था। जब वे लोग ध्यान करने को बैठे तब मैंने उनसे पूछा कि आप लोग क्या करते हैं, तब उन्होंने मुझे कहा कि हम अपवित्र शरीर को छोड़कर उत्तम सुखमय विष्णुपद को प्राप्त करते हैं। तब मैंने सोचा कि–अहो, ये जब शरीर छोड़कर विष्णुपद प्राप्त करते हैं तब तो बहुत ही अच्छा है और इससे यह और उत्तम होगा कि यदि ये निरन्तर विष्णु ही बने रहें। संसार में बार-बार आने-जाने का इनके पचड़ा क्यों? यह विचार कर वे निरन्तर विष्णुपद में रहकर सुख भोगें इस परोपकार बुद्धि से मैंने मण्डप में आग लगवा दी। तब आप ही विचार कर बतलाइए कि इसमें मैंने सिवा परोपकार के कौन बुरा काम किया? और सुनिए, मेरे वचनों पर आपको विश्वास हो, इसके लिए मैं एक कथा आपको सुना दूँ ॥१२४-१२६॥

''जिस समय की यह कथा है, उस समय वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी के राजा प्रजापाल थे। वे अपना राज्यशासन नीति के साथ करते हुए सुख से समय बिताते थे। कौशाम्बी में दो सेठ रहते थे। उनके नाम थे सागरदत्त और समुद्रदत्त। दोनों सेठों में परस्पर बहुत प्रेम था। उनका प्रेम सदा ऐसा

भार्या समुद्रदत्ताख्या श्रेष्ठिनश्च तयोर्द्वयोः। महास्नेहवशादुच्चैर्वाचा बन्धोभवद्ध्रुवम् ॥१२९॥
आवयोः पुत्रपुत्र्यौ यौ संजायेते परस्परम्। तयोर्विवाहः कर्त्तव्यो यतः प्रीतिर्भवेत्सदा ॥१३०॥
ततः सागरदत्तस्य वसुमत्यां सुतोजनि। वसुमित्राभिधः केन कर्मणासौ वशीकृतः ॥१३१॥
रात्रौ दिव्यनरो भूत्वा दिने सर्पो भयानकः। तिष्ठति स्म गृहे चेति विचित्रा संसृतेः स्थितिः ॥१३२॥
तथा समुद्रदत्तस्य नागदत्ता सुताभवत्। तस्यां समुद्रदत्तायां रूपलावण्यमण्डिता ॥१३३॥
तेनासौ वसुमित्रेण परिणीता गुणोज्ज्वला। नैव वाचा चलत्वं च सतां कष्टशतैरपि ॥१३४॥
ततश्च वसुमित्रोसौ निशायां निजलीलया। धृत्वा पिट्टारके नित्यं कष्टं सर्पशरीरकम् ॥१३५॥
भूत्वा दिव्यनरो नागदत्तया सह सर्वदा। भुङ्क्ते भोगान्मनोभीष्टान्विचित्रं कर्मचेष्टितम् ॥१३६॥
एकदा यौवनाक्रान्तां नागदत्तां विलोक्य च। जगौ समुद्रदत्ता सा पुत्रीस्नेहेन दुःखिता ॥१३७॥
हा विधेश्चेष्टितं कष्टं कीदृशी मे सुतोत्तमा। वरश्च कीदृशो जातो भीतिकारी भुजङ्गमः ॥१३८॥
तच्छ्रुत्वा नागदत्ता सा भो मातर्मा विसूरय। समुद्धीर्येति वृत्तान्तं स्वभर्त्तुः संजगाद च ॥१३९॥
तदाकर्ण्य समुद्रादिदत्ता गत्वा सुतागृहम्। रात्रौ पिट्टारके मुक्त्वा सर्पदेहं तदा द्रुतम् ॥१४०॥

ही दृढ़ बना रहे, इसके लिए उन्होंने परस्पर में एक शर्त रखी कि–''मेरे यदि पुत्री हुई तो मैं उसका ब्याह तुम्हारे लड़के के साथ कर दूँगा और इसी तरह मेरे पुत्र हुआ तो तुम्हें अपनी लड़की का ब्याह उसके साथ कर देना पड़ेगा ॥१२७-१३०॥

दोनों ने उक्त शर्त स्वीकार की। उसके कुछ दिनों बाद सागरदत्त के घर पुत्र जन्म हुआ। उसका नाम वसुमित्र रखा। पर उसमें एक बड़े आश्चर्य की बात थी। वह यह कि–वसुमित्र न जाने किस कर्म के उदय से रात के समय तो एक दिव्य मनुष्य होकर रहता और दिन में एक भयानक सर्प ॥१३१-१३२॥

उधर समुद्रदत्त के घर कन्या हुई उसका नाम रखा गया नागदत्ता। वह बड़ी खूबसूरत सुन्दरी थी। उसके पिता ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसका ब्याह वसुमित्र के साथ कर दिया। सच है–

नैव वाचा चलत्वं स्यात्सतां कष्टशतैरपि ॥१३३-१३४॥

सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित नहीं होते। वसुमित्र का ब्याह हो गया। वह अब प्रतिदिन दिन में तो सर्प बनकर एक पिटारे में रहता और रात में एक दिव्य पुरुष होकर अपनी प्रिया के साथ सुखोपभोग करता। सचमुच संसार की विचित्र ही स्थिति होती है। इसी तरह उसके कई दिन बीत गए। एक दिन नागदत्ता की माता अपनी पुत्री को एक ओर तो यौवन अवस्था में पदार्पण करती और दूसरी ओर उसके विपरीत भाग्य को देखकर दुःखी होकर बोली–हाय! दैव की कैसी विडम्बना है, जो कहाँ तो देवकुमारी सरीखी सुन्दरी मेरी पुत्री और कैसा उसका अभाग्य जो उसे पति मिला एक भयंकर सर्प! उसकी दुःख भरी आह को नागदत्ता ने सुन लिया। वह दौड़ी आकर अपनी माँ से बोली–माँ, इसके लिए आप क्यों दुःख करती है। मेरा जब भाग्य ही ऐसा है, तब उसके लिए दुःख करना व्यर्थ है और अभी मुझे विश्वास है कि मेरे स्वामी का

धृत्वा मनुष्यसद्रूपं निर्गच्छन्तं विलोक्य तम्। सा प्रच्छन्नं तदा भस्मीचक्रे पिट्टारकं सती ॥१४१॥
सन्दाहिते तथा तस्मिन्वसुमित्रो गुणोज्ज्वलः। भुञ्जानो विविधान्भोगान्सदासौ पुरुषः स्थितः ॥१४२॥
तथैते देव तिष्ठन्ति विष्णुलोके निरन्तरम्। एतदर्थं मयारब्धो देहदाहस्तपस्विनाम् ॥१४३॥
तन्निशम्य महीनाथः श्रेणिकश्चेलिनीवचः। समर्थो नोत्तरं दातुं कोपान्मौनेन संस्थितः ॥१४४॥
अथैकदा नराधीशो गतः पापर्द्धिहेतवे। तत्रातापेन योगस्थं यशोधरमहामुनिम् ॥१४५॥
समालोक्य महाकोपान्ममेमं विघ्नकारिणम्। मारयामीति संचिन्त्य मुक्तवान्दुष्टकुक्कुरान् ॥१४६॥
गत्वा पञ्चशतान्युच्चैः कुक्कुरास्तेपि निष्ठुराः। यशोधरमुनेस्तस्य तपो माहात्म्यतो द्रुतम् ॥१४७॥
कृत्वा प्रदक्षिणां पाद-मूले तस्थुः सुभक्तितः। क्रोधान्धेन पुनस्तेन बाणा मुक्ताः सुदारुणाः ॥१४८॥
शरास्तेपि बभूवुश्च पुष्पमालाः सुनिर्मलाः। प्रभावो मुनिनाथस्य महान्केनात्र वर्ण्यते ॥१४९॥
तस्मिन्काले महीपालः सप्तमं नरकं प्रति। त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुर्बन्धं चक्रे कुकष्टदम् ॥१५०॥
ततः प्रभावमालोक्य मुनेः पादाम्बुजद्वयम्। प्रणम्य परया भक्त्या त्यक्त्वा दुष्टाशयं नृपः ॥१५१॥

इस दशा से उद्धार हो सकता है। इसके बाद नागदत्ता ने अपनी माँ को स्वामी के उद्धार के सम्बन्ध की बात समझा दी। सदा के नियमानुसार आज भी रात के समय वसुमित्र अपना सर्प-शरीर छोड़कर मनुष्य रूप में आया और अपने शय्या-भवन में पहुँचा। इधर समुद्रदत्ता छुपे हुए आकर वसुदत्त के पिटारे को वहाँ से उठा ले-आई और उसी समय उसने उसे जला डाला। तब से वसुमित्र मनुष्य रूप में ही अपनी प्रिया के साथ सुख भोगता हुआ अपना समय आनंद से बिताने लगा। नाथ, उसी तरह ये साधु भी निरन्तर विष्णु लोक में रहकर सुख भोगें यह मेरी इच्छा थी इसलिए मैंने वैसा किया था। महारानी चेलना की कथा सुनकर श्रेणिक उत्तर तो कुछ नहीं दे सके, पर वे उस पर बहुत गुस्सा हुए और उपयुक्त समय न देखकर वे अपने क्रोध को उस समय दबा गए ॥१३५-१४४॥

एक दिन श्रेणिक शिकार के लिए गए हुए थे। उन्होंने वन में यशोधर मुनिराज को देखा। वे उस समय आतप योग धारण किए हुए थे। श्रेणिक ने उन्हें शिकार के लिए विघ्नरूप समझ कर मारने का विचार किया और बड़े गुस्से में आकर अपने क्रूर शिकारी कुत्तों को उन पर छोड़ दिया। कुत्ते बड़ी निर्दयता के साथ मुनि के खाने को झपटे। पर मुनिराज को तपस्या के प्रभाव से वे उन्हें कुछ कष्ट न पहुँचा सके। बल्कि उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके पाँवों के पास खड़े रह गए। यह देख श्रेणिक को और भी क्रोध आया। उन्होंने क्रोधान्ध होकर मुनि पर बाण चलाना आरम्भ किया। पर यह कैसा आश्चर्य जो बाणों के द्वारा उन्हें कुछ क्षति न पहुँचा कर वे ऐसे जान पड़े मानों किसी ने उन पर फूलों की वर्षा की है। सच, बात यह है कि तपस्वियों का प्रभाव कौन कह सकता है? श्रेणिक ने उन मुनि हिंसारूप तीव्र परिणामों द्वारा उस समय सातवें नरक की आयु का बन्ध किया, जिसकी स्थिति तैंतीस सागर की है ॥१४५-१५०॥

पुण्येन पूर्णयोगस्य यशोधरमहामुनेः। वाक्यात्तत्त्वं जिनन्द्रोक्तं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥१५२॥
संश्रुत्वोपशमं सारसम्यक्त्वं स गृहीतवान्। तदायुश्चतुरशीतिगुणं वर्षसहस्रकम् ॥१५३॥
संचक्रे प्रथमे शीघ्रं नरके प्रस्तरादिमे। किं न स्याद्भव्यमुख्यानां शुभं सद्दर्शनागमे ॥१५४॥
ततः पादान्तिके चित्र-गुप्तनाममहामुनेः। क्षायोपशमकं प्राप्य सम्यक्त्वं भक्तिनिर्भरः ॥१५५॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य पादमूले जगद्गुरोः। गृहीत्वा शुद्धसम्यक्त्वं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥१५६॥
स्वीचक्रे तीर्थकृन्नामत्रैलोक्येशैः समर्चितम्। तस्माच्छ्रीश्रेणिको राजा तीर्थेशः संभविष्यति ॥१५७॥
ततः सम्यक्त्वसद्रत्नं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। अन्यैश्चापि महाभव्यैः पालनीयं जगद्धितम् ॥१५८॥
यद्देवेन्द्रनरेन्द्रशर्मजनकं दुःखौघनिर्नाशकंसम्यक्त्वं शिवसौख्यबीजमतुलं विद्वज्जनैः सेवितम्।
तच्छ्रीमज्जिनदेवभाषितमहातत्त्वार्थसारे रुचिः प्रोक्तं श्रीश्रुतसागरैर्मुनिवरैर्भव्याः श्रयन्तु श्रिये ॥१५९॥

इति कथाकोशे शुद्धसम्यक्त्वप्राप्तमहामण्डलेश्वरश्रीश्रेणिकमहाराजाख्यानं समाप्तम्।

इन सब अलौकिक घटनाओं को देखकर श्रेणिक का पत्थर के समान कठोर हृदय फूल सा कोमल हो गया, उनके हृदय की सब दुष्टता निकल कर उसमें मुनि के प्रति पूज्यभाव पैदा हो गया, वे मुनिराज के पास गए और भक्ति से मुनि के चरणों को नमस्कार किया। यशोधर मुनिराज ने श्रेणिक के हित के लिए इस समय को उपयुक्त समझ उन्हें अहिंसामयी पवित्र जिनशासन का उपदेश दिया। उसका श्रेणिक के हृदय पर बहुत असर पड़ा। उनके परिणामों में विलक्षण परिवर्तन हो गया। उन्हें अपने कृत कर्म पर अत्यन्त पश्चाताप हुआ। मुनिराज के उपदेशानुसार उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया। उसके प्रभाव से, उन्होंने जो सातवें नरक की आयु का बन्ध किया था, वह उसी समय घटकर पहले नरक की रह गयी। यहाँ की स्थिति चौरासी हजार वर्षों की है। ठीक है सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भव्यपुरुष को क्या प्राप्त नहीं होता ॥१५१-१५४॥

इसके बाद श्रेणिक ने श्री चित्रगुप्त मुनिराज के पास क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया और अन्त में भगवान वर्धमान स्वामी के द्वारा शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व, जो कि मोक्ष का कारण है, प्राप्त कर पूज्य तीर्थंकर नाम प्रकृति का बन्ध किया। श्रेणिक महाराज अब तीर्थंकर होकर निर्वाण लाभ करेंगे ॥१५५-१५७॥

इसलिए भव्यजनों इस स्वर्ग-मोक्ष के सुख देने वाले तथा संसार का हित करने वाले सम्यग्दर्शन रूप रत्न द्वारा अपने को भूषित करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन रूप रत्न-इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सुख का देने वाला, दुःखों का नाश करने वाला और मोक्ष का प्राप्त कराने वाला है। विद्वज्जन आत्महित के लिए इसी को धारण करते हैं। उस सम्यग्दर्शन का स्वरूप श्रुतसागर आदि मुनिराजों ने कहा। जिनभगवान् के कहे हुए तत्त्वों का श्रद्धान करना ऐसा विश्वास करना कि भगवान् ने जैसा कहा वही सत्यार्थ है। तब आप लोग भी इस सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर आत्म-हित करें, यह मेरी भावना है ॥१५८-१५९॥

१०८. रात्रिभुक्तित्यागफलाख्यानम्

प्रणम्योच्चैर्जिनं देवं भारतीं सद्गुरुं क्रमात्। रात्रिभुक्तिपरित्याग-फलं वक्ष्ये गुणोज्ज्वलम् ॥१॥
निशाभुक्तिं त्यजन्त्येव ये भव्या धर्महेतवे। तेषां सतां महासौख्यं भवेल्लोकद्वये सदा ॥२॥
कीर्त्तिः कान्तिर्महाशान्तिः सम्पदा विविधाः सदा। दीर्घायुः स्यात्सुखोपेतं रात्रिभोजनवर्जनात् ॥३॥
दारिद्र्यपीडिता नित्यमन्धाः पुत्रादिवर्जिताः। महारोगशतक्रान्ताः स्युर्नरा निशिभोजनात् ॥४॥
पतत्कीटपतंगादे-र्भक्षणान्निशिभोजनम्। त्याज्यं पापप्रदं सद्भिर्मांसव्रतविशुद्धये ॥५॥
दिवसस्य मुखे चान्ते मुक्त्वा द्वे द्वे सुधार्मिकैः। घटिके भोजनं कार्यं श्रावकाचारचञ्चुभिः ॥६॥

उक्तं च श्रीसमन्तभद्रपादैः—

अह्नोमुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजेत्। निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम्॥
ताम्बूलं सुजलं किञ्चिदौषधं दोषवर्जितम्। मुक्त्वा कष्टेऽपि सन्त्याज्यं रात्रौ सद्भिः फलादिकम् ॥७॥
ये त्यजन्ति सदाहारं रात्रौ भव्याश्चतुर्विधम्। स्यात्षण्मासोपवासोत्थं तेषां संवत्सरे शुभम् ॥८॥
अथ श्रीजिनसूत्रोक्तां तद्दृष्टान्तकथां ब्रुवे। श्रीमत्प्रीतिंकरस्योच्चैः संक्षेपेण सतां श्रिये॥९॥

---

१०८. रात्रिभोजन त्याग कथा

जिन भगवान्, जिनवाणी और गुरुओं को नमस्कार कर रात्रि भोजन का त्याग करने से जिसने फल प्राप्त किया उसकी कथा लिखी जाती है ॥१॥

जो लोग धर्मरक्षा के लिए, रात्रिभोजन का त्याग करते हैं, वे दोनों लोकों में सुखी होते हैं, यशस्वी होते हैं, दीर्घायु होते हैं, कान्तिमान होते हैं और उन्हें सब सम्पदाएँ तथा शान्ति मिलती है, और जो लोग रात में भोजन करने वाले हैं, वे दरिद्री होते हैं, जन्मांध होते हैं, अनेक रोग और व्याधियाँ उन्हें सदा सताए रहती हैं, उनके संतान नहीं होती। रात में भोजन करने से छोटे जीव जन्तु नहीं दिखाई पड़ते। वे खाने में आ जाते हैं। उससे बड़ा पापबन्ध होता है। जीवहिंसा का पाप लगता है। मांस का दोष लगता है। इसलिए रात्रिभोजन का छोड़ना सबके लिए हितकारी है और खासकर उन लोगों को तो छोड़ना ही चाहिए जो मांस नहीं खाते। ऐसे धर्मात्मा श्रावकों को दिन निकले दो घड़ी बाद सबेरे और दो घड़ी दिन बाकी रहे तब शाम को भोजन वगैरह से निवृत्त हो जाना चाहिए। समन्तभद्रस्वामी का भी ऐसा ही मत है–"रात्रि भोजन का त्याग करने वाले को सबेरे शाम को आरम्भ और अन्त में दो-दो घड़ी छोड़कर भोजन करना चाहिए।" जो नैष्ठिक श्रावक नहीं हैं उनके लिए पान, सुपारी, इलायची, जल और पवित्र औषधि आदि का सेवन विशेष दोष के कारण नहीं है, इन्हें छोड़कर और अन्न की चीजें या मिठाई, फलादिक ये सब कष्ट पड़ने पर भी कभी न खाना चाहिए। जो भव्य जीवन भर के लिए चारों प्रकार के आहार का रात में त्याग कर देते हैं उन्हें वर्ष भर में छह माह के उपवास का फल होता है। रात्रिभोजन को त्याग करने से प्रीतिंकर कुमार को फल प्राप्त हुआ था उसकी विस्तृत कथा अन्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। यहाँ उसका सार लिखा जाता है–॥२-९॥

इहैव भरतक्षेत्रे देशे मगधसंज्ञके। नाना सत्संपदाकारिजिनधर्मविराजिते ॥१०॥
सुप्रतिष्ठपुरे जातो जयसेनो महीपतिः। धार्मिको न्यायशास्त्रज्ञो स्वप्रजापालने स्थितः ॥११॥
श्रेष्ठी कुबेरदत्ताख्यो जिनपादाब्जयो रतः। तत्प्रिया धनमित्राख्या संजाता धर्मवत्सला ॥१२॥
एकदा तौ महाभक्त्या दत्वान्नं प्राशुकं शुभम्। नाम्ना सागरसेनाय मुनये ज्ञानचक्षुषे ॥१३॥
भो स्वामिन्नावयोः पुत्रो भविष्यति न वा सुधीः। नोचेद्दीक्षां गृहीष्यावो जैनीं पापप्रणाशनीम् ॥१४॥
तस्य पादौ प्रणम्येति प्रश्नं संचक्रतुस्ततः। मुनिः प्राह महाभाग्यो युवयोस्तनुजो महान् ॥१५॥
चरमाङ्गधरो भव्यो भव्यसन्दोहतारकः। भविष्यतीति भो श्रेष्ठिन्भवद्वंशशिरोमणिः ॥१६॥
श्रुत्वा तौ मुनिनाथोक्तं परमानन्दमापतुः। न भवेत्कस्य वानन्दः सद्गुरोर्वचनामृतात् ॥१७॥
ततस्तयोर्जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम्। कल्याणदायिनीं पूजां पात्रदानं सुखप्रदम् ॥१८॥
कुर्वतो सुखतः कैश्चिन्मासैर्जातः सुतोत्तमः। तदानन्दः स्वबन्धूनामभूत्प्राप्ते निधौ यथा ॥१९॥
तद्दर्शनात्समुत्पन्नां सर्वेषां प्रीतिरद्भुता। प्रोक्तः प्रीतिंकरी नाम्ना ताताद्यैः स महामुदा ॥२०॥

मगध में सुप्रतिष्ठपुर अच्छा प्रसिद्ध शहर था। अपनी सम्पत्ति और सुन्दरता से वह स्वर्ग से टक्कर लेता था। जिनधर्म का वहाँ विशेष प्रचार था। जिस समय की यह कथा है, उस समय उसके राजा जयसेन थे। जयसेन धर्मज्ञ, नीतिपरायण और प्रजाहितैषी थे ॥१०-११॥

यहाँ धनमित्र नाम का एक सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम धनमित्रा था। दोनों ही की जैनधर्म पर अखण्ड प्रीति थी। एक दिन सागरसेन नाम के अवधिज्ञानी मुनि को आहार देकर इन्होंने उनसे पूछा–प्रभो! हमें पुत्र सुख होगा या नहीं? यदि न हों तो हमें व्यर्थ की आशा से अपने दुर्लभ मनुष्य-जीवन को संसार के मोह-माया में फँसा रखकर, उसका क्यों दुरुपयोग करें? फिर क्यों न हम पापों के नाश करने वाली पवित्र जिनदीक्षा ग्रहण कर आत्महित करें? मुनि ने इनके प्रश्न के उत्तर में कहा–हाँ अभी तुम्हारी दीक्षा का समय नहीं आया। कुछ दिन गृहवास में तुम्हें अभी और ठहरना पड़ेगा। तुम्हें एक महाभाग और कुलभूषण पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। वह बड़ा तेजस्वी होगा। उसके द्वारा अनेक प्राणियों का उद्धार होगा और वह इसी भव से मोक्ष जाएगा। अवधिज्ञानी मुनि की यह भविष्यवाणी सुनकर दोनों को अपार हर्ष हुआ। सच है, गुरुओं के वचनामृत का पान कर किसे हर्ष नहीं होता ॥१२-१७॥

तब से वे सेठ-सेठानी अपना समय जिनपूजा, अभिषेक, पात्रदान आदि पुण्य कर्मों में अधिक समय देने लगे, क्योंकि उन्हें पूर्ण विश्वास था कि सुख का कारण धर्म ही है। इस प्रकार आनन्द उत्सव के साथ कुछ दिन बीतने पर धनमित्रा ने एक प्रतापी पुत्र प्रसव किया। मुनि की भविष्यवाणी सच हुई। पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में सेठ ने बहुत उत्सव किया, दान दिया, पूजा प्रभावना की। बन्धु-बाँधवों को बड़ा आनन्द हुआ। उस नवजात शिशु को देखकर सबको अत्यन्त प्रीति हुई इसलिए उसका नाम भी प्रीतिंकर रख दिया गया। दूज के चाँद की तरह वह दिनों-दिन बढ़ने लगा। सुन्दरता

ततोसौ स्वगुणैः सार्द्धं प्राप्तानेकमहोत्सवः। वृद्धिं सम्प्राप्तवानुच्चैर्द्वितीयेन्दुरिवामलः ॥२१॥
रूपेण जितकन्दर्पः सौभाग्यजितभूतलः। चरमाङ्गधरत्वाच्च तद्बलं केन वर्ण्यते ॥२२॥
जातेऽथ पञ्चमे वर्षे स तस्मै गुरवे मुदा। पित्रा समर्पितो भक्त्या पठनार्थं महोत्सवैः ॥२३॥
कैश्चित्संवत्सरैः सोपि नानाशास्त्रमहार्णवम्। समुत्तीर्णः सुधीः स्थित्वा गुरुसेवातरण्डके ॥२४॥
ततोऽसौ प्राप्तसद्विद्यो महाशास्त्रोपदेशनम्। श्रावकाणां करोति स्म धर्मसंवृद्धिहेतवे ॥२५॥
तथाभूतं तमालोक्य स राजा जयसेनवाक्। पूजयामास सत्प्रीत्या कुमारं कनकादिभिः ॥२६॥
एकदासौ पितुर्गेहे कुमारः प्रौढयौवनः। सत्यां सुसम्पदायां च यावन्नोपार्जयाम्यहम् ॥२७॥
महद्धनं स्वयं तावन्न कुर्वे पाणिपीडनम्। संचिन्त्येति महामानो गत्वा द्वीपान्तरं मुदा ॥२८॥
नाना रत्नादिकं द्रव्यं समादाय विभूतिभिः। सुखेन गृहमायातः पुण्येन सुलभाः श्रियः ॥२९॥

में यह कामदेव से कहीं बढ़कर था, बड़ा भाग्यवान् था और इसके बल के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, जबकि यह चरमशरीर का धारी-इसी भव से मोक्ष जाने वाला हैं। जब प्रीतिंकर पाँच वर्ष का हो गया, तब उसके पिता ने उसे पढ़ाने के लिए गुरु को सौंप दिया। इसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी और फिर इस पर गुरु की कृपा हो गई। इससे यह थोड़े ही वर्षों में पढ़ लिखकर योग्य विद्वान् बन गया। कई शास्त्रों में उसकी अबाधगति हो गई, गुरु-सेवारूपी नाव द्वारा इसने शास्त्ररूपी समुद्र का प्रायः अधिकांश पार कर लिया। विद्वान् और धनी होकर भी उसे अभिमान छू तक न पाया था। यह सदा लोगों को धर्म का उपदेश दिया करता और पढ़ाता-लिखाता था। उसमें आलस्य, ईर्ष्या, मत्सरता आदि दुर्गुणों का नाम निशान भी न था। यह सबसे प्रेम करता था। वह सबके दुःख-सुख में सहानुभूति रखता। वही कारण था कि उसे सब छोटे-बड़े हृदय से चाहते थे। जयसेन उसको ऐसी सज्जनता और परोपकार बुद्धि देखकर बहुत खुश हुए। उन्होंने स्वयं उसका वस्त्राभूषणों से आदर सत्कार किया, इससे उसकी इज्जत बढ़ाई ॥१८-२६॥

यद्यपि प्रीतिंकर को धन दौलत की कोई कमी नहीं थी परन्तु तब भी एक दिन बैठे-बैठे उसके मन में आया कि अपने को भी कमाई करनी चाहिए। कर्तव्यशीलों का यह काम नहीं कि बैठे-बैठे अपने बाप-दादों की सम्पत्ति पर मजा-मौज उड़ाकर आलसी और कर्तव्यहीन बनें और न सपूतों का यह काम है। इसलिए मुझे धन कमाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह विचार कर उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं स्वयं कुछ न कमा लूँगा तब तक ब्याह न करूँगा। प्रतिज्ञा के साथ ही वह विदेश के लिए रवाना हो गया। कुछ वर्षों तक विदेश में ही रहकर उसने बहुत धन कमाया। खूब कीर्ति अर्जित की। उसे अपने घर से गए कई वर्ष बीत गए थे, इसलिए अब उसे अपने माता-पिता की याद आने लगी। फिर वह बहुत दिनों बाहर रहकर अपना सब माल असबाब लेकर घर लौट आया। सच हैं पुण्यवानों को लक्ष्मी थोड़े ही प्रयत्न से मिल जाती है। प्रीतिंकर अपने माता-पिता से मिला। सब को बहुत आनन्द हुआ। जयसेन का प्रीतिंकर की पुण्यवानी और प्रसिद्धि

ततस्तस्मै सुपुण्याय स भूपः परमादरात्। पृथिवीसुन्दरीं नाम्ना स्वपुत्रीं पुण्यशालिनीम् ॥३०॥
अर्द्धराज्यं निजं प्राज्यं जयकोलाहनस्वनैः। द्वीपान्तरात्समायातां कन्यामन्या वसुन्धराम् ॥३१॥
अन्याश्चापि वणिक्पुत्रीः कल्याणविधिना ददौ। प्रीतिंकरकुमाराय विभूत्या गुणशालिने ॥३२॥
तथा राज्यादिसम्प्राप्तेर्ज्ञातव्यं कारणं महत्। श्रीमत्महापुराणे च विस्तरेण बुधोत्तमैः ॥३३॥
अथ प्रीतिंकरो धीमान्प्राप्य राज्यादिसम्पदाः। स्वपुण्येन समानीता भुंजानः सुतरां सुखम् ॥३४॥
ददत्पात्राय सद्दानं नित्यं सप्तगुणान्वितः। महासौख्याकरं प्रीत्या नवपुण्यैर्विराजितम् ॥३५॥
पूजां श्रीमज्जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम्। कुर्वन्विध्वस्तदुर्लेश्यां स्वर्मोक्षसुखकारिणीम् ॥३६॥
जिनप्रासादबिम्बादिसप्तक्षेत्राणि तर्पयन्। शमशस्यप्रदान्युच्चैः स्ववित्तामृतवृष्टिभिः ॥३७॥
तन्वन्परोपकारं च यथायोग्यं विचक्षणः। निजशीलसमायुक्तो विद्वद्गोष्ठीषु तत्परः ॥३८॥
इत्यादिश्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मसेवासमग्रधीः। संस्थितः सुखतो नित्यं स्वप्रजाः प्रतिपालयन् ॥३९॥
चिरं यावत्तदा तस्मिन्संन्यासविधिना सुखम्। मुनौ सागरसेनाख्ये प्राप्ते लोकान्तरं शुभम् ॥४०॥
ततो मनोहरोद्याने चारणौ शर्मकारिणौ। ऋजुमत्याख्यमत्यन्तविपुलौ मुनिसत्तमौ ॥४१॥
समागत्य स्थितौ सौख्यं तदाकर्ण्य सुपुण्यवान्। गत्वा तत्र महाभूत्या भव्यसंघसमन्वितः ॥४२॥

सुनकर उस पर अत्यन्त प्रेम हो गया। उन्होंने तब अपनी कुमारी पृथ्वीसुन्दरी और एक दूसरे देश से आई हुए वसुन्धरा तथा और भी कई सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियों का ब्याह इस महाभाग के साथ बड़े ठाट-बाट से कर दिया। इसके साथ जयसेन ने अपना आधा राज्य भी इसे दे दिया। प्रीतिंकर के राज्य प्राप्ति आदि के सम्बन्ध की विशेष कथा यदि जानना हो तो महापुराण का स्वाध्याय करना चाहिए ॥२७-३३॥

प्रीतिंकर को पुण्योदय से जो राज्यविभूति प्राप्त हुई उसे सुखपूर्वक भोगने लगा। उसके दिन आनन्द-उत्सव के साथ बीतने लगे। इससे यह न समझना चाहिए कि प्रीतिंकर सदा विषयों में ही फँसा रहता है। वह धर्मात्मा भी था क्योंकि वह निरन्तर जिन भगवान् की अभिषेक-पूजा करता, जो कि स्वर्ग या मोक्ष का सुख देने वाली और बुरे भावों या पापकर्मों का नाश करने वाली है। वह श्रद्धा, भक्ति आदि गुणों से युक्त हो पात्रों को दान देता, जो दान महान् सुख का कारण है। वह जिनमन्दिरों, तीर्थक्षेत्रों, जिन प्रतिमाओं आदि सप्त क्षेत्रों की, जो कि शान्तिरूपी धन के प्राप्त कराने के कारण हैं, जरूरतों को अपने धनरूपी जल-वर्षा से पूरी करता, परोपकार करना उसके जीवन का एक मात्र उद्देश्य था। वह स्वभाव का बड़ा सरल था। विद्वानों से उसे प्रेम था। इस प्रकार इस लोक सम्बन्धी और पारमार्थिक कार्यों में सदा तत्पर रहकर वह अपनी प्रजा का पालन करता रहता था ॥३४-३९॥

प्रीतिंकर का समय इस प्रकार बहुत सुख से बीतता था। एक बार सुप्रतिष्ठपुर के सुन्दर बगीचे में सागरसेन नाम के मुनि आकर ठहरे थे। उनका वहीं स्वर्गवास हो गया था। उनके बाद फिर इस बगीचे में आज चारणऋद्धि धारी ऋजुमति और विपुलमति मुनि आए। प्रीतिंकर तब बड़े वैभव के साथ भव्यजनों को लिए उनके दर्शनों को गया। मुनिराज के चरणों की आठ द्रव्यों से पूजा की और

जलाद्यैरष्टभिर्द्रव्यैः समभ्यर्च्य तयोः क्रमान्। भक्त्या प्रणम्य योगीन्द्रौ तौ तपोरत्नसागरौ ॥४३॥
सद्धर्मं पृष्टवानुच्चैर्विनयानम्रमस्तकः। ततो ज्येष्ठमुनिः प्राह गंभीरमधुरध्वनिः ॥४४॥
शृणु त्वं भो महाभव्य धर्मो हि द्विविधो मतः। मुनिश्रावकभेदेन जिनेन्द्राणां जगद्धितः ॥४५॥
महाधर्मो मुनीन्द्राणां पूर्वः स्वपरतारकः। उत्तमादिक्षमादिश्च दशलाक्षणिको भवेत् ॥४६॥
श्रावकाणां तथा धर्मं शृणु प्रीतिंकर ब्रुवे। स्वर्गादिशर्मदं पूतमपवर्गस्य कारणम् ॥४७॥
तत्राद्यं सारसम्यक्त्वं पालनीयं बुधोत्तमैः। अष्टाङ्गादिप्रभेदोक्तमुक्तिबीजं सुखप्रदम् ॥४८॥
मिथ्यात्वं दूरतस्त्याज्यं कान्तिवद्धीधनैः सदा। येन बद्धो भवेज्जीवो भवभ्रमणदुःखभाक् ॥४९॥
तत्त्वं जानीहि मिथ्यात्वं विपरीतं जिनेशिनाम्। तत्त्वेभ्यो यन्महाभव्य नानादुःखशतप्रदम् ॥५०॥
तथा श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तशास्त्राणां श्रवणेन च। मतिर्दर्पणवत्कार्या सदा शुद्धा विचक्षणैः ॥५१॥
मद्यमांसमधु त्याज्यं सहोदुम्बरपञ्चकम्। यद्भक्षणाद्भवेत्प्राणी दुर्गतेर्दुःखभाजनम् ॥५२॥
अणुव्रतानि पञ्चैव सार्द्धं त्रेधा गुणव्रतैः। शिक्षाव्रतानि चत्वारि पालनीयानि पण्डितैः ॥५३॥
रात्रिभोजनचर्मस्थहिंगुतोयघृतादिकम्। संत्याज्यं सुधिया नित्यं मांसव्रतविशुद्धये ॥५४॥
व्यसनानि तथा सप्त हेयान्युच्चैः सतां सदा। कुलजातिधनस्फीति-क्षयकारीणि देहिनाम् ॥५५॥
कन्दमूलं ससन्धानं नवनीतं च वर्जयेत्। महायत्नो विधेयो हि जलानां गालने बुधैः ॥५६॥

नमस्कार कर बड़े विनय के साथ धर्म का स्वरूप पूछा–तब ऋजुमति मुनि ने उसे इस प्रकार संक्षेप में धर्म का स्वरूप कहा– ॥४०–४४॥

प्रीतिंकर, धर्म उसे कहते हैं जो संसार के दुःखों से रक्षाकर उत्तम सुख प्राप्त करा सके। ऐसे धर्म के दो भेद हैं–एक मुनिधर्म और दूसरा गृहस्थ धर्म। मुनियों का धर्म सर्व त्याग रूप होता है। सांसारिक माया–ममता से उनका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता और वह उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दस आत्मिक शक्तियों से युक्त होता है। गृहस्थधर्म में संसार के साथ लगाव रहता है। घर में रहते हुए धर्म का पालन करना पड़ता है। मुनिधर्म उन लोगों के लिए है जिनका आत्मा पूर्ण बलवान् है, जिनमें कष्टों के सहने की पूरी शक्ति है और गृहस्थ धर्म मुनिधर्म के प्राप्त करने की सीढ़ी है। जिस प्रकार एक साथ सौ–पचास सीढ़ियाँ नहीं चढ़ी जा सकतीं उसी प्रकार साधारण लोगों में इतनी शक्ति नहीं होती कि वे एकदम मुनिधर्म ग्रहण कर सकें। उसके अभ्यास के लिए वे क्रम–क्रम से आगे बढ़ते जाँय, इसलिए पहले उन्हें गृहस्थधर्म का पालन करना पड़ता है। मुनिधर्म और गृहस्थधर्म में सबसे बड़ा भेद यह है कि, पहला साक्षात् मोक्ष का कारण है और दूसरा परम्परा से। श्रावकधर्म का मूल कारण है–सम्यग्दर्शन का पालन। यही मोक्ष–सुख का बीज है। बिना इसके प्राप्त किए ज्ञान, चारित्र वगैरह की कुछ कीमत नहीं। इस सम्यग्दर्शन को आठ अंगों सहित पालना चाहिए। सम्यक्त्व पालने के पहले मिथ्यात्व छोड़ा जाता है क्योंकि मिथ्यात्व ही आत्मा का एक ऐसा प्रबल शत्रु है जो संसार में इसे अनन्त काल तक भटकाये रहता है और कुगतियों के असह्य दुःखों को प्राप्त कराता है। मिथ्यात्व का संक्षिप्त लक्षण है–जिन भगवान् के उपदेश किए तत्त्व या धर्म से उल्टा चलना और

नित्यं पात्राय सद्दानं देयं भक्त्या सुभाक्तिकैः। आहारादिचतुर्भेदं नानाशर्मशतप्रदम् ॥५७॥
पात्र तु त्रिविधं ज्ञेयं मुनिश्रावकदृष्टिभाक्। तेषां दानं फलत्युच्चैः सत्सुखं वटबीजवत् ॥५८॥
कार्या श्रीमज्जिनेन्द्राणां पूजा स्वर्मोक्षदायिनी। तोयाद्यैः श्रावकैर्नित्यमभिषेकपुरस्सरा ॥५९॥
सत्तोयेक्षुरसाद्यैर्ये कृत्वा भक्त्या सुचिन्तनम्। अर्चयन्ति जिनाकारांस्ते लभन्ते सुरार्चनम् ॥६०॥
जिनसप्ताकृतीनां च विधिः स्याच्छर्मणां निधिः। तत्प्रतिष्ठा तयोर्यात्रा दुर्गतिच्छेदकारिणी ॥६१॥
इत्यादिधर्मसद्भावं समाश्रित्य सुखार्थिभिः। अन्ते सल्लेखना साध्या जिनपादाब्जचिन्तनैः ॥६२॥
श्रुत्वेति मुनिनाथोक्तं द्विधा धर्मं सुखप्रदम्। भव्यास्ते तं समादाय जाता धर्मे तरां रताः ॥६३॥
पुनः प्रीतिंकरो भक्त्या नत्वा तं मुनिपुङ्गवम्। ब्रूहि भो करुणासिन्धो पूर्वजन्मेति सोवदत् ॥६४॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह संज्ञानमयलोचनः। सुप्रतिष्ठपुरेत्रैव सद्वने मुनिसत्तमः ॥६५॥

यही धर्म से उल्टापन दुःख का कारण है। इसलिए उन पुरुषों को, जो सुख चाहते हैं, मिथ्यात्व के परित्याग पूर्वक शास्त्राभ्यास द्वारा अपनी बुद्धि को काँच के समान निर्मल बनानी चाहिए। इसके सिवा श्रावकों को मद्य, मांस और मधु (शहद) का त्याग करना चाहिए क्योंकि इनके खाने से जीवों को नरकादि दुर्गतियों में दुःख भोगना पड़ते हैं। श्रावकों के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह व्रत हैं, उन्हें धारण करना चाहिए। रात के भोजन का, चमड़े में रखे हुए हींग, जल, घी, तैल आदि का तथा कन्दमूल, आचार और मक्खन का श्रावकों को खाना उचित नहीं। इनके खाने से मांस-त्याग-व्रत में दोष आता है। जुआ खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन, वेश्या सेवन, शिकार करना, मांस खाना, मदिरा पीना ये सात व्यसन-दुःखों को देने वाली आदतें हैं। कुल, जाति, धन, जन, शरीर, सुख, कीर्ति, मान-मर्यादा आदि का नाश करने वाली हैं। श्रावकों को इन सबका दूर से ही काला मुँह कर देना चाहिए। इसके सिवा जल का छानना, पात्रों को भक्तिपूर्वक दान देना, श्रावकों का कर्तव्य होना चाहिए। ऋषियों ने पात्र तीन प्रकार बतलाये हैं। **उत्तम पात्र—** मुनि, **मध्यम पात्र—**व्रती श्रावक और **जघन्य पात्र—**अविरत-सम्यग्दृष्टि। इनके सिवा कुछ लोग और ऐसे हैं, जो दान पात्र होते हैं-दुःखी, अनाथ, अपाहिज आदि, जिन्हें कि दयाबुद्धि से दान देना चाहिए। पात्रों को जो थोड़ा भी दान देते हैं उन्हें उस दान का फल वटबीज की तरह अनन्त गुण मिलता है। श्रावकों के और भी आवश्यक कर्म हैं। जैसे-स्वर्ग-मोक्ष के सुख की कारण जिन भगवान् की जलादि द्रव्यों द्वारा पूजा करना, अभिषेक करना, जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराना, तीर्थयात्रा करना आदि। ये सब सुख के कारण और दुर्गति के दुःखों के नाश करने वाले हैं। इस प्रकार धार्मिक जीवन बना कर अन्त में भगवान् का स्मरण-चिंतन पूर्वक संन्यास लेना चाहिए। यही जीवन के सफलता का सीधा और सच्चा मार्ग है। इस प्रकार मुनिराज द्वारा धर्म का उपदेश सुनकर बहुतेरे सज्जनों ने व्रत, नियमादि को ग्रहण किया जैनधर्म पर उनकी गाढ़ श्रद्धा हो गई। प्रीतिंकर ने मुनिराज को नमस्कार कर पुनः प्रार्थना की-हे करुणा के समुद्र योगिराज! कृपाकर मुझे मेरे पूर्वभव का हाल सुनाइए। मुनिराज ने तब यों कहना शुरू किया- ॥४५-६५॥

पुरा सागरसेनाख्यः समायातस्तपोनिधिः। तं वन्दितुं समागत्य सर्वे राजादयो मुदा ॥६६॥
भेरीमृदंगकंसालमहानादेन भक्तितः। समभ्यर्च्य मुनेः पादौ स्तुत्वा नत्वा पुरं ययुः ॥६७॥
तदा वादित्रसन्नादं श्रुत्वा कोयं जनो मृतः। पत्तनेऽत्र परिक्षिप्त्वा तं पौराः स्वगृहं गताः ॥६८॥
अहं तं भक्षयिष्यामि संचिन्त्येति स्वमानसे। जम्बुको मृतकासक्तः समायातोति पापधीः ॥६९॥
तमागच्छन्तमालोक्य स मुनिर्ज्ञानवीक्षणः। भव्योयं व्रतमादाय मुक्तिमाशु गमिष्यति ॥७०॥
इति ज्ञात्वा सुकारुण्यादवोचद्रे शृगालक। त्वं पापादीदृशो जातो मुक्त्वा धर्मं जिनेशिनाम् ॥७१॥
अद्यापि मृतकासक्तो धिग्धिक्ते मूढ चेष्टितम्। मुञ्च मुञ्च महापापं यावन्नरकभूमिषु ॥७२॥
पतितोसि न पापेन तावत्त्वं कुरु रे शुभम्। स गोमायुस्तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं महाहितम् ॥७३॥
चित्तं मे स्वामिना ज्ञातं शान्तो भूत्वेति संस्थितः। पुनर्जगाद योगीन्द्रो मत्वा तस्य प्रशान्तताम् ॥७४॥
व्रतेन्यस्मिन्समर्थोसि नैव त्वं मांसलम्पटः। गृहाणेदं व्रतं सारं रात्रिभोजनवर्जनम् ॥७५॥
नित्यं सौख्यप्रदं पूतं सतां चेतोनुरंजनम्। श्रुत्वेति जम्बुकः सोपि साधुवाक्यं जगद्धितम् ॥७६॥
त्रिः परीत्य मुनिं भक्त्या तस्मादादाय तद्व्रतम्। मद्यमांसादिकं पश्चात्त्यक्तवान्पुण्यवांस्तराम् ॥७७॥

''प्रीतिंकर, इसी बगीचे में पहले तपस्वी सागरसेन मुनि आकर ठहरे थे। उनके दर्शनों के लिए राजा वगैरह प्रायः सब ही नगर निवासी बड़े गाजे-बाजे और आनन्द उत्सव के साथ आये थे। वे मुनिराज की पूजा-स्तुति कर वापस शहर में चले गए। इसी समय एक सियार ने इनके गाजे-बाजे के शब्दों को सुनकर यह समझा कि ये लोग किसी मुर्दे को डाल कर गए हैं। सो वह उसे खाने के लिए आया। उसे आता देख मुनि ने अवधिज्ञान से जान लिया कि यह मुर्दे को खाने के अभिप्राय से इधर आ रहा है। पर यह है भव्य और व्रतों को धारण कर मोक्ष जायेगा। इसलिए इसे सुलटाना आवश्यक है। यह विचार कर मुनिराज ने उसे समझाया-अज्ञानी पशु, तुझे मालूम नहीं कि पाप का परिणाम बहुत बुरा होता है। देख, पाप के ही फल से तुझे आज इस पर्याय में आना पड़ा और फिर भी तू पाप करने से मुँह न मोड़कर मुर्दे को खाने के लिए इतना व्यग्र हो रहा है, यह कितने आश्चर्य की बात है। तेरी इस इच्छा को धिक्कार है। प्रिय, जब तक तू नरकों में न गिरे इसके पहले ही तुझे यह महा पाप छोड़ देना चाहिए। तूने जिनधर्म को न ग्रहण कर आज तक दुःख उठाया, पर अब तेरे लिए बहुत अच्छा समय उपस्थित है। इसलिए तू इस पुण्य-पथ पर चलना सीख। सियार का होनहार अच्छा था या उसकी काललब्धि आ गई थी। यही कारण था कि मुनि के उपदेश को सुनकर वह बहुत शान्त हो गया। उसने जान लिया कि मुनिराज मेरे हृदय की वासना को जान गए। उसे इस प्रकार शान्त देखकर मुनि फिर बोले-प्रिय, तू और व्रतों को धारण नहीं कर सकता, इसलिए सिर्फ रात में खाना-पीना ही छोड़ दे। यह व्रत सर्व व्रतों का मूल है, सुख का देने वाला है और चित्त का प्रसन्न करने वाला है। सियार ने उपकारी मुनिराज के वचनों को मानकर रात्रिभोजन-त्याग-व्रत ले लिया। कुछ दिनों तक तो उसने केवल उसी व्रत को पाला। उसके बाद उसने मांस वगैरह भी छोड़ दिया। उसे जो कुछ थोड़ा पवित्र खाना मिल जाता, वह उसी को खाकर रह जाता। इस वृत्ति से उसे सन्तोष

ततः कालं नयत्येवं कश्चिच्छुद्धाशनेन च। यावत्संतोषभावेन नित्यं पादौ मुनेः स्मरन् ॥७८॥
एकदा तपसा क्षीणः शुष्काहारं स जम्बुकः। भुक्त्वा महातृषाक्रान्तस्तोयपानाय कूपकम् ॥७९॥
संप्रविश्य सुधीः सन्ध्या-काले सोपानमार्गतः। दृष्ट्वा कूपे तमो गाढं सूर्यास्तं गतवानिति ॥८०॥
मत्वा तथा तृषाक्रान्तो बहिरागत्य भास्करम्। दृष्ट्वा पुनः प्रविश्यैवं कांश्चिद्वारान्गतागतम् ॥८१॥
कृत्वा तत्र रविं नीत्वा तमस्तं स्वव्रते दृढः। रात्रौ तृष्णाग्निसन्तप्तो विशुद्धपरिणामभाक् ॥८२॥
स्मरन्निजगुरुं पूतं संसाराम्भोधितारणम्। मृत्वा तेनात्र पुण्येन त्वं जातोसि विचक्षणः ॥८३॥
पुत्रः श्रीमत्कुबेरादिदत्ताख्यधनमित्रयोः। नाम्ना प्रीतिंकरो धीमान्नानासम्पद्विराजितः ॥८४॥
चरमाङ्गधरो धीरो रूपलावण्यमण्डितः। तस्माद् भो भव्य कर्त्तव्यं कष्टेपि व्रतरक्षणम् ॥८५॥
तच्छ्रुत्वा बहवो भव्या मुनीन्द्रोक्तं सुशर्मदम्। धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते संसक्ता भक्तितस्तराम् ॥८६॥
तथा प्रीतिंकरः सोपि स्वभवान्तरमद्भुतम्। श्रुत्वा संवेगमासाद्य स्तुत्वा धर्मं जिनेशिनाम् ॥८७॥
प्रीत्या प्रणम्य तौ साधू निजात्मपरतारकौ। संस्मरन्व्रतमाहात्म्यं सुधीः स्वगृहमागतः ॥८८॥
ततस्त्रिविधवैराग्यं प्राप्य प्रीतिंकरो महान्। संसारमस्थिरं ज्ञात्वा भोगान्दुःखप्रदान्भुवि ॥८९॥

बहुत हो गया था। बस वह इसी प्रकार समय बिताता और मुनिराज के चरणों को स्मरण किया करता ॥६६-७८॥

इस प्रकार कभी खाने को मिलने और कभी न मिलने से वह सियार बहुत ही दुबला हो गया। ऐसी दशा में एक दिन उसे केवल सूखा भोजन खाने को मिला। समय गर्मी का था। उसे बड़े जोर की प्यास लगी। उसके प्राण छटपटाने लगे। वह एक कुँए पर पानी पीने को गया। भाग्य से कुँए का पानी बहुत नीचा था। जब वह कुँए में उतरा तो उसे अँधेरा ही अँधेरा दीखने लगा। कारण सूर्य का प्रकाश भीतर नहीं पहुँच पाता था। इसलिए सियार ने समझा कि रात हो गई, सो वह बिना पानी पिए ही कुँए के बाहर आ गया। बाहर आकर जब उसने दिन देखा तो फिर वह भीतर उतरा और भीतर पहले सा अँधेरा देखकर रात के भ्रम से फिर लौट आया। इस प्रकार वह कितनी ही बार आया-गया, पर जल नहीं पी पाया। अन्त में वह इतना अशक्त हो गया कि उससे कुँए से बाहर नहीं आया गया। उसने तब घोर अँधेरे को देखकर सूरज को अस्त हुआ समझ लिया और वहीं वह संसार समुद्र से पार करने वाले अपने गुरु मुनिराज का स्मरण-चिन्तन करने लगा। तृषा रूपी आग उसे जलाए डालती थी, तब भी वह अपने व्रत में बड़ा दृढ़ रहा। उसके परिणाम क्लेशरूप या आकुल-व्याकुल न होकर बड़े शान्त रहे। उसी दशा में वह मरकर कुबेरदत्त और उसकी स्त्री धनमित्रा के प्रीतिंकर पुत्र हुआ है। तेरा यह अन्तिम शरीर है। अब तू कर्मों का नाश कर मोक्ष जाएगा। इसलिए सत्पुरुषों का कर्तव्य है कि वे कष्ट समय में व्रतों की दृढ़ता से रक्षा करें। मुनिराज द्वारा प्रीतिंकर का यह पूर्व जन्म का हाल सुन उपस्थित मंडली की जिनधर्म पर अचल श्रद्धा हो गई। प्रीतिंकर को अपने इस वृत्तान्त से बड़ा वैराग्य हुआ। उसने जैनधर्म की बहुत प्रशंसा की और अन्त में उन स्वपरोपकार के करने वाले मुनिराजों को भक्ति से नमस्कार कर व्रतों के प्रभाव को हृदय में विचारता हुआ वह घर पर आया ॥७९-८९॥

शरीरं मलसन्दोहं महापूति परिक्षयि। सम्पदां चपलां मत्वा चंचलामिव मोहिनीम् ॥९०॥
पुत्रमित्रकलत्रादि-सर्वं बुद्ध्वात्मनः पृथक्। त्यक्त्वा मोहमहाजालं भवभ्रमणकारणम् ॥९१॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम्। कृत्वा पूजां लसद्भक्त्या सर्वकल्याणदायिनीम् ॥९२॥
दत्वा दानं यथायोग्यं स्वलक्ष्मीं स्वसुताय च। दत्वा प्रियंकराख्याय विधिना न्यायतत्त्ववित् ॥९३॥
बन्धूनापृच्छ्य सद्वाक्यैः कैश्चिद्वन्धुजनैः सह। गत्वा राजगृहं प्राप्य वर्द्धमानजिनेशिनः ॥९४॥
पार्श्वं शक्रादिभिः सेव्यं भक्त्या नत्वा तमद्भुतम्। दीक्षां जैनीं जगत्पूज्यां संजग्राह शिवप्रदाम् ॥९५॥
महत्तपस्ततः कृत्वा रत्नत्रयविशुद्धिभाक्। शुक्लध्यानाग्निना दग्ध्वा घातिकर्मचतुष्टयम् ॥९६॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य लोकालोकप्रकाशकम्। इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-खेचरेन्द्रनरार्चितः ॥९७॥
जैनधर्मामृतैर्वाक्यैर्जगत्तापप्रहारिभिः। भव्यान्सम्बोध्य सन्मार्गे कृत्वा शर्मप्रभागिनः ॥९८॥
शेषकर्माणि निर्मूल्य भूत्वा सोष्टमहागुणी। मुक्तिं प्रीतिंकरः स्वामी सम्प्राप्तो मेस्तु शान्तये ॥९९॥
इति प्रीतिंकरस्वामि-सच्चारित्रं जगद्धितम्। अस्माकं भवतां भव्या भूयात्संज्ञानहेतवे ॥१००॥

मुनिराज के उपदेश का उस पर बहुत गहरा असर पड़ा। उसे अब संसार अस्थिर, विषयभोग दुःखों के देने वाले, शरीर पवित्र-अपवित्र वस्तुओं से भरा, महाघिनौना और नाश होने वाला, धन-दौलत बिजली की तरह चंचल और केवल बाहर से सुन्दर देख पड़ने वाली तथा स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु आदि ये सब अपने आत्मा से पृथक् जान पड़ने लगे। उसने तब इस मोहजाल की, जो केवल फँसाकर संसार में भटकाने वाला है, तोड़ देना ही उचित समझा। इस शुभ संकल्प के दृढ़ होते ही पहले प्रीतिंकर ने अभिषेक पूर्वक भगवान् की सब सुखों को देने वाली पूजा की, खूब दान किया और दुःखी, अनाथ, अपाहिजों की सहायता की। अन्त में वह अपने प्रियंकर पुत्र को राज्य देकर अपने बन्धु, बांधवों की सम्मति से योग लेने के लिए विपुलाचल पर भगवान् वर्धमान के समवसरण में गया और उन त्रिलोक पूज्य भगवान् के पवित्र दर्शन कर उसने भगवान् के द्वारा जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। इसके बाद प्रीतिंकर मुनि ने खूब दुःसह तपस्या की और अन्त में शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया। अब वे लोकालोक के सब पदार्थों को हाथ की रेखाओं के समान साफ-साफ जानने देखने लग गए। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। यह सुन विद्याधर, चक्रवर्ती, स्वर्ग के देव आदि बड़े-बड़े महापुरुष उनके दर्शन-पूजन को आने लगे। प्रीतिंकर भगवान् ने तब संसार ताप को नाश करने वाले परम पवित्र उपदेशामृत से अनेक जीवों को दुःखों से छुड़ाकर सुखी बनाये। अन्त में अघातिया कर्मों का नाश कर वे परम धाम मोक्ष सिधार गए। आठ कर्मों का नाश कर आठ आत्मिक महान् शक्तियों को उन्होंने प्राप्त किया। अब वे संसार में न आकर अनन्त काल तक वहीं रहेंगे। वे प्रीतिंकर स्वामी मुझे शांति प्रदान करें। प्रीतिंकर का यह पवित्र और कल्याण करने वाला चरित आप भव्यजनों को और मुझे सम्यग्ज्ञान के लाभ का कारण हो। यही मेरी पवित्र भावना है ॥९०-१००॥

जिनपतिकथितं सद्धर्मलेशं श्रितोपि प्रवरनरभवं सम्प्राप्य गोमायुरुच्चैः।
विपुलतरमुखानि प्राप्तवान्मुक्तिलक्ष्मीं तदिह कुरुत भव्याः सारजैनेन्द्रधर्मम् ॥१०१॥

इति कथाकोशे रात्रिभुक्तित्यागफलप्राप्तप्रीतिंकरस्वामिन आख्यानं समाप्तम्।

१०९. पात्रदानाख्यानम्

श्रीमत्तीर्थकरान्नत्वा वृषभादीन् जगद्गुरून्। सतां तान्प्रियकारिण्याः पात्रदानकथां ब्रुवे ॥१॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रास्यात्संभवा पूतभारती। भवत्वाशु महाज्ञानसिन्धोः पाराय मे सती ॥२॥
स सम्यग्दर्शनज्ञानवृत्तरत्नापरिग्रहान्। निर्ग्रन्थान्भक्तितो वन्दे भुक्तिमुक्तिप्रदान् मुनीन् ॥३॥
आहारौषधसच्छास्त्रा-भयदानप्रभेदतः। प्राहुश्चत्वारि दानानि चतुराः पूर्वसूरयः ॥४॥
इतिदानादिसिद्धानि पवित्राणि जगत्त्रये। पात्रेषु योजितान्युच्चैः फलन्ति विपुलं फलम् ॥५॥
वटबीजं यथा चोप्तं युक्त्या सन्मृष्ठभूमिषु। सुच्छायं फलति व्यक्तं पात्रदानं तथा सुखम् ॥६॥
एकवाप्या यथा नीरं नाना स्वादुप्रदं भवेत्। तरुभेदे तथा पात्रभेदे दानं फलप्रदम् ॥७॥
पात्रं जिनाश्रयी चापि वरं नान्ये सहस्रशः। एककल्पतरुः सेव्यः श्रेयसे न परद्रुमाः ॥८॥
उत्कृष्टं मुनिनाथश्च मध्यमं श्रावकस्तथा। ज्ञेयं पात्रं जघन्यं तु सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥९॥

एक अत्यन्त अज्ञानी पशुओं में जन्मे सियार ने भगवान् के पवित्र धर्म का थोड़ा सा आश्रय लिया अर्थात् केवल रात्रिभोजनत्याग व्रत स्वीकार कर मनुष्य जन्म लिया और उसमें खूब सुख भोगकर अन्त में अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त की। तब आप हम लोग भी क्यों न इस अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए पवित्र जैनधर्म में अपने विश्वास को दृढ़ करें ॥१०१॥

१०९. दान करने वालों की कथा

जगद्गुरु तीर्थंकर भगवान् को नमस्कार कर पात्र दान के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है ॥१॥

जिन भगवान् के मुखरूपी चन्द्रमा से जन्मी पवित्र जिनवाणी ज्ञानरूपी महा समुद्र से पार करने के लिए मुझे सहायता दें, मुझे ज्ञान-दान दें ॥२॥

उन साधु रत्नों को मैं भक्ति से नमस्कार करता हूँ, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक हैं, परिग्रह कनक-कामिनी आदि से रहित वीतरागी हैं और सांसारिक सुख तथा मोक्ष सुख की प्राप्ति के कारण हैं ॥३॥

पूर्वाचार्यों ने दान को चार हिस्सों में बाँटा है, जैसे आहार-दान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान। ये ही दान पवित्र हैं। योग्य पात्रों को यदि ये दान दिये जायें तो इनका फल अच्छी जमीन में बोये हुए बड़ के बीज की तरह अनन्त गुणा होकर फलता है। जैसे एक ही बावड़ी का पानी अनेक वृक्षों में जाकर नाना रूप में परिणत होता है उसी तरह पात्रों के भेद से दान के फल में भी भेद हो

इति त्रिविधपात्रेभ्यो दत्वा दानं सुधार्मिकैः। प्राप्यते किल यत्सौख्यं कथं व्यावर्ण्यते मया ॥१०॥
सुकान्तिकीर्तिमारोग्यं रूपसौभाग्यमद्भुतम्। पुण्यं सौख्यतरोर्बीजं कुलं गोत्रं च निर्मलम् ॥११॥
धनधान्यसुवर्णादियानजं पानकं तथा। पुत्रपौत्रादिसद्गेहं नानाभोगप्रसम्पदा ॥१२॥
इन्द्रनागेन्द्रचक्र्यादिपदं शर्मप्रदं सताम्। संगमं सुजनानां च कल्याणानि दिने दिने ॥१३॥
लभन्ते विमलं सौख्यं प्राणिनः पात्रदानतः। क्रमेण शिवसंगं च यथासौ नाभिनन्दनः ॥१४॥
ज्ञात्वेति पात्रदानोत्थं फलं विपुलशर्मदम्। सद्भिः सत्पात्रदानेषु मतिः कार्या सदा मुदा ॥१५॥
ये भव्याः पात्रदानेन फलं प्राप्ताः पुरा परम्। तेषां नामान्यपि ज्ञातुं कः क्षमः श्रीजिनं विना ॥१६॥
तथा सूरिवरैः प्रोक्ता प्रसिद्धा दानिनो भुवि। तेषां कथाप्रबन्धेऽस्मिन्सन्नामानि प्रवच्म्यहम् ॥१७॥
श्रीषेणेन महीशेन श्रीमद्वृषभसेनया। कौण्डेशेन वराहेण प्राप्ता ख्यातिः सुदानतः ॥१८॥

उक्तं च–

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः। वैयावृत्तस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः॥
श्रीषेणेन सुपात्राय दानमाहारसंज्ञकम्। औषधं मुनये दत्तं श्रीमद्वृषभसेनया ॥१९॥
कौण्डेशेन पुरा शास्त्रमभयं शूकरेण च। तेषां कथाः प्रकथ्यन्ते संक्षेपेण यथाक्रमम् ॥२०॥

जाता है। इसलिए जहाँ तक बने अच्छे सुपात्रों को दान देना चाहिए। सब पात्रों में जैनधर्म का आश्रय लेने वाले को अच्छा पात्र समझना चाहिए, औरों को नहीं, क्योंकि जब एक कल्पवृक्ष हाथ लग गया फिर औरों से क्या लाभ? जैनधर्म में पात्र तीन बतलाये गए है। उत्तम पात्र–मुनि, मध्यम पात्र–व्रती श्रावक और जघन्य पात्र–अव्रतसम्यग्दृष्टि। इन तीन प्रकार के पात्रों को दान देकर भव्य पुरुष जो सुख लाभ करते हैं उसका वर्णन मुझसे नहीं किया जा सकता परन्तु संक्षेप में यह समझ लीजिए कि धन–दौलत, स्त्री–पुत्र, खान–पान, भोग–उपभोग आदि जितनी उत्तम–उत्तम सुख सामग्री है वह तथा इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों की पदवियाँ, अच्छे सत्पुरुषों की संगति, दिनों–दिन ऐश्वर्यादि की बढ़वारी वे सब पात्रदान के फल से प्राप्त होते हैं। पात्रदान के फल से मोक्ष प्राप्ति भी सुलभ है। राजा श्रेयांस ने दान के ही फल से मुक्ति लाभ किया था। इस प्रकार पात्रदान का अनन्त फल जानकर बुद्धिमानों को इस ओर अवश्य अपने ध्यान को खींचना चाहिए। जिन–जिन सत्पुरुषों ने पात्रदान का आज तक फल पाया है, उन सबके नाम मात्र का उल्लेख भी जिन भगवान् के बिना और कोई नहीं कर सकता, तब उनके सम्बन्ध में कुछ कहना या लिखना मुझसे मतिहीन मनुष्यों के लिए तो असंभव ही है। आचार्यों ने ऐसे दानियों में सिर्फ चार जनों का उल्लेख शास्त्रों में किया है। इस कथा में उन्हीं का संक्षिप्त चरित मैं पुराने शास्त्रों के अनुसार लिखूँगा। उन दानियों के नाम हैं–श्रीषेण, वृषभसेना, कौण्डेश और एक पशु बराह–सूअर। इनमें श्रीषेण ने आहारदान, वृषभसेना ने औषधिदान, कौण्डेश ने शास्त्रदान और सूअर ने अभयदान किया था। उनकी क्रम से कथा लिखी जाती है ॥४–२०॥

पूर्वमाहारसद्दानं दत्वा श्रीषेणभूपतिः। शान्तीशः शान्तिकृज्जातः क्रमतस्तत्कथां ब्रुवे ॥२१॥
जयश्रीशान्तिनाथस्त्वं भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम्। तच्चरित्रं जगच्चित्रं संश्रितं शान्तयेस्तु नः ॥२२॥
सन्तः शृण्वन्तु संक्षेपात्तच्चरित्रं जगद्धितम्। श्रुतेन येन भव्यानां भवन्ति सुखकोटयः ॥२३॥
अथ जम्बूमति द्वीपे क्षेत्रे भरतसंज्ञके। पवित्रे श्रीजिनेन्द्रोक्तधर्मणा शर्मकारिणा ॥२४॥
मलयाख्यमहादेशे रत्नसंचयसत्पुरे। श्रीषेणो नामतो राजा प्रजानां हितकारकः ॥२५॥
संजातः पुण्यतो धीरो दाता भोक्ता विचारवान्। निष्कण्टकः सदाचारमण्डितोतीव धार्मिकः ॥२६॥
तस्य राज्ञी महासाध्वी संजाता सिंहनन्दिता। अनन्दिता द्वितीया च रूपलावण्यमण्डिता ॥२७॥
तयोः क्रमेण संज्ञातौ पुत्रौ चन्द्रार्कसन्निभौ। इन्द्रोपेन्द्रादिसेनान्तौ शूरौ वीरौ बलान्वितौ ॥२८॥
इत्यादिपरिवारेण स श्रीषेणः समन्वितः। स्वप्रजाः पालयन्नित्यं पुण्यवान्सुखतः स्थितः ॥२९॥
तत्रैव सात्यकिर्नाम्ना ब्राह्मणोतिमहान्सुधीः। ब्राह्मणी तस्य जंघाख्या सत्यभामा सुता तयोः ॥३०॥
तथा विप्रो बलग्रामे वेदवेदाङ्गपारगः। अग्नीलाब्राह्मणीनाथो नामती धरणीजटः ॥३१॥
इन्द्रभूत्यग्निभूती च तयोः पुत्रौ मनःप्रियौ। दासीपुत्रश्च संजातः कपिलस्तस्य सूक्ष्मधीः ॥३२॥

प्राचीन काल में श्रीषेण राजा ने आहारदान दिया। उनके फल से वे शान्तिनाथ तीर्थंकर हुए। श्रीशान्तिनाथ भगवान् जय लाभ करें, जो सब प्रकार का सुख देकर अन्त में मोक्ष सुख के देने वाले हैं और जिनका पवित्र चरित का सुनना परम शान्ति का कारण है। ऐसे परोपकार भगवान् को परम पवित्र और जीव मात्र का हित करने वाला चरित आप लोग भी सुनें, जिसे सुनकर आप सुख लाभ करेंगे ॥२१-२३॥

प्राचीन काल में इस भारतवर्ष में मलय नाम का एक अति प्रसिद्ध देश था। रत्नसंचयपुर उसकी राजधानी थी। जैनधर्म का इस देश में खूब प्रचार था। उस समय उसके राजा श्रीषेण थे। श्रीषेण धर्मज्ञ, उदारमना, न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी, दानी और बड़े विचारशील थे। पुण्य से प्रायः अच्छे-अच्छे सभी गुण उन्हें प्राप्त थे। उनका प्रतिद्वंद्वी या शत्रु कोई न था। वे राज्य निर्विघ्न किया करते थे। सदाचार में उस समय उनका नाम सबसे ऊँचा था। उनकी दो रानियाँ थीं। उनके नाम थे सिंहनन्दिता और अनन्दिता। दोनों ही अपनी-अपनी सुन्दरता में अद्वितीय थीं, विदुषी और सती थीं। इन दोनों के पुत्र हुए। उनके नाम इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन थे। दोनों ही भाई सुन्दर थे, गुणी थे, शूरवीर थे और हृदय के बड़े शुद्ध थे। इस प्रकार श्रीषेण धन-सम्पत्ति, राज्य-वैभव, कुटुम्ब-परिवार आदि से पूरे सुखी थे। प्रजा का नीति के साथ पालन करते हुए वे अपने समय को बड़े आनन्द के साथ बिताते थे ॥२४-२९॥

यहाँ एक सात्यकि ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम जंघा था। इसके सत्यभामा नाम की एक लड़की थी। रत्नसंचयपुर के पास बल नाम का एक गाँव बसा हुआ था। उसमें धरणीजट नाम का ब्राह्मण वेदों का अच्छा विद्वान् था। अग्नीला उसकी स्त्री थी अग्लीना से दो लड़के हुए। उनके नाम

तद्वेदाध्ययने सोपि कपिलो गूढवृत्तितः। वेदवेदाङ्गपारज्ञो जातो बुद्धिबलात्तराम् ॥३३॥
ग्रन्थार्थतो महाविद्वान् जातो दासीसुतोपि च। किं करोति नरो लोके बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥३४॥
तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणाः सर्वे कुपिता धरणीजटे। कृतं त्वया महायोग्यं यद्दासेरः सुपाठितः ॥३५॥
इतिक्रोधयुतं वाक्यं तेषां श्रुत्वा महाभिया। धरणीजटविप्रेण स स्वगेहाद्बहिष्कृतः ॥३६॥
कपिलोपि विनिर्गत्य तद्ग्रामादचलाभिधात्। विप्ररूपं समादाय शीघ्रं रत्नपुरं ययौ ॥३७॥
असौ सात्यकिविप्रो हि तं वीक्ष्य कपिलं तदा। विप्रवेषेण संयुक्तं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥३८॥
ज्ञात्वा योग्यं महाभ्रान्त्या विभूत्या निजपुत्रिकाम्। जम्बूभार्यासमुत्पन्नां तां ददौ सत्यभामिकाम् ॥३९॥
तस्मै सोपि समादाय तां सतीं सुखतः स्थितः। राज्ञा संपूजितो भूत्वा कुर्वन्व्याख्यां मनोहराम् ॥४०॥
एवं वर्षाणि जातानि कानिचित्सत्यभामिका। दुश्चरित्रं विलोक्यैव स्वपतेः ऋतुयोगके ॥४१॥
कस्य पुत्रोयमत्यन्तपापात्मेति ससंशयम्। मानसे दुःखिता यावत्संस्थिता प्रीतिवर्जिता ॥४२॥
धरणीजटविप्रश्च पापाद्दारिद्र्यपीडितः। रत्नसंचयमायातः श्रुत्वा कपिलवैभवम् ॥४३॥

इन्द्रभूति और अग्निभूति थे। उसके यहाँ एक दासी-पुत्र (शूद्र) का लड़का रहता था। उसका नाम कपिल था। धरणीजट जब अपने लड़कों को वेदादिक पढ़ाया करता, उस समय कपिल भी बड़े ध्यान से उस पाठ को चुपचाप छुपे हुए सुन लिया करता था। भाग्य से कपिल की बुद्धि बड़ी तेज थी। सो वह अच्छा विद्वान् बन गया, एक दासी पुत्र भी पढ़-लिखकर महा विद्वान् बन गया इस धरणीजट को बड़ा आश्चर्य हुआ। पर सच तो यह है कि बेचारा मनुष्य करे भी क्या, बुद्धि तो कर्मों के अनुसार होती है न? जब सर्व साधारण में कपिल के विद्वान् हो जाने की चर्चा उठी तो धरणीजट पर ब्राह्मण लोग बड़े बिगड़े और उसे डराने लगे कि तूने यह बड़ा भारी अन्याय किया जो दासी-पुत्र को पढ़ाया। उसका फल तुझे बहुत बुरा भोगना पड़ेगा। अपने पर अपने जातीय भाइयों को इस प्रकार क्रोध उगलते देख धरणीजट बड़ा घबराया। तब डर से उसने कपिल को अपने घर से निकाल दिया। कपिल उस गाँव से निकल रास्ते में ब्राह्मण बन गया और इसी रूप में वह रत्नसंचयपुर आ गया। कपिल विद्वान् और सुन्दर था। इसे उस सात्यकि ब्राह्मण ने देखा, जिसका कि ऊपर जिकर आ चुका है। उसके गुण रूप को देखकर सात्यकि बहुत प्रसन्न हुआ। उनके मन पर वह बहुत चढ़ गया। तब सात्यकि ने उसे ब्राह्मण ही समझ अपनी लड़की सत्यभामा का उसके साथ ब्याह कर दिया। कपिल अनायास इस स्त्री-रत्न को प्राप्त कर सुख से रहने लगा। राजा ने उसके पाण्डित्य की तारीफ सुन उसे अपने यहाँ पुराण कहने को रख लिया। इस तरह कुछ वर्ष बीते। एक बार सत्यभामा ऋतुमती हुई सो उस समय भी कपिल ने उससे संसर्ग करना चाहा। उसके इस दुराचार को देखकर सत्यभामा को इसके विषय में सन्देह हो गया। उसने इस पापी को ब्राह्मण न समझ इससे प्रेम करना छोड़ दिया। वह इससे अलग रह दुःख के साथ जिन्दगी बिताने लगी ॥३०-४२॥

इधर धरणीजट के कोई ऐसा पाप का उदय आया कि उसकी सब धन-दौलत बरबाद हो गई

तं ब्राह्मणं समालोक्य दूरतः कपिलो रुषा। सन्तप्तो मानसे चापि वेगतः परया मुदा ॥४४॥
अभ्युत्थानादिकं कृत्वा वन्दित्वा च पुनः पुनः। विशिष्टासनमारोप्य मातुर्मे सुसहोदरः ॥४५॥
ब्रूत भो स्वामिनो यूयं सर्वे तिष्ठन्ति सौख्यतः। इति पृष्ट्वा सुखस्नानभोजनैश्चित्तरंजनैः ॥४६॥
वस्त्रादिभिः समाराध्य सर्वेषामग्रतस्तदा। ममायं जनकः सर्वविप्राणामग्रणीः सुधीः ॥४७॥
आचारवान्विचारज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः। स्वमातुर्भेदसंभीतो माययैवं जगाद च ॥४८॥
सोपि दारिद्र्ययुक्तत्वात्तं पुत्रं प्रतिपद्य च। पापं श्रितस्तदा विप्रो धिग्दारिद्र्यमशर्मकम् ॥४९॥
एवं दिनेषु जातेषु केषुचिद्गूढवृत्तितः। स विप्रो भक्तितः पृष्टो दत्वा सारधनं तया ॥५०॥
स्वनाथपितृकः सत्यभामया ब्रूहि भो सुधीः। एकान्ते किं सुतस्तेऽयं सत्यं सत्यवताम्वर ॥५१॥
तदीयदुष्टचारित्रात्प्रतीतिर्मे न वर्तते। इत्याकर्ण्य द्विजः सोपि यातुमिच्छुर्निजं गृहम् ॥५२॥
चित्ते वहन्महाद्वेषं लब्धसम्पूर्णवित्तकः। प्रोक्त्वा तद्वृत्तकं सर्वं वेगतः स्वगृहं गतः ॥५३॥

वह भिखारी-सा हो गया। उसे मालूम हुआ की कपिल रत्नसंचयपुर में अच्छी हालत में है। राजा द्वारा उसे धन-मान खूब प्राप्त है। वह तब उसी समय सीधा कपिल के पास आया। उसे दूर से देखकर कपिल मन ही मन धरणीजट पर बड़ा गुस्सा हुआ। अपनी बढ़ी हुई मान-मर्यादा के समय उसका अचानक आ जाना कपिल को बहुत खटका। पर वह कर क्या सकता था। उसे साथ ही उस बात का बड़ा भय हुआ कि कहीं वह मेरे सम्बन्ध में लोगों को भड़का न दें। यही सब विचार कर वह उठा और बड़ी प्रसन्नता से सामने जाकर धरणीजट को उसने नमस्कार किया और बड़े मान से लाकर उसे ऊँचे आसन पर बैठाया ॥४३-४५॥

उसके बाद उसने पूछा-पिताजी, मेरी माँ, भाई आदि सब सुख से तो हैं न? इस प्रकार कुशल समाचार पूछ कर धरणीजट को स्नान, भोजनादि कराया और उसका वस्त्रादि से खूब सत्कार किया। फिर सबसे आगे एक खास मेहमान की जगह बैठाकर कपिल ने सब लोगों को धरणीजट का परिचय कराया कि ये ही मेरे पिताजी हैं। बड़े विद्वान् और आचार-विचारवान् हैं। कपिल ने यह सब समाचार इसीलिए किया था कि कहीं उसकी माता का सब भेद खुल न जाए। धरणीजट दरिद्री हो रहा था। धन की उसे चाह थी ही, सो उसने उसे अपना पुत्र मान लेने में कुछ भी आनाकानी न की। धन के लोभ से उसे यह पाप स्वीकार कर लेना पड़ा। ऐसे लोभ को धिक्कार है, जिसके वश हो मनुष्य हर एक पापकर्म कर डालता है। तब धरणीजट वहीं रहने लग गया। यहाँ रहते इसे कई दिन हो चुके। सबके साथ इसका थोड़ा बहुत परिचय भी हो गया। एक दिन मौका पाकर सत्यभामा ने उसे कुछ थोड़ा बहुत द्रव्य देकर एकान्त में पूछा-महाराज, आप ब्राह्मण हैं और मेरा विश्वास है कि ब्राह्मण देव कभी झूठ नहीं बोलते इसलिए कृपाकर मेरे संदेह को दूर कीजिए। मुझे आपके इन कपिल जी का दुराचार देख यह विश्वास नहीं होता कि ये आप सरीखे पवित्र ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुए हों, तब क्या वास्तव में ये ब्राह्मण ही हैं या कुछ गोलमाल है। धरणीजट को कपिल से

दुष्टात्मना स्वनाथेनानिच्छन्ती सहवासताम्। सत्यभामाकुलाचारमानिनी शरणं गता ॥५४॥
तं भूपतिं तदा तेन रक्षिता स्वसुतेव सा। कपिलोपि समायातः शोकादन्यायकं ब्रुवन् ॥५५॥
तत्कुशीलं विचार्याशु भूभुजा दुष्टमानसः। निर्घाटितः स्वदेशात्स लम्पटः कपटद्विजः ॥५६॥
शिष्टानां पालनं दुष्टनिग्रहं ये महीभुजः। कुर्वन्ति तेन्यथा सर्वे प्रजानां धनहारिणः ॥५७॥
एकदा पुण्ययोगेन स श्रीषेणमहीपतिः। तपो रत्नाकरौ पूतौ पवित्रीकृतभूतलौ ॥५८॥
प्रतीक्ष्यादित्यगत्याख्यारिंजयाख्यौ महामुनी। चारणौ गृहमायातौ भक्त्या ताभ्यां प्रहर्षतः ॥५९॥
दत्वान्नं विधिना प्राप पञ्चाश्चर्याणि शुद्धधीः। सत्यं सुपात्रदानेन किं शुभं यन्न जायते ॥६०॥
रत्नवृष्टिस्तथा पुष्पवृष्टिर्गीर्वाणदुन्दुभिः। त्रिधा वायुर्मरुत्साधुकारश्चाश्चर्यपञ्चकम् ॥६१॥
ततो राज्यं विधायोच्चैः स राजा पुण्यपाकतः। धातकीखण्डपूर्वार्द्धस्थितोदक्कुरुभूतले ॥६२॥

इसलिए द्वेष हो ही रहा था कि भरी सभा में कपिल ने उसे अपना पिता बता उसका अपमान किया था और दूसरे उसे धन की चाह थी, सो उसके मन के माफिक धन सत्यभामा ने उसे पहले ही दे दिया था। तब वह कपिल की सच्ची हालत क्यों छिपायेगा? जो हो, धरणीजट सत्यभामा को सब हाल कहकर और प्राप्त धन लेकर रत्नसंचयपुर से चल दिया। सुनकर कपिल पर सत्यभामा की घृणा पहले से कोई सौ गुणी बढ़ गई तब उसने उससे बोलना-चालना तक छोड़कर एकान्तवास स्वीकार कर लिया, पर अपने कुलाचार की मान-मर्यादा को न छोड़ा। सत्यभामा को इस प्रकार अपने से घृणा करते देख कपिल उससे बलात्कार करने पर उतारू हो गया। तब सत्यभामा घर से भागकर श्रीषेण महाराज की शरण में आ गई और उसने सब हाल उनसे कह दिया। श्रीषेण ने तब उस पर दयाकर उसे अपनी लड़की की तरह अपने यहीं रख लिया। कपिल सत्यभामा के अन्याय की पुकार लेकर श्रीषेण के पास पहुँचा। उसके व्यभिचार की हालत उन्हें पहले ही मालूम हो चुकी थी, इसलिए उसकी कुछ न सुनकर श्रीषेण ने उस लम्पटी और कपटी ब्राह्मण को अपने देश से निकाल दिया। सो ठीक ही है राजा को सज्जनों की रक्षा और दुष्टों को सजा देनी ही चाहिए। ऐसा न करने पर वे अपने कर्तव्य से च्युत होते है और प्रजा के धनहारी हैं ॥४६-५७॥

एक दिन श्रीषेण के यहाँ आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारणऋद्धि के धारी मुनिराज पृथ्वी को अपने पाँवों से पवित्र करते हुए आहार के लिए आए। श्रीषेण ने बड़ी भक्ति से उनका आह्वान कर उन्हें पवित्र आहार कराया। इस पात्रदान से उनके यहाँ स्वर्ग के देवों ने रत्नों की वर्षा की, कल्पवृक्षों ने सुन्दर और सुगन्धित फूल बरसाये, दुन्दुभी बाजे बजे, मन्द-सुगन्ध वायु बहा और जय-जयकार हुआ, खूब बधाइयाँ मिलीं और सच है, सुपात्रों को दिये दान के फल से क्या नहीं हो पाता। इसके बाद श्रीषेण ने और बहुत वर्षों तक राज्य-सुख भोगा। अन्त में मरकर वे धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वभाग की उत्तर-कुरु भोगभूमि में उत्पन्न हुए। सच है, साधुओं की संगति से जब मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है तब कौन ऐसी उससे बढ़कर वस्तु होगी जो प्राप्त न हो। श्रीषेण की दोनों

काले मृत्वा समुत्पन्नो भोगभूभूरिभोगभाक्। किं न स्यात्साधुसंगेन सौख्यं स्यान्मुक्तिजं यतः ॥६३॥
ते द्वे राज्ञ्यौ तथा सा च सत्यभामा महासती। तत्रैवोदक्कु रुदभोगभूमौ राज्ञा समं तदा ॥६४॥
तिस्रो मृत्वा समुत्पन्नास्तत्सुदानानुमोदनात्। दशधा कल्पवृक्षाणां महाभोगानुरंजिताः ॥६५॥

उक्तंच–

मद्यातोद्यविभूषास्रग्ज्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः। भोजनामत्रवस्त्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः॥
न रोगो नैव शोकश्च न चिन्ता न दरिद्रता। नाल्पमृत्युर्न वैरं च न सर्पा यत्र पापिनः ॥६६॥
शीतोष्णादिकबाधा न नैव युद्धं न दुर्जनः। यत्र कस्यापि सेवा न मानभंगो न कस्यचित् ॥६७॥
यत्रार्यपरिणामेन सर्वे तिष्ठन्ति सौख्यतः। जन्मादिमृत्युपर्यन्तं पात्रदानेन देहिनः ॥६८॥
यत्रोद्भवाः स्वभावोत्थमार्द्दवेन सुदानिनः। प्रान्ते देवगतिं यान्ति शेषपुण्यप्रभावतः ॥६९॥
तत्र सौख्यं चिरं भुक्त्वा स्वपंचेन्द्रियतर्पणम्। स श्रीषेणो महीपालस्तद्दानप्रथमोदयात् ॥७०॥
कैश्चिद्भवान्तरैः पूतैर्महाभ्युदयकारकैः। क्षेत्रेस्मिन्भारते सिद्धे हस्तिनाख्यपुरोत्तमे ॥७१॥
विश्वसेनमहीभर्त्तुरैराराज्ञ्याः सुतो महान्। शान्तीशः तीर्थकृज्जातः पञ्चकल्याणशर्मभाक् ॥७२॥
येत्र भव्याः करिष्यन्ति पात्रदानं सुभक्तितः। तेषां नूनं भविष्यन्ति लोकद्वयमहाश्रियः ॥७३॥

रानियाँ तथा सत्यभामा भी इसी उत्तरकुरु भोगभूमि में जाकर उत्पन्न हुई। सब इस भोगभूमि में दस प्रकार के कल्पवृक्ष से मिलने वाले सुखों को भोगते और आनन्द से रहते हैं। यहाँ इन्हें कोई खाने-कमाने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। पुण्योदय से प्राप्त हुए भोगों को निराकुलता से ये आयु पूर्ण होने तक भोगेंगे। यहाँ की स्थिति बड़ी अच्छी है। यहाँ के निवासियों को कोई प्रकार की बीमारी, शोक, चिन्ता, दरिद्रता आदि से होने वाले कष्ट नहीं सता पाते। इनकी कोई प्रकार के अपघात से मौत नहीं होती। यहाँ किसी के साथ शत्रुता नहीं होती। यहाँ न अधिक जाड़ा पड़ता और न अधिक गर्मी होती है किन्तु सदा एक सी सुन्दर ऋतु रहती है। यहाँ न किसी की सेवा करनी पड़ती है और न किसी के द्वारा अपमान सहना पड़ता है, न यहाँ युद्ध है और न कोई किसी का वैरी है। यहाँ के लोगों के भाव सदा पवित्र रहते हैं। आयु पूरी होने तक ये इसी तरह सुख से रहते हैं। अन्त में स्वाभाविक सरल भावों से मृत्यु लाभ कर ये दानी महात्मा कुछ बाकी बचे पुण्य फल से स्वर्ग में जाते हैं। श्रीषेण ने भी भोग भूमि का खूब सुख भोगा। अन्त में वे स्वर्ग गए। स्वर्ग में भी मनचाहा दिव्य सुख भोगकर अन्त में वे मनुष्य हुए। इस जन्म में ये कई बार अच्छे-अच्छे राजघराने में उत्पन्न हुए। पुण्य से फिर स्वर्ग गए। वहाँ की आयु पूरी कर अबकी बार भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध शहर हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की रानी ऐरा के यहाँ उन्होंने अवतार लिया। यही सोलहवें श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकर के नाम से संसार में प्रख्यात हुए। उनके जन्म समय में स्वर्ग के देवों ने आकर बड़ा उत्सव किया था, उन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसमुद्र स्फटिक से पवित्र और निर्मल जल से उनका अभिषेक किया था। भगवान् शान्तिनाथ ने अपना जीवन बड़ी ही पवित्रता के साथ बिताया। उनका जीवन संसार का आदर्श जीवन है। अन्त में योगी होकर उन्होंने धर्म का पवित्र उपदेश देकर अनेक जनों को संसार से पार किया, दुःखों से उनकी

इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं स्वशक्त्या बहुभक्तितः। देयं पात्राय सद्दानं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥७४॥
सद्रत्नत्रयमण्डितोतिविमलः श्रीमूलसंघे महान् श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः श्रीकुन्दकुन्दान्वये।
तच्छिष्येण सुपात्रभोजनमहादानक्षणे शर्मणे भूयाच्छान्तिविभोः कथा विरचिता श्रीनेमिदत्तेन वः ॥७५॥

इति कथाकोशे पात्राहारदानफलप्राप्त-श्रीश्रीषेणमहाराजाख्यानं समाप्तम्।

११०. औषधदानफलाख्यानम्

नत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां भारत्याः सद्गुरोः क्रमान्। कथामौषधदानस्य वक्ष्ये त्रैलोक्यपूजितान् ॥१॥
दीर्घायुः स्वस्थता चित्ते कुष्ठादिव्याधिसंक्षयः। नीरोगता सदानन्दो भवेदौषधदानतः ॥२॥
सौभाग्यं धनधान्यं च रूपलावण्यसम्पदा। तेजोबलं सुखं चैव क्रमेण स्वर्गमोक्षयोः ॥३॥
ततः पात्राय सद्देयं दययान्यत्र च क्वचित्। दानमौषधदसंज्ञं तु हितार्थैर्दोषवर्जितम् ॥४॥
दानस्यास्य फलं प्राप्तं यदनेकैर्महात्मभिः। तत्फलं शक्यते केन वर्णयितुं जगत्त्रये ॥५॥
फलमौषधदानस्य प्राप्तं वृषभसेनया। तदहं जिनसूत्रेण वक्ष्ये संक्षेपतः श्रिये ॥६॥

रक्षा कर उन्हें सुखी किया। अपना संसार के प्रति जो कर्तव्य था उसे पूरा कर इन्होंने निर्वाण लाभ किया। यह सब पात्रदान का फल है। इसलिए जो लोग पात्रों को भक्ति से दान देंगे वे भी नियम से ऐसा ही उच्च सुख लाभ करेंगे। यह बात ध्यान में रखकर सत्पुरुषों का कर्तव्य है, कि वे प्रतिदिन कुछ न कुछ दान अवश्य करें। यही दान स्वर्ग और मोक्ष के सुख का देने वाला है ॥५८-७४॥

मूलसंघ में कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारी थे। इन्हीं गुरु महाराज की कृपा से मुझ अल्पबुद्धि नेमिदत्त ब्रह्मचारी ने पात्रदान के सम्बन्ध में श्रीशान्तिनाथ भगवान् की पवित्र कथा लिखी है। यह कथा मेरी परम शान्ति की कारण हो ॥७५॥

११०. औषधिदान की कथा

जिन भगवान् जिनवाणी और जैन साधुओं के चरणों को नमस्कार कर औषधिदान के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती हैं ॥१॥

निरोगी होना, चेहरे पर सदा प्रसन्नता रहना, धनादि विभूति का मिलना, ऐश्वर्य का प्राप्त होना, सुन्दर होना, तेजस्वी और बलवान् होना और अन्त में स्वर्ग या मोक्ष का सुख प्राप्त करना ये सब औषधिदान के फल हैं। इसीलिए जो सुखी होना चाहते हैं उन्हें निर्दोष औषधिदान करना उचित है। इस औषधिदान के द्वारा अनेक सज्जनों ने फल प्राप्त किया है, उन सबके सम्बन्ध में लिखना औरों के लिए नहीं तो मुझ अल्पबुद्धि के लिए तो अवश्य असम्भव है। उनमें से एक वृषभसेना का पवित्र चरित यहाँ संक्षिप्त में लिखा जाता है। आचार्यों ने जहाँ औषधिदान देने वाले का उल्लेख किया है वहाँ वृषभसेना का प्रायः कथन आता है। उन्हीं का अनुकरण मैं भी करता हूँ ॥२-६॥

अथेह भरतक्षेत्रे जिनजन्मपवित्रिते। नाम्ना जनपदे देशे सम्पदा सारसंभृते ॥७॥
कावेरीपत्तने राजा प्रजानां हितकारकः। उग्रसेनोभवन्नाम्ना राजविद्याविराजितः ॥८॥
श्रेष्ठी धनपतिस्तत्र जिनपादार्चने मतिः। तस्य भार्या महासाध्वी धनश्रीः श्रीरिवापरा ॥९॥
तयोः पूर्वार्जितैः पुण्यैः रूपलावण्यमण्डिता। पुत्री वृषभसेनाख्या जाता कीर्तिवदुज्ज्वला ॥१०॥
तस्य रूपवती धात्री नित्यं स्नानादिकं मुदा। करोति बहुयत्नेन पुण्यात्किं वा न जायते ॥११॥
श्रीमद्वृषभसेनायाः स्नानवारिभिरेण च। जातायां तत्र गर्त्तायां कुक्कुरं रोगपीडितम् ॥१२॥
एकदा सा समालोक्य धात्रिका पतितोत्थितम्। गतरोगहाजालं तत्क्षणात् जातविस्मया ॥१३॥
पुत्रीस्नानजलं व्यक्तं कारणं रोगसंक्षये। इत्यालोच्य समादाय तज्जलं रोगनाशकम् ॥१४॥
शीघ्रं तेन जलेनैव परीक्षार्थं महादरात्। निजमातुर्महच्चक्षुर्व्याधिना संकदर्थिते ॥१५॥
द्वादशवर्षपर्यन्तं तस्याः कुथितलोचने। प्रक्षाल्य निर्मलीकृत्य विलोक्यात्यन्तसुन्दरे ॥१६॥

भगवान् के जन्म से पवित्र इस भारतवर्ष का जनपद नाम के देश में नाना प्रकार उत्तमोत्तम सम्पत्ति से भरा अतएव अपनी सुन्दरता से स्वर्ग की शोभा को नीची करने वाला कावेरी नाम का नगर है। जिस समय की वह कथा है, उस समय कावेरी नगर के राजा उग्रसेन थे। उग्रसेन प्रजा के सच्चे हितैषी और राजनीति के अच्छे पण्डित थे ॥७-८॥

यहाँ धनपति नाम का एक अच्छा सद्गृहस्थ सेठ रहता था। जिन भगवान् की पूजा-प्रभावनादि से उसे अत्यन्त प्रेम था। उसकी स्त्री धनश्री उसके घर की मानों दूसरी लक्ष्मी थी। धनश्री सती और बड़े सरल मन की थी। पूर्व पुण्य से इसके वृषभसेना नाम की एक देवकुमारी से सुन्दरी और सौभाग्यवती लड़की हुई। सच है—पुण्य के उदय से क्या प्राप्त नहीं होता। वृषभसेना की धाय रूपवती उसे सदा नहाया-धुलाया करती थी। उसके नहाने का पानी बह-बह कर एक गड्ढे में जमा हो गया था। एक दिन की बात है कि रूपमती वृषभसेना को नहला रही थी। उसी समय एक महारोगी कुत्ता उस गड्ढे में, जिसमें कि वृषभसेना के नहाने का पानी इकट्ठा हो रहा था, गिर पड़ा। क्या आश्चर्य की बात है कि जब वह उस पानी में से निकला तो बिल्कुल नीरोग दीख पड़ा। रूपवती उसे देखकर चकित हो रही है ॥९-१२॥

उसने सोचा-केवल साधारण जल से इस प्रकार रोग नहीं जा सकता। पर वह वृषभसेना के नहाने का पानी है। उसमें उसके पुण्य का कुछ भाग जरूर होना चाहिए। जान पड़ता है वृषभसेना कोई बड़ी भाग्यशालिनी लड़की है। ताज्जुब नहीं कि यह मनुष्य रूपिणी कोई देवी हो! नहीं तो इसके नहाने के जल में ऐसी चकित करने वाली करामात हो ही नहीं सकती। इस पानी की और परीक्षा कर देख लू, जिससे और भी दृढ़ विश्वास हो जाएगा कि यह पानी सचमुच ही क्या रोगनाशक है? ॥१३-१५॥

तब रूपवती थोड़े से उस पानी को लेकर अपनी माँ के पास आई। उसकी माँ की आँखें कोई

ततस्तेनाम्बुना सर्वरोगसन्तानहारिणा। ख्याता रूपवती जाता सर्वव्याधिविनाशने ॥१७॥
अक्षिजं कुक्षिजं रोगं शिरोजं गरलोद्भवम्। क्षयं नयति सा तत्र सर्वकुष्ठादिकं घनम् ॥१८॥
अथैकदोग्रसेनेन स्वमंत्री रणपिङ्गलः। मेघपिङ्गलराजस्योपरि संप्रेषितो द्रुतम् ॥१९॥
ततोऽसौ बहुसैन्येन तद्देशं संप्रविष्टवान्। जातो महाज्वरी तत्र विषोदकनिषेवणात् ॥२०॥
पश्चात्स्वगृहमायातो रूपवत्या जलेन सः। प्राणीव गुरुवाक्येन कृतो रोगविवर्जितः ॥२१॥
उग्रसेनोपि भूभर्ता कोपानलकदर्थितः। मेघपिङ्गलराजस्य बन्धनार्थं गतो जवात् ॥२२॥
तथासौ विषनीरोत्थमहाज्वरवितर्जितः। व्याघुट्यैव समायातः ससैन्यो मानवर्जितः ॥२३॥

बारह वर्षों से खराब हो रही थी। इससे वह बड़ी दु:ख में थी। आँखों को रूपवती ने उस जल से धोकर साफ किया और देखा तो उनका रोग बिल्कुल जाता रहा। वे पहले से बड़ी सुन्दर हो गई रूपवती को वृषभसेना के पुण्यवती होने में अब कोई सन्देह न रह गया। इस रोग नाश करने वाले जल के प्रभाव से रूपवती की चारों और बड़ी प्रसिद्धि हो गई। बड़ी-बड़ी दूर के रोगी अपने रोग का इलाज कराने को आने लगे। क्या आँख के रोग को, क्या पेट के रोग को, क्या सिर सम्बन्धी पीड़ाओं की और क्या कोढ़ वगैरह रोगों को, यही नहीं किन्तु जहर सम्बन्धी असाध्य से असाध्य रोगों को भी रूपवती केवल एक इसी पानी से आराम करने लगी। रूपवती इससे बड़ी प्रसिद्ध हो गई ॥१६-१८॥

उग्रसेन और मेघपिंगल राजा की पुरानी शत्रुता चली आ रही थी। उस समय उग्रसेन ने अपने मन्त्री रणपिंगल को मेघपिंगल पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। रणपिंगल सेना लेकर मेघपिंगल पर जा चढ़ा और उसके सारे देश को उसने घेर लिया। मेघपिंगल ने शत्रु को युद्ध में पराजित करना कठिन समझ दूसरी युक्ति से उसे देश से निकाल बाहर करना विचारा और उसके लिए उसने ये योजना की कि शत्रु की सेना में जिन-जिन कुँए, बावड़ी से पीने को जल आता था उन सबमें अपने चतुर जासूसों द्वारा विष घुलवा दिया। फल यह हुआ कि रणपिंगल की बहुत सी सेना तो मर गई और बची हुई सेना को साथ लिए वह स्वयं भी भाग कर अपने देश लौट आया। उसकी सेना पर तथा उस पर जो विष का असर हुआ था, उसे रूपवती ने उसी जल से आराम किया। गुरुओं के वचनामृत से जैसे जीवों को शान्ति मिलती है रणपिंगल को उसी प्रकार शान्ति रूपवती के जल से मिली और वह रोगमुक्त हुआ ॥१९-२१॥

रणपिंगल का हाल सुनकर उग्रसेन को मेघपिंगल पर बड़ा क्रोध आया तब स्वयं उन्होंने उस पर चढ़ाई की। उग्रसेन ने अब की बार अपने जानते सावधानी रखने में कोई कसर न की। पर भाग्य का लेख किसी तरह नहीं मिटता। मेघपिंगल का चक्र उग्रसेन पर भी चल गया। जहर मिले जल को पीकर उनकी भी तबियत बहुत बिगड़ गई तब जितनी जल्दी उनसे बन सका अपनी राजधानी में उन्हें लौट आना पड़ा। उनका भी बड़ा ही अपमान हुआ। रणपिंगल से उन्होंने, वह कैसे आराम हुआ था, इस बाबत पूछा। रणपिंगल ने रूपवती का जल के बारे में बतलाया। उग्रसेन ने तब उसी

रणपिङ्गलतो ज्ञात्वा तज्जलं रोगनाशनम्। राजा याचितवांस्तूर्णं स्वरोगक्षयहेतवे ॥२४॥
तदा धनश्रिया प्रोक्तं श्रेष्ठिनं प्रति भीतया। स्वामिन्कथं सुतास्नानजलं भूपतिमस्तके ॥२५॥
क्षेप्यते तत्समाकर्ण्य जगौ श्रेष्ठी गरिष्ठधीः। यदि पृच्छति राजासौ तदास्माभिः प्रकथ्यते ॥२६॥
सत्यं जलस्वरूपं हि न दोषः स्यादिति ध्रुवम्। ब्रुवन्ति न कदा सन्तः प्राणत्यागेप्यसत्यकम् ॥२७॥
एवं मंत्रे कृते तेन जलेनैव महीपतिः। उग्रसेनः कृतो धात्र्या तया रोगवर्जितः ॥२८॥
नीरोगेण ततो राज्ञा पृष्टा रूपवती स्फुटम्। सर्वं जगाद तत्तोयस्वरूपं शर्मकारणम् ॥२९॥
ततो राज्ञा समाहूतः श्रेष्ठी धनपतिः सुधीः। तत्कालं स समायातो दुर्लङ्घ्यं राजशासनम् ॥३०॥
दत्वा तस्मै महामानं राज्ञा श्रेष्ठी स याचितः। श्रीमद्वृषभसेनां तां परिणेतुं गुणोज्ज्वलाम् ॥३१॥
श्रुत्वासौ भूपतेर्वाक्यं जगौ श्रेष्ठी सुनिश्चलः। राजदेवेन्द्रचन्द्रार्कनरेन्द्रैः खचरैः कृताम् ॥३२॥
पूजामाष्टाह्निकीं पूतां स्वर्गमोक्षसुखप्रदाम्। जिनेन्द्रप्रतिमानां च स्नपनं पूजनं तथा ॥३३॥
करोषि यदि सद्भक्त्या पञ्जरस्थान् विमुञ्चसि। पक्षिणश्च तथा कारागारान्मुञ्चसि सत्वरम् ॥३४॥
मनुष्यांश्च तदा तुभ्यं ददामि मम पुत्रिकाम्। रूपसौभाग्यसत्पुण्य-मण्डितां कुलदीपिकाम् ॥३५॥

समय अपने आदमियों को जल ले आने के लिए सेठ के यहाँ भेजा। अपनी लड़की का स्नान-जल लेने को राजा के आदमियों को आया देख सेठानी धनश्री ने अपने स्वामी से कहा-क्यों जी, अपनी वृषभसेना का स्नान-जल राजा के सिर पर छिड़का जाए यह तो उचित नहीं जान पड़ता। सेठ ने कहा-तुम्हारा यह कहना ठीक है, परन्तु जिसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं तब क्या किया जाये। हम तो जान-बूझकर ऐसा नहीं करते हैं और न सच्चा हाल किसी से छिपाते हैं, तब इससे अपना तो कोई अपराध नहीं हो सकता। यदि राजा साहब ने पूछा तो हम सब हाल उनसे यथार्थ कह देंगे। सच है-अच्छे पुरुष प्राण जाने पर भी झूठ नहीं बोलते। दोनों ने विचार कर रूपवती को जल देकर उग्रसेन के महल पर भेजा। रूपवती ने उस जल को राजा के सिर पर छिड़क कर उन्हें आराम कर दिया। उग्रसेन रोगमुक्त हो गए। उन्हें बहुत खुशी हुई रूपवती से उन्होंने उस जल का हाल पूछा। रूपवती कोई बात न छुपाकर जो बात सच्ची थी वह राजा से कह दी। सुनकर राजा ने धनपति सेठ को बुलाया और उसका बड़ा आदर-सम्मान किया। वृषभसेना का हाल सुनकर ही उग्रसेन की इच्छा उसके साथ ब्याह करने की हो गई थी और इसीलिए उन्होंने मौका पाकर धनपति से अपनी इच्छा कह सुनाई। धनपति ने उसके उत्तर में कहा-राजराजेश्वर, मुझे आपकी आज्ञा मान लेने में कोई रुकावट नहीं है। पर इसके साथ आपको स्वर्ग-मोक्ष की देने वाली और जिसे इन्द्र, स्वर्गवासी देव, चक्रवर्ती, विद्याधर, राजा-महाराजा आदि महापुरुष बड़ी भक्ति के साथ करते है। ऐसी अष्टाह्निका पूजा करनी होगी और भगवान् का खूब उत्सव के साथ अभिषेक करना होगा और आपके यहाँ जो पशु-पक्षी पिंजरों में बन्द हैं, उन्हें तथा कैदियों को छोड़ना होगा। ये सब बातें आप स्वीकार करें तो मैं वृषभसेना का ब्याह आपके साथ कर सकता हूँ। उग्रसेन ने धनपति की सब बातें स्वीकार कीं

उग्रसेनस्तदा सर्वं कृत्वा राजा महामुदा। परिणीय महाभूत्या तस्य पुत्रीं सुखप्रदाम् ॥३६॥
कृत्वा पट्टमहाराज्ञीं वल्लभां तां तथैव च। अन्यत्कार्यं परित्यज्य नित्यं क्रीडां करोति सः ॥३७॥
तदा वृषभसेना च प्राप्य राज्ञीपदं महत्। दिव्यान्भोगान्प्रभुञ्जाना पूर्वपुण्यप्रसादतः ॥३८॥
पूजयन्ती जगत्पूज्याञ्जिनान्स्वर्गापवर्गदान्। दिव्यैरष्टमहाद्रव्यैः स्नपनादिभिरुत्तमैः ॥३९॥
मानयन्ती महासाधून्मानैर्दानैश्चतुर्विधैः। पालयन्ती व्रतं शीलं स्वोचितं सारशर्मदम् ॥४०॥
कुर्वती परया प्रीत्या सम्मानं च सधर्मिणाम्। निजोन्नतेः फलं तद्धि यद्भक्तिः स्यात्सधर्मिणाम् ॥४१॥
इत्यादिकं जगत्पूज्यं जिनधर्मं सुखप्रदम्। संकुर्वाणा लसद्भक्त्या सा सती सुखतः स्थिता ॥४२॥
अथ तत्र महाराजो वाराणस्याः सुदुष्टधीः। नामतः पृथिवीचन्द्रः कारागारे स तिष्ठति ॥४३॥
स तद्विवाहकालेपि दुष्टत्वान्नैव मोचितः। जन्तोरतीव दुष्टस्य क्व भवेद्बन्धनक्षयः ॥४४॥
पृथिवीचन्द्रकस्यास्य राज्ञो राज्ञी प्रवर्त्तते। या नारायणदत्ताख्या तया मंत्रं सुमंत्रिभिः ॥४५॥
कृत्वोच्चैः पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं सुकारिताः। नाम्ना वृषभसेनायाः शाला दानस्य सर्वतः ॥४६॥

और उसी समय उन्हें कार्य में भी परिणत कर दिया ॥२२-३६॥

वृषभसेना का ब्याह हो गया। सब रानियों में पट्टरानी का सौभाग्य उसे ही मिला। राजा ने अब अपना राजकीय कामों से बहुत कुछ सम्बन्ध कम कर दिया। उनका प्रायः समय वृषभसेना के साथ सुखोभोग में जाने लगा। वृषभसेना पुण्योदय से राजा की खास प्रेम-पात्र हुई स्वर्ग सरीखे सुखों को वह भोग ने लगी। यह सब कुछ होने पर भी वह अपने धर्म-कर्म को थोड़ा भी न भूली थी। वह जिन भगवान् की सदा जलादि आठ द्रव्यों से पूजा करती, साधुओं को चारों प्रकार का दान देती, अपनी शक्ति के अनुसार व्रत, तप, शील, संयमादि का पालन करती और धर्मात्मा सत्पुरुषों का अत्यन्त प्रेम के साथ आदर-सत्कार करती और सच है-पुण्योदय से जो उन्नति हुई, उसका फल तो यही है कि साधर्मियों से प्रेम हो, हृदय में उनके प्रति उच्च भाव हों। वृषभसेना का अपना जो कर्तव्य था, उसे पूरा करती, भक्ति से जिनधर्म की जितनी बनती उतनी सेवा करती और सुख से रहा करती थी ॥३७-४२॥

राजा उग्रसेन के यहाँ बनारस का राजा पृथ्वीचन्द्र कैद था और वह अधिक दुष्ट था। पर उग्रसेन का तो तब भी यही कर्तव्य था कि वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार ब्याह के समय उसे भी छोड़ देते। पर ऐसा उन्होंने नहीं किया। यह अनुचित हुआ अथवा यों कहिए कि जो अधिक दुष्ट होते हैं उनका भाग्य ही ऐसा होता है जो वे मौके पर भी बन्धन मुक्त नहीं हो पाते ॥४३-४४॥

पृथ्वीचन्द्र की रानी का नाम नारायणदत्ता था। उसे आशा थी कि उग्रसेन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वृषभसेना के साथ ब्याह के समय मेरे स्वामी को अवश्य छोड़ देंगे। पर उसकी यह आशा व्यर्थ हुई पृथ्वीचन्द्र तब भी न छोड़े गए। यह देख नारायणदत्ता ने अपने मंत्रियों से सलाह ले पृथ्वीचन्द्र को छुड़ाने के लिए एक दूसरी युक्ति की और उसमें उसे मनचाही सफलता भी प्राप्त हुई उसने अपने यहाँ वृषभसेना के नाम से कई दानशालाएँ बनवाई कोई विदेशी या स्वदेशी हो सबको

वाराणस्यां महावस्तुरसषट्कसमन्विताः। तासु वै भोजनं कृत्वा यथेष्टं ब्राह्मणादयः ॥४७॥
कावेरीपत्तने तुष्टा आगच्छन्ति निरन्तरम्। तेभ्यस्तां वार्त्तिकां श्रुत्वा रुष्टा रूपवती तदा ॥४८॥
कथं वृषभसेने त्वं वाराणस्यां क्षुधाहराः। मामनापृच्छ्य सद्दानशालाः कारयसीति च ॥४९॥
सावोचत्तत्समाकर्ण्य प्रोक्तं वृषभसेनया। नाकारिता मया मातर्मन्नाम्ना किन्तु केन वै ॥५०॥
केनचित्कारणेनैव कारिता सन्ति ताः शुभे। तासां शुद्धिं कुरु त्वं च तवानन्दो भविष्यति ॥५१॥
ज्ञात्वा चरैस्ततो धात्र्या सर्वं च कथितं मुदा। श्रीमद्वृषभसेनाग्रे तद्दानस्यैव कारणम् ॥५२॥
तया च भूपतेः प्रोक्त्वा कारागारात्तदा द्रुतम्। स राजा पृथिवीचन्द्रो मोचितः प्रीतितस्तराम् ॥५३॥
ततः पृथिवीचन्द्रेण फलकेऽत्यन्तसुन्दरे। राज्ञो वृषभसेनायाः शुभे रूपे च कारिते ॥५४॥

उनमें भोजन करने को मिलता था। उन दानशालाओं में बढ़िया से बढ़िया छहों रसमय भोजन कराया जाता था। थोड़े ही दिनों में इन दानशालाओं की प्रसिद्धि चारों ओर हो गई। जो इनमें एक बार भी भोजन कर जाता वह फिर उनकी तारीफ करने में कोई कमी न करता था। बड़ी-बड़ी दूर से इनमें भोजन करने को लोग आने लगे। कावेरी के भी बहुत से ब्राह्मण यहाँ भोजन कर जाते थे। उन्होंने इन शालाओं की बहुत तारीफ की ॥४५-४८॥

रूपवती को इन वृषभसेना के नाम से स्थापित की गई दानशालाओं का हाल सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही उसे वृषभसेना पर इस बात से बड़ा गुस्सा आया कि मुझे बिना पूछे उसने बनारस में ये शालाएँ बनवाई ही क्यों? और उसका उसने वृषभसेना को उलाहना भी दिया। वृषभसेना ने तब कहा–माँ, मुझ पर तुम व्यर्थ ही नाराज होती हो। न तो मैंने कोई दानशाला बनारस में बनवाई और न मुझे उनका कुछ हाल ही मालूम है। यह सम्भव हो सकता है कि किसी ने मेरे नाम से उन्हें बनायी हो। पर इसका शोध लगाना चाहिए कि किसने ये शालाएँ बनवाई और क्यों बनवाई? आशा है पता लगाने से सब रहस्य ज्ञात हो जाएगा। रूपवती ने तब कुछ जासूसों को उन शालाओं की सच्ची हकीकत जानने को भेजा। उनके द्वारा रूपवती को मालूम हुआ कि वृषभेसना के ब्याह के समय उग्रसेन ने सब कैदियों को छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञा के अनुसार पृथ्वीचन्द्र को उन्होंने न छोड़ा। यह बात वृषभसेना को जान पड़े, उसका ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिए ये दान-शालाएँ उनके नाम से पृथ्वीचन्द्र की रानी नारायणदत्ता ने बनवाई हैं। रूपवती ने यह सब हाल वृषभसेना से कहा। वृषभसेना ने तब उग्रसेन से प्रार्थना कर उसी समय पृथ्वीचन्द्र को छुड़वा दिया। पृथ्वीचन्द्र वृषभसेना के इस उपकार से बड़ा कृतज्ञ हुआ। उसने इस कृतज्ञता के वश हो उग्रसेन और वृषभसेना का एक बहुत बढ़िया चित्र तैयार करवाया। उस चित्र में दोनों राजा-रानी के पाँवों में सिर झुकाया हुआ अपना चित्र भी पृथ्वीचन्द्र ने खिचवाया। वह चित्र फिर उनको भेंट कर उसने वृषभसेना से कहा–माँ, तुम्हारी कृपा से मेरा जन्म सफल हुआ। आपकी इस दया का मैं जन्म-जन्म में ऋणी रहूँगा। आपने इस समय मेरा जो उपकार किया उसका बदला तो मैं क्या चुका सकूँगा पर

ययोरधो निजं रूपं सप्रणामं च कारितम्। पश्चात्तयोः प्रणम्योच्चैः फलकस्तेन दर्शितः ॥५५॥
उक्तं वृषभसेनायास्त्वं भो देवि ममाम्बिका। त्वत्प्रसादेन मे जातं जन्मेति सफलं भुवि ॥५६॥
ततः सन्तोषमासाद्य राज्ञा सम्मानपूर्वकम्। भणितश्चोग्रसेनेन वाराणस्याः स भूपतिः ॥५७॥
गन्तव्यं भो त्वया मेघपिङ्गलस्योपरि द्रुतम्। श्रुत्वेति पृथिवीचन्द्रो तं नत्वा स्वपुरीं गतः ॥५८॥
मेघपिङ्गलराजासौ तदाकर्ण्य विचार्य च। ममायं पृथिवीचन्द्रो मर्मभेदीति निश्चितम् ॥५९॥
समागत्योग्रसेनस्य सामन्तोजनि भक्तितः। पुण्येन मित्रतामेति शत्रुः स्वैरं न संशयः ॥६०॥
अथैकदोग्रसेनेन प्रतिज्ञेयं कृता मुदा। ममास्थानस्थितस्योच्चैरागमिष्यति यद्ध्रुवम् ॥६१॥
तस्याहं प्राभृतस्यार्द्धं मेघपिङ्गलकाय च। अर्धं वृषभसेनायै दास्यामीति तथा सति ॥६२॥
रत्नकम्बलयोर्युग्ममैकदैव समागतम्। एकैकं तं ददौ राजा ताभ्यां कृत्वा समानकम् ॥६३॥
किं धनं कांचनं वस्त्रं किमायुश्च परिक्षयि। परोपकृतये प्रोक्तं पालनीयं वचो बुधैः ॥६४॥

उसकी तारीफ में कुछ कहने तक के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं है। पृथ्वीचन्द्र की यह नम्रता यह विनयशीलता देखकर उग्रसेन उस पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसका तब बड़ा आदर-सत्कार किया ॥४९-५६॥

मेघपिंगल उग्रसेन का शत्रु था, जिसका जिकर ऊपर आया है। उग्रसेन से वह भले ही बिल्कुल न डरता हो, पृथ्वीचन्द्र से बहुत डरता था। उसका नाम सुनते ही वह काँप उठता था। उग्रसेन को यह बात मालूम थी। इसलिए अब की बार उन्होंने पृथ्वीचन्द्र को उस पर चढ़ाई करने की आज्ञा की। उनकी आज्ञा सिर पर चढ़ा पृथ्वीचन्द्र अपनी राजधानी में गया और तुरंत उसने अपनी सेना को मेघपिंगल पर चढ़ाई करने की आज्ञा की। सेना के प्रयाण का बाजा बजने वाला ही था कि कावेरी नगर से खबर आ गई ''अब चढ़ाई की कोई जरूरत नहीं। मेघपिंगल स्वयं महाराज उग्रसेन के दरबार में उपस्थित हो गया है।'' बात यह थी कि मेघपिंगल पृथ्वीचन्द्र के साथ लड़ाई में पहले कई बार हार चुका था। इसलिए वह उससे बहुत डरता था। यही कारण था कि उसने पृथ्वीचन्द्र से लड़ना उचित न समझा। तब अगत्या उसे उग्रसेन की शरण में आ जाना पड़ा। अब वह उग्रसेन का सामन्त राजा बन गया। सच है, पुण्य के उदय से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं ॥५७-६०॥

एक दिन दरबार लगा हुआ था। उग्रसेन सिंहासन पर अधिष्ठित थे। उस समय उन्होंने एक प्रतिज्ञा की-आज सामन्त-राजाओं द्वारा जो भेंट आयेगी, वह आधी मेघपिंगल की और आधी श्रीमती वृषभसेना की भेंट होगी। इसलिए कि उग्रसेन महाराज की अपने मेघपिंगल पर पूरी कृपा हो गई थी। आज और बहुत-सी धन-दौलत के सिवा दो बहुमूल्य सुन्दर कम्बल उग्रसेन की भेंट में आए। उग्रसेन ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भेंट का आधा हिस्सा मेघपिंगल के यहाँ और आधा हिस्सा वृषभसेना के यहाँ पहुँचा दिया। धन-दौलत, वस्त्राभूषण, आयु आदि ये सब नाश होने वाली वस्तुएँ हैं, तब इनका प्राप्त करना सफल तभी हो सकता है कि ये परोपकार में लगाई जायें, इनके द्वारा दूसरों का भला हो ॥६१-६४॥

मेघपिङ्गलभार्या या सैकदा तं सुकम्बलम्। प्रयोजनेन प्रावृत्य रूपवत्याः समीपके ॥६५॥
गता तत्र प्रमादेन परिवर्त्तोभवत्तदा। तयोः कम्बलयोः कष्टं प्रमादो न सुखायते ॥६६॥
तदा वृषभसेनायाः प्रावृत्यैव च कम्बलम्। उग्रसेनसभामध्ये स मुग्धो मेघपिङ्गलः ॥६७॥
सेवार्थी चैकदा यातस्तं दृष्ट्वा भूपतिस्तदा। महाकोपेन सन्तप्तो वह्निर्वा घृतयोगतः ॥६८॥
तदा भूपतिमालोक्य सकोपं मेघपिङ्गलः। ममायं कुपितो राजा ज्ञात्वेति प्रपलायितः ॥६९॥
सुदूरं गतवाञ्छीघ्रं महाहयवशीकृतः। दुर्जनाद्दुर्भावाद्वा सज्जनो गुणमण्डितः ॥७०॥
उग्रसेनेन कोपाग्निसन्तप्तेनाविवेकिना। सती वृषभसेना सा समुद्रे पातिता वृथा ॥७१॥
धिक्कोपत्वं विमूढत्वं याभ्यां जीवो वशीकृतः। कदाचिन्नैव जानाति युक्तायुक्तविचारणम् ॥७२॥
तया श्रीजिनपादाब्जभ्रमर्या विहिता दृढम्। प्रतिज्ञा यद्यहं घोरादेतस्मादुपसर्गतः ॥७३॥
उद्धरिष्यामि तच्चित्रं करिष्यामि महातपः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं जरामरणनाशनम् ॥७४॥

एक दिन मेघपिंगल की रानी इस कम्बल को ओढ़ किसी आवश्यक कार्य के लिए वृषभसेना के महल आयी। पाठकों को याद होगा कि ऐसा ही एक कम्बल वृषभसेना के पास भी था। आज वस्त्रों के उतारने और पहरने में भाग्य से मेघपिंगल की रानी का कम्बल वृषभसेना के कम्बल से बदल गया। उसे इसका कुछ ख्याल न रहा और वह वृषभसेना का कम्बल ओढ़े ही अपने महल आ गई। कुछ दिनों बाद मेघपिंगल को राज-दरबार में जाने का काम पड़ा। वह वृषभसेना के इसी कम्बल को ओढ़े चला गया। कम्बल को ओढ़े मेघपिंगल को देखते ही उग्रसेन के क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने वृषभसेना के कम्बल को पहचान लिया। उनकी आँखों से आग की-सी चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन्हें काटो तो खून नहीं। महारानी वृषभसेना का कम्बल इसके पास क्यों और कैसे गया? इसका कोई गुप्त कारण जरूर होना चाहिए। बस, यह विचार उनके मन में आते ही उनकी अजब हालत हो गई। उग्रसेन का अपने पर अकारण क्रोध देखकर मेघपिंगल को इसका कुछ भी कारण न आया। पर ऐसी दशा में उसने अपना वहाँ रहना उचित न समझा। वह उसी समय वहाँ से भागा और एक अच्छे तेज घोड़े पर सवार हो बहुत दूर निकल गया। जैसे दुर्जनों से डरकर सत्पुरुष दूर जा निकलते हैं। उसे भागता देख उग्रसेन को सन्देह और बढ़ा। उन्होंने तब एक ओर तो मेघपिंगल को पकड़ लाने के लिए अपने सवारों को दौड़ाया और दूसरी ओर क्रोधाग्नि से जलते हुए आप वृषभसेना के महल पहुँचे। वृषभसेना से कुछ न कह सुनकर तूने अमुक अपराध किया है, ऐसा कहकर दोनों को एक साथ समुद्र में फिकवाने का उन्होंने हुक्म दे दिया। बेचारी निर्दोष वृषभसेना राजाज्ञा के अनुसार समुद्र में डाल दी गयी। उस क्रोध को धिक्कार! उस मूर्खता को धिक्कार! जिसके वश हो लोग योग्य और अयोग्य कार्य का भी विचार नहीं कर पाते। अजान मनुष्य किसी को कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे, दुःखों की कसौटी पर उसे कितना ही क्यों न चढ़ावें, उसकी निरपराधता को अपनी क्रोधाग्नि में क्यों न झोंक दें, पर यदि वह कष्ट सहने वाला मनुष्य निरपराध

तदा तस्या विशुद्धाया महाशीलप्रभावतः। जलदेवतया तत्र कृतं सिंहासनादिकम् ॥७५॥
प्रातिहार्यं महाभक्त्या जगच्चेतोनुरंजनम्। अहो भव्या न तच्चित्रं सच्छीलात्किं न जायते ॥७६॥
महाग्निर्जलतामेति स्थलतामेति सागरः। शत्रुश्च मित्रतामेति सुधात्वं याति दुर्विषम् ॥७७॥
सच्छीलेन यशः पुण्यं निर्मलं सारसम्पदा। भवन्ति स्वर्गसौख्यानि क्रमेण परमं पदम् ॥७८॥

है, निर्दोष है, उसका हृदय पवित्रता से सना है, रोम-रोम में उसके पवित्रता का वास है तो निःसन्देह उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्यों को कितना ही कष्ट हो, उससे उनका हृदय रत्ती भर भी विचलित न होगा। बल्कि जितना-जितना वह इस परीक्षा की कसौटी पर चढ़ता जायेगा उतना-उतना ही अधिक उसका हृदय बलवान् और निर्भीक बनता जाएगा। उग्रसेन महाराज भले ही इस बात को न समझें कि वृषभसेना निर्दोष है, उसका कोई अपराध नहीं, पर पाठकों को अपने हृदय में इस बात का अवश्य विश्वास है, न केवल विश्वास ही है किन्तु बात भी वास्तव में यही सत्य है कि वृषभसेना निरपराध है। वह सती है, निष्कलंक है। जिस कारण उग्रसेन महाराज उस पर नाराज हुए थे, वह कारण निर्भ्रान्त नहीं था। वे यदि जरा गम खाकर कुछ शान्ति से विचार करते तो उनकी समझ में भी वृषभसेना की निर्दोषता बहुत जल्दी आ जाती। पर क्रोध ने उन्हें आपे में न रहने दिया और इसलिए उन्होंने एकदम क्रोध से अन्धे हो एक निर्दोष व्यक्ति को काल के मुँह में फेंक दिया। जो हो, वृषभसेना के पवित्र जीवन की उग्रसेन ने कुछ कीमत न समझी, उसके साथ महान् अन्याय किया, पर वृषभसेना को अपने सत्य पर पूर्ण विश्वास था। वह जानती थी कि मैं सर्वथा निर्दोष हूँ। फिर मुझे कोई ऐसी बात नहीं देख पड़ती कि जिसके लिए मैं दुःख कर अपने आत्मा को निर्बल बनाऊँ। बल्कि मुझे इस बात की प्रसन्नता होनी चाहिए कि सत्य के लिए मेरा जीवन गया। उसने ऐसे ही और बहुत से विचारों से अपने आत्मा को खूब बलवान् और सहनशील बना लिया। ऊपर यह लिखा जा चुका है कि सत्यता और पवित्रता के सामने किसी की नहीं चलती बल्कि सबको उनके लिए अपना मस्तक झुकाना पड़ता है। वृषभसेना अपनी पवित्रता पर विश्वास रखकर भगवान् के चरणों का ध्यान करने लगी। अपने मन को उसने परमात्मा-प्रेम में लीन कर लिया। साथ ही प्रतिज्ञा की कि यदि इस परीक्षा में मैं पास होकर नया जीवन लाभ कर सकूँ तो अब मैं संसार की विषयवासना में न फँसकर अपने जीवन को तप के पवित्र प्रवाह में बहा दूँगी, जो तप जन्म और मरण का ही नाश करने वाला है। उस समय वृषभसेना की वह पवित्रता, वह दृढ़ता, वह शील का प्रभाव, वह स्वभावसिद्ध प्रसन्नता आदि बातों ने उसे एक प्रकाशमान उज्ज्वल ज्योति के रूप में परिणत कर दिया था। उसके इस अलौकिक तेज के प्रकाश ने स्वर्ग के देवों की आँखों तक में चकाचौंध पैदा कर दी। उन्हें भी इस तेजस्विता देवी को सिर झुकाना पड़ा। वे वहाँ से उसी समय आये और वृषभसेना को एक मूल्यवान् सिंहासन पर अधिष्ठित कर उन्होंने उस मनुष्य रूपधारिणी पवित्रता की मूर्तिमान देवी की बड़े भक्ति भावों से पूजा की, उसकी जय-जयकार मनाई, बहुत सत्य

तस्माच्छीलं जिनेन्द्रोक्तं सर्वपापप्रणाशनम्। मनोमर्कटं रुद्ध्वा पालनीयं बुधोत्तमैः ॥७९॥
तच्छ्रुत्वा शीलमाहात्म्यमुग्रसेनो महीपतिः। पश्चातापं तदा कृत्वा तामानेतुं गतः सतीम् ॥८०॥
आगच्छन्त्या महासत्या तया वैराग्यभावतः। दृष्टो महामुनिस्तत्र वनमध्ये गुणान्वितः ॥८१॥
नाम्ना गुणधरो धीरः सावधिज्ञानलोचनः। तं प्रणम्य लसद्भक्त्या पृष्टो वृषभसेनया ॥८२॥
स्वामिन्पुराभवे किं च कृतं कर्म शुभाशभम्। मया तद् ब्रूहि योगीन्द्र दयारससरित्पते ॥८३॥
तन्निशम्य मुनिः प्राह शृणु पुत्रि गदाम्यहम्। त्वं पूर्वस्मिन्भवेऽत्रैव जातासि ब्राह्मणात्मजा ॥८४॥
नागश्रीर्नामतो राजकीये देवकुले सदा। सम्मार्जनं करोष्येव मुनीन्द्रश्चैकदा महान् ॥८५॥
मुनिदत्तोभिधानेन समागत्य निजेच्छया। तत्र निर्वातगर्त्तायां प्राकाराभ्यन्तरे तदा ॥८६॥
अपराह्ले सपर्यंक-कायोत्सर्गेण संस्थितः। त्वया चाज्ञानभावेन रुष्टया भणितो मुनिः ॥८७॥

है, पवित्रशील के प्रभाव से सब कुछ हो सकता है। यही शील आग को जल, समुद्र को स्थल, शत्रु को मित्र, दुर्जन को सज्जन और विष को अमृत के रूप में परिणत कर देता है। शील का प्रभाव अचिन्त्य है। इसी शील के प्रभाव से धन-सम्पत्ति, कीर्ति, पुण्य, ऐश्वर्य, स्वर्ग-सुख आदि जितनी संसार में उत्तम वस्तुएँ हैं वे सब अनायास बिना परिश्रम किए प्राप्त हो जाती हैं। न यही किन्तु शीलवान् मनुष्य मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे अपने चंचल मनरूपी बन्दर को वश कर उसे कहीं न जाने देकर पवित्र शीलव्रत की, जिसे कि भगवान् ने सब पापों का नाश करने वाला बतलाया है, रक्षा में लगावें ॥६५-७९॥

वृषभसेना के शील का माहात्म्य जब उग्रसेन को जान पड़ा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। अपनी बे-समझी पर वे बहुत पछताए। वृषभसेना के पास जाकर उससे उन्होंने अपने इस अज्ञान की क्षमा माँगी और महल चलने के लिए उससे प्रार्थना की। यद्यपि वृषभसेना ने पहले यह प्रतिज्ञा की थी कि इस कष्ट से छुटकारा पाते ही मैं योगिनी बनकर आत्महित करूँगी और इस पर वह दृढ़ भी थी परन्तु इस समय जब खुद महाराज उसे लिवाने को आए तब उनका अपमान न हो; इसलिए उसने एक बार महल जाकर एक-दो दिन बाद फिर दीक्षा लेना निश्चय किया। वह बड़ी वैरागिन होकर महाराज के साथ महल आ रही थी। पर जिसके मन में जैसी भावना होती है और वह यदि सच्चे हृदय से उत्पन्न हुई होती है वह नियम से पूरी होती ही है। वृषभसेना के मन में जो पवित्र भावना थी वह सच्चे संकल्प से की गई थी। इसलिए उसे पूरी होना ही चाहिए था और वह हुई भी। रास्ते में वृषभसेना को एक महा तपस्वी और अवधिज्ञानी गुणधर नाम के मुनिराज के पवित्र दर्शन हुए। वृषभसेना ने बड़ी भक्ति से उन्हें हाथ जोड़ सिर नवाया। इसके बाद उसने उनसे पूछा-हे दया के समुद्र योगिराज! क्या आप कृपाकर मुझे यह बतलावेंगे कि मैंने पूर्व जन्मों में क्या-क्या कर्म किए हैं, जिनका मुझे यह फल भोगना पड़ा? मुनि बोले-पुत्री, सुन तुझे तेरे पूर्व जन्म का हाल सुनाता हूँ। तू पहले जन्म में ब्राह्मण की लड़की थी। तेरा नाम नागश्री था। इस राजघराने में तू बुहारी दिया करती

कटकान्मे समायातो राजात्रैवागमिष्यति। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ नग्न त्वं करोम्यत्र सुनिर्मलम् ॥८८॥
सम्मार्जनं तदा स्वामी महाध्यानेन संस्थितः। स धीरो मेरुवद्गाढं न चचाल स्वयोगतः ॥८९॥
ततस्त्वयाविवेकिन्या कतवारैर्महामुनेः। तस्योपरि क्रुधा कष्टं पूरयित्वा कृतं सुधीः ॥९०॥
सम्मार्जनं जगत्पूज्यो यो मुनिः परमार्थतः। तस्य किं क्रियते कष्टं धिग्विमूढस्य चेष्टितम् ॥९१॥
प्रभाते चागतेनैव राज्ञा तत्र स्वलीलया। क्रीडां प्रकुर्वता वीक्ष्य तं प्रदेशं महाद्भुतम् ॥९२॥
उच्छ्वाससहितं चैव निःश्वाससहितं तथा। उत्खन्य स मुनिस्तेन शीघ्रं निस्सारितो मुदा ॥९३॥
त्वया तदा तमालोक्य मुनिं प्रशममन्दिरम्। आत्मनिन्दां तरां कृत्वा रुचिं धर्मे विधाय च ॥९४॥
महादरेण तस्यैव मुनिनाथस्य निर्मलम्। कृतं चौषधदानं हि महापीडाप्रशान्तये ॥९५॥
वैयावृत्यं विधायोच्चैः सर्वक्लेशविनाशनम्। पुत्रि तेनैव पुण्येन मृत्वेह त्वं गुणान्विता ॥९६॥
पुत्री धनपतेर्जाता धनश्रीकुक्षिसंभवा। सती वृषभसेनाख्या विख्याता भुवनत्रये ॥९७॥
विशिष्टौषधदानेन संजाता तेऽतिनिर्मला। सर्वौषधर्द्धि सर्वेषां रोगाणां नाशकारिणी ॥९८॥
कतवारेण यत्स्वामी पूरितो मुग्धया त्वया। तत्पापेनैव लोकेऽभूद्वृथा ते च कलंकता ॥९९॥

थी। एक दिन मुनिदत्त नाम के योगिराज महल के कोट के भीतर एक वायु रहित पवित्र गड्ढे में बैठे ध्यान कर रहे थे। समय सन्ध्या का था। इसी समय तू बुहारी देती हुई इधर आई तूने मूर्खता से क्रोध कर मुनि से कहा—ओ नंगे ढोंगी, उठ यहाँ से, मुझे झाड़ने दे। आज महाराज इसी महल में आयेंगे। इसलिए इस स्थान को मुझे साफ करना है। मुनि ध्यान में थे, इसलिए वे उठे नहीं और न ध्यान पूरा होने तक उठ ही सकते थे वे वैसे के वैसे ही अडिग बैठे रहे, इससे तुझे और अधिक गुस्सा आया। तूने तब सब जगह का कूड़ा-कचरा इकट्ठा कर मुनि को उससे ढँक दिया। उसके बाद तू चली गई। बेटा तू तब मूर्ख थी, कुछ समझती न थी। पर तूने वह काम बहुत बुरा किया था। तू नहीं जानती थी कि साधु-संत तो पूजा करने योग्य होते हैं, उन्हें कष्ट देना उचित नहीं। जो कष्ट देते हैं वे बड़े मूर्ख और पापी हैं। अस्तु, सबेरे राजा आए। उनकी नजर उस कचड़े के ढेर पर पड़ गई। मुनि के साँस लेने से उन पर का वह कूड़ा-कचरा ऊँचा-नीचा हो रहा था। उन्हें कुछ सन्देह सा हुआ। तब उन्होंने उसी समय उस कचरे को हटाया। देखा तो उन्हें मुनि दिख पड़े। राजा ने उन्हें निकाल लिया। तुझे जब यह हाल मालूम हुआ और आकर तूने उन शान्ति के मन्दिर मुनिराज को पहले सा ही शान्त पाया। तब तुझे उनके गुणों की कीमत जान पड़ी। तू तब बहुत पछताई अपने कर्मों को तूने बहुत धिक्कारा। मुनिराज से अपने अपराध की क्षमा कराई तब तेरी श्रद्धा उन पर बहुत हो गई मुनि के उस कष्ट के दूर करने को तूने बहुत यत्न किया, उनकी औषधि की और भरपूर सेवा की। उस सेवा के फल से तेरे पापकर्मों की स्थिति बहुत कम रह गई। बहिन, उसी मुनि सेवा के फल से तू इस जन्म में धनपति सेठ की लड़की हुई, तूने जो मुनि को औषधिदान दिया था उससे तो तुझे वह सर्वौषधि प्राप्त हुई जो तेरे स्नान के जल से कठिन से कठिन रोग क्षण-भर में नाश हो जाते हैं और मुनि को कचरे

तस्मात्पुत्रि न युक्तैव साधुपीडा कदाचन। स्वर्गमोक्षफलप्राप्त्यै कर्त्तव्यं साधुसेवनम् ॥१००॥
इति श्रुत्वा मुनेर्वाक्यं जगत्तापनिवारणम्। श्रीमद्वृषभसेना सा सद्वैराग्यपराभवत् ॥१०१॥
ततश्च परलोकाय मोचयित्वा निजं मुदा। राजादीनां क्षमां कृत्वा भवक्लेशविनाशिनीम् ॥१०२॥
दीक्षां गुणधराख्यस्य तस्य पार्श्वे सुखप्रदाम्। नत्वा मुनेः पदाम्भोजं संजग्राह विचक्षणा ॥१०३॥
यथा वृषभसेना सा संजातौषधदानतः। सर्वौषधर्द्धिसम्पन्ना तथा तत्क्रियते बुधैः ॥१०४॥
गुणधरयतिनोक्तं यच्चरित्रं पवित्रं सकलभुवनसिद्धं तन्निशम्य प्रभव्याः।
जिनपतिकथितेऽस्मिन्सारधर्मे बभूवुः परमरुचिपरास्ते सा सती वः पुनातु ॥१०५॥

इति कथाकोशे सुपात्रौषधदानफलप्राप्तश्रीवृषभसेनाख्यानं समाप्तम्।

१११. शास्त्रदानफलप्राप्ताख्यानम्

नत्वा श्रीमज्जिनं देवं संसाराम्बुधितारणम्। वक्ष्येहं श्रुतदानस्योपाख्यानं सौख्यकारणम् ॥१॥
भारतीं भुवनज्येष्ठां नमामि जिनसंभवाम्। अज्ञानपटलानां या सच्छलाका विनाशिनी ॥२॥

से ढक कर जो उन पर घोर उपसर्ग किया था, उससे तुझे इस जन्म में झूठा कलंक लगा। इसलिए बहिन, साधुओं को कभी कष्ट देना उचित नहीं किन्तु ये स्वर्ग या मोक्ष सुख की प्राप्ति के कारण हैं, इसलिए इनकी तो बड़ी भक्ति और श्रद्धा से सेवा-पूजा करनी चाहिए। मुनिराज द्वारा अपना पूर्वमत सुनकर वृषभसेना का वैराग्य और बढ़ गया। उसने फिर महल पर न जाकर अपने स्वामी से क्षमा कराई और संसार की सब माया-ममता का पेचीदा जाल तोड़कर परलोक-सिद्धि के लिए इन्हीं गुणधर मुनि द्वारा योग-दीक्षा ग्रहण कर ली। जिस प्रकार वृषभसेना ने औषधिदान देकर उसके फल से सर्वौषधि प्राप्त की उसी तरह और बुद्धिमानों को भी उचित है कि वे जिसे जिस दान की जरूरत समझें उसी के अनुसार सदा हर एक की व्यवस्था करते रहें। दान महान् पवित्र कार्य हैं और पुण्य का कारण है ॥८०-१०४॥

गुणधर मुनि के द्वारा वृषभसेना का पवित्र और प्रसिद्ध चरित्र सुनकर बहुत से भव्यजनों ने जैनधर्म को धारण किया, जिन को जैनधर्म के नाम तक से चिढ़ थी। वे भी उससे प्रेम करने लगे। इन भव्यजनों को तथा मुझे सती वृषभसेना पवित्र करें, हृदय में चिरकाल से स्थान से किए रोग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, मत्सरता आदि दुर्गुणों को, जो आत्मप्राप्ति से दूर रखने वाले हैं, नाश करें उनकी जगह पवित्रता की प्रकाशमान ज्योति को जगावें ॥१०५॥

१११. शास्त्र-दान की कथा

संसार-समुद्र से पार करने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर सुख प्राप्ति की कारण शास्त्र-दान की कथा लिखी जाती है ॥१॥

मैं उस भारती सरस्वती को नमस्कार करता हूँ, जिसके प्रकटकर्ता जिनभगवान् हैं और जो आँखों के आड़े आने वाले, पदार्थों का ज्ञान न होने देने वाले अज्ञान-पटल को नाश करने वाली सलाई है।

मुनीनां जितमोहानां सद्रत्नत्रयशालिनाम्। पादपद्मानि सद्मानि पद्मायाः प्रणमाम्यहम् ॥३॥
इति श्रीजिनवाग्देवीगुरून्नत्वा प्रकथ्यते। शृण्वन्तु सुधियो भव्या ज्ञानदानकथानकम् ॥४॥
यज्ज्ञानं सर्वजन्तूनां लोचनं परमोत्तमम्। तत्पात्राय महाभक्त्या दीयते किमतः परम् ॥५॥
ज्ञानेन विमला कीर्तिर्ज्ञानेन परमं सुखम्। ज्ञानेन भुक्तिमुक्ती च प्राप्यते तन्निषेवणात् ॥६॥
सम्यग्ज्ञानं जिनेन्द्रोक्तं विरोधपरिवर्जितम्। सर्वथा भक्तितो नित्यं सेव्यं भव्यैः शुभश्रिये ॥७॥
दानैर्मानैर्जगत्सारपूजनैः सप्रभावनैः। पठनैः पाठनैर्ज्ञानमाराध्य श्रीजिनोदितम् ॥८॥

भावार्थ–नेत्ररोग दूर करने के लिए जैसे सलाई द्वारा सूरमा लगाया जाता है या कोई सलाई ऐसी वस्तुओं की बनी होती है जिसके द्वारा सब नेत्र–रोग नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह अज्ञानरूपी रोग को नष्ट करने के लिए सरस्वती–जिनवाणी सलाई का काम देने वाली है। इसकी सहायता से पदार्थों का ज्ञान बड़े सहज में हो जाता है ॥२॥

उन मुनिराजों को मैं नमस्कार करता हूँ, जो मोह को जीतने वाले हैं, रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विभूषित हैं और जिनके चरण–कमल लक्ष्मी के–सब सुखों के स्थान हैं ॥३॥

इस प्रकार देव, गुरु और शास्त्र को नमस्कार कर शास्त्रदान करने वाले की कथा संक्षेप में यहाँ लिखी जाती है। जिससे कि इसे पढ़कर सत्पुरुषों के हृदय में ज्ञानदान की पवित्र भावना जागृत हो। ज्ञान जीवमात्र का सर्वोत्तम नेत्र है। जिसके यह नेत्र नहीं, उसके चर्म नेत्र होने पर भी वह अन्धा है, उसके जीवन का कुछ मूल्य नहीं होता। इसलिए अकिंचित्कर जीवन को मूल्यवान् बनाने के लिए ज्ञान–दान देना चाहिए। यह दान सब दानों का राजा हैं और दानों द्वारा थोड़े समय की और एक ही जीवन की ख्वाहिशें मिटेंगी, पर ज्ञान–दान से जन्म–जन्म की ख्वाहिशें मिटकर वह दाता और दान लेने वाला ये दोनों ही उस अनन्त स्थान को पहुँच जाते हैं, जहाँ ज्ञान के सिवा कुछ नहीं है, ज्ञान ही जिनका आत्मा हो जाता है। यह हुई परलोक की बात। इसके सिवा ज्ञानदान से इस लोक में भी दाता की निर्मल कीर्ति चारों ओर फैल जाती है। सारा संसार उसकी शत–मुख से बड़ाई करता है। ऐसे लोग जहाँ जाते हैं। वहीं उनका मनमाना आदरमान होता है। इसलिए ज्ञान–दान भुक्ति और मुक्ति इन दोनों का ही देने वाला है। अतः भव्यजनों को उचित है–उनका कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञान–दान करें और दूसरों को भी इस पवित्र मार्ग में आगे करें। इस ज्ञान–दान के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की यह है कि यह सम्यक्त्वपने को लिए हुए हो अर्थात् ऐसा हो कि जिससे किसी जीव का अहित, बुरा न हो, जिसमें किसी तरह का विरोध या दोष न हो, क्योंकि कुछ लोग उसे भी ज्ञान बतलाते हैं, जिसमें जीवों की हिंसा को धर्म कहा गया है, धर्म के बहाने जीवों को अकल्याण का मार्ग बतलाया जाता है और जिसमें कहीं कुछ कहा गया है और कहीं कुछ कहा गया है जो परस्पर विरोधी है। ऐसा ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं

वाचनापृच्छनासारानुप्रेक्षाम्नायसंयुतैः। धर्मोपदेशनैश्चैवं पञ्चधा ज्ञानभावना ॥९॥
कर्त्तव्या हि महाभव्यैः केवलज्ञानहेतवे। किमत्र बहुनोक्तेन जिनज्ञानं जगद्धितम् ॥१०॥
अनेकैर्भव्यमुख्यैश्च ज्ञानदानं कृतं पुरा। तेषां नामान्यपि प्राणी वक्तुं लोकेऽत्र कः क्षमः ॥११॥
कौण्डेशस्य महीभर्त्तुः प्रसिद्धा भुवनत्रये। या कथा ज्ञानदानस्य तामर्हत्सूत्रतो ब्रुवे ॥१२॥
अथेह भरतक्षेत्रे जिनधर्मपवित्रिते। जातः कुरुमरिग्रामे गोपो गोविन्दनामभाक् ॥१३॥
तेनैकदा महाटव्यां दृष्टं कोटरमध्यगम्। श्रीजैनं पुस्तकं पूतं पवित्रीकृतभूतलम् ॥१४॥
तस्मादादाय सम्पूज्य भक्त्या दत्तं महात्मने। पद्मनन्दिमुनीन्द्राय वन्दिताय सुरेशिना ॥१५॥

किन्तु मिथ्याज्ञान है। इसलिए सच्चे-सम्यग्ज्ञान दान देने की आवश्यकता है। जीव अनादि से कर्मों के वश हुआ अज्ञानी बनकर अपने निज ज्ञानमय शुद्ध स्वरूप को भूल गया है और माया-ममता के पेंचीले जाल में फँस गया है, इसलिए प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि जिससे यह अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर सके। ऐसी दशा में इसे असुख का रास्ता बतलाना उचित नहीं है। सुख प्राप्त करने का सच्चा प्रयत्न सम्यग्ज्ञान है। इसलिए दान, मान पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन आदि से इस सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करने की पाँच भावनाएँ ये हैं-उन्हें सदा उपयोग में लाते रहना चाहिए। वे भावनाएँ हैं-

वाचना-पवित्र ग्रन्थ का स्वयं अध्ययन करना या दूसरे पुरुषों को कराना।

पृच्छना-किसी प्रकार के सन्देह को दूर करने के लिए परस्पर में पूछ-ताछ करना।

अनुप्रेक्षा-शास्त्रों में जो विषय पढ़ा हो या सुना हो उसका बार-बार मनन-चिन्तन करना।

आम्नाय-पाठ का शुद्ध पढ़ना या शुद्ध ही पढ़ाना और धर्मोपदेश-पवित्र धर्म का भव्यजन को उपदेश करना। ये पाँचों भावनाएँ ज्ञान बढ़ाने की कारण हैं। इसलिए इनके द्वारा सदा अपने ज्ञान की वृद्धि करते रहना चाहिए। ऐसा करते रहने से एक दिन वह आयेगा जब कि केवलज्ञान भी प्राप्त हो जाएगा। इसीलिए कहा गया है कि ज्ञान सर्वोत्तम दान है और यही संसार के जीवमात्र का हित करने वाला है। पुरा काल से जिन-जिन भव्य जनों ने ज्ञानदान किया आज तो उनके नाम मात्र का उल्लेख करना भी असंभव है, तब उनका चरित लिखना तो दूर रहा। अस्तु, कौण्डेश का चरित ज्ञानदान करने वालों में अधिक प्रसिद्ध है। इसलिए उसी का चरित संक्षेप में लिखा जाता है ॥४-१२॥

जिनधर्म के प्रचार या उपदेशादि से पवित्र हुए भारतवर्ष में कुरुमरी गाँव में गोविन्द नाम का एक ग्वाला रहता था। उसने एक बार जंगल में एक वृक्ष की कोटर में जैनधर्म का एक पवित्र ग्रन्थ देखा। उसे वह अपने घर पर ले आया और रोज-रोज उसकी पूजा करने लगा। एक दिन पद्मनंदि नाम के महात्मा को गोविन्द ने जाते देखा। इसने वह ग्रन्थ इन मुनि को भेंट कर दिया ॥१३-१५॥

पूर्वं तेनैव शास्त्रेण तत्राटव्यां जितेन्द्रियाः। पूर्वभट्टारकाः केचित्कृत्वा व्याख्यां जगद्धिताम् ॥१६॥
कारयित्वा महापूजां भाक्तिकैः स्वर्गमोक्षदाम्। विधाय श्रीजिनेन्द्राणां सद्धर्मे च प्रभावनाम् ॥१७॥
भव्यान्सम्बोध्य सन्मार्गं प्रकाश्य श्रीजिनोदितम्। पुनस्तं कोटरे धृत्वा गतास्ते ध्वस्तकल्मषाः ॥१८॥
बाल्यात्प्रभृति तेनैव गोविन्देन शुभप्रदा। तस्यैव पुस्तकस्योच्चैश्चक्रे पूजा सदा मुदा ॥१९॥
एकदाथ स गोविन्दो यमव्यालेन भक्षितः। कः को न वंचितो लोके यमेन प्राणहारिणा ॥२०॥
मृत्वा तत्रैव संजातः स निदानेन गोपकः। तेन पुण्येन संयुक्तो ग्रामकूटस्य नन्दनः ॥२१॥
सुखेन वर्द्धितो नित्यं जनयन्प्रीतिमद्भुताम्। जनानां शुभपुण्येन सुभगो जनरंजनः ॥२२॥
एकदासौ तमालोक्य पद्मनन्दिमुनीश्वरम्। जातो जातिस्मरो ज्ञात्वा पूर्वजन्मविचेष्टितम् ॥२३॥
नत्वा तस्य पदाम्भोजं महाधर्मानुरागतः। दीक्षां जग्राह पूतात्मा परमानन्दनिर्भरः ॥२४॥
कालेनैव तपस्तप्त्वा स गोविन्दचरो मुनिः। ततः प्राणात्यये जातः कौण्डेशो भूमिपस्तराम् ॥२५॥
बालेन विजितारातिस्तेजसेव दिवाकरः। स्वरूपेणेव कन्दर्पः कान्त्या पूर्णेन्दुसन्निभः ॥२६॥
महाविभवसम्पन्नो महासौभाग्यमण्डितः। महासौख्यनिवासोभून्महाकीर्त्तिविराजितः ॥२७॥

यह जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ द्वारा पहले भी मुनियों ने यहाँ भव्यजनों को उपदेश किया है, इसके पूजा महोत्सव द्वारा जिनधर्म की प्रभावना की है और अनेक भव्यजनों को कल्याण मार्ग में लगाकर सच्चे मार्ग का प्रकाश किया है। अन्त में वे इस ग्रन्थ को इसी वृक्ष की कोटर में रखकर विहार कर गए हैं। उनके बाद जबसे गोविन्द ने इस ग्रन्थ को देखा तभी से वह इसकी भक्ति और श्रद्धा से निरन्तर पूजा किया करता था। इसी समय अचानक गोविन्द की मृत्यु हो गई वह निदान करके इसी कुरुमरी गाँव में गाँव के चौधरी के यहाँ लड़का हुआ। इसकी सुन्दरता देखकर लोगों की आँखें इस पर से हटती ही न थी, सब इससे बड़े प्रसन्न होते थे। लोगों के मन को प्रसन्न करना, उनकी अपने पर प्रीति होना यह सब पुण्य की महिमा है। इसके पल्ले में पूर्व जन्म का पुण्य था। इसलिए इसे ये सब बातें सुलभ थीं ॥१६-२२॥

एक दिन उसने उन्हीं पद्मनन्दि मुनि को देखा, जिन्हें कि इस गोविन्द ने ग्वाले के भव में ग्रन्थ भेंट किया था। उन्हें देखकर इसे जातिस्मरण हो गया। मुनि को नमस्कार कर सब धर्मप्रेम से उसने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। इसकी प्रसन्नता का कुछ पार न रहा। यह बड़े उत्साह से तपस्या करने लगा। दिनों-दिन उसके हृदय की पवित्रता बढ़ती ही गई। आयु के अन्त में शान्ति से मृत्यु लाभ कर वह पुण्य के उदय से कौण्डेश नाम का राजा हुआ। कौण्डेश बड़ा ही वीर था। तेज में वह सूर्य से टक्कर लेता था। सुन्दरता उसकी इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसे देखकर कामदेव को भी नीचा मुँह कर लेना पड़ता था। उसकी स्वभाव-सिद्ध कान्ति को देखकर तो लज्जा के मारे बेचारे चन्द्रमा का हृदय ही काला पड़ जाता। शत्रु उसका नाम सुनकर काँपते थे। वह बड़ा ऐश्वर्यवान् था, भाग्यशाली था, यशस्वी था और सच्चा धर्मज्ञ था। वह अपनी प्रजा का शासन प्रेम और नीति के साथ करता था। अपनी सन्तान के माफिक ही उसका प्रजा पर प्रेम था। इस प्रकार बड़े ही सुख-शान्ति से उसका समय बीतता

भुञ्जानो विविधान्भोगान्पालयन्पुत्रवत्प्रजा:। चतुष्प्रकारजैनेन्द्रधर्मं कुर्वन्सुखं स्थित: ॥२८॥
एवं काले गलत्युच्चै: पूर्वपुण्येन सौख्यत:। कदाचित्सोपि संवीक्ष्य कौण्डेश: कारणं महत् ॥२९॥
निस्सारश्चैष संसारो भोगा रोगा इवापरे। अस्थिरा सम्पदा सर्वा चञ्चला भाति मोहिनी ॥३०॥
शरीरं पलसन्दोहसंभृतं दु:खराशिदम्। बीभत्सु पूतिसंयुक्तं क्षणादेव परिक्षयि ॥३१॥
इति ज्ञात्वा सुधीश्चित्ते जैनतत्त्वविदाम्वर:। महावैराग्यसंपन्नो राज्यं त्यक्त्वा त्रिधा द्रुतम् ॥३२॥
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां शर्मकोटिविधायिनीम्। नत्वा गुरुं तपो धृत्वा जिनोक्तं दोषवर्जितम् ॥३३॥
संजात: पूर्वपुण्येन मुनीन्द्र: श्रुतकेवली। अहो भव्या न तच्चित्रं भवेद्ज्ञानेन केवली ॥३४॥
यथासौ मुनिनाथोभूच्छ्रुतज्ञानविराजित:। ज्ञानदानात्तथा भव्यै: कर्त्तव्यं स्वात्मनो हितम् ॥३५॥
ये भव्या: श्रीजिनाधीशज्ञानसेवां जगद्धिताम्। महाभक्त्या प्रकुर्वन्ति स्नपनै: पूजनैस्तथा ॥३६॥
स्तवनैर्जपनैर्नित्यं पठनै: पाठनै: शुभै:। लिखनैर्लेखनै: पात्रैर्दानैर्मानैर्विशेषत: ॥३७॥
महाप्रभावनाङ्गैश्च सारसम्यक्त्वहेतुभि:। तेषां सुखानि भव्यानां भवन्त्येव सहस्त्रश: ॥३८॥
धनं धान्यं कुलं गोत्रं पवित्रं चारुमङ्गलम्। कीर्ति: स्वायुर्महाज्ञानं विमला: सर्वसम्पदा: ॥३९॥
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वे सारमनोरथा:। स्वर्गमोक्षप्रसौख्यानि प्राप्यन्ते ज्ञानसेवया ॥४०॥
अष्टादश महादोषै-र्मुक्तो जिननायक:। तदुक्तं वचनं नित्यं भावितं भवति श्रिये ॥४१॥

था ॥२३-२८॥

इस तरह कौण्डेश का बहुत समय बीत गया। एक दिन उसे कोई ऐसा कारण मिल गया कि जिससे उसे संसार से बड़ा वैराग्य हो गया। वह संसार को अस्थिर, विषयभोगों को रोग के समान, सम्पत्ति को बिजली की तरह चंचल-तत्काल देखते-देखते नष्ट होने वाली, शरीर को मांस, मल, रुधिर आदि महा अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ, दु:खों का देने वाला, घिनौना और नाश होने वाला जानकर सबसे उदासीन हो गया। इस जैनधर्म के रहस्य को जानने वाले कौण्डेश के हृदय में वैराग्य भावना की लहरें लहराने लगी। उसे अब घर में रहना कैद खाने के समान जान पड़ने लगा। वह राज्याधिकार पुत्र को सौंपकर जिनमन्दिर गया। वहाँ उसने जिन भगवान् की पूजा की, जो सब सुखों की कारण है। इसके बाद निर्ग्रन्थ गुरु को नमस्कार कर उनके पास वह दीक्षित हो गया। पूर्व जन्म में कौण्डेश ने जो दान किया था, उसके फल से वह थोड़े ही समय में श्रुतकेवली हो गया। वह श्रुतकेवली होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि ज्ञानदान तो केवलज्ञान का भी कारण है। जिस प्रकार ज्ञान-दान से एक ग्वाला श्रुतज्ञानी हुआ उसी तरह अन्य भव्य पुरुषों को भी ज्ञान-दान देकर, अपना आत्महित करना चाहिए। जो भव्यजन संसार के हित करने वाले इस ज्ञान-दान की भक्तिपूर्वक पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन लिखने-लिखाने, दान-मान, स्तवन-जपन आदि सम्यक्त्व के कारणों से आराधना किया करते हैं वे धन, जन, यश, ऐश्वर्य, उत्तम कुल, गोत्र, दीर्घायु आदि का मनचाहा सुख प्राप्त करते हैं। अधिक क्या कहा जाए किन्तु इसी ज्ञानदान द्वारा वे स्वर्ग या मोक्ष का सुख भी प्राप्त कर सकेंगे। अठारह दोष रहित जिन भगवान् के ज्ञान का मनन, चिन्तन करना उच्च

मयेति कथिता ज्ञान-वानस्यैषा कथा शुभा। अस्तु मे भवतां भव्या केवलज्ञानहेतवे ॥४२॥

गच्छे श्रीमति मूलसंघविमले सारस्वते सच्छुभे
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरू रत्नत्रयालंकृतः।
तच्छिष्येण कथा जिनेन्द्रकथिता श्रीज्ञानदानोद्भवा
भव्यानां भवशान्तये विरचिता भूयात्सदा शर्मदा ॥४३॥

इति कथाकोशे सुपात्रदत्तज्ञानदानफलप्राप्तकौण्डेशनृपाख्यानं समाप्तम्।

११२. अभयदानफलप्राप्ताख्यानम्

श्रीमत्पादद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभश्रिये। कथामभयदानस्य भक्त्यार्हत्सूत्रतो ब्रुवे ॥१॥
सरस्वती श्रिये मेस्तु भक्त्या भव्यशतार्चिता। महाश्रुताब्धिपाराय सतां या नौ मतल्लिका ॥२॥
स्मरामि शान्तये नित्यं मुनीनां ब्रह्मशालिनाम्। येषां सद्भक्तितो नूनं सन्मार्गः सुखतो नृणाम् ॥३॥
इत्याप्तगुणसंस्तोत्रमंगलेन मयाधुना। कथा वसतिदानस्य दृष्टान्तेन निगद्यते ॥४॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे पवित्रे धर्मकर्मभिः। देशो मालवसंज्ञोभून्महाशोभाशतान्वितः ॥५॥
धनैर्धान्यैर्जनैर्नित्यं नानावस्तुसमुच्चयैः। भाति यः सम्पदासारैर्निवासो वा जगच्छ्रियः ॥६॥

सुख का कारण है ॥२९-४१॥

मैंने जो यह दान की कथा लिखी है वह आप लोगों को तथा मुझे केवलज्ञान के प्राप्त करने में सहायक हो ॥४२॥

मूलसंघ सरस्वती गच्छ में भट्टारक मल्लिभूषण हुए। वे रत्नत्रय से युक्त थे। उनके प्रिय शिष्य ब्रह्मनेमिदत्त ने यह ज्ञानदान की कथा लिखी है। यह निरन्तर आप लोगों के संसार की शान्ति करें अर्थात् जन्म, जरा, मरण मिटाकर अनन्त सुखमय मोक्ष प्राप्त कराये ॥४३॥

११२. अभयदान की कथा

मोक्ष की प्राप्ति के लिए भगवान् के चरणों को नमस्कार कर अभय-दान द्वारा फल प्राप्त करने वाली की कथा जैनग्रन्थों के अनुसार यहाँ संक्षेप में लिखी जाती है ॥१॥

भव्यजनों द्वारा भक्ति से पूजी जाने वाली सरस्वती श्रुतज्ञानरूपी महासमुद्र के पार पहुँचाने के लिए नाव की तरह मेरी सहायता करें। परब्रह्म स्वरूप आत्मा का निरन्तर ध्यान करने वाले उन योगियों को शान्ति के लिए मैं सदा याद करता हूँ, जिनकी केवल भक्ति से भव्यजन सन्मार्ग लाभ करते हैं, सुखी होते हैं। इस प्रकार मंगलमय जिनभगवान्, जिनवाणी और जैन योगियों का स्मरण कर मैं वसतिदान-अभयदान की कथा लिखता हूँ ॥२-४॥

धर्म-प्रचार, धर्मोपदेश, धर्म-क्रिया आदि द्वारा पवित्रता लाभ किए हुए भारतवर्ष में मालवा में बहुत काल से प्रसिद्ध और सुन्दर देश है। अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पदा और ऐश्वर्य से वह ऐसा जान

वनैरारामसंयुक्तैः सरिद्गिरिसमन्वितैः। पद्माकरैश्च संकीर्णो देवानामप्रियः प्रियः ॥७॥
नरनार्योवसन्त्युच्चै रूपलावण्यमण्डिताः। महाभोगशतैर्युक्ता यत्र पुण्यप्रसादतः ॥८॥
यत्र सद्मानि भान्त्युच्चैर्जिनानां जितकर्मणाम्। ग्रामे ग्रामे महासार-पर्वतेषु वने वने ॥९॥
प्रोत्तुङ्गशिखरैर्नित्यं कनत्काञ्चनसद्घटैः। ध्वजोत्करकरैर्यानि दर्शयन्तीव सत्पथम् ॥१०॥
येषां दर्शनमात्रेण पवित्रजिनसद्मनाम्। क्षणात्पापं प्रयात्येव तत्र किं वर्ण्यते परम् ॥११॥
यत्र श्रीमुनयो नित्यं रत्नत्रयविराजिताः। भान्ति सत्तपसा स्वस्था मार्गा वा शिवसद्मनः ॥१२॥
लसत्युच्चैर्जिनेन्द्राणां यत्र धर्मः सुशर्मदः। सम्यक्त्वरत्नसंपूतो दानपूजाव्रतान्वितः ॥१३॥
दोषैर्मुक्तो जिनाधीशो देवदेवेन्द्रपूजितः। अष्टादशभिरित्यास्था केवलज्ञानशर्मभाक् ॥१४॥
दशलाक्षणिको धर्मो गुरुनिर्ग्रन्थलक्षणः। तत्त्वे जिनोदिते श्रद्धा सम्यक्त्वं चेति लक्षणम् ॥१५॥
पूजां श्रीमज्जिनेद्राणां स्वर्मोक्षसुखदायिनीम्। दानं पात्रे महाभक्त्या नित्यं शर्मशतप्रदम् ॥१६॥
सच्छीलमुपवासं च व्रतानि बहुभेदतः। यत्र भव्या विधायेति धर्मं यान्त्येव सद्गतिम् ॥१७॥

पड़ता है मानों सारे संसार की लक्ष्मी यहीं आकर इकट्ठी हो गई है। वह सुख देने वाले बगीचों, प्रकृति-सुन्दर पर्वतों और सरोवरों की शोभा से स्वर्ग के देवों को भी अत्यन्त प्यारा है। वे यहाँ आकर मनचाहा सुख लाभ करते हैं। यहाँ के स्त्री-पुरुष सुन्दरता में अपनी तुलना में किसी को न देखते थे। देश के सब लोग खूब सुखी थे, भाग्यशाली थे और पुण्यवान् थे। मालवे के सब शहरों में, पर्वतों में और सब वनों में बड़े-बड़े ऊँचे विशाल और भव्य जिनमन्दिर बने हुए थे। उनके ऊँचे शिखरों में लगे हुए सोने के चमकते कलश बड़े सुन्दर जान पड़ते थे। रात में तो उनकी शोभा बड़ी ही विलक्षणता धारण करती थी। वे ऐसे जान पड़ते थे मानों स्वर्गों के महलों में दीये जगमगा रहे हों। हवा के झकोरों से इधर-उधर फड़क रही उन मन्दिरों पर की ध्वजाएँ ऐसी देख पड़ती थीं मानों वे पथिकों को हाथों के इशारे से स्वर्ग जाने का रास्ता बतला रही हैं। उन पवित्र जिन मन्दिरों के दर्शन मात्र से पापों का नाश होता था तब उनके सम्बन्ध में और अधिक क्या लिखें। जिनमें बैठे हुए रत्नत्रय धारी साधु-तपस्वियों को उपदेश करते हुए देखकर यह कल्पना होती थी कि मानों वे मोक्ष के रास्ते हों ॥५-१२॥

मालवे में जिन भगवान् के पवित्र और सुख देने वाले धर्म का अच्छा प्रचार है। सम्यक्त्व की जगह-जगह चर्चा है। अनेक सम्यक्त्व रत्न के धारण करने वाले भव्यजनों से वह युक्त हैं। दान-व्रत, पूजा-प्रभावना आदि वहाँ खूब हुआ करते हैं। वहाँ के भव्यजनों का निर्भ्रान्त विश्वास है कि अठारह दोष रहित जिन भगवान् ही सच्चे देव हैं। वे ही केवलज्ञानी-सर्वज्ञ हैं। उनकी स्वर्ग के देव तक सेवा-पूजा करते हैं। सच्चा धर्म दशलक्षणमय है और उनके प्रकटकर्ता जिनदेव हैं। गुरु परिग्रह रहित और वीतरागी है। तत्त्व वही सच्चा हैं जिसे जिन भगवान् ने उपदेश किया है। वहाँ के भव्यजन अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों में सदा प्रयत्नवान् रहते हैं। वे भगवान् की स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाली पूजा सदा करते हैं, पात्रों को भक्ति से पवित्र दान देते हैं, व्रत, उपवास, शील, संयम को पालते हैं और

तत्रोद्भवे घटग्रामे सम्पदासारसंभृते। संजातो देविलो नाम्ना कुंभकारो धनान्वितः ॥१८॥
तत्रैव च घटग्रामे नाम्ना धर्मिलनापितः। ताभ्यां पथिकलोकानां वासदानायकारितम् ॥१९॥
एकं देवकुलं तत्र देविलेनैकदा मुदा। धर्मार्थं मुनये दत्तो निवासः प्रथमे परः ॥२०॥
धर्मिलेन ततस्तत्र परिव्राजककः कुधीः। समानीय धृतस्ताभ्यां मुनिस्तस्माद्बहिष्कृतः ॥२१॥
सत्यं दुष्टा दुराचारा ये नराः पापवासिताः। तेषां नैव प्रियः साधुरुलोकानामिवांशुमान् ॥२२॥
ततश्च मुनिनाथोऽसौ तस्मान्निर्गत्य लीलया। वृक्षमूले स्थितो रात्रौ स्वशरीरेऽपि निस्पृहः ॥२३॥
इन्द्रचन्द्रार्कनागेन्द्रखेचरेन्द्रैः समर्चितः। शीतोष्णदंशमशकैः सहमानः परीषहान् ॥२४॥
प्रभाते तं मुनिं दृष्ट्वा ज्ञात्वा तत्कारणं पुनः। देविलः कुंभकारश्च कुपितो धर्मिलाय सः ॥२५॥
युद्धं कृत्वा तदा रौद्रं हत्वा तौ च परस्परम्। क्रमेण शूकरव्याघ्रौ संजातौ विन्ध्यपर्वते ॥२६॥
यत्रैवास्ते गुहामध्ये स देविलचरः सुखम्। शूकरश्चैकदा तत्र समागत्य स्थितौ मुनी ॥२७॥
द्वौ धीरौ दैवयोगेन पवित्रीकृतभूतलौ। समाधिगुप्तित्रिगुप्ती नाम्ना त्रैलोक्यपूजितौ ॥२८॥
वीक्ष्य तौ यतिनौ जातिस्मरो भूत्वा स शूकरः। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं व्रतं किमपि चाग्रहीत् ॥२९॥

आयु के अन्त में सुख-शांति से मृत्यु लाभ कर सद्गति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मालवा उस समय धर्म का प्रधान केन्द्र बन रहा था, जिस समय की कि यह कथा है ॥१३-१७॥

मालवे में तब एक घटगाँव नाम का सम्पत्ति शाली शहर था। इस शहर में देविल नाम का एक धनी कुम्हार और एक धर्मिल नाम का नाई रहता था। इन दोनों ने मिलकर बाहर के आने वाले यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशाला बनवा दी। एक दिन देविल ने एक मुनि को लाकर इस धर्मशाला में ठहरा दिया। धर्मिल को जब मालूम हुआ तो उसने मुनि को हाथ पकड़ कर बाहर निकाल दिया और वहाँ संन्यासी को लाकर ठहरा दिया। सच है, जो दुष्ट हैं, दुराचारी हैं, पापी हैं, उन्हें साधु-सन्त अच्छे नहीं लगते, जैसे उल्लू को सूर्य। धर्मिल ने मुनि को निकाल दिया, उनका अपमान किया, पर मुनि ने इसका कुछ बुरा न माना। वे जैसे शान्त थे वैसे ही रहे। धर्मशाला से निकल कर वे एक वृक्ष के नीचे आकर ठहर गए। रात इन्होंने वहीं पूरी की। डांस, मच्छर वगैरह का इन्हें बहुत कष्ट सहना पड़ा। इन्होंने सब सहा और बड़ी शान्ति से सहा। सच है, जिनका शरीर से रत्तीभर मोह नहीं उनके लिए तो कष्ट कोई चीज ही नहीं। सबेरे जब देविल मुनि के दर्शन करने को आया और उन्हें धर्मशाला में न देखकर एक वृक्ष के नीचे बैठा देखा तो उसे धर्मिल की इस दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। धर्मिल का सामना होने पर उसने उसे फटकारा। देविल की फटकार धर्मिल न सह सका और बात बहुत बढ़ गई यहाँ तक कि परस्पर में मारामारी हो गई, दोनों ही परस्पर में लड़कर मर मिटे। क्रूर भावों से मरकर ये दोनों क्रम से सूअर और व्याघ्र हुए। देविल का जीव सूअर विंध्य पर्वत की गुफा में रहता था। एक दिन कर्मयोग से गुप्त और त्रिगुप्ति नाम के दो मुनिराज अपने विहार से पृथ्वी को पवित्र करते इसी गुफा में आकर ठहरे। उन्हें देखकर इस सूअर को जातिस्मरण हो गया। इसने उपदेश करते हुए मुनिराज द्वारा धर्म का उपदेश सुन कुछ व्रत ग्रहण किए। व्रत ग्रहण कर यह बहुत सन्तुष्ट हुआ ॥१८-२९॥

तदा मानुष्यमाघ्राय गन्धं तत्रैव चागतः। स नापितचरो व्याघ्रो मुनिभक्षणदुष्टधीः ॥३०॥
शूकरोपि गुहाद्वारे तयो रक्षमतिस्तराम्। स्थित्वा व्याघ्रेण तेनैव समं युद्धं चकार सः ॥३१॥
दन्तैर्नखैः करोद्घातैः कृत्वा युद्धं परस्परं। तौ तत्र मरणं प्राप्तौ तिर्यञ्चौ चातिदारुणम् ॥३२॥
शूकरो मुनिरक्षाभिः प्रायेण शुभयोगतः। कल्पे सौधर्मसंज्ञोभूद्देवो नानार्द्धिको महान् ॥३३॥
निजदेहप्रभाभारैर्निष्काशितमहातमाः। रूपलावण्यसौभाग्यसुरंजितजगन्मनाः ॥३४॥
दिव्याम्बरधरो धीरस्तिरीटादिविभूषणः। स्रग्वी सुकान्तिसंयुक्तो विनिर्जितसुरद्रुमः ॥३५॥
अणिमादिगुणोपेतः सावधिज्ञानलोचनः। पूर्वपुण्यप्रसादेन स देवो दिव्यसौख्यभाक् ॥३६॥
देवाङ्गनागणैर्युक्तः सुरासुरैः सुसेवितः। महाविभवसम्पन्नो महाकल्याणभाजनम् ॥३७॥
सर्वेन्द्रविलसन्मौलिकोटिचर्चितपद्धवाम्। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चनकोविदः ॥३८॥
कृत्रिमाकृत्रिमाणां च जिनेन्द्रवरसद्मनाम्। जिनेन्द्रप्रतिमानां च साक्षात्तीर्थेशिनां सदा ॥३९॥
पूजां प्रीत्या प्रकुर्वाणो लसत्संपत्प्रदायिनीम्। सत्तीर्थेषु महायात्रां दुर्गतिच्छेदकारिणीम् ॥४०॥
महामुनिषु सद्भक्तिं नित्यं साधर्मिकेषु च। सद्वात्सल्यं वितन्वानः स देवः सुखमन्वभूत् ॥४१॥
इति श्रीजिननाथोक्तसारधर्मप्रसादतः। भव्या भवन्ति सर्वत्र सुखिनो नात्र संशयः ॥४२॥

इसी समय मनुष्यों की गन्ध पाकर धर्मिल का जीव व्याघ्र मुनियों को खाने के लिए झपटा हुआ आया। सूअर उसे दूर से देखकर गुफा के द्वार पर आकर डट गया। इसलिए कि वह भीतर बैठे हुए मुनियों की रक्षा कर सके। व्याघ्र ने गुफा के भीतर घुसने के लिए सूअर पर बड़ा जोर का आक्रमण किया। सूअर पहले से ही तैयार बैठा था। दोनों के भावों में बड़ा अन्तर था। एक के भाव थे मुनिरक्षा करने के और दूसरे के उनको खा जाने के। इसलिए देविल का जीव सूअर तो मुनिरक्षा रूप पवित्र भावों से मर कर सौधर्म स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों को धारी देव हुआ। जिसके शरीर की चमकती हुई कान्ति गाढ़े से गाढ़े अन्धकार को नाश करने वाली है, जिसकी रूप-सुन्दरता लोगों के मन को देखने मात्र से मोह लेती है, जो स्वर्गीय दिव्य वस्त्रों और मुकुट, कुण्डल, हार आदि बहुमूल्य भूषणों को पहनता है, अपनी स्वभाव-सुन्दरता से जो कल्पवृक्षों को नीचा दिखाता है, जो अणिमादि ऋद्धि-सिद्धियों का धारक है, अवधिज्ञानी है, पुण्य के उदय से जिसे सब दिव्य सुख प्राप्त हैं, अनेक सुन्दर-सुन्दर देव-कन्याएँ और देवगण जिसकी सेवा में सदा उपस्थित रहते हैं, जो महा वैभवशाली हैं, महा सुखी हैं, स्वर्गों के देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं ऐसे जिन भगवान् की, जिन प्रतिमाओं की और कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिन मन्दिरों की जो सदा भक्ति और प्रेम से पूजा करता है, दुर्गति के दुःखों को नाश करने वाले तीर्थों की यात्रा करता है, महामुनियों की भक्ति करता है और धर्मात्माओं के साथ वात्सल्यभाव रखता है ऐसी उसकी सुखमय स्थिति है। जिस प्रकार वह सूअर धर्म के प्रभाव से उक्त प्रकार सुख का भोगने वाला हुआ उसी प्रकार जो और भव्यजन इस पवित्र धर्म का पालन करेंगे वे भी उसके प्रभाव से सब सुख-संपत्ति लाभ करेंगे। समझिए, संसार में जो-जो धन प्राप्त होता है, स्त्री, पुत्र, सुख, ऐश्वर्य आदि अच्छी-अच्छी आनन्द भोग की वस्तुएँ प्राप्त होती है, उनका कारण एक मात्र

यैर्लोके धनधान्यादि-पुत्रपौत्रादिसम्पदाः। प्राप्यन्ते भो महाभव्या तासां धर्मो हि कारणम् ॥४३॥
पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां पात्रदानं व्रतक्रिया। प्रौषधादिविधिः प्रोक्तः सद्धर्मोयं सतां श्रिये ॥४४॥
स व्याघ्रस्तु महापापी मुनिभक्षणमानसः। मृत्वा तेनैव पापेन संप्राप्तो नरकं कुधीः ॥४५॥
ज्ञात्वेति च महाभव्यैः पुण्यपापफलाफलम्। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मे कार्या मतिः सदा ॥४६॥
इति सदभयदाने पात्रभेदेन मान्ये परमसुखनिदाने ध्वस्तपापारिमाने।
जिनपतिकथितेस्मिन्सारसूत्रे पवित्रे भवति जगति सिद्धा सत्कथेयं श्रिये च ॥४७॥

इति कथाकोशेऽभयदानफलप्राप्तशूकरस्याख्यानं समाप्तम्।

११३. करकण्डुनृपस्याख्यानम्

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं प्रणम्य प्रगदाम्यहम्। करकण्डुनरेन्द्रस्य सच्चरित्रं सुखावहम् ॥१॥
यः पुरा श्रीजिनाधीशं व्रतेनैकेन मुग्धधीः। गोपालोपि समभ्यर्च्य प्राप्तवान्सुखमुत्तमम् ॥२॥
तच्चरित्रं पुराणज्ञैर्यथोक्तं पूर्वसूरिभिः। तेषां पादप्रसादेन संक्षेपेण तथोच्यते ॥३॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे देशे कुन्तलसंज्ञके। पुरे तेरपुरे नीलमहानीलौ नरेश्वरौ ॥४॥
श्रेष्ठी श्रीवसुमित्राख्यो जिनपादाब्जषट्पदः। श्रेष्ठिनी वसुमत्याख्या तस्याभूद्धर्मवत्सला ॥५॥

धर्म है। इसलिए सुख की चाह करने वाले भव्यजनों को जिन-पूजा, पात्र-दान, व्रत, उपवास, शील, संयम आदि धर्म का निरन्तर पवित्र भावों से सेवन करना चाहिए। देविल तो पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग गया और धर्मिल ने मुनियों को खा जाना चाहा था इसलिए वह पाप के फल से मरकर नरक गया। इस प्रकार पुण्य और पाप का फल जानकर भव्यजनों को उचित है कि वे पुण्य के कारण पवित्र जैनधर्म में अपनी बुद्धि दृढ़ करें ॥३०-४६॥

इस प्रकार परम सुख-मोक्ष के कारण, पापों का नाश करने वाले और पात्र-भेद से विशेष आदर योग्य इस पवित्र अभयदान की कथा अन्य जैन शास्त्रों के अनुसार संक्षेप में यहाँ लिखी गई। यह सत्य कथा संसार में प्रसिद्ध होकर सबका हित करे ॥४७॥

११३. करकण्डु राजा की कथा

संसार द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर करकण्डु राजा का सुखमय पवित्र चरित लिखा जाता है ॥१॥

जिसने पहले केवल एक कमल से जिन भगवान् की पूजा कर जो महान् फल प्राप्त किया, उसका चरित जैसा ग्रन्थों में पुराने ऋषियों ने लिखा है उसे देखकर या उनकी कृपा से उसका थोड़ा सार मैं लिखता हूँ ॥२-३॥

नील और महानील तेरपुर के राजा थे। तेरपुर कुन्तल देश की राजधानी थी। यहाँ वसुमित्र नाम का एक जिनभक्त सेठ रहता था। सेठानी वसुमती उसकी स्त्री थी। धर्म से उसे बड़ा प्रेम था। इन सेठ-सेठानी के यहाँ धनदत्त नाम का एक ग्वाला नौकर था। वह एक दिन गाय चराने को जंगल में गया

तद्गोपो धनदत्तश्च कदाचिदटवीं गतः। सहस्त्रदलसंयुक्तं कमलं सरसि स्थितम् ॥६॥
दृष्ट्वा जग्राह तत्रस्था नागकन्या तदावदत्। रे रे गोपाल मे पद्म यद्गृहीतं त्वयाधुना ॥७॥
सर्वोत्कृष्टाय दातव्यं यदीदं वाञ्छसि प्रियम्। ततोसौ नागकन्यायाः प्रतिपद्य वचो ध्रुवम् ॥८॥
तत्सुपद्म समादाय गत्वा स्वश्रेष्ठिनं प्रति। जगौ तद्वृत्तकं सोपि श्रेष्ठी श्रीवसुमित्रवाक् ॥९॥
प्रणम्य भूपतिं प्राह पद्मवृत्तान्तमद्भुतम्। ततः स भूपतिश्चापि श्रेष्ठी गोपादिभिर्युतः ॥१०॥
सहस्त्रकूटनामानं गत्वा श्रीमज्जिनालयम्। नत्वा जिनं सुगुप्ताख्यं मुनीन्द्रं च प्रपृष्टवान् ॥११॥
ब्रूहि भो करुणासिन्धो मुने सद्धर्मतत्त्ववित्। सर्वोत्कृष्टो भवेत्कस्तु तच्छ्रुत्वा मुनिमब्रवीत् ॥१२॥
भो नरेन्द्र जगत्स्वामी जिनो रागादिवर्जितः। उत्कृष्टोत्कृष्टमाहात्म्यो वर्तते भुवनार्चितः ॥१३॥
तन्निशम्य मुनेर्वाक्यं सर्वे भूपादयो मुदा। जय त्वं जिननाथेति प्रोक्त्वा चक्रुर्नमस्क्रियाम् ॥१४॥
तदा गोपालकः सोपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः। भो सर्वोत्कृष्ट ते पद्म गृहाणेदमिति स्फुटम् ॥१५॥
उक्त्वा जिनेन्द्रपादाब्जोपरिक्षिप्त्वा सुपंकजम्। गतो मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥१६॥
अत्रान्तरे कथामन्यां प्रवक्ष्ये शृणुतादरात्। श्रावस्तीपत्तने श्रेष्ठी सुधीः सागरदत्तवाक् ॥१७॥

हुआ था। एक तालाब में उसने कोई हजार पंखुड़ियों वाला एक बहुत सुन्दर कमल देखा। उस पर यह मुग्ध हो गया। तब तालाब में कूद कर उसने उस कमल को तोड़ लिया। उस समय नागकुमारी ने उससे कहा–धनदत्त, तूने मेरा कमल तोड़ा तो हैं, पर इतना तू ध्यान में रखना कि यह उस महापुरुष को भेंट किया जाए, जो संसार में सबसे श्रेष्ठ हो। नागकुमारी का कहा मानकर धनदत्त कमल लिए अपने सेठ के पास गया और उनसे सब हाल इसने कहा। वसुमित्र ने तब राजा के पास जाकर उनसे यह सब हाल कहा। सबसे श्रेष्ठ कौन है और यह कमल किसको भेंट चढ़ाया जाए, यह किसी को समझ में न आया। तब सब विचार कर चले कि यह हाल मुनिराज से कहें। संसार में सबसे श्रेष्ठ कौन है, इस बात का पता वे अपने को देंगे। यह निश्चय कर राजा, सेठ, ग्वाला तथा और बहुत से लोग सहस्त्रकूट नाम के जिन मन्दिरों में गए। वहाँ सुगुप्ति मुनिराज ठहरे हुए थे। उनसे राजा ने पूछा–हे करुणा के समुद्र, हे पवित्र धर्म के रहस्य को समझने वाले! कृपया बतलाइए कि संसार में सबसे श्रेष्ठ कौन है? जिन्हें यह पवित्र कमल भेंट किया जाये। उत्तर में मुनिराज ने कहा–राजन्! सारे संसार के स्वामी, राग–द्वेषादि दोषों से रहित जिन भगवान् सर्वोत्कृष्ट हैं क्योंकि संसार उन्हीं की पूजा करता है। यह सुनकर सबको बड़ा सन्तोष हुआ जिसे वे चाहते थे वह अनायास मिल गया। उसी समय वे सब भगवान् के सामने आए। धनदत्त ग्वाले ने तब भगवान् को नमस्कार कर कहा–हे संसार में सबसे श्रेष्ठ गिने जाने वाले, आपको यह कमल मैं भेंट करता हूँ। इसे आप स्वीकार कर मेरी आशा को पूरी करें। यह कहकर वह ग्वाला उस कमल को भगवान् के चरणों में चढ़ाकर चला गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पवित्र कर्म मूर्ख लोगों को भी सुख देने वाला होता है। इस कथा से सम्बन्ध रखने वाली एक दूसरी कथा यहाँ लिखी जाती है उसे सुनिए–॥४–१७॥

नागदत्ता कुधीस्तस्य भार्या पापात्प्रलम्पटा। सोमशर्मद्विजे कष्टं संजातासक्तमानसा ॥१८॥
भवन्ति योषितः काश्चित्पापिन्यः कुलमन्दिरे। कृष्णधूमशिखाकोटिसन्निभा दुष्टचेतसः ॥१९॥
तदा सागरदत्तोसौ श्रेष्ठी श्रीजिनधर्मवित्। ज्ञात्वा तच्चेष्टितं कष्टं सुधीर्वैराग्यमाश्रितः ॥२०॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं भवभ्रमणनाशिनीम्। तपः कृत्वा दिवं गत्वा तस्मादागत्य शुद्धधीः ॥२१॥
अंगदेशेऽत्र चम्पायां वसुपालमहीपतेः। वसुमत्यां सुतो राज्ञीं संजातो दन्तिवाहनः ॥२२॥
एवं यावत्सुखं राजा वसुपालः स तिष्ठति। तावत्स सोमशर्माख्यो द्विजो भ्रान्त्वा भवावलिम् ॥२३॥
देशे कलिंगसंज्ञे च नर्मदातिलकाह्वयः। हस्ती जातः स्वपापेन प्राणी दुर्गतिभाग्भवेत् ॥२४॥
केनचिच्च द्विपः सोपि वसुपालस्य भूपतेः। प्रेषितः कर्मयोगेन संस्थितस्तस्य मन्दिरे ॥२५॥
नागदत्ता च सा मृत्वा ताम्रलिप्तपुरे क्रमात्। नागदत्ता पुनर्जाता वसुदत्तवणिक्प्रिया ॥२६॥
सा तदा द्वे सुते लेभे धनवत्यभिधां तथा। धनश्रियं च सद्रूपमण्डितां गुणशालिनीम् ॥२७॥

श्रावस्ती के रहने वाले सागरदत्त सेठ की स्त्री नागदत्त बड़ी पापिनी थी। उसका चाल-चलन अच्छा न था। एक सोमशर्मा ब्राह्मण के साथ उसका अनुचित बरताव था। सच है, कोई-कोई स्त्रियाँ तो बड़ी दुष्ट और कुल-कुलंकिनी हुआ करती है। उन्हें अपने कुल की मान-मर्यादा की कुछ लाज-शरम नहीं रहती। अपने उज्ज्वल कुलरूपी मन्दिर को मलिन करने के लिए वे काले धुएँ के समान होती है। बेचारा सेठ सरल स्वभावी था और धर्मात्मा था। इसलिए अपनी स्त्री का ऐसा दुराचार देखकर उसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने फिर संसार के भ्रमण को मिटाने वाली जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। वह बहुत ही कंटाल गया था। सागरदत्त तपस्या कर स्वर्ग गया। स्वर्गायु पूरी कर वह अंगदेश की राजधानी चम्पा नगरी में वसुपाल राजा की रानी वसुमती के दन्तिवाहन नाम का राजकुमार हुआ। वसुपाल सुख से राज करते रहे ॥१८-२३॥

इधर वह सोमशर्मा मर कर पाप के फल से बहुत समय तक दुर्गतियों में घूमा। एक से एक दुःसह कष्ट उसे सहना पड़ा। अन्त में वह कलिंग देश के जंगल में नर्मदा तिलक राजा का हाथी हुआ और ठीक ही है पाप से जीवों को दुर्गतियों के दुःख भोगने ही पड़ते हैं। कर्म से इस हाथी को किसी ने पकड़ लाकर वसुपाल को भेंट किया ॥२४-२५॥

उधर इस हाथी के पूर्वभव के जीव सोमशर्मा की स्त्री नागदत्ता ने भी पाप के उदय से दुर्गतियों में अनेक कष्ट सहे। अन्त में वह ताम्रलिप्तनगर में भी वसुदत्त सेठ की स्त्री नागदत्ता हुई उस समय इसके धनवती और धनश्री नाम की दो लड़कियाँ हुई ये दोनों बहिनें बड़ी सुन्दर थीं। स्वर्ग कुमारियाँ इनका रूप देखकर मन ही मन बड़ी कुढ़ा करती थीं। इनमें धनवती का ब्याह नागानन्द पुर के रहने वाले वनपाल नाम के सेठ पुत्र के साथ हुआ और छोटी बहिन धनश्री कौशाम्बी के वसुमित्र की स्त्री हुई। वसुमित्र जैनी था। इसलिए उसके सम्बन्ध से धनश्री को कई बार जैनधर्म के उपदेश सुनने का मौका मिला। वह उपदेश उसे बहुत रुचि कर हुआ और फिर वह भी श्राविका हो गई। लड़की के प्रेम

नागानन्दपुरे कश्चिद्धनपालो वणिक्सुतः। तां धनादिवतीं कन्यां विधिना परिणीतवान् ॥२८॥
वत्सदेशे सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने शुभे। श्रेष्ठिनो वसुमित्रस्य धनश्रीः साभवत्प्रिया ॥२९॥
तत्संसर्गेण सा तत्र धनश्रीः पुण्ययोगतः। श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्राणां संजाता श्राविकोत्तमा ॥३०॥
कदाचिन्नागदत्ता च पुत्रीस्नेहेन सन्मुदा। धनश्रियो गृहं प्राप्ता तया पुत्र्या च सद्धिया ॥३१॥
प्राघूर्णक्रियां कृत्वा सा नीता मुनिसन्निधौ। हितान्यणुव्रतान्युच्चै-र्ग्राहिता सा पुनस्ततः ॥३२॥
बृहत्पुत्री समीपं च गता तत्र तया तदा। बुद्धभक्ता कृताप्येवं लब्ध्वा वारत्रयं पुनः ॥३३॥
ग्राहिताणुव्रतान्येवं धनवत्या निराकृता। ततश्चतुर्थवारे च गृहीत्वा तानि भक्तितः ॥३४॥
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते सारशर्मविधायिनि। दृढा भूत्वा स्वकालान्ते मृत्वा सत्पुण्यमाश्रिता ॥३५॥
कौशम्ब्यां वसुपालाख्यभूपतेः कुलयोषितः। वसुमत्याः सुता जाता कुदिने शेषपापतः ॥३६॥
तदा राजादिभिः कन्या मंजूषायां निधाय सा। स्वनाममुद्रिकोपेता यमुनायां प्रवाहिता ॥३७॥
गंगायाः संगमं प्राप्य कुसुमाख्यमहापुरे। गता पद्मह्रदे दृष्टा मालाकारेण केनचित् ॥३८॥
नाम्ना कुसुमदत्तेन समानीय गृहं स्त्रियै। दत्ता कुसुममालायै तया सा बहुयत्नतः ॥३९॥

से नागदत्ता एक बार धनश्री के यहाँ गई धनश्री ने अपनी माँ का खूब आदर-सत्कार किया और उसे कई दिनों तक अच्छी तरह अपने यहाँ रखा। नागदत्ता धनश्री के यहाँ कई दिनों तक रही, पर वह न तो कभी मन्दिर गई और न कभी उसने धर्म की कुछ चर्चा की। धनश्री अपनी माँ को धर्म से विमुख देखकर एक दिन उसे मुनिराज के पास ले गई और समझा कर उसे मुनिराज द्वारा पाँच अणुव्रत दिलवा दिये। एक बार इसी तरह नागदत्ता को अपनी बड़ी लड़की धनवती के यहाँ जाना पड़ा। धनवती बुद्धधर्म को मानती थी। सो उसने इसे बुद्धधर्म की अनुयायिनी बना लिया। इस तरह नागदत्ता ने कोई तीन बार जैनधर्म को छोड़ा। अन्त में उसने फिर जैनधर्म ग्रहण किया और अब की बार वह उस पर रही भी बहुत दृढ़। जन्म भर फिर उसने जैनधर्म को निर्वाहा। आयु के अन्त में मरकर वह कौशाम्बी के राजा वसुपाल की रानी वसुमती के लड़की हुई, पर भाग्य से जिस दिन वह पैदा हुई, वह दिन बहुत खराब था। इसलिए राजा ने उसे एक सन्दूक में रखकर और उसके नाम की एक अँगूठी उसकी उँगली में पहनाकर उस सन्दूक को यमुना में छुड़वा दिया। सन्दूक बहती हुआ कुसुमपुर के एक पद्महृद नाम के तालाब में पहुँच गई इस तालाब में गंगा-यमुना के प्रवाह का एक छोटा-सा नाला बहकर आता था। उसी नाले में पड़कर वह सन्दूक तालाब में आ गई। तब किसी कुसुमदत्त नाम के माली ने देखा। वह निकाल कर उसे अपने घर लिवा आया। संदूक को खोलकर उसने देखा तो उसमें से यह लड़की निकली। कुसुमदत्त के कोई संतान न थी। इसलिए वह इसे पाकर बहुत खुश हुआ। अपनी स्त्री को बुलाकर उसने उसे उसकी गोद में रख दिया और कहा-प्रिये, भाग्य से अपने को यह लड़की अनायास मिल गई इससे अपने को बड़ी खुशी मनानी चाहिए। मुझे विश्वास है कि तुम भी इस अमूल्य निधि से बहुत प्रसन्न होगी। प्रिये, यह मुझे पद्महृद में मिली है। हम इसका नाम भी पद्मावती ही क्यों न रखें? क्यों, नाम तो बड़ा ही सुन्दर हैं। मालिन जिन्दगी भर से अपनी खाली

पद्महृदे यतः प्राप्ता ततः पद्मावतीति सा। प्रोक्त्वा संपोषिता तत्र संजाता नवयौवना ॥४०॥
एकदा केनचिद्वीक्ष्य तस्या रूपं मनोहरम्। गत्वा शीघ्रं मुदा दन्तिवाहनस्य प्रजल्पितम् ॥४१॥
सोप्यागत्य समालोक्य तद्रूपं चित्तरंजनम्। मालाकारं प्रतिप्राह ब्रूहि रे सत्यमेव च ॥४२॥
कस्येयं तनुजा चास्ति तच्छ्रुत्वा सोपि भो प्रभो। अस्याः पुत्रीति मंजूषा तदग्रे क्षिप्तवान्द्रुतम् ॥४३॥
वीक्ष्य तत्रस्थितां राज-मुद्रिकां सुमनोहराम्। तां सज्जातिं परिज्ञात्वा दन्तिवाहनकोपि सः ॥४४॥

गोद को आज एकाएक भरी पा बहुत आनन्दित हुई। वह आनन्द इतना था कि उसके हृदय में भी न समा सका। यही कारण था कि उसका रोम-रोम पुलकित हो रहा था। उसने बड़े प्रेम से इसे छाती से लगाया ॥२६-४०॥

पद्मावती उस समय कोई तेरह-चौदह वर्ष की है। उसके सुकोमल, सुगन्धित और सुन्दर यौवनरूपी फूल की कलियाँ कुछ-कुछ खिलने लगी हैं। ब्रह्मा ने उसके शरीर को लावण्य सुधा-धारा से सींचना शुरू कर दिया है। वह अब थोड़े ही दिनों में स्वर्ग के देव कुमारियों से भी अधिक सुन्दरता लाभ कर ब्रह्मा को अपनी सृष्टि का अभिमानी बनायेगी। लोग स्वर्गीय सुन्दरता की बड़ी प्रशंसा करते हैं। ब्रह्मा को उनकी इस थोथी तारीफ से बड़ी डाह है। इसलिए कि इससे उसकी रचना सुन्दरता में कमी आती है और उस कमी से उन्हें नीचा देखना पड़ता है। ब्रह्मा ने सर्व साधारण के इस भ्रम को मिटाने के लिए कि जो कुछ सुन्दरता है वह स्वर्ग में है, मानो पद्मावती को उत्पन्न किया है। इसके सिवा उन लोगों की झूठी प्रशंसा जो अमरांगनाएँ अभिमान के ऊँचे पर्वत पर चढ़कर सारे संसार को अपनी सुन्दरता की तुलना में ना-कुछ चीज समझ बैठी हैं, उनके इस गर्व को चूर-चूर करना है। इन्हीं सब अभिमान, ईर्ष्या, मत्सर आदि के वश हो ब्रह्मा पद्मावती को त्रिभुवन-सुन्दर बनाने में विशेष यत्नशील है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि पद्मावती कुछ दिनों बाद तो ब्रह्मा की सब तरह आशा पूरी करेगी ही। पर इस समय भी उसका रूप-सौंदर्य इतना मनोमधुर है कि उसे देखते रहने की इच्छा होती है। प्रयत्न करने पर भी आँखें उस ओर से हटना पसन्द नहीं करती है। अस्तु।

पद्मावती की इस अनिंद्य सुन्दरता का समाचार किसी ने चम्पा के राजा दन्तिवाहन को कह दिया। दन्तिवाहन उसकी सुन्दरता की तारीफ सुनकर कुसुमपुर आए। पद्मावती को-एक माली की लड़की को इतनी सुन्दरी, इतनी तेजस्विनी देखकर उसके विषय में उन्हें कुछ सन्देह हुआ। उन्होंने तब उस माली को बुलाकर पूछा-सच कह यह लड़की तेरी ही है क्या? और यदि तेरी नहीं तो इसे कहाँ से और कैसे लाया? माली डर गया। उससे राजा के सवालों का कुछ उत्तर देते न बना। सिर्फ उसने इतना ही किया जिस सन्दूक में पद्मावती निकली थी, उसे राजा के सामने ला रख दिया और कह दिया था महाराज, मुझे अधिक तो कुछ मालूम नहीं, पर यह लड़की इस सन्दूक में से निकली थी। मेरे कोई लड़का-बाला न होने से इसे मैंने अपने यहाँ रख लिया। राजा ने सन्दूक खोलकर देखा तो उसमें एक अंगूठी निकली। उस पर कुछ इबादत खुदी हुई थी। उसे पढ़कर राजा को पद्मावती के

परिणीय महाभूत्या ततः पद्मावतीं सतीम्। समानीय गृहं शीघ्रं तया सार्द्धं सुखं स्थितः ॥४५॥
कियत्यपि गते काले वसुपालो नरेश्वरः। दृष्ट्वा स्वमस्तके श्वेतं केशं वा यमपाशकम् ॥४६॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य स्वराज्यं तनुजाय च। दत्वा तस्मै जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ॥४७॥
गृहीत्वा संयमं सारं मुनिर्भूत्वा विचक्षणः। कृत्वा तपो जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गं संप्राप्तवान्सुखम् ॥४८॥
राज्यं प्राप्य ततः सोपि दन्तिवाहनभूपतिः। भुंजानो विविधान्भोगान्संस्थितो धर्मतत्परः ॥४९॥
एकदा सा सती पद्मावती सुप्ता स्वमन्दिरे। स्वप्ने गजादिकं दृष्ट्वा स्वनाथस्य जगौ मुदा ॥५०॥
तेनोक्तं ते सुतो भावी प्रतापी सिंहदर्शनात्। क्षत्रियाणां भवेन्मुख्यो हे प्रिये गजवीक्षणात् ॥५१॥
भास्करस्येक्षणाच्चापि प्रजाम्भोजप्रमोददः। इत्याकर्ण्य प्रभोर्वाक्यं सा सन्तुष्टा तरां हृदि ॥५२॥
ततस्तेरपुरे गोपो धनदत्तः स शुद्धधीः। शेवालकहृदं प्राप्तस्तरीतुं निजलीलया ॥५३॥

सम्बन्ध में कोई सन्देह करने की जगह न रह गई। जैसे वे राजपुत्र हैं वैसे ही पद्मावती भी एक राजघराने की राजकन्या है। दन्तिवाहन तब उसके साथ ब्याह कर उसे चम्पा में ले आए और सुख से अपना समय बिताने लगे ॥४१-४५॥

दन्तिवाहन के पिता वसुपाल ने कुछ वर्षों तक और राज्य किया। एक दिन उन्हें अपने सिर पर यमदूत सफेद केश दीख पड़ा। उसे देखकर इन्हें संसार, शरीर, विषय-भोगादि से बड़ा वैराग्य हुआ। वे अपने राज्य का सब भार दन्तिवाहन को सौंप कर जिनमन्दिर गए। वहाँ उन्होंने भगवान् का अभिषेक किया, पूजन किया, दान किया, गरीबों की सहायता की। उस समय उन्हें जो उचित कार्य जान पड़ा उसे उन्होंने खुले हाथों किया बाद वे वहीं एक मुनिराज द्वारा दीक्षा ले योगी हो गए। उन्होंने योगदशा में खूब तपस्या की। अन्त में समाधि से शरीर छोड़कर वे स्वर्ग गए। दन्तिवाहन अब राजा हुए प्रजा का शासन वे भी अपने पिता की भाँति प्रेम के साथ करते थे। धर्म पर उनकी भी पूरी श्रद्धा थी। पद्मावती सी त्रिलोक-सुन्दरी को पा ये अपने को कृतार्थ मानते थे। दोनों दम्पत्ति सदा बड़े हँस-मुख और प्रसन्न रहते थे। सुख की इन्हें चाह न थी, पर सुख ही इनका गुलाम बन रहा था ॥४६-४९॥

एक दिन सती पद्मावती ने स्वप्न में सिंह, हाथी और सूरज को देखा। सबेरे उठकर उसने अपने प्राणनाथ से इस स्वप्न का हाल कहा। दन्तिवाहन ने उसके फल के सम्बन्ध में कहा-प्रिये, स्वप्न तुमने बड़ा ही सुन्दर देखा हैं। तुम्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। सिंह का देखना जनाता है, कि वह बड़ा ही प्रतापी होगा हाथी के देखने से सूचित होता है कि वह सबसे प्रधान क्षत्रिय वीर होगा और सूरज यह कहता है कि वह प्रजारूपी कमल-वन को प्रफुल्लित करने वाला होगा, उसके शासन से प्रजा बड़ी सन्तुष्ट रहेगी। अपने स्वामी द्वारा स्वप्न फल सुनकर पद्मावती को अत्यन्त प्रसन्नता हुई और सच है, पुत्र प्राप्ति की किसे प्रसन्नता नहीं होती ॥५०-५२॥

पाठकों को तेरपुर के रहने वाले धनदत्त ग्वाले का स्मरण होगा, जिसने कि एक हजार पंखुरियों का कमल भगवान् को चढ़ाकर बड़ा पुण्यबन्ध किया था। उसी की कथा फिर लिखी जाती है। धनदत्त

तत्र शेवालकेनोच्चेर्वेष्टितो मरणं श्रितः। पुण्यात्पद्मावतीगर्भे समागत्य स्थितस्तदा ॥५४॥
तन्मृत्युं च परिज्ञाय स श्रेष्ठी वसुमित्रवाक्। संस्कार्य मृतकं तच्च स्वयं वैराग्यमाश्रितः ॥५५॥
नत्वा सुगुप्तनामानं मुनीन्द्रं भक्तिनिर्भरः। तस्माद्दीक्षां समादाय सत्तपोभिर्दिवं गतः ॥५६॥
अथ चम्पापुरे पद्मावत्यास्तस्याः सुमानसे। जातो दोहलकश्चेति सविद्युन्मेघवर्षणः ॥५७॥
अंकुशं स्वयमादाय धृत्वा रूपं नरस्य च। समारुह्य द्विपपृष्ठे कृत्वा राजानमप्यलम् ॥५८॥
पत्तनाद्बहिरित्युच्चैर्भ्रमामि स्वेच्छया सुखम्। ज्ञात्वा तन्मानसं चेति दन्तिवाहनभूपतिः ॥५९॥
स्वमित्रवायुवेगेन खेचरेण महाधिया। कारयित्वा तदा मेघाडम्बरं चपलान्वितम् ॥६०॥
नर्मदातिलकं शीघ्रमलं कृत्वा महागजम्। चटित्वा च तया सार्द्धं पूर्वोक्तविधिना पुरात् ॥६१॥
निर्गतस्तु महाभूत्या सेवकाद्यैः समन्वितः। अहो मनोरथः स्त्रीणां महाश्चर्यविधायकः ॥६२॥
ततः कर्मोदयात्सोपि करीन्द्रो दुष्टमानसः। तदंकुशं समुल्लंघ्य संचचाल प्रवेगतः ॥६३॥

को तैरने का बड़ा शौक था। वह रोज-रोज जाकर एक तालाब में तैरा करता था। एक दिन वह तैरने को गया हुआ था। कुछ होनहार ही ऐसा था जो वह तैरता-तैरता एक बार घनी काई में बिंध गया। बहुत यत्न किया पर उससे निकलते न बना। आखिर बेचारा मर ही गया। मरकर वह जिनपूजा के पुण्य से इसी सती पद्मावती के गर्भ में आया ॥५३-५४॥

उधर वसुमित्र सेठ को जब इसके मरने का हाल ज्ञान हुआ तो उसे बड़ा दुःख हुआ। सेठ उसी समय तालाब पर आया और धनदत्त की लाश को निकलवा कर उसका अग्नि-संस्कार किया। संसार की यह क्षणभंगुर दशा देखकर वसुमित्र को बड़ा वैराग्य हुआ। वह सुगुप्ति मुनिराज द्वारा योगव्रत लेकर मुनि हो गया। अन्त में वह तपस्या कर पुण्य के उदय से स्वर्ग गया ॥५५-५६॥

पद्मावती के गर्भ में धनदत्त के आने पर उसे दोहला उत्पन्न हुआ उसकी इच्छा हुई कि मेघ बरसने लगें और बिजलियाँ चमकने लगे। ऐसे समय पुरुष-वेष में हाथ में अंकुश लिए मैं स्वयं हाथी पर सवार होऊँ और मेरे साथ स्वामी भी बैठे। फिर हम दोनों घूमने के लिए शहर के बाहर निकलें। पद्मावती ने अपनी यह इच्छा दन्तिवाहन से जाहिर की। दन्तिवाहन ने उसकी इच्छा के अनुसार अपने मित्र वायुवेग विद्याधर द्वारा मायामयी कृत्रिम मेघ की काली-काली घटाओं द्वारा आकाश आच्छादित करवाया। कृत्रिम बिजलियाँ भी उन मेघों में चमकने लगी। राजा-रानी इस समय उस नर्मदातिलक नाम के हाथी पर, जो सोमशर्मा का जीव था और जिसे किसी ने वसुपाल को भेंट किया था, चढ़कर बड़े ठाट बाट से नौकर-चाकरों को साथ लिए शहर के बाहर हुए। पद्मावती का यह दोहला सचमुच ही बड़ा ही आश्चर्यजनक था। जो हो, जब ये शहर के बाहर होकर थोड़ी ही दूर गए होंगे कि कर्मयोग से हाथी उन्मत्त हो गया। अंकुश वगैरह की वह कुछ परवाह न कर आगे चलने वाले लोगों की भीड़ को चीरता हुआ भाग निकला। रास्ते में एक घने वृक्षों की वनी में होकर वह भागा जा रहा था। सो दन्तिवाहन को उस समय कुछ ऐसी बुद्धि सूझ गई, कि जिससे

महाटवीं गजः प्राप्त-स्तदा स नृपतिः सुधीः। वृक्षशाखां समादाय शिक्षां वा सद्गुरोर्दृढम् ॥६४॥
समुत्तीर्य ततश्चम्पापुरीं प्राप्तः स्वपुण्यतः। भवेत्पुण्यवतां पुंसामुपायः संकटेऽपि च ॥६५॥
ततोसौ नृपतिर्गेहे हा त्वं पद्मावतिप्रिये। किं ते जातमिदं कष्टं कुर्वन्छोकमिति स्फुटम् ॥६६॥
तदा विद्वज्जनैः श्रीमज्जैनतत्त्वविदाम्वरैः। सम्बोधितस्तदा दन्तिवाहनः सुखतः स्थितः ॥६७॥
भवेत्सतां शुभं वाक्यं चन्दनादपि शीतलम्। अन्तस्तापं निहन्त्युच्चैर्यत्क्षणात्सर्वदेहिनाम् ॥६८॥
सोपि हस्ती मदोन्मत्तो देशानुल्लंघ्य भूरिशः। गत्वा दक्षिणदेशं च सुरः श्रान्तः प्रविष्टवान् ॥६९॥
तां तडागे गजारूढां विलोक्य जलदेवता। समुत्तार्य द्विपाच्छीघ्रं स्थापयामास तत्तटे ॥७०॥
अत्रान्तरे समागत्य रुदन्तीं वीक्ष्य तां जगौ। मालाकारस्तु सम्बोध्य भो भगन्येहि मद्गृहम् ॥७१॥
तच्छ्रुत्वा च तया प्रोक्तं कस्त्वं सोपि भटाख्यकः। मालाकारोहमित्युक्त्वा हस्तिनापुरे द्रुतम् ॥७२॥
सतीं स्वगृहमानीय स्वसारं प्रतिपद्य ताम्। स्थापयामास सामान्यो भवेत्कश्चिच्छुभाशयः ॥७३॥

वे एक वृक्ष की डाली को पकड़ कर लटक गए। हाथी आगे भागा ही चला गया। सच है, पुण्य कष्ट समय में जीवों को बचा लेता हैं। बेचारे दन्तिवाहन उदास मुँह अपनी राजधानी में आए। उन्हें इस बात का अत्यन्त दुःख हुआ कि गर्भिणी प्रिया की न जाने क्या दशा हुई होगी। दन्तिवाहन की यह दशा देखकर समझदार लोगों ने समझा-बुझाकर उन्हें शान्त किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सत्पुरुषों के वचन चन्दन से कहीं बढ़कर शीतल होते हैं और उनके द्वारा दुखियों के हृदय का दुःख सन्ताप बहुत जल्दी ठण्डा पड़ जाता है ॥५७-६८॥

उधर हाथी पद्मावती को लिए भागा चला गया। अनेक जंगलों और गाँवों को लाँघकर वह एक तालाब पर पहुँचा। वह बहुत थक गया था। इसलिए थकावट मिटाने को वह सीधा उस तालाब में घुस गया। पद्मावती सहित तालाब में उसे घुसता देख जलदेवी ने झट से पद्मावती को हाथी पर से उतार कर तालाब के किनारे पर रख दिया। आफत की मारी बेचारी पद्मावती किनारे पर बैठी-बैठी रोने लगी। वह क्या करे, कहाँ जाए, इस विषय में उसका चित्त बिल्कुल धीर न धरता था। सिवा रोने के उसे कुछ न सूझता था। इसी समय एक माली इस ओर होकर अपने घर जा रहा था। उसने इसे रोते हुए देखा। इसके वेष-भूषा और चेहरे के रंग-ढंग से इसे किसी उच्च घराने की समझ उसे उस पर बड़ी दया आई उसने उसके पास आकर कहा-बहिन, जान पड़ता है तुम पर कोई भारी दुःख आकर पड़ा है। यदि तुम कोई हर्ज न समझो तो मेरे घर चलो। तुम्हें वहाँ कोई कष्ट न होगा। मेरा घर यहाँ से थोड़ी ही दूर पर हस्तिनापुर में है और मैं जाति का माली हूँ। पद्मावती उसे दयावान् देख उसके साथ होली। इसके सिवा उसके लिए दूसरी गति भी न थी। उस माली ने पद्मावती को अपने घर ले जाकर बड़े आदर-सत्कार के साथ रखा। वह उसे अपने बहिन के बराबर समझता था। उसका स्वभाव बहुत अच्छा था। ठीक है, कोई-कोई साधारण पुरुष भी बड़े सज्जन होते हैं। उसके सरल और सज्जन होने पर भी उसकी स्त्री बड़ी कर्कशा थी। उसे दूसरे आदमी का अपने घर रहना

तस्मिन्क्वापि गते तस्य भार्यया मारिदत्तया। गृहान्निर्घाटिता सा च प्राप्ता घोरं श्मशानके ॥७४॥
प्रसूता तनुजं तत्र सती सत्पुण्यसंयुतम्। सर्वलक्षणसम्पूर्णं विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥७५॥
तस्मिन्नेव क्षणे तत्र तां प्रणम्य प्रभक्तितः। मातंगः संजगादेति मातस्त्वं स्वामिनी मम ॥७६॥
कस्त्वं तयोदिते सोपि जगौ चात्र खगाचले। दक्षिणश्रेणिसंस्थेऽस्मिन्पुरे विद्युत्प्रभे शुभे ॥७७॥
विद्युत्प्रभः खगाधीशो विद्युल्लेखास्ति कामिनी। तयोरहं समुत्पन्नो बालदेवाभिधः सुतः ॥७८॥

अच्छा ही न लगता था। कोई अपने घर में पाहुना आया कि उस पर सदा मुँह चढ़ाये रहना, उससे बोलना-चालना नहीं आदि उसके बुरे स्वभाव की खास बातें थीं। पद्मावती के साथ भी उसका यही बर्ताव रहा। एक दिन भाग्य से वह माली किसी काम के लिए दूसरे गाँव चला गया। पीछे से इसकी स्त्री की बन पड़ी। उसने पद्मावती को गाली-गलौज देकर और बुरा भला कह घर से निकाल दिया। बेचारी पद्मावती अपने कर्मों को कोसती यहाँ से चल दी। वह एक घोर श्मशान में पहुँची। प्रसूति के दिन आ लगे थे। उस पर चिन्ता और दुःख के मारे इसे चैन नहीं था। उसने यहीं पर एक पुण्यवान् पुत्र को जना। उसके हाथ, पाँव, ललाट वगैरह में ऐसे सब चिह्न थे, जो बड़े से बड़े पुरुष के होने चाहिए। जो हो, इस समय तो उसकी दशा एक भिखारी से भी बढ़कर थी। पर भाग्य कहीं छुपा नहीं रहता। पुण्यवान् महात्मा पुरुष कहीं हो, कैसी अवस्था में हो, पुण्य वहीं पहुँच कर उसकी सेवा करता है। पर होना चाहिए पास में पुण्य। पुण्य बिना संसार में जन्म निस्सार है। जिस समय पद्मावती ने पुत्र जना उसी समय पुत्र के पुण्य का भेजा हुआ एक मनुष्य चाण्डाल के वेष में श्मशान में पद्मावती के पास आया और उसे विनय से सिर झुकाकर बोला-माँ, अब चिन्ता न करो। तुम्हारे लड़के का दास आ गया है। वह इसकी सब तरह जी-जान से रक्षा करेगा। किसी तरह का कोई कष्ट इसे न होने देगा। जहाँ इस बच्चे का पसीना गिरेगा वहाँ यह अपना खून गिरावेगा। आप मेरी मालकिन हैं। सब भार मुझ पर छोड़ आप निश्चिन्त होइये। पद्मावती ने ऐसे कष्ट के समय पुत्र की रक्षा करने वाले को पाकर अपने भाग्य को सराहा, पर फिर भी अपना सब सन्देह दूर हो, इसलिए उसने कहा-भाई, तुमने ऐसे निराधार समय में आकर मेरा जो उपकार करना विचारा है, तुम्हारे इस ऋण से मैं कभी मुक्त नहीं हो सकती। मुझे तुमसे दयावानों का अत्यन्त उपकार मानना चाहिए। अस्तु, इस समय मैं और क्या अधिक कह सकती हूँ कि जैसा तुमने मेरा भला किया, वैसा भगवान् तुम्हारा भी भला करे। भाई, मेरी इच्छा तुम्हारा विशेष परिचय पाने की है। इसलिए कि तुम्हारा पहनावा और तुम्हारे चेहरे पर की तेजस्विता देखकर मुझे बड़ा ही सन्देह हो रहा है। अतएव यदि तुम मुझसे अपना परिचय देने में कोई हानि न समझो तो कृपा कर कहो। वह आगत पुरुष पद्मावती से बोला-माँ, मुझ अभागे की कथा तुम सुनोगी। अच्छा तो सुनो, मैं सुनाता हूँ। विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में विद्युत्प्रभ नाम का एक शहर है। उसके राजा का नाम भी विद्युत्प्रभ है। विद्युत्प्रभ की रानी का नाम विद्युल्लेखा है। ये दोनों राजा-रानी मुझ अभागे के माता-पिता हैं। मेरा नाम बालदेव

एकदा भार्यया सार्द्धं नाम्ना कनकमालया। दक्षिणाभिमुखं गच्छन्व्योमयानस्थितोहकम् ॥७९॥
मार्गे रामगिरौ दृष्ट्वा विमानस्खलनेन च। वीरभट्टारकं तस्यो-पसर्गस्तु मया कृतः ॥८०॥
तदा पद्मावती देवी निजासनसुकम्पनात्। समागत्य जिनेन्द्राणां चरणाम्भोजषट्पदी ॥८१॥
उपसर्गं निवार्योच्चैर्विद्याच्छेदं मम क्रुधा। चक्रे सद्दृष्टयो नैवं सहन्ते साधुपीडनम् ॥८२॥
विद्याच्छेदे तदा मातर्दन्ती वा दन्तवर्जितः। निर्मदोहं तरां भूत्वा तां नत्वा प्रोक्तवानिति ॥८३॥
मया चाज्ञानभावेन कृतः साधूपसर्गकः। भो मातस्त्वं कृपां कृत्वा विद्यां मे देहि देवते ॥८४॥
पद्मावती महादेवी शान्ता भूत्वा तदा जगौ। हस्तिनागपुराभ्यर्णे श्मशाने भूरिभीतिदे ॥८५॥
यो बालकः गुणोपेतः संभविष्यति रे खग। तस्य रक्षां प्रयत्नेन त्वं करिष्यसि भक्तितः ॥८६॥
तद्राज्ये ते महाविद्याः सर्वाः सेत्स्यन्ति तच्छ्रुतेः। अहं मातंगवेषेण कुर्वन्यत्नं श्मशानके॥८७॥
तिष्ठाम्यत्र तदाकर्ण्य राज्ञी पद्मावती च सा। सन्तुष्टा मानसे गाढं वर्द्धयैनं त्वमङ्गजम् ॥८८॥

है। एक दिन मैं अपनी प्रिया कनकमाला के साथ विमान में बैठा हुआ दक्षिण की ओर जा रहा था ॥६९-७९॥

रास्ते में मुझे रामगिरी पर्वत पड़ा। उस पर मेरा विमान अटक गया। मैंने नीचे नजर डालकर देखा तो मुझे एक मुनि दीख पड़े। उन पर मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैंने तब कुछ आगा-पीछा न सोचकर उन मुनि को बहुत कष्ट दिया, उन पर घोर उपसर्ग किया। उनके तप के प्रभाव से जिनभक्त पद्मावती देवी का आसन हिला और वह उसी समय वहाँ आई उसने मुनि का उपसर्ग दूर किया। सच है, साधुओं पर किए उपद्रव को सम्यग्दृष्टि कभी नहीं सह सकते। माँ, उस समय देवी ने गुस्सा होकर मेरी सब विद्याएँ नष्ट कर दीं। मेरा सब अभिमान चूर हुआ। मैं एक मद रहित हाथी की तरह निःसत्व-तेज रहित हो गया। मैं अपनी इस दशा पर बहुत पछताया। मैं रोकर देवी से बोला-प्यारी माँ, मैं आपका अज्ञानी बालक हूँ। मैंने जो कुछ यह बुरा काम किया वह सब मूर्खता और अज्ञान से न समझ कर ही किया है। आप मुझे इसके लिए क्षमा करें और मेरी विद्याएँ मुझे लौटा दें। इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरी यह दीनता भरी पुकार व्यर्थ न गई। देवी ने शान्त होकर मुझे क्षमा किया और वह बोली-मैं तुझे तेरी विद्याएँ लौटा देती, पर मुझे तुझसे एक महान् कार्य करवाना है इसलिए मैं कहती हूँ वह कर। समय पाकर सब विद्याएँ तुझे अपने आप सिद्ध हो जायेगी। मैं हाथ जोड़े हुए उसके मुँह की ओर देखने लगा। वह बोली-''हस्तिनापुर के श्मशान में एक विपत्ति की मारी स्त्री के गर्भ से एक पुण्यवान् और तेजस्वी पुत्ररत्न जन्म लेगा। उस समय पहुँचकर तू उसकी सावधानी से रक्षा करना और अपने घर लाकर पालना-पोसना। उसके राज्य समय तुझे सब विद्याएँ सिद्ध होगी। माँ उसकी आज्ञा से मैं तभी से यहाँ इस वेष में रहता हूँ। इसलिए कि मुझे कोई पहचान न सके। माँ, यही मुझ अभागे की कथा है। आज मैं आपकी दया से कृतार्थ हुआ। पद्मावती विद्याधर का हाल सुनकर दुःखी जरूर हुई, पर उसे अपने पुत्र का रक्षक मिल गया, इससे कुछ सन्तोष भी हुआ। उसने तब अपने प्रिय बच्चे को विद्याधर के हाथ में रखकर कहा-भाई, इसकी सावधानी से रक्षा करना।

इत्युक्त्वा तदा तस्य खेचरस्य समर्पयत्। सोपि बालं समादाय निधानमिव तुष्टवान् ॥८९॥
बालदेवखगाधीशस्तं सुलक्षणसंयुतम्। ददौ कनकमालायै स्वस्त्रियै विलसत्प्रभम् ॥९०॥
दृष्ट्वा तत्करयोः कण्डुं करकण्डुरयं सुतः। संप्रोक्त्वेति प्रयत्नात्तं पोषयामास सा सती ॥९१॥
अहो पूर्वप्रपुण्येन जन्तोः कष्टेपि सम्पदा। संभवत्येव तद्भव्यैः कार्यं पुण्यं जिनोदितम् ॥९२॥
पुण्यं सुपात्रसद्दानं पुण्यं श्रीजिनपूजनम्। पुण्यं व्रतोपवासाद्यैः संभवेच्छर्मदं सताम् ॥९३॥

अब इसके तुम ही सब प्रकार से कर्ता-धर्ता हो। मुझे विश्वास है कि तुम इसे अपना ही प्यारा बच्चा समझोगे। उसने फिर पुत्र के प्रकाशमान चेहरे पर प्रेमभरी दृष्टि डालकर पुत्र वियोग से भर आए हृदय से कहा-मेरे लाल! तुम पुण्यवान् होकर भी उस अभागिनी माँ के पुत्र हुए हो, जो जन्मते ही तुम्हें छोड़कर बिछुड़ना चाहती है। लाल! मैं तो अभागिनी थी ही, पर तुम भी ऐसे अभागे हुए जो अपनी माँ के प्रेममय हृदय का कुछ भी पता न पा सके और न पाओगे ही। मुझे इस बात का बड़ा खेद रहेगा कि जिस पुत्र ने अपनी प्रेम-प्रतिमा माँ के पवित्र हृदय द्वारा प्रेम का पाठ न सीखा वह दूसरों के साथ किस तरह प्रेम करेगा? कैसे दूसरों के साथ प्रेम का बरताव कर उनका प्रेमपात्र बनेगा? जो हो, तब भी मुझे इस बात की खुशी है कि तुम एक दूसरी माँ के पास जाते हो और वह भी आखिर है तो माँ ही। जाओ लाल जाओ, सुख से रहना, परमात्मा तुम्हारा मंगल करें। इस प्रकार प्रेममय पवित्र आशीष देकर पद्मावती कड़ा हृदय कर चल दी। बालदेव ने उस सुन्दर और तेजपुंज बच्चे को अपने घर ले आकर अपनी प्रिया कनकमाला की गोद में रख दिया और कहा-प्रिये, भाग्य से मिली इस निधि को लो। कनकमाला उस बाल-चन्द्रमा से अपनी गोद को भरी देखकर फूली न समाई। वह उसे जितना देखती उसका प्रेम क्षण-क्षण में अनंत गुणा बढ़ता ही गया। कनकमाला का जितना प्रेम होना संभव न था उतना इस नये बालक पर उसका प्रेम हो गया, सचमुच यह आश्चर्य है अथवा नई वस्तु स्वभाव से प्रिय होती है और फिर वह अपनी हो जाये तब तो उस पर होने वाले प्रेम के सम्बन्ध में कहना ही क्या? और वह प्रेम, जिसकी प्राप्ति के लिए आत्मा सदा तड़फा ही करता है और वह पुत्र जैसी परम प्रिय वस्तु तब पढ़ने वाले कनकमाला के प्रेममय हृदय का एक बार अवगाहन करके देखें कि एक नई माँ जिस बच्चे पर इतना प्रेम करती है तब जिसने उसे जन्म दिया उसके प्रेम का क्या कुछ अन्त है-सीमा है! नहीं। माँ का अपने बच्चे पर जो प्रेम होता है उसकी तुलना किसी दृष्टांत या उदाहरण द्वारा नहीं की जा सकती और जो करते हैं वे माँ के अनन्त प्रेम को कम करने का यत्न करते हैं। कनकमाला उसे पाकर बहुत प्रसन्न हुई। उसने उसका नाम करकण्डु रखा। इसलिए कि उस बच्चे के हाथ में उसे खुजली दीख पड़ी थी। कनकमाला ने उसका लालन-पालन करने में अपने खास बच्चे से कोई कमी न की। सच है, पुण्य के उदय से कष्ट समय में भी जीवों को सुख सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिए भव्यजनों को जिन पूजा, पात्र-दान, व्रत, उपवास, शील, संयम आदि पुण्य-कर्मों द्वारा सदा शुभ कर्म करते रहना चाहिए ॥८०-९३॥

ततः पद्मावती सा च गान्धारी क्षुल्लिका शुभाम्। दृष्ट्वा सुपुण्यतो भक्त्या नत्वा प्रोक्त्वा स्ववृत्तकम् ॥९४॥
तया सार्द्धं प्रगत्वा च यत्नाल्लब्ध्वा जगद्धितम्। समाधिगुप्तनामानं प्रणम्य मुनिसत्तमम्॥९५॥
जगौ स्वामिन्कृपां कृत्वा दीक्षां मे देहि शुद्धधीः। तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह जैनतत्त्वविदाम्वरः ॥९६॥
अहो पुत्रि तवेदानीं दीक्षाकालो न विद्यते। पूर्वं वारत्रयं चक्रे त्वया सद्वृत्तखण्डनम् ॥९७॥
पश्चाद्व्रतं समाराध्य त्वं जातासि नृपात्मजा। दुःखं ते व्रतभङ्गेन जातं वारत्रयं ध्रुवम् ॥९८॥
तत्कर्मणि प्रशान्ते च पुत्रराज्यं विलोक्य वै। तेन सार्द्धं सुपुत्रेण दीक्षा ते संभविष्यति ॥९९॥
श्रुत्वा समाधिगुप्तस्य मुनेर्वाक्यं सुखप्रदम्। नत्वा तं क्षुल्लिकाभ्यर्णे भक्त्या सौख्येन सा स्थिता ॥१००॥
इतोसौ बालकस्तेन बालदेवखगेशिना। सारसर्वकलासूच्चैः संचक्रे कुशलो महान् ॥१०१॥
एकदा तौ समागत्य करकण्डुखगाधिपौ। हस्तिनागपुरस्यैव श्मशाने लीलया स्थितौ ॥१०२॥
तदा तत्र समायातो मुनीन्द्रो जयभद्रवाक्। दिव्यज्ञानी लसद्वृत्तो मुनिवृन्दसमन्वितः ॥१०३॥
केनचिद्यतिना तत्र दृष्ट्वा नर-कपालके। मुखे लोचनयोर्जातं वेणुत्रयमनुत्तरम् ॥१०४॥
गुरोः प्रोक्तमहो स्वामिन्निदं किं कौतुकं स च। तच्छ्रुत्वा जयभद्राख्यो मुनिः प्राह तपोनिधिः ॥१०५॥

पद्मावती तब करकण्डु से जुदा होकर गान्धारी नाम की क्षुल्लिका के पास आई उसे उसने भक्ति से प्रणाम किया और आज्ञा पा उसी के पास वह बैठ गई। थोड़ी देर बार पद्मावती ने उस क्षुल्लिका से अपना सब हाल कहा और जिनदीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। क्षुल्लिका उसे तब समाधिगुप्त मुनि के पास लिवा गई पद्मावती ने मुनिराज को नमस्कार कर उनसे भी अपनी इच्छा कह सुनाई। उत्तर में मुनि ने कहा–बहिन, तू साध्वी होना चाहती है, तेरा यह विचार बहुत अच्छा है पर यह समय तेरी दीक्षा के लिए उपयुक्त नहीं हैं। कारण तूने पहले जन्म में नागदत्ता की पर्याय में जिनव्रत को तीन बार ग्रहण कर तीनों बार ही छोड़ दिया था और फिर चौथी बार ग्रहण कर तू उसके फल से राजकुमार हुई तूने तीन बार व्रत छोड़ा उससे तुझे तीनों बार ही दुःख उठाना पड़ा। तीसरी बार का कर्म कुछ और बचा है। वह जब शान्त हो जाए और इस बीच में तेरे पुत्र को भी राज्य मिल जाए तब कुछ दिनों तक राज्य सुख भोग कर फिर पुत्र के साथ-साथ ही तू भी साध्वी होना। मुनि द्वारा अपना भविष्य सुनकर पद्मावती उन्हें नमस्कार कर उस क्षुल्लिका के साथ चली गई। अब से वह पद्मावती उसी के पास रहने लगी ॥९४-१००॥

इधर करकण्डु बालदेव के यहाँ दिनों-दिन बढ़ने लगा। जब उसकी पढ़ने की उमर हुई तब बालदेव ने अच्छे-अच्छे विद्वान् अध्यापकों को रखकर उसे पढ़ाया। करकण्डु पुण्य के उदय से थोड़े ही वर्षों में पढ़-लिखकर अच्छा होशियार हो गया। कई विषय में उसकी अरोक गति हो गई एक दिन बालदेव और करकण्डु हवा-खोरी करते-करते शहर के बाहर श्मशान में आ निकले। ये दोनों एक अच्छी जगह बैठकर श्मशान भूमि की लीला देखने लगे। इतने में जयभद्र मुनिराज अपने संघ को लिए इसी श्मशान में आकर ठहरे। यहाँ एक नर-कपाल पड़ा हुआ था। उसके मुँह और आँखों के तीन छेदों में तीन बाँस उग रहे थे। उसे देखकर एक मुनि ने विनोद से अपने गुरु से पूछा-भगवान्

हस्तिनागपुरे योऽत्र महाराजा भविष्यति। अंकुशच्छत्रदण्डाः स्यु-स्तस्य चैतत्त्रयेण वै ॥१०६॥
विप्रेण केनचित्तत्र समाकर्ण्य मुनेर्वचः। वेणुत्रयं समुन्मूल्य गृहीतं सुधनाशया ॥१०७॥
तस्माद्विप्रात्सुधीः सोपि करकण्डुर्गृहीतवान्। यस्य यन्मुनिनोद्दिष्टं तस्य तद्भवति ध्रुवम् ॥१०८॥
कियद्दिनेषु तत्रैव हस्तिनागपुरे मृतः। बलवाहनभूपस्तु विपुत्रः कर्मयोगतः ॥१०९॥
तत्सज्जनैस्तदा हस्ती प्रेषितो विधिपूर्वकम्। स्वराजान्वेषणायोच्चैस्ततः सोपि महागजः ॥११०॥
करकण्डुं समालोक्य सारपुण्यसमन्वितम्। अभिषिंच्य प्रयत्नेन धृत्वा तं निजमस्तके ॥१११॥
राजमन्दिरमानीय स्थापयामास विष्टरे। ततस्तैः सज्जनैश्चापि प्रोल्लसज्जयघोषणैः ॥११२॥
महोत्सवशतैः शीघ्रं करकण्डुर्गुणोज्ज्वलः। स्वप्रभुर्विहितो भक्त्या किं न स्याज्जिनपूजनात् ॥११३॥
तत्क्षणे बालदेवस्य खेचरस्य सुपुण्यतः। विद्यासिद्धिरभूदुच्चैस्ततोसौ परया मुदा ॥११४॥
पद्मावतीं सतीं तस्य मातरं तां समर्प्य च। सस्नेहं तं प्रणम्योच्चैः खगाद्रिं खचरोगमत् ॥११५॥
तदासौ करकण्डुश्च हस्तिनागपुरे प्रभुः। सर्वशत्रून्समुन्मूल्य कुर्वन्राज्यं सुखं स्थितः ॥११६॥

यह क्या कौतुक है, जो इस नर-कपाल में तीन बाँस उगे हुए हैं? तपस्वी मुनि ने उसके उत्तर में कहा- इस हस्तिनापुर का जो नया राजा होगा, इस बाँसों के उसके लिए अंकुश, छत्र, दण्ड वगैरह बनेंगे। जयभद्राचार्य द्वारा कहे गए इस भविष्य को किसी एक ब्राह्मण ने सुन लिया। अतः वह धन की आशा से इन बाँसों को उखाड़ लाया। उसके हाथ से इन्हें करकण्डु ने खरीद लिया। सच है मुनि लोग जिसके सम्बन्ध में जो बात कह देते हैं वह फिर होकर ही रहती है। उस समय हस्तिनापुर का राजा बलवाहन था। इसके कोई संतान न थी। उसकी मृत्यु हो गई अब राजा किसको बनाया जाए, इस विषय में चर्चा चली। आखिर यह निश्चय हुआ कि महाराज का खास हाथी जल भरा सुवर्ण-कलश देकर छोड़ा जाए। वह जिसका अभिषेक कर राजसिंहासन पर ला बैठा दे, वही इस राज्य का मलिक हो। ऐसा ही किया गया। हाथी राजा को ढूँढ़ने निकला। चलता-चलता वह करकण्डु के पास पहुँचा। वही इसे अधिक पुण्यवान् दीख पड़ा। उसी समय उसने करकण्डु का अभिषेक कर उसे अपने ऊपर चढ़ा लिया और राज्यसिंहासन पर ला रख दिया। सारी प्रजा ने उस तेजस्वी करकण्डु को अपना मालिक हुआ देख खूब जय-जयकार मनाया और खूब आनन्द उत्सव किया। करकण्डु के भाग्य का सितारा चमका। वह राजा हुआ। सच है, जिन भगवान् की पूजा के फल से क्या-क्या प्राप्त नहीं होता। करकण्डु के राजा होते ही बालदेव को उसकी नष्ट हुई विद्याएँ फिर सिद्ध हो गई उसे उसकी सेवा का मनचाहा फल मिल गया। इसके बाद बालदेव विद्या की सहायता से करकण्डु की खास माँ पद्मावती जहाँ थी, वहाँ गया और उसे करकण्डु के पास लाकर उसने दोनों माता-पुत्रों का मिलाप करवाया। पद्मावती आज कृतार्थ हुई उसकी वर्षों की तपस्या समाप्त हुई पश्चात् बालदेव इन दोनों को बड़ी नम्रता से प्रणाम कर अपनी राजधानी में चला गया ॥१०१-११५॥

करकण्डु के राजा होने पर कुछ राजा लोग उससे विरुद्ध होकर लड़ने को तैयार हुए। पर करकण्डु ने अपनी बुद्धिमानी और राजनीति की चतुरता से सबको अपना मित्र बनाकर देशभर में शत्रु का नाम

तत्प्रतापं समाकर्ण्य कदाचिद्दन्तिवाहनः। दूतं संप्रेषयामास तदन्ते सोपि दूतकः ॥११७॥
समागत्य प्रभुं नत्वा करकण्डुं जगाद च। भो प्रभो मत्प्रभुर्वक्ति दन्तिवाहननामभाक् ॥११८॥
त्वया राज्यं प्रकर्त्तव्यं कृत्वा मे सेवनं सदा। अन्यथा ते प्रभुत्वं च वर्त्तते नैव भूतले ॥११९॥
तच्छ्रुत्वासौ प्रभुः प्राह करकण्डुर्महाक्रुधा। रे रे दूत त्वकं याहि मारयामि न नीतिवित् ॥१२०॥
रणांगणे मया कार्यं भावि यत्क्रियते हि तत्। इत्युक्त्वा वेगतो दत्वा प्रयाणं स्वबलान्वितः ॥१२१॥
गत्वा चम्पापुरीं बाह्ये संस्थितः सुभटाग्रणीः। कार्ये समागते न स्युः सद्भटा मन्दबुद्धयः ॥१२२॥
दन्तिवाहनराजापि स्वसैन्येन विनिर्गतः। तदा व्यूहप्रतिव्यूह क्रमेण द्वे बले स्थिते ॥१२३॥
तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञात्वा सर्वं पद्मावती सती। गत्वा शीघ्रं स्वभर्तुश्च संजगौ सर्ववृत्तकम् ॥१२४॥
तदा गजात्समुत्तीर्य-समागत्य च सम्मुखम्। पिता पुत्रश्च सोप्याशु करकण्डुर्विचक्षणः ॥१२५॥
दृष्ट्वा परस्परं तत्र पितुः पादाम्बुजद्वयम्। ननाम विनयोपेतः सुपुत्रो भक्तिनिर्भरः ॥१२६॥

भी न रहने दिया। वह फिर सुख से राज्य करने लगा। करकण्डु के दिनों-दिन बढ़ते हुए प्रताप की खबर चारों ओर फैलती-फैलती दन्तिवाहन के पास पहुँची। दन्तिवाहन करकण्डु के पिता हैं। पर न तो दन्तिवाहन को यह ज्ञात था कि करकण्डु मेरा पुत्र है और न करकण्डु को इस बात का पता था कि दन्तिवाहन मेरे पिता हैं। यही कारण था कि दन्तिवाहन को इस नये राजा का प्रताप सहन नहीं हुआ। उन्होंने अपने एक दूत को करकण्डु के पास भेजा। दूत ने आकर करकण्डु से प्रार्थना की-''राजाधिराज दन्तिवाहन मेरे द्वारा आपको आज्ञा करते हैं कि यदि राज्य आप सुख से करना चाहते हैं तो उनकी आप आधीनता स्वीकार करें। ऐसे किए बिना किसी देश के किसी हिस्से पर आपकी सत्ता नहीं रह सकती।'' करकण्डु एक तेजस्वी राजा और उस पर एक दूसरे की सत्ता, सचमुच करकण्डु के लिए यह आश्चर्य की बात थी। उसे दन्तिवाहन की इस धृष्टता पर बड़ा क्रोध आया। उसने तेज आँखें कर दूत की ओर देखा और उससे कहा-यदि तुम्हें अपनी जान प्यारी है तो तुम यहाँ से जल्दी भाग जाओ। तुम दूसरे के नौकर हो, इसलिए मैं तुम पर दया करता हूँ नहीं तो तुम्हारी इस धृष्टता का फल तुम्हें मैं अभी ही बता देता। जाओ और अपने मालिक से कह दो कि वह रणभूमि में आकर तैयार रहे। मुझे जो कुछ करना होगा मैं वही करूँगा। दूत ने जैसे ही करकण्डु की आँखें चढ़ी देखीं वह उसी समय डरकर राजदरबार से रवाना हो गया ॥११६-१२१॥

इधर करकण्डु अपनी सेना में युद्धघोषणा दिलवा कर आप दन्तिवाहन पर जा चढ़ा और उनकी राजधानी को उसने सब ओर से घेर लिया। दन्तिवाहन तो इसके लिए पहले ही से तैयार थे। वे भी सेना ले युद्धभूमि में उतरे। दोनों ओर की सेना में व्यूह रचना हुई रणवाद्य बजने वाला ही था कि पद्मावती को यह ज्ञान हो कि यह युद्ध शत्रुओं का न होकर खास पिता-पुत्र का है। वह तब उसी समय अपने प्राणनाथ के पास गई और सब हाल उसने उन से कह सुनाया। दन्तिवाहन को इस समय अपनी प्रिया-पुत्र को प्राप्त कर जो आनन्द हुआ, उसका पता उन्हीं के हृदय को हैं। दूसरा वह कुछ थोड़ा बहुत

**दन्तिवाहनभूपोपि तं समालिंग्य सत्सुतम्। विभूत्या तूर्यनिर्घोषैः पुत्राद्यैः प्रविशत्पुरीम् ॥१२७॥
भक्त्या जिनान्समभ्यर्च्य महास्नपनपूर्वकम्। तस्था गेहे सुखं धीमान्पूर्वपुण्यप्रसादतः ॥१२८॥
अथान्यदिवसे राजा सोपि श्रीदन्तिवाहनः। विभूत्याष्टसहस्त्रोरुकन्याभिः परमादरात् ॥१२९॥
विवाहं कारयित्वाशु करकण्डोर्महाधियः। राजभारं च तस्यैव समर्प्य गुणशालिनः ॥१३०॥
स्वयं पद्मावतीदेव्या सार्द्धं पञ्चेन्द्रियोद्भवान्। भुंजानो विविधान्भोगान्मंदिरे सुखतः स्थितः ॥१३१॥
राज्ये स्थित्वा सुधीः सोपि करकण्डुर्महानृपः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मकर्मपुरस्सरम् ॥१३२॥
स्वप्रजां पुत्रवन्नित्यं पालयन्परया मुदा। पूर्वपुण्यप्रसादेन चिरं संतिष्ठते मुदा ॥१३३॥
तदा मंत्रिवरैः प्रोक्तं प्रणम्य परमादरात्। श्रूयतां देव यद्भक्तैरस्माभिः संनिगद्यते ॥१३४॥
साधनीया भवद्भिस्तु चेरमाख्यस्तथा परः। पाण्ड्यश्चोलश्च राजानो गर्वपर्वतमाश्रिताः ॥१३५॥
तच्छ्रुत्वासौ प्रभुस्तेषां प्रेषयामास दूतकम्। तेनागतेन संज्ञात्वा तेषां गर्वं च सत्वरम् ॥१३६॥
गत्वा स्वयं क्रुधा युद्धस्थाने यावत्स्थितस्तदा। तेऽपि सम्मुखमागत्य चक्रुर्युद्धं सुदारुणम् ॥१३७॥**

पा सकता है जिस पर ऐसा ही भयानक प्रसंग आकर कभी पड़ा हो। सर्वसाधारण उनके उस आनन्द का, उस सुख का थाह नहीं ले सकते। दन्तिवाहन तब उसी समय हाथी से उतर कर अपने प्रिय-पुत्र के पास आए। करकण्डु को ज्ञात होते ही वह उनके सामने दौड़ा गया और जाकर उनके पाँवों में गिर पड़ा। दन्तिवाहन ने झट से उसे उठाकर अपनी छाती से लगा लिया। पिता-पुत्र का पुण्य मिलाप हुआ। इसके बाद दन्तिवाहन ने बड़े आनन्द और ठाठबाट से पुत्र का शहर में प्रवेश कराया। प्रजा ने अपने युवराज का अपार आनन्द के साथ स्वागत किया। घर-घर आनन्द उत्सव मनाया गया। दान दिया गया। पूजा-प्रभावना की गई महा अभिषेक किया गया। गरीब लोग मनचाही सहायता से खुश किए गए। इस प्रकार पुण्य-प्रसाद से करकण्डु ने राज्यसम्पत्ति के सिवा कुटुम्ब-सुख भी प्राप्त किया। वह अब स्वर्ग के देवों की तरह सुख से रहने लगा ॥१२२-१२८॥

कुछ दिनों बाद दन्तिवाहन ने अपने पुत्र का विवाह समारंभ किया। उसमें उन्होंने खूब खर्च कर बड़े वैभव के साथ करकण्डु का कोई आठ हजार राजकुमारियों के साथ ब्याह किया। ब्याह के बाद ही दन्तिवाहन राज्य का भार सब करकण्डु के जिम्मे कर आप अपनी प्रिया पद्मावती के साथ सुख से रहने लगे। सुख-चैन से समय बिताना उन्होंने अब अपना प्रधान कार्य रखा ॥१२९-१३१॥

इधर करकण्डु राज्यशासन करने लगा। प्रजा को उसके शासन की जैसी आशा थी, करकण्डु ने उससे कहीं बढ़कर धर्मज्ञता, नीति और प्रजा प्रेम बतलाया। प्रजा को सुखी बनाने में उसने कोई बात की कमी न रखी। इस प्रकार वह अपने पुण्य का फल भोगने लगा। एक दिन समय देख मंत्रियों ने करकण्डु से निवेदन किया—महाराज, चेरम, पाण्ड्य और चोल आदि राजा चिर समय से अपने आधीन हैं। पर जान पड़ता है उन्हें इस समय कुछ अभिमान ने आ घेरा है। वे मानपर्वत का आश्रय पा अब स्वतंत्र से हो रहे हैं। राज-कर वगैरह भी अब वे नहीं देते। इसलिए उन पर चढ़ाई करना बहुत आवश्यक

करकण्डुस्ततो दृष्ट्वा भूपः स्वबलभङ्गकम्। महायुद्धं विधायोच्चैर्धृत्वा शत्रुभूपतीन् ॥१३८॥
कोपात्तन्मुकुटे पादं न्यसंस्तत्र विलोक्य च। जिनबिम्बानि हा कष्टं मया किं पापिना कृतम् ॥१३९॥
इत्युक्त्वा तान्प्रति प्राह यूयं जैनाः किमत्र भो। तदातैरोमिति प्रोक्ते करकण्डुश्च भूपतिः ॥१४०॥
हा हा मया निकृष्टेन क्रोधान्धेन विनिर्मितः। उपसर्गो हि जैनानां महापापविधायकः ॥१४१॥
इत्यात्मनिन्दनं कृत्वा कारयित्वा च तान्क्षमाम्। तैः सार्द्धं च समागच्छन्स्वदेशं प्रति संमुदा ॥१४२॥
मार्गे तेरपुराभ्यर्णे संस्थितः सैन्यसंयुतः। तदागत्य च भिल्लाभ्यां तं प्रणम्य प्रजल्पितम् ॥१४३॥
अस्मात्तेरपुरादस्ति दक्षिणस्यां दिशि प्रभो। गव्यूतिकान्तरे चारु पर्वतस्योपरिस्थितम् ॥१४४॥

है। इस समय ढील कर देने से सम्भव है थोड़े ही दिनों में शत्रुओं का जोर अधिक बढ़ जायें इसलिए इसके लिए प्रयत्न कीजिए कि वे ज्यादा सिर पर न चढ़ें, उसके पहले ही ठीक ठिकाने लगाया जाये। मंत्रियों की सलाह सुन और उस पर विचार कर पहले करकण्डु ने उन लोगों के पास अपना दूत भेजा। दूत अपमान के साथ लौट आया। करकण्डु ने सब सीधी तरह सफलता प्राप्त न होती देखी तब उसे युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा। वह सेना लिए युद्धभूमि में जा डटा। शत्रु लोग भी चुपचाप न बैठकर उसके सामने हुए। दोनों ओर की सेना की मुठभेड़ हो गई घमासान युद्ध हुआ। दोनों ओर के हजारों वीर काम आए। अन्त में करकण्डु की सेना के युद्धभूमि से पाँव उखड़े। यह देख करकण्डु स्वयं युद्धभूमि में उतरा। बड़ी वीरता से वह शत्रुओं के साथ लड़ा। इस नई उम्र में उसकी इस प्रकार वीरता देखकर शत्रुओं को दाँतों तले उँगली दबाना पड़ी। विजयश्री ने करकण्डु को ही वरा। जब शत्रु राजा आ-आकर इसके पाँव पड़ने लगे और इसकी नजर उनके मुकुटों पर पड़ी तो देखकर यह एक साथ हतप्रभ हो गया और बहुत-बहुत पश्चाताप करने लगा कि-हाय! मुझ पापी ने यह अनर्थ क्यों किया? न जाने इस पाप से मेरी क्या गति होगी? बात यह थी कि उन राजाओं के मुकुटों में जिन भगवान् की प्रतिमाएँ खुदी हुई थी और वे राजा जैनी थे। अपने धर्मबन्धुओं को जो उसने कष्ट दिया और भगवान् का अविनय किया उसका उसे बेहद दुःख हुआ। उसने उन लोगों को बड़े आदरभाव से उठाकर पूछा- क्या सचमुच आप जैनधर्मी हैं? उनकी ओर से सन्तोषजनक उत्तर पाकर उसने बड़े कोमल शब्दों में उनसे कहा-महानुभावो, मैंने क्रोध से अन्धे होकर जो आपको यह व्यर्थ कष्ट दिया, आप पर उपद्रव किया, इसका मुझे अत्यन्त दुःख है। मुझे इस अपराध के लिए आप लोग क्षमा करें। इस प्रकार उनसे क्षमा कराकर उनको साथ लिए वह अपने देश को रवाना हुआ ॥१३२-१४२॥

रास्ते में तेरपुर के पास इनका पड़ाव पड़ा। इसी समय कुछ भीलों ने आकर नम्र मस्तक से इनसे प्रार्थना की-राजाधिराज, हमारे तेरपुर से दो-कोस दूरी पर एक पर्वत है। उस पर एक छोटा-सा धाराशिव नाम का गाँव बसा हुआ है। इस गाँव में एक बहुत बड़ा ही सुन्दर और भव्य जिनमन्दिर बना हुआ है। उसमें विशेषता यह है कि उसमें कोई एक हजार खम्भे हैं। वह बड़ा सुन्दर है। उसे आप देखने को चलें। इसके सिवा पर्वत पर एक यह आश्चर्य की बात है कि वहाँ एक बाँवी है। एक हाथी रोज

धाराशिवपुरं चास्ति सहस्त्रस्तंभसंभवम्। श्रीमज्जिनेन्द्रदेवस्य भवनं सुमनोहरम् ॥१४५॥
तस्योपरि तथा शैलमस्तके संप्रवर्त्तते। वल्मीकं तच्च सद्धस्ती शुभो भक्त्या दिनं प्रति ॥१४६॥
शुण्डादण्डेन सत्तोयं गृहीत्वा कमलं सुधीः। समागत्य परीत्योच्चैः समभ्यर्च्य नमत्यलम् ॥१४७॥
इत्याकर्ण्य प्रहर्षेण ताभ्यां दत्वोचितं द्रुतम्। करकण्डुर्महाराजो जिनभक्तिपरायणः ॥१४८॥
गत्वा तत्र समालोक्य जिनेन्द्रभवनं शुभम्। समभ्यर्च्य जिनाधीशान्स्वर्गमोक्षसुखप्रदान् ॥१४९॥
स्तुतिं चक्रे च सद्भक्त्या शर्मकोटिविधायिनीम्। प्रमादो नैव सद्दृष्टेर्धर्मकर्मणि सर्वदा ॥१५०॥
ततो दृष्ट्वा च वल्मीकं पूजयन्तं महाद्विपम्। अत्रास्ति कारणं किंचिच्चेतसि संविचार्य च ॥१५१॥
तद्वल्मीकं समुन्मूल्य मंजूषां तत्र संस्थिताम्। दृष्ट्वोद्घाट्य प्रयत्नेन वीक्ष्य रत्नमयीं च सः ॥१५२॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य प्रतिमां पापनाशिनीम्। सन्तुष्टो मानसे चारुसद्दृष्टिर्धर्मवत्सलः ॥१५३॥
तस्याश्च भवनं चारु कारयित्वा सुभक्तितः। सुधीरग्गलदेवाख्यं स्थापयामास तत्र ताम् ॥१५४॥
स मूलप्रतिमाङ्गे च ग्रन्थिं दृष्ट्वा महीपतिः। शिल्पकर्मिणं सोपि प्राह विरूपं दृश्यते तराम् ॥१५५॥
इमां स्फोटय तच्छ्रुत्वा शिलाकर्मी जगाद च। अत्र तोयसिरा देव विद्यते तन्न भिद्यते ॥१५६॥

अपनी सूँड में थोड़ा-सा पानी और एक कमल का फूल लिए वहाँ आता है और उस बाँवी की परिक्रमा देकर वह पानी और फूल उस पर चढ़ा देता है। इसके बाद वह उसे अपना मस्तक नवाकर चला जाता है। उसका यह प्रतिदिन का नियम है। महाराज! नहीं जान पड़ता कि इसका क्या कारण है? करकण्डु भीलों द्वारा यह शुभ समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। इस समाचार को लाने वाले भीलों को उचित इनाम देकर वह स्वयं सबको साथ लिए, उस कौतुकमय स्थान को देखने गया। पहले उसने जिनमन्दिर जाकर भक्ति पूर्वक भगवान् की पूजा की, स्तुति की। सच है—धर्मात्मा पुरुष धर्म के कामों में कभी प्रमाद-आलस नहीं करते। बाद में वह उस बाँवी की जगह गया। उसने वहाँ भीलों के कहे माफिक हाथी को उस बाँवी की पूजा करते पाया। देखकर उसे बड़ा अचम्भा हुआ उसने सोचा कि इसका कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। नहीं तो इस पशु में ऐसा भक्तिभाव नहीं देखा जाता। यह विचार कर उसने उस बाँवी को खुदवाया। उसमें से एक सन्दूक निकली। उसने उसे खोलकर देखा। सन्दूक में एक रत्नमयी पार्श्वनाथ भगवान् की पवित्र प्रतिमा थी। उसे देखकर धर्मप्रेमी करकण्डु को अतिशय प्रसन्नता हुई उसने तब वहाँ 'अग्गलदेव' नाम का एक विशाल जिन मन्दिर बनवाकर उसमें बड़े उत्सव के साथ उस प्रतिमा को विराजमान किया। प्रतिमा पर एक गाँठ देखकर करकण्डु ने शिल्पकार से कहा—देखो, तो प्रतिमा पर यह गाँठ कैसी है? प्रतिमा की सब सुन्दरता इससे मारी गई इसे सावधानी के साथ तोड़ दो। यह अच्छी नहीं दीख पड़ती ॥१४३-१५५॥

शिल्पकार ने कहा—महाराज, यह गाँठ ऐसी वैसी नहीं है जो तोड़ दी जाये। ऐसी रत्नमयी दिव्य प्रतिमा पर गाँठ होने का कुछ न कुछ कारण जान पड़ता है। इसका बनाने वाला इतना कम बुद्धि न होगा कि प्रतिमा की सुन्दरता नष्ट होने का ख्याल न कर इस गाँठ को रहने देता। मुझे जहाँ तक जान

भिद्यते चेदयं ग्रन्थिस्तोयपूरो महानहो। निर्गच्छति ततस्तस्य महाग्रहवशेन च ॥१५७॥
स्फोटितः शिल्पिनासौ च निर्गतो जलपूरकः। तस्मान्निर्गमने जातो राजादीनां च संशयः ॥१५८॥
तदासौ करकण्डुश्च राजा श्रीजिनभक्तिभाक्। जलापनयनाग्राहं कृत्वा धर्मानुरागतः ॥१५९॥
दर्भशय्यां समासीनो द्विधा संन्यासपूर्वकम्। तत्पुण्यतस्तदा शीघ्रं देवो नागकुमारकः ॥१६०॥
प्रत्यक्षीभूय तं प्राह नत्वा सद्विनयान्वितः। कालमाहात्म्यतो देव प्रतिमा रत्ननिर्मिता ॥१६१॥
रक्षितुं शक्यते नैव तस्माच्च लयणं मया। तोयपूर्णं कृतं सर्वं भवद्भिस्तु ततः प्रभो ॥१६२॥
जलापनयने चात्र कर्त्तव्यो नाग्रहः सुधीः। इत्याक्षेपेण देवेन स राजा धार्मिको महान् ॥१६३॥
भक्त्या सद्दर्भशय्यायाः शीघ्रमुत्थापितो वदत्। केनेदं लयणं ब्रूहि कारितं सुमनोहरम् ॥१६४॥
तथा वल्मीकमध्ये च प्रतिमा पापनाशिनी। स्थापिता केन तच्छ्रुत्वा जगौ नागकुमारकः ॥१६५॥
अत्रैव विजयार्द्धेस्ति चोत्तरश्रेणिसंस्थितम्। नभस्तिलकमत्युच्चैः संपदाभिर्भृतं पुरम् ॥१६६॥
तत्र चामितवेगाख्यसुवेगौ खचराधिपौ। संजातौ श्रीजिनेन्द्राणां पादपद्मद्वये रतौ ॥१६७॥
ज्येष्ठः परश्च भद्रात्मा तौ द्वौ चैकदिने मुदा। आर्यखण्डेऽत्र सद्भक्त्या समायातौ जिनालयान् ॥१६८॥
वन्दितुं च समभ्यर्च्य मलयाख्यगिरौ जिनान्। भ्रमन्तौ पर्वते तत्र श्रीमत्पार्श्वजिनाकृतिम् ॥१६९॥

पड़ता है, इस गाँठ का सम्बन्ध किसी भारी जल-प्रवाह से होना चाहिए और यह असंभव भी नहीं। संभवतः इसकी रक्षा के लिए यह प्रयत्न किया गया हो। इसलिए मेरी समझ में इसका तुड़वाना उचित नहीं। करकण्डु ने उसका कहा न माना। उसे उसकी बात पर विश्वास न हुआ। उसने तब शिल्पकार से बहुत आग्रह कर आखिर उसे तुड़वाया ही। जैसे ही वहाँ गाँठ टूटी उसमें से एक बड़ा भारी जल-प्रवाह वह निकला। मन्दिर में पानी इतना भर गया कि करकण्डु वगैरह को अपने जीवन के बचने का भी सन्देह हो गया। तब वह जिनभक्त उस प्रवाह के रोकने के लिए संन्यास ले कुशासन पर बैठ कर परमात्मा का स्मरण चिंतन करने लगा। उसके पुण्य-प्रभाव से नागकुमार ने प्रत्यक्ष आकर उससे कहा- राजन् काल अच्छा नहीं इसलिए प्रतिमा की सुरक्षा के लिए मुझे यह जल पूर्ण लवण बनाना पड़ा इसलिए आप इस जलप्रवाह के रोकने का आग्रह न करें इस प्रकार ककण्डु को नागकुमार ने समझा कर आसन पर से उठ जाने को कहा। करकण्डु नागकुमार के कहने से संन्यास छोड़ उठ गया। उठकर उसने नागकुमार से पूछा-क्यों जी, ऐसा सुन्दर यह लवण यहाँ किसने बनाया और किसने इस बाँवी में इस प्रतिमा को विराजमान किया? नागकुमार ने कहा-सुनिए, विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में खूब सम्पत्तिशाली नभस्तिलक नाम का एक नगर था। उसमें अमितवेग और सुवेग नाम के दो विद्याधर राजा हो चुके हैं। दोनों धर्मज्ञ और सच्चे जिनभक्त थे। एक दिन वे दोनों भाई आर्यखण्ड के जिनमन्दिरों के दर्शन करने के लिए आये। कई मंदिरों में दर्शन-पूजन कर वे मलयाचल पर्वत पर आये यहाँ घूमते हुए उन्होंने पार्श्वनाथ भगवान् की इस रत्नमयी प्रतिमा को देखा। इसके दर्शन कर उन्होंने इसे एक सन्दूक में बन्द कर दिया और सन्दूक को एक गुप्त स्थान पर रखकर वे उस समय चले गए। कुछ समय बाद वे आकर उस सन्दूक को कहीं अन्यत्र ले जाने के लिए उठाने लगे पर सन्दूक अब

दृष्ट्वा नत्वा समादाय मञ्जूषायां निधाय च। अत्रैव सद्गिरौ चेमां मञ्जूषां सारयन्नतः ॥१७०॥
संस्थाप्य क्वापि गत्वा च पुनश्चागत्य भक्तितः। समुत्थापयतो यावत्तावन्नोत्तिष्ठति त्वसौ ॥१७१॥
ततस्तेरपुरं गत्वा प्रणम्यावधिलोचनम्। मुनीन्द्रं प्राहतुः स्वामिन्कथं नोत्तिष्ठति प्रभो ॥१७२॥
मञ्जूषिकेति संश्रुत्वा ज्ञानी प्राह मुनीश्वरः। अहो खगाधिपौ चेषा मञ्जूषा शर्मकारिणी ॥१७३॥
लयणस्योपरि व्यक्तं लयणं संभविष्यति। वक्त्येवं च पुनर्वक्ति भावि यच्छ्रुणुतादरत् ॥१७४॥
अयं सुवेगनामा च मृत्वार्त्तध्यानतो ध्रुवम्। गजो भूत्वा स्वमंजूषामिमां संपूजयिष्यति ॥१७५॥
करकण्डुर्यदा राजा तां समुत्पाटयिष्यति। तदा द्विपस्तु संन्यासं कृत्वा स्वर्गं प्रयास्यति ॥१७६॥
इत्याकर्ण्य मुनेर्वाक्यं मानसे तौ खगाधिपौ। प्रतिमायाः स्थिरत्वस्य संज्ञात्वा कारणं महत् ॥१७७॥
पुनस्तं मुनिमानम्य पृष्टवन्तौ महामुने। कारितं लयणं केन शर्मदं भव्यदेहिनाम् ॥१७८॥
तन्निशम्य मुनिः सोपि जगौ संज्ञानविग्रहः। इहैव विजयार्द्धे च दक्षिणश्रेणिसंस्थिते ॥१७९॥
रथनूपुरसन्नाम्नि पुरे ख्यातौ खगाधिपौ। जातौ नीलमहानीलौ संग्रामे शत्रुभिः क्रुधा ॥१८०॥
प्राप्तविद्याधनच्छेदौ ताविहागत्य पर्वते। कृत्वा वासं सुखं स्थित्वा कियत्कालं सुधार्मिकौ ॥१८१॥
कारयित्वा जिनेन्द्राणां लयणं सौख्यकारणम्। पुण्याद्विद्याः समाप्योच्चैर्विजयार्द्धं गतौ सुखम् ॥१८२॥
ततस्तौ खेचरेन्द्रौ च तपः श्रीमज्जिनोदितम्। कृत्वा नीलमहानीलौ प्राप्तौ स्वर्ग गुणोज्ज्वलौ ॥१८३॥
इत्यादिसर्वसम्बन्धं संश्रुत्वामितवेगवाक्। ज्येष्ठो दीक्षां समादाय खगेशो सुतपोनिधिः ॥१८४॥
कालं समाधिना कृत्वा स्वर्गं ब्रह्मोत्तराभिधम्। गत्वा महर्द्धिको देवः संजातो जिनभक्तिभाक् ॥१८५॥

की बार उनसे न उठी। तब तेरपुर जाकर उन्होंने अवधिज्ञानी मुनिराज से अब हाल कहकर सन्दूक के न उठने का कारण पूछा। मुनि ने कहा–''सुनिए, यह सुखकारिणी सन्दूक तो पहले लयण ऊपर दूसरा लयण होगी। मतलब यह कि यह सुवेग आर्तध्यान से मरकर हाथी होगा। वह इस सन्दूक की पूजा किया करेगा। कुछ समय बाद करकण्डु राजा यहाँ आकर इस सन्दूक को निकालेगा और सुवेग का जीव हाथी तब संन्यास ग्रहण कर स्वर्ग गमन करेगा। इस प्रकार मुनि द्वारा इस प्रतिमा की चिरकाल तक अवस्थिति जानकर उन्होंने मुनि से फिर पूछा–तो प्रभो! इस लयण को किसने बनाया? मुनिराज बोले–इसी विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी में बसे हुए रथनूपुर में नील और महानील नाम के दो राजा हो गए हैं। शत्रुओं के साथ युद्ध में उनकी विद्या, धन, राज्य वगैरह सब कुछ नष्ट हो गया। तब वे इस मलय पर्वत पर आकर बसे। यहाँ वे कई वर्षों तक आराम से रहे। दोनों भाई बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने यह लयण बनवाया। पुण्य से उन्हें उनकी विद्याएँ फिर प्राप्त हो गई तब वे पीछे अपनी जन्मभूमि रथनूपुर चले गए। इसके बाद कुछ दिनों तक वे दोनों गृह-संसार में रहे। फिर जिनदीक्षा लेकर दोनों भाई साधु हो गए। अन्त में तपस्या के प्रभाव से वे स्वर्ग गए।'' इस प्रकार सब हाल सुनकर बड़ा भाई अमितवेग तो उसी समय दीक्षा लेकर मुनि हो गया और अन्त में समाधि से मरकर ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ और सुवेग-अमितवेग का छोटा भाई आर्तध्यान से मरकर वह हाथी हुआ। सो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग से पूर्व जन्म के भातृप्रेम के वश देखने आकर उसे धर्मोपदेश किया, समझाया। उससे

आर्त्तध्यानेन मृत्वा स सुवेगस्तु खगाधिपः। हस्ती जातोयमत्युच्चैस्तेन देवेन बोधितः ॥१८६॥
भूत्वा जातिस्मरः पुण्यात्सम्यक्त्वाणुव्रतानि च। समादाय च वल्मीकं भक्त्या संपूजयन्स्थितः ॥१८७॥
करकण्डो महीनाथ भो त्वयोत्पाटिते सति। वल्मीके सोपि हस्ती च संन्यासेनात्र तिष्ठति ॥१८८॥
त्वं च तेरपुरेऽत्रैव पुरा गोपोसि भो प्रभो। पूजया जिननाथस्य राजा जातोसि साम्प्रतम् ॥१८९॥
तस्मादिदं जगत्सारं सुधीः श्रीमज्जिनार्चनम्। येन प्राणी भवत्येवं क्षणात्सत्सौख्यभाजनम् ॥१९०॥
इत्युच्चैस्तं सुराजानं करकण्डुं गुणोज्ज्वलम्। सुधीर्नागकुमारोसौ संबोध्यैवं सुरोत्तमः ॥१९१॥
नत्वा धर्मानुरागेण संप्राप्तः स्वालयं मुदा। अहो पुण्येन जन्तूनां मित्रत्वं तादृशं भवेत् ॥१९२॥
ततस्तेन नरेन्द्रेण तृतीयदिवसे द्रुतम्। कारितं जैनसद्धर्मश्रवणं तस्य दन्तिनः ॥१९३॥
सोपि दन्ती तदा मृत्वा सम्यक्त्वपरिणामभाक्। सहस्त्रारं दिवं प्राप्य देवो जातो महर्द्धिकः ॥१९४॥
पशुश्चापि सुरो भूत्वा बभूव सुखभाजनम्। भवेच्छ्रीमज्जिनेन्द्रोक्तधर्मात्किं प्राणिनां धनम् ॥१९५॥
करकण्डुश्च भूपालो जैनधर्मधुरंधरः। स्वस्य मातुस्तथा बालदेवस्योच्चैः सुनामतः ॥१९६॥
कारयित्वा सुधीस्तत्र लयणत्रयमुत्तमम्। तत्प्रतिष्ठां महाभूत्या शीघ्रं निर्माप्य सादरात् ॥१९७॥
स्वपुत्रवसुपालाय राज्यं दत्वा विरक्तधीः। संसारदेहभोगांश्च ज्ञात्वासौ बृहद् दोषमान् ॥१९८॥

इस हाथी को जातिस्मरण हो गया। तब उसने अणुव्रत ग्रहण किए। तब से यह इस प्रकार शान्त रहता है और सदा इस बाँवी की पूजन किया करता है तुमने बाँवी तुड़ाकर उसमें से प्रतिमा निकाल ली तब से हाथी संन्यास लिए यहीं रहता है और राजन्, आप पूर्वजन्म में इसी तेरपुर में ग्वाले थे। आपने तब एक कमल के फल द्वारा जिनभगवान् की पूजा की थी। उसी के फल से समय आप राजा हुए हैं। राजन्, यह जिनपूजा सब पुण्यकर्मों में उत्तम पुण्यकर्म है यही तो कारण है कि क्षणमात्र में इसके द्वारा उत्तम से उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार करकण्डु को आदि से इति पर्यन्त सब हाल कहकर और धर्म प्रेम से उसे नमस्कार कर नागकुमार अपने स्थान चला गया। सच है यह पुण्य ही का प्रभाव है जो देव भी मित्र हो जाते हैं ॥१५६-१९२॥

हाथी को संन्यास लिए आज तीसरा दिन था। करकण्डु ने उसके पास जाकर उसे धर्म का पवित्र उपदेश किया हाथी अन्त में सम्यक्त्व सहित मरकर सहस्रार स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। एक पशु धर्म का उपदेश सुनकर स्वर्ग में अनन्त सुखों का भोगने वाला देव हुआ, तब जो मनुष्य जन्म पाकर पवित्र भावों से धर्म पालन करें तो उन्हें क्या प्राप्त न हो? बात यह है कि धर्म से बढ़कर सुख देने वाली संसार में कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिए धर्म प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। करकण्डु ने इसके बाद इसी पर्वत पर अपने, अपनी माँ के तथा बालदेव के नाम से विशाल और सुन्दर तीन जिनमन्दिर बनवाएँ, बड़े वैभव के साथ उनकी प्रतिष्ठा करवाई जब करकण्डु ने देखा कि मेरा सांसारिक कर्तव्य सब पूरा हो चुका, तब राज्य का सब भार अपने पुत्र वसुपाल को सौंप कर और संसार, शरीर, भोगों को महादोष वाला जानकर करके भोगादि से विरक्त होकर आप अपने माता-पिता तथा और भी कई

पित्रा क्षत्रियभूपाद्यैश्चेरमाद्यैः विचक्षणः। पद्मावत्या समं मात्रा दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥१९९॥
कृत्वा तपो जगत्सारं संसारम्भोधिपारदम्। निर्मलं निर्मलः सोपि संन्यासेन समं स्थिरः ॥२००॥
ध्यायन्पादाम्बुजद्वंद्वं जिनेन्द्राणां सुखप्रदम्। सहस्त्रारं दिवं प्राप्तः करकण्डुमुनीश्वरः ॥२०१॥
दन्तिवाहनभूपाद्याः कालान्ते तेऽपि सद्धियः। स्वस्वपुण्यानुसारेण स्वर्गलोकं ययुः सुखम् ॥२०२॥
पुरा पद्मेन संपूज्य श्रीजिनं कोटिशर्मदम्। करकण्डुः सुखं प्राप्तः किं पुनश्चाष्टधार्चनैः ॥२०३॥
ये भव्याः श्रीजिनेन्द्राणां भक्त्या पादद्वयार्चनम्। नित्यमेव प्रकुर्वन्ति ते लभन्ते परं सुखम् ॥२०४॥

गोपालो धनदत्तवागपि पुरा मुग्धोऽपि पद्मेन च
श्रीमज्जैनपदाम्बुजं शुभतरं संपूज्य पूज्योभवत्।
देवाद्यैः करकण्डुनामनृपतिः श्रीमत्प्रभाचन्द्रव-
त्तस्माद्भव्यजनैर्जिनेन्द्रचरणाम्भोजं सदाभ्यर्च्यते ॥२०५॥

इति कथाकोशे करकण्डुनृपतेराख्यानं समाप्तम्।

११४. जिनपूजाफलप्राप्तभेकाखयानम्

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं भारतीं भुवनोत्तमाम्। वक्ष्येहं सद्गुरुं नत्वा जिनपूजाफलोदयम् ॥१॥

राजाओं के साथ जिनदीक्षा ले योगी हो गया। योगी होकर करकण्डु मुनि ने खूब तप किया, जो कि निर्दोष और संसार-समुद्र से पार करने वाला है। अन्त में परमात्म-स्मरण में लीन हो उसने भौतिक शरीर छोड़ा। तप के प्रभाव से उसे सहस्त्रार स्वर्ग में दिव्य देह मिली। पद्मावती, दन्तिवाहन तथा अन्य राजा तो अपने पुण्य के अनुसार स्वर्गलोक गए ॥१९३-२०२॥

करकण्डु ने ग्वाले के जन्म में केवल एक कमल के फूल द्वारा भगवान् की पूजा की थी। उसे उसका जो फल मिला उसे आप सुन चुके हैं। तब जो पवित्र भावपूर्वक आठ द्रव्यों से भगवान् की पूजा करेंगे उनके सुख का तो फिर पूछना ही क्या? थोड़े में यों समझिए कि जो भव्यजन भक्ति से भगवान् की प्रतिदिन पूजा किया करते हैं वे सर्वोत्तम-सुख मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं, तब और सांसारिक सुखों की तो उनके सामने गिनती ही क्या हैं? ॥२०३-२०४॥

एक बे-समझ ग्वाले ने जिन भगवान् के पवित्र चरणों की एक कमल के फूल से पूजा की थी, उसके फल से वह करकण्डु राजा होकर देवों द्वारा पूज्य हुआ। इसलिए सुख की चाह करने वाले भव्यजनों को भी उचित है कि वे जिन-पूजा की ओर अपने ध्यान को आकर्षित करें। उससे उन्हें मनचाहा सुख मिलेगा, क्योंकि भावों का पवित्र होना पुण्य का कारण है और भावों के पवित्र करने को जिन-पूजा भी एक प्रधान कारण है ॥२०५॥

११४. जिनपूजन-प्रभाव-कथा

संसार द्वारा पूजे जाने वाले जिनभगवान् को, सर्वश्रेष्ठ गिनी जाने वाली जिनवाणी को और राग, द्वेष, मोह, माया आदि दोषों से रहित परम वीतरागी साधुओं को नमस्कार कर जिनपूजा द्वारा फल प्राप्त

श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां पूजा पापप्रणाशिनी। स्वर्गमोक्षप्रदा प्रोक्ता प्रत्यक्षं परमागमे ॥२॥
यः करोति सुधीर्भक्त्या पवित्रो धर्महेतवे। स एव दर्शने शुद्धो महाभव्यो न संशयः ॥३॥
यस्तस्या निन्दकः पापी स निन्द्यो जगति ध्रुवम्। दुःखदारिद्र्यरोगादिदुर्गतेर्भाजनं भवेत् ॥४॥
स्नपनं पूजनं प्रीत्या स्तवनं जपनं तथा। जिनानामाकृतीनां च कुर्याद्भव्यमतल्लिकः ॥५॥
जिनयात्राप्रतिष्ठाभिर्गरिष्ठाभिर्विशिष्टधीः। प्रासादप्रतिमोद्धारैः कुर्याद्धर्मप्रभावनाम् ॥६॥
यस्यां संक्रियमाणायां सत्यं स्वर्गापवर्गयोः। प्राप्यते कारणं पूतं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥७॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-नरेन्द्रार्चितपङ्कजाः। श्रीजिनेन्द्राः सदा पूज्याः सतां शर्मश्रिये मुदा ॥८॥
जिनेन्द्रार्चा महापुण्यं प्रसिद्धवचनं यतः। जिनपूजासमं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ॥९॥
अनेकैर्भव्यसंमुख्यैर्भरतादिभिरुत्तमैः। प्राप्तं जिनेन्द्रपूजायाः फलं केनात्र वर्ण्यते ॥१०॥
जलाद्यैरष्टभिर्द्रव्यैर्जिनार्चायाः किमुच्यते। पद्मेनैकेन भेकेन फलं प्राप्तं यदुत्तमम् ॥११॥

तथा च समन्तभद्रस्वामिभिरुक्तं—

अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्। भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥

करने वाले एक मेंढक की कथा लिखी जाती है ॥१॥

शास्त्रों में उल्लेख किए उदाहरणों द्वारा यह बात खुलासा देखने में आती है कि जिन भगवान् की पूजा पापों की नाश करने वाली और स्वर्ग-मोक्ष के सुखों की देने वाली है। इसलिए जो भव्यजन पवित्र भावों द्वारा धर्मवृद्धि के अर्थ जिनपूजा करते हैं वे ही सच्चे सम्यग्दृष्टि हैं और मोक्ष जाने के अधिकारी हैं। इसके विपरीत पूजा की जो निन्दा करते हैं वे पापी हैं और संसार में निन्दा के पात्र हैं। ऐसे लोग सदा दुःख, दरिद्रता, रोग, शोक आदि कष्टों को भोगते हैं और अन्त में दुर्गति में जाते हैं। अतएव भव्यजनों को उचित है कि वे जिनभगवान् का अभिषेक, पूजन, स्तुति, ध्यान आदि सत्कर्मों को सदा किया करें। इसके सिवा तीर्थयात्रा, प्रतिष्ठा, जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार आदि द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करना चाहिए। इन पूजा प्रभावना आदि कारणों से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। जिनभगवान् इंद्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी महापुरुषों द्वारा पूज्य हैं। इसलिए उनकी पूजा तो करनी ही चाहिए। जिनपूजा के द्वारा सभी उत्तम-उत्तम सुख मिलते हैं। जिनपूजा करना महापुण्य का कारण है, ऐसा शास्त्रों में जगह-जगह लिखा मिलता है। इसलिए जिनपूजा समान दूसरा पुण्य का कारण संसार में न तो हुआ और न होगा। प्राचीन काल में भरत जैसे अनेक बड़े-बड़े पुरुषों ने जिनपूजा द्वारा जो फल प्राप्त किया है, किसकी शक्ति है जो उसे लिख सके। आठ द्रव्यों से पूजा करने वाले जिनपूजा द्वारा जो फल लाभ करते हैं, उनके सम्बन्ध में हम क्या लिखें, जब कि केवल फूल से पूजा कर एक मेंढक ने स्वर्ग सुख प्राप्त किया ॥२-११॥

समन्तभद्र स्वामी ने भी इस विषय में लिखा है-राजगृह में हर्ष से उन्मत्त हुए एक मेंढक ने सत्पुरुषों को यह स्पष्ट बतला दिया कि केवल एक फूल द्वारा भी जिन भगवान् की पूजा करने से

अस्य कथा–

अथ जम्बूमति द्वीपे मेरोर्दक्षिणदिक्कृते। क्षेत्रे तीर्थेशिनां जन्मपवित्रेत्रैव भारते ॥१२॥
देशोस्ति मगधो नाम्ना निवेशो वा जगच्छ्रियः। जना यत्र वसन्त्युच्चैर्धनैर्धान्यैः सुधर्मतः ॥१३॥
तत्र राजगृहं नाम नगरं गुणिभिर्वरम्। भोगोपभोगसामग्रीप्राप्त्या यत्र निरन्तरम्। ॥१४॥
यन्नराः सुरशोभाढ्या नार्यो वा सुरकन्यकाः। सम्यक्त्वव्रतसम्पन्नास्तस्मात्स्वर्गाधिकं पुरम् ॥१५॥
यत्र शर्मकरो धर्मः प्रसिद्धो जिनभाषितः। तस्य किं वर्ण्यते शोभा त्रैलोक्यप्रीतिदायिनी ॥१६॥
तत्पाताभूत्पवित्रात्मा श्रेणिको दर्शनप्रियः। श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ॥१७॥
यः प्रतापः स्वशत्रूणां शान्तो वा चन्द्रमाः सताम्। प्रजानां पालने नित्यं पिता वा हितकारकः ॥१८॥
तस्य राज्ञी महासाध्वी रूपसौभाग्यशालिनी। चेलिनी जिनचन्द्राणां चरणार्चनकोविदा ॥१९॥
सम्यक्त्वव्रतसद्भूषारत्नभूषाविराजिता। सर्वविज्ञानसम्पन्ना जिनवाणीव सुन्दरा ॥२०॥
नागदतोभवच्छ्रेष्ठी परमेष्ठिपराङ्मुखः। श्रेष्ठिनी भवदत्ताख्या तस्याभूत्प्राणवल्लभा ॥२१॥

उत्तम फल प्राप्त होता है जैसा कि मैंने प्राप्त किया।

अब मेंढक की कथा सुनिए

यह भारतवर्ष जम्बूद्वीप के मेरु की दक्षिण दिशा में है। इसमें अनेक तीर्थंकरों का जन्म हुआ है। इसलिए यह महान् पवित्र है। मगध भारतवर्ष एक प्रसिद्ध और धनशाली देश है। सारे संसार की लक्ष्मी जैसे यहीं आकर इकट्ठी हो गई हो। यहाँ के निवासी प्रायः धनी है, धर्मात्मा है, उदार है और परोपकारी हैं ॥१२-१३॥

जिस समय की यह कथा है उस समय मगध की राजधानी राजगृह एक बहुत सुन्दर शहर था। सब प्रकार की उत्तम से उत्तम भोगोपभोग की वस्तुएँ वहाँ बड़ी सुलभता से प्राप्त थीं। विद्वानों का उसमें निवास था। वहाँ के पुरुष देवों से और स्त्रियाँ देवबालाओं से कहीं बढ़कर सुन्दर थीं। स्त्री-पुरुष प्रायः सब ही सम्यक्त्वरूपी भूषण से अपने को सिंगारे हुए थे और इसलिए राजगृह उस समय मध्यलोक का स्वर्ग कहा जाता था। वहाँ जैनधर्म का ही अधिक प्रचार था। उसे प्राप्त कर सब सुख-शान्ति लाभ करते थे ॥१४-१६॥

राजगृह के राजा तब श्रेणिक थे। श्रेणिक धर्मज्ञ थे। जैनधर्म और जैनतत्त्व पर उनका पूर्ण विश्वास था। भगवान् की भक्ति उन्हें उतनी ही प्रिय थी, जितनी कि भौंरे को कमलिनी। उनका प्रताप शत्रुओं के लिए मानों धधकती आग थी। सत्पुरुषों के लिए वे शीतल चन्द्रमा थे। पिता अपनी सन्तान को जिस प्यार से पालता है श्रेणिक का प्यार भी प्रजा पर वैसा ही था। श्रेणिक की कई रानियाँ थी। चेलना उन सबमें उन्हें अधिक प्रिय थी। सुन्दरता में, गुणों में, चतुरता में चेलना का आसन सबसे ऊँचा था। उसे जैनधर्म से, भगवान् की पूजा-प्रभावना से बहुत ही प्रेम था। कृत्रिम भूषणों द्वारा सिंगार करने को महत्त्व न देकर उसने अपने आत्मा को अनमोल सम्यग्दर्शन रूप भूषण

सर्वदासौ महामायावेष्टितः श्रेष्ठिकः कुधीः। एकदा स्वाङ्गणे वाप्यां मृत्वा भेको महानभूत् ॥२२॥
नरो मृत्वा यतो जातः पापात्तोयचरोत्र सः। तस्मात्पापं न कर्त्तव्यं भो भव्याः संकटेऽपि च ॥२३॥
कदाचित्सा समायाता भवदत्ता जलार्थिनी। तां विलोक्य स मण्डूको जातो जातिस्मरस्ततः ॥२४॥
तस्याः समीपमागत्य तदङ्गे चटितो द्रुतम्। निर्घाटितस्तया सोपि रोमाञ्चितशरीरया ॥२५॥
तथापि पूर्वसम्बन्धाद्दर्दुरः प्रीतिनिर्भरः। तस्यामुच्चैश्चटत्येव मत्वेति प्राक्तनी प्रिया ॥२६॥
ततस्तया ममेष्टोयं कोपि जातः कुयोनिजः। इति ज्ञात्वावधिज्ञानी पृष्टः श्रीसुव्रतो मुनिः ॥२७॥
तेनोक्तं सुव्रताख्येन मुनिना ज्ञानचक्षुषा। मूढस्ते नागदत्तोयं पतिर्मायासमन्वितः ॥२८॥
संजातः पापतः पुत्रि मण्डूको मोहमण्डितः। श्रुत्वेति तं मुनिं नत्वा भक्त्या संसारतारणम् ॥२९॥
तयासौ मोहतो नीत्वा दर्दुरः स्वगृहे धृतः। तत्र हृष्टमनाः सोपि तस्थौ यावत्ततोन्यदा ॥३०॥
आगत्य वनपालस्तं राजानं श्रेणिकं मुदा। नत्वा व्यजिज्ञपद्देव दिव्ये वैभारपर्वते ॥३१॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैः समर्चितपदद्वयः। वर्द्धमानो जिनेन्द्रोसौ समायातो जगत्प्रियः ॥३२॥

से भूषित किया था। जिनवाणी सब प्रकार के ज्ञानविज्ञान से परिपूर्ण है और अतएव वह सुन्दर है, चेलना में किसी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की कमी न थी। इसलिए उसकी रूपसुन्दरता ने और अधिक सौन्दर्य प्राप्त कर लिया था। 'सोने में सुगन्ध' की उक्ति उस पर चरितार्थ थी ॥१७-२०॥

राजगृह में एक नागदत्त नाम का सेठ रहता था। वह जैनी न था। इसकी स्त्री का नाम भवदत्ता था। नागदत्त बड़ा मायाचारी था। सदा माया के जाल में वह फँसा हुआ रहता था। इस मायाचार के पाप से मरकर यह अपने घर के आँगन की बावड़ी में मेंढक हुआ। नागदत्त यदि चाहता तो कर्मों का नाश कर मोक्ष जाता, पर पाप कर वह मनुष्य पर्याय से पशुजन्म में आया, एक मेंढक हुआ। इसलिए भव्य-जनों को उचित है कि वे संकट समय भी पाप न करें ॥२१-२३॥

एक दिन भवदत्ता इस बावड़ी पर जल भरने को आई उसे देखकर मेंढक को जातिस्मरण हो गया। वह उछल कर भवदत्ता के वस्त्रों पर चढ़ने लगा। भवदत्ता ने डरकर उसे कपड़ों पर से झिड़क दिया। मेंढक फिर भी उछल-उछलकर उसके वस्त्रों पर चढ़ने लगा। उसे बार-बार अपने पास आता देखकर भवदत्ता बड़ी चकित हुई और डरी भी। पर इतना उसे भी विश्वास हो गया कि इस मेंढक का और मेरा पूर्वजन्म का कुछ न कुछ सम्बन्ध होना ही चाहिए। अन्यथा बार-बार मेरे झिड़क देने पर भी यह मेरे पास आने का साहस न करता। जो हो, मौका पाकर कभी किसी साधु-सन्त से इसका यथार्थ कारण पूछूँगी ॥२४-२७॥

भाग्य से एक दिन अवधिज्ञानी सुव्रत मुनिराज राजगृह में आकर ठहरे। भवदत्ता को मेंढक का हाल जानने की बड़ी उत्कण्ठा थी। इसलिए वह तुरन्त उनके पास गई उनसे प्रार्थना कर उसने मेंढक का हाल जानने की इच्छा प्रकट की। सुव्रत मुनिराज ने तब उससे कहा-जिसका तू हाल पूछने को आई है, वह दूसरा कोई न होकर तेरा पति नागदत्त है। वह बड़ा मायाचारी था, इसलिए मर कर माया के पाप से यह मेंढक हुआ है। उन मुनि के संसार-पार करने वाले वचनों को सुनकर भवदत्ता को सन्तोष

श्रुत्वेति श्रेणिको राजा जिनभक्तिपरायणः। दत्वा तस्मै महादानं परोक्षे कृतवन्दनः ॥३३॥
आनन्ददायिनीं भेरीं दापयित्वातिसंभ्रमी। चलच्चामरसद्भूत्या चलितो निश्चलाशयः ॥३४॥
समवादिसृतिं दृष्ट्वा हृष्टो राजा जगद्धिताम्। मेघमालां मयूरो वा धातुर्वादीव सद्रसम् ॥३५॥
तं वीक्ष्य केवलज्ञान-लोचनं परमेष्ठिनम्। प्रणम्य प्रातिहार्यादिसंयुक्तं सेवितं सुरैः ॥३६॥
विशिष्टाष्टमहाद्रव्यैर्जलाद्यैर्जिनपुङ्गवम्। संपूज्य जगतां पूज्यं चकार स्तवनं शुभम् ॥३७॥
जय त्वं जिनदेवात्र कर्मेन्धनहुताशनः। दुःखदारिद्र्यदावाग्निशमनैकघनाघनः ॥३८॥
जय त्वं जिनसद्भानो लोकालोकप्रकाशकः। वचनांशुलसज्जालैर्भव्यपद्मविकाशकः ॥३९॥
जय जन्मजरामृत्युज्वरनाशभिषग्वरः। अनेकगुणमाणिक्य-रोहणाद्रे महास्थिरः ॥४०॥
त्वं त्राता जगतां तात त्वं त्रैलोक्यविभूषणम्। त्वं ह्यकारणसद्बन्धुस्त्वमापत्क्षयकारणम् ॥४१॥
त्वत्पादसेवया देव यत्सुखं प्राप्यते ध्रुवम्। अन्यैर्भूरितरक्लेशैः स्वप्ने तदपि दुर्लभम् ॥४२॥

हुआ। वह मुनि को नमस्कार कर घर पर आ गई उसने फिर मोहवश हो उस मेंढक को भी अपने यहाँ ला रखा। मेंढक वहाँ आकर बहुत प्रसन्न रहा ॥२८-३०॥

इसी अवसर में वैभार पर्वत पर महावीर भगवान् का समवसरण आया। वनमाली ने आकर श्रेणिक को खबर दी कि राजराजेश्वर, जिनके चरणों को इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती, विद्याधर आदि प्रायः सभी महापुरुष पूजा-स्तुति करते हैं, वे महावीर भगवान् वैभार पर्वत पर पधारे हैं। भगवान् के आने के आनन्द-समाचार सुनकर श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए। भक्तिवश हो सिंहासन से उठकर उन्होंने भगवान् को परोक्ष नमस्कार किया। इसके बाद इन शुभ समाचारों की सारे शहर में सबको खबर हो जाए, इसके लिए उन्होंने आनन्द घोषणा दिलवा दी। बड़े भारी लाव-लश्कर और वैभव के साथ भव्यजनों को संग लिए वे भगवान के दर्शनों को गए। वे दूर से उन संसार का हित करने वाले भगवान के समवसरण को देखकर उतने ही खुश हुए, जितने खुश मोर मेघों को देखकर होते हैं। रासायनिक लोग अपना मन चाहा रस लाभ कर होते हैं। समवसरण में पहुँचे। भगवान के उन्होंने दर्शन किए और उत्तम से उत्तम द्रव्यों से उनकी पूजा की। अन्त में उन्होंने भगवान् के गुणों का गान किया ॥३१-३७॥

हे भगवान्! हे दया के सागर! ऋषि-महात्मा आपको 'अग्नि' कहते हैं, इसलिए कि आप कर्मरूपी ईंधन को जला कर खाककर देने वाले हैं। आपको वे 'मेघ' भी कहते हैं, इसलिए कि आप प्राणियों को जलाने वाली दुःख, शोक, चिन्ता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि दावाग्नि को क्षणभर में अपने उपदेश रूपी जल से बुझा डालते हैं। आप 'सूरज' भी हैं, इसलिए कि अपने उपदेशरूपी किरणों से भव्यजनरूपी कमलों को प्रफुल्लित कर लोक और अलोक के प्रकाशक हैं। नाथ, आप एक सर्वोत्तम वैद्य हैं, इसलिए कि धन्वन्तरी से वैद्यों की दवा से भी नष्ट न होने वाली ऐसी जन्म, जरा, मरण रूपी महान् व्याधियों को जड़ मूल से खो देते हैं। प्रभो, आप उत्तमोत्तम गुणरूपी जवाहरात के उत्पन्न करने वाले पर्वत हो, संसार के पालक हो, तीनों लोक के अनमोल भूषण हो, प्राणी

ततः श्रीमज्जिनाधीश भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी। त्वद्भक्तिर्मे सदा भूयादाससारं शुभप्रदा ॥४३॥
इति स्तुत्वा जिनाधीशं भक्त्या नत्वा मुहुर्मुहुः। गौतमादीन्मुनींश्चापि प्रणम्य श्रेणिकः स्थितः ॥४४॥
तथा च भवदत्तादौ जिनभक्त्या गते सति। वन्दनार्थं जिनेन्द्रस्य शर्मकोटिविधायिनः ॥४५॥
श्रुत्वा सुरखगेन्द्रादिवादित्रध्वनिमम्बरे। प्रोल्लसज्जयघोषं च स भेको जातसंस्मृतिः ॥४६॥
तद्वापीसंभवं पद्म समादाय समुत्सुकः। श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जपूजार्थं चलितो भृशम् ॥४७॥
मार्गे गच्छन्मुदा हस्तिपादेनैव प्रचम्पितः। त्रैलोक्यप्रभुपूज्यस्य वर्द्धमानजिनेशिनः ॥४८॥
पूजानुरागतोत्यन्तसमर्जितशुभोदयात्। मृत्वा सौधर्मकल्पेऽसौ देवो जातो महर्द्धिकः ॥४९॥
क्व भेकः क्व च देवोभू-न्न हि चित्रं जगत्त्रये। जिनपूजाप्रसादेन किं शुभं यन्न जायते ॥५०॥
तत्र चान्तर्मुहूर्तेन भूत्वासौ नवयौवनः। रूपलावण्यसम्पन्नः पूर्वपुण्येन संयुतः ॥५१॥
नाना रत्नप्रभाजालैर्जटिलो दिव्यवस्त्रभाक्। सुगन्धकुसुमोद्दाममालालंकृतविग्रहः ॥५२॥
लब्ध्वावधिमहाबोधः ज्ञानं पूर्वभवान्तरे। पूजया जिननाथस्य भावनामात्रतो यतः ॥५३॥
देवो जातोस्मि दिव्योहं तस्मात्सा क्रियते तराम्। संविचार्येति सद्भक्त्या मुकुटाग्रे विधाय च ॥५४॥

मात्र के निःस्वार्थ बन्धु हो, दुःखों के नाश करने वाले हो और सब प्रकार के सुखों के देने वाले हो। जगदीश! जो सुख आपके पवित्र चरणों की सेवा से प्राप्त हो सकता है वह अनेक प्रकार के कठिन से कठिन परिश्रम द्वारा भी प्राप्त नहीं होता। इसलिए हे दयासागर! मुझ गरीब को अपने चरणों को पवित्र और मुक्ति का सुख देने वाली भक्ति प्रदान कीजिए। जब तक कि मैं संसार से पार न हो जाऊँ। इस प्रकार बड़ी देर तक श्रेणिक ने भगवान् का पवित्र भावों से गुणानुवाद किया। बाद वे गौतम गणधर आदि महर्षियों को भक्ति से नमस्कार कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गए ॥३८-४४॥

भगवान् के दर्शनों के लिए भवदत्ता सेठानी भी गई, आकाश में देवों का जय-जयकार और दुन्दुभी बाजों की मधुर-मनोहर आवाज सुनकर उस मेंढक को जातिस्मरण हो गया। वह भी तब बावड़ी में एक कमल की कली को अपने मुँह में दबाये बड़े आनन्द और उल्लास के साथ भगवान् की पूजा के लिए चला। रास्ते में आता हुआ वह हाथी के पैर नीचे कुचला जाकर मर गया। पर उसके परिणाम त्रैलोक्य पूज्य महावीर भगवान् की पूजा में लगे हुए थे, इसलिए वह उस पूजा के प्रेम से उत्पन्न होने वाले पुण्य से सौधर्म स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। देखिये, कहाँ तो वह मेंढक और कहाँ अब स्वर्ग का देव पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। कारण जिनभगवान् की पूजा से सब कुछ प्राप्त हो सकता है ॥४५-५०॥

एक अंतर्मुहूर्त में वह मेंढक का जीव आँखों में चकाचौंध लाने वाला तेजस्वी और सुन्दर युवा देव बन गया। नाना तरह के दिव्य रत्नमयी अलंकारों की कान्ति से उसका शरीर ढक रहा था, बड़ी सुन्दर शोभा थी। वह ऐसा जान पड़ता था, मानों रत्नों की एक बहुत बड़ी राशि रखी हो या रत्नों का पर्वत बनाया गया हो। उसके बहुमूल्य वस्त्रों की शोभा देखते ही बनती थी। गले में उसके स्वर्गीय कल्पवृक्षों के फूलों की सुन्दर मालाएँ शोभा दे रही थी। उनकी सुन्दर सुगन्ध ने सब दिशाओं को

भेकचिह्नं महाभूत्या समागत्य सुरोत्तमः। प्रवृत्तो जिनपादाब्जपूजां कर्त्तुं प्रहर्षतः ॥५५॥
तं पूजां जिनराजस्य कुर्वाणं शर्मदायिनीम्। विलोक्य श्रेणिको राजा नत्वा संपृष्टवान्गुरुम् ॥५६॥
स्वामिन्नस्य किरीटाग्रे भेकचिह्नं प्रवर्तते। तस्य किं कारणं ब्रूहि संशयध्वान्तभास्करः ॥५७॥
तच्छ्रुत्वा गौतमस्वामी संज्ञानमयविग्रहः। अवोचत्तस्य वृत्तान्तं सर्वमेव प्रपञ्चतः ॥५८॥
श्रुत्वा तद्भव्यलोकास्ते सर्वे श्रीश्रेणिकादयः। पूजाफलं जगत्सारं तस्यां जातास्तरां रताः ॥५९॥
मत्वेति श्रीजिनेन्द्राणां पूजातिशयमुत्तमम्। महाभव्यैः सदाकार्या जिनार्चा शर्मकारिणी ॥६०॥
धनं धान्यं महाभाग्यं सौभाग्यं राज्यसम्पदा। पुत्रमित्रकलत्रं च सत्कुलं गोत्रमुत्तमम् ॥६१॥
दीर्घायुर्दुर्गतेऽनाशो विनाशः पापसन्ततेः। अभीष्टफलसम्प्राप्तिर्मणिमुक्ताफलादिकम् ॥६२॥
सम्यक्त्वं मुक्तिसद्बीजं भवभ्रमणनाशनम्। सद्विद्या सच्चरित्रं च सौख्यं स्वर्गापवर्गयोः ॥६३॥
प्राप्यते भो महाभव्या जिनपूजाप्रसादतः। तस्मात्प्रमादमुत्सृत्य कार्या सा सौख्यदायिनी ॥६४॥
सम्यक्त्वद्रुमसिञ्चने शुभतरा कादम्बिनी बोधदा भव्यानां वरभारतीव नितरां दूती सतां सम्पदे।
मुक्तिप्रोन्नतमन्दिरस्य सुखदा सोपानपंक्तिः शुभा पायाद्वस्तु समस्तसौख्यजननी पूजा जिनानां सदा ॥६५॥

सुगन्धित बना दिया था। उसे अवधिज्ञान से जान पड़ा कि मुझे जो यह सब सम्पत्ति मिली है और मैं देव हुआ हूँ, यह सब भगवान् की पूजा की पवित्र भावना का फल है। इसलिए सबसे पहले मुझे जाकर पतित-पावन भगवान् की पूजा करनी चाहिए। इस विचार के साथ ही वह अपने मुकुट पर मेंढक का चिह्न बनाकर महावीर भगवान् के समवसरण में आया। भगवान् की पूजन करते हुए इस देव के मुकुट पर मेंढक के चिह्न को देखकर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने गौतम भगवान् को हाथ जोड़ कर पूछा-हे संदेहरूपी अँधेरे को नाश करने वाले सूरज! कृपाकर कहिए कि इस देव के मुकुट पर मेंढक का चिह्न क्यों है? मैंने तो आज तक देव के मुकुट पर ऐसा चिह्न नहीं देखा। ज्ञान की प्रकाशमान ज्योतिरूप गौतम भगवान् ने तब श्रेणिक को नागदत्त के भव से लेकर जब तक की सब कथा कह सुनाई उसे सुनकर श्रेणिक को तथा अन्य भव्यजनों को बड़ा ही आनन्द हुआ। भगवान की पूजा करने में उनकी बड़ी श्रद्धा हो गई। जिनपूजन का इस प्रकार उत्कृष्ट फल जानकर अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे सुख देने वाली इस जिन पूजन को सदा करते रहें। जिन पूजा के फल से भव्यजन धन-दौलत, रूप-सौभाग्य, राज्य-वैभव, बाल-बच्चे और उत्तम कुछ जाति आदि सभी श्रेष्ठ सुख-चैन की मनचाही सामग्री लाभ करते हैं, वे चिरकाल तक जीते हैं, दुर्गति में नहीं जाते और उनके जन्म-जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं। जिनपूजा सम्यग्दर्शन और मोक्ष का बीज है, संसार का भ्रमण मिटाने वाली है और सदाचार, सद्विद्या तथा स्वर्ग-मोक्ष के सुख की कारण है। इसलिए आत्महित के चाहने वाले सत्पुरुषों को चाहिए कि वे आलस छोड़कर निरन्तर जिनपूजा किया करें। इससे उन्हें मनचाहा सुख मिलेगा ॥५१-६४॥

यही जिन-पूजा सम्यग्दर्शनरूपी वृक्ष के सींचने को वर्षा सरीखी है, भव्यजनों को ज्ञान देने वाली मानों सरस्वती हैं, स्वर्ग की सम्पदा प्राप्त कराने वाली दूती है, मोक्षरूपी अत्यन्त ऊँचे मन्दिर

शक्राः स्नानविधायिनः सुरगिरिः स्नानप्रपीठं पयः सिन्धुर्यस्य सुकुण्डिका सुरगणाः सत्किंकराः सादराः।
नर्त्तक्योप्सरसः सुकीर्त्तिमुखरा गन्धर्वसन्नाकिनो जाता जन्ममहोत्सवेऽत्र भवतां स श्रीजिनः शं क्रियात् ॥६६॥
श्रीमच्चारुमयूरवाहनपरा पद्मासना निर्मला मिथ्याध्वान्तभरप्रणाशविलसद्भास्वत्प्रभाभासुरा।
भव्याब्जप्रवनप्रमोदजननी सन्मार्गसंदर्शिनी देवेन्द्रादिसमर्चिता जिनपतेर्जीयात्सतां भारती ॥६७॥
जातः श्रीमति मूलसंघतिलके सारस्वते सच्छुभे गच्छे स्वच्छतरे प्रसिद्धमहिमा श्रीकुन्दकुन्दान्वये।
श्रीजैनागमसिन्धुवर्द्धनविधुर्विद्वज्जनैः सेवितः श्रीमत्सूरिमतल्लिको गुणनिधिर्जीयात्प्रभाचन्द्रवाक् ॥६८॥
श्रीमज्जैनपदाब्जसारमधुकृच्छ्रीमूलसंघाग्रणीः सम्यग्दर्शनसाधुबोधविलसच्चारित्रचूडामणिः।
विद्यानन्दिगुरुप्रपट्टकमलोल्लासप्रदो भास्करः श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे ॥६९॥
श्रीसर्वज्ञविशुद्धिभक्तिनिरतो भव्यौघसम्बोधकः कामक्रूरकरीन्द्रदुर्मदलये कण्ठीरवो निष्ठुरः।
ज्ञानध्यानरतः प्रसिद्धमहिमा रत्नत्रयालंकृतः कुर्याच्छर्मसतां प्रमोदजनकः श्रीसिंहनन्दी गुरुः ॥७०॥

तक पहुँचाने को मानो सीढ़ियों की श्रेणी है और समस्त सुखों को देने वाली है। यह आप भव्यजनों की पाप कर्मों से सदा रक्षा करें। जिनके जन्मोत्सव के समय स्वर्ग के इन्द्रों ने जिन्हें स्नान कराया, जिनके स्नान का स्थान सुमेरु पर्वत नियम किया गया और समुद्र जिनके स्नानजल के लिए बावड़ी नियत की गई, देवता लोगों ने बड़े आदर के साथ जिनकी सेवा बजाई, देवांगनाएँ जिनके इस मंगलमय समय में नाची और गन्धर्व देवों ने जिनके गुणों को गाया, जिनका यश बखान किया ऐसे जिन भगवान् आप भव्य-जनों को और मुझे शान्ति प्रदान करें ॥६५-६६॥

वह भगवान् की पवित्र वाणी जय लाभ करे, संसार में चिर समय तक रहकर प्राणियों को ज्ञान के पवित्र मार्ग पर लगाये, जो अपने सुन्दर वाहन मोर पर बैठी हुई अपूर्व शोभा को धारण किए हैं, मिथ्यात्वरूपी गाढ़े अँधेरे को नष्ट करने के लिए जो सूरज के समान तेजस्विनी है, भव्यजनरूपी कमलों के वन को विकसित कर आनन्द की बढ़ाने वाली है, जो सच्चे मार्ग को दिखाने वाली है और स्वर्ग के देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी महापुरुष जिसे बहुत मान देते हैं ॥६७॥

मूलसंघ के सबसे प्रधान सारस्वत नाम के गच्छ में कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में प्रभाचन्द एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। वे जैनागमरूपी समुद्र के बढ़ाने के लिए चन्द्रमा की शोभा को धारण किए थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनका आदर सत्कार करते थे। वे गुणों के मानों जैसे खजाने थे, बड़े गुणी थे ॥६८॥

इसी गच्छ में कुछ समय बाद मल्लिभूषण भट्टारक हुए। वे मेरे गुरु थे। वे जिनभगवान् के चरण-कमलों के मानों जैसे भौंरे थे-सदा भगवान् की पवित्र भक्ति में लगे रहते थे। मूलसंघ में इनके समय में यही प्रधान आचार्य गिने जाते थे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के ये धारक थे। विद्यानन्दि गुरु के पट्टरूपी कमल को प्रफुल्लित करने को ये जैसे सूर्य थे। इनसे उनके पट्ट की बड़ी शोभा थी। ये आप सत्पुरुषों को सुखी करें ॥६९॥

वे सिंहनन्दी गुरु भी आपको सुखी करें, जो जिन भगवान् की निर्दोष भक्ति में सदा लगे रहते थे। अपने पवित्र उपदेश से भव्यजनों को सदा हितमार्ग दिखाते रहते थे। जो कामरूपी निर्दयी हाथी

प्रोद्यत्सम्यक्त्वरत्नो जिनकथितमहासप्तभङ्गीतरङ्गैर्निर्द्धूतैकान्तमिथ्यामतमलनिकरः क्रोधनक्रादिदूरः।
श्रीमज्जैनेन्द्रवाक्यामृतविशदरसः श्रीजिनेन्दुप्रवृद्धिर्जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ॥७१॥
तेषां पादपयोजयुग्मकृपया श्रीजैनसूत्रोचिताः सम्यग्दर्शनबोधवृत्ततपसामाराधनासत्कथाः।
भव्यानां वरशान्तिकीर्तिविलसत्कीर्त्तिप्रमोदं श्रियं कुर्युः संरचिता विशुद्धशुभदाः श्रीनेमिदत्तेन वै ॥७२॥

इति कथाकोशे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्य-ब्रह्मनेमिदत्तविरचिते जिनपूजाफलप्राप्तभेकाख्याने चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः।

का दुर्मद नष्ट करने को सिंह सरीखे थे, काम को जिन्होंने वश कर लिया था। वे बड़े ज्ञानी ध्यानी थे, रत्नत्रय के धारक थे और उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी ॥७०॥

वे प्रभाचन्द्राचार्य विजय लाभ करें, जो ज्ञान के समुद्र हैं। देखिये, समुद्र में रत्न होते हैं आचार्य महाराज सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रत्न को धारण किए हैं। समुद्र में तरंगें होती हैं वे भी सप्तभंगीरूपी तरंगों से युक्त हैं-स्याद्वादविद्या के बड़े ही विद्वान् हैं। समुद्र की तरंगें जैसे कूड़े-करकट को निकाल बाहर फेंक देती हैं उसी तरह ये अपनी सप्तभंगी वाणी द्वारा एकान्त मिथ्यात्वरूपी कूड़े-करकट को हटा दूर करते थे, अन्य मत के बड़े-बड़े विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर विजय लाभ करते थे। समुद्र में मगरमच्छ, घड़ियाल आदि अनेक भयानक जीव होते हैं पर प्रभाचन्द्ररूपी समुद्र में उससे यह विशेषता थी, अपूर्वता थी कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेषरूपी भयानक मगरमच्छ न थे। समुद्र में अमृत रहता है और इनमें जिन भगवान् का वचनमयी अमृत समाया हुआ था और समुद्र में अनेक बिकने योग्य वस्तुएँ रहती है ये भी व्रतों द्वारा उत्पन्न होने वाली पुण्यरूपी विक्रय वस्तु को धारण किए थे। अतएव वे समुद्र की उपमा दिये गए ॥७१॥

इन्हीं के पवित्र चरणकमलों की कृपा से जैनशास्त्रों के अनुसार मुझ नेमिदत्त ब्रह्मचारी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप को प्राप्त करने वालों की इन पवित्र पुण्यमय कथाओं को लिखा है। कल्याण करने वाली ये कथाएँ भव्यजनों की धन-दौलत, सुख-चैन, शान्ति-सुयश और आमोद-प्रमोद आदि सभी सुख सामग्री प्राप्त कराने में सहायक हो। यह मेरी पवित्र कामना है ॥७२॥

❑ ❑ ❑